गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[प्रथमं पुष्पम्]

प्रशस्तपादाचार्यप्रणीतं

प्रशस्तपादभाष्यम्

[पदार्थधर्मसङ्ग्रहाख्यम्]

श्रीधरभट्टप्रणीतया

न्यायकन्दली-व्याख्यया

कुलपतेः डॉ. मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया च समलङ्कृतम्

सम्पादको हिन्दीव्याख्याकारश्च

पण्डितश्रीदुर्गाधरझा-शर्मा

अनुसन्धानसहायकचरः,

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य·

वाराणसी

वाराणस्याम्

२०५३ तमे वैक्रमाब्दे १९१८ तमे शकाब्दे १९९७ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः –
निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।

❐

प्रकाशकः –
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२

❐

प्राप्तिस्थानम् –
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२

❐

द्वितीयं संस्करणम्– १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्– ४८०.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रकः –
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी. २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी-२२१ ०१०.

प्रस्तावना

प्रायशः सर्वाण्यपि भारतीयदर्शनानि मोक्षमेव परमपुरुषार्थतया लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तितानीति नाविदितं दार्शनिकरुचिवताम् । "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" (वै. सू. १।१।१) इति सूत्रयित्वा "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वै. सू. १।१।२) इत्यादिना धर्मस्वरूपं प्रतिपादयता भगवता कणादेन निःश्रेयसप्रयोजकीभूतधर्मप्रतिपादनपरत्वं वैशेषिकदर्शनस्येति प्रतिपादितम् । प्रशस्तपादाचार्योऽपि वैशेषिकसिद्धान्तनिर्वचनारम्भे "द्रव्यादिषण्णां पदार्थानां साध्यर्म्यवैधर्म्यज्ञानं निःश्रेयसहेतुः" इत्यनेन "तच्च (उक्ततत्त्वज्ञानञ्च) ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव" इत्यनेन च निरुक्तमेवाशयं समर्थयति । प्रस्तुतश्चायं ग्रन्थस्तस्यैव प्रशस्तपादाचार्यस्य विशिष्टा कृतिर्यद्यपि वैशेषिकसूत्राणां न तादृशं व्याख्यानं प्रस्तौति, येन भाष्यकोटिमारोहेत् । अत एव मन्ये, स्वयं ग्रन्थकृता ग्रन्थस्यास्याभिधानं "पदार्थधर्मसङ्ग्रहः" इत्यकारि, तथापि प्रायशः सर्वासामप्युक्तीनां समर्थने युक्त्यपेक्षया वैशेषिकसूत्राण्येवोद्धृयन्ते ग्रन्थकृतेत्येतस्याध्ययनेन सम्यगवगन्तुं शक्यते । अतः प्रकारान्तरेण सूत्रार्थवर्णनपरत्वमपि (सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र...) ग्रन्थस्यास्य सङ्गच्छते । अत एव भाष्यत्वमपि च सङ्गच्छते ।

किञ्च, यद्यपि साम्प्रतमुपलब्धान्यनुपलब्धानि च नैकानि व्याख्यानानि सन्ति वैशेषिकसूत्राणाम्, तथापि तेष्वेतस्य सर्वाधिकं प्रामाण्यमवधार्यते वैशेषिकनिकाये । अतो विशिष्टप्रामाण्यवत्तयाऽप्येतस्य भाष्यमिति व्यपदेशः । वस्तुतस्तु न केवलं सूत्रार्थवर्णनपरत्वमात्रं भाष्यत्वं भाष्याणाम् । कथमन्यथा वैशेषिकसूत्रोपस्कारन्यायसूत्रवृत्तिप्रभृतयो ग्रन्था भाष्यपदवीं नारुहन्ति । मद्दृष्ट्याऽस्ति कश्चिद् विशिष्टो रूढ्यर्थो भाष्यशब्दस्य । भाष्यपदश्रवणसमकालमेव किमपि तपः, काऽपि विलक्षणा श्रद्धा, सर्वात्मना पावित्र्यम्, ऋषिप्रोक्तत्वमित्यादिकं स्वत एव स्फुरितं भवति । तदेतत्सर्वमप्येतस्य ग्रन्थस्य पर्यालोचनेनानुभवपथमायाति । अत एव परवर्तिभिः प्रायः सर्वैरपि निबन्धकारैर्वैशेषिकसिद्धान्तनिर्वचनक्रमे प्रशस्तपादोक्ताः सिद्धान्ताः प्रमाणत्वेनोपस्थापिताः, तत्सरणिरपि प्रायशोऽनुसृता ।

इत्थमेतस्य ग्रन्थरत्नस्य वैशिष्ट्यमवधार्य ग्रन्थोऽयं विश्वविद्यालयेन १८८५ तमे शकाब्दे गङ्गानाथझा-ग्रन्थमालायामिदंप्रथमतया प्रकाशितः । यद्यपि भाष्यमिदमत्यन्तं ललितया भाषया रुचिरया च शैल्या निबद्धम्, तथापि विचाराणां गाम्भीर्याद् यत्र तत्र सृष्टिप्रक्रिया-पाकजप्रक्रिया-द्वित्वोत्पत्तिविधानाद्यनेकेषु स्थलेषु विलक्षणार्थगर्भत्वाच्च किञ्चित् क्लिष्टत्वमवधार्य व्युत्पित्सूनामुपयोगाय तदानीमेव श्रीधरभट्ट-

विरचितया न्यायकन्दल्याख्यव्याख्यया **श्रीदुर्गाधरझा-शर्मणा** रचितेन भाषानुवादेन च विभूष्य ग्रन्थोऽयं प्रकाशितः ।

तदद्य तस्यैवास्य ग्रन्थरत्नस्य द्वितीयं संस्करणं विदुषां पुरस्तात् प्रस्तुवद्भिरस्माभिरत्यन्तमानन्दोऽनुभूयते । आशासेऽस्माकं प्रयासोऽयं श्रेयसे कल्पिष्यत इति । अन्ते च स्वनामधन्यानां **प्रशस्तपादाचार्याणां** ग्रन्थस्यास्यानुवादकानां **श्रीदुर्गाधरझा-**महोदयानां स्मृतौ स्वकीयं श्रद्धाञ्जलिम्, प्रकाशनाधिकारिणे **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि-त्रिपाठिने,** मुद्रकाय रत्नायन्त्रालयसञ्चालकाय **श्रीविपुलशङ्करपण्ड्या**महोदयाय च धन्यवादान् समर्पयन् ग्रन्थमिमं संस्कृतजगते समुपहरामि ।

वाराणसी
महाशिवरात्रिः,
वि. सं. २०५३

मण्डनमिश्रः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

॥ श्रीः ॥

विज्ञप्तिः

[प्रथमसंस्करणस्य]

गङ्गानाथान् गुरून् नत्वा बहुग्रन्थानुवादकान् ।
तन्नाम्ना ग्रन्थमालायाः प्रक्रमं करवाण्यहम् ॥
प्रशस्तपादभाष्यस्य कन्दलीटीकया सह ।
प्रकाशः क्रियतेऽस्माभिरनूद्य देशभाषया ॥
संशोधनं कृतं यत्नैर्हिन्दीभाषानुवादिना ।
अस्मत्सहायकेनैव श्रीदुर्गाधरशर्मणा ॥
लिखिता भूमिकाप्येका न्यायशास्त्रविदाऽमुना ।
वैशेषिकपदार्थानां सम्यग् बोधो यथा भवेत् ॥
मालायाः सुमनश्चाद्यं सौमनस्यं प्रसारयेत् ।
प्रार्थना काशिकापुर्यां क्षेत्रेशचन्द्रशर्मणः ॥

शास्त्रज्ञ पण्डितों के अतिरिक्त अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अथवा हिन्दी भाषा के वेत्ता साधारण बुद्धिमान् जनता में अथवा विद्वानों में प्राचीन भारतीय दर्शनों के प्रति विशेष रुचि आजकल पाई जाती है; परन्तु संस्कृत-भाषा में पूर्ण ज्ञान न होने के कारण वे मूल ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकते हैं । इस त्रुटि की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि हमारे मुख्य-मुख्य दार्शनिक तथा अन्य शास्त्रों के ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद के साथ प्रकाशन हो, जैसे ग्रीक तथा लातिन भाषा की लोएब क्लैसिकल लाइब्रेरी (LOEB CLASSICAL LIBRARY) में हुआ है । काशी से प्रकाशित 'अच्युतग्रन्थमाला' ने अंशतः यह कार्य किया है; परन्तु इस ग्रन्थमाला में कुछ ही शास्त्रों का समावेश हुआ । यह ग्रन्थमाला भी इधर बन्द हो गई ।

सन् १९५८ में काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के "वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय" में परिणत होने पर अनुसन्धान संचालक के पद पर जब मेरी नियुक्ति हुई, मैंने प्रथम उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा जी से प्रार्थना की कि ऐसी एक ग्रन्थमाला हम भी प्रकाशित करें और उन्होंने इस प्रस्ताव को स्वीकृत किया । ग्रन्थमाला का नाम रखा गया 'गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला' । इस नामकरण के दो कारण थे–(१) हमारे दिवङ्गत गुरु विद्यासागर महामहोपाध्याय

डॉ. श्री गङ्गानाथ झा जी ने बहुत संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया था और (२) गुरु जी के अनुवादों के कारण हमारे देश में और विदेशों में भारतीय दर्शन का ज्ञान पर्याप्त मात्रा में फैला ।

इस ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प है श्रीधरकृत "न्यायकन्दली" टीका सहित प्रशस्तपादाचार्य कृत '**पदार्थधर्मसंग्रह**' नाम का वैशेषिक भाष्य । इन पुस्तकों का संशोधन और अनुवाद विश्वविद्यालय के अनुसन्धान सहायक न्यायाचार्य श्री दुर्गाधर झा ने किया है । "पदार्थधर्मसंग्रह" वैशेषिक शास्त्र में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, कणादकृत वैशेषिक सूत्रों की क्रमिक व्याख्या नहीं । यह ग्रन्थ इतना प्रामाणिक समझा गया कि इसके आगे सूत्र का प्रचार कम हो गया । पदार्थधर्मसंग्रह के ऊपर विद्वानों ने टीकायें लिखीं । ऐसी तीन टीकायें बहुत प्रसिद्ध हैं–श्रीधरकृत 'न्यायकन्दली', उदयनकृत 'किरणावली' और व्योमशिवाचार्यकृत 'व्योमवती' । इनमें 'न्यायकन्दली', ग्रन्थ लगाने की दृष्टि से सर्वोत्तम है । इस कारण से इस टीका का और उसके अनुवाद का यहाँ समावेश किया गया है ।

आगे इस ग्रन्थमाला में उदयनकृत 'न्यायकुसुमाञ्जलि' (गद्य और पद्य) और अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन होगा । दर्शन शास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के भी ग्रन्थ प्रकाशित किये जायेंगे ।

१४-१२-१९६३ क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय

भूमिका

[प्रथम संस्करण की]

न्यायकन्दली सहित प्रशस्तपादभाष्य का हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणियों के साथ पण्डितों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे विशेष हर्ष हो रहा है । हर्ष दो कारणों से है– (१) वर्तमानकाल में दुर्लभ इस टीका के साथ प्रशस्तपादभाष्य की पुस्तक मूल संस्कृत पुस्तकों के चाहनेवालों के लिए सुलभ हो जायगी । (२) एवं प्रशस्तपादभाष्य और न्यायकन्दली का अर्थ हिन्दी संसार के सामने स्पष्ट हो जायगा ।

पुस्तक का सम्पादक हो या अनुवादक, सब के लिए यह अलिखित कर्त्तव्य निर्दिष्ट-सा हो गया है कि पुस्तक के साथ वह कोई भूमिका अवश्य लिखे । तदनुसार मैं भी एक भूमिका लिख रहा हूँ ।

शास्त्रों के ज्ञान-लाभ करने के लिए पद और पदार्थों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है । इनमें पद-ज्ञान के लिए जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र की शरण लेना अनिवार्य है, उसी प्रकार पदार्थज्ञान के लिए कणादनिर्मित इस दर्शन की भी आवश्यकता है । वैशेषिकदर्शन की इस आवश्यकता को "काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्" इत्यादि उक्तियाँ भी समर्थन करती हैं । अतएव वैशेषिक-दर्शन की उपादेयता में तो कोई सन्देह ही नहीं है ।

वैशेषिकदर्शन और इसके सूत्र

इसके तीन नाम अधिक प्रसिद्ध हैं–(१) वैशेषिकदर्शन, (२) औलूक्यदर्शन और (३) काणाददर्शन ।

इनमें 'वैशेषिक' नाम के प्रसङ्ग में ६ प्रकार की युक्तियाँ प्रचलित हैं–(१) 'अन्यत्र अन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः' (१।२।६) इस सूत्र के अनुसार 'अन्त्य' विशेष पदार्थ के साथ सम्बद्ध जो 'दर्शन' वही 'वैशेषिकदर्शन' है; क्योंकि दूसरे किसी भी दर्शन में इस प्रकार का 'विशेष' पदार्थ स्वीकृत नहीं है । अतः 'विशेष' रूप स्वतन्त्र पदार्थ के निरूपण के द्वारा यह अन्य दर्शनों से अलग समझा जा सकता है । अतः दूसरे दर्शनों से इसको अलग समझानेवाली यह 'वैशेषिकदर्शन' संज्ञा है ।

(२) न्यायदर्शन में दुःखों की पूर्ण निवृत्ति को 'मोक्ष' कहा गया है । इस दर्शन में आत्मा के सभी विशेष गुणों के पूर्ण विनाश को 'अपवर्ग' माना गया है । अतः सभी दर्शनों के द्वारा समान प्रतिपाद्य मोक्ष के प्रसङ्ग में यह 'विशेषगुण' का

अवलम्बन कर उसके मूलतः उच्छेद को 'मुक्ति' माना है, अतः 'विशेष एव वैशेषिकः' इस स्वार्थिक प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'वैशेषिक' शब्द के द्वारा मोक्ष के प्रसङ्ग में इस का उक्त असाधारण्य ही प्रतिपादित होता है, अतः इसका नाम 'वैशेषिकदर्शन' है । फलतः 'विशेष' से, अर्थात् 'विशेषगुण' से मोक्ष के प्रसङ्ग में जो शास्त्र सम्बद्ध हो वही 'वैशेषिक-दर्शन' है ।

(३) 'विगतः शेषो यस्य तत् विशेषम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार निर्विशेष ही प्रकृत 'विशेष' शब्द का अर्थ है । 'विशेष एव वैशेषिकम्' इस प्रकार स्वार्थिक प्रत्यय करके यह 'वैशेषिक' शब्द निष्पन्न है । अर्थात् नैयायिकादि पदार्थों की षोडशादि संख्याओं को स्वीकार कर प्रमाणादि जिन पदार्थों को स्वीकार किया है, वे सभी वैशेषिकों से स्वीकृत सात पदार्थों में ही 'निरवशेष' होकर अन्तर्भूत हो जाते हैं । कोई भी अन्तर्भूत होने से अवशिष्ट नहीं रहते, अतः इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक-दर्शन' है ।

(४) 'विशेषणं विशेषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षणपरीक्षादि के क्रम से पदार्थों का प्रतिपादन ही प्रकृत में 'विशेष' शब्द का अभिप्रेत अर्थ है । उक्त प्रतिपादन रूप कार्य जिस शास्त्र के द्वारा हो वही 'वैशेषिकदर्शन' है । इस प्रकार से व्याख्या करनेवालों का अभिप्राय है कि सांख्य, वेदान्तादि दर्शनों में मोक्ष के लिये साक्षात् उपयोगी आत्मा एवं अन्तःकरणादि पदार्थ और सृष्टितत्त्व प्रभृति ही विशेष रूप से विवेचित हुए हैं । इससे जगत् के और पदार्थों से तत्त्व यथावत् परिस्फुट नहीं होते । आत्मतत्त्व को समझने के लिये भी आत्मा के सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है । अतः आत्मा और उनके सजातीय और विजातीय सभी पदार्थों की ओर 'विशेष' रूप से मुमुक्षुओं की दृष्टि आकृष्ट करने के कारण ही इस दर्शन का नाम वैशेषिकदर्शन' है ।

(५) प्रकृत 'विशेष' शब्द के 'भेद' और 'विशेष गुण' दोनों ही अर्थ हैं । इन दोनों अर्थों के साथ सम्बद्ध जो दर्शन वही 'वैशेषिकदर्शन' है । वेदान्तदर्शन के अनुसार आत्मा में भेद और विशेष गुण ये दोनों ही नहीं हैं । इस दर्शन में आत्माओं में परस्पर भेद और ज्ञान, इच्छा प्रभृति विशेष गुण दोनों ही स्वीकृत हैं । सांख्यदर्शन में आत्माओं में परस्पर भेद यद्यपि स्वीकृत है, फिर भी वे आत्मा में विशेष गुण की सत्ता नहीं मानते । तस्मात् आत्मा में उक्त भेद और विशेष गुण इन दोनों 'विशेषों' का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कणाद ने इस नाम के द्वारा यह सूचित किया है कि वेदान्त और सांख्यदर्शन से यह दर्शन गतार्थ नहीं है ।[1]

---

1. टिप्पणी–ये पाँच व्युत्पत्तियाँ म. म. विद्वद्वर श्रीयुत कालीपदतर्काचार्य महोदय के द्वारा सम्पादित सूक्ति और उनकी टीका के साथ संस्कृतसाहित्यपरिषद् से प्रकाशित 'प्रशस्तपादभाष्य' की भूमिका से ली गयी हैं । अतः उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

(६) 'विशेष' शब्द का प्रयोग परमाणु अर्थ में भी होता है, तदनुसार परमाणु की सत्ता और तन्मूलक सृष्टि जिस दर्शन में स्वीकृत हो वही 'वैशेषिकदर्शन' है । कुछ विद्वानों की ऐसी भी सम्मति है ।

[illegible]

महर्षि कणाद किसी उलूक नाम के महर्षि के वंश में थे, अतः उनका 'औलूक्य' नाम भी था । इसी कारण कणाद-निर्मित दर्शन को 'औलूक्यदर्शन' भी कहते हैं ।

काणाददर्शन

महर्षि कणाद के द्वारा रचित होने के कारण इसे काणाददर्शन भी कहते हैं ।

वैशेषिकसूत्र और उसकी टीकाओं की परम्परा

वैशेषिकसूत्र के ऊपर प्रशस्तपादकृत भाष्य से पहिले की टीका उपलब्ध नहीं हैं । रावणकृत भाष्य एवं भारद्वाजकृत वृत्ति की बातें सुनने में आती हैं, किन्तु वे अपने स्वरूप में उपलब्ध नहीं हैं । ग्रन्थान्तरों में उनकी चर्चा अवश्य मिलती है । प्रशस्तपादकृत भाष्य के द्वारा सभी सूत्रों के अर्थ प्रकाशित नहीं होते । अतः शङ्कर मिश्र कृत 'उपस्कार' टीका के द्वारा ही इतने दिनों तक सूत्रों के प्रसङ्ग में जो कुछ भी कहा जाता रहा है । इधर दरभङ्गा विद्यापीठ से अज्ञातनामा किसी दाक्षिणात्य विद्वान् की टीका प्रकाशित हुई है । उस ग्रन्थ के सम्पादक उसे उपस्कार से प्राचीन और किरणावली से अर्वाचीन मानते हैं । गायकावाड़ औरियण्टल सिरीज से अभी चन्द्रानन्द नाम के किसी विद्वान् की एक वृत्ति निकली है । पं. श्रीजयनारायण भट्टाचार्य और पं. श्रीचन्द्रकान्त तर्कालङ्कार की टीकायें प्रायः इसी शताब्दी की हैं । सूत्र की संख्याओं के सम्बन्ध में प्रथमोक्त तीन टीकाओं में काफी अन्तर है । शेष दोनों अर्वाचीन टीकायें इस के सम्बन्ध में श्री शङ्कर मिश्र की अनुयायी हैं । उपस्कार के अनुसार सूत्र की संख्या ३७० है और मिथिला विद्यापीठवाली पुस्तक के अनुसार ९ अ. के पहले आह्निक तक सूत्रों की संख्या ३२४ है । इस पुस्तक में आगे का अंश नहीं है; क्योंकि टीका उतनी ही उपलब्ध ती । अगर इसके आगे के उपस्कारानुयायी सूत्रों को जोड़ देते हैं तो उनकी संख्या ३५३ तक ही पहुँचती है । इस प्रकार सूत्रों के सम्बन्ध में मतान्तर चले आ रहे हैं । स्थिति यह मालूम होती है कि प्रशस्तपाद की भाष्यरचना के बाद उसके सौष्ठव के कारण सूत्र की तरफ से सबका ध्यान ही हट गया और वैशेषिकदर्शन के सम्बन्ध में जितने भी कुछ विचार हुए या ग्रन्थ-रचनायें हुईं, सभी प्रशस्तपादभाष्य की आधार मानकर ही होने लगीं । मिथिला विद्यापीठ से और बड़ौदा से प्रकाशित पूर्वोक्त

वैशेषिकसूत्र की दोनों पुस्तकों के छपने के बाद एक बात और सामने आयी है। उन दोनों ही पुस्तकों में "धर्मविशेषप्रसूतात्" (१/१/३) इत्यादि उपक्रम सूत्र नहीं है। किन्तु धर्मनिरूपण की प्रतिज्ञा और लक्षण लिखने के बाद हठात् 'पृथिव्यापस्तेजोवायु:' (१/१/५) इस सूत्र के द्वारा पदार्थों के विभाग से जो असङ्गति की आपत्ति आती है, उसका उन दोनों टीकाकारों ने अपनी अपनी टीका में जिस युक्ति से समर्थन किया है, वह युक्ति 'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि सूत्र के द्वारा कही हुई युक्तियों से अधिक भिन्न नहीं है। इस प्रसङ्ग में दो ही बातें संभव जान पड़ती हैं–(१) जिन लोगों ने 'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि को सूत्र नहीं माना है, उन लोगों के हाथ में जो सूत्रावली आई उसके मूल लेखक से प्रमादवश उक्त सूत्र छूट गया हो और उसके बाद से उसी सूत्रावली का प्रचार उस क्षेत्र में हो गया हो। अथवा (२) धर्मव्याख्या की प्रतिज्ञा और लक्षण कहने के बाद हठात् पदार्थ-निरूपण करने से जो असंगति आती है, उसकी पूर्त्ति किसी विद्वान् ने अपनी सूत्रपाठ की पुस्तक में "धर्मविशेषप्रसूतात्" इत्यादि शब्दों के द्वारा टिप्पणी रूप में कर दी हो। आगे उस पुस्तक के आधार पर लिखनेवाले किसी दूसरे लेखक ने भ्रमवश उस टिप्पणी को सूत्र समझकर पृथक् सूत्र के रूप में लिख दिया हो। भ्रम और प्रमाद इन दोनों की संभावनाओं में से प्रकृत में किस संभावना की कल्पना में लाघव और स्वारस्य है, इसे पण्डितगण विचार कर देखें।

वैशेषिकदर्शन और ईश्वर

सभी जानते हैं कि न्याय और वैशेषिकदर्शन के आचार्यों ने ईश्वर साधन के प्रसङ्ग में बहुत कुछ लिखा है। किन्तु वैशेषिक दर्शन के कणादरचित सूत्र में ईश्वर शब्द का स्पष्ट उल्लेख न रहन के कारण एवं स्पष्ट रूप से ईश्वर-साधन का कोई प्रकरण न रहने के कारण कुछ विद्वानों का कहना है कि कणाद के समय से लेकर प्रशस्तपाद से पहले तक वैशेषिकदर्शन में ईश्वर स्वीकृत नहीं थे। अतः मूलतः यह दर्शन ईश्वरपरक नहीं है।

वैशेषिकदर्शन को ईश्वर-परक माननेवालों की दृष्टि इस प्रसङ्ग में कुछ भिन्न प्रकार की है। उनका कहना है कि किसी वस्तु का स्पष्ट उल्लेख न करना ही उस वस्तु के अभाव का साधक नहीं हो सकता, किसी वस्तु को अस्वीकृत करना है तो फिर उसके लिए उस प्रसङ्ग में केवल मौन साधन से ही काम नहीं चल सकता। उसके लिए उस वस्तु की सत्ता के विरुद्ध युक्तियों का स्पष्ट रूप से निर्देश आवश्यक है; क्योंकि किसी वस्तु की अनुक्ति ही उसकी विरुद्धोक्ति नहीं हो सकती। अनुक्ति और विरुद्धोक्ति में बहुत अन्तर है।

अतः प्रशस्तपाद प्रभृति आचार्यों ने एवं उनके अनुयायी उदयनादि आचार्यों ने ईश्वर साधन के प्रसङ्ग में अपनी चरम प्रतिभा का परिचय दिया है । एवं इस दर्शन में ईश्वर को सिद्ध मानकर उपपादन किया है । शङ्कर मिश्र प्रभृति सूत्र के टीकाकारों ने सूत्र के द्वारा ही ईश्वरसिद्धि का भी प्रयास किया है । उन लोगों का कहना है कि किसी विषय का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी उसके अन्य उपपादनों से उस विषय में उस व्यक्ति की अनुमति का पता चल जाता है । जैसे व्याकरणशास्त्र में योगविभागादि के द्वारा सूत्र में अनुद्दिष्ट विधानों का भी आपेक्ष होता है । इसी प्रकार प्रकृत में 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (१/१/३), 'संज्ञाकर्म-त्वमस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्' (२/१/१८) 'प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः' (२/१/१९) इत्यादि सूत्रों के द्वारा आनुषङ्गिक रूप में ईश्वरसिद्धि का प्रयास शङ्कर मिश्र आदि टीकाकारों के द्वारा किया गया है ।

धर्म और वैशेषिकदर्शन

वैशेषिकदर्शन का आरम्भ 'धर्मव्याख्या' की प्रतिज्ञा से हुआ है । उसके दूसरे सूत्र के द्वारा अवसरप्राप्त धर्म का लक्षण कहा गया है और तीसरे सूत्र के द्वारा धर्म के कारणीभूत यागादि के प्रतिपादक वेदों में प्रामाण्य का प्रतिपादन हुआ है । 'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि चौथे सूत्र के द्वारा यह उपपादन किया गया है कि द्रव्यादि छः पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य सहित तत्त्वज्ञान के द्वारा ही निःश्रेयस का लाभ होता है । उक्त तत्त्वज्ञान निवृत्तिलक्षण विशेष प्रकार के धर्म से उत्पन्न होता है । फलतः निःश्रेयस के लिये धर्म अत्यन्त आवश्यक है, अतः उसका निरूपण भी आवश्यक है, जिसके लिए इस शास्त्र का आरम्भ उचित है । फिर इसके बाद धर्म के सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं दीख पड़ती है । क्रम के अनुसार और पदार्थों की तरह धर्म का भी निरूपण किया गया है । पदार्थों के निरूपण से ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है ।

इस प्रसङ्ग में कुछ लोगों का आक्षेप है कि धर्म निरूपण के लिए प्रवृत्त शास्त्र में धर्म की इतनी सी चर्चा हो और उससे असम्बद्ध द्रव्यादि पदार्थों का इतना विस्तृत वर्णन हो, यह कुछ ठीक नहीं जँचता । इसी आक्षेप की प्रतिध्वनि 'धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम् । सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम्' ।। इत्यादि वचनों से होती है ।

इस प्रसङ्ग में वैशेषिक सिद्धान्त के अनुयायियों का यह कहना है कि इस शास्त्र में जिस धर्म की व्याख्या की प्रतिज्ञा की गयी है वह पूर्वमीमांसा के प्रतिज्ञासूत्र में कथित धर्म से भिन्न है । मीमांसकों ने धर्म शब्द से यागादि क्रियायों को लिया है । ये क्रियायें केवल वेदों के द्वारा ही प्रमित हो सकती हैं । फलतः

केवल वेद ही धर्मरूप क्रिया-कलाप के ज्ञापक हेतु हैं; किन्तु इन क्षणिक क्रियाकलापों को स्वर्गादि कालपर्यन्त रहने की सम्भावना नहीं है, अतः मध्यवर्ती एक अतीन्द्रिय अपूर्व की कल्पना मीमांसक भी करते हैं । वैशेषिकगण इस अपूर्व को ही धर्म करते हैं । यह 'धर्म' केवल अनुमान से ही समझा जा सकता है । अतः जिस प्रकार मीमांसकों ने यागादि कर्मकलाप रूप धर्म के ज्ञापक प्रमाण रूप वेदों के अर्थ के निर्णय में ही अपना सारा श्रम व्यय किया है, उसी प्रकार अगर वैशेषिकगण आत्मनिष्ठ उक्त अपूर्व रूप गुण के एकमात्र साधक अनुमान और आवश्यक पदार्थ निरूपण के प्रसङ्ग में अधिक जागरूक हों, तो उनके ऊपर प्रतिज्ञात अर्थ से असम्बद्ध अर्थ के अभिधान का दोष नहीं मढ़ा जा सकता ।

दूसरी बात यह है कि अगर वैशेषिक दर्शन के उपक्रमस्थ धर्म शब्द से भी यागादि क्रियाकलापों को ही लें, तथापि द्रव्यादि के निरूपण को यागादि से सर्वथा असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता । हेतु दो प्रकार के होते हैं– एक ज्ञापक और दूसरा उत्पादक । दण्ड घट का उत्पादक कारण है और धूम वह्नि का ज्ञापक कारण है । इसी कारणत्वसाम्य से दोनों प्रकार के हेतु-बोधक पदों से हेतु में पञ्चमी विभक्ति होती है, जैसे– 'दण्डाद् घटः, धूमाद् वह्निः' इत्यादि । प्रकृत में विधिवाक्य रूप वेद धर्म के ज्ञापक कारण हैं और द्रव्यादि पदार्थ उनके उत्पादक कारण हैं; क्योंकि व्रीहि प्रभृति द्रव्य, आरुण्यादि गुण, उत्वन अवहननादि कर्म, ब्राह्मणत्वादि सामान्य, इन सबों को मीमांसाशास्त्र में भी यागादि का सम्पादक माना गया है । इसी प्रकार इनके तत्त्वज्ञान में सहायक विशेष और समवाय का तत्त्वज्ञान भी परम्परया याग में उपकारक है फिर धर्म-व्याख्या के प्रसङ्ग में द्रव्यादि पदार्थों के निरूपण करनेवालों को सागर जाने की इच्छा से हिमालय जानेवालों की उपमा देना कहाँ तक उचित है ?

इस दर्शन के ऊपर सबसे अधिक प्रहार हुये हैं और हो रहे हैं, अपने यूथ के दार्शनिकों द्वारा और त्रयीबाह्य बौद्धादि के द्वारा भी; किन्तु ये सभी विरोधी इस शास्त्र के प्रसङ्ग में आचार्य महर्षि प्रशस्तपाद को ही सब से प्रामाणिक व्याख्याता रूप में मानते चले आ रहे हैं. । अतः प्रशस्तपादभाष्य का महत्त्व तो निर्विवाद है । तब रही बात यह भाष्य है ? या स्वतन्त्र निबन्ध ग्रन्थ है ? इस प्रसङ्ग में 'सूत्रार्थो वार्ण्यते येन' भाष्य का यह लक्षण पूर्व रूप से संघटित न होने के कारण ही विवाद उपस्थित होता है; किन्तु यह भी ध्याने देने की बात है कि इस दर्शन में या और दर्शनों में भी स्वतन्त्र निबन्ध ग्रन्थों की कमी नहीं है । उन सभी के ऊपर दृष्टिपात करने पर प्रशस्तपाद भाष्य को स्वतन्त्र निबन्ध मानने में भी कुछ कठिनाई होती है; क्योंकि इस ग्रन्थ में जिस प्रकार अपने सभी मन्तव्यों को प्रतिपद सूत्र के द्वारा प्रतिपन्न करने की चेष्टा की गई है, वैसी चेष्टा और स्वतन्त्र

केवल वेद ही धर्मरूप क्रिया-कलाप के ज्ञापक हेतु हैं; किन्तु इन क्षणिक क्रियाकलापों को स्वर्गादि कालपर्यन्त रहने की सम्भावना नहीं है, अतः मध्यवर्ती एक अतीन्द्रिय अपूर्व की कल्पना मीमांसक भी करते हैं । वैशेषिकगण इस अपूर्व को ही धर्म करते हैं । यह 'धर्म' केवल अनुमान से ही समझा जा सकता है । अतः जिस प्रकार मीमांसकों ने यागादि कर्मकलाप रूप धर्म के ज्ञापक प्रमाण रूप वेदों के अर्थ के निर्णय में ही अपना सारा श्रम व्यय किया है, उसी प्रकार अगर वैशेषिकगण आत्मनिष्ठ उक्त अपूर्व रूप गुण के एकमात्र साधक अनुमान और आवश्यक पदार्थ निरूपण के प्रसङ्ग में अधिक जागरूक हों, तो उनके ऊपर प्रतिज्ञात अर्थ से असम्बद्ध अर्थ के अभिधान का दोष नहीं मढ़ा जा सकता ।

दूसरी बात यह है कि अगर वैशेषिक दर्शन के उपक्रमस्थ धर्म शब्द से भी यागादि क्रियाकलापों को ही लें, तथापि द्रव्यादि के निरूपण को यागादि से सर्वथा असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता । हेतु दो प्रकार के होते हैं– एक ज्ञापक और दूसरा उत्पादक । दण्ड घट का उत्पादक कारण है और धूम वह्नि का ज्ञापक कारण है । इसी कारणत्वसाम्य से दोनों प्रकार के हेतु-बोधक पदों से हेतु में पञ्चमी विभक्ति होती है, जैसे– 'दण्डाद् घटः, धूमाद् वह्निः' इत्यादि । प्रकृत में विधिवाक्य रूप वेद धर्म के ज्ञापक कारण हैं और द्रव्यादि पदार्थ उनके उत्पादक कारण हैं; क्योंकि व्रीहि प्रभृति द्रव्य, आरुण्यादि गुण, उत्पवन अवहननादि कर्म, ब्राह्मणत्वादि सामान्य, इन सबों को मीमांसाशास्त्र में भी यागादि का सम्पादक माना गया है । इसी प्रकार इनके तत्त्वज्ञान में सहायक विशेष और समवाय का तत्त्वज्ञान भी परम्परया याग में उपकारक है फिर धर्म-व्याख्या के प्रसङ्ग में द्रव्यादि पदार्थों के निरूपण करनेवालों को सागर जाने की इच्छा से हिमालय जानेवालों की उपमा देना कहाँ तक उचित है ?

इस दर्शन के ऊपर सबसे अधिक प्रहार हुये हैं और हो रहे हैं, अपने यूथ के दार्शनिकों द्वारा और त्रयीबाह्य बौद्धादि के द्वारा भी; किन्तु ये सभी विरोधी इस शास्त्र के प्रसङ्ग में आचार्य महर्षि प्रशस्तपाद को ही सब से प्रामाणिक व्याख्याता रूप में मानते चले आ रहे हैं. । अतः प्रशस्तपादभाष्य का महत्त्व तो निर्विवाद है । तब रही बात यह भाष्य है ? या स्वतन्त्र निबन्ध ग्रन्थ है ? इस प्रसङ्ग में 'सूत्रार्थो वार्ण्यते येन' भाष्य का यह लक्षण पूर्व रूप से संघटित न होने के कारण ही विवाद उपस्थित होता है; किन्तु यह भी ध्याने देने की बात है कि इस दर्शन में या और दर्शनों में भी स्वतन्त्र निबन्ध ग्रन्थों की कमी नहीं है । उन सभी के ऊपर दृष्टिपात करने पर प्रशस्तपाद भाष्य को स्वतन्त्र निबन्ध मानने में भी कुछ कठिनाई होती है; क्योंकि इस ग्रन्थ में जिस प्रकार अपने सभी मन्तव्यों को प्रतिपद सूत्र के द्वारा प्रतिपन्न करने की चेष्टा की गई है, वैसी चेष्टा और स्वतन्त्र

निबन्ध-ग्रन्थों में नहीं देखी जाती । अतः इसे भाष्य न मानने वालों को भी इसे और स्वतन्त्र निबन्ध-ग्रन्थों से भिन्न प्रकार का मानना ही होगा । अतः हम यथास्थितिपालकों का कहना है कि यह वैशेषिकसूत्रों का भाष्य ही है । 'भाष्य के सभी लक्षण इसमें पूर्णरूप से संघटित नहीं होते' यह कोई इतनी बड़ी बात नहीं है; क्योंकि पदों के जितने भी अर्थ होते हैं, वे सभी अविकल रूप से सभी अभिधेयों में नही घटते । यह बात भाष्य पद से निर्विवाद रूप से समझे जाने वाले ग्रन्थों में भी देखी जा सकती है कि सभी भाष्य कहाने वाले ग्रन्थों में उक्त सूत्रानुवर्तिता समान नहीं है, थोड़ा-बहुत अन्तर है ही । तस्मात् यह ग्रन्थ भाष्य के पूर्णलक्षण से युक्त न होने पर भी भाष्य ही है, प्रामाणिकता में तो किसी भाष्य ग्रन्थ से न्यून है ही नहीं ।

इसके बाद तो फिर वैशेषिक दर्शन के प्रसङ्ग में जो कुछ भी टीकादि ग्रन्थों का निर्माण हुआ, सब इसी ग्रन्थ को आधार मानकर हुआ । जिनमें (१) मिथिला के श्री उदयनाचार्य की किरणावली, (२) वङ्गकुलालङ्कार श्री श्रीधरभट्ट की न्यायकन्दली और (३) विद्वत्कुलालङ्करण श्री व्योमशिवाचार्य की व्योमवती, ये तीन प्राचीन टीकायें अधिक प्रसिद्ध हुईं । इनमें भी किरणावली टीका सम्पूर्ण न होने पर भी सबसे अधिक मान्य हुई और इसकी टीका और उपटीकाओं की एक लम्बी परम्परा बन गयी । न्यायकन्दली पर भी टीका की रचनायें हुईं; किन्तु वे उतनी प्रसिद्धि न पा सकीं गुजरात प्रान्त में इसका प्रचलन अधिक सुना जाता है । न्यायकन्दली टीका की सबसे खूबी यह है कि वह सम्पूर्ण प्रशस्तपाद भाष्य के ऊपर है और मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद को सादे शब्दों में समझाने में अधिक तत्पर है । व्योमवती टीका प्रायः दक्षिण में अधिक प्रचलित है । इन तीनों से भिन्न पद्मनाभ मिश्रकृत सेतु और जगदीश तर्कालङ्कार की सूक्ति टीका भी है; किन्तु दोनों ही अपूर्ण हैं ।

वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण

वैशेषिकदर्शन का आरम्भ 'धर्म' व्याख्या की प्रतिज्ञा से हुआ है । सभी प्रकार के ऐहिक और पारलौकिक इष्टों और मोक्ष के साधन को ही इस दर्शन में धर्म कहते हैं । यह धर्म (१) प्रवृत्तिलक्षण और (२) निवृत्तिलक्षण भेद से दो प्रकार का है । प्रवृत्तिलक्षण धर्म से ऐहिक तथा पारलौकिक स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है । एवं निवृत्तिलक्षण रूप 'विशेष' धर्म के द्वारा (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय और (७) अभाव इन सात पदार्थों का साधर्म्य और वैध रूप से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से मुक्ति होती है । अर्थात् निवृत्तिलक्षण धर्म के द्वारा मुक्ति के सम्पादन में द्रव्यादि पदार्थों का और उनके परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान मध्यवर्ती व्यापार हैं । यद्यपि 'आत्मा वारे श्रोतव्यः, तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा

आत्मतत्त्व ज्ञान को ही मोक्ष का कारण माना गया है; किन्तु आत्मा को अच्छी तरह समझने के लिये भी संसार के और सभी पदार्थों को समझना आवश्यक है । अपने सहधर्मियों से और विरुद्धधर्मियों से विविक्त होकर किसी व्यक्ति को समझे बिना उसका तत्त्व समझना सम्भव नहीं है । संसारकी प्रत्येक वस्तु अन्य सभी वस्तुओं के साथ किसी न किसी प्रकार सादृश्य या वैसादृश्य से युक्त हैं, अतः परस्पर सम्बद्ध हैं । अतः एक वस्तु को समझने के लिये और सभी वस्तुओं को भी समझना आवश्यक है । सुतराम् आत्मा को समझने के लिये भी संसार की अन्य सभी वस्तुओं को समझना आवश्यक है; किन्तु संसार की असंख्य वस्तुओं को अलग-अलग प्रत्येकशः समझना साधारणजनों के लिये सम्भव नहीं है । अतः महर्षि कणाद ने समझने की सुविधा के लिये जगत् को द्रव्यादि सात भागों में विभक्त किया है । फलतः इनके मत से संसार की सभी वस्तुयें द्रव्यादि सात पदार्थों में से ही कोई हो सकती हैं ।

द्रव्य

द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण हो या क्रिया हो । इसका यह अर्थ नहीं कि सभी द्रव्यों में सभी अवस्थाओं में गुण या कर्म रहते ही हैं; क्योंकि उत्पत्ति के समय उत्पत्तिशील पृथिव्यादि द्रव्यों में भी गुण या कर्म नहीं रहते । गुण और कर्म का समवायिकारण आश्रयीभूत द्रव्य ही हैं, जो अपनी उत्पत्ति से पहले नहीं रह सकता । अतः उत्पत्ति के समय द्रव्य बिना गुण या बिना कर्म के ही रहते हैं । उत्पत्ति के बाद उनमें गुण या क्रिया की उत्पत्ति होती है । आकाशादि विभु-द्रव्यों में तो क्रियायें कभी रहती ही नहीं । अतः 'गुण या क्रिया से युक्त जो पदार्थ वही द्रव्य है' इस लक्षण का अर्थ इतना ही है कि गुण और कर्म द्रव्यों में ही रहते हैं, द्रव्य से भिन्न गुणादि में नहीं ।

वस्तुतः 'द्रव्यत्व' जाति ही द्रव्य का लक्षण है । यह द्रव्यत्व जाति कहाँ रहती है ? इसको समझाने के लिए ही कर्म का, विशेषतः गुण का सहारा लिया जाता है । विभिन्न व्यक्तियों को किसी एक रूप से समझने के लिए उन सभी व्यक्तियों में किसी सादृश्य की की आवश्यकता होती है । सभी मनुष्य परस्पर भिन्न हैं, किन्तु ठीक एक ही आकार के दो मनुष्य नहीं मिल सकते; किन्तु सभी मनुष्यों में कुछ आन्तर और बाह्य सादृश्य भी हैं, जिनके चलते सभी मनुष्यों में 'यह मनुष्य है' इस एक तरह का व्यवहार होता है । इस प्रकार जिन सभी द्रव्यों में 'यह द्रव्य है' इस प्रकार का व्यवहार होता है, उन सभी द्रव्यों में कोई सादृश्य अवश्य ही होना चाहिए, इस सादृश्य के लिये संयोग और विभाग नाम के गुण को आचार्यों ने उपस्थित किया है । संयोग सभी द्रव्यों में समान रूप से रहनेवाला गुण है और

विभाग भी । अतः सभी द्रव्य संयोग या विभाग के समवायिकारण हैं । संयोग और विभाग का समवायिकारण होना या समवायिकारणत्व नाम का धर्म ही द्रव्यत्व जाति का ज्ञापक है । संयोग और विभाग का यह समवायिकारणत्व गुणादि पदार्थों में नहीं है, अतः गुणादि पदार्थ संयोग और विभाग के समवायिकारण नहीं हैं अतः उनमें द्रव्यत्व नहीं है । इसी प्रकार गुणत्वादि सभी पदार्थविभाजक धर्मों में समझना चाहिए ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन ये द्रव्य के नौ प्रकार (भेद) हैं । इन सभी द्रव्यों को नित्य और अनित्य भेद से दो भागों में बाँटा जा सकता है । पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार द्रव्यों के परमाणु और आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये सभी द्रव्य नित्य हैं । एवं कथित परमाणुवों से भिन्न पृथिव्यादि चारों द्रव्य के सभी प्रभेद उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य हैं । अनित्य द्रव्यों में से पृथिव्यादि तीन द्रव्यों को शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन भागों में विभक्त किया गया है; किन्तु वायु का इन तीनों से भिन्न 'प्राण' नाम का एक चौथा भेद भी है ।

आत्मा विभु है, अतः सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ उसका संयोग है; किन्तु सुख-दुःखों का अनुभव, अर्थात् भोग वह शरीर में ही करता है, अतः शरीर के साथ उसका और मूर्त्त द्रव्यों से विलक्षण प्रकार का अवच्छेदकत्व नाम का सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध के कारण ही शरीर को आत्मा के भोग करने का 'आयतन' कहा जाता है । फलतः आत्मा के भोग का आयतन ही 'शरीर' है । यह शरीर भी पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय भेद से चार प्रकार का है । इनमें मानव शरीर पार्थिव है; क्योंकि इस शरीर का उपादान पृथिवी रूप द्रव्य ही है । यद्यपि जलादि और द्रव्यों का भी सम्बन्ध इसमें प्रतीत होता है, फिर भी वे इसके उपादान या समवायिकारण नहीं हैं, निमित्तकारण हैं । पृथिवी से लेकर आकाशपर्यनत सभी भूतद्रव्य शरीर के बनने में हेतु हैं, अतः शरीर पाञ्चभौतिक भी कहलाता है । अस्मदादि के शरीर का उपादानकारण या समवायिकारण पृथिवी रूप द्रव्य ही है, अतः उसे पार्थिव कहा जाता है । वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार शरी रका समवायिकारण पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चारों में से कोई एक ही है, शेष चार उसके निमित्तकारण हैं । अतः पृथिवी रूप उपादान से उत्तपन्न हम लोगों का शरीर पार्थिव है । पार्थिव शरीर के (१) योनिज और (२) अयोनिज दो भेद हैं । योनिज शरी के भी दो भेद हैं (१) जरायुज और (२) अण्डज । जरायुज मानुषादि के शरीर हैं और पशु-पक्षी आदि के शरीर

अण्डज हैं । स्वेदज और उद्भिज्जादि के शरी अयोनिज हैं । स्वदेज हैं कृमि प्रभृति और उद्भिज्ज हैं वृक्षादि । नारकीय शरीर भी अयोनिज ही है । जल रूप समवायिकारण और शेष चार भूत द्रव्य रूप निमित्तकारणों से उत्पन्न शरीर जलीय शरीर है, जो 'वरुणलोक' में प्रसिद्ध है । तेज रूप समवायिकारण औरशेष चार भूत द्रव्य रूप निमित्तकारणों से उत्पन्न शरीर 'तैजस शरीर' कहलाता है, जो 'सूर्यलोक' में प्रसिद्ध है । वायु रूप समवायिकारण और शेष चारों भूत द्रव्य रूप निमित्तकारणों से जिस शरीर का निर्माण होता है, वह वायवीय शरीर कहलाता है । पिशाचादि का शरी वायवीय शरीर है ।

घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रौत्र औरम न ये छः इन्द्रियाँ हैं । हाथ, पैर प्रभृति शरीर के अवयव मात्र हैं, इन्द्रिय नहीं । इनमें श्रोत्र आकाश रूप है, अतः नित्य है । और मन परमाणु रूप है, अतः नित्य है । चक्षुरादि शेष चार इन्द्रियाँ क्रमशः पृथिवी, जल, तेज और वायु रूप द्रव्य से उत्पन्न होती हैं । इनमें घ्राण पार्थिव हैं, रसना जलीय है, चक्षु तैजस है और त्वचा वायवीय है । फलतः घ्राण पृथिवी है, रसना जल है, चक्षु तेज है और त्वचा वायु है । इस प्रकार घ्राण प्रभृति चार इन्द्रियाँ पृथिवी प्रभृति चार भूतों से उत्पन्न होने के कारण 'भौतिक' हैं । श्रवणेन्द्रिय आकाश रूप है आकाश से उत्पन्न नहीं; क्योंकि आकाश नित्य है । नित्य द्रव्य किसी द्रव्य का समवायिकारण नहीं हो सकता, अतः 'श्रवणेन्द्रिय' स्वयं भूत-द्रव्य होने के कारण ही 'भौतिक' कहलाता है । मन भौतिक नहीं है ।

मिट्टी प्रभृति 'विषय' रूप पृथिवीं हैं, सरिता, समुद्रादि 'विषय' रूप जल हैं । वह्नि एवं सुवर्णादि 'विषय' रूप तेज हैं । जिससे आँधी प्रभृति होती हैं, वे सभी वायु विषय रूप हैं । शरीरादि तीनों प्रकारों से भिन्न वायु का 'प्राण' नाम का चौथा प्रकार भी है । शरीर के भीतर चलनेवाली वायु को 'प्राण' कहते हैं; किन्तु कार्य-भेद से और स्थान-भेद से उसके प्राण, अपान, समान और व्यान ये चार नाम प्रसिद्ध हैं । शाखादि के कम्प से वायु का केवल अनुमान ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं; क्योंकि रूपी द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है । किसी का मत है कि वायु का भी स्पार्शनप्रत्यक्ष होता है । द्रव्य के चाक्षुप्रत्यक्ष के लिए ही द्रव्य में रूप का रहना आवश्यक है ।

नित्य द्रव्यों में पृथिव्यादि चारों प्रकार के परमाणुवों का उल्लेख कर चुके हैं । वैशेषिकों का कहना है कि घटादि कार्यद्रव्यों का नाश प्रत्यक्षसिद्ध है । विनाश की परम्परा का विश्राम कहीं पर मानना आवश्यक है । ऐसा न मानने पर राई और पर्वत दोनों को एक परिमाण का मानना पड़ेगा; क्योंकि राई का विनाश भी अनन्त खण्डों में होगा और पहाड़ का भी विनाश अनन्त खण्डों में होगा । अतः दोनों अनन्त खण्डों से निर्मित होने कारण समान परिमाण के होंगे; किन्तु यह

प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, अतः विनाश-परम्परा का कहीं विश्राम मानना आवश्यक है। जहाँ पर उसका विश्राम होगा उसको ही 'परमाणु' कहते हैं । इसे मान लेने पर राई और पर्वत के समान परिमाण का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है; क्योंकि दोनों के परमाणुवों में संख्या का तारतम्य ही दोनों के परिमाण में भी न्यूनाधिक का ज्ञापक होगा । परमाणु को नित्य मानना भी आवश्यक है; क्योंकि परमाणुवों को अनित्य मानने पर ऐसे द्रव्य रूप कार्यों को भी मानना पड़ेगा, जिनके अवयव नहीं हैं; किन्तु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण उचित नहीं है । इस प्रकार दो परमाणुवों से द्व्यणुक और तीन द्व्यणुक से त्र्यसरेणु वा त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है । त्र्यसरेणु में महत्त्व आ जाता है । फिर आगे की सृष्टि होती है । वैशेषिकमत के अनुसार अवयवों से जिस अवयवी की उत्पत्ति होती है, वह अवयवों से सर्वथा भिन्न वस्तु है और उत्पत्ति से पूर्व उसकी और किसी रूप में सत्ता नहीं रहती है । इसी को 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' कहते हैं ।

आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन पाँच द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता है । अतः इनके विवरण से पहले इनकी सत्ता में अनुमान को प्रमाण रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता होती है; क्योंकि सभी शब्दप्रमाणों में सभी की आस्था नहीं होती । किसी वस्तु की सत्ता को जहाँ अनुमान के द्वारा स्थापित करना होता है, वहाँ थोड़ा कौशल का अवलम्बन आवश्यक होता है; क्योंकि सीधे विवादास्पद वस्तु को पक्ष बनाकर अनुमान को उपस्थित नहीं किया जा सकता; जैसे कि 'आकाशः अस्ति, शब्दाश्रयत्वात्' यह अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि पक्ष को अपने स्वरूप (पक्षतावच्छेदक) से युक्त होकर पहले से सिद्ध रहना चाहिए । जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में पर्वतत्वादि से युक्त पर्वतादि पहले प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध रहता है । अतः इस प्रकार के स्थलों में परिशेषानुमान का अवलम्बन करना पड़ता है ।

आकाश नाम के एक स्वतन्त्र द्रव्य के साधक परिशेषानुमानों की परम्परा इस प्रकार है कि चक्षु से न दीखनेवाले, अथ च रसनादि और बाह्य इन्द्रियों से गृहीत होनेवाले गुण सामान्य गुण नहीं होते, विशेष गुण ही होते हैं—यह बात स्पर्श को दृष्टान्त मानकर अच्छी तरह समझी जा सकती है; क्योंकि स्पर्शगुण का चक्षु से ग्रहण नहीं हो सकता, अथ च वह त्वचा रूप बहिरिन्द्रिय से गृहीत होता है, अतः वह विशेष गुण है ।

इसी प्रकार शब्द भी विशेष गुण ही है; क्योंकि उसका ग्रहण चक्षु से नहीं हो सकता, अथ च श्रोत्र रूप बहिरिन्द्रिय से उसका ग्रहण होता है । अतः शब्द विशेष गुण ही है, सामान्य गुण नहीं । यह पहले सिद्धवत् समझ लेना चाहिए कि दिक्, काल और मन इन तीन द्रव्यों में विशेष गुण नहीं रहते, अतः शब्द

कालादि के गुण नहीं हो सकते । आकाश अभी विवादास्पद है । अतः आकाश को न मानने की स्थिति में शब्द अगर विशेष गुण है तो फिर पृथिवी, जल, तेज, वायु और आत्मा इन्ही में से किसी का वह विशेष गुण होगा । इनमें से पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार स्पर्श से युक्त हैं । स्पर्श से युक्त द्रव्यों के जितने प्रत्यक्ष दीखनेवाले विसेष गुण हैं उनका यह स्वभाव है कि या तो वे अग्नि के संयोग से उत्पन्न हों, जैसे कि पके हुए घट का रक्त रूप या फिर कारण के गुण से उत्पन्न हों, जैसे कि पट का रक्त रूप तन्तु के रक्त रूप से उत्पन्न होता है । अगर शब्द को स्पर्श से युक्त द्रव्य का विशेष गुण मानेंगे तो फिर शब्द की उत्पत्ति भी अग्नि के संयोग से या उपादानकारणों में रहनेवाले गुणों से ही माननी होगी; किन्तु दोनों में से कोई भी सम्भव नहीं है; क्योंकि संयोग और विभाग से शब्द की उत्पत्ति प्रत्यक्ष से सिद्ध है । जिस प्रकार सख रूप विशेष गुण कारणगुणपूर्वक और अग्निसंयोगासमवायिकारणक न होने से स्पर्श से युक्त पृथिव्यादि चार द्रव्यों का विशेषगुण नहीं हो सकता, उसी प्रकार शब्द भी स्पर्श से,युक्त पृथिव्यादि चार द्रव्यों का विशेष गुण नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा के विशेष गुण गृहीत नहीं होते, शब्द का ग्रहण श्रोत्र रूप बाह्य इन्द्रिय से होता है, अतः वह आत्मा का विशेष गुण नहीं हो सकता । तस्मात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, काल, दिक, आत्मा और मन इन आठ द्रव्यों से भिन्न कोई द्रव्य मानना होगा, जो शब्द का उपादान या समवायिकारण हो । इसी द्रव्य का नाम 'आकाश' है । आकाश स्वरूप श्रोत्रिन्द्रिय की चचा कर चुके हैं । यह (श्रोत्रेन्द्रिय) नित्य, विभु, आकाश स्वरूप होने के कारण एक ही है; किन्तु प्राणियों के अङ्गविशेष (कर्णशष्कुली) के उपाधि के कारण भिन्न-भिन्न हैं । अतः उनके भेद से श्रोत्रेन्द्रिय परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं और एक के श्रवणेन्द्रिय से दूसरे की आत्मा में शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

'इदानीं घटः,' 'तदानीं घटः' इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति के लिए 'काल' नाम के एक द्रव्य की सत्ता माननी पड़ती है; क्योंकि 'इदानीम्, तदानीम्' इत्यादि प्रतीतियों का विषय यद्यपि सूर्य नक्षत्रादि की क्रियायें प्रतीत होती हैं; किन्तु सूर्यादि नक्षत्रों का साक्षात् सम्बन्ध घटादि विषयों के साथ नहीं है, अतः एक काल रूप अतिरिक्त द्रव्य मानकर उसके द्वारा नक्षत्रों की क्रिया द्वारा उक्त प्रतीतियों की उपपत्ति होती है । अतः काल नाम का एक स्वतन्त्र द्रव्य अवश्य है । उत्पन्न होनेवाले सभी पदार्थों के साथ इसका सम्बन्ध एवं अन्वय है, अतः वह सभी जन्यों का कारण भी हैं और आश्रय भी । यद्यपि क्षण-मुहूर्त्तादि से लेकर मन्वन्तरादि अनेक रूपों में इसका व्यवहार होता है, फिर भी वे विभिन्न प्रतीतियाँ औपाधिक ही हैं । काल वस्तुतः एक ही है । काल के द्वारा ही नये और पुराने का व्यवहार या ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व का व्यवहार, अर्थात् कालिक परत्व और कालिक अपरत्व का व्यवहार भी होता है ।

पाटलिपुत्र से काशी की अपेक्षा प्रयाग दूर है एवं प्रयाग की अपेक्षा पाटलिपुत्र से काशी समीप है–इस दूरत्व और समीपत्व की प्रतीति के लिए 'दिक्' नाम का एक द्रव्य माना जाता है । इसी कारण उक्त प्रतीतियाँ होती हैं । यह भी एक ही है और नित्य भी है । पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर प्रभृति के जो विभिन्न व्यवहार होते हैं वे सभी उपाधिमूलक हैं । अगर दिशा के प्राच्यादि भेद वास्तविक होते, तो पूर्व में सदा पूर्वत्व का ही व्यवहार होता और पश्चिम में सदा पश्चिमत्व का ही । किन्तु सो नहीं होता, क्योंकि जिसमें एक की अपेक्षा पूर्वत्व का व्यवहार होता है, उसी में उससे भी पूर्व में रहनेवाले की अपेक्षा पश्चिमत्व का व्यवहार होता है । इसी प्रकार पश्चिम में भी किसी पश्चिमेतर की अपेक्षा पूर्वत्व का व्यवहार होता है, अतः दिशा के पूर्व-पश्चिमादि भेद औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं । अतः दिक् भी एक ही है ।

'अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं जानामि' इत्यादि प्रत्यक्षात्मक प्रतीति सार्वजनीन है । इन प्रत्यक्षों के द्वारा ही सुखदुःखादि के आश्रय रूप आत्मा की सिद्धि होती है, फिर भी सुखदुःखादि के आश्रय शरीर या इन्द्रिय अथवा मन क्यों नहीं हैं ? ये प्रश्न रह जाते हैं । इन प्रश्नों के उत्तर के बिना आत्मा तत्त्वतः ज्ञात नहीं हो सकता । अतः 'शरीरादि आत्मा नहीं हैं' यह समझना आवश्यक है ।

शरीर को ही आत्मा माननेवालो का कहना है कि आत्मा कोई प्रत्यक्षदृष्ट वस्तु नहीं है । जो सम्प्रदाय आत्मा को स्वीकार करते हैं वे भी सुखादि प्रत्यक्ष के लिए आत्मा में शरीर का सम्बन्ध आवश्यक मानते हैं । अत एव वे शरीर को आत्मा में शरी का सम्बन्ध आवश्यक मानते हैं । अत एव वे शरीर को आत्मा के भोग का 'आयतन' कहते हैं । ऐसी सिथति में शरीर के साथ जब सुखादि का अन्वय और व्यतिरेक सर्वसिद्ध है, अतब शरीर की सुखादि का कारण सभी को मानना आवश्यक है । अतः शरीर का ही समवायिकारण क्यों न स्वीकार कर लें ? सुतराम् 'अहं सुखी' इत्यादि वाक्य का 'अहम्' शब्द का अर्थ शरीर ही है, फलतः शरीर ही आत्मा है । आत्मा नाम का कोई अतिरिक्त स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है । यह पक्ष सांसारिक साधारण जनों से स्वीकृत होने के कारण अधिक सरल है । वस्तुतः हम सभी सांसारिक प्राणी शरीरात्मवादी ही हैं । इस पक्ष के अनुसार हमारे सभी व्यवहार चलते हैं । अतः इसकी विशेष रूप से समीक्षा आवश्यक है ।

ज्ञान ही वस्तुतः चैतन्य है । चैतन्य से युक्त वस्तु ही चेतन कहलाती है । शरीर पाञ्चभौतिक है, पाँच भूतों में से कोई भी चेतन नहीं है । फिर भी उनकी समष्टि में चैतन्य की उत्पत्ति शरीरात्मवादी इस प्रकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में जो धर्म नहीं भी रहता है, समूह में वह धर्म रह सकता है । जैसे कि मदिरा के

उपादानों में से किसी एक में मादक शक्ति न रहने पर भी उस समूह से निर्मित मदिरा में मादक शक्ति रहती है, उसी प्रकार पृथिवी प्रभृति पाँच भूतों में से प्रत्येक में चैतन्य के न रहने पर भी उन पाँचों से निर्मित शरीर में चैतन्य रह सकती है ।

शरीर को आत्मा न माननेवालों या शरीर में चैतन्य न माननेवालों का कहना है कि शरीर को अगर चैतन्यत्वभाव का माना जाय तो फिर मृत शरीर में भी चैतन्य मानना पड़ेगा; क्योंकि मृत शरीर भी तो शरीर ही है । अतः शरीर में चैतन्य नहीं माना जा सकता । शरीर को चेतन मानने के पक्ष में दूसरी बाधा यह उपस्थित होती है कि इस पक्ष में शरीर के प्रत्येक अवयव में चैतन्य मानना पड़ेगा ? या फिर सम्पूर्ण शरीर में ? इन दोनों में से पहला पक्ष इसलिए नहीं मान सकते कि शरीर के हाथ रूप अवयव के द्वारा अनुभूत विषय का उसके कट जाने पर स्मरण नहीं हो सकेगा; क्योंकि स्मरण के प्रति जो पूर्वानुभव कारण है उसमें समानकर्तृकत्व भी आवश्यक है । अर्थात् जिस पुरुष को जिस विषय का पूर्व में अनुभव रहेगा उसी पुरुष को उस अनुभवजनित उपयुक्त संस्कार के द्वारा समय आने पर उस विषय का स्मरण होगा, किसी अन्य पुरुष को नहीं, जैसा कि देवदत्त के पूर्वानुभव से यज्ञदत्त को स्मरण नहीं हो सकता । इस कार्यकारणभाव के अनुसार शरीर के हाथ रूप अवयव केर द्वारा अनुभव के बाद उस हाथ रूप अनुभविता के नष्ट हो जाने पर उस विषय का अगर स्मरण मानेंगे तो एक के द्वारा अनुभूत विषय का स्मरण दूसरे से मानना पड़ेगा, अतः शरीर के प्रत्येक अवयव में चैतन्य या ज्ञान नहीं माना जा सकता ।

एवं शरीर रूप अवयवी में भी चैतन्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रत्येक अवयवी एक क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में रहकर तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है । आगे फिर इसी प्रकार उत्पत्ति और विनाश का क्रम चलता है । (बौद्धों के क्षणिकत्व सिद्धान्त में और वैशेषिकों के क्षणिकत्व सिद्धान्त में यही अन्तर है कि वैशेषिक लोग कुछ पदार्थों को नित्य भी मानते हैं । और एक क्षण में उत्पत्ति, दूसरे क्षण में स्थिति और तीसरे क्षण में नष्ट हो जाने को क्षणिकत्व कहते हैं । बौद्ध लोग सभी पदार्थों को क्षणिक ही मानते हैं किसी पदार्थ को नित्य नहीं मानते और क्षणिक उस उत्पत्ति-विनाश की परम्परा को कहते हैं, जिसमें पदार्थ एक क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षण में विनाश को प्राप्त होता है) वैशेषिक लोग अवयवियों को क्षणिक इसलिए मानते हैं कि उत्पन्न होने के बाद उसमें ह्रास और वृद्धि देखी जाती है । एक ही मनुष्यशरीर कभी दुबला और कभी मोटा, कभी छोटा और कभी बड़ा देखा जाता है; किन्तु एक ही आदमी छोटे और बड़े

परिमाण का आश्रय नहीं हो सकता; क्योंकि अवयव के परिणाम और अवयवों की संख्या ही अवयवी में रहने वाले परिमाण के कारण हैं । कुछ नियमित संख्या के अवयवों से निर्मित होनेवाले अवयवियों में अवयवों की एक प्रकार की संख्या और एक परिमाण से अवयवी में विभिन्न प्रकार के परिमाणों की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतः यही मानना पड़ेगा कि विभिन्न प्रकार के परिमाणवाले अवयवियों की उत्पत्ति एक प्रकार की संख्यावाले और एक समान परिमाणवाले अवयवों से नहीं हो सकती, अतः देवदत्तादि एक ही नाम से प्रत्यभिज्ञात होने पर भी विभिन्न परिमाण के देवदत्तादि के शरीर विभिन्न संख्यक और विभिन्न परिमाणवाले अवयवों से ही उत्पन्न होते हैं । विभिन्न संख्यक अवयवों से निर्मित अवयवी कभी एक नहीं हो सकते । अतः देवदत्तादि के मोटे और पतले शरीर रूप अवयवी भी विभिन्न ही हैं; क्योंकि विभिन्न परिमाणों के होने के कारण विभिन्न संख्यकों और विभिन्न परिमाण के अवयवों से उत्पन्न हैं । उत्पत्ति और विनाश का या शरीर के छोटे-बड़े होने का या मोटा और दुबला होने का यह क्रम इतना सूक्ष्म है कि उसे परख नहीं सकते । यह तो प्रत्यक्ष है कि एक पाँच साल का लड़का जिस ऊँचाई की वस्तु को छू नहीं सकता था, वही दश वर्ष का होने पर उसे आसानी से छू सकता है; किन्तु उसकी ऊँचाई में यह वृद्धि कब हुई ? यह कोई देख नहीं सकता । ऐसा तो होता नहीं कि एक रात पहले जिस उँचाई की वस्तु को छूने में पाँच अङ्गुल की कमी थी, वह प्रातः होते ही छूट जाती है और वह उस वस्तु को छू लेता है । तस्मात् यह वृद्धि और नाश प्रतिक्षण होता है, अतः प्रत्येक वृद्धि को या प्रत्येक विनाश को देखा नहीं जा सकता; क्योंकि क्षण अत्यन्त सूक्ष्म है ।

अतः 'अहं गौरः' इत्यादि प्रतीतियों के वाचक 'अहम्' शब्द से शरीर का बोध लाक्षणिक ही है । शरीर आत्मशब्द का मुख्यार्थ नहीं है । उसका मुख्यार्थ कोई अतिरिक्त द्रव्य ही है, जिसके सम्बन्ध के कारण आत्मा शब्द से शरीर का भी गौणव्यवहार होता है । तस्मात् शरीर आत्मा नहीं है ।

किसी सम्प्रदाय का कहना है कि जिस प्रकार 'अहं गौरः' इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'अहं काणः' 'अहं वधिरः' इत्यादि प्रतीतियाँ भी होती हैं, काणत्व, वधिरत्वादि चक्षुरादि इन्द्रियों के ही धर्म हैं, अतः उन प्रतीतियों में अहं शब्द से चक्षुरादि इन्द्रियों का ही भान उचित है । अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं । सभी ज्ञानों में इन्द्रियाँ किसी न किसी प्रकार अपेक्षित हैं ही । उन्हें आत्मा मान लेने में केवल इतना अधिक होता है कि उन्हें ज्ञानों का निमित्तकारण न मानकर समवायिकारण मानते हैं । अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं । वे ही अपने-अपने से उत्पन्न ज्ञानों के आश्रय हैं । अतः इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है ।

आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न अतिरिक्त पदार्थ माननेवाले सिद्धान्तियों का कहना है कि शरीर को आत्मा मानने में जो स्मरणानुपपत्ति प्रभृति दोष दिखला आये हैं, वे सभी अनित्य इन्द्रियों को आत्मा मान लेने के पक्ष में भी हैं । उसकी रीति यह है कि आँखों के रहते जिसने जिन वस्तुओं को देखा है, अन्धा हो जाने पर भी उस व्यक्ति को उन वस्तुओं का स्मरण होता है; किन्तु इन्द्रियों को आत्मा मान लेने के पक्ष में यह स्मरण सम्भव नहीं है; क्योंकि इस स्मरण का आश्रय (समवायिकारण) चक्षु रूप इन्द्रिय सर्वदा के लिए नष्ट हो चुका है । अतः यह मानना पड़ता है कि इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञानों का आश्रय कोई और ही द्रव्य है, जो इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी विद्यमान रहता है । वही आत्मा है ।

इन्द्रियात्मवाद के पक्ष में कोई कहते हैं कि ये सभी आपत्तियाँ इन्द्रियों के अनित्य होने के कारण उठती हैं । श्रोत्रेन्द्रिय आकाश रूप होने पर भी पूर्ण नित्य नहीं है; क्योंकि निरुपाधिक आकाश इन्द्रिय नहीं है । कर्णशष्कुली प्रभृति उपाधि से युक्त आकाश ही इन्द्रिय है, अतः उपाधि में दोष आ जाने से स्वरूपतः आकाश रूप श्रोत्र का नाश न होने पर भी उसका इन्द्रियत्व नष्ट हो जाता है । अतः श्रोत्रेन्द्रिय भी फलतः अनित्य ही है । ऐसी स्थिति में मन रूप इन्द्रिय को आत्मा मान लेने से उक्त सभी आपत्तियाँ हट जाती हैं; क्योंकि मन नित्य है एवं सभी ज्ञानों में मन की अपेक्षा भी है ही । तस्मात् सभी ज्ञानों के प्रति मन को ही समवायिकारण मान लें । तद्भिन्न आत्मा नाम के किसी द्रव्य को मानने की आवश्यकता नहीं है । इस प्रसङ्ग में सिद्धान्तियों का कहना है कि मन की सिद्धि जिस हेतु से की जाती है, वही उसको अतीन्द्रिय भी सिद्ध करता है । मन को अगर विभु मान लिया जाय तो फिर उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता; क्योंकि एक समय एक आश्रय में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती है; किन्तु चक्षु-घ्राणादि इन्द्रियों के अपने विषयों के साथ एक ही समय सम्बन्ध हो सकते हैं । ज्ञान के समवायिकारण को जो लोग विभु मानते हैं उनके मत में एक ही साथ अनेक विषयों के साथ उसका सम्बन्ध होना कोई बड़ी बात नहीं है । अतः मध्यवर्ती एक ऐसे इन्द्रिय की कल्पना करनी पड़ती है जो अपनी सूक्ष्मता के कारण एक समय एक ही बहिरिन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हो सके, वही इन्द्रिय 'मन' है । फलतः जिस बहिरिन्द्रिय के साथ जिस समय मन रूप इन्द्रिय का सम्बन्ध रहेगा, उस समय उसी बहिरिन्द्रिय के विषय का ग्रहण होगा और इन्द्रियों के विषयों का नहीं । अगर मन को विभु मान लें तो फिर एक ही समय अनेक बहिरिन्द्रियों के साथ वह सम्बद्ध हो सकता है । अतः एक ही क्षण में अनेक ज्ञानों की (ज्ञानयौपद्य की) आपत्ति जैसी की तैसी रहेगी । अतः मन की सत्ता के साधक प्रमाण (धर्मिग्राहक प्रमाण) के द्वारा ही मन का अणुत्व भी सिद्ध है । मन के इस अणुत्व के कारण ही ज्ञान का आश्रय मन नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा

मान लेने पर ज्ञान-सुखादि का प्रत्यक्ष न हो सकेगा; क्योंकि गुणप्रत्यक्ष के प्रति आश्रय का महत्त्व भी कारण है, चूँकि मन अणु है, अतः उसमें रहनेवाले ज्ञानसुखादि का प्रत्यक्ष संभव नहीं होगा । तस्मात् मन भी आत्मा नहीं है । अतः पृथिव्यादि आठों द्रव्यों से अतिरिक्त आत्मा नाम का एक स्वतन्त्र द्रव्य मानना आवश्यक है ।

यह आत्मा ईश्वर और जीव भेद से दो प्रकार का है । ईश्वर एक ही है और सर्वज्ञत्वादि गुणों से विभूषित है । जीव अदृष्टादि गुणों के द्वारा बद्ध है और प्रत्येक शरीर में अलग-अलग होने के कारण अनन्त है । मन रूप नवम द्रव्य के प्रसङ्ग में जानने योग्य सभी बातें आत्मनिरूपण के प्रसङ्ग में अधिकतर कह दी गयी हैं ।

गुण

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये चौबीस गुण हैं ।

रूप

केवल आँखों से ही दीखने वाला गुण 'रूप' है । द्रव्य भी वही आँखों से देखा जाता है जिसमें कि रूप हो । आकाशादि में रूप नहीं है, अतः वे नहीं देखे जाते । सुतरां द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में भी रूप सहायककारण है । केवल द्रव्य ही नहीं जिस किसी का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष हो–रूप किसी न किसी प्रकार अपेक्षित होगा ही । फलतः चक्षु से सभी ज्ञानकार्यों के सम्पादन में रूप सहायककारण है । यह शुक्ल, नील, पीत, हरित, रक्त, कपिश और चित्र भेद से सात प्रकार का है ।

चित्र रूप के प्रसङ्ग में कुछ विवाद है । कुछ लोग कथित नीलादि रूपों से भिन्न चित्र नाम का कोई अतिरिक्त रूप नहीं मानते । सिद्धान्तियों का कहना है कि संयोग की तरह रूप अपने किसी आश्रय के एक अंश में रहे और दूसरे अंश में नहीं–ऐसा नहीं होता (रूप अव्याप्यवृत्ति नहीं है); किन्तु रूप अपने आश्रय के सभी अंशों में रहता है (अतः वह व्याप्यवृत्ति है) । इस नियम के अनुसार जो छींट प्रभृति अनेक रङ्गों के कपड़े हैं, उनमें कोई रूप सभी अंशों में नहीं है; किन्तु वे सभी रूपवाले द्रव्य हैं; क्योंकि उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । तस्मात् उनमें नीलादि से भिन्न कोई रूप मानना पड़ेगा । वही चित्र रूप है ।

पृथिवी में ये सभी रूप रहते हैं । जल और तेज़ इन दोनों में केवल शुक्ल रूप ही है । शुक्ल रूप को छोड़कर और किसी रूप का अवान्तर वास्तविक भेद

नहीं है । शुक्ल रूप भासव्र और अभास्वर भेद से दो प्रकार का है । जल में अभास्वर शुक्ल रूप है और तेज में भास्वर शुक्ल रूप है ।

रस

केवल रसनेन्द्रिय से ज्ञात होनेवाले गुण को रस कहते हैं । यह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से छः प्रकार का है । यह पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में ही रहता है । पृथिवी में सभी प्रकार के रस रहते हैं और जल में केवल मधुर रस ही रहता है ।

गन्ध

घ्राण से ज्ञात होनेवाले गुण को 'गन्ध' कहते हैं । यह सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद से दो प्रकार का है एवं यह केवल पृथिवी में ही रहता है ।

स्पर्श

केवल त्वचा रूप इन्द्रिय से ज्ञात हो सकनेवाले गुण को स्पर्श कहते हैं । यह पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है । शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेद से यह चार प्रकार का है । शीत स्पर्श जल में, उष्ण स्पर्श तेज में, अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी और वायु में रहता है । अनुष्णाशीत स्पर्श भी पाकज और अपाकज भेद से दो प्रकार का है । इनमें पाकज अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी में (पाक से पृथिवी का अनुष्णाशीत स्पर्श परिवर्त्तित हो सकता है) और अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श वायु में रहता है ।

इनमें से जल के परमाणुवों में रहनेवाले रूप, रस, और स्पर्श एवं तेज के परमाणुवों में रहनेवाले रूप और स्पर्श और वायु के परमाणुवों में रहनेवाले स्पर्श नित्य हैं । एवं कार्य रूप जलादि में रहनेवाले रूपादि अनित्य हैं; किन्तु पृथिवी के परमाणुवों में रहनेवाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श भी अनित्य ही हैं । कार्य रूप पृथिवी में रहनेवाले रूपादि तो अनित्य हैं ही ।

इसका यह हेतु है कि पाक के द्वारा पृथिवी में रहनेवाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का परिवर्त्तित होना प्रत्यक्ष से सिद्ध है । अवयवियों के रूपादि का यह परिवर्तन परमावयव परमाणुवों में रूपादि परिवर्तन के बिना संभव नहीं है । अतः पार्थिव परमाणुवों के रूपादि को अनित्य मानना पड़ता है । यह वैशेषिक दर्शन का खास विषय है, अतः इस विषय का विवरण कुछ विस्तृत रूप से देता हूँ ।

पाकजरूपादि

समवायिकारणों में रहनेवाला गुण ही जन्य द्रव्यों में रहनेवाले गुणों का असमवायिकारण है । शतशः देखी हुई यह व्याप्ति ही 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'

इस न्याय में पर्यवसित हुई है । जब तक सूत लाल न हों तब तक कपड़े लाल नहीं होते । श्याम कपालों से श्याम घट ही उत्पन्न होते हैं; किन्तु श्याम कपाल से उत्पन्न श्याम घट ही आग में पकने पर लाल हो जाता है । अतः प्रत्यक्ष दृष्ट रक्त घट की उत्पत्ति उक्त न्याय से रक्त कपालों से ही माननी पड़ेगी । फलतः कपालों का रक्त रूप ही घट में दीखनेवाले रक्त रूप का असमवायिकारण है । रक्त रूप की उत्पत्ति की यह प्रणाली घट के उत्पादक त्र्यसरेणु तक अबाधित गति से चलेगी । उक्त रीति के अनुसार घट के उत्पादक द्व्यणुक में रहनेवाले रक्त रूप की उत्पत्ति द्व्यणुक के उत्पादक दोनों परमाणुवों में रहनेवाले रक्त रूप से होगी; किन्तु प्रश्न यह है कि उन परमाणुवों में रक्त रूप आया कहाँ से ? क्योंकि श्याम घट के उत्पादक परमाणु ही इस रक्त घट के भी उत्पादक हैं । उन परमाणुवों में श्याम रूप का अनुमान घट की श्यामता से निराबाध है । अतः यही एक कल्पना अवशिष्ट रह जाती है कि अग्नि के विशेष प्रकार के संयोग (पाक) से उन परमाणुवों की श्यामता नष्ट हो जाती है और उनमें रक्त रूप की उत्पत्ति होती है; किन्तु घट के बन जाने पर घट के उत्पादक परमाणुवों की स्वतन्त्र सत्ता है कहाँ ? वे तो अपने कार्य द्व्यणुकों को अपने में समेट कर अपनी स्वतन्त्रता खो चुके हैं । अतः द्व्यणुकों में समवेतत्व सम्बन्ध से विद्यमान परमाणुवों में रहनेवाले श्याम रूप का नाश पाक से नहीं हो सकता । अतः उन परमाणुवों में रक्त रूप की उत्पत्ति की सम्भावना ही नहीं है । अतः यह कल्पना करनी पड़ती है कि जिन अवयवियों की परम्परा से श्याम घट का निर्माण हुआ था, द्व्यणुकपर्यन्त के वे सभी अवयवी अग्नि के संयोग से विनष्ट हो जाते हैं । नित्य होने के कारण परमाणु विनष्ट नहीं होते । इस प्रकार उक्त श्याम घट के आरम्भक सभी परमाणुवों के अलग हो जाने पर उनमें से प्रत्येक परमाणु में पाक से श्याम रूप का नाश हो जाता है और पाक से ही उनमें रक्त रूप की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार पहले के रस, गन्ध और स्पर्श भी नष्ट हो जाते हैं और उनमें दूसरे रसादि की उत्पत्ति होती है । इन दूसरे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त परमाणुवों के द्वारा पुनः द्व्यणुकादि के क्रम से दूसरे पक्व घट की उत्पत्ति होती है । उसमें कथित कारणगुण क्रम से ही रक्तरूपादि की उत्पत्ति होती है । इस पके हुए घट में 'यही वह घट है जिसे पकने के लिए दिया गया था' इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसका कारण पके हुए और बिना पके हु दोनों घटों का ऐक्य नहीं है । ऐक्य न रहने पर भी सादृश्य के कारण प्रत्यभिज्ञा होती है । जैसे कि 'सेयं दीपज्वाला' इत्यादि स्थलों में होती है । वैशेषिकों का यह सिद्धान्त 'पिलुपाकवाद' के नाम से प्रख्यात हैं । 'पिलु' परमाणुवों का ही दूसरा नाम है ।

किन्तु नैयायिक लोग इस बात को नहीं मानते । उन लोगों का कहना है कि पका हुआ घट और बिना पका हुआ घट–दोनों एक ही हैं । इस ऐक्य से ही

'सोऽयं घटः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञायें होतीं हैं । सम्भव होने पर किसी प्रतीति का गौणार्थक मानना उचित नहीं है । अतः उक्त प्रत्यभिज्ञा वस्तुतः ऐक्यमूलक ही है, सादृश्यमूलक नहीं । तदनुसार सम्पूर्ण घट रूप अवयवी में ही पाक होता है, भट्ठी में डाले गये घट का छिद्र से देखने पर प्रत्यक्ष भी होता है । अतः उक्त स्थल में घट का विनाश मानना प्रत्यक्षविरुद्ध भी है । उक्त प्रत्यभिज्ञा से विरुद्ध होने के कारण 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस नियम को पाकज रूपादि से अतिरिक्त विषय के लिए सङ्कुचित करना पड़ेगा ।

प्रत्येक अवयवी अनन्त छिद्रों से युक्त है, अतः उन छिद्रों के द्वारा अतितीक्ष्ण तेज भीतर प्रविष्ट होकर अवयवी को बाहर और भीतर पका देता है । अतः अनुभव से विरुद्ध कच्चे घट का विनाश और पके घट की उत्पत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

संख्या

'यह एक है, ये दो हैं, ये तीन हैं' इत्यादि व्यवहार जिस गुण से उत्पन्न हों, वही 'संख्या' है । यह एकत्व और द्वित्वादि से लेकर परार्द्धपर्यन्त अनन्त प्रकार की है । इनमें एकत्व संख्या की नित्यता और अनित्यता उसके आश्रय की नित्यता और अनित्यता के अनुसार होती है, घट अनित्य है, अतः उसमें रहनेवाली एकत्व संख्या भी अनित्य है, आकाश नित्य है, अतः उसमें रहनेवाली एकत्व संख्या भी नित्य है; किन्तु द्वित्वादि सभी संख्यायें अनित्य ही हैं, चाहे उनके आश्रय नित्य हों या अनित्य; क्योंकि इन संख्याओं के व्यवहार करनेवाले पुरुषों की बुद्धि से इसकी उत्पत्ति होती है । जिस घट में पट को साथ लेकर कोई पुरुष द्वित्व का व्यवहार करता है, उसी घट में पट और दण्ड को साथ लेकर कोई तीसरा पुरुष त्रित्व का व्यवहार भी करता है । द्वित्व को दृष्टान्त रूप में लेकर समझने में सरलता होगी । जब किसी पुरुष को दो घंटों में से प्रत्येक में 'यह एक है, यह एक है' इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है, तभी दो एकत्वों की उक्त बुद्धि से उक्त दोनों घटों में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार अनेक एकत्व-विषयक बुद्धि की 'अपेक्षा' द्वित्व की उत्पत्ति में है, अतः उक्त बुद्धि को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं । सभी बुद्धियाँ क्षणिक हैं, अतः अपेक्षाबुद्धि क्षणिक ही है । अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली द्वित्वादि सभी संख्यायें अनित्य हैं ।

पहले कह चुके हैं कि एक क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में जिस वस्तु का नाश हो, उसे ही वैशेषिक लोग 'क्षणिक' कहते हैं; किन्तु अपेक्षाबुद्धि का क्षणिकत्व उक्त क्षणिकत्व से थोड़ा-सा भिन्न है । अपेक्षाबुद्धि की एक क्षण में उत्पत्ति, उसके बाद दो क्षणों तक उसकी स्थिति और चौथे क्षण में विनाश मानना होगा, अतः अपेक्षाबुद्धि का क्षणिकत्व चतुर्थ क्षण में नष्ट होना

है । अगर ऐसा न मानें, अपेक्षाबुद्धि का भी और बुद्धियों की तरह तीसरे ही क्षण में विनाश मानें ? तो उससे उत्पन्न होनेवाले द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; क्योंकि वर्त्तमान विषयों का ही प्रत्यक्ष होता है । प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण हैं । तदनुसार द्वित्वविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भी द्वित्व कारण है । अगर द्वित्व के कारणीभूत उक्त अपेक्षाबुद्धि की सत्ता तीन क्षणों तक न मानें तो द्वित्व-जनित उक्त प्रत्यक्ष अनुपपन्न हो जाएगा । द्वित्व प्रत्यक्ष की रीति यह है कि द्वित्व के आश्रयीभूत दोनों व्यक्तियों में अलग-अलग 'अयमेकः, अयमेकः' इत्यादि आकार की अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है । इस अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है, फिर द्वित्व में विशेषणीभूत द्वित्वत्वविषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है । इसके बाद द्वित्व का विशिष्टप्रत्यक्ष होता है । उसके बाद के क्षण में द्वित्व का विनाश होता है; क्योंकि विशिष्टज्ञान के लिए पहले विशेषण का ज्ञान आवश्यक है, अतः द्वित्वत्वविशिष्ट द्वित्व के प्रत्यक्ष के लिए द्वित्वत्व का निर्विकल्पक ज्ञान मानना आवश्यक है । अगर उक्त अपेक्षाबुद्धि की और साधारण ज्ञानों की तरह दूसरे क्षण तक ही स्थिति मानें, तो द्वित्व की उत्पत्ति के आगे के क्षण में ही अपेक्षाबुद्धि का विनाश हो जाएगा; अतः जिस क्षण में द्वित्वत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा गया है, उसी क्षण में अपेक्षाबुद्धि का विनाश होगा । फिर उसके आगे के क्षण में द्वित्व के सविकल्पक प्रत्यक्ष की अपेक्षा द्वित्व का ही नाश हो जाएगा; क्योंकि अपेक्षाबुद्धि का विनाश ही द्वित्व का विनाशक है । फिर द्वित्व विनाश के बाद द्वित्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्वक्षण में विषय का रहना आवश्यक है । अतः अपेक्षाबुद्धि का विनाश और बुद्धियों की तरह तीसरे क्षण में न मानकर उत्पत्ति के चौथे क्षण में मानना पड़ता है ।

परिमाण

लम्बा और चौड़ा एवं भारी और हल्का ये व्यवहार जिस गुण के कारण हों, उस गुण को 'परिमाण' कहते हैं । दोनों में पहले से लम्बाई-चौड़ाई का बोध होता है और दूसरे से भारीपन और हल्कापन का बोध होता है । इनमें पहला भी दो प्रकार का है, एक दीर्घ और दूसरा ह्रस्व । दूसरे प्रकार का वह परिमाण है, जिससे द्रव्य का भारीपन और हल्कापन प्रतीत हो । यह भी अणु और महत् भेद से दो प्रकार का है । इसकी भी नित्यता और अनित्यता अपने आश्रय की नित्यता और अनित्यता के अधीन है । अर्थात् नित्य द्रव्य में रहनेवाला परिमाण नित्य है और अनित्य द्रव्य में रहनेवाला परिमाण अनित्य है । अनित्य परिमाण तीन कारणों से उत्पन्न होता है– (१) अवयवों के परिमाण से, (२) अवयवों की संख्या से और (३) (अवयवों के प्रशिथिलसंयोगरूप) प्रचय से । दोनों कलापों के

परिमाण से घट में परिमाण की उत्पत्ति होती है; किन्तु उसी परिणाम के तीन कलापों से जिस घट की उत्पत्ति होगी, उस घट का परिमाण दो कलापों से उत्पन्न घट के परिमाण से भिन्न होगा । इस विलक्षण परिमाण का कारण तीनों कपालों का परिमाण नहीं हो सकता; क्योंकि इन तीनों कपालों का परिमाण भी पहले घट के उत्पादक दोनों कपालों के समान ही है । अतः उक्त तीन कपालों से उत्पन्न घट में जो उक्त दोनों कपालों से उत्पन्न घट के परिमाण से विलक्षण परिमाण उपलब्ध होता है, उसका कारण कपालों की त्रित्व संख्या ही है । अतः संख्या भी परिमाण का कारण है । इस प्रकार संख्या में स्वीकृत परिमाण की कारणता के अनुसार ही अणु परिमाणों में किसी भी वस्तु की कारणता का अस्वीकार करना वैशेषिकों के लिए संभव होता है । वैशेषिकों के सिद्धान्त के अनुसार अणुपरिमाण किसी के भी कारण नहीं हैं । परमाणुवों के परिमाण और द्व्यणुकों के परिमाण ही अणुपरिमाण हैं । ये अगर कारण होंगे तो परमाणु के परिमाण द्व्यणुकों के परिमाण के कारण होंगे और द्व्यणुकों के परिमाण त्र्यसरेणु के परिमाण के कारण होंगे; किन्तु सो संभव नहीं है; क्योंकि परिमाणों में यह नियम देखा जाता है कि वे अपने समान जाति के अपने से उत्कृष्ट परिमाण को ही उत्पन्न करते हैं । कपालों में महत् परिमाण हैं, उसके परिमाणों से घट का जो परिमाण उत्पन्न होता है, वह कपाल परिमाण से महत्तर होता है । अर्थात् कपाल परिमाण में रहनेवाली महत्त्व जाति भी उसमें है और कपाल परिमाण से वह बड़ा भी है । इस नियम के अनुसार परमाणुवों के परिमाणों से द्व्यणुकों के परिमाणों की उत्पत्ति मानने से द्व्यणुक के परिणामों में अणुत्व-जाति के साथ-साथ परमाणुवों के परिणाम से न्यूनता भी माननी पड़ेगी; क्योंकि जिस प्रकार महत्परिमाण से उत्पन्न होनेवाले परिमाण महत्तर होते हैं, उसी प्रकार अणुपरिमाण से उत्पन्न होनेवाले परिमाण अणुतर होंगे । इसी प्रकार द्व्यणुकों में रहनेवाले अणुपरिमाणों से अगर त्र्यसरेणु परिमाण की उत्पत्ति मानें तो वह द्व्यणुक के परिमाण से छोटा होगा । फलतः त्र्यसरेणु का प्रत्यक्ष न हो सकेगा । जिससे आगे की प्रत्यक्ष धारा ही रुक जाएगी । जो जगत् के अप्रत्यक्ष में परिणत हो जाएगी । तस्मात् द्व्यणुक परिमाण के उत्पादक दोनों परमाणुवों की द्वित्व संख्या ही है एवं तीन द्व्यणकों से उत्पन्न होनेवाले त्र्यसरेणु के परिमाण का उसके उपादानभूत तीनों द्व्यणुकों की त्रित्व संख्या ही कारण है । घटादि के विशेष प्रकार के परिमाणों के लिए भी संख्या की अपेक्षा का उपपादन कर चुके हैं । अतः जन्य अणुपरिमाणों के लिए वह कोई नवीन कल्पना भी नहीं है ।

'प्रचय' भी परिमाण का कारण है । इसी से सेर भर लोहे की लम्बाई-चौड़ाई और सेर भर रूई की लम्बाई-चौड़ाई में अन्तर उपलब्ध होता है । यह अन्तर अवयवों के परिमाण या अवयवों की संख्या से उपपन्न नहीं हो सकते । कथित

लौहखण्ड और तुलखण्डों के अवयवों की संख्या और परिमाण समान हैं । अतः उक्त अन्तर की उपपत्ति के लिए यही कल्पना करनी चाहिए कि लोहे के अवयवों के संयोग संघटित हैं और रूई के अवयवों के संयोग शिथिल (ढीले) हैं । अवयवों के इस शिथिल संयोग को ही 'प्रचय' कहते हैं ।

पृथक्त्व

'घट पट से पृथक् है' (अयमस्मात् पृथक्) इस आकार की प्रतीति जिस गुण से हो, उसे 'पृथक्त्व' कहते हैं । यह भिन्न द्रव्यों में एक, दो या इनसे अधिक द्रव्यों को अवधि मानकर शेष द्रव्यों में रहता है । इस प्रकार यह भेद या अन्योन्याभाव-सा ही दीखता है; किन्तु अन्योन्याभाव की प्रतीति का 'घटभिन्नः पटः' इत्यादि प्रकार के होते हैं, अतः भेद से पृथक्त्व भिन्न है । अर्थात् भेद की प्रतीति के अभिलापक वाक्य में प्रयुक्त प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों के लिए प्रथमान्त पद का ही प्रयोग होता है; किन्तु पृथक्त्व की प्रतीति के लिए उनमें से अवधिभूत एक अर्थ का पञ्चम्यन्त पद से उपादान किया जाता है ।

संयोग

असम्बद्ध दो द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध को ही 'संयोग' कहते हैं । यह तीन प्रकार का है-(१) दोनों सम्बन्धियों में से एकमात्र की क्रिया से उत्पन्न । जैसे पहाड़ और पक्षी का संयोग केवल पक्षी की क्रिया से उत्पन्न होता है । (२) दोनों सम्बन्धियों की क्रिया से उत्पन्न, जैसे लड़ते हुए दो पहलवानों का संयोग । (३) तीसरा संयोग संयोग से ही उत्पन्न होता है । जैसे हाथ और पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का संयोग उत्पन्न होता है । वैशेषिकों के सिद्धान्त में अवयव और अवयवी परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं । अतः शरीर रूप अवयवी और हाथ-पैर प्रभृति अवयव परस्पर भिन्न हैं । अतः जिस प्रकार घट की क्रिया से भूतल और पट का संयोग उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार हाथ की क्रिया से शरीर और पुस्तक का संयोग भी उत्पन्न नहीं हो सकता; किन्तु शरीर में क्रिया के न रहने पर भी हाथ की क्रिया से पुस्तक के साथ जो हाथ और पुस्तक का संयोग उत्पन्न होता है, उसके बाद शरीर के साथ पुस्तक के संयोग की प्रतीति होती है । प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता । अत. शरीर और पुस्तक में भी संयोग मानना पड़ेगा; किन्तु यह संयोग अगर क्रिया से उत्पन्न होगा तो पुस्तक की क्रिया या शरीर की क्रिया या फिर उन्हीं दोनों की क्रिया से उत्पन्न होगा; किन्तु न शरीर में और न पुस्तक में ही क्रिया है । अतः प्रकृत में शरीर और पुस्तक के संयोग का कारण क्रिया को नहीं माना जा सकता; किन्तु असमवायिकारण तो क्रिया या गुण इन दोनों में से ही कोई होगा । प्रकृत में क्रिया

असमवायिकारण नहीं हो सकती, अतः उसके असमवायिकारण होने की बात ही नहीं उठती । सुतरां प्रकृत में हाथ और शरीर इन दोनों के लिए गुण रूप किसी असमवायिकारण की कल्पना आवश्यक है । यह गुण उक्त संयोग से अव्यवहित पूर्वक्षण में नियत रूप से रहनेवो हाथ और पुस्तक के संयोग को छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता । अतः हाथ और पुस्तक की क्रिया से उत्पन्न संयोग से ही शरीर और पुस्तक का संयोग उत्पन्न होता है । सुतरां संयोगजसंयोग का मानना आवश्यक है ।

(१) नोदन और (२) अभिघात संयोग के ये दो और प्रकार भी हैं । जिस संयोग से शब्द की उत्पत्ति न हो उसे 'नोदन' कहते हैं । एवं इसके विपरीत जिस संयोग से शब्द की उत्पत्ति हो उसे 'अभिघात' कहते हैं ।

विभाग

संयोग को विनष्ट करनेवाले गुण का नाम 'विभाग' है । संयोग की तरह यह भी (१) एक क्रिया से उत्पन्न, (२) दो क्रियाओं से उत्पन्न और (३) विभाग से उत्पन्न भेद से तीन प्रकार का है । पर्वत से पक्षी का विभाग केवल पक्षी में रहनेवाली क्रिया से ही उत्पन्न होता है । परस्पर गुथे हुए दो पहलवानों का विभाग दोनों पहलवानों में से प्रत्येक में रहनेवाली अलग-अलग दो क्रियाओं से उत्पन्न होता है ।

संयोगजसंयोग की तरह 'विभागजविभाग' का भी मानना आवश्यक है; क्योंकि किसी व्यक्ति के हाथ का संयोग अगर किसी वृक्ष के साथ था और हाथ की क्रिया से उस संयोग के छूट जाने पर वृक्ष से हाथ का विभाग हो जाता है । हाथ और वृक्ष के इस विभाग के उत्पन्न होने पर वृक्ष से शरीर के विभाग की भी प्रतीति होती है । शरीर और वृक्ष का विभाग अगर क्रिया से उत्पन्न होगा तो फिर शरीर को क्रिया से या वृक्ष की क्रिया से अथवा दोनों की क्रिया से ही उत्पन्न हो सकता है । प्रकृत में क्रिया केवल हाथ में ही है, पूरे शरीर में नहीं । वृक्ष में तो है ही नहीं । हाथ अवयव है शरीर अवयवी, अतः दोनों भिन्न हैं । सुतरां घट की क्रिया से जैसे कि पट और दण्ड का विभाग उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार हाथ की क्रिया से शरीर और वृक्ष का भी विभाग नहीं उत्पन्न हो सकता । अतः हाथ और वृक्ष का विभाग हो शरीर और वृक्ष के विभाग का कारण है । अतः विभागजविथभाग का मानना आवश्यक है । इसी हेतु से विभाग को संयोगद्वंस रूप न मानकर स्वतन्त्र गुणरूप भाव पदार्थ मानना पड़ता है । अगर ऐसा न मानें अर्थात् विभाग को संयोगध्वंस रूप ही मानें तो हाथ और तरु के विभाग के बाद जो शरीर और तरु के विभाग की प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकेगी; क्योंकि शरीर और तरु का विभाग शरीर और तरु के संयोग का ही

विनाश रूप होगा । शरीर में क्रिया है नहीं, क्रिया है हाथ में । हाथ की क्रिया से शरीर के संयोग का विनाश कैसे होगा ? हाथ की क्रिया से जिस संयोग-विनाश की उत्पत्ति होगी वह तो हाथ में ही रहेगी, शरीर में नहीं । अतः विभाग संयोग का अभावरूप नहीं है; किन्तु गुणरूप भाव ही है । विभाग को भावरूप मान लेने से प्रतीतियों की उपपत्ति दिखलायी जा चकी है ।

विभागजविभाग भी दो प्रकार का है–(१) कारणमात्रजन्य और (२) समवायिकारणविभागजन्य । जिस विभाग की उत्त्त होगी, उस विभाग के समवायिकारणीभूत द्रव्यों के ही विभाग से जो विभाग उत्पन्न हो उसे 'कारणमात्रविभागजन्य विभाग' कहते हैं । घट-नाश से लेकर उसके उत्पादक कर्मनाश पर्यन्त के पर्यालोचन से यहाँ की स्थिति स्पष्ट हो जाएगी । उसका यह क्रम है कि पहले घट के अवयव रूप दोनों कपालों में क्रिया (हलचल) की उत्पत्ति होती है । फिर घट के उत्पादक दोनों कपालों में विभाग उत्पन्न होता है । कपालों के इस विभाग से घट के उत्पादक कपालों के संयोग का नाश होता है । चूँकि कपालों का संयोग घट का असमवायिकारण है, अतः इसके नाश से घट का नाश होता है । तब तक कपालों में क्रिया रहती ही है । घट-नाश के बाद कर्म से युक्त उन कपालों का संयोग पहले के जिस देश के आकाश के साथ था, उस देश से कपालों का विभाग उत्पन्न होता है । आकाश के साथ कपालों के इस विभाग का असमवायिकारण पहले कहा गया दोनों कपालों का क्रियाजनित विभाग ही है । पूर्व देशों के आकाश से एक-दूसरे से विभक्त दोनों कपालों का यह विभाग ही "कारणमात्रविभागजन्य विभागजविभाग" है; क्योंकि इस विभाग के समवायिकारण दोनों कपाल और पूर्वदेशों का आकाश है । अतः दोनों कपाल भी इस विभाग के समवायिकारण हैं । अतः प्रकृत विभाग के समवायिकारणीभूत केवल दोनों कपालों के विभाग से ही वह उत्पन्न होता है, किन्हीं और द्रव्यों के विभाग से नहीं । इसके बाद विभागजविभाग से कपालों का जिस पूर्वदेश के साथ पहले संयोग था, उस संयोग का नाश होता है । फिर दूसरे देशों के आकाश (उत्तरदेश) के साथ इन विभक्त कपालों का संयोग होता है । कपालों की उस क्रिया का नाश होता है, जिससे दोनों कपालों का विभाग उत्पन्न हुआ था ।

इस प्रसङ्ग में इन दो विषयों को भी समझना आवश्यक है–(१) जिस क्रिया से कपालों का परस्पर विभाग उत्पन्न होता है, उस क्रिया से ही विभक्त कपालों के पूर्वदेश के आकाश के साथ कथित विभाग की उत्पत्ति क्यों नहीं मानते ? क्योंकि क्रिया में विभाग की हेतुता स्वीकृत है । एवं क्रिया की सत्ता इस विभाग के कई

क्षणों बाद तक रहती है । फिर विभाग में विभाग की हेतुता की नयी कल्पना क्यों की जाती है ? दूसरी बात यह है कि अगर उक्त दूसरे विभाग की उत्पत्ति विभाग से ही मान भी लें तो यह पहला विभाग दूसरे विभाग का असमवायिकारण ही होगा । असमवायिकारण का संवलन हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं रह जाती है । फिर अवयवों के विभाग के बाद ही अवयवी के नाश से पूर्व ही उक्त दूसरे देश के साथ अवयवों का (विभागज) विभाग क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ? इसके लिए घट के उत्पादक संयोग का विनाश और घट का विनाश इन दो कार्यों के लिए अपेक्षित दो क्षणों का विलम्ब सहने की क्या आवश्यकता है ?

इन दोनों में प्रथम प्रश्न का यह समाधान है कि अगर उक्त दूसरे विभाग को भी क्रियाजन्य मानें तो कमल खिलने की अपेक्षा विनष्ट ही हो जाएँगे; क्योंकि संयोग दो प्रकार के हैं । एक संयोग से अवयवी की उत्पत्ति होती है, जैसे दोनों कपालों का कथित संयोग । इसे 'आरम्भक' संयोग कहते हैं; क्योंकि यह संयोग घटरूप अवयवी द्रव्य का 'आरम्भक' अर्थात् 'उत्पादक' है । दूसरा संयोग है अनारम्भक संयोग, जैसे विभक्त कपालों का दूसरे देश के आकाश के साथ संयोग । इससे किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः इसे 'अनारम्भक' संयोग कहते हैं । फलतः वे दोनों संयोग परस्पर विरोधी हैं, अतः एक क्रियारूप कारण से उन दोनों की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अगर इसे मानने का हठ करें तो फूलते हुए कमल के विनाश की उक्त आपत्ति होगी; क्योंकि कमल के पत्रों का ऊपर की ओर जो परस्पर संयोग है, यह कमल का उत्पादक संयोग नहीं है । उस संयोग को नष्ट करनेवाला विभाग ही कमल का फूलना है । जो सूर्य-किरणों के संयोग से उत्पन्न होनेवाली पत्रों की क्रिया से होता है । कमल के पत्रों का ही नीचे की ओर डण्ठी के ऊपर अंश में भी परस्पर संयोग है । जो कमल का उत्पादक संयोग है । इस संयोग का विनाश उन रविकिरणों के उक्त क्रियाजनित विभाग से नहीं होता है । यदि आग्रहवश ऐसा मानें तो कमल का विनाश मानना पड़ेगा; क्योंकि अवयवों का विशेष प्रकार संयोग ही अवयवी का उत्पादक है एवं उक्त संयोग का विनाश ही अवयवी का विनाशक है । तस्मात् अवयवियों के उत्पादक संयोग के विनाशक विभाग और उक्त संयोग के अविनाशक विभाग दोनों की उत्पत्ति एक क्रिया से नहीं हो सकती । अतः प्रकृत में कपालों के संयोग को नष्ट करनेवाले विभाग की उत्पत्ति क्रिया से मानते हैं और उन्हीं विभक्त कपालों के पूर्वदेशसंयोग के विनाशक विभाग की उत्पत्ति कपालों के उक्त विभाग से मानते हैं । अतः विभागजविभाग का मानना आवश्यक है ।

दूसरे प्रश्न का यह समाधान है कि कथित आरम्भकर संयोग के विरोधी विभाग से युक्त अवयवों का दूसरे आकाशादि देशों के साथ तब तक संयोग नहीं हो सकता जब तक कि अवयवी विनष्ट नहीं हो जाता । अतः क्रिया से विभाग, विभाग से पूर्व (आरम्भक) संयोग का नाश, संयोग के इस नाश से घट का नाश जब हो जाएगा तभी घट के उत्पादक उक्त विभक्त कपालों का दूसरे देशों के साथ संयोग उत्पन्न हो सकता है । अतः उक्त रीति माननी पड़ती है ।

परत्व और अपरत्व

परत्व और अपरत्व ये दोनों ही दैशिक और कालिक भेद से दो-दो प्रकार के हैं । एक वस्तु से दूसरी वस्तु की दूरी दैशिक परत्व है और एक वस्तु का दूसरे वस्तु से समीप होना दैशिक अपरत्व है । ये दोनों ही आपेक्षिक हैं, अतः अपेक्षाबुद्धि ही इनकी कारण है और तीसरी अवधि की भी अपेक्षा होती है । जैसे कि पटना से काशी की अपेक्षा प्रयाग दूर है एवं पटना से प्रयाग की अपेक्षा काशी समीप है ।

कालिक परत्व का ही दूसरा नाम ज्येष्ठत्व है । एवं कालिक अपरत्व का ही दूसरा नाम कनिष्ठत्व है । कालिक परत्व और अपरत्व भी आपेक्षिक हैं; क्योंकि जो कोई व्यक्ति एक व्यक्ति से ज्येष्ठ होता है, वही अपने से पूर्ववर्त्ती की अपेक्षा कनिष्ठ भी होता है । एवं जो कोई व्यक्ति एक व्यक्ति से कनिष्ठ होता है, वही अपने से पश्चाद्वर्ती की अपेक्षा ज्येष्ठ भी होता है । अतः इनमें भी अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता होती है । अतः अपेक्षाबुद्धि के नाश से इनका नाश होता है ।

परत्व और अपरत्व दोनों ही बुद्धिसापेक्ष हैं । अतः इनके निरूपण के बाद ही आकर-ग्रन्थों में बुद्धि का निरूपण किया गया है । तदनुसार मैं भी अब बुद्धि का निरूपण प्रारम्भ करता हूँ । बुद्धि के निरूपण में नव्यन्याय की दृष्टि से भी कुछ विषयों को समझाने का मैंने प्रयास किया है ।

बुद्धि

संसार के सभी व्यवहारों के मूल में बुद्धि ही काम करती है । संक्षेपतः (१) प्रमा (विद्या) और (२) अप्रमा (अविद्या) इसके दो भेद हैं । इनमें अप्रमा के (१) संशय, (२) विपर्यय, (३) अनध्यवसाय और (४) तर्क, ये चार भेद हैं ।

ज्ञान या बुद्धि को अच्छी तरह से समझने के लिए उसके विशिष्ट स्वरूप के प्रत्येक अंश को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है । नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में ज्ञान किसी विषय का ही होता है । बिना विषय के ज्ञान नहीं होते । ज्ञान में भासित होनेवाले विषय (१) विशेषण, (२) विशेष्य और (३) उन दोनों

के संसर्ग, ये तीन प्रकार के हैं । 'विषय' का एक चौथा प्रकार भी है जो निर्विकल्पक ज्ञान में भासित होता है । 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान में मुख्यतः घट विशेषण है और भूतल विशेष्य है एवं संसर्ग वह संयोग है, जिसके कारण भूतल में घट का रहना सम्भव होता है । वैसे तो इसी ज्ञान में घट में घटत्व भी भासित होता है । अतः घटत्व भी विशेषण है और घट भी विशेष्य है एवं इन दोनों का समवाय भी संसर्ग है । इसी प्रकार भूतल में भूतलत्व और संयोग में संयोगत्व के भान होने के कारण भूतलत्व संयोगत्वादि और भी विशेषण हैं एवं घट, भूतलादि और भी विशेष्य हैं । किन्तु ये गौण हैं । विशेषण को ही 'प्रकार' कहते हैं । ज्ञान के इन विषयों में ज्ञानीय 'विषयता' नाम का एक धर्म है, जो विषयों के प्रकारविशेष्यादि के विभेदों के कारण (१) प्रकारता, (२) विशेष्यता और (३) संसर्गता भेद से तीन प्रकार का है । निर्विकल्पक ज्ञान के चौथे प्रकार के विषयों में रहनेवाली इन तीनों विषयताओं से भिन्न एक चौथी विषयता भी है । उक्त प्रकारता ही उस स्थिति में प्रायशः विधेयता कहलाती है, जिसमें कि उसका आश्रय पहले ज्ञात न हो । विशेष्यता ही स्थिति विशेष में उद्देश्यता कहलाती है ।

ऊपर जिस संसर्ग की चर्चा की गयी है वह विभिन्न दो व्यक्तियों में क्रमशः विशेष्यविशेषणभाव का सम्पादक वस्तु विशेष रूप है, 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि स्थलों में चूँकि दण्ड का संयोग संसर्ग या सम्बन्ध पुरुष में है, इसीलिए दण्ड विशेषण है और पुरुष विशेष्य है । सम्बन्ध (१) साक्षात् और (२) परम्परा भेद से दो प्रकार का है । साक्षात् सम्बन्ध संयोग समवाय स्वरूपादि भेद से अनेक प्रकार के हैं । जिस सम्बन्ध के निर्माण में दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता हो, उसे परम्परा सम्बन्ध कहते हैं । यह अनन्त प्रकार का हो सकता है । इसकी कोई संख्या निर्णित नहीं हो सकती । यह सम्बन्ध ऐसे दो वस्तुओं का भी हो सकता है, जिन्हें साधारण सम्बन्ध से कभी परस्पर सम्बद्ध होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती । (१) वृत्तितानियामक और (२) वृत्तिता का अनियामक भेद से सम्बन्ध दो प्रकार का है । जिस सम्बन्ध से आधार-आधेयभाव की प्रतीति हो, उसे 'वृत्तिता का नियामक' सम्बन्ध कहते हैं । ये संयोग समवायादि नियमित प्रकार के ही हैं । जिससे दो सम्बन्धियों में केवल सम्बद्ध मात्र होने की प्रतीति हो, उसे वृत्तिता का अनियामक सम्बन्ध कहते हैं ।

जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण की सत्ता वस्तुतः रहे, उसी ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं । यथार्थ चाँदी में जो 'इद रजतम्' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'प्रमा' ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान का विशेष्य या उद्देश्य है चाँदी (रजत), उसमें रजतत्व रूप विशेषण की या प्रकार की वस्तुतः सत्ता है, अतः उक्त ज्ञान 'प्रमा' है । किस वस्तु में किस वस्तु की यथार्थ सत्ता है ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि

जिस विशेष्य में विशेषण के सम्बन्ध की सत्ता रहे, उसी विशेष्य में विशेषण की यथार्थ सत्ता है । प्रकृत उदाहरण के रजत रूप विशेष्य में रजतत्व जाति का समवाय सम्बन्ध है, अतः रजतत्व की सत्ता रजत में है । शुक्तिका में जो 'इदं रजतम्' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'प्रमा' इसलिए नहीं है कि इस ज्ञान के विशेष्य शुक्तिका में रजतत्व का समवाय नही है । अतः शुक्तिका में रजतत्व का ज्ञान प्रमा न होकर 'अप्रमा' है । फलतः प्रमा के विपरीत अर्थात् जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण की सत्ता न रहे, उस ज्ञान को ही 'अप्रमा' या अविद्या या भ्रम कहते हैं ।

अयथार्थ ज्ञान के भेदादि इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप से वर्णित हैं । कथित प्रमाज्ञान या यथार्थज्ञान के दो भेद हैं-(१) प्रत्यक्ष और (२) अनुमिति । शब्दादिजन्य जितने भी प्रमाज्ञान हैं वे सभी प्रायः अनुमिति में ही अन्तर्भूत हैं । फलतः प्रमाकरण भी, अर्थात् प्रमाण भी (१) प्रत्यक्ष और (३) अनुमान भेद से दो ही प्रकार के हैं । शब्दादि जितने भी प्रकार के प्रमाज्ञान हैं, वे सभी इन्हीं दोनों में से किसी करण से उत्पन्न होते हैं ।

प्रत्यक्ष शब्द 'प्रति' शब्द और 'अक्ष' शब्द से 'प्रतिगतम् अक्षि' या अक्ष्यक्षि प्रति वर्त्ततें इन दोनों व्युत्पत्तियों के द्वारा निष्पन्न होता है । प्रकृत में अर्थ के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष शब्द से अभीष्ट है । अर्थात् विषय के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । इस प्रमाण के द्वारा उत्पन्न यथार्थ ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' रूप प्रमिति है । फलतः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो, वह है प्रत्यक्ष-प्रमिति और इस प्रमिति का कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में और विशद विवेचन इस ग्रन्थ में देखना चाहिए ।

'अनु'पूर्वक 'मा' धातु से अनुमान शब्द बना है । 'अनु' शब्द का अर्थ है पश्चात् । 'पश्चात्' शब्द अपने अर्थबोध के लिए किसी और अवधि की आकांक्षा रखता है । प्रकृत में वह अवधि है 'लिङ्गपरामर्श', अर्थात् लिङ्गपरामर्श के पश्चात् ही जो ज्ञान उतपन्न हो उसे 'अनुमिति' कहते हैं । इसी दृष्टि से 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' इस प्रकार के अनुमिति के लक्षण मिलते हैं । व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान इन दोनों से परामर्श उत्पन्न होता है । हेतु के आश्रय में साध्य नियमित रूप से रहना ही व्याप्ति है । पक्ष में हेतु का रहना ही पक्षधर्मता है । 'साध्यव्याप्यो हेतुः' यही व्याप्तिज्ञान का आकार है और 'हेतुमान् पक्षः' यह पक्षधर्मताज्ञान का आकार है । अतः मिलकर इन दोनों से उत्पन्न परामर्श का स्वभावतः 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' यह आकार होता है । इस परामर्श को ही 'तृतीयलिङ्गपरमर्श' भी कहते हैं । इस दृष्टि से पक्षधर्मता-ज्ञान हेतु का प्रथम ज्ञान है और व्याप्तिविशिष्टहेतु का ज्ञान हेतु का दूसरा ज्ञान है, व्याप्ति और पक्षधर्मता

इन दोनों रूपों से हेतु का परामर्श रूप तीसरा ज्ञान होता है, अतः उसे "तृतीय लिङ्गपरामर्श" कहते हैं । इसके बाद ही अनुमिति की उत्पत्ति होती है ।

पक्षता

इस प्रसङ्ग में एक विचार उठता है कि प्रायः सभी ज्ञान दो क्षणों तक रहते हैं, तीसरे क्षण में उनका विनाश होता है । कथित परामर्श भी ज्ञान है, अतः वह भी दो क्षणों तक रहेगा । जिस क्षण में वह उत्पन्न होगा, उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में जिस प्रकार की अनुमिति को उत्पन्न करेगा, इस अनुमिति के अगले क्षण में भी उसी प्रकार की अनुमिति को वह क्यों नहीं उत्पन्न करता ? क्योंकि कथित दूसरी अनुमिति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अर्थात् पहली अनुमिति के अत्पत्तिक्षण में परामर्श की सत्ता है । एवं परामर्श अनुमिति का अन्यनिरपेक्ष कारण है । परामर्श संवलन के बाद अनुमिति के लिए और किसी की अपेक्षा नहीं रह जाती । सुतरां परामर्श अगर अपने उत्पत्तिक्षण के अव्यवहित उत्तरक्षण में जिस विषय की जिस आकार-प्रकार की अनुमिति को उत्पन्न करेगा, उसी आकार-प्रकार की उसी विषय की दूसरी अनुमिति को भी अपने स्थितिक्षण के अव्यवहित उत्तरक्षण में फलतः पहली अनुमिति के अव्यवहित उत्तरक्षण में उत्पन्न करने में कोई बाधा तो नहीं है ? किन्तु ऐसी बात होती नहीं है । अनुमान को जितने माननेवाले दार्शनिक हैं, उनमें से कोई भी एक आकार-प्रकार की अनुमिति के रहते हुए उसी आकार-प्रकार की दूसरी अनुमिति की सत्ता को स्वीकार नहीं करते; किन्तु किसी की स्वीकृति और अस्वीकृति मात्र पर वस्तु के सामर्थ्य को अन्यथा नहीं किया जा सकता । फलतः एक अनुमिति रूप सिद्धि के रहते हुए परामर्श के रहने पर भी दूसरी अनुमिति न हो सके, इसके लिए परामर्श के समान ही अनुमिति का एक और साक्षात् कारण माना गया है, जिसका नाम है 'पक्षता' । इसका ऐसा स्वरूप या लक्षण होना चाहिए, जिससे एक अनुमिति या अन्य किसी प्रकार की सिद्धि के रहते हुए कथित दूसरी अनुमिति की आपत्ति न हो सके। इसी प्रयोजन को सामने रखकर पक्षता के अनेक लक्षण किये गये हैं। जैसे कि (१) साध्य का संशय ही पक्षता है । (२) अनुमित्सा ही पक्षता है । (३) अथवा अनुमित्सा की योग्यता पक्षता है । (४) सिद्धि का अभाव ही पक्षता है । पक्षता के इन सभी लक्षण करनेवालों की यही दृष्टि रही है कि अनुमिति या अन्य किसी भी प्रकार की सिद्धि के रहते हुए उक्त प्रकार के लक्षणों से आक्रान्त किसी भी पक्षतारूप कारण का रहना सम्भव न हो; क्योंकि सभी के साथ सिद्धि का विरोध है । अतः सिद्धि के रहते हुए पक्षतारूप कारण का संवलन सम्भव ही नहीं है । अतः एक अनुमिति के बाद दूसरी अनुमिति की आपत्ति नहीं दी जा सकती ।

पक्षता के ये जितने भी लक्षण कहे गये हैं, उन सभी लक्षणों का तत्वचिन्तामणिकार ने खण्डन किया है। खण्डन की युक्तियों को विस्तृत रूप से चिन्तामणि के पक्षता प्रकरण में देखना चाहिए। संक्षेप में तत्वचिन्तामणिकार कहना है कि एक अनुमिति के रहते हुए परामर्शादि सभी कारणों के रहने पर भी जब दूसरी अनुमिति नहीं होती है, तो पहली अनुमिति या सिद्धि को दूसरी अनुमिति का प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा; क्योंकि और सभी कारणों के रहने पर भी जिसके रहते कार्य उत्पन्न न हो सके, उसे ही कार्य का प्रतिबन्धक कहा जाता है। प्रतिबन्धक का अभाव भी कार्य का एक कारण ही है। अतः प्रकृत में सिद्धि का भी अभाव भी अनुमिति का एक कारण है। जिसके चलते एक अनुमिति के बाद तुरन्त दूसरी अनुमिति नहीं हो पाती। अतः सिद्धि का अभाव ही पक्षता है; किन्तु कभी-कभी एक सिद्धि के रहते हुए भी विषय को विशेष प्रकार की जानने की इच्छा से तुरन्त दूसरी अनुमति होती है। जैसे कि आत्मा को विशेष प्रकार से सजाने की इच्छा से आत्मा के श्रवण रूप सिद्धि के बाद भी मनन (अनुमिति) का विधान 'आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा किया गया है। अगर जिस किसी भी प्रकार की भी सिद्धि के रहने पर दूसरी अनुमिति के रूप सिद्धि बिलकुल ही नहो, तो फिर उक्त विधान असङ्गत हो जाएगा। अतः इतना इसमें जोड़ना आवश्यक है कि विशेष प्रकीर की अनुमिति या सिद्धि की इच्छा रहने पर एक लिद्धि के रहने पर भी दूसरी अनुमिति होती है। अतः सामान्य रूप से सभी सिद्धियाँ अनुमिति की विरोधिनी नहीं हैं; किन्तु अनुमिति की इच्छा से असंश्लिष्ट अथवा यों कहिये कि सिषाधयिषा के विरह से युक्त सिद्धि ही अनुमिति की विरोधिनी है। फलतः सिषाधयिषा के विरह से युक्त जो सिद्धि, उसका अभाव ही अनुमिति का पक्षतारूप कारण हैं। इसको समझने के लिए अनुमिति की इन तीन स्थितियों को समझना आवश्यक है–(१) जहाँ परामर्श के बाद केवल अनुमितिरूप सिद्धि रहेगी, वहाँ उस सिद्धि के अव्यावहित उत्तर क्षण में अनुमिति नहीं होगी; क्योंकि यहां कथित पक्षतारूप कारण नहीं है। यहाँ सिद्धि अनुमित्सा या सिषाधयिषा से युक्त नहीं है, सिषाधयिषा के विरह से युक्त है। अतः यह सिद्धि अनुमिति का प्रतिबन्धक है। सुतरां प्रतिबन्धकाभावरूप कारण या कथित पक्षतारूप कारण के न रहने से अनुमिति का प्रतिरोध होता है। (२) जहाँ परामर्शादि कारणों के साथ अगर सिषाधयिषा भी है तो फिर उक्त परामर्शजनित अनुमितिरूप सिद्धि के बाद पुनः अनुमिति होगी; क्योंकि यह अनुमितिरूप सिद्धि सिषाधयिषा से युक्त नहीं है, अतः सिषाधयिषा के विरह से

युक्त नहीं है । अतः सिषाधयिषा के विरह से युक्त न होने के कारण यह सिद्धि अनुमिति की प्रतिबन्धक कोई दूसरी सिद्धि है, जिसमें सिषाधयिषा का सम्बन्ध नहीं है । उसका यहाँ अभाव है, अतः पक्षतारूप कारण के रहने से अनुमति होगी । (३) जहाँ सिद्धि नहीं वहाँ सिषाधयिषा रहे या न रहे–दोनों ही स्थितियों में अनुमिति होगी ही; क्योंकि यहाँ कोई भी सिद्धि नहीं है, अतः सिषाधयिषा के विरह से युक्त सिद्धि भी नहीं है । सुतरां सिषाधयिषा के विरह से युक्त सिद्धि का अभाव भी अवश्य है । अतः अनुमिति होगी । विस्तृत ज्ञान के लिए अध्यापकों का साहाय्य अपेक्षित है ।

हेत्वाभास

किसी भी विषय के तत्व को अनुमान के द्वारा समझने के लिए जिस प्रकार हेतुवों को समझना आवश्यक है, उसी प्रकार जो हेतु नही हैं, किन्तु हेतु की तरह दीखते हैं, उन हेत्वाभासों को भी समझना आवश्यक है । अगर ऐसा न मानें तो हेतुवों और हेत्वाभासों के सम्मिश्रण से कदाचित् अतत्व भी तत्व की तरह प्रतिभात अन्त में अभीष्ट प्रवृत्ति को विफल कर देंगे और अनभीष्ट स्थिति में भी डाल देंगे । अतः हेतुवों की तरह विशेष रूप से आचार्यों ने हेत्वाभासों का भी निरूपण किया है ।

'हेत्वाभास' शब्द दो व्युत्पत्तियों से निष्पन्न होता है–(१) हेतोराभासा हेत्वाभासाः और (२) हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः । इनमें पहली व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास शब्द का अर्थ होता है 'हेतु का दोष' ।

महर्षि गौतम ने हेत्वाभासों को (१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम, (४) साध्यसम और (५) कालात्ययापदिष्ट भेद से पाँच प्रकारों का माना है और सव्यभिचार हेत्वाभास को समझाने के लिए 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' इस सूत्र की रचना की है । जो हेतु साध्य या साध्याभाव इन दोनों में से किसी एक के साथ नियमित रूप से सम्बद्ध न हो, वही हेतु 'अनैकान्तिक' है । अर्थात् जो हेतु साध्य और साध्याभाव दोनों के साथ रहे, केवल साध्य के ही साथ न रहे, वही हेतु 'अनैकान्तिक' है । सव्यभिचारशब्द के अर्थ की आलोचना से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है । 'व्यभिचारेण सहितः सव्यभिचारः' इस व्युत्पत्ति से सव्यभिचार शब्द बना है । 'व्यभिचार' शब्द 'वि' 'अभि' और 'चार' इन तीन शब्दों से बना है । इनमें 'वि' शब्द विरुद्धार्थक है और 'अभि' शब्द उभयार्थक है । 'चार' शब्द सम्बन्ध का बोधक है । इसके अनुसार परस्पर विरोधी दो वस्तुओं के साथ अर्थात् साध्य और साध्याभाव के साथ किसी आश्रय

में हेतु का रहना ही व्यभिचार है । यह व्यभिचार अर्थात् साध्याधिकरण और साध्याभावाधिकरण दोनों में समान रूप से रहना जिस हेतु का हो, वही 'सव्यभिचार' है ।

साध्य के साथ नियत सम्बन्ध ही हेतु की व्या प्ति है । इस व्याप्ति के बल से ही हेतु साध्य का ज्ञापक होता है । जो हेतु उक्त प्रकार से सव्यभिचार या अनैकान्तिक होगा वह कभी कथित रीति से व्याप्तियुक्त नहीं हो सकता । अतः व्यभिचारयुक्त हेतु 'सव्यभिचार' नाम का हेत्वाभास है, हेतु नहीं ।

किन्तु बाद में सूक्ष्म निरूपण से यह निष्पन्न हुआ कि व्याप्ति का उक्त स्वरूप ठीक नहीं है; किन्तु हेतु के नियत सम्बन्ध से युक्त साध्य के साथ सपक्षों में हेतु का रहना ही हेतु की व्याप्ति है । इस प्रकार व्याप्तिशरीर के दो अंश माने गये, एक तो साध्य में हेतु का नियत सम्बन्ध अर्थात् व्यापकत्व, दूसरा हेतु के व्यापकीभूत साध्य का सपक्षों में हेतु के साथ रहना अर्थात् सामानाधिकरण्य । इस स्थिति में साध्य में हेतु के व्यापकत्ववाला जो अंश है, उसका विरोध परोक्ष रूप से ही सही, कथित व्यभिचार करेगा; क्योंकि जो हेतु साध्य और साध्याभाव दोनों के साथ रहेगा, उस हेतु की व्यपकता उस साध्य में नहीं जा सकती । व्यापक होने के लिए यह आवश्यक है कि व्याप्य के अधिकरण में व्यापक का अभाव न रहे । कथित व्यभिचारी हेतु के आश्रय में तो साध्य का अभाव रहता है । अतः साध्य कभी भी व्यभिचारी हेतु का व्यापक नहीं हो सकता । इस प्रकार व्याप्ति के उक्त स्वरूप मानने के पक्ष में भी कथित व्यभिचार दोष से युक्त हेतु अवश्य ही सव्यभिचार हेत्वाभास होगा ।

किन्तु उक्त व्याप्तिशरीर का एक अंश और है 'व्यापकीभूत साध्य का हेतु के साथ सपक्षों में रहना' । इस अंश को विघटित करनेवाला दोष भी अगर हेतु में रहेगा तो भी वह 'व्यभिचार' दोष से ही युक्त होने के कारण 'सव्यभिचार' हेत्वाभास होगा; क्योंकि सामान्यतः व्याप्ति का विघटन ही व्यभिचार होता है ।

व्याप्ति के उक्त द्वितीय अंश का विघटन दो प्रकारों से सम्भव है । जिस स्थल में कोई सपक्ष या विपक्ष नहीं है, वहाँ साध्य का हेतु के साथ सपक्ष में रहना सम्भव नहीं होगा; क्योंकि वहाँ कोई सपक्ष ही नहीं है । एवं जहाँ संसार के सभी पदार्थ-पक्ष होंगे, वहाँ भी सपक्ष का मिलना सम्भव नहीं होगा । अतः ऐसे स्थलों में भी हेतु के साथ साध्य का सामानाधिकरण्य सपक्ष में सम्भव नहीं होगा । पहले का उदाहरण है 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' । यहाँ शब्दत्व हेतु केवल शब्द में ही है । शब्द ही पक्ष है । पक्ष में साध्य अनिर्णीत रहता है । सपक्ष में साध्य और हेतु दोनों को पहले से निश्चित रहना चाहिए । नित्यत्व निर्णीत है आकाशादि में, वहाँ शब्दत्व हेतु नहीं है । शब्दत्व निर्णीत है शब्द में, वहाँ नित्यत्व रूप साध्य ही

निर्णीत नहीं है । अतः ऐसे स्थलों में सपक्ष न मिलने के कारण सपक्ष में साध्य और हेतु का सामानाधिकरण्य सम्भव न होने से व्याप्ति सम्भव नहीं होगी । अतः शब्दत्व हेतु में भी सव्यभिचार हेत्वाभास होगा; किन्तु नित्यत्व रूप साध्य का अभाव निर्णीत है घटादि अनित्य वस्तुओं में, यहाँ शब्दत्व भी नहीं है । अतःपूर्व कथित व्यभिचार दोष यहाँ सम्भव नहीं है । सुतरां यहाँ नित्यत्व हेतु का केवल पक्ष में रहना, किसी सपक्ष या विपक्ष में न रहना ही व्याप्ति का विघटक है । इसको 'असाधारण' नाम का व्यभिचार कहते हैं; क्योंकि यह हेत्वाभास साध्य के अधिकरण और साध्याभाव के अधिकरण दोनों में साधारण रूप से (सामान्य रूप से) नहीं है, जैसे कि साधारण हेत्वाभास रहता है । यह शब्दत्व हेतु केवल शब्द-रूप पक्ष में ही है, अतः उक्त शब्दत्व हेतु 'असाधारण' नाम का सव्यभिचार है ।

इसी प्रकार जिस स्थल में संसार के सभी वस्तु पक्ष होंगे–जैसे 'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्', ऐसे स्थलों के हेतु में भी उक्त सामानाधिकरण्य संभव नहीं होगा; क्योंकि प्रकृत स्थल में संसार के सभी वस्तु पक्ष के अन्तर्गत आ गये हैं । सपक्ष के लिए कोई नहीं बचा है । सपक्ष को पक्ष से भिन्न होना चाहिए । अतः ऐसे स्थलों में भी हेतु के व्यापक साध्य का किसी सपक्ष में हेतु के साथ रहना सम्भव नहीं होगा । अतः इस प्रकार के हेतुवों में भी व्याप्ति नहीं रह सकती । फलतः व्यभिचार रहेगा; किन्तु कथित साधारण या असाधारण व्यभिचार यहाँ सम्भव नहीं है । अतः 'अनुपसंहारी' नाम का अतिरिक्त ही व्यभिचारदोष माना गया है। जिससे उक्त हेतु 'अनुपसंहारी' नाम का तीसरा सव्यभिचार होगा ।

अतः तत्त्वचिन्तामणिकार ने अपने सव्यभिचार प्रकरण में लक्षण करने से भी पहले 'सव्यभिचारस्त्रिविधः संधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्' यह विभाग वाक्य ही लिखा है । यद्यपि सूत्र-भाष्यादि में इस त्रैविध्य की चर्चा नहीं है ।

फलितार्थ यह है कि सव्यभिचार (१) साधारण, (२) असाधारण और (३) अनुपसंहारी भेद से तीन प्रकार का है । इनमें जो हेतु साध्य और साध्याभाव दोनों के साथ रहे, उसे साधारण कहते हैं । जैसे कि 'धूमवान् वह्नेः' का वह्नि हेतु । वह्नि हेतु धूम के साथ भी महानसादि में है और धूमाभाव के साथ भी तप्त अयःपिण्डादि में है । जो हेतु केवल पक्ष में ही रहे, सपक्ष या विपक्ष में जो न रहे, उस हेतु को 'असाधारण' सव्यभिचार कहते हैं । जैसे कि 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्' इस अनुमान का शब्दत्व हेतु । यह शब्दत्व हेतु केवल शब्दरूप पक्ष में ही है । न आकाशादि सपक्षों में है और न घटादि विपक्षों में । अतः शब्दत्व हेतु 'असाधारण' सव्यभिचार है । जिस धर्म का सभी वस्तुओं में केवल अन्वय ही रहे, व्यतिरेक या अभाव किसी भी वस्तु में न रहे, उस धर्म को केवलान्वयि धर्म कहते हैं, केवलान्वयि धर्म जिस पक्ष का विशेषण (अवच्छेदक) हो उस पक्ष के

अनुमान का हेतु भी 'व्यभिचारी' है; क्योंकि इस अनुमान में भी कोई सपक्ष नहीं हों सकता, चूँकि सभी पदार्थ पक्ष के अन्तर्गत आ जाते हैं । अतः उक्त अनुमान के हेतु का व्यापकत्व साध्य में रहने पर भी व्यापकीभूत वह साध्य किसी स पक्ष में हेतु के साथ नहीं रह सकता; क्योंकि वहाँ कोई सपक्ष ही नहीं है ।

जो हेतु साध्य के बदले सध्याभाव के साथ ही नियमित रूप से रहे, उस हेतु को 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहते हैं । अर्थात् हेतु का साध्याभाव के साथ नियमित रूप से रहना 'विरोध' नाम का हेतुदोष है, जिस दोष से युक्त हेतु 'विरुद्ध' नाम का हेत्वाभास है । 'वि' अर्थात् विशेष रूप से साध्य की अनुमिति को जो 'रुद्ध' करे, अर्थात् साध्य के साथ नियत रूप से न रहकर साध्याभाव के साथ ही नियमित होकर व्यतिरेकव्याप्ति को विघटित करते हुए जो अनुमिति को विघटित करे, वही विरुद्ध नाम का हेत्वाभास है । नियमतः साध्य के साथ ही रहनेवाले हेत्वभाव का प्रतियोगित्व ही 'विरोध' दोष है, यह विरोध दोष से युक्त हेतु ही 'विरुद्ध' नाम का हेत्वाभास है । जैसे कि 'ह्रदो वह्निमान् जलात्' इस अनुमिति का जल हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास है; क्योंकि जलरूप हेतु वह्निरूप साध्य के साथ न रहकर वह्नि के अभाव के साथ ही नियमित रूप से रहता है । अतः जलरूप हेतु का अभाव वह्नि का व्यापकीभूतत अभाव है, इस अभाव का प्रतियोगित्व कथित जल-हेतु में है ।

जिस प्रकार हेतु के साथ साध्य का नियमित रूप से रहना व्याप्ति का प्रयोजक है, उसी प्रकार साध्याभाव के साथ हेत्वभाव का नियमित रूप से रहना भी व्याप्ति का एक प्रयोजक है, जिसे व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं । साध्याभाव के साथ नियमित रूप से रहनेवाले (साध्याभाव-व्यापकीभूत) हेत्वभाव का प्रतियोगित्व ही व्यतिरेकव्याप्ति है । इस व्याप्ति के शरीर में साध्याभावव्यापकीभूताभाववाला जो अंश है, उसी को विरोध दोष अपने साध्याव्यापकीभूताभाववाले अंश के द्वारा विघटित कर व्यतिरेक व्याप्ति को विघटित कर देता है । इस विरोध दोष के प्रसङ्ग में एवं विरुद्ध हेत्वाभास के प्रसङ्ग में बाद में भी अधिक परिवर्तन नहीं हुआ ।

जिस हेतु के प्रयोग करने पर 'प्रकरण' की अर्थात् परस्पर विरुद्ध दो पक्षों की 'चिन्ता' अर्थात् संशय ही उपस्थित हो, उन दोनों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष का निर्णय संभव न हो, वह हेतु अगर उन दोनों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष के निर्णय के लिए प्रयुक्त हो, तो वह हेतु 'प्रकरणसम' नाम का हेत्वाभास होगा ।

शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिए नैयायिक अगर 'नित्यधर्मानुपलब्धि' को हेतु रूप से उपस्थित करें तो उनका यह हेतु 'प्रकरणसम' नाम का हेत्वाभास होगा; क्योंकि प्रतिपक्षी मीमांसक भी तुल्य युक्ति से शब्द में नित्यत्व साधन के 'अनित्यधर्मानुपलब्धि' हेतु को उपस्थित कर सकते हैं । ऐसी स्थिति में शब्द में

अनित्यत्व या नित्यत्व का निर्णय नहीं होगा; किन्तु शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व का संशय ही होगा । अतः उक्त 'नित्यधर्मानुपलब्धि' या 'अनित्यधर्मानपलब्धि' रूप हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास होगा । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उक्त विवरण के अनुसार साध्यधर्म की अनुपलब्धि को ही अगर हेतु रूप से उपस्थित किया जाएगा तो वह 'प्रकरणसम' हेत्वाभास होगा, और कोई हेतु प्रकरणसम नहीं होगा ।

किन्तु श्री वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में प्रकरणसम के उक्त लक्षण को असम्पूर्ण ठहराया है और प्रकरणसम को सत्प्रतिपक्ष का नामान्तर कहा है । 'सन् प्रतिपक्षो यस्य' इस व्यत्पत्ति के अनुसार जिस हेतु का प्रतिपक्ष अर्थात् विरोधी दूसरा हेतु रहे वही हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से ग्रस्त है । वादी अगर किसी पक्ष में किसी साध्य की सिद्धि के लिए एक हेतु का प्रयोग करता है, उसके बाद ही कोई प्रतिवादी अगर उसी पक्ष में उसी साध्य के अभाव की सिद्धि के लिए दूसरे हेतु का प्रयोग करता है, तो फिर ये दोनों हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से ग्रस्त समझे जायेंगे । अगर दोनों हेतु अर्थात् हेतु और प्रतिहेतु दोनों समान बल के हों । अर्थात् दोनों में व्याप्ति और पक्षधर्मता समान रूप से रहे, तो वे दोनों सत्प्रतिपक्ष दोष से ग्रसित होंगे और दोनों ही हेतु न होकर 'सत्प्रतिपक्षित' नाम के हेत्वाभास होंगे । इसी बात को दृष्टि में रखकर 'समानबलौ सत्प्रतिपक्षौ' यह लक्षणवाक्य प्रचलित हैं । इन दोनों हेतुवों में से अगर एक हेतु व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त होने के कारण प्रबल रहेगा और दूसरा उन दोनों से रहित होने के कारण दुर्बल रहेगा तो फिर वहाँ सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं होगा । दुर्बल हेतु में केवल व्यभिचार या स्वरूपासिद्धि दोष होगा और सबल हेतु से अभीष्ट अनुमिति ही जाएगी ।

प्राचीन नैयायिकों ने सत्प्रतिपक्ष को अनित्य दोष माना है । उन लोगों का अभिप्राय है कि जब तक कि हेतुलिङ्गक परामर्श और प्रतिहेतुलिङ्गक परामर्श इन दोनों में से किसी एक परामर्श के किसी भी अंश में भ्रमत्व का निश्चय नहीं हो जाता, तब तक ही उक्त दोनों हेतु सत्प्रतिपक्षित रहेंगे, उक्त भ्रमत्व निश्चय के बाद नहीं । अतः कुछ नियमित समय में ही रहने के कारण सत्प्रतिपक्ष अनित्य दोष है । इस मत में सद्धेतु स्थल में भी अगर विरोधी प्रतिहेतु का भ्रमात्मक परामर्श भी है, तो सद्धेतु भी तब तक सत्प्रतिपक्षित रहेगा, जब तक कि उक्त भ्रमात्मक विरोधी परामर्श का भ्रमत्व ज्ञात नहीं हो जाता ।

नव्य नैयायिकों के मत से सत्प्रतिपक्ष नित्य दोष हैं; क्योंकि किसी हेतु को सत्प्रतिपक्षित होने के लिए इतना ही आवश्यक है कि प्रकृत हेतु से जिस पक्ष में साध्य का साधन इष्ट है, उस पक्ष में उक्त साध्य के अभाव की व्याप्ति से युक्त दूसरा (प्रतिहेतु) अगर विद्यमान है, तो वह पहला हेतु सत्प्रतिपक्षित होगा । जल में वह्नि के साधक सभी हेतु सत्प्रतिपक्षित होंगे; क्योंकि वह्नि के अभाव

की व्याप्ति जलत्व में है एवं जल में वह्न्यभावव्याप्य जलत्व सर्वदा ही विद्यमान है । अतः इस प्रकार का हेतु सदा ही सत्प्रतिपक्षित रहेगा । अतः सत्प्रतिपक्ष नित्य दोष है ।

महर्षि गौतम ने चौथे हेत्वाभास का नाम 'साध्यसम' कहा है और उसके स्वरूप को समझाने के लिए 'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः' यह सूत्र लिखा है । पहले से जो सिद्ध नहीं रहता है वही 'साध्य' कहलाता है । हेतु के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले से 'सिद्ध' रहे । अर्थात् उसमें असाध्य की व्याप्ति सिद्ध रहे । एवं (साध्यव्याप्ति से युक्त) हेतु स्वयं पक्ष में सिद्ध रहे; किन्तु जिस अनुमान का हेतु पहले से सिद्ध नहीं है, वह हेतु साध्य के समान ही है, अतः उसे 'साध्यसम' कहा गया है । अगर कोई 'छाया द्रव्य है क्योंकि वह गतिशील है' इस प्रकार से अनुमान का प्रयोग करे तो यहाँ 'गतिशीलत्व' हेतु 'साध्यसम' हेत्वाभास होगा; क्योंकि 'छाया में गति है' यही पहले से सिद्ध नहीं है । अतः छाया में द्रव्यत्व की सिद्धि की तरह छाया में गति की भी सिद्धि अपेक्षित है ।

'साध्यसम' हेत्वाभास को ही नव्य नैयायिकों ने 'असिद्ध' शब्द से व्यक्त किया है । एवं (१) आश्रयासिद्ध, (२) स्वरूपासिद्ध और (३) व्याप्यत्वासिद्ध इसके ये तीन भेद किये हैं । जिसमें साध्य की सिद्धि अभिप्रेत हो उसे पक्ष कहते हैं । पक्ष को ही 'आश्रय' भी कहते हैं । आश्रय अगर सिद्ध नहीं रहेगा तो अनुमान कहाँ होगा ? अगर कोई साधारण फूलों के दृष्टान्त से आकाशकुसुम में गन्ध का अनुमान करे, तो वहाँ के सभी हेतु आश्रयासिद्ध होंगे । एवं स्वर्णमय पर्वत में अगर कोई वह्नि का अनुमान करे तो वहाँ के भी सभी हेतु आश्रयासिद्ध होंगे । यद्यपि पर्वत असिद्ध नहीं है, किन्तु पर्वत में स्वर्णमयत्व असिद्ध है । अतः स्वर्णमय पर्वतरूप विशिष्टपक्ष भी असिद्ध है ।

हेतु यदि कथित पक्ष में विद्यमान न रहे तो वह हेतु 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास होगा । जैसे कि जल में कोई धूम हेतु से भी वह्नि का अनुमान करना चाहेगा तो वहाँ का धूमहेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होगा; क्योंकि जल रूप पक्ष में धूम हेतु नहीं है । भाष्यकार ने जो असिद्ध का उदाहरण दिया है, वह स्वरूपासिद्ध का ही उदाहरण है; क्योंकि छाया या अन्धकार में गति रूप हेतु नहीं है । इससे ऐसा भान होता है कि वात्स्यायनादि प्राचीन नैयायिकों ने केवल स्वरूपासिद्ध को ही असिद्ध मानते थे । असिद्ध के और भेद बाद में किये गये ।

हेतु में उसके विशेषणीभूत धर्म (हेतुतावच्छेदक) के अभाव और साध्य में साध्यतावच्छेदक के अभाव को व्याप्यत्वासिद्ध दोष कहते हैं । इस दोष से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है । 'पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमात्' इस अनुमान के हेतु धूम में काञ्चनमयत्वरूप हेतुतावच्छेदक नहीं है । अतः वह (हेत्वप्रसिद्धि

रूप) व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है । एवं 'पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान् धूमात्' इस अनुमान के साध्य वह्नि में काञ्चनमयत्वरूप साध्यतावच्छेदक नहीं है, अतः यह हेतु (साध्याप्रसिद्ध रूप) व्याप्यत्वासिद्ध है । इसी प्रकार व्याप्ति में अनुपयोगी (व्यर्थ) विशेषणादि से युक्त हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास ही है, जैसे कि 'पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्' इत्यादि स्थलों का नीलधूम रूप हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है; क्योंकि धूम का नील विशेषण व्यर्थ है । यह ध्यान रहना चाहिए कि दोष जहाँ कहीं भी रहे, किन्तु दुष्टता हेतु में ही आवेगी ।

पाँचवें हेत्वाभास को महर्षि ने 'कालातीत' की संज्ञा दी है और इसके परिचय के लिए "कालात्ययापदिष्टः कालातीतः" इस सूत्र का निर्माण किया है ।

पक्ष में पूर्ण रूप से निश्चित साध्य के लिए अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है एवं पक्ष में जिस साध्य का अभाव ही पूर्णरूप से निश्चित है, उस साध्य के लिए भी न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है; किन्तु जो साध्य पक्ष में सन्दिग्ध रहता है, उस साध्य को उस पक्ष में निश्चित रूप से समझाने के लिए ही न्याय का प्रयोग होता है । हेतुवाक्य का प्रयोग भी न्याय के ही अन्तर्गत है ।

जिस समय जिस पक्ष में जिस साध्य का सन्देह वर्त्तमान है, वही समय हेतु-प्रयोग के लिए उपयुक्त है । यदि उस समय उस पक्ष में उस साध्य का अभाव दूसरे किसी बलवत् प्रमाण से निश्चित है, तो उस समय उस पक्ष में साध्य का सन्देह नहीं रह सकता । साध्यसन्देह का समय पक्ष में साध्याभाव निश्चय के पूर्व ही था, जो 'अतीत' हो चुका है । अतः जिस पक्ष में जिस साध्य का अभाव किसी बलवत् प्रमाण से निश्चित है, उस पक्ष में उस साध्य की अनुमिति के लिए अगर कोई हेतु का प्रयोग करे तो वह हेतु व्याप्ति-पक्षधर्मता प्रभृति से युक्त होने पर भी 'कालातीत' नाम का हेत्वाभास होगा । उससे प्रमा अनुमिति नहीं हो सकती । इसका 'अतीतकाल' नाम भी प्राचीन ग्रन्थों में है ।

नवीननैयायिक इस हेत्वाभास को ही 'बाधित' और उसके विशेषणीभूत दोष को 'बाध' कहते हैं । पक्ष में बलवत् प्रमाण के द्वारा निश्चित साध्य के अभाव का निश्चित रहना ही बाध है । फलतः पक्ष में साध्याभाव का रहना ही बाध दोष है । जिस किसी भी सम्बन्ध के द्वारा इस बाध दोष से युक्त हेतु ही 'बाधित' नाम का हेत्वाभास है ।

दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास शब्द का अर्थ होता है 'दुष्ट हेतु' । दोषों से युक्त हेतु ही दुष्ट हेतु है । फलतः कथित दोष ही दुष्ट हेतुवों को सद्धेतुवों से पृथक् करते हैं । अतः दुष्ट हेतुरूप हेत्वाभासों को समझने के लिए हेतु के दोषों को समझना पहले आवश्यक है । दोषों को समझ लेने के बाद 'इस दोष से युक्त ही दुष्ट हेतु है' इस प्रकार दुष्ट हेतुवों को समझना सुलभ हो जाता

है । इसी दृष्टि से 'हेतोराभासा हेत्वाभासाः' इस व्युत्पत्ति से लभ्य हेतु के दोषों का ही लक्षण आकर ग्रन्थों में किया गया है ।

हेतुवों के ये दोष दो प्रकार से अनुमिति का प्रतिरोध करते हैं । एक सीधे ही अनुमिति को रोकते हैं । जैसे कि सत्प्रतिपक्ष और बाध । कुछ हेत्वाभास अनुमिति के कारण व्याप्ति या पक्षधर्मता का विघटन करते हुए अनुमिति का प्रतिरोध करते हैं, जैसे कि व्यभिचार एवं स्वरूपासिद्धि । कुछ हेत्वाभास ऐसे भी हैं जो उक्त दोनों ही प्रकार से अनुमिति का प्रतिरोध करते हैं, जैसे कि आश्रया- सिद्धि एवं साध्याप्रसिद्धि ।

हेत्वाभास की संख्याओं में और नामों में भी मतभेद देखा जाता है । जैसे कि वैशेषिकदर्शन के सूत्र में इसके तीन ही भेद कहे गये हैं; किन्तु भाष्यकार ने उनमें अनध्यवसित नाम को जोड़कर निम्नलिखित चार भेद किया है–(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) सन्दिग्ध और (४) अनध्यवसित । न्यायमत में (१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) सत्प्रतिपक्ष, (४) असिद्ध और (५) बाध ये पाँच हेत्वाभास के मुख्य भेद माने गये हैं । मीमांसकों ने महर्षि कणाद की रीति से इसके तीन ही भेद किये हैं ।

इस प्रकार ज्ञान के परिशोधन के अभिप्राय से आचार्यों ने हेतु की तरह हेत्वाभासों को भी समझाने में बहुत श्रम किया है । जिसका लाभ हम लोगों को उठाना चाहिए । एक पक्ष के स्थापन के लिए विरुद्ध पक्ष के हेतुवों में दोषों का प्रदर्शन आवश्यक है । जो आज भी न्यायालयों की व्यवस्थाओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अवगत हो सकता है । प्राचीन समय की धर्मशास्त्रानुयायी व्यवस्थाओं को देखने से तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है । जिसके लिए भारतीय व्यवहार के द्वैतपरिशिष्टादि निबन्ध-ग्रन्थों के व्यवहारप्रकरणों को देखना उपयोगी होगा ।

सुख

जिस इच्छा के लिए और किसी इच्छा की आवश्यकता न हो, उसे 'सुख' कहते हैं । सुख की इच्छा से ही चन्दनवनितादि सभी विषयों की इच्छा होती है । अर्थात् चन्दनादि विषय चूँकि सुख के कारण हैं, इसीलिए उनकी इच्छा होती है । सुख की इच्छा के लिए किसी और इच्छा की आवश्यकता नहीं होती । अतः किसी और इच्छा के अनधीन इच्छा का विषय ही 'सुख' है ।

दुःख

इसी प्रकार जिसमें द्वेष उत्पन्न होने के लिए मध्य में दूसरे विषयों के द्वेष की अपेक्षा न हो, वही 'दुःख' है । मुख्यतः जीवों को दुःखों से ही द्वेष है । फिर 'ये

मुझे न मिलें' इस प्रकार की धारणा से जिनसे साक्षात् या परम्परा से दुःख मिलने की सम्भावना समझ में आती है, उन सभी वस्तुओं से द्वेष उत्पन्न होता है ।

इच्छा

अपने लिए अथवा दूसरे के लिए किसी अप्राप्त वस्तु की 'मुझे यह मिले या उसे यह मिले' इस प्रकार की जो प्रार्थना, उसे ही 'इच्छा' कहते हैं । काम, अभिलाषादि इससे अनेक अवान्तर भेद हैं ।

द्वेष

आत्मा के जिस गुण के द्वारा जीव अपने को जलता-सा अनुभव करे, वही 'द्वेष' है । क्रोध-द्रोहादि इसी के अवान्तर भेद हैं ।

प्रयत्न

उत्साह को ही 'प्रयत्न' कहते हैं । यह तीन प्रकार का है–(१) जीवनधारणोपयोगी (या जीवनयोनि), (२) इच्छा से उत्पन्न और (३) द्वेष से उत्पन्न । इनमें जीवनयोनि यत्न से सोते हुए जीव के प्राणादि वायुओं की क्रियायें उत्पन्न होती हैं । एवं जागते हुए पुरुष का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है । अपने अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए आवश्यक क्रिया का कारण ही इच्छाजनित 'प्रयत्न' है । इस इच्छाजनित प्रयत्न के कारण ही शरीर का पतन नहीं होता । एवं अहित वस्तुओं से बचने के लिए जो व्यापार होते हैं, उनका कारण भी प्रयत्न ही है, जो द्वेष से उत्पन्न होता है ।

बुद्धि से लेकर प्रयत्न तक कहे गये ये १७ गुण ही महर्षि कणाद के सूत्रों के द्वारा कहे गये हैं । गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द इन सात वस्तुओं में गुणत्व की व्यवस्था भाष्यकार प्रशस्तपाद ने की है और इसे कथित सत्रह गुणों के विधायक सूत्र में पठित 'च' शब्द के द्वारा सूत्रकार का अनुमत माना है ।

गुरुत्व

पृथिवी और जल का पहला पतन जिस गुण के कारण हो उसे 'गुरुत्व' कहते हैं । यह 'गुरुत्व' नाम का गुण केवल पृथिवी और जल में ही रहता है । गुरुत्व से पतन का सिद्धान्त पृथ्वी के मध्याकर्षणवाले आधुनिक सिद्धान्त से बिलकुल विपरीत है ।

स्नेह

जो केवल जल का ही विशेषगुण हो उसे 'स्नेह' कहते हैं । स्नेह के ही कारण आटा प्रभृति पिसे हुए द्रव्यों की गोल आकृति बन सकती है । घृतादि जिन पार्थिव द्रव्यों से उक्त आकृतियाँ बनती हैं, वहाँ भी घृतादि में जल सम्बन्ध के कारण ही वैसा होता है ।

संस्कार

'संस्कार' नाम का भी एक गुण है, जिसके (१) वेग, (२) भावना और (३) स्थितिस्थापक ये तीन भेद हैं । (१) वेग नामक संस्कार क्रिया से उत्पन्न होता है और पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में रहता है । (२) 'भावना' नाम का संस्कार आत्मा में रहता है । इसी के बल से स्वयं तीसरे क्षण में ही विनष्ट हो जाने पर भी पूर्वानुभव स्मृति को उत्पन्न करता है । (३) स्थिति-स्थापक संस्कार के कारण ही बाँस प्रभृति द्रव्यों के अग्रभाग को बलात् नीचे से ले आकर छोड़ देने बाद वे फिर अपनी पहले की स्थिति में आ जाते हैं ।

धर्म

जीव के उस गुण को धर्म कहते हैं, जिससे उसे सुख मिलता है, इसी का दूसरा नाम पुण्य है । 'किन क्रियाओं से धर्म की उत्पत्ति होती है ?' इसको श्रुति, स्मृति ही समझा सकते हैं । तदनुसार श्रुत्यादि प्रमाणों के द्वारा निर्दिष्ट क्रियाओं से उत्पन्न गुण ही 'धर्म' है, इस प्रकार 'विहितकर्मजन्यो धर्मः' धर्म का यह लक्षण किया जाता है ।

अधर्म

अधर्म भी जीव का ही विशेष प्रकार का गुण है । जिससे जीवों को दुःख मिलता है । शास्त्रों में निषिद्ध जीवहत्यादि क्रियाओं से इसकी उत्पत्ति होती है ।

शब्द

श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले गुण को ही शब्द कहते हैं । यह संयोग, विभाग और शब्द से उत्पन्न होता है । दण्ड और भेरी के संयोग से शब्द की उत्पत्ति होती है एवं बाँस प्रभृति के विभाग से भी शब्द की उत्पत्ति होती है; किन्तु संयोग और विभाग से उत्पन्न शब्दव्यक्ति का श्रवण सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध आवश्यक है । शब्द रूप विषय का ग्राहक श्रवणेन्द्रिय है । यह आकाश रूप है । आकाश अमूर्त्त होने के कारण कहीं जा नहीं सकता । अतः शब्द की उत्पत्ति जिस देशावच्छिन्न आकाश में होती है, वहाँ

श्रवणेन्द्रिय जा नहीं सकता; किन्तु उस शब्द का प्रत्यक्ष तो होता है । इसलिए यह कल्पना करनी पड़ती है कि संयोग या विभाग से जिस शब्दव्यक्ति की उत्पत्ति होती है, उसी शब्द से उसी शब्द के सदृश दूसरे शब्द की उत्पत्ति अनन्तर प्रदेश में होती है । इस प्रकार एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति और दूसरे शब्द से तीसरे शब्द की उत्पत्ति की धारा जल की तरङ्गों की तरह चलती है । उस धारा के अन्तर्गत जब किसी की उत्पत्ति कर्णवाले आकाश प्रदेश में होती है, तो उस शब्द का प्रत्यक्ष होता है । अतः संयोग और विभाग की तरह शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति माननी पड़ती है ।

कर्म

सभी प्रकार के चलने को या गतियों को 'कर्म' कहते हैं । ऊपर की तरफ उछालने की क्रिया को उत्क्षेपण एवं नीचे की तरफ गिराने की क्रिया को 'अपक्षेपण' कहते हैं । समेटने की क्रिया को 'आकुञ्चन' और सामने बाहर की तरफ फैलाने की क्रिया को प्रसारण कहते हैं । शेष सभी क्रियाओं का 'गमन' कहते हैं । क्रियाओं का ऐसा विशद एवं सूक्ष्म वर्णन और किसी दर्शन में नहीं है । उसे इस मूल ग्रन्थ में देखा जा सकता है ।

सामान्य

सभी व्यक्तियों के कुछ असाधारण धर्म होते हैं, जो उसी व्यक्ति में रहते हैं । इसके द्वारा ही जगत् की और सभी वस्तुओं से उस व्यक्ति को अलग रूप में समझा जाता है । इसी प्रकार कुछ ऐसे भी धर्म हैं, जिनके कारण पदार्थ व्यक्तिशः भिन्न होते हुए भी एक आकार की प्रतीति के विषय होते हैं । जैसे सभी घट-व्यक्तियाँ अलग-अलग हैं; किन्तु 'अयं घटः' इस एक ही प्रकार से सब की प्रतीति होती है । विभिन्न व्यक्तियों की इस एक आकार की प्रतीति का कोई प्रयोजक अवश्य है । उस प्रयोजक को ही 'सामान्य' कहते हैं । अतः जो समान आकृत्यादिवाले विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति का कारण हो वही 'सामान्य' है । इसे जाति भी कहते हैं ।

बौद्धों का इस प्रसङ्ग में कहना है कि कोई भी व्यक्ति केवल अपने से भिन्न और सभी व्यक्तियों से विभिन्न रूप में ही प्रतीत होता है । अतः घटव्यक्ति में घटों से भिन्न पटादि सभी व्यक्तियों का जो भेद है, वही विभिन्न घटों में "यह घट है" इस प्रकार की प्रतीति से भासित होता है; क्योंकि सभी घटों में घट से भिन्न और सभी पदार्थों का भेद समान रूप से विद्यमान है । इस समानविषयक प्रतीति का सम्पादक है यह तद्भिन्नभिन्नत्व या अपोह, इससे ही उक्त विभिन्न व्यक्तियों में समान

आकार की प्रतीतियों का सम्पादन होता है । इसके लिए अलग जाति नाम के भाव पदार्थ की कल्पना अनावश्यक है ।

विशेष

'विशेष' नाम का भी एक पदार्थ वैशेषिक लोग मानते हैं । इसे केवल वैशेषिक लोग ही मानते हैं । इसको मानने में वे इस युक्ति का प्रयोग करते हैं कि जिस प्रकार घट-पटादि दृश्य पदार्थों में परस्पर भेद मानते हैं, उसी प्रकार उनके उत्पादक परमाणुवों में और आकाश-कालादि विभु पदार्थों में भी भेद मानना होगा; किन्तु घट-पटादि सावयव पदार्थों में परस्पर भेद के नियामक उनके अवयवों के भेद हैं । अर्थात् घट पट से भिन्न इसलिए हैं कि घट के उत्पादक कपाल और पट के उत्पादक तन्तु परस्पर भिन्न हैं । जिनके उत्पादक अवयव परस्पर भिन्न जाति के होते हैं, वे सभी द्रव्य भी परस्पर भिन्न जाति के ही होते हैं; किन्तु निरवयव परमाणु और आकाशादि के तो अवयव नहीं हैं । अवयवों के भेद से उनमें परस्पर भेद का नियम नहीं किया जा सकता । अतः निरवयव द्रव्यों में परस्पर भेद का नियामक कोई पदार्थ मानना पड़ेगा । इसी पदार्थ का नाम 'विशेष' है । अर्थात् जो अपने-अपने आश्रयीभूत द्रव्य को अपने से भिन्न सभी वस्तुओं से 'विशेष' रूप में या भिन्न रूप में समझावें वहीं 'विशेष' है । यह प्रत्येक निरवयव द्रव्य में अलग-अलग है, फलतः अनन्त है ।

किन्तु इस प्रसङ्ग में यह समझना शेष रहता है कि एक परमाणु में एक विशेष है, दूसरे परमाणु में दूसरा विशेष है । अतः एक परमाणु से दूसरा परमाणु भिन्न है । फलतः दोनों परमाणुवों में रहनेवाले दोनों विशेषों के परस्पर भेद ही दोनों परमाणु में परस्पर भेद के प्रयोजक हैं । किन्तु इन दोनों विशेषों में परस्पर भेद है ? इसका ही कौन नियामक है ? इस प्रसङ्ग में वैशेषिकों का कहना है कि ये विशेष 'स्वतः व्यावृत्त' हैं, इनमें परस्पर भेद के लिए किसी दूसरे नियामक की आवश्यकता नहीं है ।

इस 'स्वतोव्यावृत्ति' वाली दुर्बलता के कारण ही नव्यवैशिषकों ने 'विशेष' पदार्थ को अस्वीकार कर दिया है । उन लोगों का कहना है कि अगर परमाणु प्रभृति निरवयव द्रव्यों में रहनेवाले विशेषों को स्वतः व्याबृत्त मानते हैं, तो फिर परमाणु प्रभृति सभी निरवयव द्रव्यों को ही स्वतोव्यावृत्त क्यों नहीं मान लेते ? इसमें क्या लाभ है कि निरवयव पदार्थों में परस्पर भेद के लिए उनमें स्वतोव्यावृत्त स्वभाववाले विशेषों की कल्पना की जाय ?

समवाय

समवाय नाम का एक षष्ठ पदार्थ भी महर्षि ने माना है । संयोग की तरह समवाय भी सम्बन्धरूप है; क्योंकि यह भी विशेष्यविशेषणभाव का नियामक है । संयोग सम्बन्ध से समवाय सम्बन्ध में यह अन्तर है कि यह अपने आधार और आधेय इन दोनों में से एक के विनष्ट होने तक बना रहता है । संयोग में यह बात नहीं है । यह अपने आधार और आधेय दोनों के बने रहने पर भी विनष्ट हो जाता है । आधार या आधेय के सत्ता-पर्यन्त समवाय का रहना ही वस्तुतः समवाय की नित्यता है । यद्यपि आकाशादि की तरह समवाय की नित्यता का भी उपपादन किया गया है ।

विशेष्यविशेषणभाव का नियामक ही सम्बन्ध है । 'घटवद्भूतलम्' इत्यादि स्थल में घट का संयोग भूतल में है, अतः घट विशेषण है । एवं भूतल विशेष्य इसलिए है कि भूतलानुयोगिक संयोग घट में है । इसी प्रकार महर्षि कणाद ने समवाय का लक्षण करते हुए लिखा है कि 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः सम्बन्धः स समवायः' (७।२।२६) ।

'इह कुण्डे दधि', 'इह कुण्डे वदराणि' इत्यादि प्रतीतियों में जिस प्रकार कुण्ड और दही एवं कुण्ड और बेर इन विशेष्य और विशेषणों को छोड़कर दोनों के संयोग सम्बन्ध भी विषय होते हैं, उसी प्रकार 'इह तन्तुषु पटः', 'इह वीरणेषु कटः', 'इह द्रव्ये द्रव्यगुणकर्माणि', 'इह गवि गोत्वम्', 'इहात्मनि ज्ञानम्', 'इहाकाशे शब्दः' इत्यादि प्रतीतियों में भी तन्तु आधारों और पट प्रभृति आधेयों से अतिरिक्त कोई सम्बन्ध अवश्य ही भासित होता है; क्योंकि कोई भी विशिष्ट- बुद्धि विशेष्य और विशेषण के सम्बन्ध के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकती । 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादि प्रतीतियों का नियामक यह सम्बन्ध संयोग हो नहीं सकता; क्योंकि संयोग तो अन्यतरकर्मज होगा, अथवा उभयकर्मज होगा किं वा संयोगज होगा । प्रकृत में तन्तु प्रभृति में पट प्रभृति के सम्बन्ध की उत्पत्ति उक्त कर्मादि से नहीं होती है । दूसरी बात यह है कि जिन दो वस्तुओं का संयोग होता है, उन दोनों का विभाग भी अवश्य होता है; किन्तु तन्तु प्रभृति का घटादि के साथ कभी विभाग नहीं होता। जब तक पट की सत्ता रहेगी, तब तक वह तन्तु के साथ सम्बद्ध ही रहेगा । अतः संयोग से भिन्न समवाय नाम का भी सम्बन्धात्मक एक स्वतन्त्र पदार्थ वैशेषिक लोग मानते हैं । वैशेषिक सम्प्रदाय से भिन्न नैयायिक और मीमांसक (प्रभाकर) भी इसे मानते हैं; किन्तु इसके स्वरूप में कुछ मतभेद है । जैसे कि वैशेषिकगण इसे अतीन्द्रिय और नित्य मानते हैं; किन्तु नैयायिक इसे नित्य मानते हुए भी प्रत्यक्षवेद्य मानते हैं; प्रभाकर इसकी नित्यता को ही अस्वीकार करते हैं । वेदान्ती और सांख्यदर्शन के अनुयायी इसके कट्टर विरोधी हैं ।

सभी सम्बन्धों के प्रतियोगी और अनुयोगी होते हैं । तदनुसार इसके भी प्रतियोगी और अनुयोगी हैं । द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इसके प्रतियोगी हैं एवं द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही इसके अनुयोगी हैं । अर्थात् कथित द्रव्यादि पाँच पदार्थ ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और द्रव्य, गुण और कर्म में ही रहते हैं ।

संयोग सम्बन्ध को दृष्टान्त मानकर इसकी सिद्धि की गयी है । संयोग अपने अनुयोगियों और प्रतियोगियों में समवाय सम्बन्ध से रहकर ही विशिष्ट बुद्धि का सम्पादन करता है । अतः समवाय को अगर विशिष्टबुद्धि के नियामक रूप से स्वीकार करते हैं, तो यह भी निर्णय करना होगा कि वह अपने प्रतियोगी और अनुयोगी में किस सम्बन्ध से रहकर उक्त विशिष्टबुद्धियों का सम्पादन करेगा ? समवायवादियों के ऊपर इसके विरोधी इसी प्रश्न के द्वारा अपना चरम प्रहार करते हैं । विरोधियों का अभिप्राय है कि अगर समवाय के रहने के लिए किसी दूसरे सम्बन्ध की कल्पना करेंगे तो फिर उस सम्बन्ध के रहने के लिए भी दूसरे सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक होगी, जिसका पर्यवसान अनवस्था में होगा । यदि स्वरूप सम्बन्ध से उसके प्रतियोगी और अनुयोगी में समवाय की सत्ता मानेंगे, तो फिर द्रव्यादि जिन पाँच पदार्थों का समवाय सम्बन्ध मान रहे हैं, उनका स्वरूप सम्बन्ध ही क्यों नहीं मान लेते ?

इस आक्षेप का उत्तर समवायवादी वैशेषिकादि इस प्रकार देते हैं कि घटादि द्रव्यों में रूपादि गुण या क्रियादि का अगर स्वरूप सम्बन्ध से ही रहना मानें, तो फिर यह निर्णय करना कठिन होगा कि ये सम्बन्ध किसके स्वरूप हैं ? क्योंकि घटादि भी अनन्त हैं और उनमें रहनेवाले गुण एवं क्रियादि भी अनन्त हैं । सम्बन्ध को अनन्त पदार्थ स्वरूप मानना सम्भव नहीं है । हम लोग अगर इसके लिए अलग समवाय नाम का सम्बन्ध मान लेते हैं, तो फिर इस प्रकार की कोई भी आपत्ति नहीं रह जाती है; क्योंकि वह अपने सभी प्रतियोगियों और अनुयोगियों में एक ही है और स्वाभिन्न स्वरूप सम्बन्ध से ही है । एवं समवाय में रहनेवाला सम्बन्ध भी चूँकि समवाय रूप ही है, अतः आगे विभिन्न सम्बन्ध की कल्पना की धारा ही रुक जाती है । अतः इस पक्ष में न अनवस्था दोष है और न कल्पना का गौरवदोष है । अतः समवाय का मानना आवश्यक है ।

अभाव

अभाव पदार्थ को महर्षि कणाद के द्वारा उनके सूत्रों से स्वीकृत मानकर मैं उसका विवरण दे रहा हूँ । इस प्रकरण के अन्त में 'अभाव पदार्थ भी महर्षि कणाद को अभीष्ट था' इसकी उपपत्ति यथामति दे दी है ।

प्रथमतः अभाव के (१) अन्योन्याभाव और (२) संसर्गाभाव ये दो भेद हैं। तादात्म्य नाम का एक सम्बन्ध है, जिसके द्वारा इस सम्बन्ध के प्रतियोगी का अभेद उसके अनुयोगी में प्रतीत होता है। जैसे कि 'नरः सुन्दरः' इस बुद्धि में भासित होनेवाले तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा 'नर' और 'सुन्दर' में अभेद प्रतीत होता है। जिस अभाव की प्रतियोगिता इस तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित हो या अविच्छिन्न हो, उस प्रतियोगिता के आश्रयीभूत वस्तु का अभाव ही अन्योन्याभाव है। इस अभिप्राय से ही 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावोऽन्योन्याभावः' अन्योन्याभाव का यह लक्षण प्रसिद्ध है। अन्योन्याभाव का ही दूसरा नाम 'भेद' है।

'अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यस्याभावः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अभाव जिस अनुयोगी में रहे, अगर उस अनुयोगी का अभाव भी प्रथमोक्त अभाव के प्रतियोगी में रहे तो वह अभाव 'अन्योन्याभाव' है। जैसे कि 'घटो न' इस आकार का अन्योन्याभाव पट में है। यतः अनुयोगीभूत इस पट का भी अन्योन्याभाव घट में है। अन्योन्याभाव के बोधक वाक्य में उसके प्रतियोगी के बोधक पद और अनुयोगी के बोधक पद दोनों ही प्रथमान्त होते हैं, जैसे कि 'घटो न पटः'। किन्तु संसर्गाभाव के अभिलापक वाक्य में प्रतियोगि के बोधक पद तो प्रथमान्त होते हैं; किन्तु अनुयोगी के बोधक पद प्रायः सप्तम्यन्त होते हैं, जैसे कि 'भूतले घटो नास्ति'।

अन्योन्याभाव को छोड़कर और सभी अभाव संसर्गाभाव कहलाते हैं। संसर्गाभाव के द्वारा अनुयोगी में प्रतियोगी के संसर्ग का ही प्रतिषेध होता है। 'भूतले घटो नास्ति' यहाँ पर यद्यपि भूतल में घट के निषेध का ही व्यवहार होता है; किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह प्रतिषेध भूतल में घटसंयोग का ही प्रतिषेध प्रतिपन्न होता है; क्योंकि भूतल में यतः घट का संयोग है, अतः भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट की सत्ता है। सुतरां भूतल में घट संयोग की सत्ता ही घटसत्ता का नियामक है। अतः भूतल में घट संयोग की असत्ता ही घट की असत्ता की प्रयोजिका होगी।

(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव और (३) अत्यन्ताभाव भेद से संसर्गाभाव तीन प्रकार का है। कार्य की उत्पत्ति से पहले उपादानकारण में कार्य के जिस अभाव का व्यवहार होता है वह 'प्रागभाव' है। जैसे कि तन्तु में पट का अभाव, दूध में दही का अभाव इत्यादि। यह यद्यपि अनादि है; किन्तु इसका विनाश होता है; क्योंकि पट की उत्पत्ति के बाद तन्तु में पुनः इस अभाव की प्रतीति नहीं होती है।

मुद्गरादि के प्रहार से घटादि के नाश को ही प्रध्वंस या ध्वंस कहते हैं । इसकी उत्पत्ति तो होती है; किन्तु विनाश नहीं होता । ध्वंस का विनाश मानने पर फूटे हुए घड़े की पुनः उत्पत्ति माननी पड़ेगी; क्योंकि घटादि के ध्वंस घटादि के उत्पत्ति स्वरूप ही हो सकता है । अतः ध्वंस सादि होने पर भी अनन्त है ।

संसर्गभावों में जो अभाव नित्य हो उसे ही 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं । अत्यन्ताभाव की न उत्पत्ति होती है, न उसका विनाश ही होता है, जैसे कि वायु में रूपादि का अभाव अन्त्यन्ताभाव है, भूतल में घटाभाव भी अत्यन्ताभाव ही है ।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठता है कि अत्यन्ताभाव यदि नित्य है तो वह अपने आश्रयों में बराबर रहेगा । अतः भूतल में घट की सत्त्वदशा में भी घटाभाव की प्रमा-प्रतीति होनी चाहिए; किन्तु भूतल में घट की स्थिति-दशा में घटाभाव की प्रतीति को प्रमा नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

इसके दो उत्तर दिये जाते हैं– (१) कुछ लोगों का कहना है कि अत्यन्ताभाव नित्य और अनित्य भेद से दोनों प्रकार का है । वायु में रहनेवाला रूप का अत्यन्ताभाव नित्य है । एवं भूतलादि में रहनेवाला घटाभाव अनित्य है; क्योंकि भूतल में घट के न रहने पर वह उत्पन्न होता है, पुनः घट के आ जाने पर वह घटाभाव नष्ट हो जाता है । अतः उस समय भूतल में घटाभाव नहीं है ।

(२) कुछ लोगों का कहना है कि सभी अत्यन्ताभाव नित्य हैं । अगर ऐसी बात न हो, भूतल में घट के आ जाने पर घटात्यन्ताभाव का नाश मान लिया जाय तो उस समय अन्यत्र भी घटात्यन्ताभाव की सत्ता न रह पायेगी । जिससे भूतल की तरह और सभी आश्रयों में भी जहाँ कि उस समय घट की सत्ता नहीं है– घटाभाव की प्रतीति प्रमा न हो सकेगी । अतः सभी अत्यन्ताभाव नित्य ही हैं । भूतल में घट की स्थिति दशा में जो घटाभाव की प्रतीति-प्रमा नहीं होती है, उसका कारण है उस समय भूतल में घटाभाव के सम्बन्ध का न रहना । सम्बन्ध के रहने से ही सम्बद्ध वस्तुओं की सत्ता होती है । भूतल में घट का संयोग है, अतः संयोग सम्बन्ध से भूतल में घट है । तन्तुओं में पट का समवाय सम्बन्ध है, अतः समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में पट की सत्ता है । भूतल में घटाभाव की सत्ता का प्रयोजक स्वरूप सम्बन्ध केवल साधारण भूतल स्वरूप नहीं है; किन्तु घट का असमानकालिक जो भूतल, तत्स्वरूप है । जिस समय भूतल में घट की सत्ता रहती है, उस समय का भूतल घट का समानकालिक है, असमानकालिक नहीं । अतः समय भूतल में घटाभाव की सत्ता का उपयुक्त स्वरूप-सम्बन्ध नहीं है । सुतराम् उस समय अन्यत्र घटाभाव की सत्ता रहते हुए भी भूतल में घटाभाव की सत्ता नहीं है । अतः उस समय भूतल में होनेवाली घटाभाव की प्रतीति प्रमा नहीं होती है ।

सुतराम् किसी भी अत्यन्ताभाव को अनित्य मानने की आवश्यकता नहीं है । सभी अत्यन्ताभाव उत्पत्ति और विनाश से रहित है, अतः पूर्णरूप से नित्य है ।

अभाव के प्रसङ्ग में नव्य नैयायिकों ने इतना अधिक विचार किया है कि उसके कुछ अंशों को भी जाने बिना अभाव का ज्ञान अधूरा ही रहेगा । अतः तदनुसार मैं अभाव को प्रकृत रूप से समझने के लिए उससे सम्बद्ध कुछ विषयों का परिचय देना आवश्यक समझता हूँ ।

जिस प्रकार संयोगादि सभी सम्बन्धों का एक प्रतियोगी और एक अनुयोगी होता है, उसी प्रकार सभी अभावों के भी प्रतियोगी और अनुयोगी होते हैं । प्रतियोगी शब्द यहाँ प्रतिपक्षी का बोधक है । अतः जो अभाव जिसका विरोधी अर्थात् प्रतिपक्ष होगा वही उसका प्रतियोगी होगा । फलतः अभाव जिस वस्तु का होगा, वही वस्तु उस अभाव का प्रतियोगी होगा । जैसे कि 'घट का अभाव' पट का अभाव, रूप का अभाव इत्यादि रीति से जिसके सम्बन्ध से युक्त होकर जिस अभाव की प्रतीति होती है, वही उस अभाव का प्रतियोगी होता है । जैसे कि जहाँ पर घटाभाव रहेगा, वहाँ घट नहीं रहेगा, अतः घटाभाव घट का विरोधी है । एवं घट का अभाव ही घटाभाव है, अतः घटाभाव का प्रतियोगी घट है एवं पटाभाव का प्रतियोगी पट है, रूपाभाव का प्रतियोगी रूप है ।

जो अभाव जिस आश्रयीभूत वस्तु में रहेगा, वही वस्तु उस अभाव का अनुयोगी होगा । जैसे कि वायु रूपाभाव का अनुयोगी है, घटादि जड़ पदार्थ ज्ञानाभाव के अनुयोगी हैं ।

कथित प्रतियोगी में रहनेवाला धर्म ही प्रतियोगित्व या प्रतियोगिता है एवं कथित अनुयोगी में रहनेवाला धर्म ही अनुयोगिता है ।

इस प्रसङ्ग में यह विशेष रूप से विचारणीय है कि एक स्थान में एक सम्बन्ध से विद्यमान वस्तु का भी दूसरे सम्बन्ध से उसी स्थान में अभाव रहता है । जैसे कि भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट के रहने पर भी समवाय सम्बन्ध से भूतल में घट का अभाव रहता है । इसी प्रकार एक स्थान में एक रूप से एक वस्तु की सत्ता रहने पर भी दूसरे रूप से उसी वस्तु का अभाव उसी आश्रय में रहता है । जैसे कि किसी गृह में पटत्व रूप से शुक्ल पट के रहने पर भी नीलपट रूप विशेष रूप से पट नहीं रहता, अतः उक्त शुक्लपट के आश्रय गृह में 'नीलपटत्वेन पटो नास्ति' यह (विशेष रूप से सामान्याभाव) अभाव रहता है; क्योंकि शुक्ल पट की सत्ता गृह में है, इससे नीलपट की सत्ता गृह में नहीं रह जाती । एवं वही पट जब घर से बाहर रहता है, उस समय उसमें बहिर्वृत्तित्व रूप धर्म रहता है । इस बहिर्वृत्तित्व रूप से पट कभी भी घट में नहीं रह सकता । अतः घट में पट की

सत्त्व-दशा में पटत्वेन पट के रहते हुए भी बहिर्वृत्तित्वेन पट का अभाव रहता है । एवं जिस समय घट में पट तो है, किन्तु घट नहीं है, उस समय केवल घट के रहने पर भी घट-पट दोनों नहीं हैं । अतः पटत्वेन पट की सत्ता घट में रहने पर भी घटपटोभयत्वेन पट की सत्ता नहीं है; क्योंकि ऐसा तो नहीं कह सकते कि घट है इसलिए घट और पट दोनों ही हैं । अतः उभयाभाव के एक प्रतियोगी के रहने पर भी उभयत्वेन उसी प्रतियोगी का अभाव रहता है । इसको ही 'एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति' इस वाक्य के द्वारा व्यवहार करते हैं । इस प्रकार सम्बन्ध के द्वारा और धर्म के द्वारा अभावों में वैलक्षण्य होता है ।

किन्तु प्रतियोगिता के द्वारा ही अभावों में वैलक्षण्य आ सकता है । अतः यह कहा जाता है कि अभाव की प्रतियोगितायें किसी सम्बन्ध से एवं किसी धर्म से नियमित (अविच्छिन्न) होती हैं । जो प्रतियोगिता जिस सम्बन्ध से एवं जिस धर्म से अविच्छिन्न (नियमित) होगी, वही सम्बन्ध और वही धर्म उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा । जैसे कि 'समवायेन घटो नास्ति' इस अभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध और घटत्व धर्म से अवच्छिन्न है । अतः उक्त अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध समवाय है और प्रतियोगितावच्छेदक धर्म घटत्व है । तदनुसार नवीन नैयायिक 'समवायेन घटो नास्ति' इस वाक्य का अर्थ करते हैं– "समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽस्ति" ।

सम्बन्ध को अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक मानने में यह युक्ति है कि सामान्यतः किसी भी वस्तु का अभाव कहीं भी नहीं है । अन्ततः कालिक सम्बन्ध से सभी वस्तुएँ सभी जगह वर्तमान हैं । अतः जब भी किसी वस्तु का अभाव कहीं व्यवहृत होता है, तो उसके मध्य में कोई विशेष प्रकार का सम्बन्ध कार्य करता रहता है । सम्बन्ध का यह कार्य प्रतियोगिता में वैलक्षण्य सम्पादन के द्वारा ही हो सकता है और किसी प्रकार नहीं । जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जहाँ नहीं है, वही सम्बन्ध उस अभाव की प्रतियोगिता में और अभाव की प्रतियोगिताओं से वैलक्षण्य का सम्पादन करता है । अतः वही सम्बन्ध उस अभाव की प्रतियोगिता का 'अवच्छेदक' है । एवं वह प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से अवच्छिन्ना होती है । जैसे कि भूतल में संयोग-सम्बन्ध से घट के रहते हुए 'समवायेन घटो नास्ति' इस प्रकार का जो अभाव रहता है, उस अभाव की प्रतियोगिता में समवाय सम्बन्ध ही (संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिता की अपेक्षा) वैलक्षण्य का सम्पादन करता है । अगर समवाय सम्बन्ध उक्त प्रतियोगिता में वैलक्षण्य का प्रयोजक न हो, तो फिर घटनिष्ठ सभी प्रतियोगिताएँ समान रह जायेंगी । जिससे जिस प्रकार भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट के रहते हुए 'संयोगेन घटो नास्ति' यह प्रतीति

नहीं होती है, उसी प्रकार 'समवायेन घटो नास्ति' यह प्रतीति भी न हो सकेगी। अतः 'समवायेन घटो नास्ति' इस अभाव की प्रतियोगिता में और प्रतियोगिताओं से वैलक्षण्य का सम्पादक समवाय सम्बन्ध को मानना पड़ेगा। सम्बन्धों में प्रतियोगिताओं का यह 'विशेषकत्व' ही सम्बन्ध का प्रतियोगितावच्छेदकत्व है।

धर्म को प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) मानने में यह युक्ति है कि किस अभाव की प्रतियोगिता कहाँ-कहाँ है? एवं कहाँ नहीं ? इसके लिए प्रतियोगिता का कोई ऐसा नियामक (अवच्छेदक) धर्म मानना पड़ेगा, जो सभी प्रतियोगियों में रहे एवं अप्रतियोगिभूत वस्तुओं में न रहे। इसी नियामक धर्म को प्रतियोगिता का 'अवच्छेदक धर्म' कहते हैं, जो इस नियामक के द्वारा नियमित होता है, वह उस धर्म से 'अवच्छिन्न' होता है। जैसे कि घटाभाव की प्रतियोगिता कहाँ-कहाँ है? एवं कहाँ-कहाँ नहीं? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि घटत्व धर्म जहाँ कहीं भी है, उन सभी स्थानों में अर्थात् सभी घटों में घटाभाव की प्रतियोगिता है। एवं जिन सब स्थानों में घटत्व नहीं है, अर्थात् घट से भिन्न पटादि सभी वस्तुओं में वह प्रतियोगिता नहीं है। अतः घटत्व ही घटाभाव की प्रतियोगिता की स्थिति का नियामक है। एवं घटाभाव की प्रतियोगिता घटत्व से नियम्य है। वस्तुतः नियामकत्व ही अवच्छेदकत्व है और नियम्यत्व ही अवच्छिन्नत्व है। इस दृष्टि से यद्यपि 'अच्छेदक' पद के स्थान में 'नियामक' पद का और 'अवच्छिन्न' पद के स्थान में नियम्य' पद का भी प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु 'अवच्छेदक' पद ही उक्त अर्थ में परम्परा से प्रयुक्त है, अतः उसके स्थान में दूसरे पदों की प्रयुक्ति से झटिति बोध में बाधा पहुँचेगी और अप्रयुक्तत्व दोष प्रयोक्ता के ऊपर आ पड़ेगा।

सप्तपदार्थी

इधर वैशेषिकदर्शन के मूर्द्धन्य प्रकरण ग्रन्थों के प्रभाव से विद्वानों की यह धारणा चली आ रही है कि महर्षि कणाद और उनके अनुयायी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थों की सत्ता मानते थे।

किन्तु महर्षि कणाद ने "धर्मप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" (अ.१। आ.१। सू.४) इस पदार्थोद्देश्य सूत्र में पदार्थ का उल्लेख नहीं किया है। एवं वैशेषिक दर्शन के सब से प्रामाणिक भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी अभाव पदार्थ का उल्लेख नहीं किया है। एवं विपक्षियों की–

धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।
सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम्॥

अर्थात् "धर्म की व्याख्या के लिए प्रवृत्त पुरुष के द्वारा छः पदार्थों का वर्णन (वैसा ही अयुक्त है जैसा कि समुद्र की ओर जानेवाले पुरुष के लिए हिमालय पर जाना अयुक्त है)" । इत्यादि उक्तियों से भी इस धारणा को बल मिला है कि महर्षि कणाद द्रव्यादि छः भावपदार्थों को ही मूलतः मानते थे । पीछे आकर उपपत्ति की दृष्टि से आवश्यक समझकर आचार्यों ने 'अभाव' की भी वैशेषिक दर्शन के द्वारा अभिमत स्वतन्त्र पदार्थों में गणना कर ली और तब से ही वैशेषिकदर्शन को सप्तपदार्थवादी माना जाने लगा । अतएव किरणावलीकार उदयनाचार्य, न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट, न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य प्रभृति वैशेषिकदर्शन के सभी प्रमुख आचार्यों को इसकी उपपत्ति देनी पड़ी है कि "पदार्थोद्देश" सूत्र में अभाव पदार्थ की अनुक्ति से उसका महर्षि कणाद के द्वारा अस्वीकृति का समर्थन नहीं किया जा सकता; किन्तु महर्षि कणाद के द्वारा निर्मित सूत्रों में निम्नलिखित पाँच सूत्र ऐसे हैं, जिनसे अभाव पदार्थ का स्वातन्त्र्य और उसके प्रागभावादि चार भेदों का स्पष्टतः उल्लेख है । एवं ये पाँच सूत्र उन सभी सूत्र. व्याख्याताओं के द्वारा स्वीकृत हैं जो अभी तक उपलब्ध हैं । कणाद-सूत्र की अभी तक तीन प्राचीन स्वतन्त्र टीकाएँ उपलब्ध हैं– (१) अनेकशः प्रकाशित शङ्करमिश्र कृत उपस्कार टीका, (२) मिथिला विद्यापीठ के द्वारा प्रकाशित अज्ञातनामा किसी दाक्षिणात्य विद्वान् की टीका एवं (३) बड़ौदा से प्रकाशित चन्द्रानन्द पण्डित कृत टीका । इन सभी टीकाकारों के द्वारा ये पाँच सूत्र स्वीकृत हैं और इनकी व्याख्या भी प्रायः उक्त सभी टीकाओं में एक-सी है । पं. जय-नारायण तर्कपञ्चानन की विवृति और चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार के भाष्य– ये दो वैशेषिक सूत्र की अर्वाचीन टीकाएँ हैं । इन दोनों में भी उक्त पाँच सूत्र हैं । इन उपपत्तियों से अपने निर्णय पर पहुँचने के बाद मैंने चौखम्बा सिरीज से प्रकाशित शङ्करमिश्र कृत 'कणादरहस्य' के अन्त में चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार महाशय कृत वैशेषिक-दर्शनभाष्य की एक आलोचना छपी देखी है, आलोचक का नाम उसमें नहीं है, इस आलोचना के अन्त में स्वतन्त्र रूप से इन पाँच सूत्रों का उल्लेख किया गया है और व्याख्या लिखी गयी है । और उन्होंने लिखा है कि 'अभाव की कणाद के द्वारा अस्वीकृति का जो आक्षेप किया जाता है, उसके निराकरण के लिए ही मैंने इन.सूत्रों की व्याख्या की है' । अतः इन पाँच सूत्रों की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है । ये सूत्र हैं–

(१) **क्रियागुणव्यपदेशाभावात्** (९।१।१) । उत्पत्ति से पहले (घटादि कार्य) असत् हैं; क्योंकि उस समय उनमें क्रियाओं का और गुणों का व्यवहार नहीं होता ।

(२) **सदसत्** (९।१।२) । पहले से विद्यमान भी घटादि कार्य नाश के बाद असत् हैं; (क्योंकि नाश के बाद भी उनमें गुणक्रियादि का व्यवहार नहीं होता) ।

(३) **असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्** । अविद्यमान पदार्थों में यतः गुणक्रियादि का व्यवहार नहीं होता है, अतः अभाव पदार्थ द्रव्यादि भावपदार्थों से भिन्न पदार्थ है ।

(४) **सच्चासत्** (९।१।४) सत् अर्थात् विद्यमान घटादि का भी प्रतिषेध होता है (यह प्रतिषेध ही अन्योन्याभाव है) ।

(५) **यच्चान्यदसतस्तदसत्** (९।१।५) । कथित तीनों प्रकार के अभावों से भिन्न अभाव भी हैं (यही अत्यन्ताभाव है) ।

इनमें तीसरे सूत्र से अभाव को द्रव्यादि छः पदार्थों से भिन्न ठहराया गया है और शेष चार सूत्रों में से पहला प्रागभाव का, दूसरा ध्वंस का, चौथा अन्योन्याभाव का एवं पाँचवाँ अत्यन्ताभाव का ज्ञापक है । अतः इन सूत्रों के द्वारा अभाव का द्रव्यादि छः पदार्थों से स्वातन्त्र्य है और उसके प्रागभावादि चारों भेद सुव्यवस्थ हैं ।

सुतराम् उद्देश्य सूत्र में अभाव पदार्थ का पृथक् रूप से उल्लेख न रहने के कारण सूत्रकार के ऊपर न्यूनता का ही आक्षेप कथञ्चित् हो सकता है । इससे अभाव के प्रसङ्ग में उनकी असम्मति नहीं मानी जा सकती । उपसंहार सूत्रों के अनुसार भी उपक्रम सूत्र में ह्रास-वृद्धि अनेक स्थानों में देखी जाती है ।

दूसरी बात यह है कि मिथिला विद्यापीठ से और बड़ौदा से जो वैशेषिकसूत्र छपे हैं, उन दोनों में ही "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानाम्" इत्यादि उद्देश्य-सूत्र हैं ही नहीं । अतः इस सूत्र का प्रामाण्य ही सन्दिग्ध है । अतः सन्दिग्ध प्रामाण्यवाले सूत्र के द्वारा किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता ।

वैशेषिकदर्शन के प्रसङ्ग में षट्पदार्थ-प्रतिपादक और जितने भी वाक्य हैं, वे सभी कथित वैशेषिक सूत्रों से दुर्बल ही हैं । अतः प्रवादों के बल पर अभाव की वैशेषिकशास्त्रीय स्वीकृति काटी नहीं जा सकती है ।

इन सभी उपपत्तियों के अनुसार मेरी सम्मति में अभाव पदार्थ भी महर्षि-कणाद के द्वारा स्वीकृत है ।

इस पुस्तक के पाठ के प्रसङ्ग में मैंने साधारणतः मुद्रित न्यायकन्दली का ही अनुसरण किया है; किन्तु जहाँ कहीं मुझे ऐसे पाठ मिले, जिनसे प्रकृत अर्थ का बोध ही संभव नहीं था, उनको यथामति संशोधन करके तदनुसार ही अनुवाद किया है; किन्तु मूल में यथावत् प्रायः मुद्रित पुस्तक के पाठ को ही रहने दिया है । नीचे टिप्पणी में उपपत्ति सहित उन पाठभेदों का उल्लेख कर दिया है । विद्वान् लोग इस पर अवश्य दृष्टिपात करें ।

अनुवाद में मैंने अर्थ को स्पष्ट करने के अभिप्राय से कुछ अधिक शब्दों के प्रयोग का स्वातन्त्र्य ग्रहण किया है । इतने बड़े आकार के ग्रन्थ में न्यूनता के अतिरिक्त भ्रम और प्रमाद की पूरी सम्भावना है । अतः विद्वानों से क्षमा-याचना पूर्वक प्रार्थना है कि ऐसे स्थलों से मुझे अवश्य अवगत करावें । जिससे अगर इसका पुनः संस्करण संभव हुआ तो उन अवगतियों से लाभ उठाया जा सके ।

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः ।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः ॥

आचार्य कुमारिल भट्ट के इस श्लोक के साथ मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ ।

दुर्गाधर झा
अनुसन्धान-सहायक
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

संशोधकनिवेदनम्

[प्रथमसंस्करणस्य]

श्रीमद्भिर्गवेषणालयनिदेशकैः डॉ॰ भागीरथप्रसादत्रिपाठि–(वागीशः शास्त्री) महाभागैराज्ञप्तेन मया न्यायकन्दलीटीकायुतस्यास्य **प्रशस्तपादभाष्य**ग्रन्थस्य यथाशक्यं यथाशीघ्रं च पुनर्मुद्रणक्षमं संशोधनं विहितम् ।

यद्यप्यत्र न्यायकन्दल्यां तत्सहकृत-हिन्दीभाषानुवादे चानुच्छेदादिव्यवस्था नास्ति समीचीना, अतः पाठकानां सौविध्याय आपेक्षिकानुच्छेदादिविधेरवश्यम्भावादपि ग्रन्थस्य मुद्रणप्रकाशनशैघ्र्यविधिसम्भवात् पुनः पूर्वसदृश एवायं ग्रन्थः संस्कृतः; तथापि समेषां भाष्य-कन्दली-भाषानुवादानां प्रतीकानुसारं **पृष्ठबन्धने** ऐक्यरूप्यापादनाय यत्र तत्र यथासम्भवं कियत्प्रयासस्तरसा कृतोऽपि ।

ग्रन्थेऽस्मिन् संशोधनविधकर्मणा सप्ततिपृष्ठे (पृ. ७०) 'प्रशस्तपादभाष्यम्' इत्यस्योपरि **अथ द्रव्यपदार्थनिरूपणू** इति नूतनं शीर्षकं विधाय **'पृथिवी-प्रकरणम्'** इत्युपशीर्षकात् पूर्वं स्वल्पस्थानभावाद् द्रव्येषु-इतिकर्तव्यस्थाने केवलं 'द्रव्ये' इति पदं योजितम् । तथैव गुणपदार्थनिरूपण-प्रकरणे पञ्चाशदुत्तर-द्विशततमपृष्ठतः (पृ. २५०) ग्रन्थोपशीर्षकात् पूर्वं गुणेषु–इतिकर्तव्यस्थाने केवलं 'गुणे' इति पदं योजितम् ।

एकचत्वारिंशदुत्तर-सप्तशततमपृष्ठे (पृ. ७४१) उपरि मुद्रितं 'प्रशस्तपादभाष्यम्' पदं मुद्रिताद् **अथ सामान्यपदार्थनिरूपणम्** शीर्षकादधः कृतम् । तथैव पञ्चषष्ट्युत्तरसप्तशतपृष्ठे (पृ. ७६५) मुद्रितं 'प्रशस्तपादभाष्यम्' पदं मुद्रिताद् **अथ विशेषपदार्थनिरूपणम्** शीर्षकात्, तथा त्र्यधिकसप्तत्युत्तर-सप्तशततमपृष्ठे (पृ. ७७३) मुद्रिताद् **अथ समवायपदार्थनिरूपणम्** शीर्षकाच्चाधः कृतम् ।

प्रतीकानुसारं च केषाञ्चित् प्रशस्तपादभाष्यांशानां न्यायकन्दल्यंशानां च पृष्ठ-परिवर्तनम् –

यथा सप्तपञ्चाशदुत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६५७) मुद्रितः 'स्थितिस्थापकस्तु··· घनावयवसन्नि....'भाष्यांशोऽष्टपञ्चाशदुत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६५८) कृतः, तद्धिन्दीभाषानुवादोऽपि तत्रैव विहितः ।

नवपञ्चाशदुत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६५९) मुद्रितः 'धर्मः पुरुषगुणः........ विशुद्धाभिसन्धिजः' भाष्यांशः षष्ट्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६०) परिवर्तितः । तथात्रस्थः (पृ. ६६०) 'समवेतमसमवायिकारणं स स्थितिस्थापकः' इत्यादि-कन्दल्यंशो नवपञ्चाशदुत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६५९) कन्दल्यंशे निवेशितः ।

पञ्चषष्ट्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६५) 'तत्र समान्यानि·····विशिष्टदेवताभक्तिरुपवासोऽप्रसादश्च' इति भाष्यांशः सर्वत्रेव भाषानुवादेन सह षट्षष्ट्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६६) कृतोऽर्थसंवादात् । तथात्रस्थः (पृ. ६६६) 'ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यानाम्······संस्काराः' भाष्यांशः सप्तषष्ट्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६७) परिवर्तितः ।

एवमेव सप्तषष्ट्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६७) मुद्रितः 'क्षत्रियस्य सम्यक्… स्वकीयाश्च संस्काराः' भाष्यांशोऽष्टषष्ट्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६८) मुद्रितः 'शूद्रस्य पूर्ववर्णपारतन्त्र्यम्……अभ्यञ्जनादिवर्जनं च' भाष्यांशो नवषष्ट्युत्तर- -षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६९) विहितः ।

तथा च नवषष्ट्युत्तरषट्शततमपृष्ठे (पृ. ६६९) मुद्रितः 'विद्याव्रतस्नातकस्य…….महायज्ञानां' भाष्यांशः सर्वत्रैव भाषानुवादेन सह सप्तत्युत्तरषट्शततमपृष्ठे (पृ. ६७०), एवमेव एकसप्तत्युत्तर-षट्शततमपृष्ठस्थः (पृ. ६७१) 'ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य वा ….वानप्रस्थस्य' भाष्यांशस्तथा द्व्यधिकसप्तत्युत्तरषट्शततमपृष्ठस्थः (पृ. ६७२) 'वनस्थस्य धर्मसाधनं कथयति ….हुतशेषभोजनम्' कन्दल्यंशश्च सर्वत्रैव द्व्यधिकसप्तत्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६७२) परिवर्तितः ।

इत्थमेव सप्तनवत्युत्तर-षट्शततमपृष्ठे (पृ. ६९७) शिवस्तवबोधकस्य 'जगदङ्कुरबीजाय………चन्द्रायार्धेन्दुमौलये' इति कन्दलीस्थश्लोकस्य स्पष्टार्थावगमको हिन्दीभाषानवानुवादो वाक्यैर्नैकेनाङ्कितः ।

एकचत्वारिंशदुत्तर-सप्तशततमपृष्ठे (पृ. ७४१) 'यजन्ति जगदुत्पत्तिस्थितिसंहृतिहेतवः………तन्निषेधार्थमाह-' इति कन्दल्यंशादधोलिखितः 'मणियों का चोर की तरफ जाना……कर्मनिरूपण समाप्त हुआ' इति हिन्दीभाषानुवादांशस्तत्रैव पृष्ठे 'च प्रक्षोभणं चलनम्……कर्मपदार्थः समाप्तः' इति कन्दल्यंशादधस्तदर्थसङ्गत्या परिवर्तितः ।

तथैव पञ्चषष्ट्युत्तर-सप्तशततमपृष्ठे (पृ. ७६५) 'चतुर्युगचतुर्विद्या……उत्पाद–विना-' इति कन्दल्यंशस्तत्रैव पृष्ठे 'अप्रत्यक्ष व्यक्तियों में भी प्रवृत्ति……. सामान्यनिरूपण समाप्त हुआ' इति हिन्दीभाषानुवादांशादधो न्यायकन्दलीति लिखित्वा परिवर्तितः ।

प्रकृतग्रन्थे मूलं प्रशस्तपादभाष्यं तद्दुरवग्राह्यार्थावबोधिका न्यायकन्दलीति टीका च भूतपूर्वानुसन्धानसहायकैः **श्रीदुर्गाधरझा**-महोदयैरपि तदुभयभाष्यटीकयोः सम्यगर्थावबोधायातिसरलहिन्दीभाषानुवादेनालङ्कृता । अत्र प्राचीनपरम्परया चूँकि-अगर-मगर-प्रभृतियावनभाषामिश्रितशब्दानां प्रयोगो बाहुल्येन कृतो विद्यते, इतः पूर्वं तेषामेव मिश्रितभाषाशब्दानां हिन्दीभाषाप्राशस्त्यात् । अतः क्वचन तत्तत्स्थलेषु यतः-यदि-किन्तु-प्रभृतिशब्दानां प्रयोगप्रयासः कृतो वर्तते ।

ईदृक्प्रशस्तग्रन्थविषयविशेषे सहयोगिनस्तथा ग्रन्थमुद्रणकालमध्ये ममातर्किता-स्वस्थतायां प्रायो मासद्वयं यावदीक्ष्यपत्र-संशोधनकर्मदत्तावधानाश्चेमे **पं. श्रीरामगोविन्द-शुक्ल**महोदयास्तेऽवश्यं धन्यवादार्हाः । तथैव ग्रन्थस्यास्य प्रशस्तप्रकाशनकर्मणि शैघ्र्योत्पादनाय प्रकाशनाधिकारि-**डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठि**महोदयाश्चापि सततं साधुवादार्हाः सन्तीति निवेदयते ।

वसन्त-पञ्चमी
२०३४ वैक्रमाब्दे
१२-२-७८ खैस्ताब्दे

उमाशङ्करत्रिपाठी
अनुसन्धानसहायकः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

विषयानुक्रमणिका

प्रशस्तपादाचार्यप्रणीतं

प्रशस्तपादभाष्यम्

[पदार्थधर्म्मसङ्ग्रहाख्यम्]

श्रीधरभट्टकृत-

न्यायकन्दलीव्याख्योपेतम्

श्रीदुर्गाधरझाकृत-हिन्दीभाषानुवादसहितम्

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः ।
पदार्थधर्म्मसङ्ग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः ॥

(सभी जन्यपदार्थों के) कारण ईश्वर को प्रणाम करने के पश्चात् कणाद मुनि को प्रणाम करके 'महोदय' अर्थात् मोक्ष देनेवाले 'पदार्थ-धर्म्मसङ्ग्रह' नाम के ग्रन्थ को लिख रहा हूँ ।

न्यायकन्दली

अनादिनिधनं देवं जगत्कारणमीश्वरम् ।
प्रपद्ये सत्यसङ्कल्पं नित्यविज्ञानविग्रहम् ॥ १ ॥

ध्यानैकतानमनसो विगतप्रचाराः पश्यन्ति यं कमपि निर्मलमद्वितीयम् ।
ज्ञानात्मने विघटिताखिलबन्धनाय तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥ २ ॥

आदि और विनाश से रहित एवं जगत् के निमित्तकारण, तथा जिनके संकल्प कभी विफल नहीं होते, नित्यविज्ञानस्वरूप उन परमेश्वर की शरण को मैं प्राप्त होऊँ ॥ १ ॥

सभी दोषों से रहित एवं सांसारिक सभी वस्तुओं से सर्वथा विलक्षण जिस वस्तु को योगिगण एकाग्र होने पर देखते हैं, सभी बन्धनों से शून्य, ज्ञान-स्वरूप उन भगवान् पुरुषोत्तम को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

न्यायकन्दली

शास्त्रारम्भेऽभिमतां देवतां शास्त्रस्य प्रणेतारं गुरुञ्च श्लोकस्य पूर्वार्द्धेन नमस्यति– प्रणम्येति । **कर्म्मारम्भे हि देवता गुरवश्च नमस्क्रियन्ते इति शिष्टाचारोऽयम् । फलं च नमस्कारस्य विघ्नोपशमः । न तावदयमफलः, प्रेक्षावद्भिरनुष्ठेयत्वात् । अन्यफलोऽपि न कर्म्मारम्भे नियमेनाऽनुष्ठीयेत, अविघ्नेन प्रारीप्सितपरिसमाप्तेस्तदानीमपेक्षितत्वात्, फलान्तरस्यानभिसंहितत्वाच्च ।**

ननु किं नमस्कारादेव विघ्नोपशमः ? उत अन्यस्मादपि भवति ? न तावन्नमस्कारादेवेत्यस्ति नियमः, अस्त्यपि नमस्कारे न्यायमीमांसाभाष्ययोः परिसमाप्तत्वात् । यदा चान्यस्मादपि तदा नियमेनोपादानं निरुपपत्तिकम् । अत्रोच्यते–नमस्कारादेव विघ्नोपशमः, कर्म्मारम्भे सद्भिर्नियमेन तस्योपादानात् । न च न्यायमीमांसाभाष्यकाराभ्यां न कृतो नमस्कारः, किन्तु तत्राऽनुपनिबद्धः ।

शास्त्र के आदि में इष्टदेवता तथा शास्त्र के रचयिता और अपने गुरु कणाद मुनि को ''प्रणम्य'' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्द्ध से नमस्कार किया गया है । किसी कार्य्य के आरम्भ में देवता और गुरु को नमस्कार करना शिष्टजनों का आचार है । इसका फल विघ्नों का नाश (ही) है । यह निष्फल तो हो नहीं सकता, क्योंकि शिष्टों से आचरित है । विघ्नों के नाश को छोड़कर और (स्वर्गादि) फल भी इसके नहीं हो सकते, क्योंकि उस दशा में शास्त्रों के आरम्भ में ही नियम से इसका अनुष्ठान नहीं होता । एवं मङ्गलाचरण के समय "ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो जाय" यही मङ्गलाचरण करनेवाले को अभिप्रेत भी होता है । दूसरे (स्वर्गादि) फल वहाँ उपस्थित भी नहीं हैं ।

(प्रश्न) (१) विघ्नों का विनाश नमस्कार से ही होता है ? या (२) और भी किसी कारण से ? यह नियम तो नहीं है कि नमस्कार से ही विघ्नों का नाश हो, क्योंकि न्यायभाष्य और मीमांसाभाष्य दोनों ही निर्विघ्न समाप्त हैं, यद्यपि उनमें नमस्कार नहीं है । अगर नमस्कार को छोड़कर और भी किसी कारण से विघ्नों का नाश हो सकता है तो फिर ग्रन्थ के आरम्भ में नमस्कार करना ही चाहिए, यह नियम युक्ति-शून्य हो जाता है । (उत्तर) उक्त प्रश्न के समाधान में कहना है कि नमस्कार से ही विघ्नों का नाश होता है, क्योंकि सभी कार्य्यों के आरम्भ में शिष्टों ने नियम से मङ्गलाचरण किया है, न्यायभाष्यकार और मीमांसाभाष्यकार इन दोनों ने मंगलाचरण नहीं किया है, यह बात नहीं है, किन्तु उन लोगों ने अपने मङ्गलाचरण को अपने ग्रन्थों में लिखा नहीं है ।

न्यायकन्दली

कथमेषा प्रतीतिरिति चेत् ? कर्त्तुः शिष्टतयैव । अस्तु वा तावदपरः । प्रेक्षावान् म्लेच्छोऽपि तावद् गुर्वारम्भे कर्म्मणि न प्रवर्त्तते यावदिष्टान्न नमस्यति । यदिमौ परमास्तिकौ पक्षिलशबरस्वामिनौ नानुतिष्ठत इत्यसम्भावनमिदम् ।

अक्षरार्थो व्याह्रियते—प्रणम्येति । **प्रकर्षवाचिना प्रशब्देन भक्तिश्रद्धातिशयपूर्वकं नमस्कारमाचष्टे । स हि धर्म्मोत्पादकस्तिरयत्यन्तरायबीजं नापरः । अत एव कृतनमस्कारस्यापि कादम्बर्य्यादेरपरिसमाप्तिः, विशिष्टनमस्काराभावात् तदवैशिष्ट्यस्य कार्य्यगम्यत्वात् । अत्रैव च नमस्कारः क्रियमाणोऽपि करिष्यमाणपदार्थधर्म्मसङ्ग्रह-प्रवचनापेक्षया पूर्वकाल भावीति क्त्वाप्रत्ययेनाभिधीयते तदेकवाक्यतामापादयितुम्, न त्वस्य पूर्वकालमात्रतामनूद्यते, अनुवादे वा प्रयोजनाभावात्** । हेतुमिति **निर्विशेषणेन हेतुपदेन सर्वोत्पत्तिमतां निमित्ततां प्रतिजानीते** । ईश्वरमिति **विशिष्टदेवताया अभिधानम्, लोके तद्विषयत्वेनैवास्य पदस्य प्रसिद्धेः, लोकप्रसिद्धार्थोपसङ्ग्रहत्वादस्य शास्त्रस्य** । मुनिमिति

(प्रश्न) यह कैसे समझा जाय? (उत्तर) उन लोगों की शिष्टता से ही । अथवा और भी इसका हेतु हो सकता है । किन्तु बुद्धिमान् म्लेच्छ भी इस प्रकार के बड़े कामों में तब तक प्रवृत्त नहीं होता है, जब तक अपने इष्टदेवता को नमस्कार न कर ले । फिर परम आस्तिक पक्षिलस्वामी(वात्स्यायन) और शबरस्वामी ग्रन्थनिर्माण से पूर्व मङ्गलाचरण न करें, यह बात सम्भावना के बाहर है ।

मङ्गल-श्लोक में प्रयुक्त प्रत्येक पद की व्याख्या करते हैं । 'प्रणम्य' पद में प्रयुक्त प्रकर्षवाची 'प्र' शब्द से भक्ति और श्रद्धा से युक्त नमस्कार का बोध होता है । वही (भक्ति-श्रद्धापूर्वक) नमस्कार धर्म्मजनक होकर विघ्नों को मूल सहित नष्ट करता है, भक्ति और श्रद्धा से रहित नमस्कार नहीं । इसीलिए कादम्बरी प्रभृति ग्रन्थों में नमस्कार होने पर भी समाप्ति नहीं हुई । नमस्कार में भक्तिश्रद्धायुक्तत्व का अभाव कार्य्य से ही समझा जा सकता है । नमस्कार भी यद्यपि इस ग्रन्थ में ही किया जा रहा है, तथापि आगे प्रतिपादित की जानेवाली वस्तु की अपेक्षा वह पहले है । मङ्गलग्रन्थ और वस्तुविवेचनग्रन्थ दोनों में एकवाक्यता लाने के अभिप्राय से 'क्त्वा' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है । इससे मङ्गल-ग्रन्थ में विषय-ग्रन्थ से पूर्वकालतामात्र अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि उसका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है । बिना विशेषण के केवल 'हेतु' शब्द से ईश्वर में सभी उत्पत्तिशील वस्तुओं की कारणता समझायी गई है, यहाँ 'ईश्वर' शब्द विशेष प्रकार के देवता का वाचक है, क्योंकि लोक में ईश्वर शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध है एवं यह शास्त्र और लोक में प्रसिद्ध अर्थों का ही विवेचक है । उग्र तपस्या और सभी विषयों के यथार्थ ज्ञान से युक्त जिस व्यक्ति का अज्ञानरूप अन्धकार विशुद्ध आत्मज्ञानरूप

न्यायकन्दली

शुद्धात्मज्ञानप्रदीपक्षपिततमसमत्युग्रतपसं साक्षादशेषतत्वावबोधयुक्तं पुरुषविशेषमाह, इत्थ-म्भूत एवार्थे मुनिशब्दस्य लोके दर्शनात् । कणादमिति तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा । अत एव "निरवकाशः कणान् वा भक्षयतु" इत्युपालम्भस्तत्रभवताम् । इदं हि तस्य नामेति तच्छब्दसङ्कीर्त्तनं कृतं प्रशस्तदेवेन, न त्वियं तदुपनिबन्धवैशिष्ट्यख्यापनाय युक्तिरभिहिता,तदुपनिबन्धवैशिष्ट्यस्य मन्वादिवाक्यवन्महाजनपरिग्रहादेव प्रतीतेः । न चास्य कणादशास्त्रख्यापनेन किञ्चित् प्रयोजनमस्ति ।

तावता तत्पूर्वकस्य ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यसिद्धिरिति चेन्न, अवश्यं तत्पूर्वकत्वेन स्वग्रन्थस्य वैशिष्ट्यसिद्धिः, कर्त्तृदोषेणाऽयथार्थस्यापि निबन्धस्य सम्भावनास्पदत्वात् । सम्भावित-प्रामाण्ये प्रशस्तदेवे पुरुषदोषाणामसम्भव इति चेत्? एवं तर्हि यथा कणाददर्शिनां तच्छिष्याणां पुरुषप्रत्ययादेव तथात्वनिश्चयात् तदुपनिबन्धे प्रवृत्तिः, अपरेषाञ्च पुरुषान्तर-संवादात् । एवं प्रशस्तदेवकृतोपनिबन्धेऽपि तच्छिष्याणामपरेषाञ्च प्रवृत्तिर्भविष्यतीति नार्थस्तत्पूर्वकत्वख्यापनेन ।

प्रदीप से नष्ट हो गया है, वही विशिष्ट पुरुष मुनि शब्द से अभिप्रेत है, क्योंकि इसी प्रकार के अर्थ में मुनि शब्द का प्रयोग लोक में देखा जाता है । उन (शास्त्रकर्त्ता) का यह 'कणाद' नाम रास्ते में गिरे हुए अन्न-कणों को कपोत की तरह चुन-चुन कर आहार करने का कारण है । अत एव उनके खण्डन-ग्रन्थों में जहाँ तहाँ "अब कोई उपाय न रहने के कारण कणों को खाइये" यह आक्षेपयुक्त उक्ति उनके लिए देखी जाती है । यह (कणाद) इनका नाम है, इसीलिए प्रशस्तदेव ने 'कणाद' शब्द का प्रयोग किया है, अपने ग्रन्थ में ख्याति दिखलाने की दृष्टि से नहीं । इस निबन्धरूप वाक्यों के वैशिष्ट्य की प्रतीति मनु इत्यादि स्मृतिकारों के वाक्य की तरह महापुरुषों के इसके अनुसार चलने से ही हो जाती है । यह निबन्ध कणादकृत शास्त्रमूलक है, यह प्रसिद्ध करने का कोई प्रयोजन भी नहीं है ।

(प्र.) इस प्रसिद्धि से ग्रन्थ में उत्कर्ष की सिद्धि होगी । (उ.) यह ठीक है कि इस प्रसिद्धि से ग्रन्थ में उत्कर्ष की सिद्धि होगी, किन्तु कर्त्ता के दोष से उत्कृष्ट निबन्ध में भी वैशिष्ट्य संशयास्पद हो जाता है । (प्र.) प्रशस्तदेव में प्रामाण्य निश्चित है, अतः उनमें पुरुष-दोष की सम्भावना नहीं है । (उ.) अगर ऐसी बात है तो फिर जैसे (कणादरूप) पुरुष में प्रामाण्य-निश्चय के कारण कणाददर्शन के अनुगामी उनके शिष्यों की प्रवृत्ति उनके ग्रन्थ के अध्ययन में होती है, एवं औरों की प्रवृत्ति उन प्रवृत्त पुरुषों की सफलता सुनकर होती है,उसी प्रकार उनके शिष्यों की एवं औरों की भी प्रवृत्ति इस ग्रन्थ के अध्ययन में भी होगी । तस्मात् "यह निबन्ध कणादसूत्रमूलक है" इसे प्रसिद्ध करने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

न्यायकन्दली

किमर्थं तर्हि कणादर्षेर्नमस्कारः ? विघ्नोपशमायेत्युक्तम्, यथेश्वरस्य नमस्कारः । सोऽपि हि न तत्पूर्वकत्वख्यापनाय, व्यभिचारात् । यस्य हि या देवता स तां प्रणम्य सर्वकर्म्माणि प्रस्तौति, न कर्म्मणस्तत्पूर्वकत्वेन, भक्तिश्रद्धामात्रनिबन्धनत्वान्नमस्कारस्य । यथा मीमांसावार्त्तिककृता नमस्कृतः सोमावतंसः । न च तत्पूर्विका मीमांसेत्यस्ति प्रवादः । अन्विति **ईश्वरप्रणामादनन्तरतां कणादप्रणामस्य परामृशति, ईश्वरमादौ प्रणम्य ईश्वर-प्रणामादनु पश्चात् कणादं प्रणम्येत्यर्थः ।**

सम्बन्धप्रयोजनयोरनभिधाने श्रोता न प्रवर्त्तते, प्रयोजनाधिगतिपूर्वकत्वात् सर्व-प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः । तस्याप्रवृत्तौ च शास्त्रं कृतमकृतं स्यात् । अतः शास्त्रारम्भमादधानः प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं तस्य सम्बन्धं प्रयोजनञ्चादौ श्लोकस्योत्तरार्द्धेन कथयति— पदार्थधर्म्मेत्यादि । **पदार्था द्रव्यादयः षट्, तेषां धर्म्माः साधारणासाधारणस्वभावाः संगृह्यन्ते संक्षेपेणाभिधीयन्तेऽनेनेति पदार्थधर्म्मसङ्ग्रहः ।** प्रवक्ष्यत **इति । पदार्थधर्म्माणां**

(प्र.) फिर कणाद ऋषि को ही नमस्कार करने की क्या आवश्यकता है ? (उ.) यह कहा जा चुका है कि ईश्वर को नमस्कार करने की तरह कणद ऋषि को नमस्कार करना भी विघ्नों के नाश के लिए ही है, ग्रन्थ में इस प्रसिद्धि के लिए नहीं कि यह ग्रन्थ कणादकृत-ग्रन्थमूलक है, क्योंकि यह नियम व्यभिचरित है । जिसके जो देवता हैं, उनको नमस्कार करके ही वह व्यक्ति अपने सभी कामों को आरम्भ करता है । (कोई भी) "सभी काम उस देवतामूलक हैं" इस अभिप्राय से अपने इष्टदेवता को प्रणाम नहीं करता है । नमस्कार तो केवल भक्ति-श्रद्धामूलक है । जैसे मीमांसावार्त्तिककार (कुमारिलभट्ट) ने सोमावतंस (शिव) को नमस्कार किया है, किन्तु इससे कोई यह नहीं कहता कि मीमांसा सोमावतंसकृत है । 'अन्वतः' यह पद "ईश्वरप्रणाम के बाद कणाद ऋषि को प्रणाम करते हैं" इस आनन्तर्य्य को दिखाता है । अभिप्राय यह है कि पहले ईश्वर को प्रणाम कर 'अनु' अर्थात् उसके बाद कणाद ऋषि को प्रणाम करके इस ग्रन्थ को आरम्भ करते हैं ।

(वक्तव्य विषय के साथ ग्रन्थ का) सम्बन्ध और (ग्रन्थ सुनने के) प्रयोजन को न कहने से श्रोता (ग्रन्थ को सुनने में) प्रवृत्त नहीं होते हैं, क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति प्रयोजन को बिना समझे हुए किसी भी काम में प्रवृत्त नहीं होते। वे अगर इस शास्त्र को पढ़ने या सुनने में प्रवृत्त न होंगे तो इसका निर्माण होना न होने के बराबर होगा । इसलिए शास्त्र को आरम्भ करते हुए (प्रशस्तदेव ने) बुद्धिमान् व्यक्तियों की प्रवृत्ति में कारणीभूत 'सम्बन्ध' और 'प्रयोजन' इन दोनों को 'पदार्थधर्म्मसङ्ग्रहः' इत्यादि कथित श्लोक के उत्तरार्द्ध से दिखलाते हैं । जिसमें पदार्थ अर्थात् द्रव्यादि छः वस्तुएँ और उनके साधारण और असाधारण स्वभाव 'संगृहीत' हों अर्थात् संक्षेप से कहे जायँ, यही "पदार्थधर्म्मसङ्ग्रहः" शब्द का अर्थ है । 'प्रवक्ष्यते' इस पद से "मैं पदार्थों और

न्यायकन्दली

संक्षेपेणाभिधायको ग्रन्थः प्रकृष्टो मया वक्ष्यत इति ग्रन्थकर्त्तुः प्रतिज्ञा । ग्रन्थस्य चेयं प्रकृष्टता यदन्यत्र ग्रन्थे विस्तरेणेतस्ततोऽभिहितानामिहैकत्र तावतामेव पदार्थधर्म्माणां ग्रन्थे संक्षेपेण कथनम् । एतदेव चास्यारम्भः सत्स्वप्युपनिबन्धान्तरेषु पदार्थधर्म्माणां सङ्ग्रहः पदार्थधर्म्मप्रतीतिहेतुः । पदार्थधर्म्मप्रतीतिश्च न पुरुषार्थः, सुखदुःखाप्तिहान्योः पुरुष-प्रयोजकत्वात् । तस्मादयमपुरुषार्थहेतुत्वादनुपादेय एवेत्याशङ्क्य तस्य पुरुषार्थफलतां प्रतिपादयितुमुक्तं महोदय **इति । महानुदयो महत्फलमपवर्गलक्षणं यस्मात् सङ्ग्रहादसौ महोदयः सङ्ग्रहः । एतेन सङ्ग्रहस्य पदार्थधर्म्मैः सह वाच्यवाचकभावः, तत्प्रतिपत्त्या च महोदयेन सह साध्यसाधनभावः सम्बन्धो दर्शितः ।**

ननु भोः क एष महोदयो नाम ?

(१) सवासनसमुच्छेदो ज्ञानोपरम इत्येके । तथा च पठन्ति—न प्रेत्य संज्ञास्तीति । तदयुक्तम्, सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छेदाय प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, बन्धविच्छेदपर्य्यायस्य मुक्तिशब्दस्यातदर्थत्वाच्च ।

उनके धर्म्मों को संक्षेप में प्रतिपादित करनेवाले उत्तम ग्रन्थ को कहूँगा" ग्रन्थकार की ऐसी प्रतिज्ञा प्रतीत होती है । इस ग्रन्थ में और ग्रन्थों से उत्तमता यही है कि अन्य ग्रन्थों में जहाँ तहाँ विस्तृत रूप से कहे गये पदार्थ इस ग्रन्थ में एक ही स्थान में संक्षेप से कहे गये हैं । इसीलिए और निबन्धों के रहते हुए भी इसकी रचना सार्थक है । (प्र.) "पदार्थधर्म्माणां सङ्ग्रहः" इस वाक्य का अर्थ है, पदार्थों और उनके धर्म्मों की सम्यक् प्रतीति का कारण, किन्तु पदार्थों की या उनके धर्म्मों की सम्यक् (यथार्थ) प्रतीति तो पुरुष का अभीष्ट नहीं है, क्योंकि पुरुष (जीव) का यथार्थ अभीष्ट तो सुख प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति ये ही दोनों हैं । तस्मात् यह ग्रन्थ पुरुष के अभीष्ट का सम्पादक न होने के कारण अनुपादेय ही है । यही प्रश्न (मन में) रखकर (इसके उत्तर स्वरूप) "यह ग्रन्थ पुरुष के उक्त प्रयोजन का सम्पादक है" यह कहने के लिए "महोदयः" यह पद लिखा है । "महान् उदय" अर्थात् अपवर्ग (मोक्ष) रूप महान् फल जिस सङ्ग्रह से हो वही "महोदय सङ्ग्रह" है । इससे इस 'सङ्ग्रह' रूप ग्रन्थ का पदार्थ और उनके धर्म्मों के साथ कार्य्यकारणभाव सम्बन्ध दिखलाया गया है ।

(प्र.) यह महोदय नाम की कौन वस्तु है ?

(१) कोई (बौद्धविशेष) कहते हैं कि वासनारूप मूलसहित ज्ञान का नाश ही 'महोदय' (निर्वाण) है । इसके प्रमाण में वे उपनिषद् का यह वाक्य उद्धृत करते हैं– "न प्रेत्य संज्ञास्ति," अर्थात् मरने के बाद "संज्ञा" (चेतना) नहीं रहती है । (उ.) किन्तु यह पक्ष अयुक्त है, क्योंकि (प्रश्नकर्त्ता के मत से आत्मा ज्ञानरूप है) आत्मा ही

न्यायकन्दली

(२) निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोदयो महोदय इत्यपरे । तदयुक्तम्, कारणाभावे तदनुपपत्तेः । भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते, स च स्थिरैकाश्रयाभावाद्विशेषानाधायकः प्रतिक्षणमपूर्ववदुपजायमानो निरन्वयविनाशी लङ्घनाभ्यासवदनासादितप्रकर्षो न स्फुटाभज्ञानजननाय प्रभवतीत्यनुपपत्तिरेव तस्य । समलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदृशारम्भणशक्तेरसदृशारम्भं प्रत्यशक्तेश्चाकस्मादनुच्छेदात्, किञ्च पूर्वे

सब से प्रिय है, उसका विनाश वस्तुतः आत्मा का विनाश ही है, तो अपने सब से अधिक प्रिय वस्तु का नाश करने के लिये कौन बुद्धिमान् प्रवृत्त होगा? और यह बात भी है कि महोदय[1] का पर्य्याय 'मुक्ति' शब्द और 'बन्धविच्छेद' शब्द दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं ।

(२) कोई कहते[2] हैं कि सभी वासनाओं के नष्ट हो जाने पर विषयरूप आकार के मालिन्य से रहित ज्ञान की उत्पत्ति ही 'महोदय' है । किन्तु यह पक्ष भी कारण की अनुपपत्ति से अयुक्त है, क्योंकि इस पक्ष के मानने वाले भावना के 'प्रचय' अर्थात् बार-बार होने को इसका कारण मानते हैं । (किन्तु इस मत में) सभी वस्तु क्षणिक हैं । वस्तुओं का निरन्वय विनाश उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में ही कूदने के अभ्यास की तरह हो जाता है, और दूसरे क्षण में बिलकुल अपूर्व अन्य व्यक्ति की उत्पत्ति होती है । जब पहले विज्ञान से आगे के विज्ञान में कोई उपकार नहीं पहुँच सकता है तो 'स्फुटाभ' ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होगी । इस प्रकार इस पक्ष में निर्वाण ही अनुपपन्न हो जाएगा । और भी बात है–'मल' अर्थात् बन्ध सहित चित्त (ज्ञान)-क्षण अपने उत्तर क्षण में अपने सदृश ही चित्त की उत्पत्ति का कारण हो सकता है, क्योंकि सदृशारम्भकत्व ही उसका स्वभाव है । घटविज्ञान दूसरे घट-विज्ञान को ही उत्पन्न कर सकता है, पटविज्ञान को नहीं, नीलघटविज्ञान को भी नहीं । तब घटादि विषयरूप मलसहित विज्ञान अपने से विसदृश शुद्ध (निर्मल) विज्ञानरूप मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है ? विज्ञान का सदृशारम्भकत्व तो नष्ट नहीं हो सकता । दूसरी बात यह है कि प्रत्येक क्षण अपने स्वभावसिद्ध निर्वाण से

---

1. अभिप्राय यह है कि जैसे कोई अपराधी राजा की आज्ञा से बँध जाता है और उसके उस बन्धन के खुल जाने पर 'वह मुक्त हो गया' यह व्यवहार होता है । इस व्यवहार के लिए उस आदमी के मरने की आवश्यकता नहीं होती । वह आदमी रहता ही है, उसका बन्धन भर खुल जाता है । वैसे ही 'यह जीव मुक्त हो गया' इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि वह स्वयं ही नष्ट हो गया । उससे इतनी ही प्रतीति होती है कि उसके मिथ्याज्ञानादि बन्धन खुल गये हैं । इसलिए 'महोदय' शब्द का अर्थ आत्मा से अभिन्न ज्ञान का उच्छेद कदापि नहीं हो सकता ।
2. अभिप्राय यह है कि इस मत में वास्तविक सत्ता ज्ञान की ही है । अन्य घटादि विषय 'संवृति' या अज्ञान से कल्पित हैं (वेदान्ती लोग जिनकी व्यावहारिक सत्ता मानते हैं) । वास्तविक सत्ताविशिष्ट ज्ञान निर्विकल्पक है । उसमें घटादि विषयों का

न्यायकन्दली

क्षणाः स्वरसनिर्वाणाः, अयमपूर्वो जातः, सन्तानश्चैको न विद्यते, बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ विषयभेदेन वर्तेते, य एव च प्रवर्त्तते प्राप्य च निवृत्तो भवति ।

(३) प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनादुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इत्यन्ये । तन्न, प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात् । पुरुषार्थनिबन्धना तस्याः प्रवृत्तिः, विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः । तस्यां सञ्जातायां सा निवर्त्तते कृतकार्य्यत्वादिति चेन्न, अस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्वाभावात् । यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्त्तते, तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्त्तिष्यते स्वभावस्यानपायित्वात् ।

(४) नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरित्यपरे। तदप्यसारम्, अग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । तस्मादहितनिवृत्तिरात्यन्तिकी महोदय इति युक्तम् ।

युक्त है (क्षण शब्द से क्षणिक-विज्ञान विवक्षित है), यह विशुद्ध विज्ञान बिलकुल अपूर्व ही है । संतान नाम की कोई विलक्षण वस्तु नहीं है । यह नियम है कि जो बद्ध रहता है वही मुक्त होता है । एवं यह भी स्वाभाविक है कि जो प्रवृत्त होता है वही प्राप्त करके निवृत्त होता है ।

(३) कोई कहते हैं कि जब प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान से प्रकृति अपने सृष्ट्यादि कार्यों से निवृत्त हो जाती है, उस समय पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही 'मुक्ति' है । किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तिस्वभाववाली प्रकृति कभी उससे उदासीन नहीं हो सकती । (प्र.) पुरुष के प्रयोजन-सम्पादन के लिए ही प्रकृति प्रवृत्त होती है, एवं प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान ही पुरुष का परम प्रयोजन है । उसके सम्पादित हो जाने पर वह कृतकार्य्य हो जाती है और फिर कार्य्य में प्रवृत्त नहीं होती । (उ.) किन्तु उक्त कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृति जड़ है । उसमें विचार कर काम करने की शक्ति नहीं है, (अतः) वह जिस प्रकार शब्दविज्ञान के उत्पन्न होने पर भी फिर उसके लिए प्रवृत होती है, उसी प्रकार 'विवेकख्याति' अर्थात् प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी फिर उसके लिए प्रवृत्त होगी । (तस्मात् इस पक्ष में अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा) ।

(४) यह भी कोई कहते हैं कि नित्य एवं निरतिशय (सर्वोत्कृष्ट) सुख की अभिव्यक्ति ही 'मुक्ति' है । इस मत के ठीक न होने की युक्ति आगे लिखी जाएगी । तस्मात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही 'मुक्ति' है ।

सम्बन्ध ही सुख और दुःखजनक होने के कारण 'बन्ध' है अतः उक्त विशुद्धज्ञान में घटादि विषयों के सम्बन्ध का उच्छेद ही मुक्ति है । यह ध्यान में रखना चाहिए कि आत्माभिन्न ज्ञानोच्छेद, ही मुक्ति है, इस कथित पक्ष में नौ दोष दिखलाये गए हैं, ये दोष इस पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि इस पक्ष में मुक्तावस्था में ज्ञानरूप आत्मा का नाश नहीं होता, किन्तु उसमें घटादि विषयों के सम्बन्ध का ही नाश होता है ।

न्यायकन्दली

तस्याः सद्भावे किं प्रमाणम् ? दुःखसन्ततिर्धर्म्मिणी अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वाद्दीपसन्ततिवदिति तार्किकाः। तदयुक्तम्, पार्थिवपरमाणुरूपादिसन्तानेन व्यभिचारात् । "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इत्यादयो वेदान्ताः प्रमाणमिति तु वयम् । भूतार्थानामेषामप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेन्न, प्रत्यक्षेणानैकान्तिकत्वात् । अथ मतं भूतार्थप्रतिपादकं वचनमनुवादकं स्यात्, ततश्चाप्रामाणत्वं प्रमाणान्तरसापेक्षत्वात्, प्रमायां साधकतमत्वाभावादिति ।

(प्र.) इसमें क्या प्रमाण है कि दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में तार्किक लोग यह अनुमान उपस्थित करते हैं कि दु:खों की सन्तति (समूह) का अत्यन्त विनाश होता है, क्योंकि उसमें सन्ततित्व है, जैसे दीपसन्तति । किन्तु अत्यन्त विनाश के साधन के लिए जिस 'सन्ततित्व' हेतु को उपस्थित किया गया है, वह पार्थिव परमाणु के रूपादि में व्यभिचरित है[1] । इसलिए हम लोग कहते हैं कि "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत:" इत्यादि वेदान्त ही (दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति में) प्रमाण हैं । (प्र.) भूत अर्थात् निष्पन्न विषय के अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त के ये वाक्य प्रमाण नहीं हैं । (उ.) ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस दशा में प्रत्यक्ष[2] प्रमाण में व्यभिचार होगा । अगर ऐसा कहें कि भूत अर्थ के प्रतिपादक वचन अनुवादक हैं, अतः वेदान्तों में दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा के कारण अप्रामाण्य की सिद्धि होगी । क्योंकि प्रमा का जो 'साधकतम' होगा, वही 'करण' होने से प्रमाण होगा । अनुवादक वाक्य अपने अर्थ के

---

1. अभिप्राय यह है कि वैशेषिक पार्थिव परमाणु को नित्य मानते हुए भी उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को अनित्य मानते हैं । क्योंकि पाक से उनका परिवर्त्तन घटादि स्थूल वस्तुओं में प्रत्यक्ष सिद्ध है । किन्तु उनके मूल कारण परमाणुओं में रूपादि के परिवर्त्तित हुए बिना घटादि में उनका परिवर्त्तन सम्भव नहीं है । अत: यह मानना पड़ेगा कि पार्थिव परमाणु के रूपादि पाक से परिवर्त्तित होते हैं । रूपादि का यह परिवर्त्तन पहले रूपादि का नाश और दूसरे रूपादि की उत्पत्ति के सिवाय और कुछ नहीं है । किन्तु परमाणु तो नित्य है, उसमें सभी समय कोई न कोई रूपादि अवश्य रहते हैं । तस्मात् एक ही परमाणु में नानाजातीय रूपादि की सत्ता माननी पड़ेगी । इस प्रकार पार्थिव परमाणुगत नानाजातीय रूपादि का समूह मानना पड़ेगा । किन्तु उस समूह का कभी अत्यन्त विनाश नहीं होता है, अत: उसमें कथित 'सन्ततित्व' हेतु है । तस्मात् उक्त 'सन्ततित्व' हेतु व्यभिचार-दुष्ट है ।
2. प्रत्यक्ष निष्पन्न वस्तु का ही होता है । अत: 'वेदान्ता अप्रमाणम्, भूतार्थविषयकत्वात्' अर्थात् वेदान्त अप्रमाण हैं, क्योंकि वे भूतार्थ के प्रतिपादक हैं । इस अनुमान का भूतार्थप्रतिपादकत्व हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण में है, अथ च उसमें अप्रामाण्यरूप साध्य नहीं है । अत: उक्त हेतु व्यभचरित होने के कारण वेदान्तों में अप्रामाण्य का साधक नहीं हो सकता ।

न्यायकन्दली

न सिद्धार्थप्रतिपादकत्वमनुवादकत्वम्, प्रत्यक्षस्याप्यनुवादकत्वप्रसङ्गात् । किन्त्वधिगताधिगन्तृत्वम्, ईदृशश्च वेदान्तानामर्थो यदयं भूतोऽपि प्रत्यक्षादेः प्रमाणान्तरस्य न विषयः, कुतस्तेषामनुवादकता कुतश्च सापेक्षत्वम्, स्मृतेरिव तेभ्यः पूर्वाधिगमसंस्पर्शेनार्थप्रतीतेरभावात् । अत एव पुरुषवाक्यमपि प्रमाणम् । न हि तदपि वक्तृप्रामाण्योत्थापनेनार्थं प्रतिपादयति, किन्त्वनपेक्षिततद्व्यापारं स्वयमेव, उत्पत्तिमात्र एव तदपेक्षणात् । स्वाभाविकी हि पदानां पदार्थपरता, स्वाभाविकी च पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावतामितरेतरान्वययोग्यता । तेन यथा वेदे प्रमाणान्तरानपेक्षः शब्दः, शब्दसामर्थ्यादेवार्थप्रत्ययः, एवं लोकेऽपि ये लौकिका वैदिकास्त एव चार्था इति न्यायेनोभयत्रापि शब्दशक्ते-

बोध का 'साधकतम' अर्थात् कारण नहीं है[1] । (उ.) किन्तु यह कथन भी असङ्गत ही है क्योंकि भूतार्थ का प्रतिपादक होना ही अनुवादक होना नहीं है । (ऐसा मान लेने पर) प्रत्यक्ष प्रमाण भी अनुवादक होगा । किन्तु ज्ञात विषय का ज्ञापक ही अनुवादक होता है । वेदान्तों से प्रतिपादित होनेवाले अर्थ निष्पन्न होने पर भी प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विषय नहीं हैं । तब वेदान्तों में प्रमाणान्तरसापेक्षत्व कैसा ? और अनुवादकता कैसी ? क्योंकि वेदान्त वाक्यों से स्मरण की तरह अर्थों की प्रतीति पूर्वानुभव से नहीं होती[2] । इसीलिए पुरुष के वाक्य भी प्रमाण हैं । वे भी अपने अर्थविषय बोध के उत्पादन में वक्ता के प्रामाण्य-ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते । अपनी उत्पत्ति में ही वक्ता की अपेक्षा रखते हैं । किन्तु सुनने के बाद ही वक्ता के प्रामाण्य-ज्ञानरूप व्यापार की अपेक्षा नहीं रखते हुए ही केवल अपने सामर्थ्य से अपने अर्थ का बोध करा देते हैं । पदों में अपने अर्थों के बोध के उत्पादन की स्वाभाविक 'शक्ति' है । अतः जैसे वेदों में दूसरे प्रमाणों की सहायता के विना ही केवल उन शब्दों के सामर्थ्य से ही अर्थ का बोध होता है, वैसे ही लोक में भी– ''जो पद लोक में जिस अर्थ में प्रयुक्त है, सम्भव होने पर उस पद से वेद में भी उसी अर्थ का बोध होता है'' (शाबरभाष्य), इस न्याय से लौकिक और वैदिक

1. अनुवादक वाक्य का प्रसिद्ध उदाहरण है–''नद्यास्तीरे फलानि सन्ति'' । इस वाक्य में प्रामाण्य तभी होता है, जब कि नदी किनारे के फलों को प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा जानने वाले पुरुष से वह प्रयुक्त हुआ हो । अतः उस बोध का 'साधकतम' अर्थात् करण वही प्रमाण होगा, जिससे प्रयोक्ता को उक्त प्रमा का ज्ञान हुआ हो । अतः उक्त वाक्य अपने अर्थविषयक बोध का कारण होने पर भी साधकतम 'करण' रूप प्रमाण नहीं है । तस्मात् अनुवादक वाक्य दूसरे प्रमाण से सापेक्ष रहने के कारण प्रमाण नहीं है ।
2. स्मृति (स्मरण) के प्रति पूर्वानुभव कारण है । स्मृति का प्रमात्व उसके कारणीभूत पूर्वानुभव के प्रमात्व के अधीन है । अतः संस्कार स्मृति का कारण होते हुए भी

न्यायकन्दली

रविशेषात् । वक्तृप्रामाण्यानुसरणन्तु स्वरूपविपर्य्यासहेतोर्दोषस्याभावावगमाय । प्रत्यक्ष इव स्वकारणशुद्धेरनुगमो विपर्य्यासशङ्कानिरासार्थ इत्येषा दिक् । विस्तरस्त्वद्वयसिद्धौ द्रष्टव्यः ।

ननु कार्य्येऽर्थे शब्दस्य प्रामाण्यं न स्वरूपे, वृद्धव्यवहारेष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्य्यान्वितेषु पदानां शक्त्यवगमात् । अतो वेदान्तानां न स्वरूपपरतेति

दोनों शब्दों के सामर्थ्य में कोई अन्तर नहीं है । (प्रमात्व के) स्वरूप के विपर्य्यासरूप अप्रमात्व के प्रयोजक दोषों के अभाव को जानने के लिए ही लौकिक वाक्यों में वक्ता के प्रामाण्य का अनुसन्धान किया जाता है । जैसे प्रत्यक्ष में स्वरूप विपर्यास, अर्थात् अप्रमात्व की शङ्का को हटाने के लिए उसके कारणों की शुद्धि का अनुसन्धान किया जाता है । यह केवल इस विषय का दिग्दर्शन मात्र है, इसका विशेष विचार हमारे 'अद्वयसिद्धि' नामक ग्रन्थ में देखना चाहिए ।

(प्र.) कोई (प्रभाकर) कहते हैं कि कार्य्यत्वविशिष्ट अर्थ में ही शब्द की शक्ति है । 'स्वरूप' अर्थात् कार्य्यत्व से असम्बद्ध केवल अर्थ में ही नहीं । क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से वृद्धों से व्यवहृत कार्य्यत्वविशिष्ट अर्थ में ही शक्ति गृहीत होती है[1] । अतः वेदान्त वाक्य भी स्वरूप अर्थात् कार्य्यत्व से असम्बद्ध अर्थ के बोधक नहीं हैं[2]।

साधकतम करण नहीं है। एवं यथार्थानुभव से उत्पन्न स्मृति अप्रमा न होती हुई भी प्रमाणजन्य न होने के कारण प्रमा नहीं है । जिस यथार्थानुभव से उत्पन्न होने के कारण जिस स्मृति में प्रमात्व की सम्भावना है, उस यथार्थ पूर्वानुभव का करण उस स्मृतिविषय-विषयक उसी यथार्थानुभव को उत्पन्न करने के कारण तज्जनित स्मृति की उत्पत्ति के समय में ज्ञातज्ञापक हो जाता है सुतरां उससे स्मृति में प्रमात्व की सम्भावना नहीं है । तस्मात् उक्त स्मृति में अयथार्थभिन्नत्वप्रयुक्त कदाचित् प्रमात्व का गौण व्यवहार हो भी,तथापि उसके करण में प्रमाणत्व के व्यवहार की सम्भावना नहीं है ।

1. शब्द की शक्ति को ग्रहण करने की स्वाभाविक रीति यह है कि जिस स्थल में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहता है कि 'गामानय', अर्थात् गाय ले आओ, अथवा गां बन्धय अर्थात् गाय को बाँध दो । तब वह व्यक्ति गाय ले आता है या बाँध देता है । अगर उस स्थान पर कोई ऐसा व्यक्ति खड़ा रहता है जिसे 'आनय' या 'बन्धय' रूप क्रियापद के अर्थ का ज्ञान है; किन्तु उस क्रिया के कर्म के बोधक 'गाम्' इस पद के अर्थ का ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति अनायास ही जिस व्यक्ति को लाया या बाँधा गया देखता है, उस व्यक्ति को गोपद का अर्थ समझ लेता है । तब फिर दूसरे समय आनयनादि कार्य्यों को छोड़कर केवल 'गो' प्रभृति अर्थों में गोपद की शक्ति कैसे गृहीत हो सकती है ?
2. अर्थात् जिस ''अशरीरम्'' इत्यादि वेदान्तवाक्य को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष

न्यायकन्दली

चेत्, वान्तमिदम्, स्वरूपपरस्यापि वाक्यस्य लोके प्रयोगदर्शनात् । यथा परिणामसुरसमाम्रं, परिणतिविरसञ्च पनसमिति । अत्रापि प्रवृत्तिनिवृत्त्योरुपदेशः, एवं हि वाक्यार्थः परिणाम-सुरसमाम्रं भक्षय, परिणतिविरसञ्च मा भक्षयेति । न, वैयर्थ्यात् । सुरसत्वप्रतीत्यैव स्वयम-भिलाषात् पुरुषः प्रवर्त्तते, विरसत्वप्रतीत्यैव द्वेषान्निवर्त्तते । का तत्र वस्तुसामर्थ्य-भाविन्युपदेशापेक्षा, अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवद्भवति । अथ प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभिसन्धानेनास्य वाक्यस्य प्रयोगात् तादर्थ्यमिति चेत्, अस्ति प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थता, किन्तु जनकत्वान्न तु प्रतिपादकत्वेन । यस्माद् भूतार्थविषय एव प्रामाण्यम् । यदि तु प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभिसन्धानेन वाक्यप्रयोगात् तयोरप्रतीयमानयोरपि शाब्दता, आम्रभक्षणोत्तरकालीना तृप्तिर्धातुसाम्यञ्च

(उ.) किन्तु यह कथन भी सारशून्य है, क्योंकि 'स्वरूप' कार्यत्व से असम्बद्ध अर्थ के बोधक वाक्य से भी लोक में अर्थ-बोध देखा जाता है । जैसे "परिणतिसुरसमाम्रम्, परिणतिविरसञ्च पनसम्" (आम परिणाम में सुखद है और कटहल परिणाम में दुःखद है) इत्यादि वाक्यों से अर्थ-बोध होता है । (प्र.) यहाँ पर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति ही वक्ता के उन वाक्यों से अभीष्ट है, तदनुसार उन दोनों वाक्यों का अर्थ यह है कि "आम खाओ, क्योंकि वह परिणाम में सुख देनेवाला है,और कटहल मत खाओ, क्योंकि वह अन्त में दुःख देनेवाला है" । (उ.) नहीं, यह कल्पना व्यर्थ है । वाक्यों को प्रवृत्त्यर्थक या निवृत्त्यर्थक न मानने पर भी आम में परिणामतः सुख देने की कारणता का ज्ञान ही पुरुष को आम खाने में प्रवृत्त करेगा । एवं कटहल में परिणामतः दुःख देने की कारणता का ज्ञान ही पुरुष को कटहल खाने से निवृत्त करेगा । फिर वस्तुओं के सामर्थ्य से ही उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियों एवं निवृत्तियों में उपदेश की आवश्यकता ही क्या है ? क्योंकि और सभी प्रमाणों से अज्ञात वस्तु को समझाना ही शास्त्र (शब्द) का असाधारण प्रयोजन है । (प्र.) "लोग आम खाने में प्रवृत्त हों और कटहल खाने में नहीं" यह मन में रखकर ही वक्ता उन वाक्यों का प्रयोग करते हैं, अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों उन वाक्यों के अर्थ हैं । (उ.) यह ठीक है कि उन वाक्यों से प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है किन्तु इससे केवल यही सिद्ध होता है कि वे वाक्य क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारण हैं । इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि वे दोनों उन दोनों वाक्यों के प्रतिपाद्य भी हैं । क्योंकि निष्पन्न अर्थों में ही शब्दों की शक्ति है । (अगर प्रवृत्ति और निवृत्ति के अभिप्राय से उन वाक्यों का प्रयोग किया गया है, केवल इसीलिए प्रवृत्ति और निवृत्ति को उन वाक्यों का अर्थ मान लिया जाय तो) आम के खाने से जो तृप्ति होती है या शरीर का उपकार होता है, उनकी प्रतिपादकता भी उस वाक्य में माननी पड़ेगी । (किसी प्रकार की

में प्रमाण माना है, उसका भी वह निष्पन्न अर्थ नहीं है। उसका भी धार्य्यत्वविशिष्ट कोई दूसरा ही अर्थ है। जिससे कि आपकी इच्छा पूर्ण नहीं होगी ।

न्यायकन्दली

वाक्यार्थौ स्याताम्, प्रत्यक्षस्य च काञ्चिदर्थक्रियामभिसन्धायोपलिप्सिते विषये प्रवृत्तस्यार्थक्रिया प्रमेया स्यात् । जनकत्वेन प्रवृत्तिपरत्वं वेदान्तानामपि विद्यते, तेभ्यः स्वरूपप्रतीतौ ध्यानाभ्यासादिप्रवृत्तस्य विगतविविधविकल्पविशदात्मज्ञानोदये सत्यपवर्गस्य भावात् । न चेदमावश्यकं यत्प्रवृत्तिनिवृत्त्यवधिकः प्रमाणव्यापार इति, तयोः पुरुषेच्छाप्रतिबद्धयोरनुत्पादेऽपि वस्तुपरिच्छेदमात्रेणापेक्षाबुद्धेः पर्य्यवसानात् । न च कार्य्यान्वित एवार्थे पदानां शक्तिः, अनन्वितेऽपि व्युत्पत्तिदर्शनात् । यथेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीति वर्त्तमानापदेशे प्रसिद्धेतरपदार्थोऽप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्तु यं मधुपानकर्त्तारं पश्यति तं मधुकरवाच्यत्वेन प्रत्येति । अत्राप्यस्ति पारम्पर्येण कार्य्यान्वयो वाक्यप्रयोक्तुः, वृद्धव्यवहारे कार्य्यान्वितपदार्थे मधुकरपदस्य व्युत्पत्तिभावादिति चेत् ? न, अनिश्चयात् । वाक्यप्रयोक्तुः किं

कारणता से ही अगर प्रतिपादकता मान ली जाय तो) मन में किसी कार्य्यविशेष की इच्छा से उत्पन्न तत्प्रयोजकीभूत किसी विषय के प्रत्यक्ष का वह विशेष कार्य्य प्रमेय होगा । कारणत्व रहने से ही अगर प्रतिपादकत्व मान लिया जाय तो फिर वेदान्त-वाक्य भी प्रवृत्ति के वाचक ही हैं । क्योंकि उनसे भी स्वरूप अर्थविषयक बोध के बाद ध्यान, अभ्यासादि में प्रवृत्त पुरुष को अनेक प्रकार के विकल्पों से रहित आत्मा के यथार्थज्ञान के उदय से अपवर्ग की प्राप्ति अवश्य होती है । यह आवश्यक नहीं है कि (शब्द) प्रमाण के व्यापार की अवधि प्रवृत्ति और निवृत्ति ये ही दो मानी जाएँ । क्योंकि पुरुष की इच्छा से नियमतः प्रवृत्ति और निवृत्ति की उत्पत्ति न होने पर भी वस्तुओं का 'परिच्छेद' अर्थात् इष्टसाधकत्वादि का परिचय देकर के ही अपेक्षा-बुद्धि चरितार्थ हो जाती है[1] ।

यह भी नियम नहीं है कि कार्य्य में अन्वित अर्थों में ही शब्दों की शक्ति है; क्योंकि कार्य में अनन्वित अर्थों में भी शब्दों की शक्ति देखने में आती है । जैसे "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति" (अर्थात् फूले कमल के बीच "मधुकर" मधु को पीता है) इत्यादि वाक्य के 'मधुकर' शब्द से जिस व्यक्ति को पहले से (उक्त वृद्धव्यवहार की रीति से) 'मधुकर' पद के अर्थ का ज्ञान नहीं भी है, वह भी वर्त्तमानकालिक उस मधुपान क्रिया में रत भ्रमर को 'मधुकर' शब्द का वाच्य समझ लेता है । (प्र.) बोद्धा को कार्य्यान्वित अर्थ में शक्ति गृहीत न होने पर भी वक्ता को तो कार्य्य में अन्वित अर्थ में ही शक्ति गृहीत है, क्योंकि उसका शक्तिज्ञान वृद्धव्यवहारमूलक ही है । अतः साक्षात् न सही, परम्परा से मधुकर शब्द की शक्ति कार्य्यत्वविशिष्ट अर्थ में ही है । (उ.) यह आक्षेप भी अनिश्चय के कारण असङ्गत है;

1. पहले प्रमाण से यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है । तदनन्तर उस ज्ञात ईप्सित विषय की इच्छा उत्पन्न होती है, अथवा द्वेष उत्पन्न होता है। ईप्सित

न्यायकन्दली

वृद्धव्यवहारात् कार्य्यान्वितेऽर्थे व्युत्पत्तिरभूत् ? किमुत प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्येनोपदेशाद्वा स्वरूपेऽर्थ इति निश्चयो नास्ति,इदम्प्रथमताया अभावात् । किञ्च प्रयोक्तुरन्विते व्युत्पत्तिः श्रोतुश्चानन्विते, अन्यव्युत्पत्त्याऽन्यो न शब्दार्थं प्रत्येति, ततश्च मधुकरशब्दस्यानन्वितार्थत्व-मन्वितार्थत्वञ्च पुरुषभेदेनेत्यर्द्धवैशसमापतितम् । क्रियाकाङ्क्षानिबन्धनः पदार्थानामन्योन्य-सम्बन्धो नाख्यातपदरहितेषु वेदान्तवाक्येषु भवितुमर्हतीति चेत् ? न तावत्सर्वत्र क्रियाया अभावः, यत्र तु नास्ति तत्रोपसंसर्गपरतया पदैरभिहितानां पदार्थानामेव योग्यतासन्निधिमता-मन्योन्याकाङ्क्षानिबन्धनः सम्बन्धः ।तथा च 'काञ्च्यामिदानीं त्रिभुवनतिलको राजा' इत्यत्रापि

क्योंकि वाक्य के प्रयोक्ता को वृद्ध-व्यवहार से कार्य्यत्वविशिष्ट अर्थ में शक्ति गृहीत हुई थी, या प्रसिद्धपद के सामानाधिकरण्य के उपदेश से 'स्वरूप' अर्थात् कार्य्यत्व से असम्बद्ध अर्थ में ही शक्ति गृहीत हुई थी, इसका कोई निश्चय नहीं है । यह नियम भी नहीं है कि वृद्ध-व्यवहार से ही उस परम्परा में शक्ति गृहीत हुई है और उसके पश्चात् प्रसिद्धपद के सामानाधिकरण्य से या उपदेश से । अगर यह मान भी लें कि वहाँ वक्ता को वृद्ध-व्यवहार से कार्य्यत्वविशिष्ट अर्थ में ही शक्ति गृहीत हुई है, तब भी यह मानना ही पड़ेगा कि उक्त स्थल में बोद्धा को कार्य्यत्व से अनन्वित केवल स्वरूप में ही शक्ति गृहीत होती है । अतः इस वाक्य के 'मधुकर' शब्द की इस प्रकार कार्य्यत्व विशिष्ट अर्थ में एवं कार्य्यत्व से असम्बद्ध केवल स्वरूपार्थ में, दोनों जगह शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी । क्योंकि एक व्यक्ति के शक्ति-ज्ञान से दूसरे व्यक्ति को शाब्दबोध नहीं होता है । तस्मात् इस पक्ष में अर्द्धजरतीय न्याय हो जायगा । (प्र.) पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध क्रिया की आकाङ्क्षा से होता है । वेदान्तवाक्यों में क्रियापद नहीं रहते, अतः वे परस्पर असम्बद्ध होने के कारण निराकाङ्क्ष हैं, फलतः अर्थ के बोधक न होने के कारण प्रमाण भी नहीं हैं । (उ.) यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पहले तो यही असत्य है कि वेदान्तों में क्रियापद नहीं रहते । क्योंकि 'अशरीरम्' इत्यादि क्रियापद से युक्त वेदान्त का उल्लेख कर चुके हैं । दूसरी बात है कि यह नियम ही ठीक नहीं है कि वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध क्रिया की आकाङ्क्षा से ही उत्पन्न होता है । अतः जहाँ क्रियापद नहीं है, वहाँ भी पदों में परस्पर सम्बद्ध रूप से कथित आकाङ्क्षा, योग्यता और संनिधि से युक्त पदार्थों में ही आकाङ्क्षामूलक परस्पर सम्बन्ध है । क्योंकि "काञ्च्यामिदानीं त्रिभुवनतिलको राजा"

वस्तुओं में जीव प्रवृत्त होता है, अथवा अनिष्टसाधनत्व के अनुसन्धान से उत्पन्न द्वेष से निवृत्त होता है । फलतः यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न इच्छा और द्वेष इन दोनों से ही क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है । अगर ज्ञान के बाद किसी प्रतिबन्ध के कारण इष्टसाधनत्व या अनिष्टसाधनत्व का अनुसन्धान न हुआ तो फिर प्रवृत्ति और निवृत्ति की भी उत्पत्ति नहीं होती । किन्तु इससे ऐसा नहीं कह सकते कि उस शब्द से ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ ।

॥ अथोद्देशपदार्थनिरूपणम् ॥

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः ।

१. द्रव्य २. गुण ३. कर्म्म ४. सामान्य ५. विशेष और ६. समवाय, इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस अर्थात् अपवर्ग का कारण है । एवं उक्त तत्त्वज्ञान का जनक यह ग्रन्थ भी परम्परा से अपवर्ग का कारण है ।

न्यायकन्दली

वाक्यार्थो गम्यत एव। अथवा तत्र श्रुतप्रयुज्यमानाऽस्तिभवतिक्रियानिबन्धनो भविष्यतीति यत्किञ्चिदेतत् ।

प्रकृतमनुसरामः । अत्र पदार्थधर्म्मज्ञानादेव पदार्थानामपि सङ्ग्रहो लभ्यते, स्वातन्त्र्येण धर्म्माणां सङ्ग्रहाभावात् ।

ननु पदार्थधर्म्माणां सङ्ग्रहपरो ग्रन्थो महोदयहेतुरिति नोपपद्यते, शब्दानामर्थप्रतिपादनमन्तरेण कार्य्यान्तराभावादित्याशङ्क्य पदार्थधर्म्मप्रतीतिहेतोः सङ्ग्रहस्य पारम्पर्य्येण महोदयहेतुत्वं प्रतिपादयन्नाह—द्रव्यगुणेत्यादि ।

इत्यादि वाक्यों से भी अर्थ-बोध अवश्य होता है । (अगर यह आग्रह मान भी लिया जाय कि क्रिया से ही पदों में परस्पराकाङ्क्षा होती है, तब भी) "अस्ति, भवति" इत्यादि क्रियाओं का अध्याहार कर लिया जा सकता है । तस्मात् वेदान्त-वाक्यों में अप्रामाण्य की कोई भी शङ्का नहीं है ।

अब हम फिर प्रकृत विषय का अनुसन्धान करते हैं । यहाँ [1]पदार्थधर्म्म के ज्ञान से पदार्थों के भी 'संग्रह' अर्थात् ज्ञान का लाभ होता है ।

पदार्थधर्म्म के यथार्थ ज्ञान का कारण ग्रन्थ (शब्दसमूह) महोदय अर्थात् अपवर्ग का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि शब्द में अपने अर्थों के प्रतिपादन को छोड़कर दूसरे कामों के करने का सामर्थ्य नहीं है । यह शङ्का मन में रखकर (अपवर्ग के कारण) पदार्थधर्म्म-विषयक यथार्थ ज्ञान के सम्पादक ग्रन्थ में (अपवर्ग की साक्षात्कारणता सम्भव न होने पर भी) परम्परया (अपवर्ग की) कारणता का प्रतिपादन करते हुए **'द्रव्यगुण'** इत्यादि भाष्य को कहते हैं ।

---

1. अभिप्राय यह है कि इस पुस्तक का नाम "पदार्थधर्म्मसंग्रह" है । 'संग्रह' शब्द का अर्थ सम्यक् ज्ञान या यथार्थज्ञान है । "प्रवक्ष्यते महोदयः" इत्यादि वाक्य से पदार्थधर्म्म के यथार्थज्ञान में 'महोदय' या अपवर्ग की कारणता कही गई है । आगे साधर्म्यवैधर्म्ययुक्त पदार्थ-ज्ञान में ही महोदय की कारणता कही गई है । अतः दोनों उक्तियों में सामञ्जस्य नहीं होता । इसी को मिटाने के लिए इस अभिप्राय से उपर्युक्त शब्द कहना पड़ा कि धर्म का ज्ञान धर्म्मिज्ञान के बिना असम्भव है ।

न्यायकन्दली

यस्य वस्तुनो यो भावस्तत् तस्य तत्त्वम् । साधारणो धर्म्मः साधर्म्यम्, असाधारणो धर्म्मो वैधर्म्यम् । साधर्म्यवैधर्म्ये एव तत्त्वं साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वम्, तस्य ज्ञानं निःश्रेयसहेतुः। विषयसम्भोगजं सुखं तावत् क्षणिकविनाशि दुःखबहुलं स्वर्गादिपदप्राप्यमपि सप्रक्षयं सातिशयञ्च । तथा च कस्यचित् स्वर्गमात्रमपरस्य स्वर्गराज्यम् । अतस्तदपि सततं प्रच्युतिशङ्कया परसमुत्कर्षोपतापाच्च दुःखाक्रान्तं न निश्चितं श्रेयः। आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्तिरसह्यसंवेदननिखिलदुःखोपरमरूपत्वादपरावृत्तेश्च निश्चितं श्रेयः ।तस्य कारणं द्रव्यादि-स्वरूपज्ञानम्। एतेन तत्प्रयुक्तं यदुक्तं मण्डनेन—वशेषगुणनिवृत्तिलक्षणा मुक्तिरुच्छेदपक्षात्र

जिस वस्तु का जो भाव है वही उसका तत्त्व है । (अनेक वस्तुओं में रहनेवाले एक) साधारण धर्म्म को साधर्म्य कहते हैं । (प्रत्येक पदार्थ में ही रहनेवाले) असाधारण धर्म्म को वैधर्म्य कहते हैं । साधर्म्य और वैधर्म्य रूप जो तत्त्व है, वही इस साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्व शब्द का अर्थ है[1] । इसी का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण है । सांसारिक विषयों के उपभोग से होनेवाला सुख क्षणमात्र में विनष्ट हो सकता है और अपनी अपेक्षा बहुत अधिक दुःखों से घिरा हुआ है । स्वर्गपद से व्यवहृत होनेवाला सुख भी विनाशशील है और न्यूनाधिक भावयुक्त है । जैसे किसी को स्वर्ग मिलता है और किसी को उसका आधिपत्य (स्वराज्य) । अतः वह (स्वर्गरूप) सुख भी स्वर्ग से गिरने की आशङ्का से उत्पन्न दुःख और दूसरे के उत्कर्ष से उत्पन्न क्षोभ से आक्रान्त होने के कारण निश्चित कल्याण नहीं है । दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्ष असह्य होनेवाले दुःखों के अत्यन्त विनाशरूप होने के कारण और इसलिए भी कि एक बार उस अवस्था की प्राप्ति हो जाने पर फिर दुःख की अवस्था नहीं लौटती है, परम कल्याणमय है, अतः जीवों को परम अभीष्ट है । उसका कारण द्रव्यादि पदार्थों का तत्त्वज्ञान है । इसी से आचार्य मण्डन की यह उक्ति भी खण्डित हो जाती है कि—"(आत्मा के) सभी विशेष गुणों का नाश ही मोक्ष है, यह पक्ष ज्ञानस्वरूप आत्मा का अत्यन्त उच्छेद ही मुक्ति है" बौद्धों के इस उच्छेद—

अतः धर्म्मज्ञान में मुक्तिजनकता कहने से ही धर्म्मिसहित धर्म्मज्ञान में मुक्तिजनकता कथित हो जाती है। तस्मात् कोई असामञ्जस्य नहीं है ।

1. अभिप्राय यह है कि भाष्य में स्थित "साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानम्" इस वाक्य का साधर्म्यञ्च वैधर्म्यञ्च साधर्म्यवैधर्म्ये, त एव तत्त्वं साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वम्" इस द्वन्द्वान्त कर्म्मधारय के बाद "तस्य ज्ञानम्" यह षष्ठी समास है । किन्तु उक्त द्वन्द्वान्त पद का 'तत्त्वम्' इस पद के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं है, क्योंकि इससे साधर्म्यवैधर्म्यरूप तत्त्व के ज्ञान में मुक्तिजनकता सिद्ध न होकर उस साधर्म्यवैधर्म्य में रहनेवाले धर्म्मों के ज्ञान में ही मुक्तिजनकता कही जायगी, किन्तु यह असङ्गत है ।

न्यायकन्दली

भिद्यते" इति । विशेषगुणोच्छेदे हि सत्यात्मनः स्वरूपेणावस्थानं नोच्छेदः, नित्यत्वात् । न चायमपुरुषार्थः, समस्तदुःखोपरमस्य परमपुरुषार्थत्वात्, समस्तसुखाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेत् ? न, सुखस्यापि क्षयितया बहुलप्रत्यनीकतया च साधनप्रार्थनाशतपरिक्लिष्टतया च सदा दुःखाक्रान्तस्य विषमिश्रस्येव मधुनो दुःखपक्षे निक्षेपात् । केषां साधर्म्यवैधर्म्य- तत्त्वपरिज्ञानमपवर्गकारणमित्यपेक्षायां द्रव्यादीनामिति सम्बन्धः । द्रव्याणि च, गुणाश्च, कर्म्माणि च, सामान्यञ्च, विशेषाश्च, समवायश्चेति विभागवचनानुसारेण विग्रहः, उद्देशस्य विभागवचनेन समानविषयत्वात् । आदौ द्रव्यस्योद्देशः, सर्वाश्रयत्वेन प्राधान्यात् । गुणानाञ्च कर्म्मापेक्षया भूयस्त्वाद् द्रव्यानन्तरमभिधानम् । नियमेन गुणानुविधायित्वात् कर्म्मणां गुणानन्तरमुद्देशः । कर्म्मान्वितत्वात् सामान्यस्य कर्म्मानन्तरमभिधानम् । पञ्च पदार्थवृत्तेः समवायस्य सर्वशेषेणाभिधाने प्राप्ते विशेषाणां मध्ये कथनम् ।

पक्ष से भिन्न नहीं है । क्योंकि विशेष गुणों के नष्ट हो जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप में रहना आत्मा का नाश नहीं है । (और उसका नाश हो भी नहीं सकता है, क्योंकि) वह नित्य है । यह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष जीवों का अकाम्य भी नहीं है; क्योंकि यह दुःखों का अत्यन्त विनाशरूप है, अतः जीवों का परम अभीष्ट है । (प्र.) यह (मोक्ष) सभी सुखों का भी निवृत्तिरूप होने के कारण जीवों का काम्य नहीं है ? (उ.) नहीं, क्योंकि सुख भी विनाशशील अनेक विघ्नों से ओतप्रोत, अनेक कठिन उपायों से उत्पन्न होने के कारण अनेक दुःखों से आक्रान्त होने से त्याज्य ही है । जैसे विष से मिला हुआ मधु भी ग्राह्य नहीं होता । (प्र.) किन पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्यरूप तत्त्व का ज्ञान मोक्ष का कारण है ? इस आकाङ्क्षा की पूर्त्ति के लिए "द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानाम्" इस वाक्य का उपादान है । पदार्थों के विभागवाक्य के अनुसार उक्त द्वन्द्वसमासान्त वाक्य का विग्रह "द्रव्याणि च, गुणाश्च, कर्माणि च, सामान्यञ्च, विशेषाश्च, समवायश्च" इस प्रकार का है । क्योंकि 'उद्देश' वाक्य में प्रयुक्त पदार्थबोधक पद की विभक्ति का वचन विभागवाक्य के अनुसार होना चाहिए । द्रव्य सभी पदार्थों का आश्रय है, अतः सर्वप्रधान है । इस कारण सबसे पहले है । गुण कर्म्म से संख्या में अधिक हैं, अतः द्रव्य के बाद और कर्म्म से पहले गुणों का उल्लेख है । कर्म्म नियमतः गुणों के साथ ही रहता है, अतः गुण के बाद कर्म्म का निरूपण है । कर्म्म के साथ रहने के कारण कर्म्म के बाद सामान्य का निरूपण किया है । समवाय द्रव्यादि पाँचों पदार्थों में रहता है, सुतरां उसका निरूपण सबसे पीछे होना उचित है । अतः सामान्य निरूपण के बाद और समवाय से पहले बीच में 'विशेष' का निरूपण किया है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्म्मादेव ।

उस 'निःश्रेयस' (या अपवर्ग) की प्राप्ति ईश्वर की विशेष प्रकार की इच्छा से कार्य्य करने में उन्मुख हुए धर्म्म से ही होती है ।

न्यायकन्दली

अभावस्य पृथगनुपदेशो भावपारतन्त्र्यात्, न त्वभावात् । द्रव्याणामिति सम्बन्धे षष्ठी । अत्रापि साधर्म्यादिज्ञानस्य निःश्रेयसहेतुत्वे कथिते द्रव्यादिज्ञानस्य कथितम्, साधर्म्यवैधर्म्ययोः स्वातन्त्र्येण ज्ञानाभावात् ।

"ननु यदि तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुस्तर्हि धर्म्मो न कारणम् ? ततः सूत्रविरोधः— "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः" **इति, तत आह—**"तच्चेश्वर-चोदनाभिव्यक्ताद्धर्म्मादेवेति । **तन्निःश्रेयसं धर्म्मादेव भवति, द्रव्यादितत्त्वज्ञानं तस्य कारणत्वेन निःश्रेयससाधनमित्यभिप्रायः । तत्त्वतो ज्ञातेषु बाह्याध्यात्मिकेषु विषयेषु दोषदर्शनाद्विरक्तस्य समीहानिवृत्तावात्मज्ञस्य तदर्थानि कर्म्माण्यकुर्व्वत-स्तत्परित्यागसाधनानि च श्रुतिस्मृत्युदितान्यसङ्कल्पितफलान्युपाददानस्यात्मज्ञान-**

अभावों को स्वतन्त्र रूप से न कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि वे हैं ही नहीं, न कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि अभाव भावपरतन्त्र हैं । (अर्थात् 'द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानाम्' इस समस्त वाक्यघटक पदरूप) 'द्रव्याणाम्' इत्यादि पदों में सम्बन्धसामान्य में षष्ठी विभक्ति है । "साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः" इस वाक्य से यद्यपि द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्यरूप तत्त्व के ज्ञान में ही मुक्ति की कारणता कही गयी है, तथापि द्रव्यादिविषयक ज्ञानों में भी मुक्ति की कारणता उसी वाक्य से कथित हो जाती है, क्योंकि द्रव्यादि रूप धर्मियों के ज्ञान के बिना उनके साधर्म्य और वैधर्म्यरूप तत्त्वों का ज्ञान असम्भव है ।

अगर मोक्ष का कारण (साधर्म्यवैधर्म्यरूप) तत्त्व का ज्ञान ही है, तो फिर 'धर्म्म' उसका कारण नहीं है । किन्तु ऐसा मान लेने पर सूत्र का विरोध होता है । क्योंकि सूत्रकार ने कहा है कि "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः" । इसी विरोध को मिटाने के लिये भाष्यकार ने "तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव" यह वाक्य कहा है । अभिप्राय यह है कि 'तत्' अर्थात् 'मोक्ष', धर्म्म से ही (उत्पन्न) होता है । किन्तु द्रव्यादि तत्त्वज्ञान धर्म्म का कारण है, अतः परम्परा से मोक्ष का भी कारण है । पदार्थों के यथार्थज्ञान से बाह्य और आभ्यन्तर सभी वस्तुओं में (ये सभी दुःख के कारण हैं इस प्रकार की) दोष-बुद्धि उत्पन्न होती है । इस दोष-बुद्धि से वैराग्य की उत्पत्ति होती है और वैराग्य से उस पुरुष की सारी अभिलाषायें निवृत्त हो जाती हैं । फिर वह व्यक्ति अभिलाषाओं के पोषक सभी उपायरूप कर्म्मों को छोड़ देता है तथा अभिलाषा से पिण्ड छुड़ने वाले वेद व धर्म्मशास्त्रादि ग्रन्थों में कथित

न्यायकन्दली

मभ्यस्यतः प्रकृष्टविनिवर्त्तकधर्म्मोपचये सति परिपक्वात्मज्ञानस्यात्यन्तिकशरीरवियोगस्य भावात् । दृष्टो विषयिणामहिकण्टकादीनां परित्यागो विशेषदोषदर्शनपूर्वकाभिसन्धिकृतनिवर्त्तकात्मविशेषगुणात् प्रयत्नात् । तेन शरीरादीनामात्यन्तिकः परित्यागो विषयदोषदर्शनपूर्व्वकाभिसन्धिकृतनिवर्त्तकात्मविशेषगुणनिमित्तो विज्ञात इति मोक्षाधिकारे वक्ष्यामः ।

धर्मोऽपि तावन्न निःश्रेयसं करोति यावदीश्वरेच्छया नानुगृह्यते । तेनेदमुक्तम्– "ईश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्म्मादिवे"ति **। चोद्यन्ते प्रेर्य्यन्ते स्वकार्य्येषु प्रवर्त्यन्तेऽनया भावा इति चोदना ईश्वरचोदना ईश्वरेच्छाविशेषः । अभिव्यक्तिः कार्य्यारम्भं प्रत्याभिमुख्यम् । ईश्वरचोदनयाभिव्यक्तादीश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् ईश्वरेच्छाविशेषेण कार्य्यारम्भाभिमुखीकृताद्धर्म्मादेव निःश्रेयसं भवतीति वाक्ययोजना । तच्चेति चकारो द्रव्यादिसाधर्म्यज्ञानेन सह धर्म्मस्य निःश्रेयसहेतुत्वं समुच्चिनोति ।**

निष्काम कर्म्मों का अनुष्ठान करता हुआ आत्म-ज्ञान का अभ्यास करता है । इन आचरणों से निवृत्तिजनक धर्म्म की वृद्धि होने पर जब आत्मज्ञान परिपक्व हो जाता है, तब उससे (आत्मा का) शरीर के साथ अत्यन्त-वियोग (मोक्ष) की उत्पत्ति होती है । यह देखा जाता है कि सर्प और कण्टकादि पदार्थों में पहले इस प्रकार के दोष का ज्ञान होता है कि ये सभी दुःखजनक हैं । फिर उन्हें त्यागने की इच्छा होती है । इस इच्छा से निवृत्तिजनक (निवर्त्तक) प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । आत्मा के विशेषगुण इस प्रयत्न से जीव उन दुष्ट (सर्पादि) पदार्थों को छोड़ देता है । यही बात हम मोक्ष-निरूपण में कहेंगे ।

धर्म्म भी तब तक अकेला मोक्ष का सम्पादन नहीं कर सकता, जब तक उसे ईश्वर की इच्छा की सहायता न मिले । इसीलिए प्रशस्तपाद ने "तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्म्मादिव" यह वाक्य लिखा है । "चोद्यन्ते स्वकार्य्येषु प्रेर्य्यन्तेऽनया भावाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस 'इच्छा' से (कारणरूप वस्तु अपने कार्य्यों में उसके उत्पादन के लिए) प्रेरणा प्राप्त करे वही 'इच्छा' प्रकृत 'चोदना' शब्द का अर्थ है । 'ईश्वरस्य चोदना' इस विग्रह के अनुसार 'ईश्वर की इच्छा' ही 'ईश्वरचोदना' शब्द का अर्थ है । प्रकृत 'अभिव्यक्ति' शब्द से कारणों की कार्य्य करने की उन्मुखता इष्ट है । ''ईश्वरचोदनाभिव्यक्तात्'' यह पञ्चम्यन्त पद "ईश्वरचोदनयाऽभिव्यक्तात्" इस तृतीया समास से बना है । उपर्य्युक्त व्युत्पत्तियों के अनुसार 'तच्च' इत्यादि वाक्य का फलित अर्थ यह है कि ईश्वर के इच्छाविशेष से कार्य्य के प्रति उन्मुख धर्म से ही 'मुक्ति' होती है । 'तच्च' इस वाक्य में प्रयुक्त 'च' शब्द इस समुच्चय का बोधक है कि पदार्थों के साधर्म्यादिरूप तत्त्वविषयक ज्ञान के साथ मिलकर ही धर्म्म में मोक्ष की साधनता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

अथ के द्रव्यादयः पदार्थाः, किञ्च तेषां साधर्म्यं वैधर्म्यञ्चेति ।

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्यविशेषसंज्ञयोक्तानि नवैवेति । तद्व्यतिरेकेणान्यस्य संज्ञानभिधानात् ।

द्रव्यादि कौन-कौन पदार्थ हैं ? एवं उनके साधर्म्य और वैधर्म्य क्या हैं ?

उन पदार्थों में १. पृथिवी २. जल ३. तेज ४. वायु ५. आकाश ६. काल ७. दिक् ८. आत्मा और ९. मन, ये नौ ही द्रव्य सूत्रकार के द्वारा सामान्य (द्रव्यसंज्ञा) और विशेष (पृथिव्यादिसंज्ञा) संज्ञाओं से कहे गये हैं । क्योंकि पदार्थों के उपदेश के लिये सर्वज्ञ महर्षि ने इन नवों को छोड़कर और किसी द्रव्य का नाम नहीं लिया है ।

न्यायकन्दली

एवं षट्पदार्थज्ञानस्य पुरुषार्थोपायत्वं प्रतीत्य तेषां प्रत्येकं भेदजिज्ञासार्थं परिपृच्छति– अथ के द्रव्यादय **इति । कानि द्रव्याणि ? के गुणाः ? कानि कर्म्माणीत्यादि योजनीयम् । नावश्यं धर्मिणि ज्ञाते धर्म्मा ज्ञायन्त इति, तेन धर्म्मेषु पृथक् प्रश्नः –** किञ्च तेषामित्यादि । **अत्रापि चः समुच्चये ।**

उत्तरमाहः –तत्रेत्यादि । तेषु द्रव्यादिषु मध्ये, द्रव्याणि **पृथिव्यादीनि,** सामान्यविशेषसंज्ञया **सामान्यसंज्ञया द्रव्यसंज्ञया,** विशेषसंज्ञया **प्रत्येकमसा-**

इस प्रकार द्रव्यादि छः पदार्थों में मुक्ति की कारणता को समझाकर, उन पदार्थों में से प्रत्येक की जिज्ञासा के लिये प्रशस्तदेव 'अथ के द्रव्यादयः' इत्यादि प्रश्नभाष्य लिखते हैं–

''अथ के द्रव्यादयः'' इत्यादि प्रश्नभाष्य की व्याख्या[1] 'द्रव्य कितने हैं ?' 'गुण कितने हैं ?' इत्यादि रीति से करनी चाहिए । धर्म्मी के ज्ञात हो जाने पर यह आवश्यक नहीं है कि धर्म्म भी ज्ञात ही हो जाएँ । अतः '''किञ्च तेषाम्'' इत्यादि से धर्म्म के विषय में अलग प्रश्न करते हैं । यहाँ भी 'च' शब्द समुच्चय का ही बोधक है ।

(कथित दोनों प्रश्नों का समाधान क्रमशः करते हैं) 'तत्र' अर्थात् उन छः पदार्थों में, 'द्रव्याणि' अर्थात् पृथिव्यादि नौ द्रव्य, ''सामान्यविशेषसंज्ञया'' सामान्यसंज्ञा से अर्थात् द्रव्य नाम से, विशेषसंज्ञा से अर्थात् पृथिव्यादि विशेष नामों से–पृथिवीत्व, जलत्व,

---

1. अभिप्राय यह है कि द्रव्यादि भाग वाक्य के पहले का 'तत्र के द्रव्यादयः' ? इत्यादि प्रश्नवाक्य केवल यहाँ के लिये ही नहीं है, किन्तु गुणादि के विभाग वाक्यों

न्यायकन्दली

धारणसंज्ञया पृथिव्यप्तेजस्त्वादिरूपया उक्तानि **सूत्रकारेण प्रतिपादितानि । किमेतावन्त्या-होस्विदपराण्यपि सन्तीत्याह**–नवैवेति **। ननु नवानां लक्षणाभिधाने सामर्थ्यादपरेषामभावो ज्ञातव्यः, व्यर्थं नवैवेति । न, नवसु लक्षितेषु किमपरेषामसत्त्वादुत सतामप्यनुपयोगित्वात्र लक्षणं कृतमिति संशयो न निवर्त्तेत । लक्षणस्य व्यवहारमात्रसारतया समानासमानजातीय-व्यवच्छेदमात्रसाधनत्वेन चान्याभावप्रतिपादनासामर्थ्यात्, तदर्थमवधारणं कृतम् । इदमेव सामान्योद्दिष्टानां विशेषसंज्ञाभिधानं तन्त्रान्तरे विभाग इति निर्देश इति च कथ्यते । कथमेतदवगतं नवैवेति ? अत आह**–तद्व्यतिरेकेणेत्यादि **। तेभ्यो नवभ्यो व्यतिरेकेण सर्वज्ञेन महर्षिणा सर्वार्थोपदेशाय प्रवृत्तेनान्यस्य संज्ञानभिधानात् ।**

तमो नाम रूप-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-परत्वापरत्व-संयोग-विभागवद् द्रव्यान्तर-मस्तीति चेत् ? अत्र कश्चिदाह–यदि तमो द्रव्यम्, रूपवद्द्रव्यस्य स्पर्शाव्यभि-

तेजस्त्वादि विशेषरूप से सूत्रकार ने द्रव्यों का प्रतिपादन किया है । (प्र.) नौ प्रकार के द्रव्यों का लक्षण कह देने भर से सामर्थ्यवश यह ज्ञात हो ही जाएगा कि नौ से अधिक द्रव्य नहीं हैं, (अवधारणार्थक) 'नवैव' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है । (उ.) उक्त प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि नौ द्रव्यों का केवल लक्षण कह देने भर से यह सन्देह रह ही जाता है–"नौ द्रव्यों का ही लक्षण इसलिए किया गया है कि नौ से अधिक द्रव्यों की सत्ता ही नहीं है ?" या "नौ से अधिक भी द्रव्य हैं, किन्तु प्रकृत में उनका कोई उपयोग नहीं है । अतः केवल नौ ही (उपयोगी) द्रव्यों के लक्षण कहे गये हैं ।" लक्ष्य का व्यवहार ही लक्षण का मुख्य प्रयोजन है । अतः लक्षणवाक्य केवल (व्यवहार के लिए) अपने लक्ष्यों को उनके सजातीय और विजातीय वस्तुओं के भिन्न रूप में केवल समझा सकते हैं । उनमें (अवधारणादि) किसी और अर्थ को समझाने की क्षमता नहीं है । अतः (अवधारणार्थक) 'एव' शब्दघटित 'नवैव' शब्द का प्रयोग (भाष्य में) है । सामान्य नामों से कहे हुए पदार्थों का विशेष नामों से यह कथन है और शास्त्रों में 'विभाग' और 'निर्देश' शब्द से कहा गया है । यह कैसे समझा गया है कि नौ से अधिक द्रव्य नहीं हैं ? इसी प्रश्न का समाधान "तद्व्यतिरेकेणान्यस्य" इत्यादि सन्दर्भ से कहते हैं । अभिप्राय यह है कि सभी पदार्थों का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त सर्वज्ञ महर्षि (कणाद) ने इन नौ द्रव्यों से भिन्न किसी का भी उल्लेख द्रव्य नाम से नहीं किया है ।

(प्र.) रूप, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, संयोग[1] और विभाग,

---

के पहले भी 'के गुणाः' इत्यादि प्रश्न-वाक्यों का ऊह करना चाहिए । अन्यथा उत्तररूप सभी विभागवाक्य विना आकाङ्क्षा के ही कहे जाने के कारण उपेक्ष्य हो जायेंगे ।

1. अभिप्राय यह है कि द्रव्य का सामान्यलक्षण गुण ही है । अन्धकार में कथित रूपादि आठ गुणों की उपलब्धि सार्वजनीन है । अतः वह द्रव्य अवश्य है, किन्तु कथित पृथिव्यादि नौ

न्यायकन्दली

चारात् स्पर्शवद्द्रव्यस्य महतः प्रतिघातधर्म्मत्वात् तमसि सञ्चरतः प्रतिबन्धः स्यात्, महान्धकारे च भूगोलकस्येव तदवयवभूतानि खण्डावयविद्रव्याणि प्रतीयेरन्निति । तदयुक्तम्, यथा प्रदीपान्निर्गतैरवयवैरदृष्टवशादनुद्भूतस्पर्शमनिबिडावयवमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागमप्रतिघातिप्रभामण्डलमारभ्यते, तथा तमःपरमाणुभिरपि तमो द्रव्यम् । तस्मादन्यथा समाधीयते तमःपरमाणवः स्पर्शवन्तस्तद्रहिता वा ? न तावत् स्पर्शवन्तः, स्पर्शवतस्तत्कार्य्यस्य क्वचिदनुपलम्भात् । अदृष्टव्यापाराभावात् स्पर्शवद्द्रव्यानारम्भका इति चेत् ? रूपवन्तो वायु-

इन आठ गुणों से युक्त एवं इन नौ द्रव्यों से भिन्न 'तम' (अन्धकार) नाम का द्रव्य है ? इस प्रश्न का समाधान (१) कोई यह देते हैं कि यह निश्चित है कि जहाँ रूप रहे वहाँ स्पर्श भी अवश्य रहे । एवं स्पर्शवाले महान् द्रव्य का यह स्वभाव है कि वह प्रतिघात करे । अगर अन्धकार (रूपयुक्त) द्रव्य है (फिर स्पर्शयुक्त भी अवश्य ही है), तो उसका प्रतिघातधर्म्मक होना भी अनिवार्य्य है । अगर ऐसी बात है तो अन्धकार में चलते हुए मनुष्य उससे टकरा कर अवश्य ही रुक जाते । (तस्मात् अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है । अतः 'नवैव द्रव्याणि' यह अवधारण ठीक है)। (२) (कोई यह दूसरा समाधान करते हैं कि जैसे) किसी महाभूखण्ड की प्रतीति होने पर उसके अवयवों की भी प्रतीति अवश्य होती है । (वैसे ही) अन्धकार अगर कोई महान् द्रव्य होता तो (उसकी प्रतीति की तरह) उसके अवयवों की भी प्रतीति अवश्य होती । (किन्तु अन्धकार के अवयवों की प्रतीति नहीं होती है), अतः अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है और इसीलिए वह महान् भी नहीं है । किन्तु ये दोनों ही समाधान असङ्गत हैं, क्योंकि जैसे प्रदीप से निकले हुए तेज के अवयवों से अदृष्टवश अनुद्भूत स्पर्श से युक्त अनिविड़ (पतले) प्रभामण्डलरूप प्रकाश नाम के द्रव्य की उत्पत्ति होती है । एवं इस महान् द्रव्य के अवयवों की उपलब्धि नहीं होती है और उस (आलोक) में चलते हुए मनुष्य की गति रुकती भी नहीं है । इसी प्रकार अन्धकार के परमाणुवों से अन्धकार की उत्पत्ति होगी । (इसमें अन्धकार के अवयवों की अनुपलब्धि और उससे मनुष्यों का न टकराना,ये दोनों बाधक नहीं हो सकते) अतः इसका दूसरी रीति से समाधान करना चाहिए ।(समाधान के लिए यह पूछना है कि) (प्र.) अन्धकार के परमाणुवों में स्पर्श है या नहीं ? (उ.) नहीं है, क्योंकि उनके किसी भी कार्य्य में स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती ।(प्र.) अन्धकार के परमाणुवों में स्पर्श है, किन्तु उससे स्थूल अन्धकार में अदृष्टरूप कारण के अभाव से स्पर्श की उत्पत्ति नहीं होती । अतः अन्धकार के परमाणु स्वयं स्पर्शयुक्त होते हुए भी स्पर्शयुक्त स्थूल अन्धकार को उत्पन्न नहीं करते ।

द्रव्यों में से वह किसी में भी अन्तर्भूत नहीं है । क्योंकि गन्ध की उपलब्धि न होने से वह पृथिवी नहीं है । स्पर्श की प्रतीति न होने के कारण वह जल, तेज और वायु भी नहीं है । उसमें रूप का प्रत्यक्ष होता है,अतः वह आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन भी नहीं है । इस प्रकार कथित नौ द्रव्यों में उसका अन्तर्भाव नहीं है । गुण प्रतीति के कारण द्रव्य अवश्य ही है । तस्मात् 'तम' कोई दशवाँ स्वतन्त्र द्रव्य ही है । किन्तु तब ''नवैव द्रव्याणि'' यह अवधारण असङ्गत हो जाता है ।

न्यायकन्दली

परमाणवोऽदृष्टव्यापारवैगुण्याद्रूपवत्कार्य्यं नारभन्त इति किं न कल्प्येत। किं वा न कल्पितमेतदेकजातीयादेव परमाणोरदृष्टोपग्रहाच्चतुर्धा कार्य्याणि जायन्त इति। कार्य्यैकसमधिगम्याः परमाणवो यथाकार्य्यमुन्नीयन्ते, न तद्विलक्षणाः, प्रमाणाभावादिति चेत् ? एवं तर्हि तामसाः परमाणवोऽप्यस्पर्शवन्तः कथं तमोद्रव्यमारभेरन्? अस्पर्शवत्त्वस्य कार्य्यद्रव्यानारम्भकत्वेनाव्यभिचारोपलम्भात्। कार्य्यदर्शनात् तदनुगुणं कारणं कल्प्यते, न तु कारणवैगुण्येन दृष्टकार्य्यविपर्य्यासो युज्यत इति चेत्, न वयमन्धकारस्य प्रत्यर्थिनः, किन्त्वारम्भकानुपपत्तेर्नीलिममात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न भवतीति ब्रूमः। तर्हि भासामभाव एवायं प्रतीयेत ? न, तस्य नीलाकारेण

(किन्तु स्पर्शशून्य स्थूल अन्धकार को ही उत्पन्न करते हैं)। (उ.) अगर ऐसी बात है तो फिर ''वायु के परमाणुवों में रूप है, किन्तु अनुकूल अदृष्ट के न रहने से स्थूल वायु में रूप की उत्पत्ति नहीं होती है'' ऐसी कल्पना भी क्यों नहीं कर लेते ? अथवा यही कल्पना क्यों नहीं करते कि किसी एकजातीय परमाणुवों से ही पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों उत्पन्न होते हैं और अदृष्ट की विचित्रता से इनमें परस्पर वैचित्र्य है। (प्र.) परमाणु प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु नहीं हैं, किन्तु पृथिव्यादि स्थूल कार्यों से ही उनका अनुमान होता है। स्थूल पृथिवी-जलादि द्रव्य परस्पर भिन्नरूपों से प्रत्यक्ष होते हैं, अतः उनके मूल कारण परमाणुवों को भी परस्पर विलक्षण मानना पड़ेगा। क्योंकि कार्य्य से समानजातीय कारण का अनुमान होता है। (उ.) फिर स्पर्शशून्य रूप से प्रत्यक्ष होनेवाले अन्धकार के परमाणुवों में स्पर्श की कल्पना कैसी ? तस्मात् (स्पर्शशून्य) अन्धकार का परमाणु स्थूल अन्धकार को उत्पन्न कर ही नहीं सकता। क्योंकि यह अव्यभिचरित नियम है कि स्पर्शविशिष्ट द्रव्य ही द्रव्य का उत्पादक होता है। (प्र.) कार्य्य जिस रूप में देखे जाते हैं उनके अनुरूप कारणों की कल्पना की जाती है। यह तो नहीं होता कि एक विशेष प्रकार के कारण की कल्पना कर ली जाए और उसके अनुरोध से कार्य्यों को प्रत्यक्षसिद्ध अपने रूपोंसे भिन्न रूपों से माना जाए[1]। (उ.) हम अन्धकार के विरोधी नहीं हैं। (अर्थात् प्रत्यक्षसिद्ध अन्धकार की सत्ता तो हम मानते हैं) किन्तु मेरा कहना है कि दृष्ट अन्धकार में स्पर्श की उपलब्धि नहीं होती। एवं कार्य्य और कारण दोनों को समान गुण का ही होना उचित है। अतः अन्धकार के मूलकारण परमाणु में स्पर्श नहीं है। 'एवं स्पर्शयुक्त द्रव्य ही द्रव्य का उत्पादक है' इस नियम में कहीं व्यभिचार भी नहीं है। तस्मात् प्रत्यक्ष से सिद्ध अन्धकार 'द्रव्य' नहीं है। किन्तु अन्धकार को द्रव्य मानना सम्भव न होने पर भी उसको केवल तेज का अभाव ही मान लें, यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि नील रूप से ही अन्ध-

1. अभिप्राय यह है कि अन्धकार के प्रत्यक्ष में नीलरूप का भान होता है, स्पर्श का नहीं। अतः यह मानना पड़ेगा कि दृष्ट अन्धकार के मूलकारण परमाणुवों में रूप है, स्पर्श नहीं।

न्यायकन्दली

प्रतिभासायोगात्, मध्यन्दिनेऽपि दूरगगनाभोगव्यापिनो नीलिम्नश्च प्रतीतेः । किञ्च गृह्यमाणे प्रतियोगिनि संयुक्तविशेषणतया तदन्यप्रतिषेधमुखेनाभावो गृह्यते, न स्वतन्त्रः । तमसि च गृह्यमाणे नान्यस्य ग्रहणमस्ति । न च प्रतिषेधमुखः प्रत्ययः । तस्मान्नाभावोऽयम् । न चालोकादर्शनमात्रमेवैतत्, बहिर्मुखतया तम इति, छायेति च कृष्णाकारप्रतिभासनात् । तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्तं तेजोभावे सति सर्व्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते । दिवा चोर्ध्वं नयनगोलकस्य नीलिमावभास इति वक्ष्यामः । यदा तु नियतदेशाधिकरणो भासामभावस्तदा तद्देशसमारोपिते नीलिम्नि छायेत्यवगमः । अत एव दीर्घा, ह्रस्वा, महती, अल्पीयसी

कार का प्रत्यक्ष होता है । (अभाव में किसी भी रूप की मुख्य प्रतीति नहीं हो सकती) । एवं दिन में दोपहर को (सूर्य्य का पूर्ण प्रकाश रहते हुए भी गगनमण्डलव्यापी नीलिमा की प्रतीति होती है । धर्म्मों की प्रतीति होने पर (उस समय या किसी भी समय न रहनेवाले) उससे भिन्न वस्तु की 'स्वसंयुक्त-विशेषणता' नाम के सम्बन्ध से प्रतिषेधरूप से प्रतीति ही अभाव-प्रतीति है[1] । किन्तु अन्धकार-ज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रतियोगिरूप से किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता । तस्मात् अन्धकार तेज का अभाव ही है । (प्र.) 'तेज' का न देखना ही अन्धकार की प्रतीति है ? (उ.) नहीं, बाहर की तरफ "यह अन्धकार है, यह छाया है" इत्यादि नीलाकार की प्रतीतियाँ होती हैं (तस्मात् तेज की अप्रतीति ही 'तम' नहीं है), अतः (अन्धकार नाम की) यह वस्तु 'रूप' विशेष, है, जो तेज का अत्यन्ताभाव रहने पर सभी ओर 'समारोपित' होकर 'तम' कहलाती है । दिन में भी ऊपर की तरफ (आकाशमण्डल में) जो नीलिमा की प्रतीति होती है, वह नयनगोलक की ही नीलिमा है, यह हम आगे कहेंगे । जब जिस नियत देशरूप अधिकरण में तेज का अत्यन्ताभाव रहता है, उस देश में आरोपित नीलरूपाभिन्न तम 'छाया' कहलाती है । अत एव "यह छाया बड़ी है या छोटी है, यहाँ अधिक छाया है वहाँ कम" इत्यादि प्रतीतियाँ होती हैं । क्योंकि उन देशों में आरोपित नीलिमा की प्रतीति ही

परमाणुवों में रूप है, स्पर्श नहीं है । पृथिव्यादि द्रव्यों में रूप और स्पर्श को नियमित रूप के साथ देखना, या स्पर्शयुक्त द्रव्य ही द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, यह नियम स्पर्श से शून्य अन्धकार के परमाणुवों में द्रव्यारम्भकत्व का बाधक नहीं हो सकता ।

1. अभिप्राय यह है कि चक्षु के संयोग से जब भूतल का ज्ञान होता है और घट नहीं दिखाई देता, तभी भूतल में "यहाँ घट नहीं है" इस आकार की प्रतीति होती है । फलतः निषिद्ध रूप से घट की यह प्रतीति ही 'घटाभाव' प्रतीति है । उससे भिन्न स्वतन्त्र घटाभाव की कोई प्रतीति नहीं है । प्रत्यक्ष इन्द्रियसम्बन्धमूलक होता है । प्रकृत में वह सम्बन्ध 'स्वसंयुक्तविशेषणता' नाम का है । 'स्व' शब्द से चक्षु, तत्संयुक्त भूतल, वहाँ विशेषण है–निषेधविशिष्ट घट ।

न्यायकन्दली

छायेत्यभिमानः, तद्देशव्यापिनो नीलिम्नः प्रतीतेः, अभावपक्षे च भावधर्म्माध्यारोपोऽपि दुरुपपादः । तदुक्तम्–

न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम् ।
छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः ॥
दूरासन्नप्रदेशादि महदल्पचलाचला ।
देहानुवर्त्तिनी छाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत् ॥ इति ।

दुरुपपादश्च क्वचिच्छायायां कृष्णसर्पभ्रमः, चलतिप्रत्ययोऽपि गच्छत्यावरक-द्रव्ये यत्र यत्र तेजसोऽभावस्तत्र तत्र रूपोपलब्धिकृतः । एवं परत्वादयोऽप्यन्यथा-सिद्धाः । तत्र चालोकाभावव्यञ्जनीयरूपविशेषे तमस्यालोकानपेक्षस्यैव

तो अन्धकार की प्रतीति है[1] ? तम को अभावरूप मान लेने से तो नील 'रूप' का आरोप कठिन होगा, क्योंकि 'रूप' भाव का धर्म है (उसका आरोप भी अभाव में नहीं हो सकता ।)

जैसा कहा है कि–(१) तेज के अभाव में अन्धकार का व्यवहार वृद्धों से अनुमोदित नहीं है; क्योंकि पुराणों में कहा गया है कि छाया में पृथ्वी का कृष्ण वर्ण वर्तमान है ।

(२) छाया को भावस्वरूप माने बिना छाया देह के साथ चलती है, छाया अभी बहुत दूर है, अब समीप आई, यह छाया बहुत बड़ी है, या यह बहुत छोटी है, यह अब चल रही है और वह अब खड़ी हो गयी, इन प्रतीतियों की उपपत्ति नहीं हो सकती ।

छाया में काले साँप का भ्रम तो बिलकुल ही असम्भव होगा । (प्र.) अन्धकार को रूपविशेष मान लेने पर भी "अन्धकार चलता है", अन्धकार में गमन की यह प्रतीति अनुपपन्न ही रहेगी । (उ.) इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । क्योंकि गमन की उक्त प्रतीति आलोक को ढँकनेवाले द्रव्य के चलने से जहाँ-जहाँ तेज का अभाव हो जाता है, उन सभी जगहों में आरोपित रूप की उपलब्धि ही है । इसी प्रकार अन्धकार में प्रतीत होनेवाले परत्वादि गुणों की प्रतीति की उपपत्ति भी दूसरे प्रकार से की जा सकती है । (प्र.) रूपों का प्रत्यक्ष आलोक में ही चक्षु से होता है, अन्धकार की प्रतीति आलोक के न रहने से ही चक्षु से होती है, अतः अन्धकार 'नीलरूप' नहीं है । (उ.) यह आपत्ति भी व्यर्थ है; क्योंकि वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार ही कार्य्यकारणभाव की कल्पना की जाती है । अगर आलोक न रहने से ही अन्धकार का प्रत्यक्ष चक्षु से होता है तो फिर और रूपों के प्रत्यक्ष में आलोकसहकृत चक्षु को (ही) कारण मानते हुए भी अन्धकारस्वरूप रूप के प्रत्यक्ष में आलोक से निरपेक्ष चक्षु को ही कारण मानना पड़ेगा । जैसे कि आप घटाभावादि के प्रत्यक्ष में आलोकसहकृत चक्षु को कारण

1. जैसे कि चलते हुए मनुष्यादि के शरीर से या स्थावर वृक्षादि से भूतल के जो अंश सौर तेज के संयोग से बच जाते हैं, उनमें ही 'छाया' की प्रतीति होती है । एवं शरीरादि आवरक द्रव्यों का परिमाण जितना होता है, उतने ही परिमाण के अनुसार वे देशों को आवृत करते हैं । तदनुसार ही अन्धकाररूप छाया की प्रतीतियाँ होती हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

गुणाश्च रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभाग-प त्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चेति कण्ठोक्ताः सप्तदश ।

स्वयं सूत्रकार के द्वारा कथित ये सत्रह गुण हैं–

१. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. संख्या, ६. परिमाण, ७. पृथक्त्व, ८. संयोग, ९. विभाग, १०. परत्व, ११. अपरत्व, १२. बुद्धि, १३. सुख, १४. दुःख, १५. इच्छा, १६. द्वेष और १७. प्रयत्न

न्यायकन्दली

चक्षुषः सामर्थ्यम्, तद्भावभावित्वात्; यथालोकाभाव एव त्वन्मते । नन्वेवं तर्हि सूत्रविरोधः "द्रव्यगुणकर्म्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भाभावस्तमः" इति? न विरोधः, भाऽभावे सति तमसः प्रतीतेर्भाभावस्तम इत्युक्तम् ।

ईश्वरोऽपि बुद्धिगुणत्वादात्मैव, न तु षड्गुणाधिकरणश्चतुर्दशगुणाधिकरणाद् गुणभेदेन भिद्यते, मुक्तात्मभिर्व्यभिचारात् ।

गुणा **रूपादयः** कण्ठोक्ता **सूत्रकारेण कथिता** रूपरसेत्यादिना ।

मानते हुए भी तेज के अभावरूप अन्धकार के प्रत्यक्ष में आलोक से निरपेक्ष चक्षु को ही कारण मानते हैं । (प्र.) अन्धकार को अगर तेज का अभाव न मानें तो सूत्र का विरोध होगा, क्योंकि उसमें कहा है कि द्रव्य, गुण और कर्म्म इन तीनों के उत्पत्तिक्रम से अन्धकार की उत्पत्ति का क्रम भिन्न है, अतः 'भा' अर्थात् तेज का अभाव ही 'तम' है । (उ.) तेज का अभाव होने पर ही अन्धकार की प्रतीति होती है, अतः सूत्रकार ने 'भाभावस्तमः' ऐसा औपचारिक प्रयोग किया है[1] ।

ईश्वर भी बुद्धियुक्त होने के कारण आत्मा ही है । बुद्धि प्रभृति छः गुणों से युक्त परमात्मा चौदह गुणों से युक्त जीवात्मा से गुणभेद के कारण भिन्नजातीय द्रव्य नहीं है; क्योंकि ऐसा (नियम) मानने पर मुक्त जीव में व्यभिचार होगा[2]।

'गुणाः' अर्थात् रूपादि गुण 'कण्ठोक्ताः' अर्थात् सूत्रकार महर्षि कणाद के द्वारा "रूप-रसगन्धस्पर्शाः, संख्याः, परिमाणानि, पृथक्त्वम्, संयोगविभागौ, परत्वापरत्वे, बुद्ध्याः

---

1. 'आयुर्वै घृतम्,' 'लाङ्गलम्' 'जीवनम्' इत्यादि प्रयोग जैसे कारण और कार्य्य को एक समझकर लक्षणा के द्वारा होते हैं, वैसे ही प्रकृत में भी तेज के अभाव की प्रतीति के कारण में अन्धकार के अभेद का आरोप कर अन्धकार पद की 'भाभाव'में लक्षणा के द्वारा सूत्रकार ने 'भाभाव' अर्थात् तेज के अभाव को 'तम' कहा है ।
2. अभिप्राय यह है कि पहले "नवैव द्रव्याणि" ऐसा अवधारणात्मक प्रयोग है । किन्तु जीव और ईश्वर के परस्पर भिन्न द्रव्य होने के कारण द्रव्य दश हो

प्रशस्तपादभाष्यम्

चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्काराटदृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः ।

एवं १. गुरुत्व, २. द्रवत्व, ३. स्नेह, ४. संस्कार, अदृष्ट– ५. धर्म्म एवं ६. अधर्म्म और ७. शब्द, ये सात गुण सूत्रस्थ 'च' शब्द से संग्राह्य हैं । इस प्रकार सब मिलाकर गुण चौबीस प्रकार के हैं ।

न्यायकन्दली

'च'शब्देनात्रानुक्ता गुणत्वेन लोके प्रसिद्धा गुरुत्वादयः सप्त समुच्चिताः । एवं चतुर्विंशतिरेव गुणाः । ये तु शौर्य्यौदार्य्यकारुण्यदाक्षिण्यौग्र्यादयः, तेऽत्रैवान्तर्भवन्ति । शौर्य्यो बलवतोऽपि परस्य पराजयाय प्रत्युत्साहः । स च प्रयत्नविशेष एव । सततं सन्मार्गवर्तिनी बुद्धिरौदार्य्यम् । परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम् ।

सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, प्रयत्नाश्च गुणाः " (१/१/६) इस सूत्र की रचना के द्वारा रूपादि सत्रह गुण ही 'रूपादि' शब्दों के द्वारा स्पष्ट रूप से कहे गये हैं । जो गुण इस सूत्र के द्वारा साक्षात् नहीं कहे गये हैं और लोक से गुणत्व के नाम से व्यवहृत हैं, वे सूत्र के 'च' शब्द से सूचित किये गये हैं । इस प्रकार कण्ठोक्त १७ और 'च' शब्द से समुच्चित सात, दोनों को मिलाकर गुण चौबीस हैं । शौर्य, औदार्य, कारुण्य, दाक्षिण्य, औग्र्य प्रभृति जितने भी गुणशब्द से लोक में व्यवहृत हैं, वे सभी इन्हीं गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं । अपने से अधिक बलशाली शत्रु को पराजित करने के उत्साह को 'शौर्य' कहते हैं, जो वस्तुतः प्रयत्नविशेष ही है । बराबर सन्मार्ग में रहनेवाली 'बुद्धि' ही औदार्य्य कही जाती है । दूसरों के दुःख को नाश

जाते हैं । आत्मत्वरूप से जीव और ईश्वर को एक द्रव्य नहीं मान सकते, क्योंकि जीव में चौदह गुण हैं एवं ईश्वर में केवल छः । तस्मात् द्रव्यविभागवाक्य का 'आत्मा' शब्द जीव या ईश्वर किसी एक का ही बोधक हो सकता है । जिससे कि उक्त अवधारण का प्रयोग असङ्गत हो जाता है । इसी आक्षेप का समाधान "ईश्वरेऽपि" इत्यादि सन्दर्भ से देते हैं । समाधान ग्रन्थ का अभिप्राय है कि चौदह गुण जीव के लक्षण नहीं हैं, क्योंकि इतने गुण मुक्त आत्माओं में नहीं रहते । आत्मा के सभी विशेष गुणों का अत्यन्त विनाश ही मुक्ति है । तस्मात् मुक्त जीवों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व ये सात सामान्य गुण ही रहेंगे, क्योंकि मुक्ति के समय बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और भावनाख्य संस्कार जीव के ये सात विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं । अतः द्रव्यविभागवाक्य का 'आत्मा' शब्द चौदह गुणों से युक्त केवल जीव का ही बोधक नहीं है । किन्तु आत्मत्वजाति से युक्त द्रव्य का बोधक है । यह जाति बुद्धि से युक्त जीव और ईश्वर दोनों में है, क्योंकि आत्मत्वरूप से दोनों अभिन्न हैं । अतः "नवैव द्रव्याणि" यह अवधारण ठीक है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चैव कर्म्माणि । गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्य्यक्पतननमनोन्नमनादयो गमनविशेषा न जात्यन्तराणि ।

१. उत्क्षेपण, २. अपक्षेपण, ३. आकुञ्चन, ४. प्रसारण और ५. गमन ये पाँच ही कर्म्म हैं । गमन पद से यह कहना है कि भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्य्यक्पतन, नमन और उन्नमन प्रभृति कर्म्म भी गमनविशेष ही हैं, दूसरी जाति के नहीं ।

न्यायकन्दली

तत्त्वाभिनिवेशिनी बुद्धिर्दाक्षिण्यम् । औग्र्यमात्मन्युत्कर्षप्रत्यय इत्येवमादिः । अदृष्टशब्देन च धर्म्माधर्म्मयोरुपसङ्ग्रहः । संस्कार इति । स च वेगस्य भावनायाः स्थितिस्थापकस्य चाभिधानम् । नन्वेवं तर्ह्याधिक्यम् ? न, संस्कारत्वजात्यपेक्षया वेगभावनास्थितिस्थापकानामेकत्वात् । एवं तर्हि न चतुर्विंशतित्वम् ? अदृष्टत्वजात्यपेक्षया धर्म्माधर्म्मयोरेकत्वात् । न, अदृष्टत्वजात्यभावात् । निर्गुणेष्वपि गुणेष्वसाधारणधर्म्मयोगित्वेनोपचाराच्चतुर्विंशतिरिति व्यवहारः ।

कर्म्माणि विभजते—उत्क्षेपणेति । **कियन्ति तानि ? तत्राह**—पञ्चैवेति । **ननु भ्रमणादयोऽपि सन्ति ? कथं पञ्चैवेत्यवधारणमत आह**—गमनग्रहणादिति ।

करने की 'इच्छा' ही कारुण्य है । यथार्थ वस्तु को ग्रहण करनेवाली 'बुद्धि' ही दाक्षिण्य है । अपने में उत्कर्ष की बुद्धि ही औग्र्य है । 'अदृष्ट' शब्द से धर्म और अधर्म–दोनों अभिप्रेत हैं । 'संस्कार' शब्द से वेग, भावना और स्थितिस्थापक तीनों संग्राह्य हैं । (प्र.) इस प्रकार गुण तो चौबीस से अधिक हो जायँगे ? (उ.) नहीं, संस्कारत्व जाति है और इस रूप से वेगादि तीनों संस्कार एक ही हैं । (प्र.) इस प्रकार भी गुण चौबीस ही नहीं होंगे, क्योंकि (वेगादि की तरह) अदृष्टत्वजाति रूप से धर्म्म और अधर्म्म ये दोनों भी एक हो जाएँगे ? (उ.) नहीं, क्योंकि अदृष्टत्व नाम की कोई जाति नहीं है । गुणों में गुण के न रहने पर भी 'गुण चौबीस हैं' यह गौण व्यवहार होता है । जैसे कि पृथिवीत्वादि नौ धर्म्मों के सम्बन्ध से "द्रव्य पृथिव्यादि भेद से नौ हैं" यह व्यवहार होता है, उसी प्रकार रूपादिगत असाधारण धर्म्मस्वरूप रूपत्वादि चौबीस धर्म्मों के सम्बन्ध से रूपादि गुणों में चौबीस संख्या का गौण व्यवहार होता है । (इससे रूपादि गुणों में संख्या गुण की सत्ता की सम्भावना नहीं है ।)

"उत्क्षेपण" इत्यादि से कर्म्म पदार्थ का विभाग किया गया है । वे कितने हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है 'पञ्चैव', अर्थात् कर्म्म पाँच ही हैं । (प्र.) भ्रमणादि और

प्रशस्तपादभाष्यम्

सामान्यं द्विविधं परमपरञ्चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम् । तत्र परं सत्ता, महाविषयत्वात् । सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ।

१. पर और २. अपर भेद से सामान्य दो प्रकार का है । वे 'अनुवृत्तिप्रत्यय' अर्थात् विभिन्न वस्तुओं में एक आकार की प्रतीति के कारण हैं । उनमें 'सत्ता' पर सामान्य ही है, क्योंकि वह 'महाविषय' अर्थात् और सभी सामान्यों से अधिक आश्रयों में विद्यमान है । सत्ता केवल सामान्य ही है (विशेष नहीं), क्योंकि वह केवल अनुवृत्तिप्रत्यय का ही कारण है, अर्थात् परस्पर भिन्न अपने

न्यायकन्दली

गमनग्रहणात् पञ्चैव कर्म्माणि । अत्रोपपत्तिमाह–भ्रमणरेचनस्यन्दनेत्यादि । **यस्माद् भ्रमणादयोऽपि** गमनविशेषा **गमनप्रभेदा न जात्यन्तराणि, तस्माद् गमनग्रहणेनैतेषामपि ग्रहणात् पञ्चैवेत्यवधारणं सिद्ध्यतीत्यर्थः ।**

सामान्यं कथयति–सामान्यं द्विविधमिति । **द्वैविध्यमेव कथयति–**परमपरं चेति । **चोऽवधारणे, परमपरमेवेत्यर्थः । तस्य रूपं कथयति–** अनुवृत्तिप्रत्ययकारणमिति । **अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणादन्योन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते तत्सामान्यम् । किं तत्परं सामान्यमित्याह–**परं सत्तेति ।

भी तो हैं ? फिर 'कर्म्म पाँच ही हैं' यह अवधारण असङ्गत है । इसी प्रश्न का समाधान 'गमनग्रहणात्' इत्यादि से करते हैं । अर्थात् चूँकि गमनरूप कर्म्म का ग्रहण किया गया है, इसलिए कर्म्म पाँच ही हैं । 'भ्रमणरेचन' इत्यादि से इसी में युक्ति देते हैं । चूँकि भ्रमणादि गमनत्व जाति के ही हैं, दूसरी जाति के कर्म्म नहीं हैं, अतः 'गमन' पद से भ्रमणादि कर्म्मों का भी संग्रह हो जाने से 'कर्म्म पाँच ही हैं, यह अवधारणा ठीक है ।

"सामन्यं द्विविधम्" इत्यादि पङ्क्तियों से अब (अवसरप्राप्त) सामान्य का निरूपण 'परमपरञ्च' इस वाक्य से करते हैं । (१) पर और (२) अपर, ये दो प्रकार सामान्य के कहे गये हैं । इस वाक्य के 'च' शब्द से इस 'अवधारण' का बोध होता है कि सामान्य के पर और अपर भेद से दो ही प्रकार हैं । 'अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्' इत्यादि से सामान्य पदार्थ का लक्षण कहते हैं (अर्थात्) अत्यन्त विभिन्न दो वस्तुओं में जिस एक वस्तु के रहने से एक आकार की प्रतीति होती है, उसी को 'सामान्य' कहते हैं [1] । वह 'पर' सामान्य कौन-सा है ?

---

1. जैसे कि एक घट दूसरे घट से भिन्न है, फिर भी उन दोनों में 'ये घट हैं' एक आकार की प्रतीति होती है और पट में यह प्रतीति नहीं होती । इसका कारण सभी घटों में घटत्व नाम के सामान्य का रहना ही है । एवं घट और

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रव्यत्वाद्यपरम्, अल्पविषयत्वात् । तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते ।

आश्रयों में एकाकारप्रतीति को उत्पन्न करती है । किसी भी प्रकार की व्यावृत्तिबुद्धि अर्थात् अपने विभिन्न आश्रयों में परस्पर भेदबुद्धि को उत्पन्न नहीं करती । द्रव्यत्वादि सामान्य सत्ता की अपेक्षा थोड़े आश्रयों में रहने के कारण 'अपर सामान्य' है । ये द्रव्यत्वादि अनुवृत्तिप्रत्यय की तरह व्यावृत्तिप्रत्यय के भी कारण हैं, अतः वे सामान्य होते हुए 'विशेष' भी कहलाते हैं ।

न्यायकन्दली

अत्र युक्तिमाह—महाविषयत्वादिति । **द्रव्यत्वाद्यपेक्षया बहुविषयत्वादित्यर्थः । सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव । द्रव्यत्वादिकं तु स्वाश्रयस्य विजातीयेभ्योऽपि व्यावृत्तेरपि हेतुत्वाद्विशेषोऽपि भवति । सत्ता तु स्वाश्रयस्यानुवृत्तेरेव हेतुस्तेन सामान्यमेव । यद्यप्येषा सामान्यादिभ्यो व्यावर्त्तते तथापि न तेभ्यः**

इस प्रश्न का समाधान 'परं सत्ता' इस वाक्य से देते हैं । सत्ता 'पर' सामान्य ही क्यों है ? इसका हेतु 'महाविषयत्वात्' इस (पञ्चम्यन्त) पद से दिखलाया है । अर्थात् 'सत्ता' जाति द्रव्यत्वादि और जातियों से अधिक आश्रयों में रहती है । यह (सत्तारूप सामान्य) केवल अनुवृत्ति-बुद्धि (अनेक वस्तुओं में एकाकारता की बुद्धि) का ही कारण है, अतः यह केवल 'सामान्य' ही है (विशेष नहीं) । द्रव्यत्वादिरूप सामान्य (विभिन्न द्रव्यों में एकाकारतारूप अनुवृत्तिबुद्धि की तरह) अपने आश्रयीभूत द्रव्यादि में गुणादि से व्यावृत्तिबुद्धि, अर्थात् द्रव्य गुणादि से भिन्न हैं, इस प्रकार की विभिन्नाकारता प्रतीति का भी कारण है, अतः द्रव्यत्वादि जातियाँ 'विशेष'भी हैं । सत्ता तो अपने आश्रयीभूत द्रव्य, गुण और कर्म्म में "ये सत् हैं" इस प्रकार के अनुवृत्तिप्रत्यय का ही कारण है (किसी भी व्यावृत्तिबुद्धि का नहीं), अतः वह 'सामान्य' ही है । (प्र.) यद्यपि यह कह सकते हैं कि सत्ता जाति सामान्यादि पदार्थों में नहीं है (क्योंकि उनमें कोई भी सामान्य नहीं है), अतः 'सत्ता जाति' द्रव्य, गुण, और कर्म्म, इन तीनों में 'ये सत् हैं' इस अनुवृत्तिबुद्धि की तरह (सत्ताजातियुक्त) द्रव्यादि पदार्थ (सत्ताशून्य) सामान्यादि पदार्थों से भिन्न हैं, इस व्यावृत्तिबुद्धि के भी करण है । (इस युक्ति से सत्ता भी द्रव्यत्वादि सामान्य की तरह 'विशेष' कहला सकती है) तथापि सामान्यादि पदार्थों में भी भावत्व, अस्तित्वादि रूप सत्ता तो है ही, जिससे सामान्यादि पदार्थों में भी "ये सत् हैं" इस प्रकार की प्रतीति होती है । अतः सामान्यादि में जातिरूप सत्ता का सम्बन्ध न भी रहे, तथापि द्रव्यादि से सामान्यादि पदार्थों से भिन्नत्व प्रतीति का

पट दोनों परस्पर भिन्न होते हुए भी दोनों में 'ये द्रव्य हैं' । इस एक आकार की प्रतीति होती है । इसका भी कारण घट और पट में द्रव्यत्व नामक सामान्य का रहना ही है ।

न्यायकन्दली

स्वाश्रयं व्यावर्त्तयितुं शक्नोति । तेषामपि स्वरूपसत्तासम्बुद्धिसंवेद्यत्वात् । वस्त्वपेक्षया चानुवृत्तिहेतुत्वं विवक्षितम्, तेनाभावाद्व्यावृत्तिहेतुत्वेऽपि न दोषः ।

यत्प्रमाणेन प्रतीयते तत्रास्ति व्यवहारो लोकानां विपर्य्यये तु नास्तीति । तेन प्रमाणगम्यैव सत्तेति केचित् । तदयुक्तम्, प्रमाणोत्पत्तेः प्राग् वस्तुनोऽसत्त्वप्रसङ्गादसतश्च खरविषाण-स्येव ग्राह्यत्वाभावादन्योन्यसंश्रयापत्तेश्च । सतः प्रमाणस्य ग्राहकत्वे सत्तायाः प्रमाण-ग्राह्यतालक्षणत्वे च ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि ग्राहकान्तरानुसरणेनानवस्थापाताच्च ।

वह कारण नहीं हो सकती, (क्योंकि सत्ता के सम्बन्ध से जिस प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म्म में 'ये सत् हैं' यह प्रतीति होती है, उसी प्रकार सामान्यादि भावपदार्थों से 'भावत्व' रूप सत्ता के बल से 'ये सत् हैं' इस प्रकार की भी प्रतीति होती है । अतः द्रव्यादिधर्मिक सत्त्व की प्रतीति में और सामान्यादिधर्मिक सत्त्व की प्रतीति में आकारगत कोई भेद नहीं है) । (प्र.) अभावों में किसी भी प्रकार की 'सत्त्व' बुद्धि (सत्ताजातिमूलक या भावत्वमूलक) नहीं होती है, अतः सत्ता जाति और किसी को न सही अपने आश्रयीभूत द्रव्यादि में अभावभिन्नत्वरूप व्यावृत्ति के बोध को तो उत्पन्न कर ही सकती है । अतः सत्ता जाति भी द्रव्यत्वादि जातियों की तरह सामान्य और विशेष दोनों हो सकती है । (उ.) नहीं, उक्त 'अनुवृत्तिप्रत्यय' शब्द का अर्थ है अनेक विभिन्न भावपदार्थों में एकाकारता की प्रतीति, एवं 'व्यावृत्तिबुद्धि' शब्द का अर्थ है एक या अनेक भावों में दूसरे भावपदार्थ से भिन्नत्व की बुद्धि । इसी व्यावृत्तिबुद्धि का कारण है 'विशेष' । विशेष का यह लक्षण सत्ता जाति में नहीं है । अतः द्रव्यादि में अभावभिन्नत्व बुद्धि की प्रयोजक होने पर भी सत्ता सामान्य ही है, 'विशेष' नहीं ।

(प्र.) कोई कहते हैं कि वस्तुतः 'अस्तित्व' ही 'सत्ता' है । प्रमाण के द्वारा ज्ञात अर्थ में ही अस्तित्व की प्रतीति होती है । जिस वस्तु की प्रतीति प्रमाण के द्वारा नहीं होती, उसमें अस्तित्व की बुद्धि भी नहीं होती है । अतः 'प्रमाणगम्यत्व' (अर्थात् प्रमाण से ज्ञात होना) ही 'सत्ता' है । इस नाम की कोई अतिरिक्त जाति नहीं है । (उ.) यह उक्ति असङ्गत है, क्योंकि इससे तो प्रमाण की प्रवृत्ति से पहले गदहे के सींग की तरह वस्तुओं की असत्ता माननी पड़ेगी । दूसरी बात यह है कि गदहे की सींग प्रभृति असत् वस्तुओं में प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है । 'सत्' घटादि वस्तुओं में ही प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है । (इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि) वस्तु 'सत्' तभी होगी, जब उसमें प्रमाण की प्रवृत्ति होगी । एवं प्रमाणों की प्रवृत्ति सद्विषयों में ही होगी । अतः सत्त्व को प्रमाणगम्यत्वमूलक और प्रमाणों की प्रवृत्ति को सत्त्वमूलक मानना पड़ेगा, जिससे कि परस्पराश्रयत्व होगा । तीसरी बात है कि 'सत्' प्रमाण ही वस्तुओं का ज्ञापक है, 'असत्' प्रमाण नहीं । एवं 'सत्त्व' को आपने

न्यायकन्दली

अथ मतं न ब्रूमः प्रमाणसम्बन्धः सत्तेति, किन्तु प्रमाणसम्बन्धयोग्यं वस्तुस्वरूपमेव सत्ता । योऽपि सत्तासामान्यमिच्छति, तेनापि पदार्थस्वरूपमभ्युपेयम्, निःस्वभावे शशविषाणादौ सत्ताया असमवायात् । एवं चेत् तदेवास्तु, किं सत्तयेति ।

अत्रोच्यते, प्रत्येकं पदार्थस्वरूपाणि भिन्नानि, कथं तेष्वेकाकारप्रतीतिः ? एकशब्दप्रवृत्तिश्च ? अनन्तेषु सम्बन्धग्रहणाभावात् । अथ तेष्वेकं निमित्तमस्ति ? सिद्धं नः समीहितम् । यथा दृष्टैकगोपिण्डस्य पिण्डान्तरे पूर्वरूपानुकारिणीबुद्धिरुदेति, नैवं महीधरमुपलभ्य सर्षपमुपलभमानस्य पूर्वाकारा-

प्रमाणगम्यत्वरूप माना है, अतः ग्राहकीभूत प्रमाणों में सत्त्वसम्पादन के लिए दूसरे प्रमाण का अवलम्बन करना पड़ेगा । इस पक्ष में अनवस्था दोष भी अनिवार्य होगा ।

(प्र.) प्रमाणों के सम्बन्ध को ही हम सत्ता नहीं कहते, किन्तु प्रमाणसम्बन्ध के योग्य वस्तु के 'स्वरूप' अर्थात् असाधारण धर्म्म को ही उस वस्तु की 'सत्ता' कहते हैं । जो कोई 'सत्ता' नाम की अतिरिक्त जाति मानने की इच्छा रखते हैं, वे भी वस्तुओं के असाधारणस्वभावरूप सत्त्व से शून्य खरगोश के सींग प्रभृति वस्तुओं में सत्ता जाति का समवाय नहीं मानते । अतः उस असाधारण धर्म्म को छोड़कर सत्ता नाम की कोई जाति ही नहीं है ।

(उ.) यह कहना भी कुछ ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म्म इन तीनों के परस्पर भिन्न होते हुए भी तीनों में जो 'ये सत् हैं' इस एक आकार की प्रतीति होती है, वह अनुपपन्न हो जाएगी, चूँकि द्रव्यादि तीनों व्यक्तियों के 'स्वरूप' अर्थात् असाधारण धर्म्म भिन्न-भिन्न हैं । यह सत्त्व अपने-अपने आश्रय को छोड़कर किसी दूसरे में नहीं रह सकते । फिर द्रव्यादि तीनों में रहनेवाली किसी एक वस्तु से उक्त एक आकार की प्रतीति होगी, एवं द्रव्यादि तीनों को समझाने के लिए जिस एक ही 'सत्' शब्द की प्रवृत्ति होती है, वह भी अनुपपन्न हो जाएगी, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं, उन सभी व्यक्तियों में शक्ति का ग्रहण ही असम्भव है । अगर उक्त अनुवृत्तिप्रत्यय के लिए अथवा शब्द के उक्त प्रयोग के लिए द्रव्यादि तीनों में रहनेवाले किसी एक कारण की कल्पना की जाय तो फिर इससे हमारा ही अभीष्ट सिद्ध होगा (फलतः सत्ता जाति माननी ही पड़ेगी)। (प्र.) जिस प्रकार एक गाय को देखने के बाद दूसरी गाय को देखने पर इस दूसरी गाय में भी 'यह गाय है' इस प्रकार की बुद्धि होती है, अतः सभी गायों में रहनेवाली एक गोत्व जाति की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार से पर्वत को देखने के बाद सरसो को देखने पर दोनों में किसी एक आकार की बुद्धि नहीं होती, अतः इन दोनों में से किसी एक का धर्म्म दूसरे में नहीं है ।

न्यायकन्दली

वभासोऽस्तीति कुतोऽत्र सामान्यकल्पनेति चेत्? किं महीधरादिषु निखिलरूपानुगमो नास्ति ? उत मात्रयाऽपि न विद्यते ? यदि निखिलरूपानुगमाभावात् तेषु सामान्य-प्रत्याख्यानम् ? तर्हि गोत्वमपि प्रत्याख्येयम्, तयोः शाबलेयबाहुलेययोः सर्वथा साधर्म्या-भावात् । अथ मात्रयाऽपि स्वरूपानुगमो नास्ति ? तदसिद्धम्, सर्व्वेषामपि तेषामभाव-विलक्षणेन रूपेण तुल्यताप्रतिभासनात् । इयांस्तु विशेषः—गोपिण्डेषु झटिति तज्जातीयता-बुद्धिः,भूयोऽवयवसामान्यानुगमात् । महीधरादिषु तु विलम्बिनी, स्तोकावयवसामान्यानु-गमेन जातेरनुद्भूतत्वात्, यथा मणिकदर्शनाच्छरावे मृज्जातिबुद्धिः ।

एतेनार्थक्रियाकारित्वमपि सत्त्वं प्रत्युक्तम्, असतोऽर्थक्रियाया अभावात्, अर्थक्रिया-याञ्च सत्यां तस्य सत्त्वात्, अर्थक्रियायाश्चार्थक्रियापेक्षया सत्त्वेनानवस्थाने सर्वस्यासत्त्व-प्रसङ्गाच्च ।

(उ.) (इस आक्षेप के समाधानार्थ यह पूछना है कि) (१) क्या पर्वतादि के सभी धर्म्म एक दूसरे में नहीं हैं ? (२) या पर्वतादि के कुछ धर्म्म एक दूसरे में नहीं हैं ? अगर पहला पक्ष मानें तो फिर गायों में भी ''ये गायें हैं'' इस प्रकार का अनुवृत्तिप्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक गाय में रहनेवाले शाबलेयत्वादि धर्म्म दूसरी गायों में नहीं हैं। अगर दूसरा पक्ष मानें तो हम कहेंगे कि यह असत्य है, क्योंकि अन्ततः भावभिन्नत्वरूप धर्म्म तो पर्वत और सरसो दोनों में अवश्य ही प्रतीत होता है । इतना अन्तर अवश्य है कि एक गाय को देखने के बाद दूसरी गाय को देखने पर सादृश्य की बुद्धि शीघ्र उत्पन्न होती है । क्योंकि दोनों गायों के अवयवों में बहुत से सादृश्य हैं । किन्तु पर्वत और सर्षप के अवयवों में उतने सादृश्य नहीं हैं । अतः पर्वत को देखने के बाद सर्षप में सादृश्य की बुद्धि देर से उत्पन्न होती है । इससे इतना ही सिद्ध होता है कि पर्वत और सर्षप दोनों में रहनेवाली जाति परिस्फुट नहीं है । जैसे हड़िया को देखने के बाद पुरवे में मिट्टी में रहनेवाली पृथिवीत्व जाति की उपलब्धि होती है ।

कोई (बौद्ध) कहते हैं कि 'अर्थक्रियाकारित्व' ही 'सत्त्व' है । किन्तु 'परस्पराश्रयत्व' दोष से ग्रसित होने के कारण यह पक्ष भी असङ्गत ही है । शशविषाणादि असत् पदार्थों में सत्त्व इसलिए नहीं है कि उनमें अर्थक्रियाकारित्व नहीं है और उनमें अर्थक्रियाकारित्व इसलिए नहीं है कि वे 'सत्' नहीं हैं । दूसरी बात है कि घटादि पदार्थों की सत्ता जिस अर्थक्रिया के अधीन है, उस अर्थक्रिया के सत्त्व की प्रयोजिका कोई दूसरी अर्थक्रिया नहीं है । (घटादि वस्तुओं के सत्त्व की प्रयोजिका) अर्थक्रिया के असत् होने के कारण घटादि वस्तुओं की सत्ता ही उठ जाएगी ।

न्यायकन्दली

द्रव्यत्वाद्यपरम्, **द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्म्मत्वञ्चापरम्, सत्तापेक्षयाल्पविषयत्वादित्यर्थः, तथा द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरम्, तदपेक्षया घटत्वादिकमपरम्, गुणत्वाद्यपेक्षया रूपत्वादिकमपरम्, कर्म्मत्वाद्यपेक्षया चोत्क्षेपणत्वादिकं व्याख्येयम् ।**

जलमुपलभ्य वह्निमुपलभमानस्य तदित्यनुगमाभावाद् द्रव्यत्वं नास्तीति केचित् । तदसारम्, द्वयोरपि तयोः स्वप्राधान्येन प्रतीतिसम्भवात् । स्वप्राधान्यप्रतीतिरेव द्रव्यत्वप्रतीतिः । उत्क्षेपणादिष्वपि चलनात्मकताप्रतीतिरस्ति, सैव च कर्म्मप्रतीतिः । रूपादिषु तु कृतसमयस्यानुवृत्तिप्रत्ययसम्भवाद् गुणत्वस्याप्रत्याख्यानम् । व्यक्तिग्रहणमिव समयग्रहणमपि तस्य प्रतीतिकारणम्, ब्राह्मणत्वस्येव योनिसम्बन्धज्ञानम् । तत्रापि विशुद्धब्राह्मणसन्ततिजस्योत्पत्तिमात्रानुबद्धमपि ब्राह्मणत्वमिन्द्रियपातमात्रेण क्षत्रियादिविलक्षणतया न गृह्यते, अत्यन्तव्यक्तिसौसादृश्येनानुद्भूतत्वात् । यदा तु मातापित्रोस्तत्पूर्वेषाञ्च वृद्धपरम्परया विशुद्धब्राह्मणत्वमवसितम्, तदा ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यक्षेणैव प्रतीयते ।

"द्रव्यत्वाद्यपरम्" द्रव्यत्वादि जातियाँ अपर हैं । अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्म्मत्व इत्यादि जातियाँ सत्ता की अपेक्षा 'अपर' हैं । इसी प्रकार यह व्याख्या भी करनी चाहिए कि द्रव्यत्वादि जातियों की अपेक्षा पृथिवीत्वादि जातियाँ 'अपर' हैं । पृथिवीत्वादि की अपेक्षा घटत्वादि जातियाँ अपर हैं । एवं गुणत्वादि सामान्यों की की अपेक्षा रूपत्वादि सामान्य अपर हैं ।

कोई कहते हैं कि जल की उपलब्धि के बाद वह्नि की उपलब्धि होने पर "यह वही है" इस प्रकार की (प्रत्यभिज्ञात्मक) प्रतीति नहीं होती है । अतः जलवह्न्यादि साधारण द्रव्यत्व नाम की कोई जाति नहीं है । किन्तु यह असङ्गत है, क्योंकि स्वतन्त्ररूप से प्रतीति का विषय ही द्रव्य है । जल एवं वह्नि दोनों की ही स्वतन्त्ररूप से प्रतीति होती है । अतः अवश्य ही दोनों में रहनेवाली एक द्रव्यत्व जाति है । उत्क्षेपणादि सभी क्रियाओं में चलनरूपत्व की प्रतीति होती है । चलनरूपत्व की प्रतीति ही वस्तुतः कर्म्मत्व की प्रतीति है । (अतः कर्म्मत्व जाति भी अवश्य है) । रूपादि चौबीस गुणों में जिस व्यक्ति को 'गुण' पद की शक्ति गृहीत है, उस व्यक्ति को रूपादि में भी अवश्य ही गुणत्व की प्रतीति होती है । अतः गुणत्व जाति का भी खण्डन नहीं कर सकते । सामान्य (जाति) की प्रतीति के लिए व्यक्ति के ज्ञान की तरह सामान्यवाचक शब्द की (व्यक्ति में) शक्ति का ज्ञान भी कारण है । जैसे ब्राह्मणत्व जाति के ज्ञान में योनिसम्बन्ध का ज्ञान कारण है । ब्राह्मणत्व जाति भी ब्राह्मणजातीय माता-पिता से उत्पन्न व्यक्ति में उत्पत्ति के समय से ही सम्बद्ध रहती है, किन्तु क्षत्रियादि व्यक्तियों के अवयवों के साथ ब्राह्मणजातीय व्यक्तियों के अवयवों का अत्यन्त सादृश्य होने के कारण

न्यायकन्दली

यथा हि सुविदितरत्नपरीक्षाशास्त्रो रत्नजातिभेदं प्रत्यक्षतः प्रत्येति, नापरः । न च तावता रत्नजातिभेदो नास्ति, न च तत्प्रत्यक्षमप्रत्यक्षम् । यच्चोक्तम्—स्त्रीणां स्वभावचपलानां विशुद्धिर्दुरवबोधैवेति । तदसत्, अभियुक्तैः सुरक्षितानां सुकरस्तदवबोधः, कथितश्च तासां बहुविधो रक्षणोपाय इत्यास्तां तावत्प्रसक्तानुप्रसङ्गः ।

तच्च द्रव्यत्वादिकं स्वविषयस्य विजातीयेभ्यो व्यावृत्तेरपि हेतुत्वाद्विशेषाख्यां विशेषसंज्ञामपि लभते, न केवलमनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यसंज्ञां लभते, व्यावृत्तेरपि हेतुत्वाद्विशेषसंज्ञामपि लभत इत्यपिशब्दयोरर्थः । किमुक्तं स्यात् ? द्रव्यत्वादिषु सामान्यशब्दो मुख्यः, अनुवृत्तिहेतुत्वस्य सामान्यलक्षणस्य सम्भवात्, विशेषशब्दश्च भाक्तः, स्वाश्रयो विशिष्यते सर्वतो व्यवच्छिद्यते येन स विशेष इति लक्षणस्यात्राभावात् । इदन्तु लक्षणमन्त्यविशेषेष्वस्ति ।

केवल प्रथम दर्शन में ही क्षत्रियादि व्यक्तियों से विलक्षण रूप से ब्राह्मणों की प्रतीति नहीं होती है । क्योंकि ब्राह्मणत्व जाति व्यक्ति में सम्बद्ध रहने पर भी उद्भूत नहीं है । जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह व्यक्ति ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न है, तब उस व्यक्ति के प्रत्यक्ष के साथ ही ब्राह्मणत्व जाति का भी प्रत्यक्ष हो जाता है । जैसे कि रत्नों की परीक्षा में निपुण व्यक्ति रत्नों की जातियों को प्रत्यक्ष ही देखता है । एवं उस परीक्षा से अनभिज्ञ व्यक्ति रत्नों की जातियों को समझाने पर भी नहीं समझ पाता है । किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि रत्नों की भिन्न जातियाँ ही नहीं हैं या उस निपुण पुरुष का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष ही नहीं है । (प्र.) कोई कहते हैं कि स्त्रियाँ चञ्चल होती हैं, अतः तन्मूलक वंशविशुद्धि का ज्ञान दुर्लभ है । (उ.) किन्तु यह सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि आर्य्यों से सुरक्षित स्त्रियों की सन्तानों में विशुद्धि का बोध कठिन नहीं है । स्त्रियों की रक्षा के बहुत से उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं । अब इस प्रसङ्ग से आये विषय को यहीं छोड़ देना चाहिये ।

द्रव्यत्वादि जातियाँ अपने आश्रयों को भिन्नजातीय वस्तुओं से पृथक् रूप से भी समझाती हैं, अतः वे 'विशेष' नाम से भी कही जाती हैं । अपने विभिन्न आश्रयों में एकाकारप्रतीतिरूप अनुवृत्तिप्रत्ययजनक होने से केवल 'सामान्य' शब्द से ही व्यवहृत नहीं होती हैं । यही दोनों (व्यावृत्तेरपि विशेषाख्यामपि) 'अपि' शब्दों का अभिप्राय है । इससे निष्कर्ष क्या निकला ? यही कि द्रव्यत्वादि जातियाँ 'सामान्य'शब्द के मुख्य अर्थ हैं । क्योंकि "अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्व" रूप सामान्य का सम्पूर्ण लक्षण उनमें है । 'विशेष' शब्द का उनमें लाक्षणिक प्रयोग होता है, क्योंकि "जो अपने आश्रय व्यक्ति को और सभी पदार्थों से भिन्न रूप से समझावे वही 'विशेष' है"। विशेष का यह सम्पूर्ण लक्षण उनमें नहीं है, किन्तु वह अन्त्य विशेषों में (ही) है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः । ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषा एव ।

सभी नित्य द्रव्यों में रहनेवाले 'अन्त्य' ही 'विशेष' हैं । वे (अपने आश्रय की और पदार्थों से भिन्नत्व बुद्धिरूप) व्यावृत्ति के ही कारण हैं । अतः वे 'विशेष' ही हैं (अपने आश्रयों को परस्पर समानरूप से न समझाने के कारण 'सामान्य' शब्द के गौण अर्थ भी नहीं हैं) ।

न्यायकन्दली

नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा **इति । नित्यद्रव्येष्वेव वर्त्तन्त एव ये ते विशेषा इति । नित्यद्रव्येष्वेवेति द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यानां व्यवच्छेदः । द्रव्यगुणकर्म्माणि द्रव्येष्वेव वर्त्तन्ते, न नित्येष्वेवेति । सामान्यानि तु न द्रव्येष्वेव । न नित्येष्वेव वर्त्तन्त एवेति बुद्धिशब्दादीनां व्यवच्छेदः, तेषां समस्तनित्यद्रव्यप्राप्त्यभावात् । ननु किं विशेषा एव किं वा द्रव्यत्वादिवदुभयरूपाः ? इति । तत्राह–ते खल्विति । खलुशब्दो निश्चये, नित्यद्रव्यवृत्तयो ये विशेषास्ते विशेषा एव निश्चिता न तु सामान्यान्यपि भवन्तीत्यर्थः । अत्यन्तं सर्वदा, व्यावृत्तेरेव स्वाश्रयस्येतरस्माद्व्यवच्छेदस्यैव,** हेतुत्वात् **कारणत्वादिति । यथा चेदं तथोपरिष्टादुपपादनीयम् ।**

जो (पदार्थ) केवल सभी नित्यद्रव्यों में रहें और अवश्य ही रहें वे ही 'विशेष' हैं । 'नित्य द्रव्यों में ही रहें' (नित्यद्रव्येष्वेव) इस अंश से द्रव्य, गुण और कर्म्म इन तीनों में विशेष के लक्षण की अतिव्याप्ति की शङ्का मिट जाती है, क्योंकि वे यद्यपि द्रव्यों में ही रहते हैं, तथापि नित्य द्रव्यों में ही नहीं रहते (किन्तु अनित्य द्रव्यों में भी रहते हैं) । सामान्य पदार्थ केवल द्रव्य में ही नहीं रहता है (गुणादि में भी रहता है, अतः सामान्य में विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है) । 'नित्यद्रव्येष्वेव वर्त्तत एव' इस वाक्य से शब्द और बुद्धि इन दोनों में विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति वारित होती है; क्योंकि शब्दादि यद्यपि नित्य द्रव्यों में ही रहते हैं, किन्तु सभी नित्य द्रव्यों में नहीं रहते । क्या ये 'विशेष' ही हैं ? या द्रव्यत्वादि की तरह सामान्य और विशेष दोनों ही हैं ? इस संशय को 'ते खलु' इत्यादि वाक्य से हटाते हैं । यहाँ 'खलु' शब्द 'निश्चय' अर्थ का बोधक है । अभिप्राय यह है कि नित्य द्रव्यों में रहनेवाले ये 'विशेष' निश्चित रूप से केवल 'विशेष' ही हैं, ये कभी सामान्य नहीं होते । क्योंकि ये बराबर अपने आश्रय को और पदार्थों से भिन्न रूप में ही समझाते हैं। यह जिस प्रकार उत्पन्न होता है, वह आगे दिखाया जाएगा ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

अयुतसिद्धानामाधार्य्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः ।

आधार और आधेयरूप अयुतसिद्धों का 'इह प्रत्यय.' अर्थात् इस आधार में यह आधेय है, इस बुद्धि का कारण जो सम्बन्ध वही समवाय है ।

न्यायकन्दली

समवायस्वरूपं निरूपयति–अयुतसिद्धानामिति । युतसिद्धिः पृथक्सिद्धिः, पृथगवस्थितिरुभयोरपि सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्, सा ययोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ, तयोः सम्बन्धः समवायः । यथा तन्तुपटयोः ।

यद्यपि तन्तवः पटव्यतिरिक्ताश्रये समवयन्ति, तथाप्युभयोः परस्पर-परिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वं नास्ति, पटस्य तन्तुष्वेवाश्रयित्वात् । यत्र तु द्वयोरपि सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण व्यतिरिक्ताश्रयाश्रयित्वम्, तत्र युतसिद्धिः, यथा त्वगिन्द्रियशरीरयोः । शरीरं हि त्वगिन्द्रियपरिहारेण पृथगाश्रये स्वावयवे समाश्रितम्, तेनानयोः संयोगो न समवायः । नित्यानान्तु युतसिद्धिः पृथग-

'अयुतसिद्धानाम्' इत्यादि पङ्क्तियों से 'समवाय' के स्वरूप का निरूपण करते हैं । 'युतसिद्धि' शब्द से पृथक्सिद्धि अर्थात् अलग-अलग स्वतन्त्ररूप से रहना अभिप्रेत है । कहने का तात्पर्य है कि जिन दो सम्बन्धियों का आश्रयत्व या आश्रितत्व एक-दूसरे को छोड़कर किसी तीसरी वस्तु में भी रहे उन दो वस्तुओं की स्वतन्त्ररूप से विद्यमानता ही "युतसिद्धि" है । इस प्रकार की युतसिद्धि जिन दो वस्तुओं की न रहे वे दोनों वस्तु 'अयुतसिद्ध' हैं । इसी प्रकार की (अयुतसिद्धि) दो वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय है । जैसे सूत और कपड़े का ।

यद्यपि तन्तु पट से भिन्न अपने अंशु नाम के अवयवों के साथ भी सम्बद्ध है । फिर भी परस्पर एक-दूसरे को छोड़कर वे न कहीं आश्रित हैं एवं न कोई उनमें आश्रित है[1] । जिन दो वस्तुओं में परस्पर एक-दूसरे से असम्बद्ध होकर स्वतन्त्र रीति से किसी तीसरी वस्तु का आश्रयत्व या आश्रितत्व है, उन दो वस्तुओं की स्वतन्त्र रूप से विद्यमानता ही 'युतसिद्धि' है, जैसे कि त्वगिन्द्रिय और शरीर की विद्यमानता । शरीर त्वगिन्द्रिय को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से अपने अवयवों में रहता है, अतः त्वगिन्द्रिय और शरीर का सम्बन्ध संयोग ही है, समवाय नहीं । नित्य दो पदार्थों की 'युतसिद्धि'

---

1. अभिप्राय यह है कि यद्यपि तन्तु पट से भिन्न अपने अंशु नाम के अवयवों में भी सम्बद्ध है, अतः तन्तु और पट में युतसिद्धि की शङ्का ठीक है । किन्तु पट चूँकि तन्तुओं में ही आश्रित है । अतः पट के आश्रयरूप तन्तु अंशु प्रभृति अन्य पदार्थों में सम्बद्ध भी हों तथापि पट को छोड़कर कहीं सम्बद्ध नहीं हो सकते । अतः पट समवाय से युत तन्तुओं की स्वतन्त्र सिद्धि सम्भव नहीं है ।

न्यायकन्दली

वस्थितिः, पृथग्गमनयोग्यता, सा ययोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ, तयोर्यः सम्बन्धः स समवायः, यथाकाशद्रव्यत्वयोरिति । अयुतसिद्धयोः सम्बन्ध इत्युच्यमाने धर्म्मस्य सुखस्य च यः कार्य्यकारणभावलक्षणः सम्बन्धः, सोऽपि समवायः प्रप्नोति, तयोरात्मैकाश्रितयोर्युतसिद्ध्य-भावात् । तदर्थमाधार्य्याधारभूताना**मिति पदम्, न त्वाकाशशकुनिसम्बन्धनिवृत्त्यर्थम्, अयुतसिद्धपदेनैव तस्य निवर्त्तितत्वात् । एवमप्याकाशस्याकाशपदस्य च वाच्यवाचकभावः समवायः स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थ**मिहप्रत्ययहेतुरिति । **वाच्यवाचकभावे हि तस्माच्छब्दात् तदर्थो ज्ञायते न त्विहेदमिति । आधार्य्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुरिति कुण्डबदरसम्बन्धो न व्यवच्छिद्यते, तदर्थमयुतसिद्धानामिति ।**

अत्र केचिदयुतसिद्धिपदं विकल्पयन्ति–किं युतौ न सिद्धौ ? आहो-स्विदयुतौ सिद्धौ ? यदि युतौ न सिद्धौ, कस्तयोः सम्बन्धः, धर्म्मिणोरभावात् ।

अर्थात् पृथक् सिद्धि का अर्थ है दोनों में परस्पर एक-दूसरे को छोड़कर जाने की यह 'योग्यता' । यह जिन नित्य दो वस्तुओं में नहीं है, उनका सम्बन्ध भी समवाय है, जैसे आकाश और द्रव्यत्व का अगर इतना ही कहें कि ''अयुतसिद्ध दो वस्तुओं का सम्बन्ध ही समवाय है'' तो पुण्य और सुख इन दोनों का जो कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, उसमें समवाय लक्षण की अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि वे दोनों केवल आत्मा में ही रहने के कारण युतसिद्ध नहीं हैं, अतः समवाय के लक्षणवाक्य में ''आधार्य्याधारभूतानाम्'' यह पद देना आवश्यक है; किन्तु बाज पक्षी और आकाश के संयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए ''आधार्य्याधार-भूतानाम्'' यह पद नहीं है; क्योंकि इस अतिव्याप्ति का वारण 'अयुतसिद्ध' पद से ही हो जाता है । इसी प्रकार आकाश पद और आकाशरूप अर्थ इन दोनों के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति वारण के लिए प्रकृत समवाय लक्षण में 'इहप्रत्ययहेतुः' यह पद दिया गया है; क्योंकि आकाश पद से आकाशरूप अर्थ की ही प्रतीति होती है । इससे यह प्रतीति नहीं होती कि 'आकाशरूप अर्थ में आकाश पद है' या 'आकाशपद में आकाशरूप अर्थ है' । (प्रकृत समवाय लक्षण में) 'आधार्य्याधारभूतानाम्' एवं 'इहप्रत्ययहेतुः' इन दोनों पदों का प्रयोग करने पर भी कुण्ड और बदर के संयोग सम्बन्ध में अतिव्याप्ति नहीं हटती है, अतः 'अयुतसिद्धानाम्' यह पद है ।

यहाँ कुछ लोग अयुतसिद्ध पद के अर्थ के प्रसङ्ग में इन विरुद्ध पक्षों को उठाते हैं कि अयुतसिद्ध पद का (१) 'युतौ न सिद्धौ' एवं 'अयुतौ सिद्धौ' इन दोनों में कौन-सा विग्रह प्रकृत में इष्ट है ? इनमें प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं है कि प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों अगर असिद्ध हैं तो फिर यह समवाय सम्बन्ध

न्यायकन्दली

अथायुतौ सिद्धौ, तथापि कः सम्बन्धोऽपृथक्सिद्धत्वादेव । भिन्नयोर्हि सम्बन्धो यथा कुण्डबदरयोरिति ।

तदपरे न मृषन्ति । न ह्यस्यायमर्थो युतौ न सिद्धौ न निष्पन्नाविति, असतोः समवायानभ्युपगमात् । नाप्यस्यायमर्थः – अयुतौ सिद्धाविति, एकात्मकत्वे ह्येकमेव वस्तु स्यान्नोभयम्, परस्परात्मकत्वाभावलक्षणत्वादुभयरूपतायाः । न च तदेकं वस्तु परमार्थतः, परस्परविलक्षणेन रूपेण तयोराकारयोः प्रतिभासनात् । विलक्षणाकारबुद्धिवेद्यत्वस्यैव भेदलक्षणत्वात्, अन्यथा भेदाभेदव्यवस्थानुपपत्तेः । तस्मान्न स्वरूपाभेदोऽप्ययुतसिद्धिः, किन्तु अयुतसिद्धानामिति परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितानामित्यर्थः । तथा च सति सम्बन्धो नानुपपन्नः, स्वरूपभेदस्य सम्भवात्, भिन्नयोश्च परस्परोपश्लेषस्य दहनायस्पिण्डयोरिव विना सम्बन्धेनासम्भवात् । इयांस्तु विशेषः – वह्निरुत्पत्तेः पश्चादयस्पिण्डेन सह सम्बद्ध्यते, इह तु स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानमेव तत्र सम्बद्ध्यते, यथा छिदिक्रिया छेद्येनेत्यलम् ।

किसके साथ किसका होगा ? (क्योंकि समबन्ध से पहले सम्बन्धियों की सिद्धि आवश्यक है), अगर 'जिन दोनों की पृथक् सिद्धि न हो वे अयुतसिद्ध हैं' यह दूसरा पक्ष मानें तो भी असङ्गति है ही, क्योंकि जिन दो वस्तुओं की अलग-अलग सिद्धि न हो, पृथक् सत्ता न रहे, उन दोनों का सम्बन्ध कैसा ? दो भिन्न वस्तुओं का ही सम्बन्ध होता है, जैसे कुण्ड और बैर का ।

इन दोनों ही आक्षेपों को दूसरे सम्प्रद [illegible]हीं मानते । इन लोगों का कहना है कि 'युतौ न सिद्धौ'' इस विग्रह वाक्य का [illegible] अर्थ नहीं है कि ''जिन दो वस्तुओं की (पृथक्) सत्ता न रहे, वे अयुतसिद्ध हैं'', क्योंकि हम लोग असत् वस्तुओं का समवाय नहीं मानते । ''अयुतौ न सिद्धौ'' इस विग्रह वाक्य के अनुसार यह अर्थ भी नहीं है कि ''जिन दो वस्तुओं की अभिन्नरूप से सिद्धि हो वे अयुतसिद्ध हैं'', क्योंकि एक स्वरूप की वस्तु एक ही होगी, दो नहीं । दो वस्तुओं के दोनों असाधारण धर्म्मों का एक-दूसरे में अभाव ही 'उभयरूपत्व' शब्द का अर्थ है । समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी और प्रतियोगीरूप वे दोनों अयुतसिद्ध अभिन्न भी नहीं हैं, क्योंकि परस्पर विलक्षण रूप से दोनों की यथार्थ प्रतीति होती है । विलक्षण रूप से ज्ञात होना ही वस्तुओं का (परस्पर) भेद है । अगर विलक्षण रूप से ज्ञात होने पर भी वस्तुओं में भेद न मानें तो संसार से भेद और अभेद की बात ही उठ जाएगी । अयुतसिद्ध शब्द का अर्थ यह है कि जो अनेक वस्तुएँ परस्पर एक-दूसरे को छोड़कर न रहें वे 'अयुतसिद्ध' हैं । (अयुतसिद्ध शब्द के) इस प्रकार के अर्थ में सम्बन्ध की कोई अनुपपत्ति नहीं है । क्योंकि इस प्रकार के अयुतसिद्धों के स्वरूप

प्रशस्तपादभाष्यम्

एवं धर्म्मैर्विना धर्म्मिणामुद्देशः कृतः ।

इस प्रकार धर्म्मों को छोड़कर केवल धर्म्मियों के नामों का उल्लेख किया गया है ।

न्यायकन्दली

ननु किमर्थं षडेव पदार्था उद्दिष्टा नापरे ? तेषामेव भावात्, तदन्येषामभावाच्च । तदभावश्च सर्व्वैः प्रमाणैरनुपलभ्यमानत्वाच्छशविषाणवत् । षण्णां सामान्यलक्षणं विधिप्रत्ययविषयत्वम् । व्यावृत्तन्तु लक्षणम्–यथा गुणाश्रयो द्रव्यम् । सामान्यवानगुणः संयोगविभागयोरनपेक्षो न कारणं गुणः । एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्म्म । अनुवृत्तिप्रत्ययकारणं सामान्यम् । अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुर्विशेषः । अयुतसिद्ध-योराश्रयाश्रयिभावः समवाय इति ।

अनुद्दिष्टेषु धर्म्मिषु धर्म्मा न शक्यन्ते वक्तुम्, अतो धर्म्माणामुद्देशं प्रक्रमयितुं सङ्गतिं प्रदर्श्यति–एवमिति । **एवं पूर्वोक्तेन ग्रन्थेन** धर्म्मैर्विना

भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । जैसे कि वह्नि और अयःपिण्ड का परस्पर सम्मिलन बिना संयोग रूप सम्बन्ध के असम्भव है, उसी प्रकार किन्हीं भी विभिन्न दो पदार्थों का बिना किसी सम्बन्ध के परस्पर सम्मिलन असम्भव है । अन्तर केवल इतना ही है कि उत्पन्न होने के बाद वह्नि अयःपिण्ड के साथ सम्बद्ध होता है, किन्तु समवाय का प्रतियोगी अपने कारणों के बल से अपने अनुयोगी में सम्बद्ध ही उत्पन्न होता है जैसे कि काटने की क्रिया काटी जानेवाली वस्तु के साथ सम्बद्ध ही उत्पन्न होती है । इस विषय में इतना ही विचार पर्य्याप्त है ।

(प्र.) छः पदार्थों का ही प्रतिपादन क्यों किया ? और पदार्थों का क्यों नहीं ? (उ.) इसलिए कि पदार्थ उतने ही हैं, उससे अधिक नहीं, इन छः पदार्थों से भिन्न पदार्थों का अभाव इसलिए है कि वे किसी भी स्वीकृत प्रमाण से उपलब्ध नहीं हैं । जैसे कि खरहे की सींग । छः पदार्थों का सामान्य लक्षण यह है कि किसी प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना भावत्वरूप से ज्ञात होना । प्रत्येक पदार्थ का औरों में न रहनेवाला लक्षण इस प्रकार है–(१) गुणों का आश्रय द्रव्य है । (२) जो सामान्य (जाति) से युक्त हो, गुणों से सर्वथा रहित हो, संयोग और विभाग का स्वतन्त्र कारण न हो वही गुण है । (३) जो एक समय में एक ही द्रव्य में रहे, गुणों से सर्वथा शून्य हो, एवं संयोग और विभाग का स्वतन्त्र कारण हो वही कर्म्म है । (४) अपने विभिन्न आश्रयों में एकाकारता प्रतीतिरूप अनुवृत्तिप्रत्यय का कारण 'जाति' है । (५) अपने आश्रय में औरों से भिन्नत्व बुद्धिरूप व्यावृत्तिप्रत्यय का कारण 'विशेष' है । (६) अयुतसिद्धों के आधाराधेय-भाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' है ।

जब तक धर्म्मी न कहे जाएँ तब तक उनके धर्म्म नहीं कहे जा सकते । अतः पदार्थों के उद्देश के बाद पदार्थ के धर्म्म अर्थात् साधर्म्य क्यों कहे गये ? इस प्रश्न का

प्रशस्तपादभाष्यम्

षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि ।

(द्रव्यादि) छहों पदार्थों के १. अस्तित्व, २. अभिधेयत्व और ३. ज्ञेयत्व, ये तीन साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

धर्म्मान् परित्यज्य धर्म्मिणामुद्देशः कृतः, **धर्म्मिणां संज्ञामात्रेण सङ्कीर्तनं कृतमिदानीं धर्म्मा उद्दिश्यन्त इति भावः । यद्यपि पूर्वं द्रव्यादीनां विभागः कृतस्तथाप्युद्देशः कृत इत्युक्तम्, विभागस्य नामधेयसङ्कीर्तनमात्रेणोद्देशेऽन्तर्भावात् ।**

यद्यपि धर्म्माः षट्पदार्थेभ्यो न व्यतिरिच्यन्ते, किन्तु त एव अन्योन्यापेक्षया धर्म्मा धर्म्मिणश्च भवन्तीति । तथापि तेषां धर्म्मिरूपतया परिज्ञानार्थं पृथगुद्देशं करोति— षण्णामपीति । अस्तित्वं **स्वरूपवत्त्वम्, षण्णामपि साधर्म्यम्, यस्य वस्तुनो यत् स्वरूपं तदेव तस्यास्तित्वम् ।** अभिधेयत्व**मप्यभिधानप्रतिपादनयोग्यत्वम्, तच्च वस्तुनः स्वरूप-मेव । भावस्वरूपमेवावस्थाभेदेन** ज्ञेयत्व**मभिधेयत्वञ्चोच्यते ।**

आश्रितत्वञ्च **परतन्त्रतयोपलब्धिः, न समवायलक्षणा वृत्तिः, समवाये तदभावात् । इदञ्चाश्रितत्वं चतुर्विधेषु परमाणुषु आकाश-काल-**

समाधान सङ्गति प्रदर्शन के द्वारा 'एवम्' इत्यादि पङ्क्ति से दिखलाते हैं । 'एवम्' पहले कहे हुये सन्दर्भ से, 'धर्म्मैर्विना' धर्मों को छोड़कर 'धर्म्मिणामुद्देशः कृतः' अर्थात् धर्म्मियों को ही केवल उनके नाम के द्वारा कहा है, अब उनके धर्म्मों को उनके नाम से कहते हैं । यद्यपि पहले के ग्रन्थों से पदार्थों का विभाग भी किया है, फिर भी 'उद्देशः कृतः' यही वाक्य कहा है, क्योंकि नामों के द्वारा पदार्थों के कथन रूप उद्देश में ही विभाग का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

यद्यपि ये धर्म्म भी इन छः पदार्थों के ही अन्तर्गत हैं, तथापि वे ही यथासम्भव अपने में एक-दूसरे के धर्म्म और धर्म्मी कहलाते हैं, फिर भी धर्म्मी रूप से उनको समझाने के लिए 'षण्णाम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अलग से उनको कहते हैं । 'अस्तित्व' शब्द का अर्थ 'स्वरूप' है, अर्थात् वस्तुओं का अपना असाधारण रूप ही अस्तित्व है । यह 'अस्तित्व' द्रव्यादि छहों पदार्थों में रहनेवाला धर्म्म है । 'अभिधेयत्व' शब्द का अर्थ है अभिधान, अर्थात् शब्द से कहे जाने की क्षमता, वह भी वस्तुओं का स्वरूप ही है । वस्तुओं का यह स्वरूप ही अवस्थाओं के भेद से अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व प्रभृति शब्दों से कहा जाता है ।

परतन्त्र रूप से ज्ञात होना ही 'आश्रितत्व' शब्द का अर्थ है । समवाय सम्बन्ध से कहीं रहना (आश्रितत्व शब्द का अर्थ) नहीं है, क्योंकि समवाय कहीं पर भी समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है । पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों पदार्थों के परमाणुवों

प्रशस्तपादभाष्यम्

आश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः ।
द्रव्यादीनां पञ्चानां समवायित्वमनेकत्वञ्च ।

नित्य द्रव्यों को छोड़कर और सभी पदार्थों का आश्रितत्व साधर्म्य है । द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों के समवायित्व और अनेकत्व ये दो साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

दिगात्ममनःसु नास्तीत्याह—अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति ।

ये तु धर्म्मान् व्यतिरिक्तानिच्छन्ति तेषामेकस्मिन् समस्तवस्तुव्यापिन्यस्तीतिप्रत्ययहेतावस्तित्वे कल्पिते द्रव्यादिषु सत्तावैयर्थ्यम् । अथास्तित्वं प्रतिवस्तु भिद्यते तदा तत्कल्पनावैयर्थ्यम्, सत्तायाः स्वरूपसत्तायाश्च सदिति प्रत्ययोपपत्तेः । येषान्तु भावस्वरूपमेवास्तित्वं न तेषां व्यर्था सत्ता, स्वरूपस्यानुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वाभवात् । नाप्यस्तित्वमनर्थकं निःस्वरूपे सत्तायाः समवायाभावादित्युभयमुपपद्यते ।

द्रव्यादीनां विशेषान्तानां साधर्म्यं साधयति । समवायित्वं **समवायलक्षणा वृत्तिः ।** अनेकत्वं **परस्परविभिन्नत्वमितरेतरव्यावृत्तं स्वरूपमेव ।**

में तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन नौ नित्य द्रव्यों में (इतने ही द्रव्य नित्य हैं) यह 'आश्रितत्व' नहीं है, अतः "अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" यह वाक्य कहा गया है ।

जो समुदाय व्यक्तिभेद से धर्म्मों को भिन्न ही मानना चाहते हैं (वे भी अनेक वस्तुओं में रहनेवाले और धर्म्मों को न भी मानें, किन्तु) सभी वस्तुओं में एक प्रकार की 'अस्ति' प्रतीति को उत्पन्न करनेवाला 'अस्तित्व' नाम का धर्म्म उन्हें भी मानना ही पड़ेगा, किन्तु ऐसा मानने पर द्रव्यादि तीन पदार्थों में ही सत्त्व प्रतीति के लिए 'सत्ता' जाति की कल्पना व्यर्थ हो जाएगी । अगर अस्तित्व धर्म्म को प्रतिव्यक्ति भिन्न मानें तो फिर इस प्रकार के अस्तित्व की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि 'सत्ता' जाति एवं तत्तद्व्यक्तिगत तद्व्यक्तित्व (रूप स्वरूपसत्ता) से ही 'सत्प्रतीति' उपपन्न हो जाएगी । जो कोई 'अस्तित्व' को वस्तुओं का स्वरूप ही मानते हैं, उनके मत में भी 'सत्ता' जाति की कल्पना व्यर्थ नहीं है, क्योंकि (बिना सत्ता जाति माने) भिन्न रूप से प्रतीत होनेवाले द्रव्यादि तीन पदार्थों में एक आकार की सत्त्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी । अस्तित्व की कल्पना भी व्यर्थ नहीं है, क्योंकि अपने-अपने व्यक्तिगत स्वरूप (अस्तित्व) से शून्य वस्तुओं में सत्ता जाति का समवाय भी सम्भव नहीं है, अतः सत्ता जाति और सभी प्रकार की वस्तुओं में 'अस्ति' प्रतीति का कारण अस्तित्व, इन दोनों को ही मानना आवश्यक है ।

द्रव्य से लेकर विशेष तक पाँच पदार्थों के साधर्म्य का उपपादन करते हैं । 'समवायित्व' शब्द का अर्थ है समवायरूप सम्बन्ध, (अर्थात्) समवाय समबन्ध से कहीं

प्रशस्तपादभाष्यम्

गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे । द्रव्यादीनां त्रयाणामपि सत्तासम्बन्धः, सामान्यविशेष-

गुण से लेकर समवाय तक अर्थात् गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन पाँच पदार्थों के निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व साधर्म्य हैं । द्रव्यादि तीन वस्तुओं के अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म्म इन तीन पदार्थों के ये पाँच साधर्म्य हैं– १. सत्ता का सम्बन्ध, २. सामन्यवत्त्व, ३. विशेषवत्त्व (अर्थात् पर और अपर दोनों जातियोंका सम्बन्ध), ४. इस शास्त्र के सङ्केत-

न्यायकन्दली

द्रव्यादीनामित्युक्ते समवायोऽपि गृह्येत, तदर्थं पञ्चानामित्युक्तम् । पञ्चानामित्युक्ते च केषामिति न ज्ञायते तदर्थं द्रव्यादीनामिति ।

गुणादीनां समवायान्तानां साधर्म्यमाह–गुणादीनामिति । **निर्गुणत्वं गुणाभावविशिष्टत्वम्, निष्क्रियत्वं क्रियाभावविशिष्टत्वम्, यथा भावोऽभावस्य विशेषणं स्वविशिष्टप्रत्ययजननादेवमभावोऽपि । तथा चोपनिबद्धमघटं भूतलमिति । भावाभावयोरसम्बन्धात् कथमभावो विशेषणमिति चेदस्ति तावदयं विशिष्टप्रत्ययः, तद्दर्शनात् सम्बन्धमपि कल्पयिष्यामः । यदि सम्बद्धमेव विशेषणं मन्यसे ।**

रहना । 'अनेकत्व' शब्द का अर्थ है विभिन्नत्व । वह परस्पर एक-दूसरे में न रहनेवाला उन वस्तुओं का स्वरूप ही है । 'द्रव्यादीनाम्' केवल इतना कह देने से समवाय का भी ग्रहण हो जाता, अतः 'पञ्चानाम्' यह पद है । केवल 'पञ्चानाम्' इतना ही कहने से 'कौन पाँच' यह समझ में नहीं आता, अतः 'द्रव्यादीनाम्' यह पद है ।

'गुणादीनाम्' इत्यादि सन्दर्भ से गुण से लेकर समवाय तक के पाँच पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं । 'निर्गुणत्व' शब्द का अर्थ है गुणों का अभाव और 'निष्क्रियत्व' शब्द का अर्थ है क्रियाओं का अभाव । जिस प्रकार 'भाव' अपने से युक्त अभाव प्रतीति का जनक होने से अभाव का विशेषण होता है, उसी प्रकार एवं उसी हेतु से अभाव भी भाव का विशेषण हो सकता है । एवं उसी के अनुकूल 'अघटं भूतलम्' इत्यादि विशिष्टप्रतीति के जनक प्रयोग भी होते हैं। (प्र.) भाव और अभाव दोनों परस्पर विरोधी हैं, अतः उन दोनों में परस्पर सम्बन्ध असम्भव है, एवं दोनों में परस्पर सम्बन्ध न रहने से विशेष्यविशेषणभाव सुतराम् असम्भव है । (उ.) उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भावविशिष्ट अभाव की, एवं अभावविशिष्ट भाव की दोनों ही प्रतीतियाँ अवश्य हैं । अगर परस्पर सम्बद्ध दो वस्तुओं में से ही एक को विशेष्य और दूसरे को विशेषण मानना हो तो फिर उक्त विशिष्ट प्रतीतियों के बल से भाव और अभाव इन दोनों में भी किसी अनुकूल सम्बन्ध की कल्पना करनी ही पड़ेगी ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

वत्त्वम्, स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्वम्, धर्म्माधर्म्मकर्त्तृत्वञ्च ।

रूप अभिधावृत्ति के द्वारा 'अर्थ' शब्द के द्वारा समझा जाना, ५. धर्म्माधर्म्मकर्त्तृत्व ।

न्यायकन्दली

द्रव्यादीनां त्रयाणां सत्तासम्बन्धः **सत्तया सामान्येन सबन्धः समवायरूपो द्रव्यगुण-कर्म्मणां साधर्म्यम् । यथा चैतेषु सत्तासम्बन्धस्तथोपपादितम् । इदन्त्विह निरूप्यते–किं सत्तासम्बन्धः सतोऽसतो वा ? सतश्चेत् प्राक् सत्तासम्बन्धात् सन्नेवासावर्थ इति व्यर्था सत्ता ? अथासतः सम्बन्धः ? खरविषाणादिष्वपि सत्ता स्यात् । नित्येषु तावत्पूर्वापर-भावानभ्युपगमः । अनित्येषु प्रागसत एव सत्ता, कारणसामर्थ्यात् । न च खरविषाणादिष्व- तिप्रसङ्गः , तदुत्पत्तौ कस्यचित् सामर्थ्याभावात् ।**

अन्यदपि साधर्म्यं द्रव्यादीनां त्रयाणां कथयति – सामान्यविशेषवत्त्वञ्चेति । **अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यविशेषा द्रव्यत्वादयस्तैः सह सम्बन्धो द्रव्यादीनाम्, स च समवाय एव ।**

"द्रव्यादीनां त्रयाणां सत्तासम्बन्धः" अर्थात् सत्ता नाम की जाति के साथ समवाय नाम का सम्बन्ध द्रव्य, गुण और कर्म्म इन तीनों का साधर्म्य है । इन तीनों में सत्ता जाति का सम्बन्ध किस प्रकार है ? यह कह चुके हैं । (प्र.) अब यहाँ विचार करना है कि सत्ता जाति 'सत्' अर्थात् पहले से विद्यमान वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होती है ? या असद्वस्तुओं के साथ ? अगर सत्ता सद्वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होती है तो फिर सत्ता जाति की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि सत्ता सम्बन्ध के बिना भी वे सत् हैं ही । अगर असत् वस्तुओं के साथ सत्ता सम्बद्ध होती है तो फिर गदहे के सींग प्रभृति पदार्थों की भी सत्ता माननी पड़ेगी । (उ.) नित्य वस्तुओं में तो पहले-पीछे की कोई बात ही नहीं उठती है । अनित्य वस्तुओं के प्रसङ्ग में यह कहना है कि पहले से अविद्यमान वस्तुओं के साथ ही कारणों के (विशिष्ट) बल से सत्ता सम्बद्ध होती है । गदहे के सींग प्रभृति अलीक पदार्थों की आपत्ति का भी प्रसङ्ग नहीं आता है, क्योंकि किसी भी वस्तु में उनके उत्पादन का बल ही नहीं है ।

'सामान्यविशेषवत्त्वञ्च' इत्यादि से द्रव्यादि तीन पदार्थों के और भी साधर्म्य कहते हैं । द्रव्यत्वादि जातियाँ अपने विभिन्न आश्रयों में 'द्रव्यम्' इस एक आकार की (अनुवृत्ति) बुद्धि का कारण होने से 'सामान्य' हैं एवं अपने आश्रयों को औरों से भिन्न रूप में समझाने के कारण 'विशेष' भी हैं । सामान्य एवं विशेष इन दोनों शब्दों से समझी जानेवाली द्रव्यत्वादि जातियों के साथ द्रव्यत्वादि तीनों वस्तुओं का सम्बन्ध है । वह सम्बन्ध समवाय ही है ।

न्यायकन्दली

स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्वञ्चेति । **वैशेषिकैः स्वयं व्यवहाराय यः सङ्केतः कृतोऽस्मिन् शास्त्रे 'अर्थशब्दाद् द्रव्यगुणकर्म्माणि प्रतिपत्तव्यानि' इति, तेन द्रव्यादीनि त्रीणि निरुपपदेनार्थशब्देनोच्यन्ते ।**

धर्म्माधर्म्मकर्तृत्वञ्चेति । **धर्म्माधर्म्मोत्पत्तिनिमित्तत्वं त्रयाणाम्, यथा हि भूमिरेकैव दीयमानापह्रियमाणा च धर्म्माधर्म्मयोः कारणम् । एकः संयोगो द्वयोः कारणम्, यथा कपिलास्पर्शो नरास्थिस्पर्शश्च । एवं कर्म्माप्युभयकारणम्, यथा तीर्थगमनं शौण्डिकगृह-गमनञ्च, एवमन्यदप्यूह्यम् । धर्म्माधर्म्मकर्तृत्वमिति त्वप्रत्ययेन धर्म्माधर्म्मजननं प्रति तेषां निजा शक्तिरुच्यते । ननु जातिरपि तयोः कारणम् ? न, तस्याः स्वाश्रयव्यवच्छेदमात्रेण चरितार्थत्वात् ।**

'स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्वञ्च' अर्थात् वैशेषिक शास्त्र के आचार्यों ने सङ्केत किया है कि 'अर्थ' शब्द से द्रव्यादि तीन समझे जायँ । इस सङ्केत के बल से विशेषण से शून्य केवल 'अर्थ' शब्द से द्रव्यादि तीन ही समझे जाते हैं । (इस प्रकार वैशेषिक शास्त्र के सङ्केत सम्बन्ध से 'अर्थ' शब्दवत्ता द्रव्यादि तीन पदार्थों में है), अतः स्वसमयार्थशब्दाभिधेयत्व द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य है ।

'धर्म्माधर्म्मकर्त्तृत्वञ्च' अर्थात् द्रव्यादि तीनों पदार्थों में धर्म्म और अधर्म्म दोनों की कारणता है, एक ही भूमि जब किसी को दी जाती है, तब वह धर्म्म का कारण होती है, वही भूमि जब किसी से छीनी जाती है, तब अधर्म्म का करण होती है । इसी तरह कपिला गो का स्पर्श (गुण) धर्म्म का एवं मनुष्य की अस्थि का स्पर्श (गुण) अधर्म्म का कारण है । इसी प्रकार तीर्थगमन क्रिया से धर्म्म और मद्य बेचनेवाले के गृह में जाने की क्रिया से अधर्म्म होता है । इसी प्रकार और स्थलों में भी कल्पना करनी चाहिए । 'धर्म्माधर्म्मकर्त्तृत्वञ्च' इस वाक्य में प्रयुक्त 'त्व' प्रत्यय से द्रव्यादि तीनों वस्तुओं में धर्म्म और अधर्म्म के उत्पादन करने की अपनी शक्ति कही गयी है । (प्र.) [1] जाति भी तो उन दोनों का कारण है ? (उ.) जाति धर्म्म और अधर्म्म का कारण नहीं है, क्योंकि वह अपने आश्रय को विजातीय वस्तुओं से भिन्न समझाकर ही चरितार्थ हो जाती है, (अर्थात्) उक्त शब्द से धर्म्म और अधर्म्म का साक्षात् कारणत्व ही विवक्षित है, (उक्त धर्म्माधर्म्म) के तो ब्राह्मणादि व्यक्ति ही कारण हैं । जाति का काम वहाँ इतना ही है कि ब्राह्मणादि से भिन्नजातीय व्यक्तियों से प्रकृत धर्म्म और अधर्म्म की उत्पत्ति का प्रतिषेध करे, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

---

1. प्रश्न का अभिप्राय है कि द्रव्यादि तीनों पदार्थों की तरह जाति भी धर्म्म और अधर्म्म का कारण है, क्योंकि ब्राह्मणों के लिए विहित क्रिया के अनुष्ठान से क्षत्रियादि

प्रशस्तपादभाष्यम्

कार्य्यत्वानित्यत्वे कारणवतामेव ।

कारणों से उत्पन्न पदार्थों के कार्यत्व और अनित्यत्व ये दो साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

कार्य्यत्वानित्यत्वे कारणवतामेव । **येषां द्रव्यादीनामुत्पत्तिकारणमस्ति तेषां कार्य्यत्वमनित्यत्वञ्च धर्म्मौ न सर्वेषामित्यर्थः । स्वकारणे समवायः , प्रागसतः सत्तासमवायो वा कार्य्यत्वमित्येके । तदयुक्तम् , प्रध्वंसे तदभावात् । तस्मात् कारणाधीनः स्वात्मलाभः कार्य्यत्वमिति लक्षणम्, व्यापकत्वात् । प्राक्प्रध्वंसाभावोपलक्षिता वस्तुनः सत्तैवानित्यत्वमिति केचित् । तदयुक्तम्, अप्रतीतेः । अनित्य इति विनाशीत्येवं लोकः प्रत्येति, न तु सत्ताविशिष्टताम् । उत्पत्तिविनाशयोगित्वमित्यपरः । तदप्यसारम्, प्रागभावे उत्पत्तेरभावात्, तस्याप्यनित्यत्वेन लोके सम्प्रतिपत्तेः । तस्मात् स्वरूपविनाश एवानित्यत्वमिति । यथोक्तम्—"अनित्यत्वं विनाशाख्यं क्रियासामान्यमुच्यते" इति ।**

'कार्य्यत्वानित्यत्वे कारणवतामेव' अभिप्राय यह है कि कारणों से जिन द्रव्यादि वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, कारणत्व और अनित्यत्व उन्हीं पदार्थों के साधर्म्य हैं, सभी पदार्थों के नहीं । कोई कहते हैं कि (प्र.) कारणों में कार्य्यों का समवाय ही उनका 'कार्य्यत्व' है या पहले से अविद्यमान कार्य्यों में 'सत्ता' (जाति) का समवाय सम्बन्ध ही 'कार्य्यत्व' है । (उ.) किन्तु ये दोनों ही पक्ष अयुक्त हैं, क्योंकि ध्वंसात्मक कार्य्य में इन दोनों में से एक प्रकार का भी कार्य्यत्व नहीं है, अतः कार्य्यत्व लक्षण के सभी लक्ष्यों में रहने के कारण "कारणों से अपने स्वरूप का लाभ ही" कार्य्यत्व का लक्षण है । कोई कहते हैं कि (प्र.) जिन वस्तुओं का कभी प्रागभाव रहे और कभी जिनका ध्वंस भी हो उनमें रहनेवाली 'सत्ता' ही 'अनित्यत्व' है । (उ.) किन्तु यह असङ्गत है, क्योंकि अनित्यत्व की प्रतीति इस आकार की नहीं होती है । 'अनित्यत्व' शब्द से विनाशशीलत्व की ही प्रतीति होती है, किसी प्रकार की सत्ता की नहीं । (प्र.) कोई कहते हैं कि उत्पत्ति और विनाश दोनों का सम्बन्ध ही 'अनित्यत्व' है । (उ.) किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रागभाव में अनित्यत्व की सार्वजनीन अबाधित प्रतीति होती है, किन्तु उसमें उत्पत्ति का सम्बन्ध नहीं है । अतः वस्तुओं के स्वरूप का नाश ही अनित्यत्व है । जैसा कहा भी है कि विनाश नाम की सामान्य क्रिया ही 'अनित्यत्व' शब्द से कही जाती है । (प्र.) यद्यपि वस्तुओं की वर्त्तमान

को पुण्य नहीं होता, एवं ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध सुरापानादि से शूद्रादि को अधर्म्म नहीं होता, अतः यह कथन असङ्गत है कि उक्त धर्म्माधर्म्मकर्तृत्व केवल द्रव्यादि तीन के ही साधर्म्य हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

कारणत्वञ्चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः ।

परिमाण्डल्य प्रभृति पदार्थों को छोड़कर और सभी पदार्थों का कारणत्व साधर्म्य है ।

न्यायकन्दली

यद्यपि विनाशो वस्तुकाले नास्ति, तथापि प्रमाणान्तरसिद्धसद्भावो भवत्येव विशेषणम्, अनित्यो घट इति प्रत्येतुरेकत्वात् । तथा लोके विनाशि शरीरमध्रुवा विषया इति

कारणत्वञ्चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्य **इति । पारिमाण्डल्यमिति परमाणुपरिमाणम्, आदिशब्दाद् द्व्यणुकपरिमाणम्, आकाशकालदिगात्मनां विभुत्वमन्त्यशब्दमनःपरिमाणं परत्वापरत्वे द्विपृथक्त्वमन्त्यावयविपरिमाणञ्चेत्यादि**

दशा में विनाश नहीं रहता है[1] । (उ.) तथापि[2] जिसकी सत्ता प्रमाण से सिद्ध है, वह भी अवश्य विशेषण ही होता है । साधारण जनों को भी इस प्रकार की स्वारसिक प्रतीतियाँ होती हैं कि शरीर विनाशशील है, सभी वस्तु चिरकाल तक रहनेवाली नहीं है ।

'पारिमाण्डल्य' शब्द का अर्थ है परमाणुवों का परिमाण । (पारिमाण्डल्यादि पद में प्रयुक्त) 'आदि' पद से आकाश, काल, दिशा और आत्मा इन चार पदार्थों का 'विभुत्व' अर्थात् परममहत्परिमाण, अन्तिम शब्द मन का परिमाण तथा उसी का परत्व और अपरत्व, द्विपृथक्त्व, अन्त्यावयवी द्रव्य (जो अवयवी किसी दूसरे अवयवी का अवयव न हो, जैसे घट) का परिमाण, ये सभी अभिप्रेत हैं । इनसे भिन्न द्रव्यादि

---

1. पूर्वपक्षी का आशय है कि विनाश ही अगर अनित्यत्व हो तो 'घटोऽनित्यः' इस प्रकार की विशिष्ट प्रमाबुद्धि नहीं होगी, क्योंकि विशिष्ट प्रमा के लिए विशेष्य में विशेषण का रहना आवश्यक है । जब तक घटरूप विशेष्य रहेगा, तब तक उसमें विनाशरूप अनित्यत्व नहीं रहेगा और जब घट विनष्ट हो जाएगा, तब अनित्यत्वरूप विशेषण रहेगा कहाँ ? सुतराम्, चूँकि विद्यमान वस्तु और विनाश दोनों परस्पर विरोधी हैं, अतः उनमें विशेष्यविशेषण-भाव नहीं हो सकता ।
2. इस समाधान ग्रन्थ का आशय है कि विशेष्यविशेषणभाव के लिए दोनों का एक समय में रहना आवश्यक नहीं है, केवल इतना ही आवशयक है कि दोनों प्रमाणसिद्ध हों एवं परस्पर सम्बद्ध हों । इसका भी कोई बन्धन नहीं है कि वह सम्बन्ध आधाराधेयभाव का नियामक ही हो । अतः 'घटो विनष्टः' इत्यादि विशिष्ट प्रतीति के अनुरोध से घट और विनाश में भी प्रतियोगित्वादि सम्बन्ध की कल्पना करेंगे । अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रव्याश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः ।

नित्य द्रव्यों को छोड़कर और सभी पदार्थों का द्रव्य में आश्रित रहना साधर्म्य है ।

न्यायकन्दली

ग्राह्यम् । एतानि परित्यज्यापरेषां द्रव्यादीनां त्रयाणां कारणत्वं **समवाय्यसमवायिकारणत्वम् । यद्यपि द्रव्यस्य नासमवायिकारणत्वम्, न च समवायिकारणत्वं गुणकर्म्मणोः, तथापि निमित्तकारणविलक्षणतयेदं साधर्म्यमुक्तम् ।**

द्रव्याश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति । **नन्वाश्रितत्वं षण्णामित्युक्तं तेनेदं पुनरुक्तम् ? न पुनरुक्तम्, द्रव्योपलक्षितस्याश्रितत्वस्यात्र विवक्षितत्वादिति कश्चित् । तदयुक्तम्, सामान्यादीनामपि द्रव्योपलक्षितस्याश्रितत्वस्य सम्भवान्नेदं द्रव्यादित्रयसाधर्म्यकथनं स्यात् । तस्मादित्थं व्याख्येयम् । अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति द्रव्यग्रहणमुपलक्षणम्, तद्वृत्तयोऽन्त्या विशेषास्तेऽपि गृह्यन्ते । नित्यद्रव्याणि तद्गतांश्च विशेषान् परित्यज्य द्रव्य एवाश्रितत्वं द्रव्यादीनां त्रयाणां साधर्म्यं नापरेषामित्यर्थः ।**

तीन पदार्थों का 'कारणत्व' साधर्म्य है । यहाँ कारणत्व शब्द से समवायिकारणत्व और असमवायिकारणत्व ही इष्ट है । यद्यपि द्रव्यों में असमवायिकारणत्व नहीं है, एवं गुण और कर्म्म में समवायिकारणत्व नहीं है, किन्तु यहाँ 'कारणत्व' शब्द से 'निमित्तकारणभिन्नकारणत्व' रूप साधर्म्य ही विवक्षित है (यह साधर्म्य द्रव्यादि तीनों वस्तुओं में समान रूप से है) ।

"द्रव्याश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" । (प्र.) पहले कह चुके हैं कि आश्रितत्व (नित्य द्रव्यों को छोड़कर) छः पदार्थों का साधर्म्य है । फिर वही बात कहते हैं, अतः इसमें पुनरुक्ति दोष है । (उ.) इस दोष का परिहार कोई इस प्रकार करते हैं कि पहले केवल 'आश्रितत्व' साधर्म्य का उल्लेख है, अब 'द्रव्याश्रितत्व' साधर्म्य कहते हैं । दोनों में कुछ अन्तर अवश्य है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है । किन्तु यह समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि यह द्रव्यादि तीन वस्तुओं के साधर्म्य का प्रकरण है, अतः द्रव्याश्रितत्वरूप प्रकृत साधर्म्य सामान्यादि पदार्थों में अतिप्रसक्त होगा, इसलिए प्रकृत पङ्क्ति की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि प्रकृत "अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" इस वाक्य में प्रयुक्त 'द्रव्य' पद उपलक्षण है ('द्रव्याश्रितत्व' शब्द का अर्थ है, द्रव्यरूप समवायिकारण से उत्पन्न होना, तदनुसार) नित्य द्रव्य और उनमें रहनेवाले 'लिशेष' अर्थात् नित्य गुणों को छोड़कर द्रव्यादि तीन वस्तुओं का (फलतः अनित्य द्रव्य, अनित्य गुण और कर्म्म इन तीन वस्तुओं का) 'द्रव्याश्रितत्व' अर्थात् द्रव्यरूप समवायिकारण से उत्पन्न होना साधर्म्य है, औरों का नहीं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्य्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषवत्त्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्वञ्चेति ।

सामान्य प्रभृति तीन पदार्थों का अर्थात् सामान्य विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों का 'स्वात्मसत्त्व' अर्थात् सत्ता जाति के बिना सत्ता, बुद्धिलक्षणत्व, अकार्य्यत्व, अकारणत्व, असामान्यविशेषवत्त्व, नित्यत्व और 'अर्थ शब्द' का अभिधेय न होना ये सात साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

सम्प्रति सामान्यादीनां साधर्म्यमाह—सामान्यादीनामिति। **स्वात्मैव सत्त्वं स्वरूपं यत्सामान्यादीनां तदेव तेषां सत्त्वम्, न सत्तायोगः सत्त्वम् । एतेन सामान्यादीनां त्रयाणां सामान्यरहितत्वं साधर्म्यमुक्तमित्यर्थः । कथमेतत् ? बाधकसद्भावात्, सामान्ये सत्ता नास्ति, अनिष्टप्रसङ्गात् । विशेषेष्वपि सामान्यसद्भावे संशयस्यापि सम्भवात् । निर्णयार्थं विशेषानुसरणेऽप्यनवस्थैव । समावायेऽपि सत्ताभ्युपगमे तद्वृत्त्यर्थं समवायाभ्युपगमादनिष्टापत्तिरेव दूषणम् । गोत्वादिष्वपरजातिमत्त्वेन व्याप्तस्य सत्तासम्बन्धस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तिसिद्धिः । कुतस्तर्हि सामान्यादिषु सत्सदित्यनुगमः ? स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारो-**

द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य कहकर अब 'सामान्यादीनाम्' इत्यादि से सामान्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य कहते हैं । अर्थात् सामान्यादि का 'आत्मा' अर्थात् स्वरूप ही 'सत्त्व' है । (द्रव्यादि तीनों की तरह) सत्ता जाति का सम्बन्ध उनकी 'सत्ता' नहीं है । इससे सत्ता जाति से रहित होना सामान्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य कथित होता है । (प्र.) सामान्यादि में सत्ता क्यों नहीं है? (उ.) सामान्यादि तीन पदार्थों में सत्ता मानने में यह बाधा है कि इससे 'अनवस्था' होगी । विशेषों में भी अगर सामान्य की सत्ता मानें तो वहाँ संशय हो सकता है कि ये विशेष एकजातीय हैं या विभिन्न-जातीय? और तब फिर सभी नित्य द्रव्यों में यह संशय होगा । निश्चय करने के लिए अगर और विशेष निश्चयों के पीछे दौड़ेंगे तो अनवस्था होगी। समवाय में अगर सत्ता जाति मानेंगे तो उसके सम्बन्ध के लिये दूसरे समवाय की कल्पना क़रनी पड़ेगी । इस प्रकार इसमें भी अनवस्था होगी । और भी बात है, जहाँ-जहाँ सत्ता जाति रहती है, उन सभी स्थानों में गोत्वादि अपर जातियों में से भी कोई जाति अवश्य ही रहती है । सत्ता और गोत्वादि अपर जातियों की यह व्याप्ति गोप्रभृति वस्तुओं में सिद्ध है । सामान्यादि में कोई भी अपरजाति नहीं है, अतः सत्ता जाति भी उनमें नहीं है । (प्र.) फिर सामान्यादि में 'ये सत् हैं' इस प्रकार की प्रतीति क्यों होती है ? (उ.) सामान्यादि में रहनेवाली 'स्वरूपसत्ता' और सत्ता जाति इन दोनों के सादृश्य से सामान्यादि पदार्थों में सत्ता जाति का आरोप

न्यायकन्दली

पात् । तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयम् ? को नामाह नेति । भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैव, स्वरूपग्रहणन्तु न मृषा, स्वरूपस्य यथार्थत्वात् । द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः ? नैवम्, सति मुख्येऽध्यारोपस्यासम्भवात् । न चेयं सामान्यादिष्वेव मुख्या, बाधकसम्भवाद् द्रव्यादिषु च तदभावात् ।

बुद्धिलक्षणत्वमिति । **बुद्धिरेव लक्षणं प्रमाणं येषां ते बुद्धिलक्षणाः, विप्रतिपन्न-सामान्यादिसद्भावे बुद्धिरेव लक्षणं नान्यत्, द्रव्यादिसद्भावे त्वन्यदपि तत्कार्यं प्रमाणं स्यादित्यर्थः । कश्चित् पुनरेवमाह– बुद्ध्या लक्ष्यन्ते प्रतीयन्त इति बुद्धिलक्षणाः, तदयुक्तम्, द्रव्यादेरपि स्वबुद्धिलक्षणत्वान्नेदं वैधर्म्यमुक्तं स्यात् ।**

होता है । इसी आरोप से सामान्यादि पदार्थों में भी एक्र प्रकार की 'ये सत् हैं' इस आकार की प्रतीति होती है । (प्र.) तो फिर सामान्यादि में उक्त एक आकार की सत्त्व की प्रतीति भ्रमरूप है ? (उ.) कौन कहता है कि भ्रम रूप नहीं है ? भिन्न स्वभाव की वस्तुओं में एक आकार की प्रतीति अवश्य ही भ्रम है । किन्तु उनके स्वरूपों का ज्ञान यथार्थ ही है, क्योंकि वे उनमें ठीक ही हैं । (प्र.) फिर द्रव्यादि तीनों पदार्थों में भी (सामान्यादि की तरह) स्वरूपसत्त्व के आरोप से सत्ता की एक आकार की प्रतीति को भी मिथ्या क्यों नहीं मान लेते ? (उ.) इसलिए कि मुख्य प्रतीति के सम्भव होने पर आरोप मानना अनुचित है । यह भी सम्भव नहीं है कि सामान्यादि में ही सत्त्व की एक आकार की प्रतीति को ही मुख्य मान लें, क्योंकि ऐसा मानने में अनवस्था आ जाती है । द्रव्यादि तीनों पदार्थों में सत्त्व की एक आकार की प्रतीति को मुख्य मानने में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं है ।

'बुद्धिलक्षणत्वम्', "बुद्धिरेव लक्षणं प्रमाणं येषां ते बुद्धिलक्षणाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धि ही जिनका प्रमाण है, वे ही बुद्धिलक्षण कहे जाते हैं । अभिप्राय यह है कि द्रव्यादि के प्रसङ्ग में विरुद्ध मत रखनेवालों को द्रव्यादि के कार्यों से भी समझाया जा सकता है । किन्तु सामान्यादि के प्रसङ्ग में विरुद्ध मत रखनेवालों को समझाने के लिए बुद्धि ही एक अवलम्ब है । (प्र.) किसी सम्प्रदाय के व्यक्ति "बुद्ध्या लक्ष्यन्ते प्रतीयन्ते इति बुद्धिलक्षणाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत 'बुद्धिलक्षण' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि "जो बुद्धि से ही प्रतीत हों वे ही बुद्धिलक्षण हैं" । (उ.) किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का बुद्धिलक्षणत्व तो द्रव्यादि में भी है, फिर यह 'बुद्धिलक्षणत्व' का रूप सामान्यादि तीन पदार्थों के साधर्म्य को द्रव्यादि पदार्थों का वैधर्म्य कहना सम्भव न होगा[1] ।

---

1. अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ के आदि में पदार्थ एवं उनके साधर्म्य-वैधर्म्य के निरूपण की प्रतिज्ञा कर चुके हैं । उसके बाद पदार्थ एवं उनके साधर्म्यों का विस्तार से निरूपण

न्यायकन्दली

अकार्य्यत्वं **कारणानपेक्षस्वभावत्वम्, तच्च सामान्ये तावद् व्यक्तेः पूर्वमूदूर्ध्वं व्यक्तिकाले चावस्थितिग्राहकेण कारणाभावोपलब्धिसहकारिणा भूयोदर्शनजसंस्कारानुगृहीतेन प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिवद् गृह्यते । समवायस्याप्यकार्य्यत्वं पूर्वापरसहभावानवक्लृप्तेः, यदि हि पटस्य समवायः पटात् पूर्वं सम्भवति, असति**

अकार्यत्व शब्द का अर्थ है–अपनी (स्वरूप) सत्ता के लिए कारणों की अपेक्षा न रखना । सामान्यादि के आश्रय द्रव्यादि व्यक्तियों में तीनों कालों में ही सामान्य की सत्ता के ज्ञापक एवं सामान्यादि के कारणों के अभाव-ज्ञान का सहायक तथा बार-बार के देखने से उत्पन्न संस्कार के द्वारा विशेष बलप्राप्त प्रत्यक्ष के द्वारा ही व्याप्ति की तरह इस अकार्यत्व का ज्ञान होता है[1] । समवाय में भी अकार्यत्व है ही, क्योंकि समवाय को कार्य मानने की कोई रीति उपपन्न नहीं होती है । समवाय को अगर कार्य मानें तो फिर उसकी

किया है । वैधर्म्यनिरूपण के लिए साधर्म्यनिरूपण के अन्त में लिखा है कि "एवं सर्वत्र साधर्म्यविपर्ययाच्च वैधर्म्यम्" अर्थात् इस प्रकार ये साधर्म्य हैं और (ये ही साधर्म्य) उनसे भिन्न वस्तुओं में न रहने के कारण उनके वैधर्म्य हैं । तदनुसार "सामान्यादीनाम्" इत्यादि प्रकृत पङ्क्ति का एक यह भी अर्थ मानना पड़ेगा कि ये सभी स्वात्मसत्त्वादि तीन पदार्थों से भिन्न पदार्थों के वैधर्म्य भी हैं । अगर बुद्धिलक्षणत्व शब्द की ऐसी व्याख्या करें जिसके अनुसार यह द्रव्यादि में भी रह सके तो फिर प्रकृत पङ्क्ति से उक्त वैधर्म्य का आक्षेप सम्भव न हो सकेगा ।

1. अभिप्राय यह है कि एक घट व्यक्ति की उत्पत्ति के पहले भी उससे पहले के घट में घटत्व की प्रतीति होती है । एवं एक घट व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर भी दूसरे अविनष्ट घट में घटत्व की प्रतीति होती है । वर्त्तमान घट में घटत्व की प्रतीति में तो कोई विवाद ही नहीं है, अतः यह समझते हैं कि व्यक्ति के तीनों कालों में ही जाति की सत्ता रहती है । ऐसी स्थिति में सामान्य को अगर किसी कारण का कार्य मानें तो वह कारण उसके आश्रयीभूत व्यक्तियों के कारणों में से ही होगा या उसके सदृश ही कोई दूसरा होगा, किन्तु किसी भी प्रकार से सामान्य में कार्यत्व मान लेने से उसकी उक्त त्रैकालिक प्रतीति की उपपत्ति नहीं होगी, अतः उक्त त्रैकालिक प्रतीति के कारणभूत प्रमाणों से ही यह भी समझते हैं कि सामान्यादि का कोई कारण नहीं है, अतः जिस प्रकार धूम और वह्नि के सामानाधिकरण्य के भूयोदर्शनजनित संस्कार से युक्त पुरुष को धूम को देखते ही उसकी व्याप्ति भी दिखती है, उसी प्रकार व्यक्तियों में सामान्य का प्रत्यक्ष होते ही उसी प्रत्यक्ष प्रमाण से उसमें रहने वाले अकार्यत्व का भी ज्ञान हो जाता है ।

न्यायकन्दली

सम्बन्धिनि कस्यासौ सम्बन्धः स्यात् ? अथ पटेन सहोत्पद्यते, तदा पटस्यानाधारत्वं प्राप्नोति । अथ पश्चाद्भवति, तथापि पटस्यानाधारत्वमेव, न च कार्य्यत्वमनाधारं युक्तम्, तस्मादकृतकः समवायः । विशेषाणाञ्चाकार्य्यत्वं वस्तुत्वे सति द्रव्यगुणकर्मान्यत्वात् सामान्यसमवायवत् सिद्धम् ।

अकारणत्वं **समवाय्यसमवायिकारणत्वाभावः, न तु निमित्तकारणत्वप्रतिषेधः, बुद्धिनिमित्तत्वाभ्युपगमात्** । असामान्यविशेषवत्त्वम् **अपरजातिरहितत्वमित्यर्थः । सामान्येषु सामान्यन्नाम नापरं सामान्यमस्ति, अत्रापि सामान्यप्राप्त्याऽनवस्थानात् । विशेषसमवाययोस्तु सामान्याभावे कथित एव**

निम्नलिखित तीन ही गति हो सकती है कि (१) समवाय अपने पटादिरूप प्रतियोगी से पूर्व ही उत्पन्न हो, या (२) अपने प्रतियोगी से पीछे उत्पन्न हो अथवा (३) प्रतियोगी के साथ ही उत्पन्न हो । किन्तु इनमें से कोई भी प्रकार सम्भव नहीं है; (१) क्योंकि सम्बन्ध बिना प्रतियोगी के नहीं होता है । अगर समवाय की उत्पत्ति के पूर्व पट की सत्ता नहीं रहेगी तो फिर पट से पूर्व उत्पन्न वह समवाय किसका सम्बन्ध होगा ? अतः समवाय अपने पटादि प्रतियोगियों के पहले उत्पन्न नहीं हो सकता । (२) समवाय अपने पटादि प्रतियोगियों के साथ-साथ भी उत्पन्न न हो, (३) अथवा प्रतियोगी के साथ ही उत्पन्न हो । किन्तु इनमें से कोई भी प्रकार सम्भव नहीं है, (१) क्योंकि सम्बन्ध बिना प्रतियोगी के नहीं होता है । अगर समवाय की उत्पत्ति के पूर्व पट की सत्ता नहीं रहेगी तो फिर पट से पूर्व उत्पन्न वह समवाय किसका सम्बन्ध होगा ? अतः समवाय अपने पटादि प्रतियोगियों के पहले उत्पन्न नहीं हो सकता । (२) समवाय अपने पटादि प्रतियोगियों के साथ-साथ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है; क्योंकि इससे पटादि कार्य समवाय के आधार ही नहीं हो सकते, क्योंकि आधार को आधेय से पूर्व रहना आवश्यक है । सुतराम्, एक ही क्षण में उत्पन्न दो वस्तुओं में आधाराधेयभाव असम्भव है । (३) समवाय की उत्पत्ति अगर पटादि कार्यों की उत्पत्ति के बाद मानें फिर भी पटादि की अनाधार उत्पत्ति की आपत्ति रहेगी, क्योंकि पट की उत्पत्ति के समय अगर समवाय ही नहीं है तो तन्तु में किस सम्बन्ध से पट की उत्पत्ति होगी ? अतः समवाय अकार्य ही है । वह कारणों से उत्पन्न नहीं होता है । विशेष भी कार्य नहीं है, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म्म इन तीनों से भिन्न होने पर भी वह भाव पदार्थ है, जैसे कि सामान्य और समवाय ।

यहाँ 'अकारणत्व' शब्द से समवायिकारणत्व और असमवायिकारणत्व इन दोनों का ही निषेध इष्ट है, निमित्तकारणत्व का नहीं, क्योंकि सामान्यादि में भी बुद्धि की निमित्तकारणता स्वीकृत है । 'असामान्यविशेषवत्त्व' शब्द का अर्थ है अरपजातियों का न रहना । सामान्यों में सामान्यत्व नाम का कोई अपर सामान्य नहीं है, क्योंकि इससे अनवस्था[1] होगी ।समवायों और विशेषों में सामान्य के न रहने की युक्ति दिखला

1. जातियों में जातित्व नाम का सामान्य मानने में अनवस्था इस प्रकार होती है कि द्रव्यत्व गुणत्वादि जितने सामान्य पहले से स्वीकृत हैं उन सभी सामान्यों में जातित्व या सामान्यत्व नाम का एक और सामान्य मानना पड़ेगा, किन्तु यह

न्यायकन्दली

न्यायः । कथं तर्हि सामान्येषु प्रत्ययानुवृत्तिः, सामान्यं सामान्यमिति ? अनेकव्यक्तिसमवायोपाधिवशाद् विशेषेष्वप्येकशब्दप्रवृत्तिः, अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वस्य सर्वत्र सम्भवात् । नित्यत्वं विनाशरहितत्वम्, तदपि सामान्यस्य व्यक्त्युत्पादविनाशयोरवस्थितिग्राहिणा भूयो भूयः प्रवृत्तेन निरुपाधिप्रत्यक्षेण व्याप्तिवन्निश्चीयते । समवायस्य तु सर्वत्र कार्य्योपलम्भादकृतकत्वाच्चानुमीयते । अर्थशब्दानभिधेयत्वञ्चेति । **स्वसमयार्थशब्दानभिधेयत्वं चैतेषां साधर्म्यम् । चः समुच्चये ।**

चुके हैं । (प्र.) फिर सभी सामान्यों में 'ये सामान्य हैं' इस एक आकार की प्रतीति (अनुवृत्तिप्रत्यय) क्यों होती है ? (उ.) सभी सामान्य अनेक व्यक्तियों में रहते हैं, अतः यह "अनेक व्यक्तियों में रहना या अनेक व्यक्तिवृत्तित्व" रूप एक उपाधि सभी सामान्यों में है । इसी अनेक व्यक्तिवृत्तित्व-रूप उपाधि के कारण सभी सामान्यों में उक्त एक आकार की प्रतीति होती है । सभी विशेषों में भी 'ये विशेष हैं' इस एक आकार की प्रतीति होती है । इसके लिए भी विशेषत्व नाम के सामान्य का मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि सभी विशेषों में जो अपने-अपने आश्रय को विभिन्न पदार्थों से विलक्षण रूप से समझाने की क्षमता है, उसी क्षमतारूप एक उपाधि के बल से ही उक्त एकाकार की प्रतीति की उपपत्ति हो जाएगी । 'नित्यत्व' शब्द का अर्थ है विनाशरहित होना । यह (नित्यत्व) भी व्यक्तियों की उत्पत्ति से पहले और उनके नाश के बाद भी सामान्यों की वर्त्तमानता का ज्ञापक उनमें बार-बार प्रवृत्त प्रत्यक्ष प्रमाण से ही व्याप्ति की तरह ज्ञात होता है । समवाय से सभी स्थलों में (सभी कालों में) कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, एवं समवाय किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ नहीं दीखता है । इन्हीं दोनों हेतुओं से समवाय में नित्यत्व का अनुमान होता है । 'अर्थशब्दानभिधेयत्वञ्च' अर्थात् वैशेषिक शास्त्र में बिना विशेषण के केवल 'अर्थ' शब्द से द्रव्य, गुण, कर्म्म इन तीनों के ही समझने का एक सङ्केत है । तदनुसार उक्त 'अर्थ' शब्द का अभिधावृत्ति द्वारा न समझा जाना भी सामान्यादि तीनों का साधर्म्य है । 'च' शब्द समुच्चय अर्थ का बोधक है ।

'सामान्यत्व' भी सामान्य ही होगा । यह सामान्यत्वरूप सामान्य द्रव्यत्वादि पहले से स्वीकृत सामान्यों में तो रहेगा, किन्तु स्वाभिन्न सामान्यत्वरूप सामान्य में नहीं रहेगा; क्योंकि एक वस्तु में आधाराधेयभाव असम्भव है, अतः पूर्वस्वीकृत द्रव्यत्वादि सामान्य एवं अधुना स्वीकृत सामान्यत्वरूप सामान्य एतत्साधारण एक दूसरे सामान्यत्व की कल्पना करनी पड़ेगी । इस प्रकार अनन्त सामान्यत्वों की कभी समाप्त न होनेवाली कल्पना की धारा चलेगी । यही अनवस्था है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

पृथिव्यादीनां नवानामपि द्रव्यत्वयोगः स्वात्मन्यारम्भकत्वं गुणवत्त्वं कार्य्य-कारणाविरोधित्यमन्त्यविशेषवत्त्वम् ।

द्रव्यत्व जाति का सम्बन्ध, अपने में समवाय सम्बन्ध से कार्य्य को उत्पन्न करना, गुणवत्त्व, अपने कार्य्यों से या कारणों से विनष्ट न होना एवं अन्त्यविशेष ये पाँच साधर्म्य पृथिवी प्रभृति नौ द्रव्यों के हैं ।

न्यायकन्दली

इदानीं द्रव्याणामेव साधर्म्यं निरूपयति– पृथिव्यादीनामिति । **पृथिव्यादीनामेव द्रव्यत्वेन सामान्येन** योगः **सम्बन्धः । स कियतामत आह**–नवानामपीति । **अपिशब्दोऽभि-व्याप्त्यर्थः । एतेन द्रव्यपदार्थस्येतरेभ्यो भेदलक्षणमुक्तम् । द्रव्यशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तञ्च चिन्तितम् ।**

अत्र कश्चित् चोदयति–द्रव्यत्वयोगो द्रव्यत्वसमवायः, स च पञ्चपदार्थधर्मत्वात् कथं द्रव्यलक्षणमिति । अपरः समाधत्ते–यद्यपि सर्वत्राभिन्नः समवायः, तथापि द्रव्यत्वोलक्षणभेदाद् द्रव्यस्य लक्षणम्, दृष्टो हि कल्पितभेदस्याप्याकाशस्य श्रोत्रभावेनार्थक्रियाभेद इति । द्वयमप्ये-

'पृथिव्यादीनाम्' इत्यादि सन्दर्भ से अब केवल नौ द्रव्यों का ही साधर्म्य कहते हैं । पृथिवी प्रभृति नौ द्रव्यों का ही द्रव्यत्व जाति के साथ 'योग' अर्थात् सम्बन्ध है । द्रव्यत्व जाति का यह सम्बन्ध पृथिव्यादि कितने द्रव्यों के साथ है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'नवानाम्' इस पद से दिया है । 'नवानामपि' इस वाक्य के 'अपि' शब्द का अर्थ है (सभी द्रव्यों में सम्बन्ध रूप) 'अभिव्याप्ति' । अर्थात् पृथिव्यादि नौ द्रव्यों में से किसी को न छोड़कर सभी द्रव्यों में रहना । इस अभिव्याप्ति से द्रव्य पदार्थ को गुणादि पदार्थों से भिन्न समझानेवाला स्वरूप कहा गया है। इससे 'द्रव्य' शब्द का 'प्रवृत्तिनिमित्त' भी निर्दिष्ट हो जाता है ।

इस प्रसङ्ग में कोई आक्षेप करते हैं कि प्रकृत 'द्रव्यत्वयोग' शब्द का अर्थ है द्रव्यत्व का समवाय, वह द्रव्य से विशेषपर्यन्त पाँचों पदार्थों में समान रूप से है । फिर यह 'द्रव्यत्वयोग' पृथिव्यादि नौ पदार्थों का ही 'साधर्म्य' कैसे है ? इस आक्षेप का समाधान कोई इस प्रकार कहते हैं कि यह ठीक है कि (समवाय एक होने के कारण) सभी स्थलों में एक ही है, किन्तु द्रव्यत्वरूप उपलक्षण (प्रतियोगी) के भेद से वह केवल द्रव्यों का ही लक्षण हो सकता है । एक ही वस्तु में उपलक्षण के भेद से विभिन्न कार्य्यों के सम्पादन की क्षमता देखी जाती है, जैसे एक ही आकाश के सर्वत्र रहने पर भी कर्णशष्कुलीरूप उपाधि से श्रोत्रभावापन्न आकाश से ही शब्दश्रवणरूप कार्य्य होता है । किन्तु उक्त आक्षेप और उसका यह समाधान दोनों ही असङ्गत हैं, क्योंकि जिस प्रकार आकाश ही श्रोत्र है

न्यायकन्दली

तदसाधीयः, यथाकाशं श्रोत्रं नैवं योगो द्रव्यस्य लक्षणम्, किन्तु द्रव्यत्वमेव, तत्त्वसम्बद्धं लक्षणं न स्यादिति योग**सङ्कीर्तनं लिङ्गस्य धर्मिण्यस्तित्वकथनम् । तथा चैवं प्रयोगः – पृथिव्यादिकमितरेभ्यो भिद्यते द्रव्यत्वात्, येषामितरेभ्यो भेदो नास्ति तेषां द्रव्यत्वमपि नास्ति, यथा रूपादीनामिति । तस्मादसच्चोद्यमसदुत्तरञ्च ।**

अन्यदपि द्रव्याणां साधर्म्यमाह–स्वात्मन्यारम्भकत्वमिति, **स्वसमवेतकार्य्यजनकत्वमित्यर्थः** ।गुणवत्त्वं **गुणैः सह सम्बन्धः ।एतदप्युभयं गुणादिभ्यो द्रव्याणां वैधर्म्यमन्यत्रासम्भवात्** । कार्य्यकारणाविरोधित्वम् । **गुणो हि क्वचित् कार्य्येण विनाश्यते, यथा आद्यः शब्दो द्वितीयशब्देन । क्वचित् कारणेन विनाश्यते, यथा अन्त्यः शब्द उपान्त्यशब्देन । कर्मापि कार्य्येण विनाश्यते, यथोत्तरसंयोगेन । द्रव्याणि तु न कार्य्येण विनाश्यन्ते नापि कारणेनेति कार्य्यकारणाविरोधीनि । नित्यानां कारणविनाशयोरभावादेव कारणेनाविनाशः,**

उसी प्रकार प्रकृत में 'योग' अर्थात् द्रव्यत्व का समवाय रूप सम्बन्ध ही द्रव्यों का साधर्म्य या लक्षण नहीं है, किन्तु द्रव्यत्व ही द्रव्यों का लक्षण है । यह द्रव्यत्व बिना किसी असाधारण सम्बन्ध के लक्षण नहीं हो सकता, अतः 'योग' शब्द का उल्लेख है । अर्थात् इस 'योग' शब्द से (इतरभेदानुमिति के पक्षरूप) धर्मी में (उस अनुमिति के लक्षणरूप) हेतु का अस्तित्व दिखलाया गया है । इससे अनुमान का यह रूप फलित होता है कि पथिव्यादि नौ पदार्थ गुणादि और पदार्थों से भिन्न हैं, क्योंकि इनमें द्रव्यत्व है । जिनमें यह इतरभेद नहीं है, उनमें द्रव्यत्व भी नहीं है । अतः उक्त आक्षेप और उसका समाधान दोनों ही अशुद्ध हैं ।

'स्वात्मन्यारम्भकत्वम्' इत्यादि से द्रव्यों का और भी साधर्म्य कहते हैं, अर्थात् अपने में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले कार्यों का कारणत्व भी द्रव्यों का साधर्म्य है । 'गुणवत्त्व' शब्द का अर्थ है गुण के साथ सम्बन्ध, ये दोनों ही गुणादि पदार्थों से द्रव्यों में असाधारण्य के सम्पादक हैं, क्योंकि द्रव्य से भिन्न किसी भी पदार्थ में इन दोनों की सम्भावना नहीं है । " कार्य्यकारणाविरोधित्वम्" गुण कहीं अपने कार्य्य से ही नष्ट होता है, जैसे कि पहला शब्द दूसरे शब्द से, कहीं वह अपने कारण से भी नष्ट होता है, जैसे कि अन्तिम शब्द अपने अव्यवहितपूर्व के शब्द से । क्रिया भी अपने कार्य से नष्ट होती है, जैसे कि उत्तर देश के संयोग से; द्रव्य न अपने कार्यों से नष्ट होते हैं, न कारणों से ही, अतः द्रव्य कार्य और कारण दोनों के अविरोधी हैं । नित्य द्रव्यों का न कोई कारण है, न उनका विनाश ही होता है, अतः उनका विनाश कार्य और कारण किसी से भी नहीं होता है । अनित्य द्रव्यों का विनाश भी होता है, एवं उनके कारण भी होते हैं, किन्तु उनका विनाश अपने कारणों

प्रशस्तपादभाष्यम्

अनाश्रितत्वनित्यत्वे चान्यत्रावयविद्रव्येभ्यः । पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामनेकत्वापरजातिमत्त्वे । क्षितिजलज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्त्वमूर्त्तत्वपरत्वापरत्व-

अयवयी द्रव्यों को छोड़कर और सभी द्रव्यों के अनाश्रितत्व और नित्यत्व ये दो साधर्म्य हैं ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आत्मा और मन इन छः द्रव्यों के अनेकत्व और अपरजातिमत्त्व ये दो साधर्म्य हैं ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों के क्रिया, मूर्त्तत्व,

न्यायकन्दली

अनित्यद्रव्याणां कारणविनाशयोः सम्भवेऽपि कारणेन न विनाशः, किन्त्वन्येनेति विवेकः । तथा अन्त्यविशेषवत्त्वमन्त्य**विशेषयोगित्वमित्यर्थः ।**

अनाश्रितत्वं **क्वचिदप्यसमवेतत्वम्,** नित्यत्वं **विनाशरहितत्वञ्च द्रव्याणां साधर्म्यम् । तत् किं सर्वेषां साधर्म्यमित्यत आह**–अवयविद्रव्येभ्योऽन्यत्रेति । **अवयविद्रव्याणि परित्यज्यान्त्यविशेषवत्त्वानाश्रितत्वनित्यत्वान्यन्यत्र सन्तीत्यर्थः । न केवलं पूर्वोक्ताः पृथिव्यादीनां धर्म्माः, किन्त्वनाश्रितत्वनित्यत्वे चेति चार्थः ।**

पृथिव्यादीनां द्रव्याणामेव परस्परसाधर्म्यं वैधर्म्यञ्च प्रतिपादयन्नाह–पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामिति । अनेकत्वं **प्रत्येकं व्यक्तिभेदः ।** अपरजातिमत्त्व**मिति पृथिवीत्वादिजातिसम्बन्धित्वम् ।**

से नहीं होता है, अन्य वस्तुओं से होता है । इसी प्रकार 'अन्त्यविशेष' शब्द का अर्थ है अन्त्यविशेष का सम्बन्ध ।

कभी भी समवाय सम्बन्ध से न रहना ही 'अनाश्रितत्व' शब्द का अर्थ है । 'नित्यत्व' शब्द का अर्थ है नाश को प्राप्त न होना, 'अनाश्रितत्व' और 'नित्यत्व' ये दोनों ही द्रव्य के साधर्म्य हैं । ये दोनों क्या सभी द्रव्यों के साधर्म्य हैं ? इसी प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि "अवयविद्रव्येभ्योऽन्यत्र" अर्थात् अवयविद्रव्यों को छोड़कर और सभी द्रव्यों में अन्त्यविशेष, अनाश्रितत्व और अनित्यत्व ये तीनों रहते हैं । 'च' शब्द से यह अभिप्रेत है कि पृथिवी प्रभृति द्रव्यों के पहले कहे हुए साधर्म्य ही नहीं हैं, किन्तु प्रकृत अनाश्रितत्व और नित्यत्व भी उनके साधर्म्य हैं ।

पृथिव्यादि द्रव्यों में ही परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण करते हुए "पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसाम्" इत्यादि सन्दर्भ कहते हैं । प्रत्येक व्यक्ति में परस्पर भेद ही 'अनेकत्व' शब्द का अर्थ है । 'अपरजातिमत्त्व' शब्द से पृथिवीत्वादि जातियों की अधिकरणता अभिप्रेत है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

वेगवत्त्वानि ।

परत्व, अपरत्व और वेगवत्त्व ये पाँच साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

क्षितिजलज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्त्वमूर्त्तत्वपरत्वापरत्ववेगवत्त्वानीति । क्रियावत्त्व**मुत्क्षेपणादिक्रियायोगः** । मूर्त्तत्व**मवच्छिन्नपरिमाणयोगित्वम्** । परत्वापरत्ववेगवत्त्वानि **परत्वापरत्ववेगसमवायः** ।

संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोरेव परापरव्यवहारहेतुत्वात् परत्वापरत्वे न स्त इति केचित्, न, भिन्नदिक्सम्बन्धिनोः सत्यपि संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वसद्भावे सत्यपि च द्रष्टुः शरीरापेक्षया सन्निकृष्टविप्रकृष्टबुद्ध्योरुत्पादे परापरप्रत्ययाभावात् ।

क्रिया, मूर्त्तत्व, परत्व अपरत्व और वेग ये पाँच पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों के साधर्म्य हैं । 'क्रियावत्त्व' शब्द का अर्थ है उत्क्षेपणादि क्रियाओं का सम्बन्ध । मूर्त्तत्व शब्द का अर्थ है किसी अल्प परिमाण का सम्बन्ध । परत्व, अपरत्व और वेग इन तीनों का समवाय ही 'परत्वापरत्ववेगवत्त्व' शब्द का अर्थ है ।

(प्र.) कुछ आचार्यों का कहना है कि परत्व और अपरत्व नाम के स्वतन्त्र गुण नहीं हैं । पाटलिपुत्र से काशी की अपेक्षा प्रयाग 'पर' (दूर) है एवं पाटलिपुत्र से प्रयाग की अपेक्षा काशी 'अपर' (समीप) है, इसी प्रकार की प्रतीतियों से तो दैशिक परत्व और अपरत्व स्वीकार किये जाते हैं । किन्तु यह 'परत्व' और 'अपरत्व' दूरत्व और समीपत्व को छोड़कर और कुछ नहीं है । एवं परत्व और अपरत्व इन प्रतीतियों से भी स्वीकार किये जाते हैं कि देवदत्त यज्ञदत्त से 'पर' है एवं यज्ञदत्त देवदत्त से 'अपर' है, यह (कालकृत) परत्व और अपरत्व ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व के ही दूसरे नाम हैं । किन्तु इन व्यवहारों के लिए परत्व और अपरत्व नाम के स्वतन्त्र गुणों की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि दूरत्व और समीपत्व रूप परत्व और अपरत्व के व्यवहार का नियामक देश के साथ संयोग की अधिकता और न्यूनता ही है । यह स्वीकार करना होगा कि पाटलिपुत्र से काशी में जितने दिग्देशों का सम्बन्ध है उससे प्रयाग में अधिक है । एवं पाटलिपुत्र से प्रयाग में जितने दिग्देशों का संयोग है उससे काशी में अल्प है । इसी प्रकार ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व रूप परत्व एवं अपरत्व का व्यवहार भी सूर्य की अधिक क्रिया से युक्त काल के सम्बन्ध और सूर्य की अल्प क्रिया से युक्त काल के सम्बन्ध से ही होता है । सुतराम्, सूर्यक्रियाओं की अधिकता और अल्पता से ही (कालिक) परत्वापरत्व के व्यवहार की उपपत्ति होगी । इन प्रतीतियों के लिए परत्व और अपरत्व नाम के स्वतन्त्र गुण की कल्पना आवश्यक नहीं है । (उ.) किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से तो परस्पर विरुद्ध दो दिशाओं

प्रशस्तपादभाष्यम्

आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगि-

आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन चार द्रव्यों के सर्वगतत्व, परम-महत्त्व और सर्वसंयोगिसमानदेशत्व (सभी संयोगी द्रव्यों का समान रूप से

न्यायकन्दली

एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोस्तथा प्रत्यय इति चेत् ? अस्ति तर्हि संयोगाल्पीयस्त्व-भूयस्त्वाभ्यां विषयान्तरम्, विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरनुत्पादात् । वेगोऽपि गुणान्तरम्, न क्रियासन्ततिमात्रम्, मन्दगतौ वेगप्रतीत्यभावात् । क्रियाक्षणानामाशूत्पाद-निमित्तो वेगव्यवहार इति चेत् ? न, अलातचक्रादिषु क्रियाक्षणानां निरन्तरोत्पादव्ययवतां प्रत्येकमन्तराग्रहणेनाशूत्पादस्य प्रत्यक्षेणाप्रतीतेः, वेगप्रत्ययस्य च भावात् । व्यक्ता च लोके क्रियावेगयोर्भेदावगतिः, वेगेन गच्छतीति प्रतीतेः ।

आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वमित्यादि । **सर्वशब्देनात्र प्रकृतापेक्षयानन्तरोक्तानि मूर्त्तद्रव्याणि परामृश्यन्ते** । सर्वगतत्वं **सर्वैर्मूर्तैः सह संयोग**

में विद्यामान वस्तुओं में भी परत्व और अपरत्व का व्यवहार होना चाहिए, किन्तु देखनेवाले के शरीर से उनमें सामीप्य की बुद्धि होने पर भी (विरुद्ध) दिशाओं में अवस्थित उन दोनों वस्तुओं में परस्पर की अपेक्षा परत्व या अपरत्व की बुद्धि नहीं होती है । (प्र.) अगर इसी में इतना बढ़ा दें कि समान दिशा के देशों के संयोग के अल्पत्व और अधिकत्व ही (अपरत्व एवं परत्व) प्रतीतियों के नियामक हैं, (उ.) तो भी परत्व और अपरत्व नाम का स्वतन्त्र गुण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि विषयों में अन्तर हुए बिना प्रतीतियों में अन्तर नहीं हो सकता । वेग भी स्वतन्त्र गुण है, क्रियाओं का समूह नहीं, क्योंकि मन्द गतिवाली वस्तुओं में वेग की प्रतीति नहीं होती है । (प्र.) क्रिया के कारणीभूत क्षणों का यह स्वभाव है कि वे अत्यन्त शीघ्र विनष्ट होते हैं । उनकी इस अत्यन्त शीघ्रविनाशशीलता से ही वेग का व्यवहार होता है (अतः क्रियाओं का समूह ही वेग है, कोई स्वतन्त्र गुण नहीं) । (उ.) चूँकि अलातचक्रादि में होनेवाली क्रियाओं के कारणभूत क्षणों का बराबर उत्पाद और विनाश होता रहता है, किन्तु उत्पत्ति और विनाश की अत्यन्त शीघ्रता के कारण उन दोनों के बीच के समय गृहीत नहीं हो पाते, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु अलातचक्रादि में भी वेग की प्रतीति तो होती ही है । क्रिया और वेग की विभिन्न रीति से प्रतीति सर्वजनसिद्ध है । 'यह वेग से जा रहा है' इस आकार की वेग की प्रतीति होती है । (क्रियाओं की प्रतीति का यह आकार नहीं है) ।

प्रकृत भाष्य के 'सर्वगतत्व' पद में प्रयुक्त 'सर्व' शब्द से प्रकृत आकाशादि से ठीक पहले कहे हुए सभी मूर्त द्रव्यों को समझना चाहिए । आकाशादि का सभी

प्रशस्तपादभाष्यम्

समानदेशत्वञ्च ।

पृथिव्यादीनां पञ्चानामपि भूतत्वेन्द्रियप्रकृतित्वबाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वानि ।

आधार होना) ये तीन साधर्म्य हैं ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच द्रव्यों के भूतत्व, इन्द्रियप्रकृतित्व और एक-एक बाह्येन्द्रिय से गृहीत होनेवाले विशेष गुण ये तीन साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

आकाशादीनाम्, न तु सर्वत्र गमनम्, तेषां निष्क्रियत्वात् । परममहत्त्व**मियत्तानवच्छिन्नपरिमाणयोगित्वम्** । सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं **सर्वेषां संयोगिनां मूर्त्तद्रव्याणामाकाशः समानो देश एक आधार इत्यर्थः । एवं दिगादिष्वपि व्याख्येयम् । यद्यप्याकाशादिकं सर्वेषां संयोगिनामाधारो न भवति, आधारभावेनानवस्थानात्, तथापि सर्वसंयोगाधारत्वात् सर्वसंयोगिनामाधार इत्युच्यते, उपचारात् । अत एव सर्वगतत्वमित्यनेनापुनरुक्तता । तत्र हि सर्वैः सह संयोगोऽस्तीत्युक्तम् । इह तु सर्वेषामाधार इत्युच्यते ।**

पृथिव्यादीनामाकाशान्तानामितरवैधर्म्येण साधर्म्यं कथयति – पृथिव्यादीनामिति । भूतत्वं **भूतशब्दवाच्यत्वम्** । **एकनिमित्तमन्तरेणानेकेषु**

मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग ही सर्वगतत्व है, आकाशादि का भी मूर्त्त द्रव्यों में जाना नहीं, क्योंकि वे सभी क्रियाशून्य हैं । 'परममहत्त्व' शब्द का अर्थ है इयत्ता से रहित परिमाण का (सबसे बड़े परिमाण का) सम्बन्ध । 'सर्वसंयोगसमानदेशत्व' अर्थात् आकाश संयोग से युक्त सभी मूर्त्त द्रव्यों का एक आधार है । इसी प्रकार दिशा में भी व्याख्या करनी चाहिये । यद्यपि आकाशादि संयोग से युक्त पदार्थों का आधार नहीं है, किन्तु उनके सभी संयोगों का आधार है, अतः उनमें 'सर्वाधार' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है । अतएव 'सर्वगतत्व' के बाद 'सर्वसंयोगिसमानदेशत्व' के कथन से पुनरुक्ति की आपत्ति नहीं होती है; क्योंकि 'सर्वगतत्व' शब्द से आकाशादि में भी मूर्त्त द्रव्यों का संयोग प्रतिपादित होता है और 'सर्वसंयोगिसमानदेशत्व' शब्द से लक्षणा वृत्ति के द्वारा उनमें सर्वाधारत्व का प्रतिपादन होता है ।

पृथ्वी से लेकर आकाशपर्य्यन्त पाँच द्रव्यों का साधर्म्य औरों से असाधारण्य दिखलाते हुए कहते हैं । 'भूत' शब्द का अर्थ है 'भूत' शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा कहा जाना । यद्यपि पृथिवी प्रभृति पाँच द्रव्यों में सभी को समझाने के लिए एक शब्द की प्रवृत्ति का नियामक कोई एक धर्म्म नहीं है, किन्तु तब भी 'अक्ष' शब्द

न्यायकन्दली

पृथिव्यादिष्वेकशब्दप्रवृत्तिरक्षशब्दवत्, यथा देवनत्वेन्द्रियत्वविभीतकत्वसामान्यत्रययोगाद्देवनादिष्वक्षशब्दः सङ्केतितः, तथा पृथिवीत्वादिसामान्यवशात् पृथिव्यादिषु चतुर्षु भूतशब्दः सङ्केतितः । आकाशे तु व्यक्तिनिमित्त एव भूतं भूतमिति तच्छब्दानुविद्धः प्रत्ययस्तच्छब्दवाच्यतोपाधिकृतः, यथा देवनादिष्वेकोऽक्ष इति प्रत्ययः ।

इन्द्रियप्रकृतत्व**मिन्द्रियस्वभावत्वम् । न भूतस्वभावानीन्द्रियाणि, अप्राप्यकारित्वात्, प्राप्यकारित्वं हि भौतिको धर्मो यथा प्रदीपस्येति केचित् । तदयुक्तम्, व्यवहितानुपलब्धेः, यदीन्द्रियमप्राप्यकारि कुड्यादिव्यवहितमप्यर्थं गृह्णीयादप्राप्तेरविशेषात् । योग्यताभावाद् व्यवहितार्थग्रहणमिति चेत् ? इन्द्रियस्य तावद् योग्यता विषयग्रहणसामर्थ्यमस्त्येव तदानीमव्यवहितार्थग्रहणात्, विषयस्यापि योग्यता**

की तरह 'भूत' शब्द की प्रवृत्ति उनमें होती है । अर्थात् जैसे देवनत्व (द्यूतत्व), इन्द्रियत्व और बिभीतकत्व इन तीन सामान्य के सम्बन्ध से जूये प्रभृति में 'अक्ष' शब्द की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही पृथिवीत्वादि चारों जातियों से पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों को समझाने के लिए 'भूत' शब्द प्रवृत्त होता है । आकाश में आकाशरूप व्यक्तिमूलक 'यह भूत है' इत्यादि 'भूत' शब्दमूलिका प्रतीति भूतशब्दबोध्यत्वरूप उपाधि से होती है । जैसे कि एक ही 'अक्ष' शब्द देवनादि सभी अर्थों को समझाने के लिए प्रवृत्त होता है ।

'इन्द्रियप्रकृतित्व' शब्द का अर्थ है इन्द्रियस्वभावत्व । यहाँ कोई शङ्का उठाते हैं कि (प्र.) भूत इन्द्रियों की प्रकृति (समवायिकारण) नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ वस्तुओं के साथ असम्बद्ध होकर ही अपना काम करती हैं । भौतिक वस्तुओं का यही स्वभाव है कि अपने विषयों के साथ सम्बद्ध होकर ही अपना काम करें, जैसे कि प्रदीप । (उ.) किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहित वस्तुओं की इन्द्रियों से उपलब्धि नहीं होती । अगर इन्द्रियाँ अपने से असम्बद्ध विषयों का भी ग्रहण करें, तो फिर दीवाल प्रभृति से ढके हुए अपने विषयों का भी वे ग्रहण कर सकती हैं । दीवाल से घिरे और न घिरे हुए वस्तुओं में तो कोई अन्तर नहीं है, और इन्द्रियों की असम्बद्धता तो दोनों प्रकार की वस्तुओं में समान है । (प्र.) व्यवहित वस्तुओं में प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है ? (उ.) इस प्रसङ्ग में पूछना है कि व्यवहित विषयों में प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है ? या इन्द्रियों में व्यवहित विषयों के प्रत्यक्ष के उत्पादन की योग्यता नहीं है ? इन्द्रियों की योग्यता है विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य, सो उनमें है ही । क्योंकि उस समय भी अव्यवहित विषयों का वे ग्रहण करती

न्यायकन्दली

महत्त्वानेकद्रव्यवत्त्वरूपविशेषाद्यात्मिका व्यवधानेऽपि न निवृत्तैव, आर्जवावस्थानमपि तदवस्थमेव । अथ मतम्– आवरणाभावोऽप्यर्थप्रतीतिकारणं संयोगाभाव इव पतन-कर्म्मणि, आवरणे सत्यावरणाभावो निवृत्त इति प्रतीतेरनुत्पत्तिः कारणाभावादिति । नैतत्सारम्, आवरणस्य स्पर्शवद्द्रव्यप्राप्तिप्रतिषेधभावोपलब्धेः, छत्रादिकं हि पततो जलस्य सावित्रस्य च तेजसः प्रतिषेधति, न तु स्वस्याभावमात्रं निवर्त्तयति । तथा सति सुलभ-मेतदनुमानम्–प्राप्तप्रकाशकं चक्षुः, व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्, बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगि-न्द्रियवत् । नन्वेवं तर्हि विप्रकृष्टार्थग्रहणं कुतः ? रश्म्यर्थसन्निकर्षादनुद्भूतरूपस्पर्शा नायना

ही हैं । विषयों में प्रत्यक्ष होने की योग्यता है महत्त्व, अनेकद्रव्यवत्त्वादि, सो दीवाल से घिर जाने पर भी विषयों से हट नहीं जाती । दीवाल से घिर जाने पर भी वे इन्द्रियों के सामने ही रहती हैं । (प्र.) जिस प्रकार संयोग का अभाव भी पतन का कारण है, उसी प्रकार आवरण का अभाव भी प्रत्यक्ष का कारण है । आवरण के रहते हुए आवरण का अभाव नहीं रह सकता, अतः दीवाल से घिरी हुई वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वहाँ आवरणाभावरूप कारण ही नहीं है । (उ.) आवरण का इतना ही काम है कि स्पर्श से युक्त द्रव्यों के साथ संयोग न होने दे । जैसे छाता गिरते हुए पानी या धूप के साथ संयोग को नहीं होने देता । आवरण का इतना ही काम नहीं है कि अपने अभाव को हटाये । अतः (१) यह अनुमान सुलभ है कि चक्षु अपने से सम्बद्ध वस्तुओं का ही प्रकाशक है, क्योंकि व्यवहित वस्तुओं का प्रकाश उससे नहीं होता, जैसे कि प्रदीप । (२) अथवा चक्षुरादि (इन्द्रियाँ) अपने से सम्बद्ध वस्तुओं के ही प्रकाशक हैं, क्योंकि वे बाह्येन्द्रिय हैं, जैसे कि त्वगिन्द्रिय । (प्र.) तो फिर चक्षु से कुछ दूर हटी हुई वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष (क्यों) और कैसे होता है ? (उ.) चक्षु की रश्मियों के साथ विषयों के संयोग से ।[1] अनुद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्श से युक्त चक्षु की रश्मियाँ वहाँ विद्यमान वस्तुओं के प्रत्यक्ष को उत्पन्न

1. चक्षु की रश्मियाँ दूर की वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए अगर उनके देशों तक जाती हैं तो फिर सूर्य की रश्मियों की तरह उनके रूप और स्पर्श का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, किन्तु होता नहीं है । अतः "चक्षु की रश्मियाँ दूर जाकर वस्तुओं का ग्रहण करती हैं" यह कहना ठीक नहीं है । इसी पूर्वपक्ष के समाधान की सूचना देने के लिए कन्दलीकार ने चक्षु की रश्मियों में अनुद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्श, ये दो विशेषण लगाये हैं । कहने का तात्पर्य्य है कि अगर चक्षु की रश्मियों का विषय देश तक जाना युक्तियों से सिद्ध है तो फिर उनके रूप और स्पर्श की अनुपलब्धि से वह हट नहीं सकती । उनके प्रत्यक्षापत्तिवारण का यह उपाय सुलभ है कि रश्मियों के रूप और स्पर्श को अनुद्भूत मान लेना ।

न्यायकन्दली

रश्मयो दूरे गत्वा सन्तमर्थं गृह्णन्ति, अत एव महदणुप्रकाशकत्वात् किमिन्द्रियस्य भौतिकत्वं न सिद्ध्यति ? प्रदीपस्येव रश्मिद्वारेण तदुपपत्तेः । यत्र च रश्मयो भूयोभिः स्वावयवैः सहार्थावयविना तदवयवैश्च सह सम्बद्ध्यन्ते, तत्राशेषविशेषास्कन्दितस्यार्थस्य ग्रहणात् स्पष्टं ग्रहणम् । यत्र त्ववयवमात्रेण सम्बन्धस्तत्र सामान्यमात्रविशिष्टस्य धर्म्मिणो ग्रहणादस्पष्टं ग्रहणम् । यद् गच्छति तत् सन्निहितव्यवहितार्थौ क्रमेण प्राप्नोति । तत् कथं शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालोपलब्धिरिति चेत् ? इन्द्रियवृत्तेराशुसञ्चारित्वात् पलाशशतव्यतिभेदवत् क्रमाग्रहणनिमित्तोऽयं भ्रमो न तु वास्तवं यौगपद्यम् । ननु प्राप्तिपक्षे सान्तरालोऽयमिति ग्रहणं न स्यात् ? न, अन्यथा तदुपपत्तेः । इन्द्रियसम्बन्धस्यातीन्द्रियत्वान्न तदभावाभावकृतौ सान्तरनिरन्तरप्रत्ययौ, किन्तु शरीरसम्बन्धभावाभावकृतौ, यत्र शरीरसम्बद्धस्यार्थस्य ग्रहणं तत्र निरन्तरोऽयमिति प्रत्ययः, यत्र तु तदसम्बद्धस्य ग्रहणं तत्र सान्तर इति ।

करती हैं । इन्द्रियाँ चूँकि छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की वस्तुओं को दिखलाती हैं, इससे भी उनमें भौतिकत्व की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? प्रतीप की तरह रश्मियों में भी भौतिकता सिद्ध हो सकती है । जहाँ पर रश्मियाँ अपने बहुत से अवयवों को लेकर अवयवी रूप वस्तु और उनके अवयवों के साथ सम्बद्ध होती हैं, वहाँ सभी विशेषों से युक्त अवयवी का ज्ञान होता है । अतएव वह ज्ञान 'स्पष्ट ग्रहण' कहलाता है । जहाँ वे केवल वस्तुओं के किसी अवयव के साथ ही सम्बद्ध होती हैं, वहाँ सामान्यधर्म्म से युक्त ही उस धर्म्मी का ज्ञान होता है, जिसे 'अस्पष्ट ग्रहण' कहते हैं । (प्र.) गतिशील वस्तु समीप की वस्तुओं के साथ पहले सम्बद्ध होती है और दूर की वस्तुओं के साथ पीछे, तो फिर गतिशील इन्द्रियों से शाखा और चन्द्रमा का ग्रहण एक ही समय क्यों होता है ? (उ.) वस्तुतः एक समय में शाखा और चन्द्रमा दोनों का ज्ञान नहीं होता है । दोनों के ज्ञान क्रमशः ही होते हैं, किन्तु इन्द्रियाँ इतनी शीघ्रता से चलती हैं कि उनकी गति के क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता । अतएव यह भ्रम होता है कि शाखा और चन्द्रमा दोनों का ज्ञान एक ही समय होता है । जैसे फूल के सौ पत्रों को सूई से छेदने पर उसका क्रम उपलब्ध नहीं होता और भ्रम होता है कि एक ही समय में सभी पत्रों का छेदन हुआ है । (प्र.) 'इन्द्रियाँ अपने से सम्बद्ध वस्तुओं का ही ग्रहण करती हैं' इस पक्ष में विषय और इन्द्रियों में सार्वजनीन व्यवधान की प्रतीति अनुपपन्न होगी ? (उ.) नहीं, क्योंकि दूसरी रीति से उसकी उपपत्ति हो सकती है । इन्द्रियों का सम्बन्ध अतीन्द्रिय है, अतः उसकी सत्ता से व्यवधान की प्रतीति और असत्ता से अव्यवधान की प्रतीति नहीं हो सकती, किन्तु शरीरसम्बन्ध की सत्ता और असत्ता से ही उक्त दोनों प्रतीतियाँ

प्रशस्तपादभाष्यम्

चतुर्णां द्रव्यारम्भकत्वस्पर्शवत्त्वे ।
त्रयाणां प्रत्यक्षत्वरूपवत्त्वद्रवत्वानि ।

पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन चार द्रव्यों का द्रव्य को उत्पन्न करना और स्पर्श से युक्त होना ये दो साधर्म्य हैं ।

पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों का प्रत्यक्षत्व, रूपवत्त्व और द्रवत्व ये तीन साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वानीति । **बाह्यैकैकेन्द्रियेण चक्षुरादिना ग्राह्या ये विशेषगुणा रूपादयस्तैस्तद्वत्ता पृथिव्यादीनामिति । अन्तःकरणग्राह्यत्वमप्येषां गुणानामस्ति, ततश्चैकैकेन्द्रियग्राह्यत्वमसिद्धम्, तदर्थं बाह्यग्रहणम् । एकैकग्रहणं स्वरूपकथनार्थम् ।**

चतुर्णां द्रव्यारम्भकत्वस्पर्शवत्त्वे । चतुर्णां **पृथिव्युदकानलानिलानाम्** । द्रव्यारम्भकत्वं **द्रव्यं प्रति समवायिकारणभावः । स च निजा शक्तिरेव । स्पर्शवत्त्वं स्पर्शसमवायः ।**

त्रयाणां प्रत्यक्षत्वरूपवत्त्वद्रवत्वानि । त्रयाणां **क्षित्युदकतेजसां प्रत्यक्षत्वमिन्द्रियजज्ञानप्रतिभासमानता, न तु महत्त्वादिकारणयोगः, रूपवत्त्व-**

होती हैं । जहाँ शरीर से सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण होता है, उस अर्थ में 'यह व्यवधानरहित है' इस प्रकार की बुद्धि होती है और जहाँ शरीर से असम्बद्ध अर्थ का ग्रहण होता है उस अर्थ में 'यह व्यवहित है' इस प्रकार की प्रतीति होती है ।

'बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यगुणवत्त्वानि' अर्थात् चक्षुरादि एक-एक बाह्य इन्द्रियों से गृहीत होनेवाले जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द, ये पाँच विशेष गुण हैं, 'तद्वत्त्व' पृथिव्यादि पाँच द्रव्यों का साधर्म्य है । ये रूपादि मन रूप अन्तरिन्द्रिय से भी गृहीत होते हैं, अतः उनमें 'एकैकेन्द्रियग्राह्यत्व' नहीं रह सकता, अतः 'बाह्य' पद का प्रयोग है । 'एकैक' पद केवल इस वस्तुस्थिति को समझाने के लिए है कि कथित रूपादि पाँच विशेष गुण एक-एक बाह्य इन्द्रिय से ही गृहीत होते हैं, संयोगादि की तरह दो इन्द्रियों से नहीं ।

'चतुर्णाम्' अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों का 'द्रव्यारम्भकत्व' अर्थात् द्रव्य का समवायिकारणत्व साधर्म्य है । यह उनकी स्वाभाविक शक्ति है । 'स्पर्शवत्त्व' शब्द का अर्थ है, स्पर्श का समवाय ।

'त्रयाणाम्' अर्थात् पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों का 'प्रत्यक्षत्व' साधर्म्य है ।इस 'प्रत्यक्षत्व' शब्द का अर्थ है इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न ज्ञान में प्रतिभासित

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्वयोर्गुरुत्वं रसवत्त्वञ्च ।
भूतात्मनां वैशेषिकगुणवत्त्वम् ।

पृथिवी और जल इन दोनों क गुरुत्व और रसवत्त्व ये दो साधर्म्य हैं ।
भूत अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच और आत्मा इन छः द्रव्यों का विशेषगुणवत्त्व साधर्म्य है ।

न्यायकन्दली

मित्यस्य पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात् । नन्वात्मनोऽपि प्रत्यक्षत्वमस्ति ? सत्यम्, बाह्येन्द्रियापेक्षया त्रयाणामित्युक्तम् । तथा रूपवत्त्वं **रूपसमवायः** । द्रवत्वं **द्रवत्वन्नाम गुणान्तरम् ।**

द्वयोर्गुरुत्वम् । द्वयोः **पृथिव्युदकयोः**, गुरुत्वन्नाम **गुणान्तरम्, तस्य भावात् पृथिव्यामुदके च गुरुशब्दनिवेशः** । रसवत्त्वञ्च **रससमवायः, न केवलं तयोर्गुरुत्वं रसवत्त्वञ्चेति चार्थः ।**

भूतात्मनां वैशेषिकगुणवत्त्वम् । भूतानां **पृथिव्यप्तेजोवायुनभसामात्मनां च** वैशेषिकगुणयोगः । **विशेषो व्यवच्छेदः, विशेषाय स्वाश्रयस्येतरेभ्यो व्यवच्छेदाय प्रभवन्तीति वैशेषिका रूपादयस्तद्योगो भूतात्मनाम् ।**

होना, महत्त्वादि प्रत्यक्ष के कारणों का सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर इन तीनों के रूपवत्त्व को साधर्म्य कहना पुनरुक्ति-दुष्ट हो जाएगा । प्रत्यक्षत्व तो आत्मा में भी है ? (उ.) हाँ है, किन्तु यहाँ बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्ष का ही ग्रहण है । एवं 'रूपवत्त्व' शब्द का अर्थ है रूप का समवाय और 'द्रवत्व' शब्द से द्रवत्व नाम का स्वतन्त्र गुण विवक्षित है ।

'द्वयोः' पृथिवी और जल इन दोनों का 'गुरुत्व' अर्थात् गुरुत्व नाम का स्वतन्त्र गुण साधर्म्य है । इसी गुरुत्व नामक गुण के सम्बन्ध से पृथिवी और जल ये दोनों 'गुरु' शब्द से व्यवहृत होते हैं । 'रसवत्त्व' शब्द से रस का समवाय इष्ट है । गुरुत्व और रसवत्त्व इन दोनों में से केवल गुरुत्व ही या केवल रसवत्त्व ही पृथिवी और जल के साधर्म्य नहीं हैं, किन्तु दोनों मिलकर उनके साधर्म्य हैं, यही 'च' शब्द से सूचित होता है ।

'भूतात्मनाम्' अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश एवं आत्मा इन छः द्रव्यों का वैशेषिक गुण का सम्बन्ध साधर्म्य है । यहाँ 'विशेष' शब्द का अर्थ है 'भेद' (व्यवच्छेद) "विशेषाय स्वाश्रयस्येतरेभ्यो व्यवच्छेदाय प्रभवन्तीति वैशेषिकाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपने आश्रय को जो गुण भिन्न पदार्थों से अलग रूप से समझावे वही यहाँ 'वैशेषिक' शब्द का अर्थ है । इन्हीं रूपादि विशेष गुणों का योग पृथिव्यादि पाँच भूत एवं आत्मा इन छः द्रव्यों का साधर्म्य है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

क्षित्युदकात्मनां चतुर्दशगुणवत्त्वम् ।
आकाशात्मनां क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वम् ।
दिक्कालयोः पञ्चगुणवत्त्वं सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणत्वञ्च ।

पृथिवी, जल और आत्मा इन तीन द्रव्यों का चौदह गुणों का सम्बन्ध साधर्म्य है ।

आकाश और आत्मा इन दो द्रव्यों के क्षणिक एवं अव्याप्यवृत्ति (अर्थात् अपने आश्रय के किसी एक अंश में ही रहनेवाला) विशेष गुण साधर्म्य है ।

दिशा और काल इन दो द्रव्यों के (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग) पाँच गुण और सभी उत्पत्तिशील पदार्थों का निमित्तकारणत्व ये दो साधर्म्य हैं ।

न्यायकन्दली

क्षित्युदकात्मनां चतुर्दशगुणवत्त्वम् । **क्षितेरुदकस्यात्मनां चतुर्दशगुणयोगः ।**

आकाशात्मनाञ्च क्षणिकैकदेशवृत्तिभिर्विशेषगुणैः सह योगो विद्यत इत्याह– आकाशात्मनामिति । **विशेषगुणाः पृथिव्यादीनामपि सन्ति, तन्निवृत्त्यर्थमेकदेशवृत्तिग्रहणम् । ये च ते आकाशात्मनामव्याप्यवृत्तयो विशेषगुणास्तेषामाशुतरविनाशित्वञ्च स्वरूपमस्तीति क्षणिकसङ्कीर्त्तनं कृतम् ।**

सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः पञ्चैव गुणा दिशि काले च वर्त्तन्त इत्याह– दिक्कालयोरिति । **न केवलमनयोः पञ्चगुणवत्त्वं साधर्म्यं सर्वोत्पत्तिमतां**

पृथिवी, जल और आत्मा, इन तीन द्रव्यों का चौदह[1] गुणों का सम्बन्ध साधर्म्य है ।

'आकाशात्मनाम्' इत्यादि सन्दर्भ से कहते हैं कि आकाश में और आत्माओं में क्षणिक एवं 'अव्याप्यवृत्ति' (अपने आश्रय के किसी एक देश में रहनेवाले) विशेष गुणों का सम्बन्ध है । विशेष गुण पृथिवी प्रभृति द्रव्यों में भी हैं, अतः 'एकदेशवृत्ति' यह पद है । 'क्षणिक' पद का उपादान यह सूचना देने के लिए है कि आकाश और आत्माओं के जितने भी 'अव्याप्यवृत्ति' अर्थात् अपने आश्रय को व्याप्त कर न रहनेवाले विशेष गुण हैं, अतिशीघ्र नष्ट हो जाना ही उनका स्वरूप है ।

'दिक्कालयोः' इत्यादि से कहते हैं कि संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये ही पाँच गुण दिशा और काल में रहते हैं । उक्त पाँच गुण ही इन दोनों के साधर्म्य

---

1. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और वेगाख्य तथा स्थितिस्थापक संस्कार ये चौदह गुण पृथिवी के हैं । इन्हीं चौदह गुणों में गन्ध के स्थान पर स्नेह को रख देने से जल के चौदह गुण हो

न्यायकन्दली

निमित्तकारणत्वञ्च साधर्म्यम् ।

ननु दिक्कालौ सर्वेषामुत्पत्तिमतां निमित्तमिति कुत एतत् प्रत्येतव्यम् ? यदि सन्निधिमात्रेण ? आकाशस्यापि कारणत्वं स्यात्, अथ तद्व्यपदेशात् ? सोऽप्यनैकान्तिकः, गृहे जातो गोष्ठे जात इत्यनिमित्तेऽपि दर्शनात् । अत्रोच्यते—अस्ति तावत् तन्त्वादिप्रतिनियमात् पटाद्युत्पत्तिवद्देशविशेषनियमात् कालविशेषनियमाच्च सर्वेषामुत्पत्तिः, यदि देशकालविशेषावपि न कारणम्, अत्र क्वचन हेतवः कार्य्यं कुर्य्युरविशेषात् । सर्वदा सर्वत्र कारणाभावात् कार्य्यानुत्पत्तिरिति चेत् ? यत्र देशे काले च कारणानि भवन्ति, तत्र तेषां जनकत्वं नान्यत्रेत्यभ्युपगन्तव्यं विशिष्टदेशकालयोरङ्गत्वम्, कार्य्यजननाय तयोः कारणैरपेक्षणीयत्वात् । इदमेव च देशस्य कालस्य च निमित्तत्वम्, यदेकत्र कार्य्योत्पत्तिरन्यत्रानुत्पत्तिरिति ।

नहीं हैं, किन्तु सभी उत्पत्तिशील वस्तुओं का निमित्तकारणत्व भी इन दोनों का साधर्म्य है ।

(प्र.) यह कैसे समझें कि दिशा और काल सभी उत्पत्तिशील वस्तुओं के निमित्तकारण हैं ? अगर सभी वस्तुओं की उत्पत्ति के पहले नियत रूप से रहने के कारण ही ये दोनों सभी उत्पत्तिशील वस्तुओं के निमित्तकारण हैं, तो फिर आकाश में भी यह कारणता रहनी चाहिए । 'अभी घट की उत्पत्ति हुई है' या 'उस दिशा में पट की उत्पत्ति हुई है' इत्यादि व्यवहारों से भी काल और दिशा में निमित्तकारणता का मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि निमित्तकारणता के बिना भी 'घर में घट की उत्पत्ति हुई और गोष्ठ में पट की उत्पत्ति हुई' इस प्रकार के व्यवहारों की उपपत्ति हो सकती है । (उ.) इस आक्षेप के उत्तर में कहना है कि जिस प्रकार पटादि कार्यों में यह नियम है कि वे तन्तु प्रभृति कारणों से ही उत्पन्न हों, उसी प्रकार सभी कार्यों की उत्पत्ति में देश और काल का भी नियम है । अगर ये दोनों अपेक्षित न हों तो फिर जहाँ-तहाँ विक्षिप्त कारणों से और भिन्नकालिक कारणों से भी कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि नियमित देश और नियमित काल के कारणों में और अनियत देश और अनियत काल के कारणों में स्वरूपतः (देश और काल के सम्बन्ध को छोड़कर) कोई अन्तर नहीं है । (प्र.) सभी देशों और सभी कालों में कारणों की सत्ता न रहने से ही सभी देशों और सभी कालों में कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है । (उ.) तो फिर यह मानना पड़ेगा कि जिस देश में और जिस काल में सम्मिलित होकर जो सब कारण कार्य को उत्पन्न कर सकें, उसी काल में और उसी देश में वे कारण हैं और कालों में नहीं और देशों में नहीं,

---

जाते हैं । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावनाख्य संस्कार, धर्म और अधर्म ये चौदह गुण आत्मा के हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

क्षितितेजसोर्नैमित्तिकद्रवत्वयोगः ।

पृथिवी और तेज इन दो द्रव्यों का नैमित्तिक द्रवत्व का सम्बन्ध साधर्म्य है ।

न्यायकन्दली

क्षितितेजसोर्नैमित्तिकद्रवत्वयोगः । **निमित्तादुपजातं (नैमित्तिकम्), नैमित्तिकञ्च तद्द्रवत्वञ्चेति नैमित्तिकद्रवत्वम्, तेन सह क्षितितेजसोर्योगः, पार्थिवस्य सर्पिरादेस्तैजसस्य च सुवर्णरजतादेरग्निसंयोगेन विलयनात् । गुरुत्ववत्पार्थिवमेव द्रवत्वं दह्यमानेषु सुवर्णादिषु संयुक्तसमवायात् प्रतीयत इति चेत् ? न, पार्थिवद्रवत्वस्यात्यन्ताग्निसंयोगेन भस्मीभावोपलब्धेः, अस्य च तदभावात् । अत एव सुवर्णादिकमपि पार्थिवमेवेति कस्यचित् प्रवादोऽपि प्रत्युक्तः, पार्थिवत्वे सति सर्पिरादिवदत्यन्तवह्निसंयोगेन द्रवत्वोच्छेदप्रसङ्गात् ।**

यदपीदमुक्तं पार्थिवं सुवर्णादिकम्, सांसिद्धिकद्रवत्वाभावे सति

इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ेगा कि देश और काल भी कार्योत्पत्ति के अङ्ग हैं, क्योंकि कार्य के उत्पादक सभी कारण काल और दिशा की अपेक्षा रखते हैं । काल और दिशा में सभी कार्यों का यही निमित्तकारणत्व है कि किसी कालविशेष और देशविशेष में ही कार्यों की उत्पत्ति होती है, सभी कालों और सभी देशों में नहीं ।

'निमित्तादुपजातं नैमित्तिकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कारण से उत्पन्न हो उसे 'नैमित्तिक' कहते हैं । 'नैमित्तिकञ्च तद्द्रवत्वञ्चेति' इस कर्मधारय समास के बल से किसी निमित्त से उत्पन्न द्रवत्व ही 'नैमित्तिकद्रवत्व' शब्द का अर्थ है । उसके साथ सम्बन्ध ही पृथिवी और तेज का साधर्म्य है; क्योंकि घृतादि पार्थिव द्रव्य और सुवर्णादि तैजस द्रव्य आग के संयोग से विलीन होते (पिघलते) दीख पड़ते हैं, अतः उनमें अवश्य ही नैमित्तिक द्रवत्व है । (प्र.) जिस प्रकार सुवर्ण में पार्थिव गुरुत्व की ही उपलब्धि संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से होती है, उसी प्रकार सुवर्ण में पृथिवीगत नैमित्तक द्रवत्व की ही संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से उपलब्धि होती है । (अर्थात् सुवर्ण में नैमित्तिक द्रवत्व नहीं है ।) (उ.) घृतादि पार्थिव द्रव्यों में रहनेवाले नैमित्तिक द्रवत्व का यह स्वभाव है कि अग्नि के अत्यन्त संयोग से नष्ट हो जाना, सुवर्ण के द्रवत्व में यह बात नहीं है । इसी समाधान से स्वर्ण को पृथिवी होने का प्रवाद भी खण्डित हो जाता है, अगर सुवर्ण पार्थिव होता तो फिर घृतादि पार्थिव द्रव्यों के द्रवत्व की तरह सुवर्ण का द्रवत्व तो अग्नि के अत्यन्त संयोग से नष्ट हो जाता ।

(प्र.) यह जो विरोधी अनुमान का प्रयोग किया जाता है कि सुवर्ण पार्थिव ही है; क्योंकि सांसिद्धिक द्रवत्व के न रहने पर भी उसमें गुरुत्व है, जैसे कि ढेले में । (उ.) इस

प्रशस्तपादभाष्यम्

एवं सर्वत्र साधर्म्यं विपर्य्ययाद्वैधर्म्यञ्च वाच्यमिति द्रव्यासङ्करः ।

इसी प्रकार रहने के कारण साधर्म्य और नहीं रहने के कारण वैधर्म्य समझना चाहिए । अतः द्रव्यों में कोई साङ्कर्य नहीं है ।

न्यायकन्दली

गुरुत्वाधिकरणत्वाल्लोष्टादिवत्, तदप्यसारम्, किं तत्र गुरुत्वस्योपलब्धिस्तद्गुणत्वादुतान्यगुणत्वेऽपि घृतादिष्वपि स्नेहवत् स्वाश्रयप्रत्यासत्तिनिमित्तादिति संशयस्यानिवृत्तेः । यदपि साधनान्तरं परप्रकाश्यमानत्वादिति, तदप्यनुद्भूतरूपवत्त्वेनाप्युपपत्तेरसाधनम् । दिङ्मात्रमस्माभिरुपदिष्टम् ।

अनेनैव न्यायेन सर्वत्र पदार्थेऽन्यदपि साधर्म्यं स्वयं वाच्यम्, विपर्य्ययादितरव्यावृत्तेर्वैधर्म्यं वाच्यमिति शिष्यानाह—एवमिति ।

अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्त्तन्ते निर्विषयत्वात्, अलक्षितेषु च तत्त्वप्रतीत्यभावः कारणाभावात्, अतः पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणञ्च । परीक्षायास्त्वनियमः । यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात्तत्त्वनिश्चयो न भवति, तत्र परपक्षव्युदासार्थं

अनुमान में भी कुछ सार नहीं है; क्योंकि सुवर्ण में जिस गुरुत्व की उपलब्धि होती है वह उसका अपना गुण है, जैसे कि ढेले में, या उसमें संयुक्त किसी दूसरे द्रव्य का है, जैसे कि तेल में स्नेह का, इस संशय की निवृत्ति नहीं होती है । 'सुवर्ण तैजस नहीं है' इसको सिद्ध करने के लिए कोई यह हेतु देते हैं कि सुवर्ण तैजस इसलिए नहीं है कि वह (दीपादि) दूसरी वस्तुओं से प्रकाशित होता है, किन्तु यह भी हेत्वाभास ही है, क्योंकि स्वर्ण को (दीपादि) दूसरे द्रव्यों से प्रकाशित होने की उपपत्ति उसके भास्वर शुक्ल रूप को अनुद्भूत मान लेने से भी हो सकती है । सुवर्ण में तैजसत्व की साधक और बाधक युक्तियों का यहाँ हम लोगों ने दिग्दर्शन मात्र किया है ।

इसी प्रकार सभी पदार्थों में और साधर्म्यों की भी कल्पना स्वयं करनी चाहिए । एवं जो साधर्म्य जिनमें न हो उसको उनका वैधर्म्य समझना चाहिए । इसी विषय को शिष्यों को समझाने के लिए आगे 'एवम्' इत्यादि सन्दर्भ लिखते हैं ।

जिन पदार्थों का उल्लेख नामतः नहीं होता है, उनमें लक्षण की प्रवृत्ति नहीं होती है; क्योंकि उस लक्षण का कोई लक्ष्य ही निर्दिष्ट नहीं रहता है । एवं बिना लक्षण के पदार्थों का बोध ही असम्भव है । अतः पदार्थों के प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों की प्रवृत्ति नियमतः (१) उद्देश और (२) लक्षण भेद से दो ही प्रकार की होती है, परीक्षा रूप शास्त्र की प्रवृत्ति के प्रसङ्ग में नियम नहीं है, (अर्थात्) जहाँ लक्षण कहे जाने के

न्यायकन्दली

परीक्षाविधिरधिक्रियते । यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्त्वनिश्चयः स्यात्, तत्रायं व्यर्थो नार्थ्यते । योऽपि हि त्रिविधां शास्त्रस्य प्रवृत्तिमिच्छति, तस्यापि प्रयोजनादीनां नास्ति परीक्षा, तत् कस्य हेतोः ? लक्षणमात्रादेव ते प्रतीयन्त इति । एवञ्चेदर्थप्रतीत्यनुरोधाच्छास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न त्रिधैव । नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देशः । उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्त्तको धर्म्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा । उद्दिष्टविभागस्तु न विधान्तरम्, उद्देशलक्षणेनैव संगृहीतत्वात् । तथा हि पृथगुच्येत । एतान्येवेति नियमार्थं विशेषलक्षणप्रवृत्त्यर्थञ्च विभक्तेषु पदार्थेषु तेषां विशेषलक्षणानि भवन्ति, अन्यथा तानि निर्विषयाणि स्युः । तत्र द्रव्याणि द्रव्यगुणकर्मेत्युद्दिष्टानि पृथिव्यप्तेज इति विभक्तानि । सम्प्रति तेषां विशेषलक्षणार्थं प्रकरणमारभ्यते ।

बाद विरुद्ध मत के उपस्थित होने के कारण पदार्थों का तत्त्वज्ञान नहीं होने पाता, वहीं विरुद्ध मत को खण्डित करने के लिए परीक्षा आरम्भ की जाती है । किन्तु जहाँ लक्षण के कहने से ही वस्तुओं का तत्त्वज्ञान हो जाता है, वहाँ व्यर्थ होने के कारण परीक्षा अपेक्षित नहीं होती है । जो कोई (न्यायभाष्यकार वात्स्यायन) शास्त्रों की प्रवृत्ति को (१) उद्देश, (२) लक्षण और (३) परीक्षा भेद से नियमतः तीन प्रकार का मानते हैं, उनके शास्त्र में भी प्रयोजनादि पदार्थों की परीक्षा नहीं है । इसका क्या कारण है ? यही कि वे लक्षण कहने मात्र से तत्त्वतः ज्ञात हो जाते हैं । अगर प्रतीति के अनुरोध से ही शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है तो फिर वह नियम से तीन ही प्रकार की नहीं होती है (अधिक भी हो सकती है और अल्प भी) पदार्थों को केवल उनके नामों से निर्दिष्ट करना 'उद्देश' है । उद्दिष्ट पदार्थ को अपने से भिन्न सजातीय और विजातीय पदार्थों से भिन्न रूप से समझानेवाला धर्म ही 'लक्षण' है । लक्षण के द्वारा समझाये गये वस्तु का लक्षण के अनुसार विचार ही 'परीक्षा' है । 'उद्दिष्ट लक्षण' नाम की शास्त्र की कोई अलग प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि कथित उद्देश के लक्षण से ही वह गतार्थ हो जाता है । 'उद्दिष्ट विभाग' नाम की अलग शास्त्र की प्रवृत्ति (१) 'पदार्थ इतने ही हैं' इस नियम के लिए या (२) विशेष लक्षणों की प्रवृत्ति के लिए इन्हीं दो प्रयोजनों से मानी जा सकती थी; क्योंकि विभाग किये हुए पदार्थों के ही विशेष लक्षण होते हैं । अगर ऐसा न हो तो फिर इन विशेष लक्षणों का कोई विषय ही नहीं रहेगा । यहाँ 'द्रव्यगुणेत्यादि' ग्रन्थ से द्रव्यों का उद्देश हो गया है एवं 'पृथिव्यप्तेज' इत्यादि ग्रन्थ से वे विभक्त हुए हैं । अब द्रव्यों के विशेष लक्षण के लिए आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं ।

॥ अथ द्रव्यपदार्थनिरूपणम् ॥

प्रशस्तपादभाष्यम्

इहेदानीमेकैकशो वैधर्म्यमुच्यते ।

पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी ।

अब तक कहे हुए पदार्थों में से प्रत्येक का वैधर्म्य, अर्थात् असाधारण धर्म्म रूप लक्षण कहते हैं ।

पृथिवीत्व जाति के सम्बन्ध से 'यह पृथिवी है' यह व्यवहार करना चाहिए ।

न्यायकन्दली

इहेदानीमिति । **पूर्वं द्वयोर्बहूनां परस्परापेक्षया वैधर्म्यमुक्तम् । इह वक्ष्यमाणे प्रकरणे सम्प्रत्येकैकस्य द्रव्यस्य व्यावर्त्तको धर्म्मः कथ्यते । एकैकश इति शस्प्रत्ययाद् वीप्सात्यन्तबहुव्याप्तिप्रदर्शनार्था ।**

उद्देशक्रमेण पृथिव्याः प्रथमं वैधर्म्यमाह—पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवीति । यो हि **पृथिवीं स्वरूपतो जानन्नपि कुतश्चिद् व्यामोहात् पृथिवीति न व्यवहरति, तं प्रति विषय-सम्बन्धाव्यभिचारेण व्यवहारसाधनार्थमसाधरणो धर्म्मः कथ्यते**—पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवीति । **इयं पृथिवीति व्यवहर्तव्या पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्, यत् पुनः पृथिवीति न व्यवह्रियते, न तत् पृथिवीत्वेनाभिसम्बद्धम्, यथाबादिकम्, न चेयं पृथिवीत्वेन नाभिसम्बद्धा, तस्मात् पृथिवीति व्यवहर्तव्येति । यो वा पृथिवीति लोके शृणोति, न जानाति च तस्याः स्वरूपं कीदृगिति, तं प्रति तस्याः स्वपरजातीयव्यावृत्तस्वरूपप्रतिपादनार्थमसाधारणो**

(इससे) पहले दो या दो से अधिक पदार्थों में रहनेवाले एक-दूसरे की अपेक्षा से जो असाधारण धर्म्म हैं–वे ही कहे गये हैं । अब प्रत्येक द्रव्य में रहनेवाले असाधारण धर्म्म कहे जाते हैं । 'एकैकशः' इस पद में प्रयुक्त वीप्सा के बोधक 'शस्' प्रत्यय के प्रयोग से इस बात की सूचना होती है कि लक्षण कहने के इस क्रम का दायरा बहुत दूर तक अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के लक्षण कहने तक है ।

"पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी" । जो कोई पृथिवी को स्वरूपतः जानते हुए भी उसमें 'पृथिवी' शब्द का व्यवहार नहीं कर पाते, पृथिवीत्व जाति और पृथिवीत्व जाति के अव्यभिचरित सम्बन्ध इन दोनों के द्वारा पृथिवी में 'पृथिवी' पद का उनके व्यवहार के लिए "पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी" इस वाक्य से पृथिवी का असाधारण धर्म्म कहते हैं । इसका व्यवहार 'पृथिवी' शब्द से करना चाहिए; क्योंकि इसमें पृथिवीत्व का सम्बन्ध है । जो पृथिवी शब्द से व्यवहृत नहीं होता है, उसमें पृथिवीत्व का सम्बन्ध नहीं है, जैसे कि जलादि में, यह पृथिवी से असम्बद्ध भी नहीं है, तस्माद् इसका व्यवहार 'पृथिवी' शब्द से करना चाहिए । अथवा जो लोगों से 'पृथिवी' शब्द को सुनता है, किन्तु पृथिवी के स्वरूप को नहीं जानता कि वह कैसी है ? पृथिवी को सजातीयों से एवं विजातीयों से भिन्न समझानेवाले असाधारण धर्म्म

प्रशस्तपादभाष्यम्

रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्व-संस्कारवती । एते च गुणविनिवेशाधिकारे रूपादयो गुण-

यह पृथिवी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार इन चौदह गुणों से युक्त है । ये रूपादि गुणविशेष

न्यायकन्दली

धर्म्मः कथ्यते, या लोके पृथिवीति व्यपदिश्यते सा पृथिवी, पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् । यथाहोद्योतकरः – "समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः" (न्या. वा.) । एतेनैतदपि प्रत्युक्तम्, प्रसिद्धाश्चेत् पदार्था न लक्षणीयाः, अप्रसिद्धा नितरामशक्यत्वात्, स्वरूपेणावगतस्यापि व्यवहारविशेषप्रतिपादनार्थं सामान्येन प्रसिद्धस्य विशेषावगमार्थञ्च लक्षणप्रवृत्तेः । नन्वेवं सत्यनवस्था, लक्ष्यवल्लक्षणस्याप्यन्ततो लक्षणीयत्वादिति चेत्, न, अप्रतीतौ लक्षणापेक्षित्वात्, सर्वत्र चाप्रतीत्यभावात् । तथा हि––शिरसा पादेन गवामनुबध्नन्ति विद्वांसः, न पुनरेतावप्यन्यतः समीक्षन्ते । यस्तु सर्वथैवाप्रतिपन्नो न तं प्रत्युपदेशः, तस्य बालमूकादिवदनधिकारात् ।

गन्धसहचरितचतुर्दशगुणवत्त्वमपि पृथिव्या इतरेभ्यो वैधर्म्यमिति प्रतिपादयन्नाह– रूपरसगन्धेति । **अत्र द्वन्द्वानन्तरं मतुपूप्रत्यययोगात् प्रत्येकं**

के द्वारा उसे समझाने के लिए 'पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात्' इत्यादि वाक्य कहते हैं । जिसका व्यवहार लोक में 'पृथिवी' शब्द से होता है, वही पृथिवी है; क्योंकि उसमें पृथिवीत्व का सम्बन्ध है । जैसा कि उद्योतकर ने कहा है कि लक्ष्य को उसके समानजातीयों से एवं असमानजातीयों से भिन्न रूप में समझाना ही लक्षण का काम है । इससे यह आक्षेप भी खण्डित हो जाता है कि पदार्थ अगर प्रसिद्ध हैं तो फिर उनका लक्षण करना ही व्यर्थ है । अगर अप्रसिद्ध हैं तब तो और भी व्यर्थ है । स्वरूपतः ज्ञात वस्तुओं के विशेष व्यवहार के लिए एवं सामान्यतः प्रसिद्ध वस्तुओं को विशेष रूप से जानने के लिए ही लक्षण की प्रवृत्ति होती है । (प्र.) इस प्रकार तो अनवस्था होगी; क्योंकि उन लक्षणों को विशेष रूप से जानने के लिए भी दूसरे लक्षणों की आवश्यकता होगी, उनके विशेष ज्ञान के लिए फिर तीसरे की । (उ.) सम्यक् प्रतीति न होने पर ही लक्षणों की अपेक्षा होती है, किन्तु सभी स्थलों में वस्तुओं की अप्रतीति नहीं होती । विद्वान् लोग शिर और पैर से गाय को समझते हैं, किन्तु शिर और पैर के किसी ओर से समझने की आवश्यकता नहीं होती । जो व्यक्ति इन सब बातों से सर्वथा अनजान है, उसके लिए उपदेश है ही नहीं, क्योंकि वह तो बालक और गूँगे की तरह उपदेश का सर्वथा अनधिकारी है ।

"गन्ध से युक्त चौदह गुणों का रहना भी औरों की अपेक्षा से पृथिवी का असाधारण

प्रशस्तपादभाष्यम्

विशेषाः सिद्धाः । चाक्षुषवचनात् सप्त सङ्ख्यादयः । पतनोपदेशाद् गुरुत्वम् ।

'गुणविनिवेशाधिकार' अर्थात् कौन गुण किस द्रव्य में है ? इसके प्रतिपादक वैशेषिक सूत्र के द्वितीय अध्याय के सूत्रों से पृथिवी में सिद्ध हैं । चाक्षुष घटित सूत्र(४।१।११)से पृथिवी में संख्या प्रभृति सात गुण सिद्ध हैं । महर्षि कणाद ने (५।१।७ से) कहा है कि 'पृथिवी पतनशील है'

न्यायकन्दली

रूपदीनां पृथिव्या सह सम्बन्धो लभ्यते । सूत्रकारस्याप्येते गुणाः पृथिव्यामभिमता इत्याह– एते चेति । **गुणानां विनिवेशो द्रव्येषु वृत्तिः, सा प्रतिपाद्यते अनेनाधिक्रियतेऽस्मिन्निति गुणविनिवेशाधिकारो द्वितीयोऽध्यायः । तस्मिन् रूपरसगन्धस्पर्शाः पृथिव्यां सिद्धाः सूत्रकारेण प्रतिपादिताः – रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवीति** । चाक्षुषवचनात् सप्त सङ्ख्यादयः । **"सङ्ख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि"** (४।१।१) **इति, चाक्षुषवचनाद् रूपवत्यां पृथिव्यां सङ्ख्यादयः सप्त सिद्धाः । यदि ते रूपिद्रव्येषु न सन्ति तत्समवाये तेषां प्रत्यक्षत्वं सूत्रकारेण नोक्तं स्यादित्यर्थः ।**

धर्म्म है" यही समझाने के लिए " रूपरसगन्धस्पर्शसंख्या" इत्यादि वाक्य है । इस वाक्य में द्वन्द्व समास के बाद मतुप् प्रत्यय है, अतः कथित रूपादि गुणों में से प्रत्येक का सम्बन्ध पृथिवी के साथ ज्ञात होता है । पृथिवी में 'इतने गुण हैं' इस विषय में महर्षि कणाद की सम्मति "एते च" इत्यादि से दिखलाते हैं । "गुणानां विनिवेशोऽधिक्रियते अस्मिन्" इस व्युत्पत्ति के बल से द्रव्य में गुणों की विद्यमानता जिसमें कही गयी है, वह द्वितीय अध्याय ही यहाँ 'गुणविनिवेशाधिकार' शब्द से कहा गया है । गुणविनिवेशाधिकार के "रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी" (२/१/१) इस सूत्र से पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की सत्ता सूत्रकार ने कही है "संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि" (४/१/१) इस सूत्र से संख्यादि सात गुणों को रूपयुक्त द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध के कारण 'चाक्षुष' कहा है । जिससे रूपयुक्त पृथिवी में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व ये सात गुण समझना चाहिए । अभिप्राय यह है कि संख्यादि सात गुण अगर रूपवाले द्रव्यों में न रहते तो 'रूपिद्रव्य के समवाय से इनका प्रत्यक्ष होता है' यह सूत्रकार न कहते ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

अद्भिः सामान्यवचनाद् द्रवत्वम् । उत्तरकर्मवचनात् संस्कारः । क्षितावेव गन्धः । रूपमनेकप्रकारं शुक्लादि । रसः षड्विधो मधुरादिः । गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च । स्पर्शोऽस्या अनुष्णाशीतत्वे सति पाकजः ।

अतः (समझना चाहिए कि) गुरुत्व नाम का गुण भी पृथिवी में उन्हें अभीष्ट है । जल के साथ सादृश्य (२/१/७) के कहने से पृथिवी में द्रवत्व भी उन्हें अभीष्ट है । शर प्रभृति पार्थिव, द्रव्य के उत्तर कर्म्म में संस्कार को कारण कहने (५/१/१७) से पृथिवी में (वेग और स्थितिस्थापक) संस्कार भी उन्हें अभिप्रेत हैं । गन्ध पृथिवी में ही है । शुक्लादि अनेक प्रकार के रूप भी पृथिवी में ही हैं । मधुरादि छः प्रकार के रस भी पृथिवी में ही हैं । सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध) भेद से गन्ध दो प्रकार का है । पाकज अनुष्णाशीत स्पर्श भी पृथिवी में ही है ।

न्यायकन्दली

पतनोपदेशाद् गुरुत्वमिति । **"संयोगप्रतियत्नाभावे गुरुत्वात् पतनम्"** (५।१।७) **इत्युपदेशात् सूत्रकारेण पतनसम्बन्धिन्यां पृथिव्यां गुरुत्वमस्तीत्यर्थात् कथितम्, व्यधिकरणस्याकरणत्वात्** । अद्भिः सामान्यवचनाद् द्रवत्वम्, **"सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानां पार्थिवानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्"** (२।१।७) **इति वचनात् पृथिव्यां नैमित्तिकं**

'पतनोपदेशाद् गुरुत्वम्' अर्थात् 'संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्'[1] (५।१।७) इस सूत्र से महर्षि कणाद ने उपदेश किया है कि पतनशील पृथिवी में गुरुत्व है; क्योंकि एक आश्रय में विद्यमान वस्तु दूसरे आश्रय में कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती । 'अद्भिः सामान्यवचनाद् द्रवत्वम्' अर्थात् "सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानां पार्थिवानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् (२।१।७) अर्थात् घृत, लाह, मोम प्रभृति पार्थिव द्रव्यों में अग्नि के संयोग से द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । यह (नैमित्तिक द्रवत्व) पृथिवी और जल दोनों

1. एक मात्र विजयनगरं संस्कृत ग्रन्थमाला में मुद्रित न्यायकन्दली की पुस्तक में इस सूत्र का पाठ है "संयोगप्रतियत्नाभावे गुरुत्वात्पतनम्" (पृ. २९, पं. १४) । यद्यपि यह ठीक है कि विरुद्ध यत्न भी पतन का प्रतिबन्धक है, जिससे कि आकाश में उड़ते हुए पक्षी का पतन नहीं होता है । अतः पतन के लिए उसका भी अभाव अपेक्षित है । किन्तु ढेले को फेंकने पर कुछ दूर तक उसका भी पतन नहीं होता है, अतः वेग को भी पतन का प्रतिबन्धक कहना ही चाहिए । न कहने पर न्यूनता होगी । अतः प्रथमोपात्त संयोग पद को उपलक्षण मानकर उसे पतन के सभी प्रतिबन्धकों में लाक्षणिक

न्यायकन्दली

द्रवत्वमस्तीत्युक्तम् । मधूच्छिष्टशब्देन सिक्थस्याभिधानम् ।

उत्तरकर्मवचनात् संस्कार इति । **"नोदनादाद्यमिषोः कर्म, तत्कर्मकारिताच्च संस्कारात् तथोत्तरमुत्तरञ्च"(५।१।१७) इति सूत्रकारेण इषौ पार्थिवद्रव्ये कर्महेतुः संस्कार इति दर्शयता पृथिव्यां वेगोऽस्तीति ज्ञापितम्, अविद्यमानस्याहेतुत्वात् । यथा चैक एव संस्कार आपतनात् तथोपपादयिष्यामः ।**

क्षितावेव गन्धः । **अयमस्यार्थः – केवल एवायमसाधारणधर्म इति । सुगन्धि सलिलम्, सुगन्धिः समीरण इति प्रत्ययाद् द्रव्यान्तरेऽपि गन्धोऽस्तीति चेत्, न, पार्थिवद्रव्यसमवायेन तद्गुणोपलब्धेः । कथमेष निश्चय इति चेत् ? तदभावेऽनुपलम्भात् ।**

में समान रूप से है । 'मधूच्छिष्ट' शब्द का अर्थ है 'सिक्थ' अर्थात् मोम । इस सूत्र से महर्षि कणाद ने कहा है कि पृथिवी में नैमित्तिक द्रवत्व है ।

'उत्तरकर्मवचनात् संस्कारः' अर्थात् 'नोदनादाद्यमिषोः कर्म्म, तत्कर्म्मकारिताच्च संस्कारात् तथोत्तरमुत्तरञ्च' (५/१/१७) । (अर्थात् तीर की पहली क्रिया नोदन से होती है, उस क्रिया से उत्पन्न संस्कारों के द्वारा शर के आगे-आगे की क्रियायें होती हैं) 'शररूप पार्थिव द्रव्य में कर्म्म का कारण संस्कार है' इस उक्ति के द्वारा महर्षि कणाद ने यह सूचित किया है कि 'पृथिवी में वेग है'; क्योंकि किसी आश्रय में अविद्यमान कोई भी वस्तु उस आश्रय में कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकती । पतनपर्यन्त एक ही वेगाख्य संस्कार जिस प्रकार से रहता है, उसका प्रतिपादन हम आगे करेंगे ।

'क्षितावेव गन्धः' इस वाक्य का अर्थ है कि गन्ध दूसरे की अपेक्षा न करते हुए केवल पृथिवी का असाधारण धर्म्म है । (प्र.) 'जल में सुगन्धि है, वायु में सुगन्धि है' इत्यादि प्रतीतियों से और द्रव्यों में भी गन्ध सूचित होता है ? (उ.) पार्थिव द्रव्य के (संयुक्तसमवेत) समवाय से ही जलादि द्रव्यों में गन्ध की उपलब्धि होती है । (प्र.) यह कैसे समझते हैं ? (उ.) क्योंकि पार्थिव द्रव्य का सम्बन्ध न रहने से जलादि में गन्ध की उपलब्धि नहीं होती है ।

मानना पड़ेगा । तब 'प्रतियत्न' पद की आवश्यकता नहीं रह जाती है । इसी अभिप्राय से वैशेषिक सूत्र के सर्वमान्य वृत्तिकार श्रीशङ्कर मिश्र ने भी इस सूत्र की व्याख्या की है (वै. उपस्कार, पृ. १९७ पं. २३ गुजराती प्रे. सं.) । किरणावली में मुद्रित सूत्रपाठ में भी 'प्रतियत्न' शब्द नहीं है । (बनारस सं. सिरीज में मुद्रित किरणावली-सूत्रपाठ, पृ. ९ पं. १७) । अतः यहाँ पर संयोगप्रतियत्नाभावे गुरुत्वात्पतनम्' यह पाठ न रखकर 'संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम्' यही पाठ रखना उचित समझा गया ।

न्यायकन्दली

यद्यपि रूपं त्रयाणाम्, तथाप्यवान्तरभेदापेक्षया तदपि पृथिव्या एव वैधर्म्यमाह– रूपमनेकप्रकारकमिति । **अत्रापि क्षितावेवेत्यनुसन्धानीयम् । शुक्लपीताद्यनेकविधं रूपं क्षितावेव नान्यत्रेत्यर्थः । एकस्यां पृथिवीत्वजातौ नानारूपाणि व्यक्तिभेदेन समवयन्ति । क्वचिदेकस्यामपि व्यक्तावनेकप्रकाररूपसमावेशः, यत्र नानाविधरूपसम्बन्धिभिरवयवैरवयव्यारभ्यते । कथमेतदिति चेत् ? उच्यते, यथावयवैरवयव्यारब्धस्तथावयवरूपैरवयविनि रूपमारब्धव्यम्, अवयवेषु च न शुक्लमेव रूपमस्ति, नापि श्याममेव, किन्तु श्यामशुक्लहरितादीनि । न च तेषामेकं रूपमेवारभते नापराणीत्यस्ति नियमः, प्रत्येकमन्यत्र सर्वेषामपि सामर्थ्यदर्शनात् । न च परस्परं विरोधेन सर्वाण्यपि नारभन्त एवेति युक्तम् । चित्ररूपस्यावयविनः प्रतीतेररूपस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वाभावाच्च । न चावयवरूपाणि समुच्चितान्यत्र चित्रधिया प्रतीयन्ते, तेनैवावयवी प्रत्यक्ष इति कल्पनायामन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गेनावयविरूपोच्छेदप्रसङ्गः, तस्मात् सम्भूय तैरारभ्यते । तच्चारभ्यमाणं**

यद्यपि रूप पृथिवी, जल और तेज इन तीनों द्रव्यों में है, किन्तु अगर विशेष रूप से देखा जाय तो अनेक प्रकार के रूप पृथिवी में ही हैं, इस प्रकार रूप भी पृथिवी का असाधारण धर्म्म हो सकता है । इसी अभिप्राय से "रूपमनेकप्रकारकम्" यह वाक्य लिखा है । इस वाक्य में भी 'क्षितावेव' इतना इस अभिप्राय से जोड़ देना चाहिए कि शुक्ल-पीतादि अनेक प्रकार के रूप पृथिवी में ही हैं और द्रव्यों में नहीं । एक ही पृथिवीत्व जाति के द्रव्यों में व्यक्तिभेद से अनेक प्रकार के रूप देखे जाते हैं । कहीं एक ही व्यक्ति में नाना प्रकार के रूपों का समावेश देखा जाता है, जहाँ कि नाना रूप के अवयवों से एक अवयवी की उत्पत्ति होती है । (प्र.) यह कैसे होता है ? (उ.) जिस तरह अवयवों से अवयवी की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अवयवों के रूपों से अवयवी में रूप की उत्पत्ति होती है । (कथित पट के) अवयवों में न केवल शुक्ल रूप ही है, न केवल नील रूप ही, किन्तु श्याम, शुक्ल, हरित प्रभृति अनेक रूप हैं । इसका कोई नियामक नहीं है कि उनमें से कोई एक ही रूप अवयवी में रूप को उत्पन्न करता है और रूप नहीं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक रूप और जगह अवयवी में रूप को उत्पन्न करते हुए दीख पड़ते हैं । यह भी ठीक नहीं है कि यहाँ परस्पर विरोध के कारण कोई भी रूप अवयवी में रूप को उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि चित्र रूप से युक्त अवयवी का प्रत्यक्ष होता है एवं बिना रूप के द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष हो भी नहीं सकता । यह भी सम्भव नहीं है कि अवयवों के ही रूप अवयवी में सम्मिलित होकर चित्रबुद्धि से प्रतीत होते हैं, एवं उसी चित्र रूप से अवयवी का भी प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि इस प्रकार की कल्पना से तो सभी अवयवी की यही दशा होगी, फलतः अवयवियों से रूप की सत्ता ही उठ जाएगी । तस्मात् अवयवों

न्यायकन्दली

विविधकारणस्वभावानुगमाच्छ्यामशुक्लहरितात्मकमेव स्यात्, चित्रमिति च व्यपदिश्यते । विरोधादेकमनेकस्वभावमयुक्तमिति चेत् ? तथा च प्रावादुकप्रवादः –"एकञ्च चित्रञ्चेत्येतत्तच्च चित्रतरं ततः" इति । को विरोधो नीलादीनाम्, न तावदितरेतराभावात्मकः, भावस्वभावानुगमादन्योन्यसंश्रयापत्तेश्च । स्वरूपान्यत्वं विरोध इति चेत् ? सत्यमस्त्येव । तथापि चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता, विचित्रकारणसामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेणैवोपपादितत्वात् । अचित्रे पार्श्वे पटस्येव तदाश्रयस्य चित्ररूपस्य ग्रहणप्रसङ्गस्तस्यैकत्वादिति चेत्, न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां समधिगतसामर्थ्यस्यावयवनानारूपदर्शनस्यापि चित्ररूपग्रहणहेतुत्वात्, तस्य च पार्श्वान्तरेऽभावात् । नन्वेवं तर्हि नानारूपैर्द्व्यणुकैरारब्धे द्रव्ये न चित्ररूपग्रहणम्, तदवयवरूपग्रहणाभावात् ? को नामाह न तथेति, न हि परमसूक्ष्मस्य वस्तुनो रूपं विविच्य गृह्यते यस्य तु विविच्य गृह्यते तस्यावयवरूपाण्यपि गृह्यन्ते । यस्त्वव्यापकानि बहूनि चित्ररूपाणीति मन्यते, तस्य नीलपीताभ्यामारब्धे

के सभी रूप मिलकर ही उस अवयवी में रूप को उत्पन्न करते हैं । इस अवयवी में उत्पन्न होनेवाला वह एक रूप कारणों के अनेक स्वभाव से श्याम, शुक्ल और हरित स्वरूप ही होगा जो 'चित्र' शब्द से व्यवहृत होता है । (प्र.) विरोध के कारण एक वस्तु को अनेक स्वभाव का मानना ठीक नहीं है । (उ.) लोक में यह प्रसिद्ध है कि 'चित्र' रूप एक है और यह उस चित्र रूप से 'चित्रतर' है । फिर नीलादि रूपों में परस्पर विरोध ही क्या है ? क्योंकि वे परस्पर अभावस्वरूप नहीं हैं; क्योंकि उनमें से प्रत्येक में भावत्व की प्रतीति होती है । एवं परस्पराभाव रूप मानने में अन्योन्याश्रय दोष भी होगा । (प्र.) एक में दूसरे की स्वरूपभिन्नता ही दोनों में विरोध है ? (उ.) यह विरोध ठीक है, किन्तु इससे चित्र रूप की अत्युक्तता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि विलक्षण कारणों से उत्पन्न चित्र रूप सार्वजनीन प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है । (प्र.) जिस पट के कुछ अंश बिलकुल सफेद हैं और कुछ अंश चित्र रूप के हैं, उसमें शुक्ल रूप के ग्रहण से जैसे पट का ग्रहण होता है वैसे ही चित्र रूप का भी ग्रहण होना चाहिए; क्योंकि प्रकृत में शुक्लरूपाश्रय पट और चित्रारूपाश्रय पट दोनों एक ही हैं ? (उ.) कारणता अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों के अधीन है, ये दोनों जिसे जिसका कारण सिद्ध करेंगे वही उसका कारण होगा । तदनुसार चित्र रूप के प्रत्यक्ष में उसके आश्रय के अवयवों का प्रत्यक्ष भी कारण है । वह सफेदवाले अंश में नहीं है (इसी से वहाँ चित्र रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता है) । (प्र.) तो फिर नाना रूप के द्व्यणुकों से बने हुए द्रव्य में चित्र रूप का प्रत्यक्ष नहीं होगा ? क्योंकि उत्पन्न होनेवाले द्रव्य के द्व्यणुक रूप अवयव अतीन्द्रिय हैं, अतः उनके रूपों का ज्ञान सम्भव नहीं है । (उ) कौन कहता है कि

न्यायकन्दली

द्वितन्तुके रूपानुत्पत्तिरेकैकस्यावयवरूपस्यानारम्भकत्वात् । अथ मतम्–तत्रोभाभ्यामेकं चित्रं रूपमारभ्यते, तदन्यत्रापि तथा स्यादविशेषात् । विवादाध्यासितं चित्रद्रव्यमेक-रूपद्रव्यसम्बन्धि द्रव्यत्वादितरद्रव्यवत्, तद्गतं रूपमेकमवयविरूपत्वाद् इतरावयवि-द्रव्यरूपवत् ।

रसः षड्विध **इत्यत्रापि पूर्ववद् व्याख्यानम् । यद् गन्धस्य भेदनिरूपणं तत् पारम्पर्येण पृथिव्या अपि स्वरूपकथनमित्यभिप्रायेणाह–**गन्धो द्विविध इति । **तदेव द्वैविध्यं दर्शयति–**सुरभिरसुरभिश्चेति । **असुरभिरिति सुरभिगन्धविरुद्धं प्रतिद्रव्यादिसमवेतं प्रतिकूलसंवेदनीयं गन्धान्तरम्, न तु तदभावमात्रम्, विधिरूपेण सातिशयतया च संवेदनात् । उपेक्षणीयस्तु गन्धोऽनुद्भूतसुरभ्यसुरभिप्रभेद एवेति पृथङ् नोच्यते । अथवा सोऽप्यसुरभिरेव, सुरभिगन्धादन्योऽसुरभिरिति व्युत्पादनात् ।**

ऐसा नहीं होता है । परम सूक्ष्म वस्तु के रूप नहीं देखे जाते । जिसका रूप अच्छी तरह देखा जाता है उसके अवयवों के रूप भी देखे ही जाते हैं । जो कोई 'एक ही अवयवी में रहनेवाले अव्याप्यवृत्ति अनेक रूप ही चित्र रूप हैं' ऐसा मानते हैं, उनके मत में नील और पीत रूप के दो तन्तुवों से आरब्ध पट में रूप की उत्पत्ति नहीं होगी; क्योंकि अवयव का एक रूप तो कारण नहीं है, (प्र.) वहाँ दोनों रूप मिलकर एक चित्र रूप का उत्पादन करते हैं । (उ.) तो फिर और स्थानों में भी वही होगा; क्योंकि स्थिति में कोई अन्तर नहीं है । (१) विवाद का विषय यह चित्र द्रव्य एक रूप के द्रव्य का सम्बन्धी है, क्योंकि वह द्रव्य है । (२) उसमें रहनेवाला रूप एक ही है, क्योंकि वह अवयवी का रूप है । जैसे कि और अवयवी द्रव्यों का रूप ।

'रसः षड्विधः' इस वाक्य की व्याख्या भी 'रूपमनेकप्रकारकम्' इस पहले वाक्य की तरह है । गन्ध के भेद का निरूपण परम्परा से पृथिवी के ही स्वरूप का निरूपण है, इसी अभिप्राय से 'गन्धो द्विविधः' इत्यादि वाक्य लिखते हैं । यही दोनों प्रकार 'सुरभिरसुरभिश्च' इस वाक्य से लिखते हैं । 'असुरभि' शब्द का अर्थ सुगन्ध के विरोधी किसी विशेष द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला, अनभीष्ट रूप से ज्ञात होनेवाला दूसरा गन्ध है, केवल सुरभि का अभाव नहीं, क्योंकि भावत्व रूप से और न्यूनाधिक भाव से उसका भान होता है । उपेक्षणीय गन्ध अनुद्भूत सुरभि और अनुद्भूत असुरभि का ही प्रभेद है, अतः उसे अलग से नहीं कहा गया । अथवा उपेक्षणीय गन्ध 'असुरभि' शब्द का ही अर्थ है, क्योंकि 'असुरभि' शब्द का ऐसा अर्थ है कि 'सुरभिगन्धादन्यो गन्धः' अर्थात् सुरभि गन्ध से भिन्न गन्ध ही 'असुरभि' शब्द का अर्थ है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

सा च द्विविधा—नित्या चानित्या च । परमाणुलक्षणा नित्या, कार्य्यलक्षणा त्वनित्या । सा च स्थैर्य्याद्यवयवसन्निवेशविशिष्टाऽपरजातिबहुत्वोपेता शयनासनाद्यनेकोपकारकरी च ।

१. परमाणुरूपा नित्य पृथिवी एवं २. कार्यरूपा अनित्य पृथिवी, इस भेद से पृथिवी के दो भेद हैं । इनमें कार्यरूपा पृथिवी स्थैर्यादि (घनत्व, शिथिलत्वादि) अवयवों के विलक्षण संयोग से युक्त है और उसमें अनेक अपर जातियाँ रहती हैं । वह बिछावन और आसनादि द्वारा अनेक उपकारों का कारण है ।

न्यायकन्दली

यथाभूतः स्पर्शोऽस्या वैधर्म्यं तथा दर्शयति—स्पर्शोऽस्या इति । **पाकजः स्पर्शः पृथिव्या वैधर्म्यं तस्य स्वरूपकथनमनुष्णाशीत इति । यद्यपि स्पर्शवत्पाकजौ रूपरसावप्यस्याः वैधर्म्यम्, तथापि रूपरसयोः पाकजत्वानभिधानम्, अन्यथापि तयोर्वैधर्म्यस्य सम्भवात्, वैधर्म्यमात्रप्रतिपादनस्यैव विवक्षितत्वात् । अप्रतीयमानपाकजेषु स्तम्भादिषु स्पर्शस्य पाकजत्वमनुमानात् । स्तम्भादिषु स्पर्शः पाकजः, पार्थिवस्पर्शत्वात्, घटादिस्पर्शवत् । घटादिस्पर्शस्यापि पाकजत्वमेकेन्द्रियग्राह्यत्वे सति तद्गुणत्वात् तद्गतरूपवत् ।**

अवान्तरभेदनिरूपणार्थमाह—नित्या चानित्या चेति । **प्रकारान्तराभावसंसूचनार्थौ चशब्दौ । का नित्या का चानित्येत्याह—**परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्येति । **उभयत्रापि लक्षणशब्दः स्वभावार्थः । परमाणु-**

'किस प्रकार का स्पर्श पृथिवी का असाधारण धर्म्म है' यह 'स्पर्शोऽस्याः' इत्यादि से दिखलाते हैं । पाकज स्पर्श ही पृथिवी का असाधारण धर्म्म है, 'अनुष्णाशीतः' यह अंश उसी के स्वरूप का कथन है । यद्यपि स्पर्श की तरह पाकज रूप एवं पाकज रस भी पृथिवी के असाधारण धर्म्म हो सकते हैं, फिर भी असाधारण धर्म्म के लिए कथित रूप और रस में पाकजत्व इसलिए नहीं कहा कि वे और तरह से भी पृथिवी के वैधर्म्य हो सकते हैं । यहाँ केवल वैधर्म्य प्रतिपादन ही इष्ट है । स्तम्भादि जिन पार्थिव द्रव्यों के स्पर्श में पाकजत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है, उन स्पर्शों में भी पाकजत्व का अनुमान करेंगे कि स्तम्भादि के स्पर्श पाकज हैं, क्योंकि वे पृथिवी के स्पर्श हैं, जैसे घटादि के स्पर्श । घट के स्पर्श में पाकजत्व का अनुमान इस प्रकार करेंगे कि वह पार्थिव होने के साथ-साथ एक मात्र इन्द्रिय से गृहीत होता है, जैसे कि उसका रूप (अतः वह भी पाकज है) ।

'नित्या चानित्या च' यह वाक्य पृथिवी के अवान्तर भेद के निरूपण के लिए लिखते हैं । 'पृथिवी के और प्रकार नहीं हैं' इसकी सूचना देने के लिए ही दोनों 'च' शब्द लिखे गये हैं । इनमें कौन नित्य है ? और कौन अनित्य ? यह समझाने के

न्यायकन्दली

स्वभावायाः पृथिव्याः सत्त्वे किं प्रमाणम् ? अनुमानम्, अणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तं परिमाणतारतम्यत्वाद् महत्परिमाणतारतम्यवत्, यत्रेदं विश्रान्तं यतः परमणुर्नास्ति स परमाणुः । अत एव नित्यो द्रव्यत्वे सत्यनवयवत्वादाकाशवत् । अथायं सावयवो न तर्हि परमाणुः, कार्य्यपरिमाणापेक्षया तदवयवपरिमाणस्य लोकेऽल्पीयस्त्वप्रतीतेः, यश्च तस्यावयवः स परमाणुर्भविष्यति । अथ सोऽपि न भवति, अवयवान्तरसद्भावात् ? एवं तर्ह्यनवस्था, ततश्चावयविनामल्पतरतमादिभावो न स्यात्, सर्वेषामनन्तकारणजन्यत्वाविशेषेण परिमाणप्रकर्षाप्रकर्षहेतोः कारणसङ्ख्याभूयस्त्वाभूयस्त्वयोरसम्भवात् । अस्ति तावदयं परिमाणभेदः, तस्मादणुपरिमाणं क्वचिन्निरतिशयमिति सिद्धो नित्यः परमाणुः । स चैको नारम्भकः,

लिए लिखते हैं कि 'परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्या' इस वाक्य के दोनों ही 'लक्षण' शब्द 'स्वभाव' के बोधक हैं । (प्र.) परमाणु स्वभाव की पृथिवी की सत्ता में प्रमाण क्या है ? (उ.) यह अनुमान प्रमाण है कि अणुपरिमाण का न्यूनाधिक भाव भी कहीं समाप्त होता है, क्योंकि वह भी परिमाण का न्यूनाधिक भाव है, जैसे कि महत्परिमाण का न्यूनाधिक भाव । अणुपरिमाण का यह तारतम्य जहाँ समाप्त होता है, चूँकि उससे छोटा कोई और अणु नहीं है, अतः वही परमाणु है । अतएव वह नित्य भी है, क्योंकि वह द्रव्य होने पर भी सावयव नहीं है जैसे कि आकाश । अगर वह सावयव है तो फिर वह परमाणु नहीं है, क्योंकि यह लोक में सिद्ध है कि कार्य के परिमाण से कारण का परिमाण अल्प होता है । फिर वही कारणीभूत द्रव्य परमाणु कहलायेगा । यह परमाणु भी नहीं कहला सकता, अगर इसके छोटे अवयव हैं । इस प्रकार (परमाणु को सावयव मानने में) अनवस्था होगी एवं इस अनवस्था से अवयवियों में परस्पर छोटे-बड़े के भेद ही उठ जायेंगे । कोई अवयवी किसी दूसरे अवयवी से बड़ा इसलिए है कि उसका निर्माण उस छोटे अवयवी के निर्मापक अवयवों से अधिकसंख्यक अवयवों से होता है । कोई अवयवी किसी अवयवी से छोटा इसलिए है कि उस अवयवी के निर्मापक अवयवों से अल्पसंख्यक अवयवों से उसका निर्माण होता है । अगर सभी को सावयव मान लें तो सभी अवयवियों को असंख्य अवयवों से निर्मित मानना पड़ेगा । फिर अवयवियों में परस्पर छोटे-बड़े का व्यवहार ही किससे होगा ? किन्तु अवयवियों में परस्पर छोटे-बड़े का भेद सार्वजनीन अनुभव से सिद्ध है । तस्मात् अणुपरिमाण का न्यूनाधिक भाव अवश्य ही कहीं समाप्त होता है । जहाँ यह समाप्त होता है वही 'नित्य परमाणु' है । उन परमाणुवों में से किसी एक से ही कार्य्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इससे सभी समय कार्योत्पत्ति की आपत्ति होगी, कारण कि उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं है । अगर एक ही नित्य वस्तु

न्यायकन्दली

एकस्य नित्यस्य चारम्भकत्वे कार्य्यस्य सततोत्पत्तिः स्यादपेक्षणीयाभावात्, अविनाशित्वञ्च प्रसज्येत, आश्रयविनाशस्यावयविभागस्य च विनाशहेतोरभावात् । त्रयाणामप्यारम्भकत्वमयुक्तम्, इह महत्कार्य्यद्रव्यस्योत्पत्तौ स्वपरिमाणापेक्षयाऽल्पपरिमाणस्य कार्य्यद्रव्यस्यैव सामर्थ्यदर्शनात् । त्र्यणुकं कार्यद्रव्येणैव जन्यते, महत्परिमाणत्वात्, घटवत् । एवं त्रयाणामेकस्य चारम्भकत्वे प्रतिक्षिप्ते द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यते यत् तद्व्द्यणुकमिति सिद्धम् । द्व्यणुकैर्बहुभिरारभ्यत इत्यपि नियमो न, द्वाभ्यां तस्याणुपरिमाणोत्पत्तौ कारणसद्भावेनाणुत्वोत्पत्तावारम्भवैयर्थ्यात्, बहुषु त्वनियमः । कदाचित् त्रिभिरारभ्यत इति त्र्यणुकमित्युच्यते, कदाचिच्चतुर्भिरारभ्यते, कदाचित् पञ्चभिरिति यथेष्टं कल्पना । न च कार्य्यस्य व्यर्थता, यथा यथा कारणसङ्ख्याबाहुल्यं तथा तथा महत्परिमाणतारतम्योपलम्भात् । न चैवं सति द्व्यणुकानामेव घटारम्भकत्वप्रसक्तिः, घटस्य भङ्गेऽल्पतरतमादिभागदर्शनेन तथैवारम्भकल्पनात् । तदेवं द्व्यणुकादिप्रक्रमेण क्रियते कार्य्यलक्षणा पृथिवी ।

से कार्य की उत्पत्ति मानें तो कार्य का विनाश ही असम्भव होगा, क्योंकि कार्यों का नाश दो ही वस्तुओं से सम्भव है, एक आश्रय के नाश से (समवायिकारण के नाश से) दूसरे अवयवों के विभाग से (फलतः असमवायिकारण के नाश से), ये दोनों ही प्रकार नित्य वस्तु से कार्यों की उत्पत्ति मान लेने पर असम्भव हैं । तीन परमाणु भी मिलकर कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकते; क्योंकि तीन परमाणुवों से जो बनेगा वह अवश्य ही महान् होगा । महत्परिमाण के कार्यद्रव्य का यह स्वभाव सर्वत्र देखा जाता है कि उसकी उत्पत्ति उसके परिमाण से न्यून परिमाणवाले कार्य्यद्रव्यों से होती है । तस्मात् त्र्यणुक कार्यद्रव्यों से उत्पन्न होता है; क्योंकि उसमें महापरिमाण है, जैसे कि घटादि । इससे एक परमाणु से और तीन परमाणुवों से कार्य की उत्पत्ति खण्डित हो जाने पर यह सिद्ध होता है कि दो परमाणुवों से ही कार्य की उत्पत्ति होती है एवं उस कार्य का नाम द्व्यणुक है । यह भी निश्चित ही है कि दो से अधिक द्व्यणुकों से ही कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, दो द्व्यणुकों से नहीं क्योंकि दो द्व्यणुकों से उत्पन्न कार्य का परिमाण 'अणु' ही होगा, क्योंकि उसके परिमाण में अणुपरिमाण को ही उत्पन्न करने का सामर्थ्य है । दो द्व्यणुकों से जिस अणुपरिमाणवाले द्रव्य की उत्पत्ति होगी उसका उत्पन्न होना ही व्यर्थ है । दो से अधिक कितने द्व्यणुकों से कार्य की उत्पत्ति होती है, इसका कोई नियम नहीं है, कभी तीन द्व्यणुकों से ही कार्योत्पत्ति होती है, कभी चार या पाँच द्व्यणुकों से कार्योत्पत्ति की यथेच्छ कल्पना की जा सकती है । इस पक्ष में कार्योत्पत्ति की व्यर्थता नहीं है; क्योंकि जिस क्रम से कारणों की संख्या में अधिकता होगी, उसी क्रम से उनके कार्यों में परिमाण-

प्रशस्तपादभाष्यम्

त्रिविधं चास्याः कार्य्यम् । शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ।

इसके कार्य १. शरीर, २. इन्द्रिय और ३. विषय भेद से तीन प्रकार के हैं ।

न्यायकन्दली

सा चानित्या कारणविभागस्याश्रयविनाशस्य च हेतोः सम्भवात् । कार्य्यलक्षणायाः पृथिव्या अनित्यत्वेन सह धर्मान्तरं समुच्चिन्वन्नाह—सा चेति । **स्थैर्य्यं निविडत्वम् । आदिशब्दात् प्रशिथिलत्वादिपरिग्रहः । अवयवानां सन्निवेशोऽवयवसंयोगविभागविशेषः । स्थैर्य्यादयश्चावयवसन्निवेशाश्च तैर्विशिष्टा अपरजातिबहुत्वोपेता गोत्वादिजातिभूयस्त्वयुक्तेत्यर्थः । परमाण्वादिष्वपरजात्यभावेऽप्यदृष्टवशात्तथा तथा तेषां व्यूहो यथा यथा तदारब्धेष्वपरजातयो व्यज्यन्ते । नन्वदृष्टकारिता सर्वभावानां सृष्टिः, कार्य्यलक्षणा पृथिवी कामर्थक्रियां पुरुषस्य जनयति, येनेयमदृष्टेन क्रियत इत्यत आह**—शयनासनेति । **शयनासनादयोऽनेक उपकारास्तत्कारिणी कार्यलक्षणेति ।**

तारतम्य भी बढ़ता जाएगा, किन्तु इससे द्व्यणुक में साक्षात् घट की उत्पादकता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि घट के नष्ट होने पर अन्य छोटे-बड़े अवयव दीख पड़ते हैं । उसी के अनुसार द्व्यणुक से उत्पन्न होनेवाले कार्य की कल्पना करते हैं । तस्मात् परमाणुओं से द्व्यणुकादि क्रम से कार्यरूप पृथिवी की उत्पत्ति होती है ।

यह कार्यरूप पृथिवी अनित्य है, क्योंकि आश्रयविनाश एवं अवयवों के विभाग, कार्यविनाश के ये दोनों ही हेतु सम्भावित हैं । कार्यरूप पृथिवी में अनित्यत्व के साथ और धर्म्मों का समावेश कहते हुए 'सा च' इत्यादि वाक्य लिखते हैं । 'स्थैर्य्य' शब्द का अर्थ है निविडत्व, कठोरता । 'आदि' पद से प्रशिथिलत्व, कोमलत्व प्रभृति का संग्रह अभीष्ट है । 'अवयवसंनिवेश' शब्द का अर्थ है अवयवों का विशेष प्रकार का संयोग । ('स्थैर्य्याद्यवयवसंनिवेशविशिष्टा') इस वाक्य का विग्रह इस प्रकार है कि 'स्थैर्य्यादयश्च अवयवसंनिवेशाश्च स्थैर्य्याद्यवयवसंनिवेशाः', 'तैः विशिष्टा स्थैर्य्याद्यवयवसंनिवेशविशिष्टा ।' 'अपरजातिबहुत्वोपेता' अर्थात् गोत्वादि अनेक प्रकार की अपर जातियाँ उसमें रहती हैं । यद्यपि कार्यरूप पृथिवी के मूल कारण परमाणुवों में ये अपर जातियाँ नहीं हैं; किन्तु अदृष्टवश उनसे इस प्रकार से कार्यों की उत्पत्ति होती है कि उनमें ये गोत्वादि अपर जातियाँ अभिव्यक्त होती हैं । अगर सभी वस्तुओं की उत्पत्ति अदृष्ट से ही होती है तो फिर यह कार्यरूपा पृथिवी जीवों के किन प्रयोजनों का सम्पादन करती है कि उन्हें अदृष्ट से उत्पन्न मानें ? इसी प्रश्न का समाधान 'शयनासन' इत्यादि से देते हैं । अर्थात् शयन और आसन प्रभृति जीवों के अनेक उपकरण कार्यरूपा पृथिवी के द्वारा सम्पादित होते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च । तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते। क्षुद्रजन्तूनां यातनाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते । शुक्रशोणितसन्निपातजं योनिजम् । तद् द्विविधम् जरायुजमण्डजञ्च । मानुषपशुमृगाणां जरायुजम् । पक्षिसरीसृपाणामण्डजम् ।

इनमें शरीर १.योनिज और २. अयोनिज भेद से दो प्रकार का है । इनमें एक प्रकार के अयोनिज शरीर देवताओं और ऋषियों के हैं, जो शुक्र और शोणित की अपेक्षा न रखकर विशेष प्रकार के धर्म्म और परमाणुवों से ही उत्पन्न होते हैं । (दूसरे प्रकार के) अयोनिज शरीर (मशकादि) क्षुद्र जीवों के हैं जो (शुक-शोणित की अपेक्षा न रखकर) अधर्म्म एवं परमाणुवों से उत्पन्न होते हैं । शुक्र और शोणित के संयोग से उत्पन्न शरीर को ही 'योनिज शरीर' कहते हैं ।योनिज शरीर भी १. जरायुज और २. अण्डज भेद से दो प्रकार का है । मनुष्य, पशु एवं मृगादि के शरीर 'जरायुज' हैं एवं चिड़ियों और साँप प्रभृति जीवों के शरीर 'अण्डज' हैं ।

न्यायकन्दली

कार्य्यान्तरं त्वस्याः समुच्चिनोति–त्रिविधमिति । **कार्यत्रैविध्यमेव दर्शयति**-शरीरेत्यादि । **शरीरमिन्द्रियं विषय इति संज्ञा यस्य कार्यस्य तत्तथा । भोक्तुर्भोगायतनं शरीरम्, मृतशरीरे तद्योग्यत्वात् तद्व्यपदेशः । शरीराश्रयं ज्ञातुरपरोक्षप्रतीतिसाधनं द्रव्यमिन्द्रियम् । शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमात्मोपभोगसाधनं द्रव्यं विषयः । शरीरभेदं** कथयति–योनिजमयोनिजञ्चेति । **शुक्रशोणितसन्निपातो योनिः, तस्माज्जातं योनिजम्, तद्विपरीतमयोनिजम् । तदेव दर्शयति**–तत्रायोनिजमिति । **तयोर्योनिजायोनिजयो-**

पृथिवी के और कार्यों का सङ्कलन 'शरीर' इत्यादि से करते हैं । अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और विषय ये तीन नाम जिनके हैं वे ही 'शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञक' हैं ।भोग करनेवाला (जीव) जिस आश्रय में भोग करे वही 'शरीर' है । मृत शरीर में भोग की योग्यता न होने के कारण शरीरत्व का व्यवहार नहीं होता है । शरीर में रहनेवाला एवं जीव के अपरोक्ष ज्ञान का सम्पादक द्रव्य ही इन्द्रिय है । शरीर और इन्द्रिय को छोड़कर जीवों के भोग के सम्पादक जितने द्रव्य हैं वे सभी 'विषय' हैं । 'योनिजमयोनिजञ्च' इत्यादि से शरीर का भेद दिखलाते हैं । प्रकृत में 'योनि' शब्द का अर्थ है शुक्र और शोणित का मेल । उससे उत्पन्न होनेवाले 'योनिज' कहलाते हैं, एवं इसके विपरीत जो कार्य शुक्र और शोणित के मेल के बिना ही उत्पन्न होता है, उसे 'अयोनिज' कहते हैं । इस अर्थ को 'तत्रायोनिजम्' इत्यादि वाक्य से समझाते हैं ।

न्यायकन्दली

मध्येऽयोनिजं शरीरं शुक्रशोणितमनपेक्ष्य जायते । केषामित्यत आह– देवर्षीणामिति । **देवानाञ्च ऋषीणाञ्चेत्यर्थः । अन्वयव्यतिरेकावधारितकारणभावस्य शुक्रशोणितस्याभावे कथं शरीरस्योत्पत्तिरित्यत आह–**धर्मविशेषसहितेभ्य इति । **विशिष्यत इति विशेषः, धर्म्म एव विशेषो धर्म्मविशेषः, प्रकृष्टो धर्म्मः, तत्सहितेभ्योऽणुभ्य इति । अयमभिसन्धिः– शरीरारम्भे परमाणव एव कारणम्, न शुक्रशोणितसन्निपातः, क्रियाविभागादिन्यायेन तयोर्विनाशे सत्युत्पन्नपाकजैः परमाणुभिरारम्भात् । न च शुक्रशोणितपरमाणूनां कश्चिद्विशेषः, पार्थिवत्वाविशेषात् । अत्रापि कार्य्ये जातिनियमस्यादृष्ट एव हेतुः, एवञ्चेद्धर्म्मविशेषानुगृहीतेभ्यः परमाणुभ्योऽयोनिजशरीरोत्पत्तिर्नानुपपन्ना । ननु दृष्टस्तावत् सर्वत्र शरीरोत्पत्तौ शुक्रशोणितयोः पूर्वकालतानियमः, तेन यथा ग्रावोन्मज्जनाभ्युपगमस्तत्सदृशग्रावान्तरनिमज्जन-**

'तत्र' अर्थात् योनिज और अयोनिज इन दोनों में अयोनिज शरीर अपनी उत्पत्ति में शुक्र एवं शोंणित के मेल की अपेक्षा नहीं रखते । ये अयोनिज शरीर किनके हैं ? इस प्रश्न का समाधान 'देवर्षीणाम्' इत्यादि से देते हैं । अर्थात् देवताओं और ऋषियों के शरीर अयोनिज हैं । शुक्र और शोणित में शरीर की कारणता अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध है, फिर देवताओं और ऋषियों के शरीर बिना शुक्र-शोणित के ही कैसे उत्पन्न होते हैं ? इसी आक्षेप का उत्तर 'धर्म्मविशेषसहितेभ्यः' इस वाक्य से दिया गया है । 'विशिष्यत इति विशेषः, धर्म्म एव विशेषो धर्म्मविशेषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उत्कृष्ट धर्म ही इस 'धर्म्मविशेष' शब्द से इष्ट है । इसकी सहायता से परमाणु ही देवादि शरीरों को उत्पन्न करते हैं । अर्थात् उन शरीरों की उत्पत्ति परमाणुवों से ही होती है, शुक्र और शोणित के मेल से नहीं । 'क्रियाविभागादिक्रम से' अर्थात् पहले अवयवों में क्रिया, उसके बाद अवयवों का विभाग, फिर आरम्भक संयोग का नाश, अनन्तर कार्य द्रव्य का नाश, इस क्रम से जब शुक्र और शोणित का परमाणुपर्यन्त विनाश हो जाता है, तब इन परमाणुवों में दूसरे रूप-रसादि की उत्पत्ति होती है, एवं इन पाकज रूपरसादि गुणों से युक्त परमाणुवों से ही शरीर की उत्पत्ति होती है । शुक्र और शोणित के आरम्भक परमाणुवों में एवं अन्य पार्थिव परमाणुवों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों में पार्थिवत्व समान रूप से है । योनिज-शरीर स्थलों में भी किसी विशेष प्रकार के शुक्र-शोणित से किसी विशेष प्रकार के (द्रव्यरूप) शरीर की ही उत्पत्ति हो, इसमें अदृष्ट को ही (नियामक) कारण मानना पड़ता है । अगर ऐसी बात है तो फिर उत्कृष्ट धर्म्म से अनुगृहीत परमाणुवों के द्वारा अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में कोई अयुक्तता नहीं है । (प्र.) जिस प्रकार किसी पत्थर के तैरने को स्वीकार करना उसी तरह के दूसरे पत्थर के डूबने के बाधक प्रमाण के द्वारा असम्भव होता है, उसी प्रकार सर्वत्र

न्यायकन्दली

ग्राहकप्रमाणान्तरविरोधादनुपपन्नस्तद्वदयोनिजशरीराभ्युपगमोऽपि, नैवम्, शुक्रादिनिरपेक्षस्यापि शलभादिशरीरस्य दर्शनात् । विशिष्टसंस्थानस्य शरीरस्य शुक्रादिपूर्वतावगतेति चेत् ? सत्यम्, तथापि न नियमसिद्धिः, किमदृष्टविशेषाभावादस्मदादिशरीरस्य शुक्रादिपूर्वता, किं वा विशिष्टसंस्थानमात्रानुबन्धकृतेति सन्देहात् । एतेन बाधकानुमानमपि पर्य्युद- स्तम्, तस्य व्याप्तिसन्देहात् । यच्चात्र वक्तव्यं तद्योगिप्रत्यक्षनिरूपणावसरे वक्ष्यामः ।

अधर्म्मविशेषेणाप्ययोनिजं शरीरं भवतीत्याह–क्षुद्रजन्तूनामिति **। क्षुद्रजन्तवो दंशमशकादयस्तेषां यातना पीडा दुःखमिति यावत्, तदर्थं शरीरं यातनाशरीरम् । तदधर्म- विशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते । इदन्त्विह लोकसिद्धमेव । योनिजं शरीरमाह–**शुक्रशोणितसन्निपातजमिति **। शुक्रञ्च शोणितञ्च तयोः सन्निपातः संयोगविशेषः, तस्माज्जातं योनिज-**

देहोत्पत्ति से पहले नियमतः शुक्र-शोणित को देखने के कारण अयोनिज शरीर का मानना सम्भव नहीं है ? (उ.) नहीं, क्योंकि शुक्र और शोणित के विना भी कीड़े-मकोड़े प्रभृति के अनेक शरीर देखे जाते हैं । (प्र.) फिर भी कुछ शरीर तो नियमतः शुक्र-शोणित से ही उत्पन्न होते हैं । (उ.) तब भी यह सन्देह रह ही जाता है कि जिन शरीरों की उत्पत्ति के पहले शुक्र-शोणित का संनिपात नियमतः देखा जाता है, उस (नियम) का कारण (शुक्र-शोणित निरपेक्ष शलभादि शरीर के सम्पादक अदृष्ट के सदृश) अदृष्ट का अभाव है । अथवा उस शरीर का ही यह स्वभाव है कि वह बिना शुक्र-शोणित के उत्पन्न ही न हो । तस्मात् यह नियम ही नहीं हो सकता कि सभी शरीर शुक्र और शोणित से ही उत्पन्न हों । इससे यह बाधक अनुमान भी खण्डित हो जाता है कि देवादि शरीर भी शुक्रशोणितपूर्वक हैं, क्योंकि वे भी विशेष आकार के हैं जैसे कि मनुष्य-शरीर; क्योंकि कथित युक्ति से इस अनुमान की व्याप्ति ही संदिग्ध है । इस विषय में और जो कुछ भी कहना है वह योगिप्रत्यक्ष के निरूपण में कहेंगे ।

'क्षुद्रजन्तूनाम्' इत्यादि पङ्क्ति से कहते हैं कि विशेष प्रकार के अधर्म्म से भी अयोनिज शरीर की उत्पत्ति होती है । ये 'क्षुद्रजन्तु' हैं डांस, मच्छर प्रभृति । इनके शरीर 'यातनाशरीर' कहलाते हैं, 'यातना' शब्द का अर्थ है पीड़ा, दुःख । भोग करना ही जिस शरीर का प्रधान प्रयोजन हो, वही है 'यातनाशरीर' । वे विशेष प्रकार के अधर्मों से सहकृत परमाणुवों से ही उत्पन्न होते हैं । यह विषय आपामर प्रसिद्ध है । 'शुक्रशोणितसन्निपातजम्' इत्यादि से योनिज शरीर का निरूपण करते हैं । शुक्र और शोणित इन दोनों का जो 'सन्निवेश' अर्थात् विशेष प्रकार का संयोग, उस संयोग से 'जात' अर्थात् जन्म हो जिसका वही 'योनिज' शब्द से व्यवहृत होता है ।

न्यायकन्दली

मित्युच्यते । पितुः शुक्रं मातुः शोणितं तयोः सन्निपातानन्तरं जठरानलसम्बन्धाच्छुक्रशोणितारम्भकेषु परमाणुषु पूर्वरूपादिविनाशे सति समानगुणान्तरोत्पत्तौ द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कललशरीरोत्पत्तिस्तत्रान्तःकरणप्रवेशो न तु शुक्रशोणितावस्थायाम्, शरीराश्रयत्वान्मनसः । तत्र मातुराहाररसो मात्रया संक्रामति, अदृष्टवशात् । तत्र पुनर्जठरानलसम्बन्धात् कललारम्भकपरमाणुषु क्रियाविभागादिन्यायेन कललशरीरे नष्टे समुत्पन्नपाकजैः कललारम्भकपरमाणुभिरदृष्टवशादुपजातक्रियैराहारपरमाणुभिः सह सम्भूय शरीरान्तरमारभ्यत इत्येषा कल्पना शरीरे प्रत्यहं द्रष्टव्या। शरीरभेदे किं प्रमाणम् ? परिमाणभेदः, स्वल्पपरिमाणावच्छिन्ने आश्रये महत्परिमाणस्य परिसमाप्त्यभावात् । अवस्थान्तरापन्नं शरीरं तदाश्रयो भवतीति चेत् ? अवस्थान्तरमाहारावयवसहकारिणः शरीरा-

पिता का शुक्र एवं माता का शोणित इन दोनों के मेल के बाद माता के उदर सम्बन्धी तेज से शुक्र के और शोणित के आरम्भक परमाणुवों के पहले के रूपादि का नाश एवं दूसरे रूपादि की उत्पत्ति होती है । परिवर्तित रूपादि से युक्त इस शुक्र और शोणित के परमाणुवों से 'कलल' नाम के शरीर की उत्पत्ति होती है । इस शरीर में ही मन का सम्बन्ध होता है, शुक्रशोणितावस्था में नहीं; क्योंकि मन शरीर में ही रह सकता है । उस शरीर में माता से खायी हुई वस्तुओं के रस का कुछ अंश सम्बद्ध होता है । अदृष्टवश उस 'कलल' नामक शरीर के आरम्भक परमाणुओं में क्रिया होती है, फिर विभाग होता है । इस प्रकार द्रव्य नाश के कथित क्रम से उस कलल शरीर का नाश हो जाता है । इस नाश के बाद कलल के आरम्भक परमाणुवों के पहले रूपादि का उसी तेज के संयोग से नाश होता है और दूसरे रूपादि की उत्पत्ति होती है । पाकज रूपादि से युक्त कलल के आरम्भक ये परमाणु, अदृष्ट से उत्पन्न क्रिया से युक्त (माता के) आहार के परमाणुवों से मिलकर दूसरे शरीर को उत्पन्न करते हैं । शरीर के नाश और शरीरान्तर की उत्पत्ति की यह प्रक्रिया प्रतिदिन चलती है । अभिप्राय यह है कि अवस्था की वृद्धि के साथ हाथ-पैर प्रभृति अङ्गों की लम्बाई-चौड़ाई कुछ हद तक बढ़ती है, या शरीर ही कुछ दुबला-पतला होता ही रहता है । यह ह्रास और वृद्धि पहले शरीर के नाश के बाद अभिनव शरीर की उत्पत्ति मानने पर ही सम्भव है । इसी विषय को प्रश्नोत्तर रूप से समझाते हैं । (प्र.) एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न शरीर मानने में क्या प्रमाण है ? (उ.) परिमाण का भेद (ही प्रमाण है) । अल्प परिमाण के द्रव्य में उससे बड़े परिमाण का समावेश नहीं हो सकता । (प्र.) वही शरीर दूसरी अवस्था पाकर उस बड़े परिमाण का आश्रय होगा । (उ.) इस दूसरी अवस्था का उत्पादक कौन है ? आहार के अवयवों

प्रशस्तपादभाष्यम्

ते च न शरीरेन्द्रियगुणाः, कस्मादहङ्कारेणैकवाक्यताभावात् प्रदेशवृत्ति-

शरीर और इन्द्रिय के गुण नहीं हैं; क्योंकि (१) अहङ्कार के साथ उनकी प्रतीति नहीं होती है। (२) वे अपने आश्रय के किसी प्रदेश में रहते हैं।

न्यायकन्दली

सिद्धे बाल्यावस्थानुभूतस्य वृद्धावस्थायामस्मरणप्रसङ्गात्।

न केवलं पूर्वोक्तैर्हेतुभिः, सुखदुःखेच्छाद्वेषादिभिश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते। अहङ्कारेणाहमिति-प्रत्ययेनैकवाक्यत्वमेकाधिकरणत्वं सुखादीनाम् 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यहङ्कारप्रत्यय-विषयस्य सुखाद्यवच्छेद्यस्य प्रतीतेः। अहंप्रत्ययश्च न शरीरालम्बनः, परशरीरेऽभावात्। स्वशरीर एवायं भवतीति चेत्, न, अविशेषात्। शरीरालम्बनोऽहंप्रत्ययः स्वशरीरवत् परशरीर- मपि चेत् प्रत्यक्षं तत्र यथा स्थूलादिप्रत्ययः स्वशरीरे परशरीरेऽपि भवति, एवमहमिति प्रत्ययोऽपि स्यात्, स्वरूपस्योभयत्राविशेषात्। स्वसम्बन्धिताकृते तु विशेषे तत्कृत एवायं प्रत्ययो न शरीरालम्बनः, तदालम्बनत्वे चान्तर्मुखतयापि न भवेत्। अत एवायं नेन्द्रियावलम्बनः, इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वात्, अस्य च लिङ्गशब्दानपेक्षस्य

मान लेने पर) बाल्यावस्था में अनुभूत विषय का स्मरण वृद्धावस्था में अनुपपन्न हो जायगा।

केवल पहले कहे हुए हेतुओं से ही नहीं; किन्तु सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादि गुणों से भी गुणी आत्मा का अनुमान होता है। 'अहङ्कार से', 'अहम्' इस प्रकार की प्रतीति से एवं सुखादि के एकवाक्यत्व अर्थात् एकाधिकरणत्व से भी (आत्मा का अनुमान होता है); क्योंकि 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यादि प्रतीतियों में 'अहम्' शब्द के अर्थ का सुखादियुक्त रूप से ही भान होता है, 'अहम्' इस आकार की प्रतीति का विषय शरीर नहीं हो सकता है; क्योंकि दूसरे के शरीर में 'अहम्' इस आकार की प्रतीति नहीं होती है। केवल अपने ही शरीर में 'अहम्' शब्द की प्रतीति होती है। (प्र.) (यतः) अपने ही शरीर में 'अहम्' इस आकार की प्रतीति होती है (अतः वही अहंप्रत्यय का विषय हो)। (उ.) इस कथन में कोई विशेष नहीं है; क्योंकि 'अहम्' यह प्रतीति यदि शरीरविषयक है, तो फिर स्वशरीरविषयक और परशरीरविषयक दोनों होगी, जैसे कि स्थूलत्व का प्रत्यक्ष होता है, वह स्वशरीर में भी होता है एवं परशरीर में भी होता है। इसी प्रकार 'अहम्' प्रतीति भी दोनों में समान होगी; क्योंकि स्वशरीर और परशरीर के स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं है। यदि अपना सम्बन्ध ही अपने शरीर में विशेष मानें ? तो फिर वह प्रतीति उस सम्बन्धविषयक ही होगी (आत्मविषयक नहीं)। एवं 'अहम्' प्रतीति अगर शरीरविषयक हो तो फिर अन्तर्मुखतया उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। अतएव 'अहम्' प्रतीति इन्द्रियविषयक भी नहीं है; क्योंकि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं एवं 'अहम्' प्रतीति प्रत्यक्षरूप है; क्योंकि इस

प्रशस्तपादभाष्यम्

त्वादयावद्द्रव्यभावित्वाद् बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वाच्च, तथाहंशब्देनापि पृथिव्यादि-शब्दव्यतिरेकादिति ।

(३) जब तक उनके आश्रय विद्यमान रहें, तब तक रहते ही नहीं हैं (अयावद्द्रव्यभावी हैं) । (४) एवं बाह्य इन्द्रियों से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है । १०. 'अहम्' शब्द से भी आत्मा का अनुमान होता है; क्योंकि पृथिवी प्रभृति अन्य द्रव्यों के लिए 'अहम्' शब्द का मुख्य प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता है ।

न्यायकन्दली

प्रत्यक्षप्रत्ययत्वात्, तस्मात् सुखादयोऽपि न शरीरेन्द्रियविषयाः । किञ्च, योऽनुभविता तस्यैव स्मरणमभिलाषः, सुखसाधनपरिग्रहः, सुखोत्पत्तिः, दुःखप्रद्वेष इति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मसंवेदनीयम् । अनुभवस्मरणे च न शरीरेन्द्रियाणामित्युक्तम् । ततोऽपि सुखादयो न तद्विषयाः । युक्त्यन्तरञ्चाह–प्रदेशवृत्तित्वादिति । **दृश्यते प्रदेशवृत्तित्वं सुखादीनां पादे मे सुखं शिरसि मे दुःखमिति प्रत्ययात् । ततश्च शरीरेन्द्रियगुणत्वाभावः । तद्विशेषगुणानां व्याप्यवृत्तिव्यभिचारात् । सुखादयः शरीरेन्द्रियविशेषगुणा न भवन्ति, अव्याप्यवृत्तित्वात् । ये तु शरीरेन्द्रियविशेषगुणास्ते व्याप्यवृत्तयो दृष्टाः, यथा रूपादयः, न च तथा सुखादयो व्याप्यवृत्तयः, तस्मान्न शरीरेन्द्रियगुणा इति व्यतिरेकी । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नस्य नभोदेशस्य**

में 'हेतु' और 'शब्द' इन दोनों की (अर्थात् अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण की) अपेक्षा नहीं है । (यतः शरीर और इन्द्रिय अहम् प्रत्यय के विषय नहीं हैं) अतः सुखादि भी शरीर और इन्द्रिय के धर्म नहीं हैं । एवं यह सभी शरीरधारियों का अनुभव है कि स्मरण, अभिलाषा, सुख के साधनों का ग्रहण, सुख की उत्पत्ति, दुःख के प्रति द्वेष प्रभृति अनुभव करने वाले को ही होते हैं । यह कह चुके हैं कि अनुभव और स्मरण दोनों शरीर और इन्द्रियों को नहीं हो सकते । इस हेतु से भी शरीरादि सुखादि के आश्रय नहीं हैं । 'सुखादि के आश्रय शरीरादि नहीं हैं' इसमें 'प्रदेशवृत्तित्वात्' इत्यादि से दूसरी युक्ति भी देते हैं । 'पैर में सुख है और शिर में वेदना है' इत्यादि प्रतीतियों से समझते हैं कि सुखादि प्रदेशवृत्ति हैं, अर्थात् अपने आश्रय के किसी एकदेश में ही रहते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि सुखादि शरीर इन्द्रियों के गुण नहीं हैं; क्योंकि सुखादि विशेष गुण कभी 'व्याप्यवृत्ति' अर्थात् अपने आश्रय के समस्त अंशों में रहनेवाले नहीं होते । शरीर और इन्द्रियों के जितने भी विशेष गुण हैं, सभी व्याप्यवृत्ति अर्थात् अपने आश्रय के सभी अंशों में रहने वाले होते हैं, जैसे कि रूपादि । सुखादि रूपादि-विशेष गुणों की तरह व्याप्यवृत्ति नहीं हैं, अतः सुखादि शरीर और इन्द्रियों के गुण नहीं हैं । यह व्यतिरेक व्याप्तिजनित अनुमान भी ('सुखादि

न्यायकन्दली

श्रोत्रेन्द्रियभावमापन्नस्य यश्शब्दो गुणो भवति स तद्विवरव्यापीत्यव्यभिचारः । इतोऽपि न शरीरेन्द्रियगुणाः सुखादयो भवन्ति, अयावद्द्रव्यभावित्वात्, व्यतिरेकेण रूपादय एव निदर्शनम् । इन्द्रियगुणप्रतिषेधे तु नायं हेतुः, श्रोत्रगुणेन शब्देनानैकान्तिकत्वात् । इतोऽपि न शरीरेन्द्रियगुणाः सुखादयो बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् । शरीरेन्द्रियगुणानां द्वयी गतिः— अप्रत्यक्षता गुरुत्वादीनाम्, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षता रूपादीनाम् । विधान्तरन्तु सुखादयस्तस्मान्न तद्गुणा इति शरीरेन्द्रियगुणत्वे प्रतिषिद्धे परिशेषात्तैरात्मानुमीयत इति स्थितिः ।

ननु सुखं दुःखञ्चेमौ विकाराविति नित्यस्यात्मनो न सम्भवतः । भवतश्चेत सोऽपि चर्म्मवदनित्यः स्यात् । न, तयोरुत्पादविनाशाभ्यां तदन्यस्यात्मनः

शरीरादि के गुण नहीं हैं') इसका साधक है । यद्यपि आकाशरूपी विभु-श्रोत्रेन्द्रिय का विशेष गुण शब्द अव्याप्यवृत्ति प्रतीत होता है, तथापि विभु आकाश श्रोत्रेन्द्रिय नहीं है; किन्तु कर्णशाष्कुली से सीमित आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय है और इस आकाश में शब्द व्याप्यवृत्ति ही है । अतः 'इन्द्रियादि के विशेष गुण अवश्य ही व्याप्यवृत्ति होते हैं' इस नियम में कोई व्यभिचार नहीं है । 'सुखादि शरीर और इन्द्रियों के गुण नहीं हैं' इसमें यह हेतु भी है कि 'वे अयावद्द्रव्यभावी' हैं (अर्थात् वे आश्रयरूप द्रव्य के विद्यमान समय तक बराबर नहीं रहते), अयावद्द्रव्यभावित्व हेतु के न्याय-प्रयोग में भी रूपादि ही व्यतिरेक दृष्टान्त हैं । 'सुखादि इन्द्रिय के विशेष गुण नहीं हैं' अयावद्द्रव्यहेतुक अनुमान इसका साधक नहीं है (इस अनुमान से केवल यही सिद्ध होता है कि सुखादि शरीर के गुण नहीं हैं); क्योंकि यह हेतु श्रोत्रेन्द्रिय के शब्दरूप गुण में व्यभिचरित है । इस हेतु से भी सुखादि शरीर और इन्द्रियों के गुण नहीं हैं; क्योंकि सुखादि का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है । वस्तुस्थिति यह है कि शरीर और इन्द्रियों के गुण दो ही प्रकार के हैं–(१) किन्हीं गुणों का तो किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष ही नहीं होता है, जैसे कि गुरुत्वादि का, या फिर (२) बाह्य इन्द्रियों से ही प्रत्यक्ष होता है, जैसे कि रूपादि का । सुखादि दोनों प्रकारों से भिन्न तीसरे प्रकार के हैं, अतः शरीरादि के गुण सुखादि नहीं हैं । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर कि 'सुखादि शरीर और इन्द्रियों के गुण नहीं हैं' इन सुखादि हेतुओं से होनेवाले परिशेषानुमान से भी आत्मा का अनुमान होता है ।

(प्र.) सुख और दुःख ये दोनों तो विकार हैं, अतः वे नित्य आत्मा के गुण नहीं हो सकते, अगर विकारस्वरूप सुखादि भी आत्मा के गुण हों, तो फिर आत्मा चर्म की तरह अनित्य वस्तु होगी । (प्र.) नहीं, क्योंकि सुख और दुःख दोनों की उत्पत्ति और विनाश से उन दोनों से भिन्न आत्मा के स्वरूप में कोई विघटन नहीं

न्यायकन्दली

स्वरूपप्रच्युतेरभावात् । नित्यस्य हि स्वरूपविनाशः स्वरूपान्तरोत्पादश्च विकारो नेष्यते, गुणनिवृत्तिर्गुणान्तरोत्पादश्चाविरुद्ध एव । अथास्य नित्यस्य सुखदुःखाभ्यां किं क्रियते ? स्वविषयोऽनुभवः । सुखदुःखानुभवे सत्यस्यातिशयानतिशयरहितस्य क उपकारः ? अयमेव तस्योपकारोऽयमेव चातिशयो यस्मिन् सति सुखदुःखभोक्तृत्वम् । तथाहंशब्देनापीति **। यथा सुखादिभिरात्मा अनुमीयते तथाहंशब्देनाप्यनुमीयते, अहंशब्दो लोके वेदे चाभियुक्तैः प्रयुज्यमानो न तावन्निरभिधेयः । न च स्वरूपमभिधेयं युक्तं स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । यथोक्तम्—'नात्मानमभिधत्ते हि कश्चिच्छब्दः कदाचन" । तस्माद् योऽस्याभिधेयः स आत्मेति । नन्वयं पृथिव्यादीनामेव वाचको भविष्यति तत्राह—** पृथिव्यादिशब्दव्यतिरेकादिति **। यो यस्यार्थस्य वाचकः स तच्छब्देन समानाधिकरणो दृष्टः, यथा द्रव्यं पृथिवीति । अहंशब्दस्य तु पृथिव्यादिवाचकैः शब्दैः सह व्यति-**

हो सकता है । एक स्वरूपविनाश और दूसरे स्वरूप की उत्पत्ति ये दोनों विकार तो नित्य वस्तुओं में होते नहीं है । एक गुण का नाश और दूसरे गुण की उत्पत्ति ये दोनों विकार उसके नित्यत्व के विरोधी नहीं हैं । (प्र.) नित्य आत्मा को सुख और दुःख से क्या होता है ? (उ.) सुख-दुःखादि का अनुभव होता है । (प्र.) अतिशय (वैशिष्ट्य) और अनतिशय से रहित आत्मा का सुख और दुःख के अनुभव से क्या उपकार होता है ? (उ.) इनसे यही उपकार होता है और इनसे आत्मा में यही अतिशय उत्पन्न होता है कि इन दोनों के रहने से ही सुख-दुःख के भोक्तृत्व का व्यवहार उसमें होता है । "तथाऽहंशब्देनापि" जैसे कि सुखादि से आत्मा का अनुमान होता है, वैसे ही 'अहम्' शब्द से भी आत्मा का अनुमान होता है । लोक में और वेदों में प्रयुक्त 'अहम्' शब्द अपने वाच्य अर्थ से रहित नहीं है और अपना स्वरूप (आनुपूर्वी) भी उसका वाच्य अर्थ नहीं है; क्योंकि एक ही वस्तु में एक क्रिया का कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों नहीं रह सकते; क्योंकि वे दोनों परस्पर विरोधी हैं । जैसे कहा है कि 'कोई भी शब्द अपने स्वरूप (आनुपूर्वी) को कभी भी अभिधावृत्ति से नहीं समझाते', अतः आत्मा ही 'अहम्' शब्द का वाच्य अर्थ है । 'अहम्' शब्द पृथिव्यादि का वाचक हो सकता है ? इस आक्षेप के समाधान में 'पृथिव्यादिशब्दव्यतिरेकात्' यह वाक्य कहा है । जो शब्द जिस अर्थ का वाचक रहता है, वह उस अर्थ के वाचक दूसरे शब्द के साथ 'समानाधिकरण' अर्थात् अभेद का बोध करानेवाले रूप से प्रयुक्त होता है, जैसे कि 'द्रव्यं पृथिवी' इत्यादि । 'अहम्' शब्द का पृथिव्यादि वाचक शब्दों के साथ 'व्यतिरेक' अर्थात् सामानाधिकरण्य नहीं है; क्योंकि 'अहं पृथिवी, अहमुदकम्' इत्यादि प्रतीतियाँ नहीं होती हैं । अतः 'अहम्' शब्द पृथिव्यादि का वाचक नहीं है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तस्य गुणा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्म्माधर्म्मसंस्कारसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । आत्मलिङ्गाधिकारे बुद्ध्यादयः

१. बुद्धि, २. सुख, ३. दुःख, ४. इच्छा, ५. द्वेष, ६. प्रयत्न, ७. धर्म्म, ८. अधर्म्म, ९. संस्कार, १०. सख्या, ११. परिमाण, १२. पृथक्त्व, १३. संयोग और १४. विभाग ये चौदह गुण आत्मा के हैं । 'आत्मलिङ्गाधिकार' अर्थात् 'प्राणापानादि' (३।२।४) सूत्र के द्वारा बुद्धि से प्रयत्नपर्यन्त

न्यायकन्दली

रेकः समानाधिकरणत्वाभावः, अहं पृथिव्यहमुदकमिति प्रयोगाभावात्, तस्मान्नायं पृथिव्यादिविषयः । ननु शरीरविषय एवायं दृश्यते स्थूलोऽहमिति ? न, अहं जानामि, अहं स्मरामीति प्रयोगात् । शरीरस्य च ज्ञानस्मृत्यधिकरणत्वं निषिद्धम्, तस्मादात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीरे तस्य प्रयोगः, यथा भृत्येऽहमेवायमिति व्यपदेशः ।

एवं व्यवस्थिते सत्यात्मनो गुणान् कथयति– तस्य च गुणा **इत्यादिना । बुद्ध्यादीनामात्मनि सद्भावे सूत्रकारानुमतिं दर्शयति–** आत्मलिङ्गाधिकारे बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताः सिद्धा इति । **आत्मलिङ्गाधिकार इति प्राणापानादिसूत्रं लक्षयति । धर्माधर्मावात्मान्तरगुणानामकारणत्ववचनादिति । धर्म्माधर्म्मावात्मान्तरगुणानामकारणत्वादिति वचनात्सिद्धौ । दातरि वर्त्तमानो दानधर्मः प्रतिगृहीतरि अधर्मं जनयतीति कस्यचिन्मतं निषेद्धुं सूत्रकृतोक्तम्–**

(प्र.) 'अहम्' शब्द तो शरीर के लिए ही प्रयुक्त दिखता है, जैसे कि 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि । (उ.) नहीं, "अहं जानामि, अहं स्मरामि" इत्यादि भी प्रयोग होते हैं । यह कह चुके हैं कि अनुभव और स्मृति शरीर के धर्म नहीं हैं, अतः शरीर चूँकि आत्मा को उपकार पहुँचाने वाला है, अतः आत्मा के वाचक 'अहम्' शब्द का लक्षणावृत्ति से शरीर में भी प्रयोग होता है, जैसे कि भृत्य में 'यह मैं ही हूँ' यह प्रयोग होता है ।

इस प्रकार आत्मा की सिद्धि हो जाने पर 'तस्य च गुणाः' इत्यादि से आत्मा के गुण कहे जाते हैं । 'आत्मलिङ्गाधिकारे बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताः सिद्धाः' इत्यादि से आत्मा में बुद्ध्यादि गुणों की सत्ता में सूत्रकार की अनुमति सूचित करते हैं । 'आत्मलिङ्गाधिकार' शब्द से 'प्राणापानादि' सूत्र सूचित होता है । 'धर्माधर्मावात्मान्तरगुणानामकारणत्ववचनात्'' अर्थात् "आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्" (६।१।५) सूत्रकार की इस उक्ति से आत्मा में धर्म और अधर्म की सिद्धि समझनी चाहिए । किसी का कहना है कि दाता के दानजनित धर्म से ग्रहण करनेवाले पुरुष में अधर्म की उत्पत्ति होती है, इस मत का खण्डन करने के लिए सूत्रकार ने 'आत्मान्तरगुणानाम्' इत्यादि सूत्र लिखा है । इस सूत्र का अभिप्राय है कि जैसे कि एक आत्मा का धर्मरूप गुण

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रयत्नान्ताः सिद्धाः । धर्म्माधर्म्मावात्मान्तरगुणानामकारणत्ववचनात् । संस्कारः, स्मृत्युत्पत्तौ कारणवचनात् । व्यवस्थावचनात् सङ्ख्या ।

छः गुण आत्मा में कहे गये हैं । यतः "आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्' (६।१।१५) इस सूत्र के द्वारा एक आत्मा के गुणों को दूसरी आत्मा के गुणों का अकारण कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि धर्म और अधर्म ये दोनों भी आत्मा के गुण हैं । महर्षि ने "आत्ममनसोः संयोगविशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः" (९।२।६) इस सूत्र के द्वारा संस्कार को स्मृति का कारण कहा है, अतः आत्मा में संस्कार नामक गुण का रहना भी उनको अभिप्रेत समझना चाहिए । "व्यवस्थातो नाना" (३।२।२०) सूत्रकार की इस उक्ति से आत्मा में संख्या की सिद्धि समझनी

न्यायकन्दली

"आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरगुणेष्वकारणत्वात्" इति । अस्यायमर्थः — आत्मान्तरगुणानां सुखादीनामात्मान्तरगुणेषु सुखादिषु कारणत्वाभावाद्धर्म्माधर्म्मयोरन्यत्र वर्त्तमानयोरन्यत्रारम्भकत्वमयुक्तमिति । एतेन धर्म्माधर्म्मयोरात्मगुणत्वं कथितम्, अन्यथा तयोः सुखादिसाधर्म्यकथनेनानारम्भकत्वसमर्थनं न स्यात् । संस्कारः स्मृत्युत्पत्ताविति **। आत्ममनसोः संयोगात्संस्काराच्चेति स्मृतिसूत्रं लक्षयति । पूर्वानुभूतोऽर्थः स्मर्य्यते, न तत्रानुभवः कारणम्, चिरविनष्टत्वात्, नाप्यनुभवाभावः कारणमभावस्य निरतिशयत्वेन पटुमन्दादिभेदानुपपत्तेरभ्यासवैयर्थ्याच्च ।**

दूसरी आत्मा में सुख का उत्पादन नहीं कर सकता है, वैसे ही एक आत्मा का धर्म या अधर्म दूसरी आत्मा में धर्म या अधर्म को भी उत्पन्न नहीं कर सकता । इससे यह कथित हो जाता है कि 'धर्म और अधर्म आत्मा के गुण हैं' । अगर ये आत्मा के गुण न हों तो फिर जैसे एक आत्मा में रहनेवाले सुखादि दूसरी आत्मा में सुखादि के उत्पादक नहीं हैं, वैसे ही धर्म और अधर्म भी, तथा एक आत्मा में रहनेवाले सुखादि भी, इस सादृश्य से दूसरी आत्मा में अधर्मादि के उत्पन्न न होने का समर्थन असङ्गत हो जायगा । महर्षि कणाद ने संस्कार को स्मृति का कारण कहा है, अतः आत्मा में संस्कार (भावना नाम का) गुण भी समझना चाहिए । 'संस्कारः' इत्यादि भाष्य की पंक्ति "आत्ममनसोः संयोगात्संस्काराच्च स्मृतिः" (९/२/६) इस सूत्र की ओर सङ्केत करती है । पूर्वकाल में अनुभूत विषय की ही स्मृति होती है । स्मृति के प्रति पूर्वानुभव कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति से बहुत पहले वह नष्ट हो जाता है । उस अनुभव का नाश भी उसका कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि अभाव में अर्थात् अनुभवनाशजनित अनुभव की असत्ता रूप अभाव में और अनुभव की अनुत्पत्तिमूलक अनुभव की असत्ता रूप

न्यायकन्दली

तस्मादनुभवेनात्मनि कश्चिदतिशयः कृतो यतः स्मरणं स्यादिति संस्कारकल्पना । ये तु विनष्टमप्यनुभवमेव स्मृतेः कारणमाहुः, तेषां विनष्टमेव ज्योतिष्टोमादिकं स्वर्गादिफलस्य साधनं भविष्यतीत्यदृष्टस्याप्युच्छेदः स्यात् । व्यवस्थावचनात् संख्येति । **"नानात्मानो व्यवस्थातः" इति सूत्रेणात्मनानात्वप्रतिपादनाद् बहुत्वसङ्ख्या सिद्धेत्यर्थः ।**

अथ केयं व्यवस्था ? नानाभेदभाविनां ज्ञानसुखादीनामप्रतिसन्धानम्, ऐकात्म्ये हि यथा बाल्यावस्थायामनुभूतं वृद्धावस्थायामनुसन्धीयते मम सुखमासीन्मम दुःखमासीदिति, एवं देहान्तरानुभूतमप्यनुसन्धीयते, अनुभवितुरेकत्वात् । न चैवमस्ति, अतः प्रतिशरीरं नानात्मानः । यथा सर्वत्रैकस्याकाशस्य श्रोत्रत्वे कर्मशष्कुल्याद्युपाधिभेदाच्छब्दोपलब्धिव्यवस्था,

अभाव में कोई भी अन्तर नहीं है, अतः अधिक काल तक स्मरण रखने से 'पटु' और थोड़े समय तक स्मरण रखने से मन्द, इस प्रकार की दोनों स्मृतियों में कोई अन्तर नहीं रहेगा । एवं चिरकाल तक स्मरण रखने के लिए अभ्यास की भी जरूरत नहीं रह जायगी, अतः संस्कार रूप अतिशय की कल्पना की जाती है । जो कोई विनष्ट अनुभव को ही स्मृति का कारण मानते हैं, उनके मत में विनष्ट ज्योतिष्टोमादि याग से ही स्वर्गादि की उत्पत्ति माननी पड़ेगी । अतः उनके मत में धर्म और अधर्म इन दोनों को भी मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी । 'व्यवस्था के रहने से संख्या भी' अर्थात् "व्यवस्थातो नाना" (३।२।२०) इस सूत्र से आत्मा में नानात्व की सिद्धि की गयी है । इससे आत्मा में बहुत्व संख्या की भी सिद्धि होती है ।

(प्र.) (आत्मा अनेक हैं) इसमें क्या युक्ति है ? (उ.) यही कि एक के ज्ञान-सुखादि का दूसरे को स्मरण नहीं होता है । अर्थात् आत्मा अगर एक माना जाय तो फिर बाल्यावस्था के विषय का जैसे वृद्धावस्था में स्मरण होता है कि 'मुझे दुःख था, मुझे सुख था' वैसे ही और देहों के द्वारा अनुभूत विषयों का स्मरण भी हो; क्योंकि अनुभव करने वाला आत्मा सभी देहों में एक ही है; किन्तु ऐसा नहीं होता । अतः प्रत्येक शरीर में रहनेवाले आत्मा भिन्न-भिन्न हैं । (प्र.) जैसे यह नियम है कि आकाश के एक होने पर भी कर्णशष्कुली रूप उपाधि से युक्त आकाश से ही शब्द सुना जाता है, वैसे ही आत्मा के एक होने पर भी जिस देह रूप उपाधि से युक्त होकर वह (आत्मा) जिन सुखादि का अनुभव करता है, उस देह रूप उपाधि से युक्त आत्मा ही उन सुखादि का स्मरण भी करेगा दूसरा नहीं, यह व्यवस्था भी की जा सकती है । (इसके

न्यायकन्दली

तथात्मैकत्वेऽपि देहभेदादनुभवादिव्यवस्थेति चेत् ? विषमोऽयमुपन्यासः, प्रतिपुरुषं व्यवस्थिताभ्यां धर्म्माधर्म्माभ्यामुपगृहीतानां शब्दोपलब्धिहेतूनां कर्णशष्कुलीनां व्यवस्था-नायुक्ता तदधिष्ठाननियमेन शब्दग्रहणव्यवस्था । ऐकात्म्ये तु धर्म्माधर्म्मयोरव्यव-स्थानाच्छरीरव्यवस्थाभावे किं कृता सुखदुःखोत्पत्तिव्यवस्था ? मनस्सम्बन्धस्यापि साधारणत्वात् । यस्य तु नानात्मानः, तस्य सर्वेषामात्मनां सर्वगतत्वेन सर्वशरीर-सम्बन्धेऽपि न साधारणो भोगः । यस्य कर्म्मणा यच्छरीरमारब्धं तस्यैव तदुपभोगायतनं न सर्वस्य, कर्मापि यस्य शरीरेण तस्यैव तद्भवति नापरस्य, एवं शरीरान्तरनियमः कर्म्मान्तरनियमादित्यनादिः । अथ मतम्, एकत्वेऽपि परमात्मनो जीवात्मनां परस्परभेदाद् व्यवस्थेति तदसत्, परमात्मनो भेदेऽद्वैतसिद्धान्तक्षतिः, "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति जीवपरमात्मनोस्तादात्म्यश्रुतिविरोधाच्च । अविद्याकृतो जीवपरमात्मनोर्भेद इति चेत् ? कस्येयमविद्या ? किं ब्रह्मणः ? किमुत जीवानाम् ?

के लिए आत्मा को नाना मानने की आवश्यकता नहीं है) । (उ.) प्रत्येक पुरुष के शब्दोपलब्धि के अदृष्ट से कर्णशष्कुली रूप कारण की कल्पना की गयी है । अतः यह ठीक है कि उसी कर्णशष्कुली रूप उपाधि से युक्त आकाश (श्रवणेन्द्रिय) से ही शब्द का प्रत्यक्ष होता है, औरों से नहीं; किन्तु आत्मा को एक मान लेने से धर्म और अधर्म की कोई व्यवस्था नहीं रहेगी, फिर सुखदुःखादि की भी व्यवस्था नहीं होगी, फिर सुखदुःखादि का भी नियम नहीं रहेगा; क्योंकि मन का सम्बन्ध तो सभी देहों में समान ही है, अतः उक्त आक्षेप असङ्गत है । यद्यपि जिनके मत में आत्माएँ अनेक हैं, उनके मत में भी (व्यापक होने के कारण प्रत्येक) आत्मा सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ सम्बद्ध है, फिर भी भोग के सर्वसाधारणत्व की आपत्ति नहीं होती है; क्योंकि जिस आत्मा के कर्म (अदृष्ट) से जो शरीर उत्पन्न होगा वह शरीर उसी आत्मा के भोग का 'आयतन' होगा, दूसरी आत्माओं के भोग का नहीं एवं जिस आत्मा के शरीर से जो कर्म (अदृष्ट) उत्पन्न होगा, वह कर्म उसी आत्मा का होगा और आत्माओं का नहीं । इसी प्रकार अन्य शरीर और अन्य कर्मों की भी व्यवस्था समझनी चाहिए । (प्र.) जीवात्मा और परमात्मा ये दो मान लेने से ही (शरीर भेद से अनन्त जीव न मानने पर भी) सभी व्यवस्थायें ठीक हो जाती हैं ? (उ.) यह मान लेने पर भी अद्वैत सिद्धान्त तो विघटित हो ही जायगा । एवं 'अनेन जीवेन' इत्यादि श्रुतियाँ भी विरुद्ध हो जायेंगी । (प्र.) जीव और ईश्वर वास्तव में तो अभिन्न ही हैं; किन्तु 'अविद्या' से अर्थात् अज्ञान से दोनों में भेद की कल्पना की जाती है । (उ.) यह अविद्या किसकी ? जीव की ? या ब्रह्म की ? ब्रह्म की तो

न्यायकन्दली

न तावद् ब्रह्मणोऽस्त्यविद्यायोगः, शुद्धबुद्धस्वभावत्वात् । जीवाश्रयाविद्येति चान्योन्याश्रयदोषपराहतम्, अविद्याकृतो जीवभेदो जीवाश्रयाविद्येति । बीजाङ्कुरवदनादिरविद्या जीवप्रभेद इति चेत् ? बीजाङ्कुरव्यक्तिभेदवदविद्याजीवयोः पारमार्थिकत्वाभावादनुपपन्नं व्यक्तिभेदेन च बीजाङ्कुरयोरन्योन्यकारणता, जीवस्तु सर्वासु भवकोटिष्वेक एव, मानुषपशुपक्ष्यादियोनिप्रत्यग्रजातस्य शिशोर्जातिसाम्यादाहारविशेषाभिलाषेण तासु तासु जातिषु जन्मान्तरकृतस्य तत्तदाहारविशेषस्यानुमानपरम्परया तस्यानादिशरीरयोगप्रतीतेः, तत्राविद्याकृतो जीवभेदो जीवभेदाच्चाविद्येत्यसङ्गतिः । ब्रह्मवज्जीवस्याप्यनादिनिधनत्वेन ब्रह्मप्रतिबिम्बता, तस्मात् "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुतिप्रामाण्यादनादिनिधनं ब्रह्मतत्त्वमेवेदं सर्वदेहेषु प्रतिभासत इति न वाच्यम्, तथा सति चानुपपन्ना व्यवस्थितेति सूक्तं 'नानात्मानो व्यवस्थात' इति ।

वह हो नहीं सकती है; क्योंकि वे शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव के हैं । अगर अविद्या का आश्रय जीव को मानें, तो फिर अन्योन्याश्रय दोष होगा; क्योंकि अविद्या से ही जीव की कल्पना की जाती है और वह अविद्या उसी में आश्रित है । अविद्या के रहने से ही वह जीव होगा एवं जीव के रहने से ही अविद्या की सत्ता रहेगी, इन दोनों में पहले कौन होगा ? और पीछे कौन ? यह निर्णय असम्भव है, अतः इस निर्णय के बल पर कोई भी निर्णय सम्भव नहीं है । (प्र.) बीज और अङ्कुर की तरह जीव और अविद्या का सम्बन्ध भी अनादि है । (उ.) जब बीज और अङ्कुर नाम की दो स्वतन्त्र वस्तु है, तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि अङ्कुर के कारण बीज का भी कोई दूसरा अङ्कुर ही कारण है । अतः अन्योन्याश्रय से दूषित होते हुए भी बीज और अङ्कुर का सामान्य कार्यकारणभाव मानना पड़ता है; किन्तु जीव और अविद्या वास्तव में दो व्यक्ति नहीं हैं, अतः यहाँ अन्योन्याश्रयदोष को सह्य करना उचित नहीं है । (प्र.) संसार के सभी देहों में जीव एक ही है । मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति जिस योनि में अभी उसका जन्म होता है, उस जाति के विशेष प्रकार के भोजन की अभिलाषा से उस जीव में इससे पहले जन्म में भी इस प्रकार के आहार का अनुमान होता है और यही अनुमान की परम्परा जीव में शरीर के अनादि सम्बन्ध को प्रमाणित करती है । (उ.) इस पक्ष में भी अविद्या के कारण जीवों में भेद एवं जीवभेद के कारण अविद्या, यह असङ्गति है ही । (प्र.) ब्रह्म की तरह जीव भी आदि और अन्त से रहित है, फलतः जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है । "तमेव भान्तम्" इत्यादि श्रुतियाँ भी इस अर्थ को पुष्ट करती हैं, अतः आदि और अन्त से रहित ब्रह्मतत्त्व ही सभी देहों में प्रतिभासित होता है । (उ.) इस पक्ष में भी

प्रशस्तपादभाष्यम्

पृथक्त्वमप्यत एव । तथा चात्मेति वचनात् परममहत्परिमाणम् ।

चाहिए । यतः आत्मा में संख्या है, अतः पृथक्त्व भी अवश्य ही है । वैभव सूत्र (७।१।२२) में प्रयुक्त 'तथा चात्मा' इस उक्ति से आत्मा में परममहत्परिमाण गुण का रहना भी महर्षि का अभिप्रेत समझना चाहिए ।

न्यायकन्दली

अभेदश्रुतयस्तु गौणार्था इति दिक् । न च नानात्मपक्षे सर्वेषां क्रमेण मुक्तावन्ते संसारोच्छेदः, अपरिमितानामन्त्यन्यूनातिरिक्तत्वायोगात् । यथाहुर्वार्तिककारमिश्राः –

अत एव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम् ।
ब्रह्माण्डलोके जीवानामनन्तत्वादशून्यता ॥
अन्त्यन्यूनातिरिक्तत्वे युज्यते परिमाणवत् ।
वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसम्भवः ॥ इति ।

पृथक्त्वमप्यत एव । **"नानात्मानो व्यवस्थातः" इति वचनादेव पृथक्त्वं सिद्धम्, सङ्ख्यानुविधायित्वात्पृथक्त्वस्येत्यभिप्रायः । तथा चात्मेति वचनात्परममहत्परिमाणमिति । "विभववान् महानाकाशस्तथा चात्मा" इति सूत्रकारवचनादाकाशवदात्मनोऽपि विभुत्वात् परममहत्परिमाणं सिद्धमित्यर्थः । विभुत्वञ्चात्मनो वह्नेरूर्ध्वज्वलनाद् वायोस्तिर्यग्गमनादवगतम् । ते ह्यदृष्ट-**

व्यवस्था की उक्त अनुपपत्ति रहेगी ही, अतः "नानात्मानो व्यवस्थातः" सूत्रकार की यह उक्ति ठीक है । जीव और ब्रह्म में अभेद को प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ गौण हैं । जीव को नाना मान लेने से इसका भी समाधान हो जाता है कि 'सभी आत्माओं के मुक्त हो जाने पर अन्त में संसार का ही लोप हो जायगा'; क्योंकि 'अपरिमित' अर्थात् अनन्त वस्तुओं में अन्तिम, न्यूनत्व, अधिकत्व प्रभृति की चर्चा ही नहीं उठती है । जैसा वार्त्तिककार मिश्र ने कहा है कि यतः जीव अनन्त हैं, अतः बराबर ज्ञानी जीवों को मुक्त होते रहने पर भी यह संसार जीवों से शून्य नहीं होता है । अन्तिम, न्यून और अधिक ये सभी बातें परिमित वस्तुओं की हैं, अपरिमित वस्तुओं में ये सभी बातें असम्भव हैं ।

आत्मा में पृथक्त्व नाम के गुण की भी सिद्धि समझनी चाहिए; क्योंकि जहाँ पर संख्या रहेगी वहाँ पर पृथक्त्व भी अवश्य ही रहेगा । "तथा चात्मा" (७।१।२२) वैभव सूत्र में प्रयुक्त सूत्रकार की इस उक्ति से विभुत्व हेतु से आत्मा में भी आकाश की तरह परममहत्परिमाण की सिद्धि होती है । आत्मा का विभुत्व आग की ऊर्ध्वगति और वायु की कुटिल गति से समझते हैं; क्योंकि वे दोनों ही अदृष्टकृत हैं । उन गतियों

न्यायकन्दली

कारिते । न च तदाश्रयेणासम्बद्धमदृष्टं तयोः कारणं भवितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात् । न चात्मसमवेतस्यादृष्टस्य साक्षाद् द्रव्यान्तरसम्बन्धो घटत इति स्वाश्रयसम्बन्धद्वारेण तस्य सम्बन्ध इत्यायातम् । ततः समस्तमूर्त्तद्रव्यसम्बन्धलक्षणमात्मनो विभुत्वं सिद्ध्यति । स्वभावत एव वह्नेरूर्ध्वज्वलनं नादृष्टादिति चेत् ? कोऽयं स्वभावो नाम ? यदि वह्नित्वमुत दाहकत्वम् ? रूपविशेषो वा ? तप्तायःपिण्डे वह्नेरपि स्यात् । अथेन्धनविशेषप्रभवत्वं स्वभाव इति ? अनिन्धनप्रभवस्य विद्युदादिप्रभवस्य चौर्ध्वज्वलनं न स्यात् । अथातीन्द्रियः कोऽपि स्वभावः कासुचिद् व्यक्तिष्वस्ति यासामूर्ध्वज्वलनं दृश्यत इति, पुरुषगुणे कः प्रद्वेषः ? यस्य कर्म्मणो गुरुत्वद्रवत्ववेगा न कारणं तस्यात्मविशेष-गुणादुत्पादः, यथा पाणिकर्म्मणः पुरुषप्रयत्नात्, ऊर्ध्वज्वलनतिर्य्यक्पवनादीनां कर्म्मणां गुरुत्वादयो न कारणमभावात्, तत्तत्कार्य्यविपरीतत्वाच्च । तस्मादेषामप्यात्मविशेष-

के आश्रयों में असम्बद्ध अदृष्ट उनके कारण नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसङ्ग होगा । एवं आत्मा में समवाय-सम्बन्ध से रहने के कारण अदृष्ट का बाह्य वस्तुओं के साथ कोई भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है, अतः यही मानना पड़ेगा कि अदृष्ट के आश्रय आत्मा के साथ वह्निप्रभृति के सम्बन्ध होते हैं । इस प्रकार तद्गत अदृष्ट के साथ भी उनका परम्परा सम्बन्ध होता है । अतः मूर्त्त द्रव्यों के साथ आत्मा का सम्बन्ध अवश्य है और सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ सम्बन्ध ही 'विभुत्व' है । (प्र.) 'स्वभाव' से ही वह्नि ऊपर की ओर जलती है, इसमें अदृष्ट कारण नहीं है । (उ.) 'स्वभाव' शब्द का यहाँ क्या अर्थ है ? 'स्व' वह्नि का जो 'भाव' अर्थात् धर्म वह तो (१) वह्नित्व, (२) दाहकत्व और (३) विशेष प्रकार का रूप ये तीन ही हैं, 'स्वभाव' शब्द से इन तीनों धर्मों को कारण मानने से तपे हुए लोहे का भी ऊर्ध्वज्वलन मानना पड़ेगा; क्योंकि उसमें भी स्वभाव शब्द के उक्त तीनों अर्थ हैं । (प्र.) लकड़ी की आग ही ऊपर की तरफ जलती है, अतः वह्नि का लकड़ी से उत्पन्न होना ही ऊर्ध्वज्वलन का कारणीभूत 'स्वभाव' है । (उ.) फिर इन्धन के बिना ही उत्पन्न विद्युत् प्रभृति वह्नि का ऊर्ध्वज्वलन नहीं होगा । अगर किसी वह्नि में कोई ऐसा अतीन्द्रिय सामर्थ्य मानते हैं, जिससे उसी वह्नि में ऊर्ध्वज्वलन होता है, तो फिर जीव के अतीन्द्रिय धर्म्म रूप अदृष्ट को ही अगर ऊर्ध्वज्वलन का कारण मानते हैं, तो आपको क्यों जलन होती है ? जिस क्रिया का कारण गुरुत्व, द्रवत्व और वेग नहीं है, वह क्रिया आत्मा के विशेष गुण से ही उत्पन्न होती है, जैसे कि पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न हाथ की क्रिया । गुरुत्व, द्रवत्व या वेग वह्नि के ऊर्ध्वज्वलन या वायु की कुटिलगति रूप क्रिया के कारण नहीं हैं; योंकि वे वहाँ नहीं हैं एवं उनसे होनेवाली क्रियायें भी

प्रशस्तपादभाष्यम्

सन्निकर्षजत्वात् सुखादीनां संयोगः । तद्विनाशकत्वाद्विभाग इति ।

संयोग से उत्पन्न होते हैं, अतः आत्मा में संयोग भी है । यतः विभाग संयोग का नाशक है, अतः आत्मा में विभाग भी है ।

न्यायकन्दली

गुणादेवोत्पादो न्याय्यः । ऊर्ध्वज्वलनतिर्य्यक्पवनान्यात्मविशेषगुणकृतानि गुरुत्वादिकारणाभावे सति कर्म्मत्वात् पुरुषप्रयत्नजपाणिकर्म्मवत् ।

सन्निकर्षजत्वात्सुखादीनां संयोगः । **सुखादीनामात्मगुणानां मनःसंयोगजत्वादात्मनि संयोगः सिद्धः, व्यधिकरणस्यासमवायिकारणत्वाभावात्** । तद्विनाशकत्वाद् विभाग इति । **तस्य संयोगस्य विनाशकत्वाद् विभागः सिद्धः, आत्ममनसोर्नित्यत्वेनाश्रयविनाशस्य विनाशहेतोरभावादित्यर्थः । नन्वात्मनि नित्ये स्थिते नित्यात्मदर्शिनः सुखतृष्णापरिप्लुतस्य सुखसाधनेषु रागो दुःखसाधनेषु द्वेषस्ताभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्ती, ततो धर्म्माधर्म्मौ, ततः संसार इत्यादिर्मोक्षः । नैरात्म्ये त्वहमेव नास्मि कस्य दुःखमित्यनास्थायां सर्वत्र रागद्वेषरहितस्य प्रवृत्त्यादेरभावे सत्यपवर्गो घटत इति चेत्, न, नित्यात्मदर्शिनोऽपि विषयदोषदर्शनाद् वैराग्योत्पत्तिद्वारेण तस्योत्पत्तिरित्यलम् ।**

विलक्षण प्रकार की होती हैं, अतः यही न्यायसङ्गत है कि ऊर्ध्वज्वलनादि क्रियाओं का कारण भी आत्मा का विशेषगुण ही हो । जिस प्रकार हाथ की क्रिया पुरुष में रहने वाले प्रयत्न रूप विशेष गुण से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार वह्नि की ऊर्ध्वज्वलन रूप क्रिया एवं वायु की कुटिल गति रूपा क्रिया ये दोनों ही आत्मा के विशेष गुण से उत्पन्न होती हैं; क्योंकि गुरुत्वादि उनके कारण वहाँ नहीं हैं, जैसे कि पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न हाथ की क्रिया ।

'यतः सुखादि संयोग से उत्पन्न होते हैं, अतः संयोग भी आत्मा का गुण है'; क्योंकि 'व्यधिकरण' अर्थात् विभिन्न अधिकरणों में रहने वाले कारणों से उस अधिकरण में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । 'विभाग चूँकि संयोग का नाशक है, अतः वह भी आत्मा का गुण है', अर्थात् विभाग संयोग का नाशक है इससे आत्मा में विभाग नाम के गुण की भी सिद्धि समझनी चाहिए । अभिप्राय यह है कि आत्मा और मन दोनों ही नित्य हैं, अतः सुखादि के कारणीभूत संयोग का नाश आश्रयों के नाश से नहीं हो सकता, फलतः उक्त संयोग का नाश विभाग से ही मानना पड़ेगा ।

(प्र.) नित्य आत्मा के सिद्ध हो जाने पर नित्य आत्मा के ज्ञान से युक्त एवं सुख की तृष्णा (एवं दुःख की वितृष्णा से) ओतप्रोत जीव का सुख के साधनों में राग और दुःख के साधनों में द्वेष, राग से प्रवृत्ति एवं द्वेष से निवृत्ति एवं प्रवृत्ति से धर्म और निवृत्ति से अधर्म और धर्माधर्म से संसार, इस प्रकार मोक्ष की ही अनुपपत्ति होगी । अगर 'नैरात्म्य' अर्थात् आत्मा का विनाश मान लिया जाय 'जब हम ही नहीं तो फिर दुःख किसको' ? इस प्रकार की अवज्ञा से पुरुष स्वभावतः राग और द्वेष से

प्रशस्तपादभाष्यम्

मनस्त्वयोगान्मनः । सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते । श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्ति-

मनस्त्वजाति के सम्बन्ध से मन का व्यवहार होता है । आत्मा और इन्द्रिय का संयोग, विषय और इन्द्रिय का संयोग इन दोनों के रहने पर भी किसी को ज्ञान सुखादि की उत्पत्ति कभी होती है, कभी नहीं । अतः आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन सबों से भिन्न (ज्ञानादि के) कारण का अनुमान करते हैं, श्रोत्रादि इन्द्रियों के व्यापार के न रहने पर भी स्मृति की उत्पत्ति होती है । एवं बाह्य इन्द्रियों से

न्यायकन्दली

प्रधानत्वात् प्रथममात्मानमाख्याय तदनन्तरं मनोनिरूपणार्थमाह—मनस्त्वयोगान्मन. इति । **व्याख्यानं पूर्ववत् । मनस्त्वं नाम सामान्यं मनोव्यक्तीनां भेदे स्थिते सत्यनुमेयम् । या हि समानगुणकार्य्या व्यक्तयस्तासु परं सामान्यं दृष्टं यथा घटादिषु, समानगुणकार्य्याश्च मनोव्यक्तयस्तस्मात्तासु सद्भावे सामान्ययोगः । असिद्धे मनसि तस्य धर्म्मनिरूपणमन्याय्यमिति मत्वा तस्य सद्भावे प्रमाणमाह**—सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये इति । **आत्मनस्तावत् सर्वेन्द्रियैर्युगपत्सम्बन्धोऽस्त्येव, इन्द्रियाणामपि सन्निहितैरर्थैः सन्निकर्षो भवति, तथाप्येकस्मिन्**

निवृत्त हो जायगा । राग और द्वेष से शून्य पुरुष को न किसी विषय में प्रवृत्ति होगी न किसी से निवृत्ति । प्रवृत्ति और निवृत्ति के न रहने से धर्म और अधर्म की धारा रुक जायेगी । इससे जन्म की धारा रुक जाएगी । इस प्रकार इस (नैरात्म्य) पक्ष में अपवर्ग की उपपत्ति हो सकती है। (उ.) नित्य आत्मा के ज्ञान से युक्त पुरुष को भी विषयों में दोष दीख पड़ते हैं, इस दोष-दर्शन से वैराग्य की उत्पत्ति होती है, फिर मोक्ष की उत्पत्ति असम्भव नहीं है । अब इस विषय में इतना ही बहुत है ।

आत्मा और मन इन दोनों में आत्मा ही प्रधान है, अतः आत्मा का निरूपण करके बाद में 'मनस्त्वयोगात्' इत्यादि से मन का निरूपण करते हैं । इस पङ्क्ति की व्याख्या 'आत्मत्वाभिसम्बन्धात्' इत्यादि पङ्क्तियों की तरह समझनी चाहिए । भिन्न-भिन्न मनोव्यक्तियों की सिद्धि हो जाने पर 'मनस्त्व' जाति का अनुमान करना चाहिए । जिनसे समान रूप के (जितने भी) कार्य होते हैं एवं समान गुणवाले जितने भी व्यक्ति हैं, उन सबों में एक परसामान्य देखा जाता है, जैसे कि घटादि में। मनोव्यक्तियों में भी समान कार्य होते हैं एवं मनोव्यक्तियाँ भी समान गुणवाली हैं, अतः उनमें भी एक परसामान्य अवश्य ही है । 'मन की सिद्धि के बिना उसके गुणों का निरूपण सङ्गत नहीं है' यह मान कर ही 'सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षो' इत्यादि से मन की सत्ता में प्रमाण देते हैं । आत्मा का सभी इन्द्रियों के साथ एक ही काल में

न्यायकन्दली

विषये प्रतीयमाने विषयान्तरे ज्ञानसुखादयो न भवन्ति, तदुपरमाच्च भवन्तीति दृश्यते, तद्दर्शनादात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षेभ्यः करणान्तरमनुमीयते यस्य सन्निधानाज्ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तिः, असन्निधानाच्चानुत्पत्तिः । आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाः कार्य्योत्पत्तौ करणान्तरसापेक्षाः, सत्यपि सद्भावे कार्य्यानुत्पादकत्वात् तन्त्वादिवत्, यच्च तदपेक्षणीयं तन्मनः । एकार्थोपलब्धिकालेऽनुपलभ्यमानस्याप्यर्थान्तरस्येन्द्रियसन्निकर्षोऽस्तीति किं प्रमाणम् ? इन्द्रियाधिष्ठानसन्निधिरेव । रूपोपलब्धिकाले गन्धादयोऽपि घ्राणादिभिः सन्निकृष्यन्ते, तदधिष्ठानसन्निहितत्वादुपलभ्यमानगन्धादिवत् । प्रमाणान्तरमप्याह—श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनादिति । **स्मृतिस्तावदिन्द्रियजा ज्ञानत्वाद् गन्धादिज्ञानवत्, न चास्याः श्रोत्रादीनि करणानि, बधिरादीनां श्रोत्रादिव्यापाराभावे तस्या उत्पत्तिदर्शनात् । तस्माद्यदस्याः करणमिन्द्रियं तन्मनः, न केवलं पूर्वस्मात्कारणात् करणान्तरानुमानं बाह्येन्द्रियैश्चक्षुरादिभि-**

सम्बन्ध है ही, (क्योंकि आत्मा विभु है) इन्द्रियाँ भी समीप के अपने विषयों के साथ सम्बद्ध हैं ही । तब भी जिस क्षण में एक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस क्षण में दूसरे ज्ञान या सुखादि रूप आत्मा के दूसरे विशेष गुणों की उत्पत्ति नहीं होती । उस ज्ञान का नाश हो जाने पर दूसरे ज्ञान या सुखादि की उत्पत्ति देखी जाती है । इससे ज्ञान के प्रति आत्मा और इन्द्रिय का संनिकर्ष एवं विषय और इन्द्रिय का सन्निकर्ष इन दोनों को छोड़कर तीसरे कारण का भी अनुमान होता है, जिसके संनिहित रहने से दूसरे ज्ञान-सुखादि की उत्पत्ति होती है एवं जिसके संनिहित न रहने पर नहीं होती है, अतः आत्मा और इन्द्रिय का संनिकर्ष एवं इन्द्रिय और विषय का संनिकर्ष ये दोनों ज्ञानादि के उत्पादन में किसी और व्यक्ति की भी अपेक्षा रखते हैं; क्योंकि उनके रहते हुए भी ज्ञानादि की उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे कि तन्तु प्रभृति से (ज्ञानादि की उत्पत्ति नहीं होती है) । उन संनिकर्षों को ज्ञानादि के उत्पादन में जिसकी अपेक्षा होती है वही मन है । (प्र.) 'जिस समय एक विषय की उपलब्धि होती है, उसी समय अनुपलब्ध दूसरे विषयों के साथ भी इन्द्रियों का संनिकर्ष है' इसमें क्या प्रमाण है ? (उ.) इन्द्रियों के अधिष्ठान (चक्षुगोलकादि आश्रय प्रदेश) ही प्रमाण हैं । जिस समय (चक्षु से) रूप की उपलब्धि होती है, उसी समय घ्राणादि इन्द्रियों के साथ भी उनके विषय गन्धादि सम्बद्ध रहते हैं; क्योंकि वे भी अपने ग्राहक घ्राणादि इन्द्रियों के अधिष्ठान के समीप हैं, जैसे कि उपलब्धिकालिक गन्धादि । 'श्रोत्राद्यव्यापारे' इत्यादि से मन की सत्ता में और भी प्रमाण देते हैं । स्मृति भी इन्द्रिय से उत्पन्न होती है; क्योंकि वह भी ज्ञान है, जैसे कि गन्धादि का ज्ञान । श्रोत्रादि इन्द्रियाँ स्मृति की हेतु नहीं हैं; क्योंकि श्रोत्रादि व्यापार के न रहने पर भी बहरे व्यक्ति को भी स्मृति होती है, अतः स्मृति का हेतु जो इन्द्रिय वही 'मन' है । केवल इन कहे हुए हेतुओं से ही मन का अनु-

प्रशस्तपादभाष्यम्

दर्शनाद् बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम् ।

गृहीत न होने वाले एवं दूसरे प्रकार से प्रत्यक्ष होने वाले सुखादि की भी सत्ता है । इन दोनों से भी 'अन्तःकरण' (मन) का अनुमान होता है ।

न्यायकन्दली

रगृहीतानां सुखादीनां रूपाद्यपेक्षया ग्राह्यान्तराणां भावाच्च तदनुमानमित्याह – बाह्येन्द्रियैरिति । **सुखादिप्रतीतिरिन्द्रियजा, अपरोक्षप्रतीतित्वाद् रूपादिप्रतीतिवत्, यच्च तदिन्द्रियं तन्मनः, चक्षुरादीनां तत्र व्यापाराभावात् । अभिन्नकरणत्वाज्ज्ञानात्मकाः सुखादयः सुखसंवेदनानि (च) न कारणान्तरेण गृह्यन्त इति चेत्, न, ज्ञानस्वभावत्वे सुखदुःखयोरविशेषप्रसङ्गात् । परस्परभेदे च न तयोर्ज्ञानात्मकता, बोधाकारस्योभयसाधारणत्वेऽपि सुखदुःखाकारयोः परस्परव्यावृत्तत्वात् । न चानयोर्विज्ञानाभिन्नहेतुत्वम्, ज्ञानस्यार्थाकारादुत्पत्तेः, तस्माच्च वासनासहायात् सुखदुःखयोरुत्पादात्, अन्यथोपेक्षाज्ञानाभावप्रसङ्गात् । न च स्वसंवेदनं विज्ञानमित्यपि सिद्धम्, एकस्य कर्म्मकरणादिभावे दृष्टान्ताभावात्,**

मान नहीं होता है; किन्तु 'बाह्य इन्द्रियों से' अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों से जिन सुखादि विषयों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, वे रूपादि से विलक्षण अर्थ, अथ च प्रत्यक्ष योग्य सुखादि से भी मन का अनुमान होता है । यही बात 'बाह्येन्द्रियैः' इत्यादि से कहते हैं । सुख की प्रतीति भी इन्द्रिय से होती है; क्योंकि वह भी अपरोक्ष प्रतीति है, जैसे कि रूपादि की प्रतीति । सुखादि का प्रत्यक्ष करानेवाली इन्द्रिय ही 'मन' है; क्योंकि (वहाँ) चक्षुरादि अन्य इन्द्रियों का व्यापार असम्भव है । (प्र.) ज्ञान एवं सुखादि वस्तुतः अभिन्न हैं; क्योंकि एक ही सामग्री से इन सबों की उत्पत्ति होती है, अतः सुख एवं उसके ज्ञान के लिए ज्ञान के उत्पादकों को छोड़कर और किसी की अपेक्षा नहीं है । (उ.) सुखादि अगर ज्ञान स्वभाव के होते तो सुख और दुःख में कोई अन्तर न रहता । सुख और दुःख परस्पर भिन्न हैं तो फिर दोनों ज्ञान स्वभाववाले नहीं हो सकते । सुखादि में ज्ञानाकारतारूप एक धर्म मान लेने पर भी उनमें से प्रत्येक में रहनेवाले सुखाकारत्व एवं दुःखाकारत्व रूप विभिन्न धर्म तो परस्पर भिन्न हैं ही । (बौद्ध मत में भी) केवल ज्ञान के कारण 'विज्ञान से सुख और दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि विषयाकार विज्ञान से ज्ञान की ही उत्पत्ति होती है । विषयाकार विज्ञान को ही जब वासना का साहाय्य मिलता है तो उससे सुख-दुःख की उत्पत्ति (बौद्ध मत से) होती है, अगर ज्ञान के उत्पादक विषयाकार विज्ञान से ही सुख और दुःख की भी उत्पत्ति मानें तो संसार से उपेक्षात्मक ज्ञान की सत्ता उठ जायगी, (क्योंकि सुख और दुःख से भिन्न ज्ञान ही बौद्ध मत में उपेक्षा ज्ञान है) । विज्ञान 'स्वसंवेदन' अर्थात् 'स्वप्रकाश' ही है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है कि एक ही वस्तु एक ही क्रिया का एक ही समय

न्यायकन्दली

स्वप्रकाशः प्रदीपोऽस्ति दृष्टान्त इति चेत्, नैवम्, सोऽपि हि पुरुषेण ज्ञायते ज्ञाप्यते चक्षुषा। ज्ञानञ्च तस्य क्रिया, न च स्वयं करणं कर्ता कर्म्म क्रिया च भवति। यथात्मवादिनां स्वप्रतीतावात्मना युगपत्कर्म्मकर्तृभावः, तथा ज्ञानस्यापि करणादिभाव इति चेत्, न, अविरोधात्, ज्ञानक्रियाविषयत्वं कर्म्मत्वमात्मनस्तस्यामेव च स्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वम्, न स्वातन्त्र्यविषयत्वयोरस्ति विरोधः। करणत्वं क्रियात्वन्तु सिद्धसाध्यत्वाभ्यामेकस्य परस्परविरुद्धम्, कारणकरणयोरेकत्वाभावात्। एवं परप्रयोज्यता करणत्वमितराप्रयोज्यत्वं कर्तृत्वमित्यनयोरपि विरोधः, विधिप्रतिषेधस्वभावत्वादित्यतो नैषामेकत्र सम्भवो युक्तः। अथ मतम्—न ज्ञानस्य करणाद्यभावः स्वसंवेदनार्थः; किन्तु स्वप्रकाशस्वभावस्य तस्योत्पत्तिरेव स्वसंवेदनमिति। अत्रापि निरूप्यते किं तदर्थस्य प्रकाशः ? स्वस्य वा ? यद्यर्थस्य प्रकाशः, तदुत्पत्तेरर्थस्य संवेदनं स्यान्न तु स्वस्येति तस्यासंवेद्यतादोषः।

में करण भी हो एवं कर्मादि अन्य कारक भी हो। (प्र.) स्वतः प्रकाश प्रदीप हो इस विषय में दृष्टान्त हैं ? (उ.) नहीं, प्रदीप का ज्ञान पुरुष को होता है (अतः वह उसका कर्त्ता है)। वह चक्षु से उत्पन्न होता है, अतः चक्षु उसका करण है (वह ज्ञान प्रदीपविषयक होने के कारण प्रदीप कर्म है), वह क्रिया (धात्वर्थ) प्रदीपविषयक ज्ञान रूप है। अतः एक ही वस्तु एक ही समय में क्रिया, कर्त्ता, कर्म और करण नहीं हो सकती है। (प्र.) आत्मवादियों (विज्ञानादि भिन्न स्थिर नित्य आत्मा माननेवालों) के मत में एक ही आत्मतत्त्वज्ञान (क्रिया) का कर्त्तृत्व और कर्मत्व दोनों एक ही समय में एक ही आत्मा में हैं ही, अतः कर्त्तृत्व और कर्मत्व दोनों में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार विज्ञानवादियों के मत में उपपत्ति हो सकती है। (उ.) सविषयक (ज्ञानादि रूप) एक ही क्रिया का कर्त्तृत्व और कर्मत्व ये दोनों विरुद्ध नहीं हैं; क्योंकि सविषयक ज्ञान क्रिया का विषयत्व ही उसका कर्मत्व है एवं उसी क्रिया में स्वतन्त्रता है कर्तृत्व, ये दोनों ही आत्मा में रह सकते हैं; किन्तु क्रियात्व एवं करणत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं; क्योंकि करण सिद्ध रहता है एवं क्रिया साध्य होती है, अतः एक ही व्यक्ति में क्रियात्व एवं करणत्व दोनों नहीं रह सकते। करणत्व एवं कर्तृत्व ये दोनों भी परस्पर विरुद्ध हैं; क्योंकि करण दूसरे के द्वारा प्रयुक्त होता है एवं कर्त्ता दूसरे कारकों से बिलकुल ही अप्रयोज्य होता है, अर्थात् स्वतन्त्र होता है। अतः ये दोनों भी एक समय में एक नहीं रह सकते। (प्र.) ज्ञान के प्रकाश के लिए करणादि का अभाव कभी हो ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति ही उसका प्रकाश है। (उ.) इस विषय में यह पूछना है कि ज्ञान अपने विषयों का प्रकाश रूप है ? या 'स्वसंवेदन', 'स्व' अर्थात् अपना ही प्रकाश रूप है ? अगर अर्थ प्रकाश रूप है तो फिर उससे अर्थ का ही 'संवेदन' अर्थात् प्रकाश होगा,

न्यायकन्दली

अथेदं स्वस्य प्रकाशः, तदेव प्रकाश्यं प्रकाशश्चेति क्रियाकरणयोरेकत्वं तदवस्थम् । न च स्योत्पत्तिरेव स्वात्मनि क्रियेत्यपि निदर्शनमस्ति । यदपि स्वसंवेदनासिद्धौ प्रमाणमुक्तं यद्यदायत्तप्रकाशं तत्तस्मिन् प्रकाशमाने प्रकाशते, यथा प्रदीपायत्तप्रकाशो घटः, ज्ञानायत्त-प्रकाशाश्च रूपादय इति । तत्रापि यदि ज्ञानमेवार्थप्रकाशोऽभिमतः, तदा तदायत्तप्रकाशा रूपादय इत्यसिद्धमनैकान्तिकञ्चेन्द्रियेण ।

अथ च ज्ञानजन्योऽर्थप्रकाशो न तु ज्ञानमेवार्थप्रकाशस्तदा दृष्टान्ताभावः, ज्ञानजन-कस्य प्रदीपस्यार्थप्रकाशकत्वाभावात् । एतेनैतदपि प्रत्युक्तम्–"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थ-दृष्टिः प्रसिद्ध्यति" इति । न हि ज्ञानस्य प्रत्यक्षताऽर्थस्य दर्शनम्; किन्तु विज्ञान-स्योत्पत्तिः, तत्रासंविदितेऽपि ज्ञाने तदुत्पत्तिमात्रेणैवार्थस्य संवेदनं सिद्ध्यति । कथमन्य-स्योत्पत्तिरन्यस्य संवेदनमिति चेत् ? किं कुर्मो वस्तुस्वभावत्वात् । न चैवं सति सर्वस्य संवेदनम् ? तस्य स्वकारणसामग्रीनियमात् प्रतिनियतार्थसंवित्तिस्वभावस्य प्रतिनियतप्रति-पत्तृसंवेद्यस्यैव चोत्पादात् ।

'स्व' अर्थात् ज्ञान का नहीं, अतः ज्ञान को अर्थप्रकाश रूप मानने से बौद्ध मत में ज्ञान 'असंवेद्य' अर्थात् अतीन्द्रिय हो जायगा । अगर ज्ञान को 'स्व' का ही प्रकाशक मानें तो फिर एक ही वस्तु प्रकाश्य और प्रकाशक दोनों ही होगी, अतः इस पक्ष में भी करणत्व और क्रियात्व रूप दो विरुद्ध धर्मों का समावेश रूप असामञ्जस्य है ही । 'स्व' की उत्पत्ति ही 'स्व'रूपा क्रिया है, इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है । 'स्वसंवेदन' अर्थात् ज्ञान के स्वप्रकाशत्व में जो यह युक्ति दी जाती है । (प्र.) जिसका प्रकाश जिसके अधीन रहता है, उस प्रकाशक के प्रकाशित होने पर वह (प्रकाश्य) भी प्रकाशित हो जाता है, जैसे कि प्रदीप से प्रकाशित होने वाले घटादि एवं ज्ञान से प्रकाशित होने वाले रूपादि । (उ.) इस विषय में यह पूछना है कि 'प्रकाश' शब्द से अगर रूपादि विषय का ज्ञान ही इष्ट है, तो फिर यह सिद्ध नहीं होता कि रूपादि का प्रकाश ज्ञान के अधीन है । अतः उक्त हेतु इन्द्रियों में व्यभिचरित है । अगर यह कहें कि (प्र.) ज्ञान अर्थ-प्रकाश रूप नहीं है; किन्तु ज्ञान से अर्थ का प्रकाश होता है, (उ.) तो फिर इस विषय में कोई दृष्टान्त नहीं मिलेगा; क्योंकि प्रदीप में अर्थ को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है । चूँकि ज्ञान को ही अर्थ का प्रकाशक माना है । (प्र.) अप्रत्यक्ष ज्ञान से अर्थ प्रकाशित नहीं होता है । (उ.) ज्ञान का प्रत्यक्षत्व और अर्थ का प्रकाशन दोनों एक नहीं हैं, अतः ज्ञान का प्रत्यक्ष न होने पर भी उसकी उत्पत्ति से ही अर्थ प्रकाशित हो जाता है, (फलतः ज्ञान की उत्पत्ति ही अर्थ का प्रकाश है) । (प्र.) एक वस्तु की उत्पत्ति दूसरे की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? (उ.) इसके लिए हम क्या करें ? यह तो वस्तुओं के स्वभाव के अधीन है । (प्र.) इस प्रकार से तो सभी अर्थों का प्रकाशन होना चाहिए ? (उ.) वह तो अपने विलक्षण कारणसमूह रूप सामग्री के अधीन है, जिससे कि कुछ नियमित विषयों का ज्ञान कुछ नियमित ज्ञाताओं को ही होता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः । प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम् । पृथक्त्व-

मन के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार ये आठ गुण हैं । चूँकि सूत्रकार ने कहा है (३/२/३) कि प्रयत्न और ज्ञान एक क्षण में (एक आत्मा में) नहीं होते, अतः सिद्ध होता है कि प्रति शरीर में एक-एक मन है । एकत्व संख्या के रहने से ही उसमें पृथक्त्व गुण की भी सिद्धि

न्यायकन्दली

अपरे पुनरेवमाहुः—ज्ञानसंसर्गाद्विषये प्रकाशमाने प्रकाशस्वभावत्वात् प्रदीपवद्विज्ञानं प्रकाशते, प्रकाशाश्रयत्वात् प्रदीपवर्तिवदात्माऽपि प्रकाशत इति त्रिपुटीप्रत्यक्षतेति । तदप्य-सत्, घटोऽयमित्येतस्मिन् प्रतीयमाने ज्ञातृज्ञानयोरप्रतिभासनात् । यत्र त्वनयोः प्रतिभासो घटमहं जानामीति, तत्रोत्पन्ने ज्ञाने ज्ञातृज्ञानविशिष्टस्यार्थस्य मानसप्रत्यक्षता । न तु ज्ञातृज्ञानयोश्चाक्षुषज्ञाने प्रतिभासः, तयोरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात् ।

तदेवं सिद्धे मनसि तस्य गुणान् प्रतिपादयति—तस्य गुणा इत्यादिना । **सङ्ख्याद्यष्टगुणयोगोऽपि मनसो वैधर्म्यम् । सङ्ख्यासद्भावं कथयति--**प्रयत्नेत्यादिना । **प्रतिशरीरमेकं मन आहोस्विदनेकमिति संशये सति सूत्रकृतोक्तम्—"प्रयत्ना-**

कोई कहते हैं कि (प्र.) जब ज्ञान के सम्बन्ध से विषय प्रकाशित होता है, उसी समय 'प्रकाशस्वभाव' के कारण ज्ञान भी प्रदीप की तरह प्रकाशित हो जाता है एवं प्रकाश का आश्रय होने के कारण जैसे प्रदीप भी प्रकाशित होता है, वैसे ही प्रकाश रूप ज्ञान के प्रकाशित होने पर आत्मा भी प्रकाशित होता है । इस प्रकार ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनों 'पुटों' से युक्त होने के कारण प्रत्यक्षता 'त्रिपुटी' है । (उ.) किन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'यह घट है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें ज्ञान और ज्ञाता प्रतिभासित नहीं होते । 'घट को मैं जानता हूँ' इत्यादि जिन ज्ञानों से वे प्रकाशित होते हैं, वे घटप्रत्यक्ष के बाद ज्ञान और ज्ञाता विशिष्ट घटादिविषयक और ही मानस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हैं; किन्तु पहले के घटादिविषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष में ही ज्ञान और ज्ञाता ये दोनों भी विषय नहीं होते; क्योंकि तब ज्ञाता और ज्ञान इन दोनों को भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय मानना पड़ेगा ।

इस प्रकार मन के सिद्ध हो जाने से पर 'तस्य गुणाः' इत्यादि से मन का गुण कहते हैं । संख्यादि आठ गुणों का सम्बन्ध मन का 'वैधर्म्य' अर्थात् असाधारण धर्म है । 'प्रयत्न' इत्यादि से 'मन में संख्यादि आठ गुणों का सम्बन्ध है' इसमें प्रमाण देते हैं । 'प्रति शरीर में मन एक है या अनेक ?' इस संशय में सूत्रकार ने कहा है कि

न्यायकन्दली

यौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्च प्रतिशरीरमेकं मनः" इति । तेन प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धमिति । मनोबहुत्वे ह्यात्ममनःसंयोगानां बहुत्वाद्युगपज्ज्ञानानि प्रयत्नाश्च भवेयुः, दृश्यते च क्रमो ज्ञानानामेकोपलम्भव्यासक्तेन विषयान्तरानुपलम्भाद् निवृत्तव्यासङ्गेन चोपलम्भादित्युक्तम् । एवं प्रयत्नानामपि क्रमोत्पाद एव, एकत्र प्रयतमानस्यान्यत्र व्यापाराभावात्, समाप्तक्रियस्य च भावात्, तस्मादेकं मनः । तस्यैकत्वे खल्वेक एवैकदा सयोग इत्येकमेव ज्ञानमेकः प्रयत्न इत्युपपद्यते । यस्तु क्वचिद्युगपदभिमानस्तदलातचक्रवदाशुभावात्, न तु तात्त्विकं यौगपद्यमेकत्र दृष्टेन कार्य्यक्रमेणान्यत्रापि करणस्य तस्यैव सामर्थ्यानुमानात् ।

नन्वेवं तर्हि द्वाविमावर्थौ पुष्पितास्तरव इत्यनेकार्थप्रतिभासः कुतः ? कुतश्च स्वशरीरस्य सह प्रेरणधारणे, न, अर्थसमूहालम्बनस्यैकज्ञानस्याप्रतिषेधाद् बुद्धिभेद एव, न तु तथा प्रतिभासः, सर्वासामेकैकार्थनियतत्वात् । एवं शरीरस्य

चूँकि एक काल में (एक आत्मा में) दो ज्ञानों और दो प्रयत्नों की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः 'एक शरीर में एक ही मन है' इस कथन से (एकशरीरस्थ) मन में एकत्व संख्या की सिद्धि होती है । अभिप्राय यह है कि (एक ही शरीर में) अगर अनेक मन माने जायँ तो मन और आत्मा के संयोग भी उतने ही होंगे, फिर उन संयोगों से (एक ही आत्मा में एक साथ) अनेक ज्ञान एवं अनेक प्रयत्नों की उत्पत्ति होनी चाहिए; किन्तु ज्ञानादि की उत्पत्ति क्रमशः ही देखी जाती है; क्योंकि एक प्रयत्न के समय अन्य विषयों के व्यापार नहीं देखे जाते । उस प्रयत्न जनित व्यापार के समाप्त होने पर फिर अन्य विषयक व्यापार भी होते हैं, अतः (एक शरीर में) एक ही मन है । उसे एक मान लेने पर आत्मा और मन का संयोग भी एक ही होगा, अतः एक क्षण में एक ही ज्ञान और प्रयत्नादि की उत्पत्ति होगी । कभी-कभी एक ही क्षण में अनेक ज्ञानों और अनेक प्रयत्नों की जो उत्पत्ति दीख पड़ती है, वह भी एक ही क्षण में नहीं होती है; किन्तु अलातचक्र भ्रमण की तरह क्रमशः ही होती है । यह और बात है कि अतिशीघ्रता के कारण वह क्रम समझ में नहीं आता है । एक स्थान पर देखे हुए कार्य के क्रम से दूसरी जगह भी उन्हीं सामर्थ्य से युक्त कारणों का अनुमान होता है । (प्र.) तो फिर 'ये दो वस्तुएँ हैं, ये वृक्ष फूले हैं' इत्यादि अनेक विषयों का ज्ञान एवं एक समय अपने शरीर में धारण और प्रेरण आदि क्रियायें कैसे होती हैं ? (उ.) अनेक विषयक एक समूहालम्बन ज्ञान का खण्डन करना उक्त कथन का अभिप्राय नहीं है, किन्तु एक क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का खण्डन करना ही उसका अभिप्राय है; चाहे वे एक ही विषयक क्यों न हों ? अगर उक्त (समूहालम्बन) ज्ञान विभिन्न विषयक अनेक ज्ञान ही होते तो फिर उनके आकार भी परस्पर विलक्षण ही होते; क्योंकि वे सभी परस्पर विभिन्न व्यक्तियों में नियत होते हैं । इसी प्रकार विशेष प्रकार के एक ही प्रयत्न से शरीर

प्रशस्तपादभाष्यम्

मप्यत एव । तदभाववचनादणुपरिमाणम् । अपसर्पणोपसर्पणवचनात्संयोग-

होती है।"तदभाववचनादणु मनः"(७/१/२२)सूत्रकार की इस उक्ति से मन में अणु परिमाण की सिद्धि होती है।अपसर्पणोपसर्पण'वचन से अर्थात् 'अपसर्पण-मुपसर्पणमशितपीतसंयोगवत् कायान्तरसंयोगश्चादृष्टकारितानि'(५/२/१७)

न्यायकन्दली

प्रेरणधारणे च प्रयत्नविशेषादेकस्मादेव भवतः, यथानेकविषयमेकं ज्ञानं तथा तत्कारणा-विच्छाप्रयत्नावपीति न किञ्चिद् दुरुपपादम् । पृथक्त्वमप्यत एवेति । **सङ्ख्यानुविधानादेव पृथक्त्वमपि सिद्धमित्यर्थः ।** तदभाववचनादणुपरिमाणम् । **विभववान्महानाकाशस्तथा चात्मेत्यभिधाय तदभावादणु मन इत्युक्तम् । तस्मादणुपरिमाणं मन इति सिद्धम् । नित्यद्रव्यगतस्य विभवाभावस्य अणुपरिमाणत्वाव्यभिचारात् । विभवाभावश्चास्य युगपज्ज्ञानानुपपत्त्यैव समधिगतः । मनसो विभुत्वे युगपत्समस्तेन्द्रियसम्बन्धाच्चक्षु-रादिसन्निकृष्टेषु रूपादिषु ज्ञानयौगपद्यं स्यात् । अथ कथमेकेन्द्रियग्राह्येषु घटादिषु मनोधिष्ठितेन चक्षुषा युगपत्सन्निकृष्टेषु ज्ञानानि युगपन्न भवन्ति ? आत्मेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षाणां यौगपद्यान्न भवन्ति । तावदनेनात्ममनःसंयोगस्यैकस्य युगपदनेकस्य ज्ञानस्यो-त्पादनसामर्थ्याभावः कल्प्यत इति चेत् ? समानमेतद्विभुत्वेऽपि मानसः, तस्मादविभुत्वेऽपि**

का धारण और प्रेरण दोनों ही होंगे । जैसे कि एक ही सामग्री से अनेक विषयक एक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वैसे ही एक ही इच्छा और प्रयत्नवाली सामग्री से धारण और प्रेरण दोनों की उत्पत्ति होगी, इसमें कुछ भी असङ्गति नहीं है । 'अत एव मन में पृथक्त्व भी है', अर्थात् चूँकि मन में संख्या है, अतः उसमें पृथक्त्व भी है । उसके 'अभाव' के कहने से मन में अणु परिमाण भी है, अर्थात् महर्षि कणाद ने वैभवसूत्र के बाद कहा है कि 'तदभावादणु मनः', इसमें मन में अणु परिमाण की सिद्धि होती है । 'जो नित्य द्रव्य विभु न हो वह अवश्य ही अणु परिमाण का हो' इस नियम में कोई व्यभिचार नहीं है । एक क्षण में एक आत्मा में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती है, इसी से समझते हैं कि मन विभु नहीं है । अगर मन विभु हो तो फिर एक ही क्षण में अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध रूपादिविषयक अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो जायगी । (प्र.) (हर एक शरीर में एक-एक ही मन मान लेने पर भी) एक ही इन्द्रिय से सम्बद्ध घटादिविषयक अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? क्योंकि आत्ममनःसंयोग इन्द्रिय का मन के साथ संयोग, एवं अनेक विषयों के साथ इन्द्रिय का संयोग ये सभी तो एक ही क्षण में हैं ही । अगर यह कल्पना करें कि 'उस सामग्री को एक क्षण में एक ही ज्ञान को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है, अनेक ज्ञानों को उत्पन्न करने का नहीं, तो फिर ज्ञान-यौगपद्य

न्यायकन्दली

युक्त्यन्तरं वाच्यम् । तदुच्यते–विभुत्वादात्ममनसोः परस्परसंयोगाभावे सत्यात्मगुणानां ज्ञानसुखादीनामनुत्पत्तिरसमवायिकारणाभावात् । आत्मार्थसंयोगस्य ह्यसमवायिकारणत्वेऽर्थदेशे ज्ञानोत्पत्तिः स्यादसमवायिकारणाव्यवधानेन प्रदेशवृत्तीनां गुणानामुत्पादात् । आत्मेन्द्रियसंयोगस्यासमवायिकारणत्वे शब्दज्ञानानुत्पत्तिः, आकाशात्मकेन श्रोत्रेणात्मनः संयोगाभावात् । न च बहिर्देशे प्रत्ययो नापि शब्दज्ञानानुत्पादः, तस्मादात्मार्थसंयोगस्यात्मेन्द्रियसंयोगस्य चासमवायिकारणत्वे प्रतिषिद्धे परिशेषादात्ममनःसंयोगस्यासमवायिकारणत्वं व्यवतिष्ठते, तच्च मनसो व्यापकत्वे न सम्भवतीत्यनुत्पत्तिरेव ज्ञानसुखादीनाम्, अस्ति च तेषामुत्पादः स एव मनसो विभुत्वं निवर्त्तयतीति । अपसर्पणोपसर्पणवचनात् संयोगविभागाविति । **"अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगवत् कायान्तरसंयोगश्चादृष्ट-**

का वारण मन को विभु मान लेने पर भी हो सकता है, इसके लिए मन को अणु मानना व्यर्थ ही होगा, अतः 'मन विभु नहीं है' इसके लिए दूसरी युक्ति कहनी चाहिए । (उ.) कहते हैं, आत्मा और मन ये दोनों ही अगर विभु हों तो फिर इन दोनों का संयोग ही नहीं होगा और उन दोनों के संयोग न होने पर आत्मा के विशेष गुण ज्ञानसुखादि की उत्पत्ति ही नहीं होगी; क्योंकि उसका कोई असमवायिकारण नहीं होगा । आत्मा और विषय इन दोनों के संयोग को अगर ज्ञानसुखादि का असमवायिकारण मानें तो फिर उस विषय के देश में ही ज्ञानादि की उत्पत्ति माननी पड़ेगी; क्योंकि प्रादेशिक (अव्याप्यवृत्ति) गुणों का यह स्वभाव है कि वे असमवायिकारण के अव्यवहित प्रदेश में ही उत्पन्न हों । आत्मा एवं (श्रोत्रादि) इन्द्रियों के संयोग को ही अगर आत्मा के उन ज्ञानादि गुणों का असमवायिकारण मानें तो शब्दज्ञान की ही अनुत्पत्ति माननी पड़ेगी; क्योंकि आकाशात्मक (विभु) श्रोत्र के साथ (विभु) आत्मा का संयोग ही असम्भव है, तस्मात् भूतलादि प्रदेशों में ज्ञानादि गुणों की उत्पत्ति नहीं होती है एवं शब्दादि गुणों की उत्पत्ति होती है । इन (अनुत्पत्ति और उत्पत्ति) दोनों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा के साथ विषयों के संयोग एवं इन्द्रियों के साथ आत्मा का संयोग, ये दोनों आत्मा के विशेष गुणों के असमवायिकारण नहीं हैं । अतः आत्मा और मन का संयोग ही उनका असमवायिकारण है । यह (असमवायिकारण) संयोग मन को विभु मानने पर असम्भव होगा, फलतः ज्ञान की उत्पत्ति अनुपपन्न हो जायगी; किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः ज्ञानसुखादि की उत्पत्ति से ही मन से विभुत्व हट जाता है ।

"अपसर्पण और उपसर्पण के कहने से मन में संयोग और विभाग भी हैं", अर्थात् सूत्रकार ने लिखा है कि "अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगवत् कायान्तरसंयोगश्चादृष्टकारितानि" । अभिप्राय यह है कि मन का एक शरीर से 'अपसर्पण' अर्थात् हटना एवं 'उपसर्पण' अर्थात् दूसरे शरीर

प्रशस्तपादभाष्यम्

विभागौ । मूर्त्तत्वात्परत्वापरत्वे संस्कारश्च । अस्पर्शवत्त्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम् । क्रियावत्त्वान्मूर्त्तत्वम् । साधारणविग्रहवत्त्वप्रसङ्गादज्ञत्वम् ।

सूत्रकार की इस उक्ति से मन में संयोग और विभाग भी सिद्ध हैं । यतः इसमें मूर्त्तत्व है, अतः परत्व, अपरत्व और (वेगाख्य) संस्कार भी हैं । यतः इसमें स्पर्श नहीं है, अतः यह किसी द्रव्य का समावायिकारण भी नहीं है । यतः इसमें क्रिया है, अतः इसमें मूर्त्तत्व भी है । मन चेतन नहीं है; क्योंकि मन को चेतन मान लेने पर

न्यायकन्दली

कारितानि" इति सूत्रेण मनसः पूर्वशरीरादपसर्पणं शरीरान्तरे चोपसर्पणञ्चादृष्टकारितमित्युक्तम्, तस्मादस्य संयोगविभागौ सिद्धौ । मूर्त्तत्वात्परत्वापरत्वे संस्कारश्च । **विभवाभावान्मूर्त्तव्यं सिद्धं तस्माद् घटादिवत् परत्वापरत्ववेगाः सिद्धाः ।** अस्पर्शवत्त्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम् । **अस्पर्शवत्त्वं मनसः शरीरान्यत्वे सति सर्वविषयज्ञानोत्पादकत्वादात्मवत् सिद्धम्, तस्माच्चात्मवदेव सजातीयद्रव्यानारम्भकत्वम् ।** क्रियावत्त्वान्मूर्त्तत्वमिति । **अणुत्वप्रतिपादनान्मूर्त्तत्वे सिद्धेऽपि विस्पष्टार्थमेतदुक्तम् ।** साधारणविग्रहवत्त्वप्रसङ्गादज्ञत्वम् । **यदि ज्ञातृ मनो भवेच्छरीरमिदं साधारणमुपभोगायतनं स्यात् । न चैवम्, एकाभिप्रायानुरोधेन तस्य सर्वदा प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्, तस्मादज्ञं मनः । चैतन्ये निषिद्धेऽपि प्रक्रमात्**

में जाना ये दोनों ही अदृष्ट से होते हैं, अतः मन में संयोग और विभाग की सिद्धि होती है । चूँकि मन में मूर्त्तत्व है, अतः परत्व, अपरत्व और (वेगाख्य) संस्कार भी हैं । विभुत्व के न रहने पर ही मन में मूर्त्तव्य सिद्ध है । मूर्त्तत्व हेतु से घटादि की तरह मन में परत्व, अपरत्व और वेग (संस्कार) ये तीनों भी सिद्ध होते हैं । चूँकि मन में स्पर्श नहीं है, अंतः वह किसी द्रव्य का समवायिकारण भी नहीं है । मन में स्पर्श इसलिए नहीं है कि शरीर से भिन्न होने पर भी आत्मा की तरह ज्ञान का कारण है एवं आत्मा की तरह ही अपने सजातीय द्रव्य का अनारम्भक है । चूँकि मन में क्रिया है, अतः मूर्त्तत्व भी है । यद्यपि उसमें अणु परिमाण के कह देने से ही मूर्त्तत्व भी सिद्ध हो जाता है, फिर भी और स्पष्ट करने के लिए क्रिया रूप हेतु का भी उपादान किया है । 'वह अज्ञ (अचेतन) इसलिए है कि (उसको चेतन मानने पर) 'साधारणविग्रहवत्त्व' प्रसङ्ग होगा' । अभिप्राय यह है कि मन में अगर ज्ञान (चैतन्य) मान लिया जाय तो शरीर जो केवल आत्मा के ही भोग का 'आयतन' है, उसे आत्मा और मन दोनों के ही भोग का 'आयतन' मानना पड़ेगा; किन्तु शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों ही एक ही व्यक्ति के अनुरोध से देखी जाती हैं, अतः मन 'अज्ञ' (चेतन नहीं) है । यद्यपि मन के

प्रशस्तपादभाष्यम्

करणाभावात्परार्थम् । गुणवत्त्वाद् द्रव्यम् । प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसञ्चारि चेति ।

॥ इति प्रशस्तपादभाष्ये द्रव्यपदार्थः ॥

आत्मा की तरह मन को भी शरीर का अधिष्ठाता मानना पड़ेगा । चूँकि यह करण है, अतः दूसरों के उपभोग का ही साधन (पदार्थ) है । चूँकि इसमें गुण हैं, अतः यह द्रव्य है । प्रयत्न और अदृष्ट के कारण यह तीव्र गतिवाला है ।

न्यायकन्दली

पुनरेतदुक्तम् । अज्ञत्वे सिद्धे सत्याह–करणभावात् परार्थमिति । **परस्योपभोगसाधन-मित्यर्थः** । गुणवत्त्वाद् द्रव्यं **पृथिव्यादिवत्** । प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसञ्चारि चेति **द्रष्टव्यम् । इच्छाद्वेषपूर्वकेण जीवनपूर्वकेण च प्रयत्नेन परिगृहीतं स्थानात् स्थानान्तरमाशु सञ्चरति, तथा अदृष्टेन परिगृहीतं मरणाच्छरीरान्तरमाशु सञ्चरतीति द्रष्टव्यम् । इतिशब्दः परिसमाप्तौ ।**

विशुद्धविविधन्यायमौक्तिकप्रकराकरः ।
सेव्यतां द्रव्यजलधिः स्फुटसिद्धान्तविद्रुमः ॥

॥ इति भट्टश्रीश्रीधरकृतौ पदार्थप्रवेशन्यायकन्दलीटीकायां
द्रव्यपदार्थः समाप्तः ॥

***

चैतन्य का निषेध कर चुके हैं (देखिये आत्मनिरूपण), तथापि प्रसङ्ग आने के कारण उसे फिर से दुहराया है । अज्ञत्व के सिद्ध हो जाने के बाद कहते हैं कि यतः वह करण है, अतः 'परार्थ' है, अर्थात् दूसरों के उपभोग का साधन मात्र है । चूँकि उसमें गुण है, अतः पृथिवी की तरह वह द्रव्य है । "आत्मा के प्रयत्न और अदृष्ट से शीघ्र चलना उसका स्वभाव है" अर्थात् जिस प्रकार से इच्छा, द्वेष और जीवन-योनि यत्न इन तीनों के साथ सम्बद्ध होने के कारण मन क्षिप्रगति से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, वैसे ही यह अदृष्ट से प्रेरित होकर मरण के बाद दूसरे शरीर में भी शीघ्र चला जाता है । यह 'इति' शब्द समाप्ति का बोधक है ।

अनेक प्रकार के न्यायरूपी विशुद्ध मोतियों की खान निश्चित सिद्धान्तरूपी मूँगों से युक्त 'द्रव्य समुद्र' (द्रव्य-निरूपण) का (विद्वान् लोग) सेवन करें ।

॥ भट्ट श्रीश्रीधर द्वारा रचित पदार्थों की बोधिका **न्यायकन्दली**
नाम का टीका में द्रव्य का निरूपण समाप्त हुआ ॥

●

॥ अथ गुणपदार्थनिरूपणम् ॥

प्रशस्तपादभाष्यम्

रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम् ।

गुणपदार्थों का निरूपण

गुणत्व जाति का सम्बन्ध, द्रव्यों में ही रहना, गुणों का राहित्य एवं क्रियाओं का राहित्य (ये चार) रूपादि सभी गुणों के साधर्म्य हैं ।

ॐ

न्यायकन्दली

नमो जलदनीलाय शेषपर्यङ्कशायिने ।
लक्ष्मीकण्ठग्रहानन्दनिष्यन्दायासुरद्विषे ॥

द्रव्यपदार्थं व्याख्याय गुणानां निरूपणार्थमाह-रूपादीनां गुणानामिति । **गुणत्वं नाम सामान्यं तेनाभिसम्बन्धो गुणानामिति परस्परसाधर्म्यकथनम् । इतरपदार्थवैधर्म्यकथनमप्येतत् । गुणत्वं रूपादिषु रत्नत्वमिवोपदेशसहकारिणा प्रत्यक्षेणैव गृह्यते । यत्तु प्रथममस्य कर्मादिविलक्षणतया न ग्रहणं तदाश्रयपारतन्त्र्यस्यात्यन्तिकसादृश्यस्य सम्भवात् । रूपादीनां गुणानामिति स्वरूपमात्रकथनम् । सर्वेषामित्यभिव्याप्तिप्रदर्शनार्थम् । द्रव्याश्रितत्वं द्रव्योपसर्जनत्वम् । एतच्च धर्ममात्रकथनं न तु वैधर्म्याभिधानं द्रव्यकर्म्मादिष्वपि सम्भवात् ।**

शेषनाग रूपी पलँग पर सोनेवाले, लक्ष्मी के कण्ठालिङ्गन से उत्पन्न आनन्द में विभोर, प्रणवस्वरूप मेघ के समान नीलवर्णवाले एवं असुरों के विनाशक (श्री विष्णु) को मैं प्रणाम करता हूँ ।

द्रव्य की व्याख्या करने के बाद (क्रमप्राप्त) गुणों का निरूपण करने के लिए 'रूपादीनां गुणानाम्' इत्यादि पङ्क्ति लिखते हैं । 'गुणत्व नाम की जाति के साथ सभी गुणों का सम्बन्ध है' इस उक्ति से सभी गुणों का परस्पर साधर्म्य कथित होता है । गुणों के इस साधर्म्य के कथन से ही 'गुणत्वादि जातियों का सम्बन्ध ही गुण से भिन्न पदार्थों का वैधर्म्य है' यह भी कथित हो जाता है । उपदेश के सहारे जिस प्रकार प्रत्यक्ष से ही रत्नों का रत्नत्व गृहीत होता है, उसी प्रकार उक्त प्रकार के प्रत्यक्ष से ही गुणत्व भी गृहीत होता है । (उपदेश से) पहले कर्मादि से भिन्न रूप में जो गुणों का ग्रहण नहीं होता है, कर्मादि पदार्थों के साथ गुणों का 'आश्रय पारतन्त्र्य' रूप अत्यन्त सादृश्य ही इसका कारण है । 'रूपादीनां गुणानाम्' इस वाक्य से गुणों का केवल स्वरूप ही कहा गया है । 'सर्वेषाम्' इस पद से इन साधर्म्यों का सभी गुणों में रहना अभिव्यक्त होता है । 'द्रव्याश्रितत्व' शब्द का अर्थ है द्रव्योपसर्जनत्व, अर्थात् द्रव्य रूप मुख्य का अप्रधान होना ।

न्यायकन्दली

एवं निर्गुणत्वं गुणरहितत्वं गुणानां स्वरूपं तेषां स्वात्मनि गुणान्तरानारम्भकत्वात्, तदनारम्भकत्वञ्च रूपादिषु रूपाद्यन्तरानुपलब्धेरनवस्थानाच्च । एवं सत्येकं रूपमणुः शब्द इत्यादिव्यवहार उपचारात् । सङ्ख्यादिकं रूपाद्याश्रयं न भवति गुणत्वाद् रूपादिवत् । स्वरूपान्तरं कथयति--निष्क्रियत्वमिति । **द्रव्ये गच्छति रूपादिकमपि गच्छतीति चेत् ? न, वेगवद्वायुसंयोगेन व्योमादिषु क्रियाया अभावाच्छाखादिषु च भावाद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां मूर्त्तत्वक्रियावत्त्वयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ मूर्त्यभावेन रूपादिषु क्रियानिवृत्तिसिद्धेः कथं तर्हि तेषु गमनप्रतीतिः ? आश्रयक्रियया, यथैव सत्तायां नहि सत्ता स्वाश्रयेण सह गच्छति, एकस्य गमने विश्वस्य गमनप्रसङ्गादीति ।**

यह द्रव्याश्रितत्व गुणों के केवल साधर्म्य समझाने के लिए ही कहा गया है, कर्मादि पदार्थों का वैधर्म्य समझाने के लिए नहीं; क्योंकि द्रव्य एवं कर्म प्रभृति पदार्थों में भी 'द्रव्याश्रितत्व' तो है ही ।

इसी प्रकार गुणरहितत्व रूप निर्गुणत्व भी गुणों का साधर्म्य ही है (गुण से भिन्न पदार्थों का वैधर्म्य नहीं); क्योंकि एक गुण में दूसरे गुण की उत्पत्ति नहीं होती है । एक रूप दूसरे रूपों का उत्पादक इसलिए नहीं है कि एक रूप में दूसरे रूपों की उपलब्धि नहीं होती है । एवं एक रूप में दूसरे रूप की सत्ता मानने में अनवस्था भी होगी । इस प्रकार (गुण में गुण की असत्ता सिद्ध हो जाने पर यही कहना पड़ेगा कि) 'एकं रूपम्', 'अणुः शब्दः' इत्यादि प्रयोग लक्षणामूलक हैं । इस प्रसङ्ग में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है कि रूपादि गुणों में संख्यादि गुण नहीं हैं; क्योंकि वे भी गुण हैं, जैसे कि रूप ।

'निष्क्रियत्वम्' इत्यादि से गुणों का दूसरा साधर्म्य कहते हैं । (प्र.) द्रव्य के चलने पर उसी के साथ रूपादि भी तो चलते हैं ? (उ.) आकाश में वेग से युक्त वायु का संयोग रहने पर भी क्रिया होती है; किन्तु वेग से युक्त वायु का संयोग रहने पर शाखादि में क्रिया होती है । इस अन्वय और व्यतिरेक के बल से क्रिया और मूर्त्त द्रव्य में इस प्रकार व्याप्यव्यापकभाव निश्चित होता है कि क्रिया मूर्त्त द्रव्य में ही रहती है । ऐसा सिद्ध हो जाने पर रूपादि में व्यापकीभूत मूर्त्तत्व के अभाव से व्याप्यभूत क्रिया का अभाव सिद्ध होता है । (प्र.) फिर रूपादि में गमन की उक्त प्रतीतियाँ कैसे होती हैं ? (उ.) जिस प्रकार सत्ता में आश्रय की क्रिया से क्रिया की प्रतीति उसके स्वयं न चलने पर भी होती है, उसी प्रकार रूपादि में भी आश्रय की क्रिया से ही क्रिया की प्रतीति होती है । इस प्रकार अगर क्रिया की प्रतीति से ही क्रिया की सत्ता मानी जाय तो फिर समस्त संसार का ही चलना स्वीकार करना पड़ेगा ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्त्तगुणाः । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अमूर्त्तगुणाः । सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणाः ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये दश 'मूर्त्तगुण' (अर्थात् मूर्त्त द्रव्यों में ही रहनेवाले गुण) हैं ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये दश 'अमूर्त्तगुण' (अर्थात् अमूर्त्त द्रव्यों में ही रहनेवाले गुण) हैं ।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच 'उभयगुण' (अर्थात् मूर्त्तद्रव्य और अमूर्त्तद्रव्य दोनों में ही रहनेवाले गुण) हैं ।

न्यायकन्दली

सम्प्रति परस्परमेव तेषां साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च प्रतिपादयन्नाह–रूपेत्यादि । **एते मूर्त्तानामेव गुणा नामूर्त्तानाम् । तथा हि रूपस्पर्शपरत्वापरत्ववेगाः पृथिव्यादिषु त्रिषु, वायौ रूपवर्जम्, रूपस्पर्शवर्जं मनसि, रसगुरुत्वे पृथिव्युदकयोः, द्रवत्वं पृथिव्युदकतेजस्सु, स्नेहोऽम्भसि, गन्धः पृथिव्याम् ।**

अमूर्त्तगुणान् कथयति–बुद्धिसुखेत्यादि । **बुद्ध्यादयो भावनान्ता आत्मगुणाः । आकाशगुणः शब्दः ।**

संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणा **मूर्त्तामूर्त्तगुणाः ।**

अब गुणों में ही परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण करते हुए 'रूप रस' इत्यादि वाक्य लिखते हैं । ये मूर्त्त (द्रव्यों) के ही गुण हैं, अमूर्त्त (आकाशादि) के नहीं । अभिप्राय यह है कि रूप, स्पर्श, परत्व, अपरत्व और वेग ये पाँच गुण (मिलकर) पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में ही रहते हैं । इनमें से रूप को छोड़कर शेष चार गुण वायु में रहते हैं । कथित पाँच गुणों में से रूप और स्पर्श को छोड़कर शेष तीन गुण मन में रहते हैं । पृथिवी और जल इन दोनों में (इन पाँच में से) रस और गुरुत्व ये दो ही गुण हैं । द्रवत्व पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में ही रहता है । स्नेह केवल जल में और गन्ध केवल पृथिवी में रहता है ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये दश अमूर्त्त गुण (अर्थात् मूर्त्त द्रव्य से भिन्न द्रव्यों में ही रहते) हैं ।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच 'उभय गुण' अर्थात् मूर्त्त द्रव्य और अमूर्त्त द्रव्य दोनों में रहनेवाले गुण हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वादयोऽनेकाश्रिताः ।

शेषास्त्वेकैकवृत्तयः ।

रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा वैशेषिकगुणाः ।

संयोग, विभाग, द्वित्व और द्विपृथक्त्वादि गुण 'अनेकाश्रित' (अर्थात् इनमें से प्रत्येक अनेक द्रव्यों में ही रहनेवाले) हैं ।

शेष सभी गुण 'एकद्रव्यवृत्ति' अर्थात् एक-एक द्रव्य में ही रहते हैं ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना (संस्कार) और शब्द ये (सोलह) विशेष गुण हैं ।

न्यायकन्दली

संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वादयोऽनेकाश्रिताः, एका संयोगव्यतिरेका च विभागव्यक्तिरुभयोर्द्रव्योर्वर्त्तत इत्यनेकाश्रितत्वम् । एवं द्वित्वद्विपृथक्त्वव्यक्त्योरपि । आदिशब्दगृहीतास्तु त्रित्वत्रिपृथक्त्वादि- व्यक्तयो यथासम्भवं बहुष्वाश्रिताः । अनेकशब्दश्च 'एको न भवति' इति व्युत्पत्त्या द्वयोर्बहुष्वपि साधारणः ।

शेषास्त्वेकैकवृत्तयः 'शेषा' रूपादिव्यक्तयः, एकस्यामेव व्यक्तौ वर्त्तन्ते, न पुनरेका रूपव्यक्तिः संयोगवदुभयत्र व्यासज्य वर्त्तत इत्यर्थः ।

विशेषगुणान् निरूपयति—रूपरसगन्धेत्यादि **। विशेषो व्यवच्छेदः, तस्मै प्रभवन्ति ये गुणास्ते वैशेषिका गुणा रूपादयः । ते हि स्वाश्रयमितरस्मा-**

एक ही संयोग और एक ही विभाग (अपने प्रतियोगी और अनुयोगी) दोनों द्रव्यों में रहता है, अतः ये दोनों 'अनेकाश्रित' गुण हैं । इसी प्रकार द्वित्व और द्विपृथक्त्व ये दोनों भी 'अनेकाश्रित' गुण हैं । 'आदि' शब्द के द्वारा बहुत से द्रव्यों में रहनेवाले त्रित्व एवं त्रिपृथक्त्वादि गुण भी अनेकाश्रित कहे गये हैं । 'एको न भवति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'दो' एवं इससे अधिक 'बहुत' सभी 'अनेक' शब्द के अर्थ हैं ।

'शेष' अवशिष्ट रूपादि गुणों की इकाइयाँ एक-एक द्रव्य में ही रहती हैं । अभिप्राय यह है कि एक ही रूपादि इकाई संयोग की तरह दो व्यक्तियों को व्याप्त कर नहीं रहती ।

'रूप-रस' इत्यादि वाक्य के द्वारा विशेष गुणों का वर्णन करते हैं । 'विशेष' शब्द का अर्थ है 'व्यवच्छेद' अर्थात् भेदबुद्धि । इतने गुण भेदबुद्धि के उत्पादन में समर्थ हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाः सामान्यगुणाः ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः ।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग ये (दश) सामान्य गुण हैं ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच में से प्रत्येक एक ही इन्द्रिय से गृहीत होता है एवं बाह्य इन्द्रिय से ही गृहीत होता है ।

न्यायकन्दली

द्व्यवच्छिन्दन्ति न संख्यादयः, तेषां स्वतो विशेषाभावात् । यस्तु तेषां विशेषः स आश्रयविशेषकृत एवेति बोद्धव्यम् ।

संख्यादयः **सामान्यगुणाः । सामान्याय स्वाश्रयसाधर्म्याय गुणाः, न स्वाश्रयविशेषायेत्यर्थः । नन्वणुपरिमाणं परमाणूनां व्यवस्थापकम् ? न, जात्यन्तरपरमाणुसाधारणत्वात् । सांसिद्धिकद्रवत्वमपां विशेषगुण एव तेन नैमित्तिकग्रहणम् ।**

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा **बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः । बाह्यानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि बाह्यार्थप्रकाशकत्वात् । तैः प्रत्येकं रूपादयो गृह्यन्ते ।**

वे ही 'वैशेषिक गुण' हैं, जैसे कि रूपादि । ये अपने आश्रयों को औरों से भिन्न रूप में समझाते हैं । संख्यादि सामान्य गुण अपने आश्रयों को औरों से भिन्न रूप में नहीं समझा सकते; क्योंकि (एक द्रव्य की एक संख्या से दूसरे द्रव्य की उसी संख्या में) स्वतः कोई अन्तर अर्थात् विशेष नहीं है । उन दोनों संख्याओं में जो कुछ अन्तर है उसे आश्रय के विशेषों से ही समझना चाहिए ।

ऊपर कहे हुए संख्यादि सामान्य गुण हैं । अर्थात् 'सामान्याय गुणाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कथित संख्यादि 'सामान्य' अर्थात् अपने आश्रयों में परस्पर साधर्म्य प्रतीति के ही कारणीभूत गुण हैं, इनसे इनके आश्रयों में परस्पर विभिन्नता की प्रतीति नहीं होती है । (प्र.) अणु परिमाण तो परमाणुवों का व्यवस्थापक है, अर्थात् और परिमाणवालों से विभिन्नत्व बुद्धि का कारण है ? (उ.) नहीं, अणु परिमाण भी विभिन्न जातीय परमाणुवों में समान रूप से रहने के कारण परस्पर (परमाणुत्व रूप) साधर्म्यबुद्धि का ही कारण है । सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व जल का विशेष गुण है, अतः नैमित्तिक द्रवत्व को ही सामान्य गुणों में गिनाया है ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण 'बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्य' हैं, अर्थात् बाह्य विषयों के ही प्रकाशक होने के कारण चक्षुरादि 'बाह्येन्द्रिय' हैं । शब्दादि में से प्रत्येक

प्रशस्तपादभाष्यम्

सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वस्नेहवेगा द्वीन्द्रियग्राह्याः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः ।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग ये नौ गुण दो इन्द्रियों से (भी) गृहीत हो सकते हैं ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये छः गुण 'अन्तःकरण' अर्थात् मन से ज्ञात होते हैं ।

न्यायकन्दली

संख्यादयो **वेगान्ता द्वीन्द्रियग्राह्याः चक्षुस्पर्शनग्राह्याः । यथा चक्षुषा 'स्निग्धोऽयम्' इति प्रतीतिरेवं त्वगिन्द्रियेणापि भवति, संख्यादिवत् स्नेहोऽपि तदुभयग्राह्यः ।**

बुद्ध्यादयः **प्रयत्नान्ता अन्तःकरणग्राह्याः, मनसा प्रतीयन्त इत्यर्थः ।**

बुद्धिरनुमेया नान्तःकरणेन गृह्यत इति केचित्, तदयुक्तम्, लिङ्गाभावात् । न तावदर्थमात्रं लिङ्गम्, तस्य व्यभिचारात् । ज्ञातोऽर्थो लिङ्गं चेत् ? ज्ञानसम्बन्धो ज्ञातता, याऽसौ ज्ञानकर्मता सा प्रतीयमाने ज्ञाने न प्रतीयते, सम्बन्धिप्रतीत्यधीनत्वात् सम्बन्धप्रतीतेरिति कथं तद्विशेषणार्थो लिङ्गं स्यात् ?

चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों में से ही किसी एक इन्द्रिय से गृहीत होता है ।

संख्या से लेकर वेगपर्यन्त कथित ये दश गुण 'द्वीन्द्रियग्राह्य' हैं, अर्थात् चक्षु और त्वचा दोनों इन्द्रियों से गृहीत होते हैं । 'यह स्निग्ध है' यह प्रतीति जैसे चक्षु से होती है, वैसे ही त्वचा से भी होती है, अतः संख्यादि की तरह स्नेह भी 'द्वीन्द्रियग्राह्य' है ।

बुद्धि से लेकर प्रयत्न पर्यन्त कहे हुये ये छः गुण 'अन्तःकरणग्राह्य' हैं, अर्थात् इनका प्रत्यक्ष मन रूप अन्तरिन्द्रिय से ही होता है । कोई कहते हैं कि (प्र.) बुद्धि का अनुमान ही होता है, अतः अन्तरिन्द्रिय से भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता । (उ.) किन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि बुद्धि की अनुमिति का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है । केवल (ज्ञेय) अर्थ के ज्ञान अनुमिति के हेतु नहीं हो सकते; क्योंकि यह व्यभिचरित है । ज्ञात अर्थ के ज्ञानों को अनुमिति का हेतु मानें (तो भी नहीं हो सकता, क्योंकि) अर्थ में ज्ञान का सम्बन्ध ही उसकी 'ज्ञातता' है । अर्थ में ज्ञान का सम्बन्ध (ज्ञानक्रिया का) कर्मत्व रूप ही है । अतः ज्ञान के प्रतीत हुये बिना ज्ञानकर्मत्व रूप ज्ञातता की प्रतीति नहीं हो सकती; किन्तु अनुमिति में लिङ्ग की तरह उसका विशेषण

न्यायकन्दली

लिङ्गवल्लिङ्गविशेषणस्यापि ज्ञायमानस्यैवानुमानहेतुत्वम् । अथ मन्यसे 'ज्ञानेन स्वोत्पत्त्यनन्तरमर्थे ज्ञातता नाम काचिदवस्था जन्यते पाकेनेव तण्डुलेषु पक्वता, सा चार्थधर्मत्वादर्थेन सह प्रतीयते' इति । तदप्यसारम्, अननुभवात् । यथा हि तण्डुलानामेवौदनीभावः पक्वताऽनुभूयते नैवमर्थस्य ज्ञातता । या चेयमपरोक्षरूपता हानादिव्यवहारयोग्यता च तस्य, साऽपि हि ज्ञानसम्बन्धो न धर्मान्तरम् । यथा चार्थे ज्ञायमाने ज्ञातता, तथा ज्ञाततायामपि ज्ञायमानायां ज्ञातान्तरमित्यनवस्था । अथेयं स्वप्रकाशा ? ज्ञाने कः प्रद्वेषः ?

वस्तुतस्त्रिकालविशिष्टोऽप्यर्थो ज्ञानेन प्रतीयमानो वर्त्तमानकालावच्छिन्नः प्रतीयते । या च त्रिकालस्य वर्त्तमानकालावच्छिन्नावस्था सा ज्ञातता, ज्ञानकृतत्वात्तस्य लिङ्गमिति कश्चित् । तदपि न किञ्चित्, वर्त्तमानावच्छिन्नता

भी कारण है, वह लिङ्ग की तरह ज्ञात होकर ही । अगर यह मानें कि (प्र.) ज्ञान की उत्पत्ति के बाद इस ज्ञान से ही अर्थ की एक विशेष प्रकार की अवस्था होती है, जिसे ज्ञाततावस्था कहते हैं । जिस प्रकार कि चावल में पाक से पक्वता नाम की एक अवस्था उत्पन्न होती है । (उ.) इस कथन में भी कुछ विशेष सार नहीं हैं; क्योंकि पाक से चावल में जिस प्रकार ओदनावस्था रूप पक्वता का अनुभव होता है, वैसे ही अर्थ में ज्ञातता का कोई अनुभव नहीं होता । (विषयों के ज्ञान के बाद जो) उसमें अपरोक्षरूपता, त्याग या ग्रहण करने की जो योग्यता भासित होती है, वह भी ज्ञान सम्बन्ध को छोड़कर और कुछ नहीं है । एवं इस पक्ष में अनवस्था दोष भी है; क्योंकि जिस प्रकार ज्ञात होने पर अर्थों में ज्ञातता मानते हैं, उसी प्रकार ज्ञातता के ज्ञात होने पर उसमें भी कोई दूसरी ज्ञातता माननी पड़ेगी । जिसका पर्यवसान अनवस्था में होगा । अगर ज्ञातता को स्वप्रकाश मान लें तो फिर ज्ञान को ही स्वप्रकाश मान लेने में क्यों द्वेष है ?

कोई कहते हैं कि (प्र.) तीनों कालों में से वर्त्तमानकाल ही ऐसा है जिससे युक्त अर्थ का प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् वर्त्तमानकालिक वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष होता है । अतः वस्तुओं की जो वर्त्तमानावस्था, भूतावस्था और भविष्यदवस्था है, इनमें से वस्तुओं के प्रत्यक्षमूलक होने के कारण केवल वर्त्तमानावस्था ही उसकी ज्ञातता है । यह ज्ञातता ही ज्ञानानुमिति का हेतु है । (उ.) किन्तु इस कथन में भी कुछ सार नहीं है; क्योंकि वस्तुओं का वर्त्तमानकाल के साथ सम्बन्ध (या उसमें रहना) ही उनकी

न्यायकन्दली

हि वर्त्तमानकालविशिष्टता सा चार्थस्य स्वाभाविकी, न ज्ञानेन क्रियते किन्तु प्रतीयते ।

योऽपि हि विषयसंवेदनानुमेयं ज्ञानमिच्छति, सोऽप्येवं पर्यनुयोज्यः—किं विषयसंवेदनमात्मनि समवैति ? विषये वा ? न तावद्विषये, तच्चैतन्यप्रतिषेधात् । अथात्मनि समवैति ? ततः किमन्यद्विज्ञानं यदस्यानुमेयम् । अस्य कारणं ज्ञातृव्यापारलक्षणं तदिति चेत् ? तत्किं नित्यम् ? अनित्यं वा ? यद्यनित्यं तदुत्पत्तावपि कारणं वाच्यम् । विषयेन्द्रियादिसहकारी ज्ञानमनःसंयोगोऽस्य कारणमिति चेत् ? सैव सामग्री विषयसंवेदनोत्पत्तावस्तु किमन्तर्गडुनानेन ? अथ तन्नित्यम् ? कादाचित्कविषयेन्द्रियसन्निकर्षादिसहकारि कादाचित्कं विषयसंवेदनं करोतीत्यभ्युपगमः, तदस्याप्यागन्तुककारणकलापादेव विषयसंवेदनोत्पत्तिसिद्धौ तत्कल्पनावैयर्थ्यम् ? विषयसंवेदनादेवार्थावबोधस्य तत्पूर्वकस्य व्यवहारस्य च सिद्धेः ।

वर्त्तमानकालावच्छिन्नता है । यह उनका स्वाभाविक धर्म है, यह धर्म ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, ज्ञान के द्वारा प्रतीत भर होता है ।

जो कोई विषयसंवेदन ज्ञान का अनुमान मानते हैं, उन्हें इस प्रकार पराजित करना चाहिए कि यह 'विषयसंवेदन' समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है? या विषयों में ? विषयों में तो रह नहीं सकता; क्योंकि विषयों में चैतन्य का खण्डन कर चुके हैं (देखिए–आत्मनिरूपण, पृ. १७१) । अगर यह समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है तो फिर ज्ञान उससे भिन्न कौन-सी वस्तु है ? जिसका विषयसंवेदन से अनुमान होता है । (प्र.) अनुमेयज्ञान एवं विषयसंवेदन ये दोनों भिन्न हैं; क्योंकि (अनुमेय) ज्ञान विषयसंवेदन का कारण और ज्ञाता का व्यापार है । (उ.) विषयसंवेदन का कारणीभूत ज्ञान नित्य है ? अथवा अनित्य ? अगर अनित्य है तो फिर उसकी उत्पत्ति के लिए भी अलग से कारण कहना पड़ेगा । विषय एवं इन्द्रियादि सहकारियों से युक्त ज्ञाता के मनःसंयोग को अगर उसका कारण मानें, तो फिर इन्हीं कारणों के समूह से विषयसंवेदन की भी उपपत्ति मानिये । विषयसंवेदन के उत्पादक कारणों की पंक्ति में उस ज्ञान को बिठाने की क्या आवश्यकता है ? अगर उस अनुमेय ज्ञान को नित्य मानते हैं और विषय एवं इन्द्रियादि सहकारियों के रहने और नहीं रहने से विषयसंवेदन के कादाचित्कत्व (कभी होना कभी नहीं) का निर्वाह करते हैं, तो फिर विषयसंवेदन के कादाचित्कत्व के प्रयोजक इन्द्रियादि रूप कारणों से ही विषयसंवेदन की उत्पत्ति मान लीजिए । इस तरह के ज्ञान की कल्पना ही व्यर्थ है जो विषयसंवेदन से अनुमेय हो

न्यायकन्दली

अथोच्यते **विषयेन्द्रियादिजन्यं विज्ञानं कथमात्मन्येव समवैति ? यद्यात्मा सहज-ज्ञानमयो न स्यात् । तस्याचेतनत्वे हि कारणत्वाविशेषादिन्द्रियादिष्वपि ज्ञानसमवायो भवेदिति । तत्र स्वभावनियमादेव नियमोपपत्तेः । यथा तन्तूनामपटत्वेऽपि तन्तुत्व-जातिनियमात्तेषु समवायो न तुर्यादिषु, तद्वदचिदात्मकेऽप्यात्मन्यात्मत्वजातिनियमाद् ज्ञान-समवायस्य नियमो भविष्यति ।**

एतेनैतदपि प्रत्युक्तं यदाहुरेके 'स्वसंवेदनमात्मनो निजं चैतन्यम्' इति संसारावस्थायामपि तस्यावभासप्रसङ्गात् । अविद्यया वा तस्य तिरोधानमिति चेत् ? किं ब्रह्मणोऽप्यविद्या ? कथं च नित्ये स्वप्रकाशे तिरोधानवाचोयुक्तिः ? न च तिरोहिते तस्मिन्नन्यप्रतिभानमस्ति, 'तस्य भासा

एवं विषयसंवेदन का कारण हो; क्योंकि उसी विषयसंवेदन से अर्थविषयक बोध एवं तज्जनित व्यवहार दोनों की उपपत्ति हो जायगी ।

अगर यह कहें कि (प्र.) विषय एवं इन्द्रियादि से उत्पन्न ज्ञान तब तक आत्मा में समवाय सम्बन्ध से कैसे रह सकता है, जब तक कि आत्मा को सहजज्ञानमय न माना जाय । आत्मा अगर स्वतः अचेतन हो किन्तु ज्ञान का कारण होने से ही (उसमें) ज्ञान की सत्ता हो तो फिर इन्द्रियादि (रूप ज्ञान के और कारणों) में भी ज्ञान का समवाय मानना पड़ेगा । (उ.) उक्त कथन भी असङ्गत ही है; क्योंकि स्वाभाविक नियम के अनुसार ही इस विषय का अवधारण हो जायगा कि ज्ञान अपने आत्मा रूप कारण में ही समवाय सम्बन्ध से है, इन्द्रियादि रूप कारणों में नहीं । जैसे कि तन्तु में पटरूपता न रहने पर भी (पट के कारणीभूत) तन्तु में ही समवाय सम्बन्ध से पट रहता है, तुरी, वेमा प्रभृति अपने अन्य कारणों में नहीं । इस नियम को मान लेने से ही आत्मा में ही ज्ञान का समवाय है, इस नियम की भी उपपत्ति हो जायगी ।

इसी से किसी का यह मत भी खण्डित हो जाता है कि (प्र.) स्वसंवेदन (स्वतःप्रकाश) ज्ञान आत्मा का स्वकीय चैतन्य ही है (वह ज्ञान अगर स्वतः प्रकाश और नित्य है तो फिर) संसारावस्था में भी उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए । अगर यह कहें कि (प्र.) संसारावस्था में वह अविद्या से ढँका रहता है ? (उ) तो फिर इस विषय में यह पूछना है कि क्या ब्रह्म में भी अविद्या रहती है ? एवं नित्य एवं स्वप्रकाश रूप ज्ञान के तिरोधान में ही क्या युक्ति है ? एवं उसके तिरोहित हो जाने पर (संसारावस्था में) और विषयों का ज्ञान भी असम्भव होगा; क्योंकि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतियों में कहा

प्रशस्तपादभाष्यम्

गुरुत्वधर्माधर्मभावना ह्यतीन्द्रियाः ।

अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगाः कारणगुणपूर्वकाः ।

गुरुत्व धर्म, अधर्म और भावना ये चार गुण किसी भी इन्द्रिय से गृहीत नहीं होते (अर्थात् अतीन्द्रिय हैं) ।

अपाकज रूप, अपाकज रस, अपाकज गन्ध, अपाकज स्पर्श, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये ग्यारह गुण 'कारणगुणपूर्वक' हैं, अर्थात् अपने आश्रयीभूत द्रव्य के अवयवों में रहनेवाले अपने-अपने समानजातीय गुण से उत्पन्न होते हैं ।

न्यायकन्दली

सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः । भासते चेत् ? सर्वमुक्तिः, विद्याविर्भावे सत्यविद्याविलयात् । अथेयं न विलीयते ? न तर्हि विद्याप्रकाशस्तस्याविलयहेतुरित्यनिर्मोक्षः । निर्भागस्यैकदेशेन प्रतिभानमनाशङ्कनीयम् ।

गुरुत्वधर्माधर्म**भावना अतीन्द्रियाः, न केनचिदिन्द्रियेण गृह्यन्त इत्यर्थः ।**

अपाकजरूपादयो वेगान्ताः **कारणगुणपूर्वकाः स्वाश्रयस्य यत्समवायिकारणं तस्य ये गुणास्तत्पूर्वका रूपादयः, तन्तुरूपादिपूर्वकाः पटरूपादयः,**

गया है कि उसी के प्रकाश से और सभी प्रकाशित होते हैं । अगर संसारावस्था में भी आत्मा का वह सहज चैतन्य प्रकाशित होता है तो फिर सभी जीवों को मुक्ति मिल जायगी; क्योंकि विद्या रूप तत्त्वज्ञान से अविद्या का विनाश हो जाता है । अगर विद्या के प्रकाशित होने पर भी अविद्या का विनाश नहीं होता है तो फिर विद्या (तत्त्वज्ञान) अविद्या के विनाश का कारण ही नहीं है । तब फिर किसी को भी मोक्ष का मिलना असम्भव हो जायगा । अंशों से शून्य किसी अखण्ड वस्तु के किसी अंश के प्रकाशित होने एवं किसी अंश के अप्रकाशित होने की तो शङ्का ही नहीं करनी चाहिए ।

गुरुत्व, धर्म, अधर्म और भावना ये चार गुण 'अतीन्द्रिय' हैं, अर्थात् किसी भी इन्द्रिय से इनका ग्रहण नहीं होता ।

अपाकज रूप से लेकर वेगपर्यन्त कथित ग्यारह गुण 'कारणगुणपूर्वक' हैं । अर्थात् उक्त रूपादि गुण अपने आश्रय (द्रव्य) के समवायिकारण (अवयव) में रहनेवाले गुणों से उत्पन्न होते हैं । पट प्रभृति द्रव्यों में रहनेवाले रूपादि की उत्पत्ति तन्तु आदि में रहनेवाले रूपादि गुणों से ही होती है; क्योंकि जिस तरह के रूपादि तन्तुओं में देखे जाते हैं, उसी प्रकार के रूपादि पट में देखे जाते हैं । अगर ऐसी बात न हो तो फिर

न्यायकन्दली

नियमेन तद्धर्मानुविधानात् । अतत्पूर्वकत्वे हि पटे यत्किञ्चिद् गुणान्तरं स्यान्नियमहेतोरभावात् ।

एतेनैकमेव सर्वत्र शुक्लं रूपं प्रत्यभिज्ञानादिति प्रत्युक्तम् । तरतमादिभावानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च । तस्मात्सामान्यविषया प्रत्यभिज्ञा ।

पार्थिवपरमाणुरूपादयः पाकाद्वह्निसंयोगाज्जायन्ते न तु परमाणुसमवायिकारणाश्रितरूपादिपूर्वकाः, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमपाकजग्रहणम् । सिद्धायामुत्पत्तौ कारणगुणपूर्वकत्वमकारणगुणपूर्वकत्वं चेति निरूपणीयम् । जलादिपरमाणु-

पट में ऐसे भी गुणों की उत्पत्ति हो जो जन्तुओं में न देखे जाते हों; क्योंकि 'अवयव के गुणों से ही अवयवी के गुण उत्पन्न होते हैं' इस नियम में कोई (अन्य) प्रमाण नहीं है । अगर यह नियम न हो तो फिर पट में तन्तुओं में न रहनेवाले किसी गुण की उत्पत्ति होने में भी कोई बाधा नहीं है; क्योंकि 'पट में इतने ही गुण उत्पन्न हों, इस विषय में (उक्त नियम को छोड़ कोई अन्य) कारण नहीं है ।

कथित युक्ति से ही किसी आचार्य का निम्नलिखित यह मत भी खण्डित हो जाता है कि (प्र.) शुक्ल रूप से युक्त जितने भी द्रव्य दीख पड़ते हैं, उन सभी द्रव्यों में एक ही शुक्ल रूप है; क्योंकि (जिस शुक्ल रूप को मैंने घट में देखा था, उसी को पट में भी देख रहा हूँ यह) प्रत्यभिज्ञा होती है । (उ.) ('अवयवगत गुण ही अवयवी में गुण को उत्पन्न करते हैं' इस नियम की अनुपपत्ति रूप दोष के अतिरिक्त इस पक्ष में) यह दोष भी है कि अगर शुक्ल रूप से युक्त सभी द्रव्यों में एक ही शुक्ल रूप हो तो फिर उनमें इस न्यूनाधिकभाव की प्रतीति नहीं होगी कि 'यह इससे अधिक शुक्ल है' या 'यह इससे कम शुक्ल है', अतः कथित प्रत्यभिज्ञा केवल सादृश्य के कारण होती है (दोनों द्रव्यों में प्रतीत होने वाले शुक्ल रूपों के एकत्व से नहीं) ।

पार्थिव परमाणु के रूपरसादि पाक से ही उत्पन्न होते हैं, अपने आश्रय के समवायिकारणों में रहनेवाले रूपरसादि से नहीं; क्योंकि उन रूपादि के आश्रयीभूत परमाणुवों का कोई समवायिकारण ही नहीं है । पार्थिव परमाणुवों के पाकजरूपादि में 'कारणगुणपूर्वकत्व' रूप साधर्म्य अव्याप्त न हो जाय, अतः (प्रकृत साधर्म्य के लक्ष्यबोधक वाक्य में) 'अपाकज' पद दिया है । उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर फिर उस उत्पन्न वस्तु में ही जिज्ञासा होती है कि उसकी उत्पत्ति कारण के गुणों से होती है या और किसी से ? जलादि के परमाणुवों के रूपादि की तो उत्पत्ति ही नहीं होती (क्योंकि वे नित्य हैं), अतः उनमें कारणगुणपूर्वकत्व साधर्म्य के न होने से भी व्यभिचार दोष नहीं है । इन गुणों को 'कारणगुणपूर्वक' कहने का अभिप्राय केवल इनके स्वरूपों का कथन मात्र है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अकारणगुणपूर्वकाः ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दतूलपरिमाणोत्तरसंयोगनैमित्तिकद्रवत्वपरत्वापरत्वपाकजाः संयोगजाः ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये दश गुण 'अकारणगुणपूर्वक' हैं (अर्थात् ये अपने आश्रयों के अवयवों में रहनेवाले अपने समानजातीय गुण से नहीं उत्पन्न होते) ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, रूई प्रभृति के परिमाण, उत्तरदेश के साथ संयोग, नैमित्तिक द्रवत्व ये तेरह गुण संयोग से उत्पन्न होते हैं ।

न्यायकन्दली

रूपादीनां चोत्पत्तिरेव नास्तीति न व्यभिचारः । एषां कारणगुणपूर्वकत्वाभिधानं स्वरूपकथनं न त्ववधारणार्थम्, नैमित्तिकद्रवत्ववेगयोरकारणगुणपूर्वकत्वस्यापि सम्भवात् । कारणगुणपूर्वकत्वमनयोर्वेगवदारब्धजलावयविसमवेतयोर्द्रष्टव्यम् ।

बुद्ध्यादयः शब्दान्ता **अकारणगुणपूर्वकाः स्वाश्रयस्य यत्समवायिकारणं तद्गुणपूर्वका न भवन्ति, नित्यगुणत्वात् ।**

बुद्ध्यादयः संयोगजाः । **बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावना आत्ममनःसंयोगजाः । शब्दो भेर्याकाशसंयोगजः । तूलपरिमाणं प्रचयाख्यसंयोगजम् ।**

इस नियम का यह अभिप्राय नहीं है कि ये सभी गुण कारणगुणपूर्वक ही होते हैं ; क्योंकि नैमित्तिक द्रवत्व और वेग अकारणगुणपूर्वक भी होते हैं । वेग एवं द्रवत्व से युक्त अवयवों के द्वारा उत्पन्न जल रूप अवयवी के वेग और द्रवत्व में कथित कारणगुणपूर्वकत्व समझना चाहिए ।

बुद्धि से लेकर शब्दपर्यन्त कथित ये नौ गुण 'अकारणगुणपूर्वक' हैं, अर्थात् अपने आश्रयरूप द्रव्य के समवायिकारण में रहनेवाले गुण से नहीं उत्पन्न होते; क्योंकि इनके आश्रय नित्य हैं । इन गुणों के समवायिकारणों का कोई कारण ही नहीं है ।

'बुद्धि प्रभृति कथित गुण संयोग से उत्पन्न होते हैं', इनमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना, ये नौ गुण आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं । शब्द की उत्पत्ति भेरी (नगाड़ा) और आकाश के संयोग से होती है । 'प्रचय' नाम के संयोग से रूई के परिमाण की उत्पत्ति होती है । संयोगज

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगविभागवेगाः कर्मजाः ।
शब्दोत्तरविभागौ विभागजौ ।
परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादयो बुद्ध्यपेक्षाः ।

संयोग, विभाग और वेग ये तीन गुण क्रिया से उत्पन्न होते हैं !

शब्द और उत्तर (विभागज) विभाग ये दोनों विभाग से उत्पन्न होते हैं ।

परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्व प्रभृति बुद्धिसापेक्ष हैं ।

न्यायकन्दली

उत्तरसंयोगः संयोगजः संयोगोऽभिमतः । नैमित्तिकद्रवत्वं वह्निसंयोगजम् । परत्वापरत्वे दिक्कालपिण्डसंयोगजे । पार्थिवपरमाणुरूपरसगन्धस्पर्शा वह्निसंयोगजा इति विवेकः ।

संयोगविभागवेगाः कर्मजाः । **आद्यौ संयोगविभागौ कर्मजौ ।**

शब्दोत्तरविभागौ विभागजौ । **आद्यः शब्दो विभागादपि जायते, उत्तरो विभागो विभागादेव जायत इति विवेकः ।**

परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादयो बुद्ध्यपेक्षाः । **एषामुत्पत्तौ निमित्तकारणं बुद्धिः । आदिशब्दात् त्रित्वत्रिपृथक्त्वादिपरिग्रहः ।**

संयोग ही यहाँ 'उत्तरसंयोग' शब्द से इष्ट है । वह्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । द्रव्यों के साथ दिशा एवं काल के संयोग से परत्व एवं अपरत्व की उत्पत्ति होती है । पार्थिव परमाणुवों के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये सभी (विशेष प्रकार के) वह्निसंयोग रूप पाक से उत्पन्न होते हैं (अतः संयोगज होते हुए भी अपाकज नहीं हैं) ।

संयोग, विभाग और वेग ये तीनों क्रिया से उत्पन्न होते हैं । पहला संयोग और पहला विभाग ये दोनों ही क्रिया से उत्पन्न होते हैं (द्वितीय संयोग की उत्पत्ति संयोग से एवं द्वितीय विभाग की उत्पत्ति विभाग से ही होती है) ।

शब्द और उत्तर विभाग दोनों ही विभाग से उत्पन्न होते हैं । यह ध्यान रखना चाहिए कि (इनमें) प्रथम शब्द विभाग से भी उत्पन्न होता है, किन्तु उत्तर विभाग केवल विभाग से ही उत्पन्न होता है ।

परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्वादि 'बुद्धिसापेक्ष' हैं, अर्थात् इन सबों की उत्पत्ति में बुद्धि निमित्तकारण है । 'आदि' पद से त्रित्व एवं त्रिपृथक्त्व प्रभृति को समझना चाहिए ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शशब्दपरिमाणैकत्वैकपृथक्त्वस्नेहाः समानजात्यारम्भकाः ।

सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चासमानजात्यारम्भकाः ।

रूप, रस, गन्ध, उष्ण से भिन्न सभी स्पर्श, शब्द, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व और स्नेह ये नौ गुण अपने-अपने समानजातीय गुणों के ही उत्पादक हैं ।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये पाँच गुण अपने से भिन्नजातीय वस्तुओं के उत्पादक हैं ।

न्यायकन्दली

रूपादयः स्नेहान्ताः समानजात्यारम्भकाः । **कारणरूपात् कार्यरूपं रसाद्रसो गन्धाद् गन्धः, स्पर्शात् स्पर्शः, स्नेहात् स्नेहो महत्त्वान्महत्त्वमित्यादि योज्यम् । शब्दस्तु स्वाश्रय एव शब्दान्तरारम्भकः । अत्र कारणत्वमात्रं विवक्षितम्, न त्वसमवायिकारणत्वम्, अन्यथा विजातीयानां पाकजानां निमित्तकारणस्योष्णस्पर्शव्यवच्छेदोऽसङ्गतार्थः स्यात् । नन्वेवं तर्हि कथं रूपादीनां ज्ञानकारणत्वम् ? न, तद्व्यतिरेकेण समानजातीयारम्भकत्वस्याभिप्रेतत्वात् ।**

सुखादयोऽसमानजात्यारम्भकाः । **सुखमिच्छायाः कारणं दुःखं द्वेषस्य इच्छाद्वेषौ प्रयत्नस्य सोऽपि कर्मणः । पुत्रसुखं पितरि सुखं जनयति,**

रूप से लेकर स्नेहपर्यन्त नौ गुण समानजातीय गुणों के उत्पादक हैं । कारणों में रहनेवाले रूप से कार्य में रूप की उत्पत्ति होती है । कारण में रहनेवाले रस से कार्य में रस की उत्पत्ति होती है । कारणों में रहनेवाले गन्ध से कार्य में गन्ध की उत्पत्ति होती है । कारणों में रहनेवाले स्पर्श से कार्य में स्पर्श की उत्पत्ति होती है । कारणों में रहनेवाले स्नेह से कार्य में स्नेह की उत्पत्ति होती है । कारणों में रहनेवाले महत्परिमाण से कार्य में महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार के वाक्यों की कल्पना करनी चाहिए । शब्द अपने आश्रय में ही दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है । यहाँ 'आरम्भकत्व' शब्द से सामान्यतः कारणत्व ही विवक्षित है, (प्रकरणप्राप्त) असमवायिकारणत्व नहीं; क्योंकि ऐसा न मानने पर उष्ण स्पर्श को प्रकृत लक्ष्यबोधक वाक्य में छोड़ देना असङ्गत होगा, चूँकि उष्ण स्पर्श भी अपने विजातीय पाकजरूपादि गुणों का निमित्तकारण तो है ही । (उष्ण स्पर्श भी अपने सजातीय उष्ण स्पर्श का असमवायिकरण है) । (प्र.) फिर रूपादि अपने ज्ञान के प्रति कैसे कारण होते हैं ? (उ.) प्रकृत में समानजातीय गुणों में ज्ञान से भिन्न गुणों की ही गणना करनी चाहिए । अतः ज्ञान से भिन्न अपने सजातीय गुणों की उत्पादकता ही प्रकृत में विवक्षित है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगविभागसङ्ख्यागुरुत्वद्रवत्वोष्णस्पर्शज्ञानधर्माधर्मसंस्काराः समानासमान-जात्यारम्भकाः ।

संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्ण स्पर्श, ज्ञान, धर्म, अधर्म और संस्कार ये दश गुण अपने समानजातीय एवं असमानजातीय दोनों तरह की वस्तुओं के उत्पादक हैं ।

न्यायकन्दली

अन्यथा तस्य प्रमोदानुपपत्तिरिति चेत् ? तदसारम्, पुत्रस्य हि मुखप्रसादादिना सुखोत्पत्तिमनुमीय पश्चात् पितरि सुखं जायते। तत्रास्य पुत्रस्य सुखं न कारणम्, तस्यैतावन्तं कालमनवस्थानात् । किन्तु लैङ्गिकी तद्विषया प्रतीतिः कारणमिति प्रक्रिया ।

संयोगादयः संस्कारान्ताः समानासमानजात्यारम्भकाः । **संयोगात् समान-जातीय उत्तरसंयोगो विजातीयं द्वितूलके महत्परिमाणम्, विभागाद्विभागः शब्दश्च, कारणगतैकत्वसङ्ख्यातः कार्यवर्त्तिन्येकत्वसङ्ख्या, द्वित्वबहुत्वसङ्ख्याभ्यां**

सुखादि अपने असमानजातीय वस्तुओं के उत्पादक हैं । (जैसे कि) सुख इच्छा का, दुःख द्वेष का, इच्छा और द्वेष ये दोनों ही प्रयत्न के एवं प्रयत्न भी क्रिया का उत्पादक है । (प्र.) पुत्र का सुख तो पिता में (अपने सजातीय) सुख को उत्पन्न करता है । अगर ऐसा न हो तो फिर सुखी पुत्र को देखकर पिता का प्रफुल्लित होना युक्त नहीं होगा । (उ.) इस आक्षेप में कुछ विशेष सार नहीं है । यहाँ (पुत्र के सुख से पिता में सुख की उत्पत्ति) की यह रीति है कि पुत्र के प्रफुल्लमुख से पिता को उसमें सुख का अनुमान होता है । इस अनुमान से पिता में दूसरे सुख की उत्पत्ति होती है । पिता के इस सुख में पुत्र का सुख (स्वयं) कारण नहीं है; क्योंकि वह पिता में सुख की उत्पत्ति के अव्यवहितपूर्व क्षण तक (क्षणिक होने के कारण) ठहर नहीं सकता । अतः मुखप्रफुल्लतादि हेतुओं से उत्पन्न पुत्रगत सुखविषयक अनुमिति रूप प्रतीति ही पिता के प्रकृत सुख का कारण है ।

संयोग से लेकर संस्कारपर्यन्त कथित ये नौ गुण अपने समानजातीय एवं असमान-जातीय दोनों प्रकार की वस्तुओं के उत्पादक हैं ।संयोग से उसके सजातीय उत्तरदेश-संयोग (संयोगजसंयोग) की उत्पत्ति होती है, एवं संयोग से ही उसके विजातीय तूल (रूई) के दो अवयवों से उत्पन्न होने वाले एक बड़े तूल के अवयवी के महत्परिमाण की भी उत्पत्ति होती है । विभाग से उसके सजातीय विभागजविभाग की उत्पत्ति होती है एवं विभाग से ही उसके विजातीय शब्द की भी उत्पत्ति होती है, कारण में रहने-वाली एकत्व संख्या से कार्य में उसकी सजातीय एकत्व संख्या की उत्पत्ति होती है एवं द्वित्व-बहुत्वादि संख्याओं से उनके विजातीय अणुत्व एवं महत् परिमाणों की भी

प्रशस्तपादभाष्यम्

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाशब्दाः स्वाश्रयसमवेतारम्भकाः । रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणस्नेहप्रयत्नाः परत्रारम्भकाः ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना और शब्द ये सात गुण अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली वस्तुओं के उत्पादक हैं ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह और प्रयत्न ये सात गुण अपने आश्रय से भिन्न आश्रयों में ही कार्य को उत्पन्न करते हैं ।

न्यायकन्दली

चाणुत्वमहत्त्वे, गुरुत्वाद् गुरुत्वान्तरं पतनं च, द्रवत्वाद् द्रवत्वान्तरं स्यन्दनक्रिया च, उष्णस्पर्शादुष्णस्पर्शः पार्थिवपरमाणुरूपादयश्च, ज्ञानाज्ज्ञानं संस्कारश्च, धर्माद्धर्मः सुखं च, अधर्मादधर्मो दुःखं च, संस्कारात् संस्कारः स्मरणं च ।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाशब्दाः **स्वाश्रयसमवेतारम्भकाः । सुखादयस्तावद्यत्र स्वयं वर्तन्ते तत्रैव कार्यं जनयन्ति । बुद्धिस्तु द्वित्वादिकं परत्रारभमाणाप्यात्मविशेषगुणं जनयन्ती स्वाश्रयसमवेतमेव जनयति, नान्यत्र ।**

रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणस्नेहप्रयत्नाः **परत्रारम्भकाः । अवयवेषु**

उत्पत्ति होती है । (कारणों में रहनेवाले) एक गुरुत्व से (कार्य में रहनेवाले सजातीय) दूसरे गुरुत्व एवं विजातीय पतन इन दोनों की उत्पत्ति होती है । कारणों में रहनेवाले द्रवत्व से कार्य में रहनेवाला उसका सजातीय दूसरा द्रवत्व एवं विजातीय स्यन्दन (प्रसरण) क्रिया, इन दोनों की उत्पत्ति होती है । (कारणों में रहनेवाले) उष्ण स्पर्श से (कार्य में रहने वाले) उष्ण स्पर्शरूप सजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है एवं पार्थिव परमाणुवों के रूपादि स्वरूप विजातीय कार्यों की भी उत्पत्ति होती है । ज्ञान से भी अपने सजातीय ज्ञान और विजातीय संस्कार दोनों की उत्पत्ति होती है । धर्म से भी सजातीय धर्म एवं विजातीय सुख दोनों ही प्रकार के कार्य होते हैं । अधर्म भी अपने सजातीय अधर्म एवं विजातीय दुःख दोनों का उत्पादक है । संस्कार भी अपने सजातीय संस्कार एवं विजातीय स्मृति दोनों का उत्पादक है ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना और शब्द ये सात गुण अपने-अपने आश्रयों में ही समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले पदार्थों के उत्पादक हैं । (इनमें) सुखादि जहाँ स्वयं रहते हैं, वहीं अपने कार्यों को भी उत्पन्न करते हैं; किन्तु बुद्धि अपने आश्रय से भिन्न पदार्थों में भी द्वित्वादि संख्या को उत्पन्न करती है, आत्मा के विशेष गुणों को बुद्धि तो अपने आश्रय में ही समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न करती है और किसी आश्रय में नहीं ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह और प्रयत्न ये सात गुण अपने

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगविभागसङ्ख्यैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्ववेगधर्माधर्मास्तूभयत्रारम्भकाः ।

संयोग, विभाग, संख्या, एकपृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म और अधर्म ये नौ गुण अपने आश्रय एवं अनाश्रय दोनों प्रकार की वस्तुओं में कार्य को उत्पन्न करते हैं ।

न्यायकन्दली

वर्त्तमाना रूपादयो यथासम्भवमवयविनि रूपादिकमारभन्ते, आत्मनि समवेतः प्रयत्नो हस्तादिषु क्रियाहेतुः ।

संयोगादय उभयत्रारम्भकाः । **स्वाश्रये तदन्यत्र चारम्भकाः । तन्तुषु वर्त्तमानः संयोगस्तेष्वेव पटमारभते, विषयेन्द्रियसंयोगश्चात्मनि ज्ञानम् । वंशदलयोर्विभागोऽन्यत्राकाशे शब्दमारभते, वंशदलाकाशविभागश्च स्वाश्रय आकाशे । अवयववर्त्तिन्येकत्वसङ्ख्या अवयविन्येकत्वसङ्ख्यामारभते, स्वाश्रये च द्वित्वादिसङ्ख्याम् । अथावयवेष्वेकपृथक्त्वमवयविन्येकपृथक्त्वं स्वाश्रयेषु त्रिपृथक्त्वादिकमिति । कारणगताश्च गुरुत्वद्रवत्ववेगाः कार्ये तानारभन्ते, स्वाश्रयेषु क्रियाम् । धर्माधर्मावात्मनि सुखदुःखे परत्र चाग्न्यादौ ज्वलनादिक्रियाम् ।**

आश्रय से भिन्न आश्रय में ही कार्य को उत्पन्न करते हैं । अवयवों में रहने वाले रूपादि यथासम्भव अवयवों में ही रूपादि को उत्पन्न करते हैं । प्रयत्न स्वयं समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है; किन्तु हाथ, पैर प्रभृति अङ्गों में क्रिया को उत्पन्न करता है ।

संयोगादि ये नौ गुण दोनों ही प्रकार के आश्रयों में कार्य को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् ये अपने आश्रय और उससे भिन्न आश्रय, दोनों प्रकार के आश्रयों में कार्य के उत्पादक हैं, (जैसे कि) तन्तुओं में रहनेवाला संयोग अपने आश्रयीभूत उन तन्तुओं में ही पटरूप कार्य को उत्पन्न करता है; किन्तु विषय एवं इन्द्रिय का संयोग (अपने आश्रयीभूत इन दोनों से भिन्न) आत्मा में ज्ञान को उत्पन्न करता है । बाँस के दो दलों का विभाग (अपने आश्रयीभूत उन दो वंशदलों से भिन्न) आकाश में शब्दरूप कार्य को उत्पन्न करता है; किन्तु बाँस के ही दल और आकाश का विभाग अपने आश्रयीभूत आकाश में ही शब्दरूप कार्य को उत्पन्न करते हैं । अवयव में रहनेवाली एकत्व संख्या (अपने आश्रय से भिन्न) अवयवी में एकत्व संख्या को उत्पन्न करती है एवं अपने आश्रयरूप अवयव में द्वित्वादि संख्या को भी उत्पन्न करती है । अवयवों में रहनेवाला एकपृथक्त्व अवयवी में एकपृथक्त्व को एवं अपने आश्रय में त्रिपृथक्त्वादि को भी उत्पन्न करता है । इसी प्रकार कारणों में रहनेवाले गुरुत्व, द्रवत्व, वेग और स्नेह आश्रयीभूत उन कारणों के गुरुत्व, द्रवत्व, वेग एवं स्नेहरूप कार्यों को उत्पन्न करते हैं; किन्तु अपने आश्रय

प्रशस्तपादभाष्यम्

गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नधर्माधर्मसंयोगविशेषाः क्रियाहेतवः । रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दानामसमवायिकारणत्वम् ।

गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और विशेष प्रकार के संयोग से सात गुण क्रिया के कारण हैं ।

रूप, रस, गन्ध, अनुष्णाशीत स्पर्श, संख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, स्नेह और शब्द ये नौ गुण असमवायिकारण हैं ।

न्यायकन्दली

गुरुत्वादयः क्रियाहेतवः । **गुरुत्वात्पतनं द्रवत्वात् स्यन्दनं वेगादिषोरुत्तरकर्माणि प्रयत्नाच्छरीरादिक्रिया धर्माधर्माभ्यामग्न्यादिक्रिया । विशिष्यत इति विशेषः, संयोग एव विशेषः संयोगविशेषः, विशिष्टः संयोगो नोदनाभिघातलक्षणः, सोऽपि क्रियाहेतुरिति वक्ष्यते ।**

रूपादयः शब्दान्ता असमवायिकारणम् । **समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यमसमवायिकारणम् । प्रत्यासत्तिश्च समवायिकारणसमवायः समवायिकारणैकार्थसमवायश्च । सुखादीनां समवायिकारणमात्मा, तत्र समवाया-**

में क्रिया को उत्पन्न करते हैं । धर्म और अधर्म अपने आश्रय में (क्रमशः) सुख और दुःख को एवं अपने आश्रय से भिन्न अग्नि प्रभृति में ऊर्ध्वज्वलनादि क्रिया को भी उत्पन्न करते हैं ।

ये गुरुत्वादि सात गुण क्रिया के उत्पादक हैं । इनमें गुरुत्व से पतनरूप क्रिया, द्रवत्व से प्रसरणरूप क्रिया, वेग से तीर प्रभृति की उत्तर क्रियायें, प्रयत्न से शरीर की क्रिया, धर्म और अधर्म से अग्नि प्रभृति में ऊर्ध्वज्वलनादि क्रियायें होती हैं । 'संयोग एव विशेषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार नोदन एवं अभिघातरूप विशेष प्रकार के संयोग ही प्रकृत 'संयोगविशेष' शब्द से इष्ट हैं । आगे कहेंगे कि ये दोनों ही प्रकार के संयोग क्रिया के कारण हैं ।

रूप से लेकर शब्दपर्यन्त कथित ये सात गुण असमवायिकारण हैं । समवायिकारण में 'प्रत्यासन्न' अर्थात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध जिस वस्तु में कार्य करने का सामर्थ्य निश्चित है, वही असमवायिकारण है । कार्यों के साथ अन्वय (अर्थात् कारण के अव्यवहित क्षण में कार्य का अवश्य रहना) एवं व्यतिरेक (अर्थात् जिसके न रहने पर कार्य उत्पन्न ही न हों) यही दोनों कारणों में कार्य के उत्पादन का सामर्थ्य है । 'प्रत्यासन्न' शब्द में प्रयुक्त 'प्रत्यासत्ति' शब्द समवायिकारणानुयोगिक समवाय सम्बन्ध का वाचक है । यह समवायरूप सम्बन्ध प्रकृत में दो प्रकार का है– (१) समवायिकारणानुयोगिक

न्यायकन्दली

दात्ममनःसंयोगस्तेषामसमवायिकारणम् । नन्वेवं तर्हि धर्माधर्मयोरप्यसमवायिकारणत्वं स्यात्, न, तयोः समस्तात्मविशेषगुणोत्पत्तौ सामर्थ्यानवधारणात् । तथा हि—धर्मादधर्म-दुःखयोरनुत्पत्तिः, अधर्माच्च धर्मसुखयोरनुत्पादः । एवं ज्ञानादीनामपि प्रत्येकं व्यभिचारो दर्शनीयः । सर्वत्रावधृतसामर्थ्यस्तु ज्ञातृमनःसंयोग इत्येतावता विशेषेण तस्यैवासमवायि-कारणत्वम् । तथा पटरूपस्य समवायिकारणेन पटेन सहैकस्मिन्नर्थे तन्तौ समवायात् तन्तु-रूपं पटरूपस्यासमवायिकारणम्, न रसादयः, तस्यैव तदुत्पत्तावन्वयव्यतिरेकाभ्यां सामर्थ्याव-धारणात् । एवं रसादिष्वपि योज्यते । उष्णस्पर्शस्य पाकजारम्भे निमित्तकारणत्वमप्यस्ति, तदर्थमनुष्णस्य ग्रहणम् । रूपरसगन्धानुष्णस्पर्शपरिमाणस्नेहानां समवायिकरणैकार्थसमवायादसमवायिकारणत्वम्, कारणवर्तिनामेषां कार्यसजातीयारम्भकत्वात् । शब्दस्य

समवाय एवं (२) समवायिकारण जिस वस्तु में समवेत हो तदनुयोगिक समवाय । (प्रथम प्रकार के सम्बन्ध के अनुसार) आत्मा और मन का संयोग सुखादि का असम-वायिकारण है; क्योंकि सुख के समवायिकारण आत्मा में आत्मा और मन का संयोग समवाय सम्बन्ध से है । (प्र.) इस प्रकार तो धर्म और अधर्म भी असमवायिकारण होंगे । (उ.) नहीं; क्योंकि उन दोनों में आत्मा के किसी भी विशेष गुण को उत्पन्न करने का सामर्थ्य (अन्वय और व्यतिरेक से) निश्चित नहीं है । इसी रीति से धर्म के द्वारा अधर्म और दुःख की उत्पत्ति और अधर्म से सुख तथा धर्म की उत्पत्ति का निराकरण होता है । इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानादि सभी विशेष गुणों में व्यभिचार दिखाना चाहिए । आत्मा के सभी गुणों में से केवल आत्मा और मन का संयोग ही ऐसा गुण है, जिसमें आत्मा के सभी विशेष गुणों के उत्पादन का सामर्थ्य (अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक) निर्णीत है, इसी वैशिष्ट्य के कारण आत्मा के गुणों में से केवल आत्मा और मन का संयोग ही आत्मा के सभी विशेष गुणों का असमवायिकारण है । (असमवायिकारण के लक्षण में कथित एक दूसरे सम्बन्ध के अनुसार) तन्तुओं का रूप पट के रूप का असमवायिकारण है; क्योंकि पटगत रूप का समवायिकारण पट है, वह तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है एवं तन्तुओं का रूप भी तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध से है । इस प्रकार तन्तुओं के रूपों में ही पटगत रूप के उत्पादन का सामर्थ्य निश्चित है, रसादि में नहीं, अतः तन्तुओं के रूप ही पटगत रूप के असमवायिकारण हैं, पटगत रसादि नहीं । इसी प्रकार अवयवियों में रहनेवाले रसादि का असमवायिकारणत्व अवयवों में रहनेवाले रसादि में ही समझना चाहिए । उष्ण स्पर्श पाकज रूपादि का निमित्तकारण भी है, अतः (लक्ष्यबोधक वाक्य में) 'अनुष्ण' पद लिखा है । समवायिकारणरूप एक वस्तु में कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण रूप, रस, गन्ध, अनुष्ण स्पर्श, परिमाण और स्नेह ये छः गुण असमवायिकारण होते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनानां निमित्तकारणत्वम् । संयोगविभागोष्णस्पर्शगुरुत्वद्रवत्ववेगानामुभयथा कारणत्वम् ।

बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना ये सभी निमित्तकारण (ही) होते हैं ।

संयोग, विभाग, उष्ण स्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग ये छः गुण असमवायिकारण भी हैं और निमित्तकारण भी ।

न्यायकन्दली

समवायिकारणसमवायादसमवायिकारणता, आकाशाश्रितेनाकाश एव शब्दान्तरारम्भात् । सङ्ख्यापृथक्त्वयोरुभयथा कारणत्वम्, कारणवर्तिनोस्तयोः कार्ये यथासङ्ख्यमेकत्वैकपृथक्त्वारम्भकत्वात्, स्वाश्रये द्वित्वद्विपृथक्त्वजनकत्वात् ।

बुद्ध्यादीनां निमित्तकारणत्वम् । **तेषां निमित्तकारणत्वमेवेत्यर्थः ।**

संयोगविभागोष्णस्पर्शगुरुत्वद्रवत्ववेगानामुभयथा कारणत्वम् । **असमवायिकारणत्वं निमित्तकारणत्वं चेत्यर्थः । तथा हि—भेरीदण्डसंयोगः शब्दोत्पत्तौ निमित्तं भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणम् । एवं विभागे दलविभागो निमित्तं वंशदलाकाशविभागोऽसमवायिकारणम् । उष्णस्पर्श उष्णस्पर्शस्यासमवायिकारणं पाकजानां निमित्तकारणम्। गुरुत्वं स्वाश्रये पतनस्यासमवायि-**

शब्द अपने कार्य के समवायिकारण (आकाश) में रहने से ही असमवायिकारण है; क्योंकि आकाश में रहने वाले शब्द से आकाश में ही शब्दों की उत्पत्ति होती है । संख्या एवं पृथक्त्व ये दोनों ही प्रकार से असमवायिकारण होते हैं; क्योंकि (कारणगत) ये दोनों कार्यगत एकत्व एवं पृथक्त्व के कारण हैं एवं अपने ही समवायिकारणरूप आश्रय में ही द्वित्व या द्विपृथक्त्व के कारण हैं ।

बुद्धि प्रभृति इन नौ गुणों का निमित्तकारणत्व साधर्म्य है, अर्थात् ये निमित्तकारण ही होते हैं (असमवायिकारण भी नहीं) ।

संयोग, विभाग, उष्ण स्पर्श, गुरुत्व और वेग इन छः गुणों का 'उभयथा कारणत्व' साधर्म्य है, अर्थात् ये सभी गुण असमवायिकारण और निमित्तकारण दोनों ही होते हैं । भेरी और आकाश का संयोग शब्द का असमवायिकारण है एवं भेरी और आकाश का संयोग शब्द का ही निमित्तकारण है एवं विभाग में भी (उभयथा कारणत्व) है; क्योंकि बाँस के दोनों दलों का विभाग शब्द का निमित्तकारण है एवं बाँस के दल और आकाश का विभाग शब्द का ही असमवायिकारण भी है । (कारणगत) उष्ण स्पर्श (कार्यगत) उष्ण स्पर्श का असमवायिकारण है एवं पाकज रूपादि का निमित्त-

प्रशस्तपादभाष्यम्

परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादीनामकारणत्वम् ।
संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तित्वम् ।

परत्व, अपरत्व, द्वित्व और द्विपृथक्त्वादि गुण किसी के भी कारण नहीं हैं ।

संयोग, विभाग, शब्द एवं आत्मा के सभी विशेष गुण ये सभी प्रादेशिक (अव्याप्यवृत्ति) हैं ।

न्यायकन्दली

कारणम् ।नोदनाभिघातः क्रियोत्पत्तौ निमित्तकारणम् । द्रवत्ववेगयोरपि योज्यम् ।

परत्वापरत्वादीनामकारणत्वम् । **नैतान्यसमवायिकारणं नापि निमित्तकारणम्** । द्वित्व-द्विपृथक्त्वादी**नामित्यादिपदेन त्रिपृथक्त्वानां परमाणुपरिमाणपरममहत्परिमाणयोश्च परिग्रहः ।** संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तित्वमिति । **प्रदेश-वृत्तयोऽव्याप्यवृत्तयः स्वाश्रये वर्त्तन्ते, न वर्त्तन्ते चेत्यर्थः । नन्वेतदयुक्तम्, युगपदेक-स्यैकत्र भावाभावविरोधात् । नानुपन्नम्, प्रमाणेन तथाभावप्रतीतेः । तथा हि— हतो वृक्षस्य पुरुषेण सहाग्रे संयोगो मूले च तदभावः प्रतीयते, मूले वृक्षोप-लम्भेऽपि संयोगस्य सर्वैरनुपलम्भात् । न च मूलाग्रयोरेव संयोगतदभावौ, तत्प्रदेशा-**

कारण भी है । गुरुत्व अपने आश्रय की पतन क्रिया का असमवायिकारण है एवं नोदन और अभिघातजनित क्रिया का निमित्तकारण भी है । इसी तरह द्रवत्व और वेग में भी विचार करना चाहिए ।

परत्व एवं अपरत्व प्रभृति चार गुणों का 'अकारणत्व' साधर्म्य है, अर्थात् ये न तो असमवायिकारण हैं और न निमित्तकारण ही (समवायिकारण तो द्रव्य से भिन्न कोई होता ही नहीं है) । 'द्वित्वद्विपृथक्त्वादि' शब्द में प्रयुक्त 'आदि' पद से त्रिपृथक्त्व, परमाणुवों के परिमाण एवं परममहत्परिमाण प्रभृति को समझना चाहिए (अर्थात् ये भी किसी के कारण नहीं होते) ।

संयोग, विभाग, शब्द और आत्मा के सभी विशेष गुण, इन सबों का 'प्रदेशवृत्ति-त्व' साधर्म्य है । 'प्रदेशवृत्ति' शब्द का अर्थ है अव्याप्यवृत्ति, अर्थात् ये अपने आश्रय (के किसी अंश) में रहें भी, एवं अपने आश्रय (के ही दूसरे किसी अंश) में न भी रहें । (प्र.) यह तो ठीक नहीं है; क्योंकि एक ही समय में एक ही आश्रय में एक ही वस्तु रहे भी और न भी रहे; क्योंकि 'रहना' और 'न रहना' दोनों परस्पर विरोधी हैं ? (उ.) इसमें कुछ भी असङ्गति नहीं है कि एक ही आश्रय में भाव और अभाव की उक्त प्रतीति प्रमाण से उत्पन्न होती है । एक ही महावृक्ष के अग्रभाग के साथ पुरुष के संयोग की प्रतीति होती है, उसी वृक्ष के मूल भाग में उसी पुरुष के संयोग के

न्यायकन्दली

वच्छेदेन वृक्ष एव पुरुषस्य भावाभावप्रतीतेः । यदि प्रदेशस्य संयोगो न प्रदेशिनस्तदा प्रदेशस्यापि स्वप्रदेशापेक्षया प्रदेशित्वान्निष्प्रदेशे परमाणुमात्रे संयोगः स्यात् । तद्वृत्तिस्तु संयोगो न प्रत्यक्ष इति संयोगप्रतीत्यभाव एव पर्यवस्यति । यथा च रूपादि-भेदेऽप्येकोऽवयवी न भिद्यते तथा संयोगतदभावाभ्यामपि, उभयत्रापि तदेकत्वस्य प्रत्यक्ष-सिद्धत्वात् । यद्यप्युभयाश्रयः संयोगस्तयोरुपलब्धावुपलभत एव, तथापि तस्य रूपादिवद् गृह्यमाणाखिलावयवावच्छेदेनानुपलम्भादव्यापकत्वम् । एवं शब्दोऽप्याकाशं न व्याप्नोति, तत्रैवास्य देशभेदनोपलम्भानुपलम्भाभ्यां युगपद्भावाभावसम्भवात् । बुद्ध्यादयो ह्यन्तर्बहि-श्चोपलम्भानुपलम्भाभ्यामव्यापकाः। कथं तर्हि धर्माधर्माभ्यामग्न्यादिषु क्रिया, तयोस्त-द्देशेऽभावादिति चेत्, न, तत्रासतोरपि तयोः स्वाश्रयसन्निधिमात्रेण निमित्तत्वात् । यथा वस्त्रस्यैकान्ते चाण्डालस्पर्शोऽपरान्तसंयुक्तस्य त्रैवर्णिकस्य प्रत्यवायहेतुस्तथेदमपि द्रष्टव्यम् ।

अभाव की भी प्रतीति होती है । अगर प्रदेशों (अवयवों) में ही संयोग मानें, प्रदेशी (अवयवी) में संयोग न मानें तो उन प्रदेशों में भी संयोग का मानना सम्भव न होगा; क्योंकि वे प्रदेश भी अपने अवयवों की अपेक्षा अवयवी हैं ही, फलतः अवयवों (प्रदेशों) से शून्य परमाणुवों में ही संयोग मानना पड़ेगा । जिससे संयोग का प्रत्यक्ष ही असम्भव हो जायगा; क्योंकि उसका आश्रय परमाणु अतीन्द्रिय है । अतः (अवयवों में ही संयोग है, अवयवियों में नहीं) इस पक्ष में संयोग का प्रत्यक्ष ही न हो पायेगा । जैसे रूप-रसादि के परस्पर भिन्न होने पर भी उनके आश्रय रूप अवयवी परस्पर भिन्न नहीं होते, उसी प्रकार संयोग और संयोगाभाव के आश्रय दो वस्तुओं के आधार होने के कारण ही परस्पर भिन्न नहीं हैं; क्योंकि इन दोनों के आश्रयों में एकता की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है । यद्यपि संयोग अपने प्रतियोगी एवं अनुयोगी दोनों में ही आश्रित है, क्योंकि उसके प्रत्यक्ष के लिए दोनों का प्रत्यक्ष आवश्यक है, तथापि जिस प्रकार रूपादि की उपलब्धि प्रत्यक्ष होनेवाले अवयवी के सभी अवयवों में होती है, संयोग की उपलब्धि उस प्रकार से सभी अवयवों में नहीं होती । अतः संयोग 'अव्यापक' अर्थात् अव्याप्यवृत्ति है । इसी प्रकार शब्द भी (अपने आश्रय) आकाश के समूचे प्रदेश में नहीं रहता है, अतः एक ही समय आकाश में प्रदेश भेद से शब्द की सत्ता और असत्ता दोनों की ही सम्भावना है । ज्ञानादि गुणों की प्रतीति अन्तर्मुखी होती है, बहिर्मुखी नहीं होती, अतः वे भी अव्यापक अर्थात् प्रादेशिक हैं । (प्र.) तो फिर धर्म और अधर्म से वह्नि प्रभृति में क्रिया कैसे होती है ? क्योंकि वे तो वहाँ नहीं हैं ? (उ) क्रिया के प्रदेश में धर्मादि के न रहने पर भी धर्मादि आत्मा में रहते हैं, आत्मा का क्रिया प्रदेश से सान्निध्य है, इसी परम्परा सम्बन्ध के द्वारा धर्मादि क्रिया के कारण हैं । जिस प्रकार कपड़े के एक छोर में चाण्डाल का स्पर्श उसी कपड़े के दूसरे छोर से संयुक्त त्रैवर्णिकों के प्रत्यवाय का कारण होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

शेषाणामाश्रयव्यापित्वम् ।
अपाकजरूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणैकपृथक्त्वसांसिद्धिकद्रवत्वगुरुत्वस्नेहानां यावद्द्रव्यभावित्वम् ।
शेषाणामयावद्द्रव्यभावित्वञ्चेति ।

अवशिष्ट सभी गुण अपने आश्रय के सभी अंशों में रहते हैं ।

अपाकज रूप, अपाकज रस, अपाकज गन्ध, अपाकज स्पर्श, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, सांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व और स्नेह इन दश गुणों का 'यावद्द्रव्यभावित्व' साधर्म्य है ।

'शेष' अर्थात् कथित अपाकज रूपादि से भिन्न सभी गुणों का 'अयावद्द्रव्यभावित्व' साधर्म्य है ।

न्यायकन्दली

शेषाणामाश्रयव्यापित्वम् । **उक्तेभ्यो येऽन्ये ते शेषाः । तेषामाश्रयव्यापित्वं संयोगादिवदव्यापकं न भवतीत्यर्थः ।**

अपाकजरूपादीनां यावद्द्रव्यभावित्वम् । **यावदाश्रयद्रव्यं तावद्रूपादयो विद्यन्ते । पाकजरूपादयः सत्येवाश्रये नश्यन्तीत्यपाकजग्रहणम् ।**

शेषाणामयावद्द्रव्यभावित्वम् । **अपाकजरूपादिव्यतिरिक्ता गुणा यावद्द्रव्यं न सन्ति, सत्येवाश्रये नश्यन्तीत्यर्थः ।**

शेष सभी गुणों का 'आश्रयव्यापित्व' साधर्म्य है । ऊपर जितने भी गुण कहे गये हैं, उनसे भिन्न सभी गुण यहाँ 'शेष' शब्द से अभिप्रेत हैं । उन सबों का 'आश्रयव्यापित्व' (साधर्म्य है), अर्थात् वे संयोगादि गुणों की तरह अव्याप्यवृत्ति नहीं हैं ।

कथित अपाकज रूपादि गुणों का 'यावद्द्रव्यभावित्व' (साधर्म्य है), अर्थात् जब तक आश्रयरूप द्रव्य रहते हैं, तब तक ये अपाकज रूपादि रहते हैं । इसमें 'अपाकज' पद का उपादान इसलिए किया गया है कि पाकज रूपादि आश्रय के रहते हुए ही नष्ट हो जाते हैं ।

'शेष' गुणों का 'अयावद्द्रव्यभावित्व' साधर्म्य है । अर्थात् उक्त अपाकज रूपादि से भिन्न जितनें भी गुण हैं, वे तब तक नहीं रहते, जब तक उनके आश्रय द्रव्य रहते हैं, किन्तु उनके रहते ही नष्ट हो जाते हैं ।

अब प्रत्येक गुण का असाधारण धर्म कहना है, अतः 'रूपादीनाम्' इत्यादि वाक्य लिखते हैं । 'रूपमादिर्येषाम्' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध 'रूपादि' शब्द से युक्त प्रकृत

प्रशस्तपादभाष्यम्

रूपादीनां सर्वेषां गुणानां प्रत्येकमपरसामान्यसम्बन्धाद्रूपादिसंज्ञा भवन्ति ।

रूपादि सभी गुणों के रूपादि नाम इसलिए हैं कि उनमें (रूपत्वादि) अपर जातियों का सम्बन्ध है ।

न्यायकन्दली

सम्प्रति प्रत्येकं गुणानां परस्परवैधर्म्यप्रतिपादनार्थमाह—रूपादीनामिति । **रूपमादिर्येषां तेषामेकैकं प्रत्यपरजाते रूपत्वादिकायाः सम्बन्धाद्रूपादिसंज्ञा रूपमिति रस इति संज्ञा भवन्ति । रूपत्वाद्यपरसामान्यकृता रूपादिसंज्ञा रूपादीनां प्रत्येकं वैधर्म्यम् । रूपत्वसामान्यं नास्तीति केचित्, तदयुक्तम्, नीलपीतादिभेदेषु रूपं रूपमिति प्रत्ययानुवृत्तेः । चक्षुर्ग्राह्यतोपाधिकृता तदनुवृत्तिरिति चेत्, न, तेषां रूपमित्येवं चक्षुषाऽग्रहणात् । तद्ग्राह्यतानिमित्तत्वे हि ग्रहणादनन्तरं तथा प्रत्ययः स्यात् । चक्षुर्ग्राह्यता तद्ग्रहणयोग्यता, सा च नीलादिषु त्रिकालावस्थायिनीति चेत् ? अस्तु कामम्, किन्त्वेषा यदि प्रतिरूपं व्यावृत्ता, प्रत्ययानुगमो न स्यात्, एकनिमित्ताभावात् । अथानुवृत्ता, संज्ञाभेदमात्रम् । एवं रसादयोऽपि व्याख्याताः ।**

वाक्य का अर्थ है कि रूपादि गुणों में से प्रत्येक में रूपत्वादि स्वरूप अपर जातियों के सम्बन्ध से रूप, रस आदि संज्ञायें होती हैं । रूपादि नाम ही रूपादि गुणों के असाधारण धर्म हैं, जिनकी मूल हैं रूपत्वादि जातियाँ । कोई कहते हैं कि (प्र.) रूपत्व नाम की कोई जाति नहीं है । (उ.) किन्तु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि नीलपीतादि विभिन्न रूपों में 'यह रूप है' इस एक प्रकार की (अनुवृत्ति) प्रतीति होती है । (प्र.) सभी रूप आँख से देखे जाते हैं, इसी से सभी रूपों में एक आकार की प्रतीति होती है । (उ.) नीलपीतादि में 'यह रूप है' इस आकार की प्रतीति आँख से नहीं होती है, अगर चक्षु से गृहीत होने के कारण ही नीलादि में 'यह रूप है' इस प्रकार की प्रतीति हो, तो फिर चक्षु के द्वारा ग्रहण के बाद ही 'यह रूप है' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए । (प्र.) 'चक्षुर्ग्राह्यत्व' (चक्षु से गृहीत होने) का अर्थ है–चक्षु के द्वारा गृहीत होने की स्वरूपयोग्यता, यह तो नीलादि में तीनों कालों में है ही । (उ.) मान लिया कि है; किन्तु यह योग्यता नीलादि प्रत्येक रूप सें अगर अलग-अलग है तो फिर 'सभी रूपों में ये रूप है' इस एक आकार की प्रतीति नहीं होगी; क्योंकि उसका कोई एक कारण नहीं है । अगर चक्षुर्ग्राह्यता सभी रूपों में एक है, तो फिर जाति को मान लेने में कोई विवाद ही नहीं रह जाता है । इसी प्रकार से रसादि की भी व्याख्या हो जाती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयनसहकारि शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्यं

उनमें चक्षु से ही जिसका ग्रहण हो वही 'रूप' है । यह पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में रहता है । द्रव्यादि के प्रत्यक्ष के उत्पादन में आँख का सहारा है । यह शुक्लादि भेद से अनेक प्रकार का है। जलादि के परमाणुवों में यह नित्य है एवं पृथिवी के परमाणु में

न्यायकन्दली

सर्वपदार्थानामभिव्यक्तिनिमित्तत्वादादौ रूपं निरूपयति–तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यमिति । **तेषां गुणानां मध्ये रूपं चक्षुषैव गृह्यते नेन्द्रियान्तरेण । ननु रूपत्वमपि चक्षुषैव गृह्यते कथमिदं वैधर्म्यं रूपस्य ? न, गुणेभ्यो वैधर्म्यस्य विवक्षितत्वात् । तथा च प्रकृतेभ्यो निर्द्धारणार्थं तत्रेत्युक्तम् । सामान्यादस्य वैधर्म्यं तु सामान्यवत्त्वमेव ।** पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति । **पृथिव्युदकज्वलनेष्वेव वर्त्तते ।** द्रव्याद्युपलम्भकम् । **यस्मिन्नाश्रये वर्त्तते तस्य द्रव्यस्य तद्गतानां च गुणकर्मसामान्यानामुपलम्भकम् ।** नयनसहकारि । **स्वगतं रूपं चक्षुषो विषयग्रहणे सहकारि ।** शुक्लाद्यनेकप्रकारम् । **शुक्लादयोऽनेके प्रकारा यस्य तत् तथाविधम् ।** सलिलादिपरमाणुषु नित्यम् । **सलिलपरमाणुषु तेजःपरमाणुषु च**

रूप सभी वस्तुओं के प्रत्यक्ष में किसी न किसी प्रकार से अवश्य ही कारण है, अतः 'तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा गुणों में सबसे पहले रूप का ही निरूपण करते हैं । इन सभी गुणों में रूप चक्षु के ही द्वारा गृहीत होता है और किसी भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं । (प्र.) रूपत्व भी तो केवल चक्षु से ही गृहीत होता है तो फिर 'चक्षुर्मात्रग्राह्यत्व' रूपों का असाधारण धर्म कैसे है ? (उ.) ऐसी बात नहीं है; क्योंकि और गुणों की ही अपेक्षा चक्षुर्ग्राह्यत्व को रूप का असाधारण धर्म कहना यहाँ अभिप्रेत है, सभी पदार्थों की अपेक्षा नहीं । इसी 'निर्द्धारण' को ही समझाने के लिए 'तत्र' शब्द का प्रयोग किया गया है । रूपों में जाति का रहना ही (रूपत्वादि) जातियों से रूप के भिन्न होने का प्रयोजक है (क्योंकि सामान्य में सामान्य नहीं रह सकता) । 'पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति' अर्थात् रूप पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में ही रहता है । 'द्रव्याद्युपलम्भकम्' अर्थात् रूप जिस आश्रय में रहता है उस द्रव्य का एवं उस आश्रय द्रव्य में रहने वाले अन्य गुणों, क्रियाओं और सामान्यों के भी प्रत्यक्ष का प्रयोजक है । 'नयनसहकारि' चक्षुरूप द्रव्य में रहनेवाला रूप चक्षु से होनेवाले सभी प्रत्यक्षों का सहकारिकारण है । 'शुक्लाद्यनेकप्रकारम्' 'शुक्लादयोऽनेके प्रकारा यस्य' इस व्युत्पत्ति के द्वारा जिसके शुक्लादि अनेक प्रकार हों वही 'शुक्लाद्यनेकप्रकार' है (अर्थात् शुक्लादि भेद से रूप अनेक प्रकार के हैं)। 'सलिलादिपरमाणुषु नित्यम्' जल और तेज के

प्रशस्तपादभाष्यम्

पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति ।

अग्नि के संयोग से उसका विनाश होता है । जन्य द्रव्यों में उनके अवयवों में रहनेवाले रूप से यह उत्पन्न होता है एवं आश्रय के विनाश से उसका विनाश होता है ।

न्यायकन्दली

नित्यम् । पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि । **अग्निसंयोगो विनाशकः पार्थिवपरमाणुरूपस्येति च वक्ष्यामः ।** सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकम् । **कार्यद्रव्यगतं रूपं स्वाश्रयसमवायिकारणरूपपूर्वकम् ।** आश्रयविनाशादेव विनश्यति । **कार्यरूपविनाशस्याश्रयविनाश एव हेतुः ।**

आश्रयविनाशाद्रूपस्य विनाश इति न मृष्यामहे सहैव रूपद्रव्ययोर्विनाशप्रतीतेरिति चेत्, न, कारणाभावात् । मुद्गराभिघातात् तावदवयवक्रियाविभागादिक्रमेण द्रव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तौ तदारब्धस्य द्रव्यस्य विनाशः कारणविनाशात्, तद्गतरूपविनाशे तु किं कारणम् ? यदि ह्यकारणस्याप्यवयवसंयोगस्य विनाशाद्रूपविनाशः, कपालरूपाण्यपि ततो विनश्येयु-

परमाणुओं के रूप नित्य हैं । एवं 'पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि' अर्थात् पार्थिव परमाणुवों में रहनेवाले रूपों का अग्नि के संयोग से नाश होता है, यह हम आगे कहेंगे । 'सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकम्' अर्थात् कार्य-द्रव्यों में रहनेवाले सभी रूप अपने आश्रय के समवायिकारणों में रहनेवाले रूपों से ही उत्पन्न होते हैं। 'आश्रयविनाशादेव विनश्यति' अर्थात् उत्पन्न होनेवाले सभी रूपों का नाश अपने आश्रयों के नाश से ही होता है ।

(प्र.) हम यह नहीं मानते कि रूप का नाश आश्रय के नाश से होता है; क्योंकि रूप के नाश एवं उसके आश्रयीभूत द्रव्य के नाश दोनों की प्रतीति साथ ही होती है । (उ.) नहीं; क्योंकि आश्रयीभूत द्रव्य के नाश के साथ उसमें रहनेवाले रूप के नाश का कारण ही (उस समय) नहीं है । मुद्गरादि के आघात से कार्य-द्रव्य के अवयवों में क्रिया, क्रिया से अवयवों का विभाग, इस क्रम के अनुसार द्रव्य के अवयवों के उत्पादक संयोग का विनाश हो जाने पर अवयवी द्रव्य का विनाश होता है; किन्तु तद्गत रूप का विनाश किससे मानेंगे ? आश्रयीभूत द्रव्य के अवयवों का संयोग रूप का कारण नहीं है । अकारणीभूत इस संयोग के नाश को ही अगर रूपनाश का कारण मानें तो फिर उक्त संयोग के नाश से कपालादि अवयवों में रहनेवाले रूप का भी नाश मानना पड़ेगा; क्योंकि अवयवों का संयोग जैसे अवयवी के रूप का कारण नहीं है, वैसे ही कपालादिगत रूप का भी कारण नहीं है । अगर अवयवी में

न्यायकन्दली

रविशेषात् । तस्मात् पूर्वं द्रव्यस्य विनाशस्तदनु रूपस्य, आशुभावात् क्रमस्याग्रहणमिति युक्तमुत्पश्यामः ।

ये तु रूपद्रव्ययोस्तादात्म्यमिच्छन्तो द्रव्यकारणमेव रूपस्य कारणमाहुस्ते इदं प्रष्टव्याः—किं परमाणुरूपं रूपान्तरमारभते न वा ? आरभमाणमपि किं स्वात्मन्यारभते ? किं वा स्वाश्रये परमाणौ ? यदि नारभते ? यदि वा स्वात्मनि स्वाश्रये चारभते ? द्व्यणुके रूपानुत्पत्तौ तत्पूर्वकं जगदरूपं स्यात् । अथ तद् द्व्यणुके आरभते, अविद्यमानस्य स्वाश्रयत्वायोगादुत्पन्ने द्व्यणुके पश्चात्तत्र रूपोत्पत्तिरित्यवश्यमभ्युपेतव्यम्, निराश्रयस्य कार्यस्यानुत्पादात् । तथा सति तादात्म्यं कुतः ? पूर्वापरकालभावात् । किञ्चावस्थित एवं घटे रूपादयो वह्निसंयोगादिनश्यन्ति तथा सति जायन्ते चेति भवतामभ्युपगमः, यस्य चोत्पत्तौ यस्यानुत्पत्ति-

रहनेवाले रूप के प्रति कारण न होते हुए भी अवयवों का संयोग अपने नाश से अवयवी में रहनेवाले रूप का नाश कर सकता है, तो फिर वही संयोग कपालादि अवयवों में रहनेवाले रूप का नाश क्यों नहीं कर सकता ? अतः हम यही युक्त समझते हैं कि पहले द्रव्य का नाश होता है, उसके बाद तद्गत गुण का नाश होता है । द्रव्य एवं तद्गत गुण के नाश का यह क्रम मालूम इसलिए नहीं पड़ता है कि दोनों के मध्य में अत्यन्त थोड़े समय का व्यवधान रहता है ।

किसी सम्प्रदाय का मत है कि (प्र.) द्रव्य एवं गुण दोनों अभिन्न हैं, अतः जो द्रव्य का कारण है, वही गुण का भी कारण है । (उ.) उनसे यह पूछना चाहिए कि परमाणुवों के रूप किसी दूसरे रूप को उत्पन्न करते हैं या नहीं ? अगर उत्पन्न करते हैं तो कहाँ ? अपने में ही ? या अपने आश्रय परमाणु में ? अगर यह मान लें कि परमाणु के रूप किसी भी दूसरे रूप को उत्पन्न नहीं करते हैं या फिर यही मान लें कि परमाणु के रूप अपने आश्रय में एवं अपने में भी रूप को उत्पन्न करते हैं—हर हालत में द्व्यणुक में रूप की उत्पत्ति न हो सकेगी, जिससे समूचे जगत् को ही रूपशून्य मानना पड़ेगा । अगर परमाणुवों के रूप से द्व्यणुक में रूप की उत्पत्ति मानें तो फिर द्व्यणुक में रूप की उत्पत्ति के पहले द्व्यणुक की उत्पत्ति माननी ही होगी । अतः यही कहना पड़ेगा कि द्व्यणुक के उत्पन्न हो जाने पर पीछे उसमें रूपादि की उत्पत्ति होती है; क्योंकि बिना आश्रय के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । अगर यह स्थिति है तो फिर रूप (गुण) और द्रव्य का अभेद कैसा ? क्योंकि द्रव्य पहले उत्पन्न होता है और रूप पीछे । और भी बात है, वह्नि के संयोग से घटगत रूप का नाश घट के रहते ही हो जाता है, अतः यही मानना पड़ेगा कि अग्नि के संयोग से ही उसी घट में दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है । अतः यही रीति माननी होगी कि जिसकी उत्पत्ति से

प्रशस्तपादभाष्यम्

रसो रसनग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिर्जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तं रसनसहकारी मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदभिन्नः ।अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयो रूपवत्।

रसनेन्द्रिय से गृहीत होनेवाला (गुण ही) 'रस' है । वह पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में ही रहता है एवं जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य का कारण है । प्रत्यक्ष के उत्पादन में रसनेन्द्रिय का सहायक है । वह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से छः प्रकार का है । नित्यत्व एवं अनित्यत्व के प्रसङ्ग में इसकी सभी बातें रूप की तरह हैं ।

न्यायकन्दली

यन्निवृत्तौ चानिवृत्तिर्न तयोस्तादात्म्यमिति प्रक्रियेयम् । न चात्यन्तभेदे पृथगुपलम्भ-प्रसङ्गः, सर्वदा रूपस्य द्रव्याश्रितत्वात् । एतदेव कथम् ? वस्तुस्वाभाव्यादिति कृतं गुरुप्रतिकूलवादेन ।

सम्प्रति बाह्यैकेकेन्द्रियग्राह्यस्य प्रत्यक्षद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणस्य निरूपण-प्रसङ्गेन रसगन्धयोर्व्याख्यातव्ययोरुभयद्रव्यवृत्तित्वविशेषेणादौ रूपं व्याख्याय रसं व्याचष्टे–रसो रसनग्राह्य **इति । गुणेषु मध्ये रस एव रसनग्राह्यो रसनग्राह्य एते रसः** । पृथिव्युदकवृत्तिः । **पृथिव्युदकयोरेव वर्त्तते** । जीवनपुष्टिबला-

ही जिसकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो जाती एवं जिसके विनाश से ही जिसका विनाश सिद्ध नहीं हो जाता, वे दोनों अभिन्न नहीं हो सकते । (प्र.) अगर रूप और द्रव्य अत्यन्त भिन्न हैं, तो द्रव्य को छोड़कर भी रूप की प्रतीति होनी चाहिए । (उ.) नहीं; क्योंकि रूप सभी कालों में द्रव्य में ही रहता है । (प्र.) यहीं क्यों होता है ? (उ.) यह तो वस्तुओं का स्वभाव है । गुरुचरणों के विरुद्ध व्यर्थ की बातों को बढ़ाना व्यर्थ है ।

अब एक ही बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होनेवाले एवं प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यों में ही रहने वाले गुणों का निरूपण करना है । इस प्रसङ्ग में रस और गन्ध इन दोनों की व्याख्या समान रूप से प्राप्त हो जाती है; किन्तु इन दोनों में गन्ध एक ही द्रव्य में रहता है और रस दो द्रव्यों में, इस विशेष के कारण रूप के निरूपण के बाद और गन्ध के निरूपण से पहले 'रसो रसनग्राह्यः' इत्यादि से रस का निरूपण करते हैं । गुणों में से केवल रस ही रसनेन्द्रिय से गृहीत होता है, अतः रसनेन्द्रिय से गृहीत होने-वाला गुण ही रस है । 'पृथिव्युदकवृत्तिः' अर्थात् यह पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में रहता है । 'जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तम्' प्राण के धारण को 'जीवन' कहते हैं । शरीर के अवयवों की वृद्धि ही 'पुष्टि' है । विशेष प्रकार के उत्साह को 'बल' कहते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिर्घ्राणसहकारी सुरभिरसुरभिश्च । अस्यापि पूर्ववदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः ।

जिस गुण का प्रत्यक्ष घ्राणेन्द्रिय से हो वही 'गन्ध' है । वह केवल पृथिवी में ही रहता है । (प्रत्यक्ष के उत्पादन में) वह घ्राण का सहायक है । सुरभि एवं असुरभि भेद से वह दो प्रकार का है । इसकी उत्पत्ति और विनाश प्रभृति पहले की तरह जानना चाहिए ।

न्यायकन्दली

रोग्यनिमित्तम् । **जीवनं प्राणधारणम्, पुष्टिरवयवोपचयः, बलमुत्साहविशेषः, आरोग्यं रोगाभावः, एषां रसो निमित्तम् । एतच्च सर्वं वैद्यशास्त्रादवगन्तव्यम् ।** रसनसहकारी । **स्वगतो रसो रसनस्य बाह्यरसोपलम्भे सहकारी ।** मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदभिन्नः । **मधुरादिभेदेन भिन्नः षट्प्रकार इत्यर्थः ।** तस्य च नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयो रूपवत् । **यथा रूपं पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगादुत्पत्तिविनाशवत् सलिलपरमाणुषु नित्यं कार्ये कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशाद्विनश्यति, तथा रसोऽपि ।**

गन्धो घ्राणग्राह्यः । **गन्ध एव घ्राणग्राह्यो घ्राणग्राह्य एव गन्धः । ननु कथमयं नियमः ? स्वभावनियमात् । ईदृशो गन्धस्य स्वभावो यदयमेव घ्राणेनैकेन गृह्यते नान्यः, दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधाभावात् ।** पृथिवीवृत्तिः ।

रोगों का अभाव ही 'आरोग्य' है । रस इन सबों का कारण है । ये सभी बातें आयुर्वेद से जाननी चाहिए । 'रसनसहकारी' अर्थात् रसनेन्द्रिय रूप द्रव्य में रहने वाला रस रसनेन्द्रिय के द्वारा होनेवाले रस के बाह्य प्रत्यक्ष में सहकारी कारण है । 'मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायादिभेदभिन्नः' अर्थात् मधुरादि भेदों से विभक्त होकर वह छः प्रकार का है । रस के नित्यत्व एवं अनित्यत्व की निष्पत्ति रूप की तरह जाननी चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार से रूप पार्थिव परमाणुवों में अग्निसंयोग से उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है एवं (रूप) जलादि परमाणुवों में नित्य है और कार्य द्रव्यों में कारण के गुणों से उत्पन्न होता है, एवं आश्रय के विनाश से नाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार से रस के प्रसङ्ग में भी व्यवस्था समझनी चाहिए ।

'गन्धो घ्राणग्राह्यः' (उक्त गुणों में से) केवल गन्ध का ही ग्रहण घ्राणेन्द्रिय से होता है, अतः घ्राण से जिस गुण का प्रत्यक्ष हो वही 'गन्ध' है । (प्र.) (गन्ध का ही प्रत्यक्ष घ्राण से होता है) यह नियम क्यों ? (उ.) स्वाभाविक नियम के अनुसार गन्ध का ही यह स्वभाव निर्णीत होता है कि गुणों में से केवल वही घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है, कोई और गुण नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा

प्रशस्तपादभाष्यम्

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिस्त्वक्सहकारी रूपानुविधायी शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् त्रिविधः । अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः पूर्ववत् ।

त्वगिन्द्रिय से गृहीत होनेवाला गुण ही 'स्पर्श' है । वह पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है । स्पर्श त्वगिन्द्रिय (से प्रत्यक्ष के उत्पादन में उसका) सहायक है । रूप के आश्रयों में वह अवश्य ही रहता है । वह शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेद से तीन प्रकार का है । इसके नित्यत्व और अनित्यत्व की रीति पहले की तरह जाननी चाहिए ।

न्यायकन्दली

पृथिव्यामेव वर्त्तते नान्यत्र । घ्राणसहकारी । **स्वगतो गन्धो घ्राणस्य सहकारी** । सुरभिरसुरभिश्चेति **भेदः** । अस्यापि पूर्ववदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः । **यथा रसः पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगादुत्पत्तिविनाशवान् कार्ये कारणगुणपूर्वक आश्रयविनाशाद्विनश्यति, तथा गन्धोऽपि । नित्यत्वं पुनरस्य नास्त्येव ।**

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः । **त्वचि स्थितमिन्द्रियं त्वगिन्द्रियम्, तेनैव स्पर्शो गृह्यते नान्येन** । क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः । **एतेष्वेव वृत्तिरेव** । त्वक्सहकारी । **स्पर्शस्त्वगिन्द्रियस्य विषयग्रहणसहकारी** । रूपानुविधायी **रूपमनुविधातुमनुगन्तुं शीलमस्य, यत्र रूपं नियमेन तस्य सद्भावात्** । शीतोष्णा-

सिद्ध विषयों में नियोग या प्रतिषेध नहीं किया जा सकता । 'पृथिवीवृत्तिः' अर्थात् गन्ध पृथिवी में ही रहता है और किसी द्रव्य में नहीं । इसके सुरभि (सुगन्ध) एवं असुरभि (दुर्गन्ध) दो भेद हैं । 'अस्यापि पूर्पवदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः' अर्थात् जिस प्रकार पार्थिव परमाणुवों के रस की उत्पत्ति और विनाश दोनों ही अग्नि के संयोग से होते हैं एवं कार्य द्रव्यों में वे कारणगत गुणों से उत्पन्न होते हैं एवं आश्रय के विनाश से विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार से गन्ध में भी समझना चाहिए । गन्ध नित्य होता ही नहीं ।

त्वचा में रहनेवाली इन्द्रिय ही 'त्वगिन्द्रिय' है । स्पर्श का प्रत्यक्ष इसी से होता है, और किसी इन्द्रिय से नहीं । 'क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः' अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में वह रहता है और अवश्य रहता है । 'त्वक्सहकारी' 'त्वगिन्द्रिय में रहनेवाला स्पर्श) त्वगिन्द्रिय के द्वारा स्पर्श के प्रत्यक्ष में सहायक है । 'रूपानुविधायी' 'रूपमनुविधातुं शीलमस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त वाक्य का यह अभिप्राय है कि स्पर्श रूपानुगमनशील है, अर्थात् जहाँ रूप रहता है, वहाँ स्पर्श भी अवश्य ही रहता है । शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेद से स्पर्श तीन प्रकार का है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

पार्थिवपरमाणुरूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम् । घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु

पार्थिव परमाणुवों के रूपादि की पाक से उत्पत्ति की रीति (कहते हैं) । घटादि कच्चे द्रव्यों के उत्पादक परमाणुवों के साथ अग्नि का (अभिघात या नोदन नाम का) संयोग होता है । उक्त परमाणुवों के साथ

न्यायकन्दली

नुष्णाशीतभेदात् त्रिविधः । **काठिन्यप्रशिथिलादयस्तु संयोगविशेषा न स्पर्शान्तरम्, उभयेन्द्रियग्राह्यत्वात्** । अस्यापि नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः पूर्ववदिति । **व्यवहितस्य रसस्य ग्रहणं न गन्धस्य, तस्य नित्यत्वाभावात्** ।

पार्थिवपरमाणुरूपादीनामुत्पत्तिविनाशनिरूपणार्थमाह—पार्थिवपरमाणुरूपादीनामिति । **यद्यपि परमाणव एव पृथिवी, तथापि ते कार्यरूपपृथिव्यपेक्षया पार्थिवा उच्यन्ते । पृथिव्या इमे कारणं परमाणवः पार्थिवपरमाणवः, तेषां ये रूपादयस्तेषां पाकजानामुत्पत्तेर्विधानं प्रकारः कथ्यते । नन्वेवं सति श्यामादिविनाशनिरूपणं न प्रतिज्ञातं स्यात्, नैवम्, प्रकारशब्देन तस्यावबोधात् । यथा हि रूपादीनां पाकादुत्पत्तिप्रकारः । यत्र पूर्वेषां विनाशादपरेषामुत्पादस्तमेव प्रकारं दर्शयति**—घटादेरामद्रव्यस्येत्यादिना । **आदिशब्देन शरावादयो गृह्यन्ते** ।

कठिनता और कोमलता नाम के कोई अतिरिक्त स्पर्श नहीं हैं, वे विशेष प्रकार के संयोग ही हैं, क्योंकि आँख और त्वचा दोनों इन्द्रियों से इनका प्रत्यक्ष होता है । 'अस्यापि नित्यत्वानित्यत्वनिष्पत्तयः पूर्ववत्' इस वाक्य में 'पूर्व' शब्द से ठीक पहले कहा गया गन्ध अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि गन्ध नित्य है ही नहीं; किन्तु गन्ध से पहले कहे हुए रस का ग्रहण है (जो नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का होता है) ।

'पार्थिवपरमाणुरूपादीनाम्' इत्यादि सन्दर्भ पार्थिव परमाणुवों के रूपादि की उत्पत्ति और विनाश का निरूपण करने के लिए है । पृथिवी के परमाणु यद्यपि स्वयं ही पृथिवी हैं, फिर भी 'पृथिव्या इमे कारणं परमाणवः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कार्यरूप पृथिवी की अपेक्षा ये परमाणु भी 'पार्थिव' कहलाते हैं । पार्थिव परमाणुवों के जो 'रूपादि' अर्थात् पाकजरूपादि उनकी जो उत्पत्ति उसका 'विधान' अर्थात् प्रकार कहते हैं । (प्र.) इस प्रकार की व्याख्या में (कच्चे घटादि के) श्यामादि रूपों का विनाश प्रतिज्ञा के अन्दर नहीं आवेगा? (उ.) (उक्त प्रतिज्ञा वाक्य में) 'प्रकार' शब्द के रहने से (उस प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा) रूपादि के विनाश का भी बोध हो जायगा । अर्थात् पाक से रूपादि की उत्पत्ति के जिस प्रकार में रूपादि के विनाश से दूसरे रूपादि की उत्पत्ति होती है, वही 'प्रकार' 'घटादेरामद्रव्यस्य' इत्यादि से कहते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्माण्युत्पद्यन्ते तेभ्यो विभागा विभागेभ्यः संयोगविनाशाः संयोग-विनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति । तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुष्वसंयोगादौष्ण्यापेच्छ्यामादीनां विनाशः पुनरन्यस्मादग्निसं-योगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजा जायन्ते।

अग्नि के उस नोदन या अभिघात से उनमें क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । उन क्रियाओं से परमाणुवों में विभाग होते हैं । उन विभागों से परमाणुवों के परस्पर के सारे संयोग टूट जाते हैं । संयोग के उन विनाशों से घटादि द्रव्यों का विनाश हो जाता है । उनके विनष्ट हो जाने के बाद परस्पर अलग हुए उन परमाणुवों में उष्णता और अग्नि के संयोग से पाकज रूपादि की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

आमद्रव्यस्येत्यपक्वद्रव्यस्येत्यर्थः । पाकार्थमग्निना सम्बद्धस्य परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते, आमद्रव्यस्य घटादेः संयोगिनोऽप्युदकपरमाणवः सन्ति, तन्निवृत्त्यर्थमाह—तदारम्भकेष्विति । **तस्य घटादेरारम्भकेष्वित्यर्थः । घटाद्यारम्भकाश्च परमाणवः पारम्पर्येण कर्मणां कारणमित्याह**—अग्न्यभिघातान्नोदनाद्वेति । **पार्थिवस्य परमाणोरग्निनाऽभिघातो नोदनं वा संयोगविशेषः, स च कर्माधिकारे वक्ष्यते । तेभ्यो विभागा विभागेभ्यः संयोगविनाशाः संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति, तेभ्यः कर्मभ्यः परमाणूनां विभागा विभागेभ्यो द्व्यणुकलक्षणं कार्यद्रव्यं विनश्यति । तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुष्वग्निसंयोगादग्नि-**

(घटादि पद में प्रयुक्त) 'आदि' शब्द से शराव प्रभृति द्रव्यों को समझना चाहिए । 'आमद्रव्य' का अर्थ है– बिना पका हुआ कच्चा द्रव्य । पाक के लिए अग्नि के साथ सम्बद्ध परमाणुवों में क्रिया उत्पन्न होती हैं; किन्तु घटादि कच्चे द्रव्यों में तो जलादि के परमाणु भी सम्बद्ध हैं; किन्तु उनके परमाणुवों में पाक इष्ट नहीं है, अतः उनको हटाने के लिए 'तदारम्भकेषु' यह वाक्य दिया गया है । 'तस्य' शब्द के 'तत्' शब्द से घटादि द्रव्य अभिप्रेत हैं । उनके आरम्भक अर्थात् उत्पादक पर-माणुवों में । 'अग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा' इत्यादि से यह कहते हैं कि घटादि के उत्पादक परमाणु भी परम्परा से उक्त क्रिया के कारण हैं । पार्थिव परमाणु के साथ अग्नि का नोदन या अभिघात नाम का संयोग (होता है) । इसकी बातें आगे कर्मपदार्थ-निरूपण में कहेंगे । 'तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्य-श्च कार्यद्रव्यं विनश्यति' अर्थात् उन क्रियाओं से परमाणुवों में विभाग उत्पन्न होते हैं, उन विभागों से संयोगों के नाश उत्पन्न होते हैं, संयोग के उन विनाशों से द्व्यणुक रूप कार्य द्रव्यों का नाश होता है । 'तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेष्वग्नि-

न्यायकन्दली

गतौष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां पूर्वरूपरसगन्धस्पर्शानां विनाशः । पुनरन्यस्मादग्निसंयोगात् पाकजा जायन्ते ।

स्वतन्त्रेषु परमाणुषु पाकजोत्पतौ कार्यानवरुद्ध एव द्रव्ये सर्वत्र रूपाद्युत्पत्तिदर्शनं प्रमाणम् । परमाणुरूपादयः कार्यानवरुद्धेष्वेव द्रव्येषु भवन्ति, आरभ्यमाणरूपादित्वात्, तन्त्वादिरूपवत् । पूर्वरूपादिविनाशेऽपि रूपान्तरोत्पत्तिः प्रमाणम् । रूपादिमति रूपाद्यन्तरारम्भासम्भवाद् रक्तादिरूपादयो रूपादिमत्सु नारभ्यन्ते रूपादित्वात्, तन्त्वादिरूपादिवत् । एवं परमाणुषु पूर्वरूपादिविनाशे सिद्धे वह्निसंयोग एव विनाशहेतुरवतिष्ठते, तद्भावित्वादन्यस्यासम्भवात् । न च यदेव रूपादीनां विनाशकारणं तदेव तेषामुत्पत्तिकारणमित्यवगन्तव्यम्, तन्तुरूपादीनामन्यत उत्पत्तेरन्यतश्च विनाशदर्शनात् । तेन परमाणुषु रूपादीनामन्यस्मादग्निसंयोगादुत्पत्तिरन्यस्मादग्निसंयोगाद्विनाश इत्य-

संयोगादौष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां विनाशः, पुनरन्यस्मादग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात्पाकजा जायन्ते' । 'स्वतन्त्र' अर्थात् परस्पर असम्बद्ध परमाणुवों में पाक से विलक्षण रूपादि की उत्पत्ति होती है ।

जिस समय द्रव्य दूसरे द्रव्य के उत्पादनकार्य से विरत रहता है, उसी समय उसमें गुण की उत्पत्ति होती है । पटरूप कार्य के उत्पादन में लगने से पहले ही तन्तुओं में रूपादि की उत्पत्ति होती है, अतः यही प्रामाणिक है कि द्व्यणुक रूप कार्य में व्याप्त होने से पहले पार्थिव परमाणुवों में भी रूपादि की उत्पत्ति होती है; क्योंकि ये भी उत्पत्तिशील रूपादि ही हैं । एवं यह भी प्रमाण से सिद्ध है कि एक आश्रय में दूसरे रूपादि की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसके पहले के रूपादि का नाश न हो जाय । अतः यह अनुमान ठीक है कि पाक से रक्त रूपादि की उत्पत्ति रूप से युक्त किसी द्रव्य में नहीं होती है, जैसे कि तन्तु प्रभृति के रूपादि किसी रूपयुक्त द्रव्य में नहीं उत्पन्न होते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि परमाणुवों के पहले रूपादि का नाश हो जाने पर पाक से उनमें दूसरे रूपादि की उत्पत्ति होती है । एवं रूप का उक्त नाश भी अग्निसंयोग के रहते ही होता है एवं नहीं रहने से नहीं होता है, अतः (पाकज रूपादि की उत्पत्ति की तरह उस आश्रय में रहनेवाले अपाकज) रूपादि के नाश का भी अग्निसंयोग ही कारण है; किन्तु रूप का नाश एवं रूप की उत्पत्ति दोनों एक कारण से सम्भव नहीं हैं; क्योंकि तन्तु प्रभृति के रूपों का नाश एवं उत्पत्ति विभिन्न कारणों से देखे जाते हैं । इससे यह फलितार्थ निकलता है कि अग्नि के एक संयोग से पहले के रूपादि का नाश होता है एवं अग्नि के ही दूसरे संयोग से दूसरे रूपादि की उत्पत्ति होती है । इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार तन्तु प्रभृति के रूपादि की उत्पत्ति और विनाश दोनों एक सामग्री से इसलिए नहीं होते कि

प्रशस्तपादभाष्यम्

तदनन्तरं भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादुत्पन्नपाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते । तत्र च कारण-गुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः ।

इसके बाद भोग करनेवाले आत्मा के अदृष्ट एवं आत्मा और परमाणुवों के संयोग इन दोनों से पाकजनित विलक्षण रूपादि से युक्त परमाणुवों में परस्पर संयोग उत्पन्न होते हैं । इन संयोगों से द्व्यणुकादि की उत्पत्ति के क्रम से (घटादि) स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति होती है । फिर इस (नये) कार्य-द्रव्य में स्वाभाविक कारणगुण के क्रम से रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

वसीयते । परमाणुरूपादिविनाशोत्पादावेककारणकौ न भवतः, रूपादिविनोशोत्पादत्वात् तन्तुरूपादिविनाशोत्पादवत् ।

तदनन्तरमित्यादि । **उत्पन्नेषु घटादिषु येषां तत्साध्ययोः सुखदुःखयोरनुभवो भोगो भविष्यति ते भोगिनः, तेषामदृष्टं धर्माधर्मलक्षणम्, तमपेक्षमाणादात्मपरमाणुसंयोगा-दुत्पन्नपाकजरूपरसगन्धस्पर्शेषु परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते । तेभ्यस्तेषां परमाणूनां परस्पर-संयोगास्ततश्च द्वाभ्यां द्व्यणुकं त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमित्यनेन क्रमेण कार्यद्रव्यं घटादिकमुत्पद्यत इति ।** तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः । **परमाणुद्वयरूपाभ्यां द्व्यणुके रूपं द्व्यणुकरूपेभ्यश्च त्र्यणुकरूपमित्यनेन क्रमेण घटादौ रूपरसगन्धस्पर्शोत्पत्तिः ।**

वे भी उत्पत्ति और विनाश हैं, उसी प्रकार उसी हेतु से यह भी निष्पन्न होता है कि पर-माणुवों के रूपादि की उत्पत्ति और विनाश दोनों ही एक सामग्री से उत्पन्न नहीं होते । 'तदनन्तरम्' अर्थात् घटादि द्रव्यों के उत्पन्न हो जाने के बाद उन घटादि द्रव्यों से जिन जीवों को सुख या दुःख का अनुभव रूप 'भोग' होगा, वे ही जीव (भोगिनाम्' इस पद के) 'भोगि' शब्द से अभिप्रेत हैं । उन्हीं के अदृष्ट अर्थात् धर्म और अधर्म एवं आत्मा और परमाणुवों के संयोग इन सबों से पाकज रूपादि से युक्त परमाणुवों में क्रियायें उत्पन्न होती हैं । इन क्रियाओं से उन परमाणुवों में परस्पर संयोग उत्पन्न होते हैं । उक्त संयोग एवं दो परमाणुवों से द्व्यणुक एवं तीन द्व्यणुकों से 'त्र्यणुक' इसी क्रम से (अभिनव) घटादि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है । 'उसमें' अर्थात् द्व्यणुक में 'कारणगुणक्रम' से अर्थात् परमाणुवों के (पाकज) रूपों से (द्व्यणुकों में) रूपों की उत्पत्ति होती है । अर्थात् दोनों परमाणुवों के दोनों रूपों से द्व्यणुक में एक रूप की उत्पत्ति होती है । एवं तीन द्व्यणुकों के तीनों रूपों से त्र्यणुक में एक

न्यायकन्दली

सङ्ख्यादीनां न पाकजत्वं तेषामविलक्षणत्वात् । ननु स्पर्शस्यापि वैलक्षण्यं न दृश्यते, सत्यम्, तथाप्यस्य पाकजत्वमनुमानात् । तच्च पृथिव्यधिकारे दर्शितम् । पाकजोत्पत्त्यनन्तरं परमाणुषु क्रिया, न तु श्यामादिनिवृत्तिसमकालमेवेति रूपादिमत्येव द्रव्ये रूपादिमत्कार्य-द्रव्यारम्भहेतुभूतक्रियादर्शनाद् दृश्यते । परमाणुक्रिया रूपादिमत्येव जायते रूपादिमत्कार्यारम्भहेतुभूतक्रियात्वात् पटारम्भकसंयोगोत्पादकतन्तुक्रियावत् ।

अथ कथं कार्यद्रव्ये एव रूपादीनामग्निसंयोगादुत्पादविनाशौ न कल्प्येते ? प्रतीयन्ते हि पाकार्थमुपक्षिप्ता घटादयः सर्वावस्थासु प्रत्यक्षाशिछद्रविनिवेशितदृशा, प्रत्यभिज्ञायन्ते च पाकोत्तरकालमपि त एवामी घटादय इति, तत्राह–न चेति । **उपपत्तिमाह–**सर्वावयवेष्विति । **अन्तर्बहिश्च**

रूप की उत्पत्ति होती है । इसी (कारणगुणपूर्वक) क्रम से घटादि स्थूल द्रव्यों में भी (पाकज) रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श की उत्पत्ति होती है । (पके हुए घटादि में भी) संख्यादि गुणों की उत्पत्ति पाक से नहीं होती है; क्योंकि पाक के बाद भी संख्यादि गुणों में कोई अन्तर नहीं दीखता है । (प्र.) स्पर्श में भी तो पाक के बाद कोई अन्तर नहीं दीखता है ? (उ.) हाँ, फिर भी पृथिवी निरूपण में इस अनुमान को दिखा चुके हैं, जिसके द्वारा पके हुए द्रव्यों के स्पर्शों में पाकजन्यत्व की सिद्धि होती है । जिस क्रिया के द्वारा रूपादि से युक्त द्रव्य की उत्पत्ति होती है वह क्रिया रूपादि से युक्त द्रव्यों में ही देखी जाती है, अतः यह समझना चाहिए कि पार्थिव परमाणुवों में पाक से रूपादि की उत्पत्ति के बाद ही उसमें (पके हुए द्व्यणुक को उत्पन्न करनेवाली) क्रिया उत्पन्न होती है, श्यामादि रूपों के नाशक्षण में नहीं । इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार पट के कारणीभूत तन्तुओं के संयोग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया रूप से युक्त तन्तुओं में ही देखी जाती है; क्योंकि वह क्रिया (तन्तुसंयोग के द्वारा) रूप से युक्त पट स्वरूप द्रव्य का उत्पादक है, उसी प्रकार रूप से युक्त द्व्यणुक स्वरूप द्रव्य के उत्पादक दोनों परमाणुवों की क्रिया भी रूप से युक्त परमाणुवों में ही उत्पन्न होती है ।

(प्र.) घटादि कार्य द्रव्यों में ही अग्निसंयोग से रूपादि का विनाश एवं उत्पत्ति क्यों नहीं मान लेते ? क्योंकि भट्ठी में पकने के लिए दिये गये घटादि का तीनों अवस्थाओं में प्रत्यक्ष होता है । एवं भट्ठी के किसी छेद से झाँकनेवाले को 'यह वही घट है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी होती है । इसी आक्षेप के समाधान के लिए 'न च' इत्यादि वाक्य लिखते हैं । 'सर्वावयवेषु' इत्यादि वाक्य से उक्त आक्षेप के खण्डन की ही युक्ति का प्रतिपादन करते हैं । अभिप्राय यह है कि भीतर और बाहर के सभी

प्रशस्तपादभाष्यम्

न च कार्यद्रव्य एव रूपाद्युत्पत्तिर्विनाशो वा सम्भवति, सर्वावयवेष्वन्तर्बहिश्च वर्त्तमानस्याग्निना व्याप्त्यभावात् । अणुप्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति, कार्यद्रव्यविनाशादिति ।

उस (कच्चे स्थूल घटादि) द्रव्यों में ही (अग्निसंयोग से पाकज) रूपादि की उत्पत्ति या (नीलादि पहले) रूपादि का विनाश नहीं हो सकता; क्योंकि बाहर और भीतर के सभी अवयव केवल बाहर में विद्यमान अग्नि के संयोग से व्याप्त नहीं हो सकते । (अग्नि के) परमाणुवों से भी उक्त व्याप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इसके मानने पर भी कार्य द्रव्य का नाश मानना ही पड़ेगा ।

न्यायकन्दली

सर्वेष्ववयवेषु वर्त्तमानस्य समवेतस्यावयविनो बाह्ये वर्त्तमानेन वह्निना व्याप्तेर्व्यापकस्य संयोगस्याभावात् कार्यरूपादीनामुत्पत्तिविनाशयोरक्लृप्तेरन्तर्वर्त्तिनामपाकप्रसङ्गादिति भावः । सच्छिद्राण्येवावयविद्रव्याणि । तत्र यदि नाम महतस्तेजोऽवयविनो नान्तःप्रवेशोऽस्ति, तत्परमाणूनां ततो व्याप्तिर्भविष्यति ? तत्राह— अणुप्रवेशादपीति । **न तावत्परमाणवः सान्तराः, निर्भागत्वात् । द्व्यणुकस्य सान्तरत्वे चानुत्पत्तिरेव, तस्य परमाण्वोरसंयोगात् । संयुक्तौ चेदिमौ निरन्तरावेव । सभागयोर्हि**

अवयवों में 'वर्तमान' अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले अवयवी सें केवल बाहर रहनेवाले वह्नि की 'व्याप्ति' अर्थात् व्यापक संयोग (बाहर और भीतर सभी अवयवों के साथ संयोग) नहीं हो सकता । एवं कार्यद्रव्यों के रूपादि की उत्पत्ति और विनाश भी (बिना कारण के) नहीं हो सकते । (अतः आक्षेप करनेवाले के पक्ष में कथित व्यापक संयोग रूप कारण के अभाव से) भीतर के अवयवों में पाक ही उत्पन्न नहीं होगा (फलतः भीतर की तरफ घटादि कच्चे ही रह जायेंगे) । (प्र.) जितने भी अवयवी रूप द्रव्य हैं सभी छोटे-छोटे छिद्रों से युक्त हैं, उन छोटे छिद्रों के द्वारा यद्यपि बड़े तेजद्रव्य का प्रवेश सम्भव नहीं है, फिर भी तेज के परमाणुवों का प्रवेश उन छोटे छिद्रों से भी हो सकता है । इस प्रकार घट का विनाश न मानने पर भी (अवयवी के बाहर और भीतर पाक का प्रयोजक) कथित व्यापक वह्निसंयोग की उपपत्ति हो सकती है । इसी आक्षेप के समाधान में 'अणुप्रवेशादपि' इत्यादि वाक्य लिखते हैं । अभिप्राय यह है कि परमाणुवों के तो अंश हैं नहीं, जिससे कि वे छिद्रयुक्त होंगे ? द्व्यणुकों को अगर छिद्रयुक्त मानें तो फिर उनकी उत्पत्ति ही सम्भव नहीं

न्यायकन्दली

वस्तुनोः केनचिदंशेन संयोगात् केनचिदसंयोगात् सान्तरः संयोगः । निर्भागयोस्तु नायं विधिरवकल्पते । स्थूलद्रव्येषु प्रतीयमानेष्वन्तरं न प्रतिभात्येव, त्र्यणुकेष्वेवान्तरम्, तच्चानुपलब्धियोग्यत्वान्न प्रतीयत इति गुर्वीयं कल्पना । तस्मान्निरन्तरा एव घटादयः । तेषामन्तस्तावदग्निपरमाणूनां प्रवेशो नास्ति यावत्पार्थिवावयवानां व्यतिभेदो न स्यात् । स्पर्शवति द्रव्ये तथाभूतस्य द्रव्यान्तरस्य प्रतिघाताद् व्यतिभिद्यमानेषु चावयवेषु क्रियाविभागादिन्यायेन द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशादवश्यं द्रव्यविनाश इति कुतस्तस्याणुप्रवेशादभिव्यक्तिः । न च कार्यद्रव्येष्वाश्रयविनाशादन्यतो रूपादीनां विनाशः कारणगुणेभ्यश्चान्यत उत्पादो दृष्टः, तेनादिघटवह्निसंयोगाद्रूपादीनामुत्पत्तिविनाशौ न कल्प्येते ।

घटरूपादय आश्रयविनाशादेव नश्यन्ति कार्यद्रव्यगतरूपरसगन्धस्पर्शत्वाद् मुद्गराभिहतनष्टघटरूपादिवत् । तथा घटरूपादयः कारणगुणेभ्य

होगी; क्योंकि दो परमाणुवों में इस प्रकार का संयोग असम्भव है (जिससे छिद्रयुक्त द्व्यणुक की उत्पत्ति सम्भव हो) क्योंकि दोनों परमाणु अगर संयुक्त हैं तो फिर उनमें अन्तर नहीं हो सकता । अनुयोगी और प्रतियोगी के किसी अंश में संयोग एवं किसी अंश में असंयोग से ही अन्तरयुक्त संयोग होता है, निरंश परमाणुवों में उक्त संयोग की संभावना नहीं है । एवं प्रतीत होनेवाले स्थूल द्रव्यों में छिद्र देखा भी नहीं जाता । अब केवल एक कल्पना बच जाती है कि केवल त्र्यसरेणु रूप अवयवी में ही छिद्र हैं, किन्तु अतीन्द्रिय होने के कारण उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है; किन्तु इस कल्पना में बहुत ही गौरव है । अतः घटादि द्रव्य छिद्रों से युक्त नहीं हैं । उनके भीतर अग्नि के परमाणुवों का प्रवेश तब तक सम्भव नहीं है, जब तक उनके अवयव विभक्त न हो जायँ । स्पर्श से युक्त किसी द्रव्य में जब स्पर्श से युक्त किसी दूसरे द्रव्य का प्रतिघात होता है, तब उसके अवयव अवश्य ही विभक्त हो जाते हैं । फिर 'क्रिया से विभाग, विभाग से आरम्भक संयोग का नाश' इस रीति से आरम्भक संयोग के नाश के द्वारा अवयवी द्रव्य का भी नाश अवश्य ही होगा फिर अणुप्रवेश के बाद अग्नि के व्यापक संयोग की उत्पत्ति कैसे होगी ? एवं कार्यद्रव्यों के रूपादि का नाश आश्रयनाश को छोड़कर और किसी कारण से नहीं देखा जाता है, इसी प्रकार कार्यद्रव्य के रूपादि की उत्पत्ति भी कारणों में रहनेवाले रूपादि से भिन्न किसी और कारण से नहीं देखी जाती है । इन सभी युक्तियों से भी घटादि कार्यद्रव्यों के रूपादि की उत्पत्ति घटादि कार्यद्रव्य और वह्नि के संयोग से कल्पित नहीं हो सकती ।

इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार घटादि द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श मुद्गरादि के प्रहार से उत्पन्न होते हैं एवं घटादि कार्यद्रव्यों के नाश से ही नष्ट होते हैं; क्योंकि वे भी कार्यद्रव्य के रूपादि हैं, उसी प्रकार सभी कार्यद्रव्यों के

न्यायकन्दली

एव जायन्ते कार्यद्रव्यगतरूपादित्वात् पटगतरूपादिवत् । किञ्च, पूर्वमवयवानां प्रशिथिलता आसीदिदानीं काठिन्यमुपलभ्यते, न च नोदनाभिघातयोरिव शैथिल्यकाठिन्ययोरेकत्र समावेशो युक्तः, परस्परविरोधात् । तस्मात् पूर्वव्यूहनिवृत्तौ व्यूहान्तरमेतदुपजातम् । तथा सति प्राक्तनद्रव्यविनाशः कारणविनाशात्, द्रव्यान्तरस्योत्पादः कारणसद्भावादेवेत्यवतिष्ठते । प्रत्यभिज्ञानं च ज्वालादिवत् सामान्यविषयम् । सर्वावस्थोपलब्धिरपि कार्यस्य विनश्यतोऽपि क्रमेण विनाशात् । न हि घटः परमाणुसञ्चयारब्धो येन विभक्तेषु परमाणुषु सहसैव विनश्येत्, किन्तु द्व्यणुकादिप्रक्रमेणारब्धः । तस्य द्व्यणुकत्र्यणुकाद्यसङ्ख्येयद्रव्यविनाशात्परम्परया चिरेण विनश्यतो यावदविनाशस्तावदुपलब्धिरस्त्येव । एकतश्च पूर्वेऽवयवा विनश्यन्ति, अन्यतश्चोत्पन्नपाकजैरणुभिरपूर्वे तत्स्थान एव द्व्यणुकादिप्रक्रमेणारभ्यन्ते, तेन

रूपादि अपने आश्रयों के नाश से ही नष्ट होते हैं । एवं जिस प्रकार पटस्वरूप कार्यद्रव्य के रूपादि अपने कारणीभूत तन्तुओं के रूपादि से ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार घटादि सभी कार्यद्रव्यों के रूपादि अपने कारणीभूत द्रव्यों के रूपादि से ही उत्पन्न होते हैं । और भी बात है कि पाक से पहले घटादि में रहनेवाला प्रशिथिल संयोग एवं पाक के बाद होनेवाला कठिन संयोग दोनों परस्पर विरोधी हैं, नोदन-संयोग एवं अभिघात-संयोग इन दोनों की तरह वे परस्पर अविरोधी नहीं हैं, अतः एक घट में पाक से पहले का प्रशिथिल संयोग एवं पीछे का कठिन संयोग ये दोनों नहीं रह सकते । अतः यही मानना पड़ेगा कि पहले 'व्यूह' अर्थात् अवयवों के संयोग का नाश हो जाने पर अवयवों के दूसरे व्यूह (संयोग) की उत्पत्ति होती है । फलतः पहले अवयवी का नाश हो गया; क्योंकि उसके कारण अवयवों के संयोग (पूर्वव्यूह) का नाश हो गया है । दूसरे अवयवी की उत्पत्ति होती है; क्योंकि कारणीभूत दूसरे व्यूह (अवयवसंयोग) की सत्ता है । पकने के बाद भी 'यह वही घट है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा तो दोनों में अत्यन्त सादृश्य के कारण होती है, जैसे कि दीपादि की ज्वालाओं में इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञायें होती हैं । घटादि की सभी अवस्थाओं की उक्त उपलब्धि में यह युक्ति है कि (पाक से) घटादि द्रव्यों का विनाश क्रमशः होता है । परमाणुवों के समूहों से ही तो घट उत्पन्न होते नहीं कि उनमें परस्पर विभागों के उत्पन्न होते ही उनका सहसा नाश हो जाय । द्व्यणुकादि क्रम से उनकी उत्पत्ति होती है, अतः द्व्यणुक, त्र्यसरेणु प्रभृति के नाश की असंख्य परम्परा से बहुत समय के बाद घटादि का नाश भी होगा, अतः जितने समय तक उनका नाश नहीं हो जाता उतने समय तक उनकी उपलब्धि होना उचित ही है। अग्नि के एक संयोग से पहले के अवयव नष्ट होते हैं एवं अग्नि के ही दूसरे संयोग से उसी स्थान पर पाकज रूपादि से युक्त अवयवों से

न्यायकन्दली

पक्वापक्वावयवदर्शनम् । यदा चान्यावयवानां नाशात्पूर्वावयविनो विनश्यत्ता तदैवापूर्वावयवानामुत्पादात् क्षणान्तरे पूर्वावयविविनाशेऽवयव्यन्तरस्य चोत्पाद इत्याधाराधेयभावोऽवधारणं च स्यात्, यावन्तः पूर्वस्यावयवास्तावन्त एवोत्तरस्यारम्भकाः (इति) तत्परिमाणत्वं तत्सङ्ख्यात्वं चोपपद्यते ।

प्रक्रिया तु द्व्यणुकस्य विनाशः, त्र्यणुकस्य विनश्यत्ता, श्यामादीनां विनश्यत्ता, सक्रिये परमाणौ विभागजविभागस्योत्पद्यमानता, रक्ताद्युत्पादकस्याग्निसंयोगस्योत्पद्यमानतेत्येकः कालः । ततस्त्र्यणुकविनाशः, तत्कार्यस्य विनश्यत्ता, श्यामादीनां विनाशः, विभागजविभागस्योत्पादः, संयोगस्य विनश्यत्ता, रक्ताद्युत्पादकाग्निसंयोगोत्पादः, रक्तादीनामुत्पद्यमानता, श्यामादिनिवर्त्तकाग्निसंयोगस्य विनश्यत्तेत्येकः कालः । ततस्तत्कार्यविनाशः, तत्कार्यविनश्यत्ता, उत्तरस्य संयोगस्योत्पद्यमानता,

नवीन अवयवी की सृष्टि होती जाती है, अतः पके हुए एवं बिना पके हुए दोनों प्रकार के अवयव देखने में आते हैं। जिस समय कुछ अवयवों के विनाश से पहले के अवयवी के विनाश की सम्भावना होती है, उसी समय अपूर्व अवयवों की उत्पत्ति भी होती है । इसके बाद दूसरे क्षण में पहले अवयवी का नाश एवं दूसरे अवयवी की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार आधार-आधेयभाव और नियम दोनों की ही उपपत्ति होती है । जितने ही अवयव पहले अवयवी के उत्पादक थे, उतने ही अवयव नवीन अवयवी के भी उत्पादक हैं, अतः दूसरे अवयवी में पहले अवयवी के समान ही संख्या एवं परिमाण का भी सम्बन्ध ठीक बैठता है ।

(पाकज रूपादि की उत्पत्ति की) रीति यह है कि (१) परमाणुवों में अग्नि के नोदन या अभिघात संयोग से परमाणुवों के विभक्त हो जाने से द्व्यणुक के उत्पादक परमाणुवों के संयोग नष्ट हो जाते हैं । उसके बाद द्व्यणुकों का नाश, त्र्यसरेणु के विनाश की सम्भावना, श्यामरूपादि के विनाश की सम्भावना, क्रिया से युक्त परमाणुवों में विभागजविभाग की उत्पत्ति की सम्भावना, रक्तरूपादि के उत्पादक अग्नि के संयोग की उत्पत्ति की सम्भावना, ये पाँच काम एक समय में होते हैं । (२) उसके बाद एक ही समय में त्र्यसरेणु का विनाश, त्र्यसरेणु से बननेवाले अवयवों के नाश की सम्भावना, श्यारूपादि का विनाश, विभागजविभाग की उत्पत्ति, संयोग के विनाश की सम्भावना, रक्तरूपादि के उत्पादक अग्निसंयोग की उत्पत्ति, रक्तरूपादि की उत्पत्ति की सम्भावना, श्यामरूपादि का नाश एवं अग्निसंयोग के विनाश की सम्भावना ये आठ काम होते हैं । (३) इसके बाद त्र्यसरेणु से उत्पन्न द्रव्य का विनाश, इस द्रव्य से उत्पन्न द्रव्य के विनाश की सम्भावना, उत्तरदेशसंयोग की उत्पत्ति की सम्भावना,

न्यायकन्दली

रक्तादीनामुत्पादः, श्यामाद्युच्छेदकाग्निसंयोगस्य विनाशः, द्वितीयपरमाणौ द्रव्यारम्भकक्रियाया उत्पद्यमानतेत्येकः कालः । ततस्तत्कार्यस्य विनाशः, तत्कार्यस्य विनश्यत्ता, उत्तरसंयोगस्योत्पादः, क्रियाविभागविभागजविभागानां विनश्यत्ता, द्वितीयपरमाणौ क्रियाया उत्पादः, विभागस्योत्पद्यमानतेत्येकः कालः । ततस्तत्कार्यस्य विनाशः, तत्कार्यस्य विनश्यत्ता, क्रियाविभागविभागजविभागानां विनाशः, द्वितीयपरमाण्वाकाशविभागस्योत्पादः, तत्संयोगस्य विनश्यत्तेत्येकः कालः । ततस्तत्कार्यस्य विनाशः, तत्कार्यस्य विनश्यत्ता, परमाण्वाकाशसंयोगविनाशः, उत्तरसंयोगस्योत्पद्यमानतेत्येकः कालः । ततस्तत्कार्यस्य विनाशः, तत्कार्यस्य विनश्यत्ता, परमाणोः परमाण्वन्तरेण सहोत्तरसंयोगोत्पादः, द्व्यणुकस्योत्पद्यमानता, विभागकर्मणोर्विनश्यत्तेत्येकः कालः । ततस्तत्कार्यस्य विनाशः, तत्कार्यस्य विनश्यत्ता, द्व्यणुकस्योत्पादः, तद्गतानां रूपादीनामुत्पद्यमानता, विभागकर्मणोर्विनाशः, ततः क्षणान्तरे कारणगुणप्रक्रमेण द्व्यणुके गुणान्तरोत्पादः । एवं सर्वत्र द्व्यणुकेषु कल्पना ।

त्र्यणुकाद्युत्पत्तौ तु कर्म न चिन्तनीयम्, युगपद् बहूनां परमाणूनां

रक्तरूपादि की उत्पत्ति, श्यामरूपादि के नाशक अग्नि के संयोग का विनाश, दूसरे (पके हुए) परमाणुवों में द्रव्य को उत्पन्न करनेवाली क्रिया की सम्भावना ये पाँच काम एक समय में होते हैं । (४) इसके बाद त्र्यसरेणुजनित द्रव्य से उत्पन्न कार्यद्रव्य का विनाश एवं इस कार्यद्रव्य से उत्पन्न द्रव्य के विनाश की सम्भावना, क्रिया और विभागजविभागों का विनाश, द्वितीय परमाणु के आकाश के साथ विभाग की उत्पत्ति, द्वितीय परमाणु एवं आकाश के पहले संयोग के विनाश की सम्भावना ये छः काम एक समय में होते हैं । (५) इसके बाद प्रकृत कार्य का नाश होता है । इससे विनष्ट कार्यद्रव्य से उत्पन्न द्रव्य के विनाश की सम्भावना, एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ उत्तरसंयोग की उत्पत्ति, (पके हुए) द्व्यणुक की उत्पत्ति की सम्भावना एवं विभाग और क्रिया के विनाश की सम्भावना ये छः काम एक समय में होते हैं । (६) इसके बाद (उक्त सम्भावित विनाश के प्रतियोगी) कार्यद्रव्य का विनाश एवं इस कार्यद्रव्य से उत्पन्न कार्यद्रव्य के विनाश की सम्भावना, (पके हुए) द्व्यणुक की उत्पत्ति, द्व्यणुक में उत्पन्न होनेवाले (रक्त) रूपादि गुणों की उत्पत्ति की सम्भावना, विभाग एवं क्रिया का विनाश ये छः काम एक समय में होते हैं । इसके बाद अगले क्षण में दूसरे रक्तरूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार नवीन घटादि के प्रयो-जकीभूत और द्व्यणुकों में भी कल्पना करनी चाहिए ।

त्र्यसरेणु की उत्पत्ति में क्रिया की चिन्ता अनावश्यक है; क्योंकि बहुत से परमाणुवों

प्रशस्तपादभाष्यम्

एकादिव्यवहारहेतुः संख्या ।

'यह एक है, ये दो हैं' इत्यादि व्यवहारों का कारण ही 'संख्या' है ।

न्यायकन्दली

संयोगादुत्पन्नेषु द्व्यणुकान्तरकारणस्य परमाणोर्द्व्यणुकान्तरकारणेन परमाणुना सह संयोगाद् द्व्यणुकान्तरकारणपरमाणुना संयोगः, ततोऽपि द्व्यणुकयोः संयोग इत्यनेन क्रमेण संयोगजसंयोगेभ्य एतेषामुत्पादात् । एवं यथोपदेशं यथाप्रज्ञं च व्याख्यातमस्माभिः ।

सिद्धेऽपि सङ्ख्यास्वरूपे ये केचिदत्यन्तदुर्दर्शनाभ्यासतिरोहितबुद्धयो विप्रतिपद्यन्ते तान् प्रत्याह–एकादीति । **व्यवहृतिर्व्यवहारो ज्ञेयज्ञानं व्यवह्रियतेऽनेनेति व्यवहारः शब्दः, एकादिव्यवहार एकं द्वे त्रीणीत्यादिप्रत्ययः शब्दश्च, तयोर्हेतुः सङ्ख्येति । एकं द्वे त्रीणीत्यादिप्रत्ययो विशेषणकृतो विशिष्टप्रत्ययत्वाद् दण्डीतिप्रत्ययवत् । एवं शब्दमपि पक्षीकृत्य विशिष्टप्रत्ययत्वादिति हेतुरवगन्तव्यः ।**

के संयोग से द्व्यणुकों की उत्पत्ति हो जाने पर दूसरे द्व्यणुक के कारणीभूत परमाणु का तीसरे द्व्यणुक के कारणीभूत परमाणु के साथ भी संयोग होगा । इस संयोग से एक द्व्यणुक का दूसरे द्व्यणुक के कारणीभूत परमाणु के साथ भी संयोग होगा । परमाणु एवं द्व्यणुक के इस संयोग से इस परमाणु के कार्यरूप द्व्यणुक एवं पहले के द्व्यणुक इन दोनों में संयोगजसंयोग होगा । इन द्व्यणुकों के संयोगजसंयोग के द्वारा भी त्र्यसरेणु की उत्पत्ति हो सकती है । इस विषय में हम लोगों की जैसी शिक्षा है और जितनी बुद्धि है, तदनुसार व्याख्या लिखी है ।

संख्या को यद्यपि सभी लोग जानते हैं फिर भी अत्यन्त दुष्ट दर्शनों के अभ्यास से जिनकी बुद्धि मारी गयी है, वे इसमें भी विवाद ठानते हैं, अतः उनको समझाने के लिए ही 'एकादि' इत्यादि सन्दर्भ लिखते हैं । 'व्यवहृति-र्व्यवहारः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'व्यवहार' शब्द का अर्थ ज्ञान है । एवं 'व्यवह्रियते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसी का शब्दप्रयोग अर्थ भी है । (तदनुसार) 'एकादिव्यवहारः' अर्थात् एक, दो, तीन इत्यादि की प्रतीतियाँ एवं एक, दो, तीन इत्यादि शब्दों के प्रयोग इनदोनों की हेतु ही 'संख्या' है ।(प्रतीति की हेतुता संख्या में इस प्रकार है कि) जैसे कि 'दण्डी पुरुषः' इस विशिष्ट प्रतीति के प्रति दण्ड केवल इसीलिए कारण है कि वह भी विशिष्ट प्रतीति (अर्थात् विशेषण से युक्त विशेष्य की प्रतीति) है, वैसे ही 'यह एक है, ये दो हैं, ये तीन हैं' इत्यादि प्रतीतियाँ भी विशिष्ट प्रतीति होने के कारण ही एकत्वादि संख्या रूप विशेषणों से उत्पन्न होती हैं । इसी प्रकार शब्द को पक्ष बनाकर विशिष्ट शब्दत्व

न्यायकन्दली

नन्वयं प्रत्ययो रूपादिविषयः ? न, तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् । रूपनिमित्तो हि प्रत्ययो नीलं पीतमित्येवं स्यान्न त्वेकं द्वे इत्यादि । अस्तु तर्हि निर्विषयो रूपादिव्यतिरिक्तस्यार्थस्याभावात् । कुतोऽस्मिन्नेकद्वित्रीणीत्याद्याकारो जातः ? आलयविज्ञानप्रतिबद्धवासनापरिपाकादिति चेत् ? नीलाद्याकारोऽपि तत एवास्तु, न हि ज्ञानारूढस्य तस्य सङ्ख्याकारस्य वा कश्चिदनुभवकृतो विशेषो येनैकोऽर्थजोऽनर्थजश्चापर इति प्रतिपद्यामहे । अथायं विशेषोऽयमभ्रान्तो नीलाकारः, सङ्ख्याकारस्तु विप्लुत इति । तदसारम्, नीलाकारस्याप्यत्राभ्रान्तत्वे प्रमाणाभावात् । न तावत् क्वचिदस्यास्ति संवादः, तदेकज्ञाननियतत्वात् क्षणिकत्वाच्च । अत एव नार्थक्रियापि । न च प्रत्येकं सर्वज्ञानेषु स्वाकारमात्रसमाहितेषु पूर्वापरज्ञानवर्तिनामाकाराणां सादृश्यप्रतिपत्ति-

को संख्या का साधक हेतु समझना चाहिए[1] ।

(प्र.) ये ('एकः, द्वौ' इत्यादि) प्रतीतियाँ तो रूपादिविषयक हैं ? (उ.) रूपादिविषयक प्रतीतियाँ 'यह नील है, यह पीत है' इत्यादि आकारों की होती हैं, 'एकः द्वौ' इत्यादि प्रतीतियाँ उनसे भिन्न आकार की हैं । अतः ये रूपादिविषयक नहीं हैं । (प्र.) (प्रत्यक्ष से दीखने वाले) रूपादि पदार्थों से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं है । अतः 'एकः द्वौ' इत्यादि प्रतीतियाँ (अगर रूपादिविषयक नहीं हैं तो फिर) बिना विषय के (निर्विषयक) ही मानी जायँ ? (उ.) तो फिर इस प्रतीति में 'एकः, द्वौ' इत्यादि आकार किससे उत्पन्न होते हैं । (प्र.) आलयविज्ञान में नियत रूप से सम्बद्ध वासना के परिपाक से ही (उक्त आकार उत्पन्न होते हैं) (उ.) इस प्रकार तो नीलाकार, पीताकारादि ज्ञान भी उस वासना से ही उत्पन्न होंगे (फलतः निर्विषयक होंगे); क्योंकि ज्ञानों में सम्बद्ध संख्या के आकारों में एवं नीलादि के आकारों में कोई अन्तर नहीं है । अतः नीलादिविषयक प्रतीतियों को अर्थ (नीलादि) जन्य मानें एवं संख्याविषयक प्रतीति को अनर्थ (केवल वासना) जन्य मानें, इसमें कोई विशेष युक्ति नहीं है । (प्र.) यही दोनों में अन्तर है कि नीलादि आकार अभ्रान्त हैं और संख्यादि आकार भ्रान्त हैं । (उ.) यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि नीलादि आकार अभ्रान्त हैं । एवं प्रत्येक आकार क्षणिक है, अतः एक आकार नियमतः एक ही ज्ञान से गृहीत हो सकता है । सुतरां नीलादि आकारों की अभ्रान्तता किसी प्रमाण से निश्चित नहीं हो सकती । प्रत्येक ज्ञान क्षणिक होने के कारण अर्थक्रियाकारी (कार्यजनक) होने पर भी नीलाकारादि की

1. अर्थात् जिस प्रकार 'दण्डी पुरुषः' विशेष प्रकार के इस शब्द के प्रयोग में दण्ड कारण है उसी प्रकार 'एकः, द्वौ, त्रीणि' इत्यादि प्रयोगों का भी कोई कारण अवश्य है । वही है संख्या ।

न्यायकन्दली

रस्ति, येन तत्सदृशाकारप्रवाहोपलब्धिनिबन्धनः संवादो व्यवस्थाप्येत, नापि सदृशाकारोपलम्भ एव सर्वत्र, विलक्षणाकारोपलम्भस्यापि क्वचिद् भावात् । न चार्थजत्वादेव नीलाकारस्याभ्रान्तत्वसिद्धिः, अर्थस्याप्रतीतौ तज्जन्यत्व-विनिश्चयायोगात्, अन्यतश्च प्रमाणादर्थप्रतीतावाकारकल्पनावैयर्थ्यात्, आकार-संवेदनादेवार्थसिद्ध्यभ्युपगमे वा अभ्रान्ताकारसंवेदनादर्थसिद्धिः, सिद्धे चार्थे तज्जन्यत्वविनिश्चयादाकारस्याभ्रान्तत्वसिद्धिरित्यन्योन्यापेक्षित्वम् । अबाधितत्वं च नीलाकारवज्ज्ञानारूढस्य सङ्ख्याकारस्याप्यस्ति, अर्थगतत्वेन च बाधाया असम्भवो नीलादिष्वपि दुरधिगमः, तेषां स्वरूपविप्रकृष्टत्वात् । तस्मादाकार-मात्रसंवेदनमेव सर्वत्र, न चेदेकत्राऽनर्थजोऽन्यत्रापि तथैवेति न नीलादिसिद्धिः ।

अभ्रान्तता का ज्ञापक प्रमाण नहीं हो सकता । (प्र.) नीलादि आकारों के समूह (प्रवाह) का प्रत्येक आकार परस्पर भिन्न होते हुए भी सभी एक-से हैं । इस सादृश्य के ज्ञान से इस 'संवाद' का निश्चय होगा, अर्थात् यह निश्चय होगा कि अत्यन्त सदृश ये सभी ज्ञान अभ्रान्त नीलाकारादि से अभिन्न ज्ञानसमूह के हैं । इस संवाद निश्चय से सभी आकारों में अभ्रान्तत्व का निश्चय होगा । (उ.) (इस पक्ष के खण्डन में प्रथम युक्ति यह है कि) (१) प्रत्येक आकार अपने विलक्षण ज्ञान से ही गृहीत होता है, अतः आकार के समूहों में परस्पर सादृश्य का ग्रहण ही असम्भव है । (२) यह बात भी नहीं कि सभी आकार सदृश ही उत्पन्न हों; क्योंकि कहीं-कहीं एक ही वस्तु विभिन्न आकारों से भी गृहीत होती है । (३) यह कहना भी सम्भव नहीं है कि चूँकि नीलादि आकार 'अर्थ' से उत्पन्न होते हैं, अतः वे अभ्रान्त हैं; क्योंकि अर्थनिश्चय के बिना अर्थजन्यत्व का निश्चय सम्भव नहीं है । यदि अर्थ का निश्चय किसी और ही प्रमाण से मान लें तो फिर आकार की कल्पना व्यर्थ हो जाती है । अगर आकार के ही अभ्रान्त ज्ञान से अर्थ का निश्चय मानें तो अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य होगा; क्योंकि आकार के अभ्रान्त ज्ञान से अर्थ की सिद्धि होगी एवं इसकी सिद्धि हो जाने पर आकार ज्ञान के अर्थजन्य होने के कारण उसमें अभ्रान्तत्व की सिद्धि होगी । (यदि आकार की अबाधित प्रतीति को ही नालीदि अर्थों का साधक मानें तो फिर) वह जिस प्रकार नीलादि आकार के विज्ञानों में है, वैसे ही संख्याविज्ञान के आकारमें भी है ही । (एवं बौद्धों के मत से) नीलादि आकारों के बाधित न होने से भी उनकी सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती; क्योंकि नीलादि आकारों की वस्तुतः सत्ता न रहने के कारण नीलादि आकारों के बाधित न होने की प्रतीति ही असम्भव है । अतः सभी जगह केवल आकार का ही ज्ञान होता है, उन ज्ञानों में अगर एक बिना अर्थ के ही होता है, तो और ज्ञान भी बिना अर्थ के ही हो सकते हैं । संख्या के सम्बन्ध में इस प्रकार के आक्षेपों से नीलादि आकारों की सिद्धि भी सङ्कट में पड़ जायगी । (प्र.) यदि

प्रशस्तपादभाष्यम्

सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाणुरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्द्धान्ता ।

वह एकद्रव्या (एकद्रव्य मात्र में रहनेवाली) एवं अनेकद्रव्या (अनेक द्रव्यों में ही रहने वाली) भेद से दो प्रकार की है । इनमें एकद्रव्या संख्या के नित्यत्व और अनित्यत्व का निर्णय परमाणुरूप जल एवं कार्यरूप जल के रूपादि की तरह है । अनेकद्रव्या संख्या द्वित्व से लेकर परार्द्ध पर्यन्त है ।

न्यायकन्दली

असति बाह्ये वस्तुनि स्वसन्तानमात्राधीनजन्मनो वासनापरिपाकस्य कादाचित्कत्वानुपपत्तौ तन्मात्रहेतोर्नीलाद्याकारस्य कादाचित्कत्वासम्भवान्नीलादिकल्पनेति चेत्, एकद्वित्र्याकारस्यापि बाह्यवस्त्वननुरोधिनो न कादाचित्कत्वमुपपद्यत इति सङ्ख्यापि कल्पनीया, उपपत्तेरुभयत्राप्यविशेषात् ।

यदपि द्रव्यव्यतिरिक्ता सङ्ख्या न विद्यते, भेदेनाग्रहणादित्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, परस्परप्रत्यासन्नानां वृक्षाणां दूरादेकत्वाद्यग्रहणेऽपि स्वरूपग्रहणस्य सम्भवात् । एवं रूपादिव्यतिरेकोऽपि व्याख्यातः, दूरे रूपस्याग्रहणेऽपि द्रव्यप्रत्ययदर्शनात् ।

एवं सिद्धे सङ्ख्यास्वरूपे तस्या भेदं प्रतिपादयति—सा पुनरेकद्रव्या

बाह्य वस्तुओं की सत्ता बिलकुल ही न मानी जाय तो अपने समुदाय मात्र से उत्पन्न होनेवाली वासना का परिपाक कभी होता है कभी नहीं, यह 'कादाचित्कत्व' असम्भव हो जायगा । एवं केवल वासना के परिपाक से ही उत्पन्न होनेवाले नीलादि का कादाचित्कत्व भी अनुपपन्न हो जायगा । अतः नीलादि की कल्पना करते हैं । (उ.) उसी प्रकार नीलादि आकारों की प्रतीति की तरह एकाकार, द्वित्वाकार, त्रित्वाकारादि प्रतीतियों की भी कादाचित्कत्व की अनुपपत्ति के कारण समान युक्ति से संख्या की कल्पना भी आवश्यक है ।

कोई कहते हैं कि (प्र.) द्रव्य की प्रतीति को छोड़कर अलग से संख्या की कोई प्रतीति नहीं होती, अतः द्रव्य से भिन्न संख्या नाम की कोई वस्तु नहीं है । (उ.) किन्तु यह कहना भी असत्य है; क्योंकि आपस में सटे हुए वृक्षों में संख्या का भान न होने पर भी उनके स्वरूपों (द्रव्यों) का ग्रहण होता है[1] ।

इस प्रकार संख्या की सिद्धि हो जाने पर 'सा पुनः' इत्यादि से इसके भेदों का

---

1. द्रव्य और संख्या अगर अभिन्न होती तो फिर टूटे हुए वृक्षों के स्वरूप का जहाँ ग्रहण होता है वहाँ वृक्ष से अभिन्न संख्या का भी ग्रहण अवश्य ही होता ।

न्यायकन्दली

चानेकद्रव्या चेति । **एकं द्रव्यमाश्रयो यस्याः सा एकद्रव्या । अनेकं द्रव्यमाश्रयो यस्याः सा अनेकद्रव्या । 'च'शब्दावेकद्रव्यानेकद्रव्ययोरन्योन्यसमुच्चयं प्रदर्शयन्तौ प्रकारान्तराभावं कथयतः । तत्रैकद्रव्यानेकद्रव्ययोर्मध्य** एकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाणुरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयो **यथा सलिलपरमाणौ रूपरसस्पर्शा नित्यास्तथैकत्वसङ्ख्यापि । यथा च कार्यसलिलस्य रूपादयोऽनित्या आश्रयविनाशाद्विनश्यन्ति कारणगुणप्रक्रमेण च निष्पद्यन्ते, तथैकत्वसङ्ख्यापि ।**

अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्द्धान्ता । **द्वित्वमादिर्यस्याः सा द्वित्वादिका, परार्धोऽन्तो यस्याः सा परार्धान्ता । यस्मिन्नियत्ताव्यवहारः समाप्यते स परार्द्धः । एकद्रव्यवर्त्तिन्या एकत्वसङ्ख्यायाः सकाशाद् द्वित्वादेरनेकवृत्तित्वविशेषप्रतिपादनार्थः 'तु'शब्दः ।**

निरूपण करते हैं । 'एकं द्रव्यमाश्रयो यस्याः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार एक द्रव्य में ही रहने वाली संख्या को 'एकद्रव्या' कहते हैं । 'अनेकद्रव्यमाश्रयो यस्याः' इस विग्रह के अनुसार अनेक द्रव्यों में ही रहनेवाली संख्या को 'अनेकद्रव्या' कहते हैं । दोनों ही 'च' शब्द से एक द्रव्य और अनेक द्रव्य इन दोनों के समुच्चय का बोध होता है एवं इन दोनों से तीसरी तरह की संख्या की सम्भावना का खण्डन भी होता है । 'तत्र' अर्थात् एकद्रव्या और अनेकद्रव्या इन दोनों प्रकार की संख्याओं में, एकद्रव्या संख्या का निर्णय (कार्यरूप) जलादि और परमाणुरूप जलादि की तरह समझना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार जलादि के परमाणुवों के रूप-रसादि नित्य हैं, वैसे ही उनमें रहनेवाली एकद्रव्या संख्या भी नित्य है । एवं जिस प्रकार कार्यरूप जलादि के रूप-रसादि अनित्य हैं, (अर्थात्) आश्रय के नाश से उनका नाश एवं कारणगुणक्रम से उत्पत्ति होती है, वैसे ही कार्यरूप जलादि में रहनेवाली एकत्व (एकद्रव्या) संख्या भी (आश्रय के नाश से) विनष्ट होती है एवं (कारणगुणक्रम से) उत्पन्न भी होती है ।

'अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्द्धान्ता' (इस वाक्य में प्रयुक्त) 'द्वित्वादिका' शब्द का अर्थ वह संख्या समूह है जिस समूह के पहले व्यक्ति का नाम द्वित्व है, क्योंकि 'द्वित्वादिका' इस समस्त वाक्य का विग्रह वाक्य 'द्वित्वमादिर्यस्याः' इस प्रकार का है । जिस संख्या (परम्परा) की समाप्ति परार्द्ध में हो वही (संख्यासमूह) 'परार्द्धान्त' शब्द का अर्थ है; क्योंकि 'परार्द्धान्ता' इस समस्त वाक्य का विग्रह वाक्य 'परार्द्धोऽन्तं यस्याः' इस प्रकार है । जहाँ संख्या के व्यवहार की समाप्ति हो उसी संख्या को 'परार्द्ध' कहते हैं । एकत्व संख्या केवल एक ही द्रव्य में रहती है, द्वित्वादि संख्यायें अनेक द्रव्यों में ही रहती हैं, अनेकद्रव्या संख्या में एकद्रव्या संख्या से इसी अन्तर को समझाने के लिए प्रकृत वाक्य में 'तु' शब्द है ।

प्रशस्तपादभाष्याम्

तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाद् विनाश इति । कथम् ? यदा बोद्धुश्चक्षुषा समानासमानजातीययोर्द्रव्ययोः सन्निकर्षे सति तत्संयुक्तसमवेतसमवेतैकत्वसामान्यज्ञानोत्पत्तावेकत्वसामान्यतत्सम्बन्धज्ञानेभ्य एकगुणयोरनेकविषयिण्येका

अनेक एकत्व की बुद्धि एवं अनेक एकत्व इन सबों से इसकी उत्पत्ति होती है । (प्र.) कैसे ? (उ.) चक्षु के साथ सम्बद्ध उक्त दोनों द्रव्यों में से प्रत्येक में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली 'एक' संख्या में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली एकत्व जाति का ज्ञान होता है । इसके हो जाने पर एकत्व सामान्य एवं इसके (दोनों 'एक' संख्यारूप गुणों के साथ) सम्बन्ध एवं (इन संख्यारूप गुणों में) उस सामान्य का ज्ञान इन सबों से दोनों 'एक' संख्याओं में अनेक (एकसंख्या) विषयक एक बुद्धि उत्पन्न होती

न्यायकन्दली

तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाद्विनाशः । **खल्वित्यवधारणे, तस्या एकत्वेभ्यो निष्पत्तिरेव, न त्वेकैकगुणसमुच्चयमात्रत्वमित्यर्थः । एकत्वे चैकत्वानि चेति समासाश्रयणम्, अन्यथा द्वित्वोत्पत्तिकारणं न कथितं स्यात्** । अनेकविषयबुद्धिसहितेभ्य इति । **अनेकशब्द एको न भवतीति व्युत्पत्त्या द्वयोर्बहुषु च द्रष्टव्यः, अनेकेषु विषयेषु या बुद्धिस्तत्सहितेभ्य इति । एतदेव प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति कथमित्यादिना । यदा यस्मिन् काले बोद्धुरात्मनश्चक्षुषा समानजातीययोर्घटयो-**

'तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाद्विनाशः' (इस वाक्य में प्रयुक्त) 'खलु' शब्द का प्रयोग इस अवधारण के लिए हुआ है कि अनेकद्रव्या संख्या अनेक एकत्व संख्याओं का समूहमात्र नहीं है; किन्तु अनेक एकत्वों से उत्पन्न होनेवाली (एकत्व से भिन्न) अनेकद्रव्या संख्या (स्वतन्त्र) ही है । 'एकत्वेभ्यः' इस पद की निष्पत्ति के लिए 'एकत्वे च एकत्वानि च' इसी समास का अवलम्बन करना चाहिए, ऐसा न करने पर (एकत्वञ्च एकत्वञ्च एकत्वञ्च एकत्वानि' ऐसा समास मानने पर) 'एकत्वेभ्यः' इस पद से द्वित्व के कारणीभूत दो एकत्वों में द्वित्व की कारणता नहीं कही जायगी । 'अनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यः' इस वाक्य में प्रयुक्त 'अनेक' शब्द से दो एवं उससे आगे की सभी संख्याओं का बोध होता है; क्योंकि 'अनेक' शब्द की 'एको न भवति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति है । अनेक विषयों में जो (अनेक एकत्वों की) बुद्धि है, उससे (द्वित्वादि) अनेकद्रव्या संख्याओं की उत्पत्ति होती है । 'कथम्' इस पद के द्वारा प्रश्न कर इसी विषय को समझाने का उपक्रम करते हैं । 'यदा' अर्थात् जिस समय 'बोद्धुः' अर्थात्

न्यायकन्दली

रसमानजातीययोर्घटपटयोर्वा सन्निकर्षे **संयोगे सति चक्षुःसंयुक्तयोर्द्रव्ययोः प्रत्येकं समवेतौ यावेकगुणौ तयोः समवेतं यदेकत्वं सामान्यं तस्मिन् ज्ञानमुत्पद्यते । विशेषणज्ञानं विशेष्य-ज्ञानस्य कारणम् । एकगुणयोश्च विशेष्ययोरेकत्वसामान्यं विशेषणम्, तेनादौ तत्रैव ज्ञानं चिन्त्यते । न च प्रत्यासत्तिमन्तरेण चाक्षुषं ज्ञानं जायत इत्येकत्वसामान्यस्येन्द्रियेण संयुक्तसमवेतसमवायलक्षणः सम्बन्धो दर्शितः । एवं ज्ञानोत्पत्तौ भूतायामेकत्वसामान्यात् तस्यैकत्वस्यैकगुणाभ्यां सम्बन्धाज्ज्ञानाच्च एकगुणयोरनेकविषयिण्युभयैकगुणालम्बिन्येका** बुद्धिरुत्पद्यत **इति, एकं चक्षुरिन्द्रियमन्तःकरणेन युगपदुभयोरधिष्ठानासम्भवादेकस्यैव सर्वदा विषयग्राहकत्वे द्वितीयस्य कल्पनावैयर्थ्यात् । तस्योभाभ्यां गोलकाभ्यां रश्मयो निस्सरन्ति विषयैश्च सह सम्बद्ध्यन्ते, प्रदीपस्येव गुहान्तर्गतस्य गवाक्षविवराभ्याम् । तत्रान्तःकरणं साक्षाच्चक्षुरधितिष्ठति, न विषयसम्बन्धात्, बहिर्निर्गमनाभावात्, चक्षुरधिष्ठानादेव**

आत्मा को आँखों से समान जाति के दो द्रव्यों में अर्थात् दो घटों में (अथवा) असमानजातीय दो द्रव्यों अर्थात् घट और पट के 'संनिकर्ष' अर्थात् संयोग होने के बाद कथित समानजातीय एवं असमानजातीय दोनों प्रकार के दोनों द्रव्यों के प्रत्येक में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली एकत्वसंख्यागत जातिरूप एकत्व (अर्थात् एकत्वत्व) का ज्ञान होता है । विशेषण का ज्ञान विशेष्यज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) का कारण है । संख्यारूप दोनों एकत्वों से अभिन्न विशेष्य का जातिरूप एकत्व (एकत्वत्व) विशेषण है, अतः सबसे पहले उसी का विचार करते हैं । (विषयों के साथ) चक्षु का सम्बन्ध रहे बिना चाक्षुष ज्ञान नहीं हो सकता, अतः सबसे पहले जातिरूप एकत्व के साथ (चक्षु का) संयुक्तसमवेतसमवायरूप सम्बन्ध ही दिखलाया गया है । इस प्रकार जातिरूप एकत्वविषयक ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर उस सामान्य का अपने आश्रयों के साथ सम्बन्ध एवं इस सम्बन्ध के ज्ञान, इन दोनों से दोनों 'एक' नाम की संख्याओं में (अलग-अलग) 'एक' (संख्या) गुणविषयक एकबुद्धि (अर्थात् 'अयमेकः', 'अयमेकः' इस आकार की बुद्धि) की उत्पत्ति होती है । एक ही समय एक ही चक्षुरिन्द्रिय अन्तःकरण के द्वारा दो विषयों का अधिष्ठान नहीं हो सकती । एवं अगर एक ही चक्षु से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानें तो दूसरे चक्षु की कल्पना ही व्यर्थ हो जायगी। अतः (यही जानना पड़ेगा कि) जिस प्रकार गवाक्ष के छिद्रों से घर के भीतर के दीप की रश्मियाँ घटादि के साथ सम्बद्ध होती हैं, उसी प्रकार चक्षु के दोनों गोलकों से रश्मियाँ निकल कर विषयों के साथ सम्बद्ध होती हैं । अन्तःकरण का साक्षात् सम्बन्ध चक्षु के साथ ही होता है, विषयों के साथ नहीं । क्योंकि वह किसी भी प्रकार बाहर नहीं निकल सकता । (विषयों से सम्बद्ध) चक्षु स्वरूप

प्रशस्तपादभाष्यम्

बुद्धिरुत्पद्यते तदा तामपेक्ष्यैकत्वाभ्यां स्वाश्रययोर्द्वित्वमारभ्यते । ततः पुनस्तस्मिन् द्वित्वसामान्यज्ञानमुत्पद्यते । तस्माद् द्वित्वसामान्यज्ञानाद-

है (इसे ही अपेक्षाबुद्धि कहते हैं)। उस समय उसी बुद्धि की 'अपेक्षा' करके उन दोनों एकत्व नाम के गुणों से उनके आश्रयरूप दोनों द्रव्यों में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है । इसके बाद द्वित्व संख्या में द्वित्वसामान्य (द्वित्वत्व) का ज्ञान उत्पन्न होता है । द्वित्वसामान्यविषयक इस ज्ञान से

न्यायकन्दली

च तस्य सम्बन्धा ज्ञानोत्पत्तिहेतवः । एवं च सति युगपदनेकेषु विषयेषु ज्ञानं भवत्येव, कारणसामर्थ्यात् । तच्च भवदेकमेव प्रभवति, आत्मान्तःकरण-संयोगस्यैकस्यैकज्ञानोत्पत्तावेव सामर्थ्यात् । अत एव सविकल्पोत्पत्तिरपि, युगपदभिव्यक्तेष्वनेकसङ्केतविषयेषु संस्कारेषस्मृतिहेतुष्वात्मान्तःकरणसंयोगस सामर्थ्य-दिकस्यानेकविषयस्मरण स्योत्पादात् । यदि नामानेकगुणालम्बनैका बुद्धिरुपजाता ततः किमेतावता ? तदैतां बुद्धिमपेक्ष्यैकत्वाभ्यामेकगुणाभ्यां स्वाश्रययोर्द्रव्ययो-र्द्वित्वमारभ्यते । स्वाश्रययोः समवायिकारणत्वम्, एकगुणयोरसमवा यिकारणत्वम्, अनेकविषयाया बुद्धेर्निमित्तकारणत्वम् । यदैकगुणयोरेका बुद्धिरुत्पद्यते तदैकत्वाभ्यां

अधिष्ठान के साथ अन्तःकरण का सम्बन्ध ही ज्ञान का कारण है । ऐसी स्थिति में अनेक विषयों का ज्ञान सुलभ होगा; क्योंकि अनुरूप कारणों का संवलन है । अनेक विषयों का यह एक ही ज्ञान हो सकता है; क्योंकि आत्मा और अन्तःकरण के एक संयोग में एक ही ज्ञान को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है । इसी हेतु से सविकल्पोत्पत्ति अर्थात् अनेक विषयों की स्मृति की उत्पत्ति भी सङ्गत होती है; क्योंकि पहले का अनुभव जितने विषयों का होगा, उससे संस्कार भी उतने ही विषयक उत्पन्न होंगे । इसके अनुसार अनेकविषयक या एकविषयक अनुभव से जहाँ स्मृति में कारणीभूत अनेकविषयक संस्कार उत्पन्न होते हैं, एवं एक ही समय उद्बुद्ध होते हैं, वहाँ अनेक विषयों की एक ही स्मृति उत्पन्न हो सकती है, चूँकि आत्मा और अन्तःकरण के उक्त संयोग में उक्त प्रकार के स्मरण को भी उत्पन्न करने का सामर्थ्य है । (प्र.) अनेकविषयक एक बुद्धि की यदि उत्पत्ति मान ली गयी तो प्रकृत में इसका क्या उपयोग है ? (उ.) यही उपयोग है कि अनेकविषयक एक बुद्धि की सहायता से दो संख्याविषयक एक बुद्धि ('अयमेकः,' 'अयमेकः' इस प्रकार की एक बुद्धि) उत्पन्न होती है । उक्त रीति से ज्ञात इन्हीं दो एकत्वों से द्वित्व की उत्पत्ति होती है । दोनों एकत्वों के आश्रयीभूत दोनों द्रव्य द्वित्व के समवायिकारण हैं । दोनों एकत्व संख्यायें असम-

न्यायकन्दली

द्वित्यमारभ्यत इत्येककालनिर्देशः क्षणद्वयात्मकलवाख्यकालाभिप्रायेण । क्षणाभिप्रायेण तु कालभेद एव, कार्यकारणयोः पूर्वापरकालभावात् । ज्ञानादर्थस्योत्पाद इति नालौकिक-मिदम्, सुखादीनां तस्मादुत्पत्तिदर्शनात् । बाह्यार्थस्योत्पादो न दृष्ट इति न वैधर्म्यमात्रम्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्योभयत्राविशेषात्। उभयगुणालम्बनस्य द्वित्वाभिव्यञ्जकत्वे सिद्धे सति ज्ञानस्य तदा नानन्तर्य्यनियमोपपत्तिरिति चेत्, न, अनियमप्रसङ्गात् । यदि हि द्वित्वमबुद्धिजं स्याद्रूपादिवत्पुरुषान्तरेणापि प्रतीयेत, नियमहेतोरभावात् । बुद्धिजत्वे तु यस्य बुद्ध्या यज्जन्यते तत् तेनैवोपलभ्यत इति नियमोपपत्तिः । प्रयोगस्तु द्वित्वं बुद्धिजं नियमेनैकप्रतिपत्तृवेद्यत्वात्, यन्नियमेनैकप्रतिपत्तृवेद्यं तद् बुद्धिजं यथा सुखादिकम् । नियमे-नैकप्रतिपत्तृवेद्यं च द्वित्वं तस्मादिदमपि बुद्धिजम् ।

वायिकारण हैं । दोनों एकत्व रूप अनेकविषयक एकबुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) निमित्त-कारण हैं । जिस समय दोनों एकत्व संख्याओं की एकबुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) उत्पन्न होती है, उसी समय दोनों एकत्व संख्याओं से द्वित्व की उत्पत्ति होती है । इसी अभिप्राय से 'इत्येकः कालः' इस वाक्य से एक काल का निर्देश किया गया है । इस निर्देश वाक्य के 'एक काल' शब्द से दो क्षणात्मक 'लव'रूप काल अभिप्रेत है । क्षणात्मक काल के अनुसार वस्तुतः वे क्रियायें क्रमशः ही होती हैं; क्योंकि कारण को पहले एवं कार्य को पीछे रहना आवश्यक है । ज्ञान से वस्तु की उत्पत्ति कोई अलौकिक घटना नहीं है; क्योंकि ज्ञान से सुखादि की उत्पत्ति देखी जाती है । 'ज्ञान से बाह्य वस्तु की सृष्टि नहीं होती है' यह कहना केवल बाह्य और आन्तर दोनों वस्तुओं के भेद को ही प्रकट करता है; क्योंकि दोनों ही प्रकार की अवस्थाओं के साथ ज्ञान का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही समान रूप से देखे जाते हैं । (प्र.) (द्वित्व के) दोनों आश्रयों में रहनेवाले दोनों एकत्वों से द्वित्व की उत्पत्ति हो ही जायेगी, फिर उसके लिए अपेक्षाबुद्धि को भी कारण मानने की क्या आवश्कता है ? (उ.) द्वित्व को अगर बुद्धिजन्य न मानें तो साधारण्यरूप अनियम की आपत्ति होगी; क्योंकि रूपादि साधारण विषयों की तरह सभी द्वित्व सभी पुरुषों से गृहीत नहीं होते, किन्तु जिस पुरुष की अपेक्षाबुद्धि से जिस द्वित्व की उत्पत्ति होती है; वह द्वित्व उसी पुरुष से गृहीत होता है और किसी पुरुष से नहीं । इस प्रकार द्वित्व असाधारण है, साधारण नहीं । अतः अपेक्षाबुद्धि भी द्वित्व का कारण है । (इस प्रसङ्ग में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है कि) नियमतः सुखादि की तरह जो कोई भी वस्तु नियमतः किसी एक ही पुरुष के द्वारा गृहीत होती है, उसकी उत्पत्ति अवश्य ही बुद्धि से होती है । द्वित्व का ग्रहण भी किसी एक ही पुरुष से होता है, अतः द्वित्व भी बुद्धि से उत्पन्न होता है ।

न्यायकन्दली

एवं द्वित्वस्योत्पन्नस्य प्रतीतिकारणं निरूपयति–ततः पुनरिति । **ततो द्वित्वोत्पादादनन्तरं द्वित्वसामान्ये तस्मिन् ज्ञानमुत्पद्यते । अत्रापि संयुक्तसमवाय एव हेतुः । एकत्वसामान्यापेक्षया पुनरिति वाचोयुक्तिः । द्वित्वसामान्यं द्वित्वगुणस्य विशेषणम्, न चागृहीते विशेषणे विशेष्ये बुद्धिरुदेति,, अतो विशेष्यविज्ञानकारणत्वेनादौ सामान्यज्ञानं निरूपितम् । अस्य सद्भावेऽपि द्वित्वसामान्यविशिष्टा द्वित्वबुद्धिरेव प्रमाणम् । तस्याः सद्भावेऽपि द्वे द्रव्ये इति ज्ञानं प्रमाणम् । द्वे द्रव्ये इति ज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकं विशिष्टज्ञानत्वाद् दण्डीति ज्ञानवदित्यनुमिते गुणज्ञाने तस्यापि विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानपूर्वकत्वमनुमेयम् ।**

ये तु विशेषणविशेष्ययोरेकज्ञानालम्बनत्वमाहुः, तेषां सुरभिचन्दन-

इस प्रकार से उत्पन्न द्वित्व के कारणों का निरूपण 'ततः पुनः' इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं । 'ततः' अर्थात् द्वित्व की उत्पत्ति के बाद, 'तस्मिन्' अर्थात् संख्यारूप द्वित्व में जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) का ज्ञान उत्पन्न होता है । जाति स्वरूप इस द्वित्व के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध ही कारण है । (द्वित्व के आश्रयीभूत दोनों द्रव्यों में अलग-अलग) पहले एकत्व ही था, उसके बाद द्वित्व की उत्पत्ति हुई–इस आनन्तर्य को समझाने के लिए ही 'पुनः' शब्द का प्रयोग है । जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) संख्यारूप द्वित्व का विशेषण है । विशेषण का ज्ञान विशेष्य (विशिष्ट) ज्ञान का कारण है, अतः बिना विशेषण ज्ञान के विशेष्य (विशिष्ट) ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता । इसीलिए सबसे पहले सामान्यरूप द्वित्व के ज्ञान का ही निरूपण किया गया है । जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) विशिष्ट संख्यारूप द्वित्व का ज्ञान सर्वजनीन है, इसी से प्रमाणित होता है कि जातिरूप द्वित्व का भी अस्तित्व है । एवं 'द्वे द्रव्ये' इत्यादि आकार की विशिष्ट अनुभूतियों से ही संख्यारूप द्वित्व की सत्ता प्रमाणित होती है । इस प्रसङ्ग में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है कि जिस प्रकार 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट बुद्धि केवल विशिष्ट बुद्धि होने के कारण ही दण्डरूप विशेषण की सत्ता के बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार 'द्वे द्रव्ये' इस आकार की विशिष्ट बुद्धि भी केवल विशिष्ट बुद्धि होने के कारण ही संख्यात्मक द्वित्वरूप विशेषण के अस्तित्व के बिना सम्भव नहीं है । अतः द्वित्व संख्या की सत्ता अवश्य है । द्वित्व संख्या की इस प्रकार से अनुमिति हो जाने पर 'इस अनुमिति की भी उत्पत्ति विशिष्ट बुद्धि होने के कारण ही जातिरूप द्वित्व विशेषण के अस्तित्व के बिना सम्भव नहीं है, अतः जातिरूप द्वित्व की भी सत्ता अवश्य है'. इस प्रकार द्वित्व संख्या की अनुमिति के बाद जातिरूप द्वित्व का भी उक्त रीति से अनुमान करना चाहिए ।

जो कोई विशेष्य और विशेषण दोनों को (नियमतः) एक ही ज्ञान का विषय मानते हैं, उनके सामने 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान का प्रसङ्ग रखना चाहिए;

न्यायकन्दली

द्वित्वमारभ्यत इत्येककालनिर्देशः क्षणद्वयात्मकलवाख्यकालाभिप्रायेण । क्षणाभिप्रायेण तु कालभेद एव, कार्यकारणयोः पूर्वापरकालभावात् । ज्ञानादर्थस्योत्पाद इति नालौकिकमिदम्, सुखादीनां तस्मादुत्पत्तिदर्शनात् । बाह्यार्थस्योत्पादो न दृष्ट इति न वैधर्म्यमात्रम्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्योभयत्राविशेषात्। उभयगुणालम्बनस्य द्वित्वाभिव्यञ्जकत्वे सिद्धे सति ज्ञानस्य तदा नानन्तर्यनियमोपपत्तिरिति चेत्, न, अनियमप्रसङ्गात् । यदि हि द्वित्वमबुद्धिजं स्याद्रूपादिवत्पुरुषान्तरेणापि प्रतीयेत, नियमहेतोरभावात् । बुद्धिजत्वे तु यस्य बुद्ध्या यज्जन्यते तत् तेनैवोपलभ्यत इति नियमोपपत्तिः । प्रयोगस्तु द्वित्वं बुद्धिजं नियमेनैकप्रतिपत्तृवेद्यत्वात्, यन्नियमेनैकप्रतिपत्तृवेद्यं तद् बुद्धिजं यथा सुखादिकम् । नियमेनैकप्रतिपत्तृवेद्यं च द्वित्वं तस्मादिदमपि बुद्धिजम् ।

वायिकारण हैं । दोनों एकत्व रूप अनेकविषयक एकबुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) निमित्तकारण हैं । जिस समय दोनों एकत्व संख्याओं की एकबुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) उत्पन्न होती है, उसी समय दोनों एकत्व संख्याओं से द्वित्व की उत्पत्ति होती है । इसी अभिप्राय से 'इत्येकः कालः' इस वाक्य से एक काल का निर्देश किया गया है । इस निर्देश वाक्य के 'एक काल' शब्द से दो क्षणात्मक 'लव'रूप काल अभिप्रेत है । क्षणात्मक काल के अनुसार वस्तुतः वे क्रियायें क्रमशः ही होती हैं; क्योंकि कारण को पहले एवं कार्य को पीछे रहना आवश्यक है । ज्ञान से वस्तु की उत्पत्ति कोई अलौकिक घटना नहीं है; क्योंकि ज्ञान से सुखादि की उत्पत्ति देखी जाती है । 'ज्ञान से बाह्य वस्तु की सृष्टि नहीं होती है' यह कहना केवल बाह्य और आन्तर दोनों वस्तुओं के भेद को ही प्रकट करता है; क्योंकि दोनों ही प्रकार की अवस्थाओं के साथ ज्ञान का अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही समान रूप से देखे जाते हैं । (प्र.) (द्वित्व के) दोनों आश्रयों में रहनेवाले दोनों एकत्वों से द्वित्व की उत्पत्ति हो ही जायेगी, फिर उसके लिए अपेक्षाबुद्धि को भी कारण मानने की क्या आवश्कता है ? (उ.) द्वित्व को अगर बुद्धिजन्य न मानें तो साधारण्यरूप अनियम की आपत्ति होगी; क्योंकि रूपादि साधारण विषयों की तरह सभी द्वित्व सभी पुरुषों से गृहीत नहीं होते, किन्तु जिस पुरुष की अपेक्षाबुद्धि से जिस द्वित्व की उत्पत्ति होती है; वह द्वित्व उसी पुरुष से गृहीत होता है और किसी पुरुष से नहीं । इस प्रकार द्वित्व असाधारण है, साधारण नहीं । अतः अपेक्षाबुद्धि भी द्वित्व का कारण है । (इस प्रसङ्ग में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है कि) नियमतः सुखादि की तरह जो कोई भी वस्तु नियमतः किसी एक ही पुरुष के द्वारा गृहीत होती है, उसकी उत्पत्ति अवश्य ही बुद्धि से होती है । द्वित्व का ग्रहण भी किसी एक ही पुरुष से होता है, अतः द्वित्व भी बुद्धि से उत्पन्न होता है ।

न्यायकन्दली

एवं द्वित्वस्योत्पन्नस्य प्रतीतिकारणं निरूपयति–ततः पुनरिति । **ततो द्वित्वोत्पादादनन्तरं द्वित्वसामान्ये तस्मिन् ज्ञानमुत्पद्यते । अत्रापि संयुक्तसमवाय एव हेतुः । एकत्वसामान्यापेक्षया पुनरिति वाचोयुक्तिः । द्वित्वसामान्यं द्वित्वगुणस्य विशेषणम्, न चागृहीते विशेषणे विशेष्ये बुद्धिरुदेति,, अतो विशेष्यविज्ञानकारणत्वेनादौ सामान्यज्ञानं निरूपितम् । अस्य सद्भावेऽपि द्वित्वसामान्यविशिष्टा द्वित्वबुद्धिरेव प्रमाणम् । तस्याः सद्भावेऽपि द्वे द्रव्ये इति ज्ञानं प्रमाणम् । द्वे द्रव्ये इति ज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकं विशिष्टज्ञानत्वाद् दण्डीति ज्ञानवदित्यनुमिते गुणज्ञाने तस्यापि विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानपूर्वकत्वमनुमेयम् ।**

ये तु विशेषणविशेष्ययोरेकज्ञानालम्बनत्वमाहुः, तेषां सुरभिचन्दन-

इस प्रकार से उत्पन्न द्वित्व के कारणों का निरूपण 'ततः पुनः' इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं । 'ततः' अर्थात् द्वित्व की उत्पत्ति के बाद, 'तस्मिन्' अर्थात् संख्यारूप द्वित्व में जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) का ज्ञान उत्पन्न होता है । जाति स्वरूप इस द्वित्व के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध ही कारण है । (द्वित्व के आश्रयीभूत दोनों द्रव्यों में अलग-अलग) पहले एकत्व ही था, उसके बाद द्वित्व की उत्पत्ति हुई–इस आनन्तर्य को समझाने के लिए ही 'पुनः' शब्द का प्रयोग है । जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) संख्यारूप द्वित्व का विशेषण है । विशेषण का ज्ञान विशेष्य (विशिष्ट) ज्ञान का कारण है, अतः बिना विशेषण ज्ञान के विशेष्य (विशिष्ट) ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता । इसीलिए सबसे पहले सामान्यरूप द्वित्व के ज्ञान का ही निरूपण किया गया है । जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) विशिष्ट संख्यारूप द्वित्व का ज्ञान सर्वजनीन है, इसी से प्रमाणित होता है कि जातिरूप द्वित्व का भी अस्तित्व है । एवं 'द्वे द्रव्ये' इत्यादि आकार की विशिष्ट अनुभूतियों से ही संख्यारूप द्वित्व की सत्ता प्रमाणित होती है । इस प्रसङ्ग में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है कि जिस प्रकार 'दण्डी पुरुषः' यह विशिष्ट बुद्धि केवल विशिष्ट बुद्धि होने के कारण ही दण्डरूप विशेषण की सत्ता के बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार 'द्वे द्रव्ये' इस आकार की विशिष्ट बुद्धि भी केवल विशिष्ट बुद्धि होने के कारण ही संख्यात्मक द्वित्वरूप विशेषण के अस्तित्व के बिना सम्भव नहीं है । अतः द्वित्व संख्या की सत्ता अवश्य है । द्वित्व संख्या की इस प्रकार से अनुमिति हो जाने पर 'इस अनुमिति की भी उत्पत्ति विशिष्ट बुद्धि होने के कारण ही जातिरूप द्वित्व विशेषण के अस्तित्व के बिना सम्भव नहीं है, अतः जातिरूप द्वित्व की भी सत्ता अवश्य है'. इस प्रकार द्वित्व संख्या की अनुमिति के बाद जातिरूप द्वित्व का भी उक्त रीति से अनुमान करना चाहिए ।

जो कोई विशेष्य और विशेषण दोनों को (नियमतः) एक ही ज्ञान का विषय मानते हैं, उनके सामने 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान का प्रसङ्ग रखना चाहिए;

न्यायकन्दली

मित्यत्र का वार्त्ता ? न हि चक्षुर्गन्धविषयं न च घ्राणं द्रव्यमादत्ते । अत एव न ताभ्यां सम्बन्धग्रहणम्, उभयसम्बन्धिग्रहणाधीनत्वात् सम्बन्धग्रहणस्य । यथा संस्कारेन्द्रियजन्यं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमुभयकारणसामर्थ्यात्पूर्वापरकालविषयम्, एवं चक्षुर्घ्राणाभ्यां सम्भूय जन्यमानमिदं कारणद्वयसामर्थ्यादुभयविषयं स्यादित्येके समर्थयन्ति ।

तदपि न साधीयः, निर्भागत्वात् । यदि ज्ञानं सभागं स्यात्तदा कश्चिदस्यांशो घ्राणेन जन्येत कश्चिच्चक्षुषेत्युपपद्यते व्यवस्था; किन्त्विदमेकमखण्डमुभाभ्यां जनितं यदि गन्धं द्रव्यं च गृह्णाति, तदा गन्धोऽपि चाक्षुषो द्रव्यमपि घ्राणगम्यं प्रसक्तम्, तज्जनितज्ञानविषयत्वलक्षणत्वात्तदिन्द्रियग्राह्यतायाः । न चाणुत्वान्मनसो युगपदुभयेन्द्रियाधिष्ठानसम्भवः । तस्माद् घ्राणेन गन्धे गृहीते पश्चात्तद्ग्रहणसहकारिणा चक्षुषा केवलविशेष्यालम्बनमेवेदं विशेष्यज्ञानं जन्यत इत्यकामेनाप्यभ्युपगन्तव्यम् । तथा च सत्यन्येषामपि विशेष्यज्ञानानामयं न्याय

क्योंकि गन्ध का ग्रहण आँखों से नहीं होता एवं घ्राण में द्रव्य को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है । अतएव सौरभ और चन्दन इन दोनों का ग्रहण भी इन दोनों इन्द्रियों से नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष के लिए उनके दोनों आश्रयों का प्रत्यक्ष आवश्यक है । कोई कहते हैं कि 'सुरभिचन्दनम्' यह एक ही ज्ञान चक्षु और घ्राण दोनों इन्द्रियों से होता है । इसका समर्थन इस प्रकार करते हैं कि जिस प्रकार (योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्मरामि) इत्यादि आकार की प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष इन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण वर्तमानकालविषयक होता है, एवं संस्कार से उत्पन्न होने के कारण भूतकालविषयक भी होता है, इस प्रकार 'सुरभिचन्दनम्' यह ज्ञान अलग-अलग सामर्थ्य वाली चक्षु और घ्राण इन दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण द्रव्य एवं सौरभ दोनों विषयों का हो सकता है ।

किन्तु इस प्रकार का समर्थन संगत नहीं है; क्योंकि ज्ञान अखण्ड है, उसके अंश नहीं होते । यदि ज्ञान अंशों से युक्त होता तो यह कह सकते थे कि उसका एक अंश आँखों से उत्पन्न होता है तो दूसरा घ्राण से । अतः ज्ञान अगर अखण्ड है और उसकी उत्पत्ति दो इन्द्रियों से होती है एवं सौरभ और द्रव्य दोनों उसके विषय हैं, तो फिर यह मानना ही पड़ेगा कि गन्ध का ग्रहण भी आँख से होता है, एवं घ्राण से द्रव्य भी गृहीत होता है; क्योंकि जिस इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न ज्ञान से जिसका प्रतिभास होता है, वही उस इन्द्रिय का ग्राह्य विषय है । दूसरी बात यह है कि मन अणु है, अतः एक ही समय वह दो इन्द्रियों का अधिष्ठान नहीं हो सकता, अतः इच्छा न रहते हुए भी प्रकृत में आपको यही मानना पड़ेगा कि घ्राण के द्वारा केवल गन्ध का ग्रहण हो जाने के बाद उसके सहकारी चक्षु के द्वारा केवल विशेष्यविषयक (चन्दनविषयक) ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार यही रीति अन्य विशेष्य ज्ञानों के लिए भी प्रयुक्त होती

न्यायकन्दली

उपतिष्ठते । विवादाध्यासितं विशेष्यज्ञानम्, केवलविशेष्यालम्बनम्, प्रत्यक्षत्वे सति विशेष्यज्ञानत्वात्, सुरभिचन्दनमिति ज्ञानवत् । प्रत्यक्षत्वे सतीति लैङ्गिकज्ञानव्यवच्छेदार्थम् । ननु यदि द्रव्यस्वरूपमात्रमेव विशेष्यज्ञानस्यालम्बनम्, असत्यपि विशेषणे तथा प्रत्ययः स्यात् । अथ विशेषणस्य जनकत्वात्र तदभावे विशेष्यज्ञानोदयः, तथापि द्रव्यरूपप्रत्ययादस्य न विशेषः, विषयविशेषमन्तरेण ज्ञानस्य विशेषान्तराभावात्, न, अनभ्युपगमात् । न विशेष्यज्ञानस्य द्रव्यस्वरूपमात्रमालम्बनं ब्रूमः, किन्तु विशिष्टम् । विशिष्टता च स्वरूपातिरेकिण्येव, या दण्डीति ज्ञाने प्रतिभासते । न खलु तत्र पुरुषमात्रस्य प्रतीतिर्नापि दण्डसंयोगितामात्रस्य । तथा च दण्डीति प्रतीतावितरविलक्षण एव पुरुषः संवेद्यते वैलक्षण्यं चास्य दण्डोपसर्जनत्वमेव । अत एव विशेषणं व्यवच्छेदकमिति गीयते । दण्डो हि स्वोपसर्जनताप्रतिपत्तिं पुरुषे कुर्वन् पुरुषमितरस्माद् व्यवच्छिनत्ति । अयमेव

है । इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार 'सुरभिचन्दनम्' यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होने पर भी केवल विशेष्यविषयक ज्ञान है, उसी प्रकार प्रकृत में विवाद का विषय 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान भी केवल विशेष्यविषयक ही है; क्योंकि वह भी प्रत्यक्षात्मक होने पर भी विशेष्य ज्ञान है । प्रकृत अनुमान वाक्य के प्रयोग के हेतु वाक्य में 'प्रत्यक्षत्वे सति' यह विशेषण अनुमिति में व्यभिचार वारण के लिए है । (प्र.) यदि 'द्वे द्रव्ये' इस विशेष्य (विशिष्ट) ज्ञान का विषय केवल द्रव्य ही हो तो फिर विशेषण के न रहने पर भी उक्त प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए । यदि यह कहें कि विशेषण विशेष्यज्ञान का कारण है, अतः विशेषण के न रहने पर विशिष्टज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, तथापि केवल 'द्रव्यम्' इस आकार के ज्ञान में और उक्त विशिष्टज्ञान में कोई अन्तर नहीं रहेगा; क्योंकि कारणों की विभिन्नता रहते हुए भी दोनों ज्ञानों के विषयों में कोई अन्तर नहीं है । विषयों के भेद से ही ज्ञानों में भेद होता है, कारणों के भेद से नहीं । (उ.) हम यह नहीं मानते कि 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान में केवल द्रव्य ही विषय है; किन्तु 'विशेष्य' (विशिष्ट) को उक्त ज्ञान का विषय मानते हैं । 'दण्डी' इस प्रकार की विशिष्ट प्रतीति में भासित होने वाली विशिष्टता विशेष्य (विशिष्ट) के स्वरूप से कोई भिन्न वस्तु नहीं है । 'दण्डी' इस प्रतीति से दण्ड से रहित पुरुषों से विलक्षण पुरुष का ही बोध होता है । और पुरुषों से इस पुरुष में यही वैलक्षण्य है कि यह दण्डरूप विशेषण का विशेष्य है, और कुछ भी अन्तर नहीं है । अतएव विशेषण को व्यवच्छेदक (भेदक) कहा जाता है । पुरुष में अपनी (दण्ड की) विशेष्यता की प्रतीति एवं इस पुरुष को और पुरुषों से भिन्न समझना ये ही दो काम यहाँ दण्डरूप विशेषण के हैं । विशेषण और उपलक्षण इन दोनों में यही अन्तर है कि उपलक्षण

प्रशस्तपादभाष्यम्

पेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता, द्वित्वसामान्यतत्सम्बन्धतज्ज्ञानेभ्यो द्वित्वगुणबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः । तत इदानीमपेक्षाबुद्धिविनाशाद् द्वित्वगुणस्य

अपेक्षाबुद्धि के विनाश की सम्भावना उत्पन्न होती है । द्वित्व संख्यारूप गुण का द्वित्वसामान्य के साथ सम्बन्ध और द्वित्व गुण में द्वित्वसामान्य का ज्ञान इन सबों से गुणरूप द्वित्वविषयक बुद्धि की उत्पत्ति की सम्भावना, इतने काम एक काल में होते हैं । इसके बाद उसी समय अपेक्षाबुद्धि के विनाश से गुणरूप द्वित्व

न्यायकन्दली

चास्योपलक्षणाद्विशेषः । उपलक्षणमपि व्यवच्छिनत्ति, न तु स्वोपसर्जनताप्रतीतिहेतुः । न हि यथा दण्डीति दण्डोपसर्जनता पुरुषे प्रतीयते तथा जटाभिस्तापस इति तापसे जटोपसर्जनता, दण्डोपसर्जनतापुरुषस्य प्राधान्यं चार्थक्रियायामुपभोगातिशयाऽनतिशयापेक्षया । नन्वेवं तर्ह्यापेक्षिकोऽयं विशेषणविशेष्यभावो न वास्तवः, किं न दृष्टो भवद्भिः कर्तृकरणादिव्यवहार आपेक्षिको वास्तवश्चेति कृतं विस्तरेण संग्रहटीकायाम् ।

द्वित्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता । **उभयकगुणालम्बना बुद्धिरपेक्षाबुद्धिरित्युच्यते । तस्या द्वित्वसामान्यज्ञानाद्विनश्यत्ता विनाशकारणसान्निध्यं द्वित्वसामान्यात् । तस्य द्वित्वगुणेन सह सम्बन्धाज्ज्ञानाच्च द्वित्वगुणबुद्धे-**

अपने आश्रय को दूसरों से भिन्न रूप में समझाता तो है; किन्तु उसमें अपनी उपसर्जनता की प्रतीति को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि 'दण्डी' इस प्रतीति से जिस प्रकार पुरुष में दण्डरूप विशेषण की उपसर्जनता प्रतीत होती है, उसी प्रकार 'जटाभिस्तापसः' इस प्रकार के स्थलों में जटादि से युक्त तापसादि का जटा से शून्य तापसादि से विलक्षण रूप में भान यद्यपि होता है, फिर भी जटादि उपलक्षणों की उपसर्जनता की प्रतीति तापसादि में नहीं होती । दण्ड से युक्त (दण्डी) पुरुष में दण्ड से रहित पुरुष की अपेक्षा विशेष प्रकार का उपभोग मिलता है, इसी दृष्टि से दण्डी पुरुष में प्रधानता और दण्ड में उपसर्जनता है । (प्र.) तो फिर यह कहिये कि विशेष्यविशेषणभाव आपेक्षिक है, वास्तविक नहीं ? (उ.) क्या आप लोगों ने कर्तृत्वकरणत्वादि के आपेक्षिक, वास्तविक दोनों प्रकार के व्यवहार नहीं देखे हैं ? टीकादि रूप संग्रह ग्रन्थों में इससे अधिक लिखना व्यर्थ है ।

(द्वित्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता) ।गुणस्वरूप दो एकत्वों को विषय करनेवाले एक ज्ञान को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं । जातिस्वरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) के ज्ञान से उसकी (अपेक्षाबुद्धि की) 'विनश्यत्ता' अर्थात् उसको विनष्ट करनेवाले कारणों की समीपता संघटित होती है (फलतः विनाश को उत्पन्न करनेवाली सामग्री का संवलन होता है) ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनश्यत्ता, द्वित्वगुणज्ञानम्, द्वित्वसामान्यज्ञानस्य विनाशकारणम्, द्वित्व-गुणतज्ज्ञानसम्बन्धेभ्यो द्वे द्रव्ये इति द्रव्यबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः ।
के विनाश की सामग्री का संवलन, गुणरूप द्वित्व का ज्ञान, सामान्यरूप द्वित्वविषयक ज्ञान के विनाशक गुणरूप द्वित्व का ज्ञान, गुणरूप द्वित्व और उसका ज्ञान एवं गुणरूप द्वित्व का (अपने आश्रय द्रव्य के साथ) सम्बन्ध इन तीनों से 'द्वे द्रव्ये' इस आकार के द्रव्यविषयक ज्ञान की सामग्री का

न्यायकन्दली

रुत्पद्यमानता उत्पत्तिकारणसान्निध्यम् । द्वित्वसामान्यज्ञानमपेक्षाबुद्धेर्विनाशकं गुणबुद्धेश्चोत्पादकम् । ते न तदुत्पत्तिरेवैकस्य विनश्यत्तापरस्य चोत्पद्यमानतेत्युपपद्यते विनश्यत्तोत्पद्यमानतयोरेककालत्वम् । तत इदानीमपेक्षाबुद्धिविनाशो द्वित्वविनाशस्य कारणम्, तत्सद्भावे तस्यानुपलम्भात् । अतोऽपेक्षाबुद्धिविनाशो द्वित्वस्य विनश्यत्ता । दृष्टो गुणानां निमित्तकारणादपि विनाशो यथा मोक्षप्राप्त्यवस्थायामन्त्यतत्त्वज्ञानस्य शरीरविनाशात् ।

द्वित्वगुणज्ञानं **द्वित्वसामान्यज्ञानस्य विनाशकारणं बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरविरोधात् । तथा द्रव्यज्ञानस्यापि कारणम् । अतो गुणबुद्ध्युत्पाद एवैकस्योत्पद्यमानताऽपरस्य विनश्यत्ता स्यात् ।** द्वित्वगुणज्ञानसम्बन्धेभ्य **इति ।** जातिरूप द्वित्व का गुणस्वरूप द्वित्व के साथ सम्बन्ध एवं इस सम्बन्ध का ज्ञान इन दोनों से गुणस्वरूप द्वित्व की 'उत्पद्यमानता' अर्थात् द्वित्व संख्या को उत्पन्न करने वाले कारणसमूह परस्पर समीप हो जाते हैं (द्वित्वोत्पत्ति की सामग्री एकत्र हो जाती है) । जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) का ज्ञान अपेक्षाबुद्धि का नाशक एवं गुणस्वरूप द्वित्व (संख्या) विषयक बुद्धि का उत्पादक भी है, अतः जातिरूप द्वित्वविषयक बुद्धि की उत्पत्ति एक (अपेक्षाबुद्धि) की 'विनश्यत्ता' एवं दूसरे (गुणस्वरूप द्वित्वविषयक बुद्धि) की उत्पद्यमानता दोनों ही है । सुतराम् उक्त विनश्यत्ता एवं उक्त उत्पद्यमानता दोनों का एक ही समय रहना युक्ति से सिद्ध है (असङ्गत नहीं) । उसके बाद के क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, यही (नाश) द्वित्व के नाश का कारण है; क्योंकि अपेक्षाबुद्धि के विनाश के बाद द्वित्व की उपलब्धि नहीं होती है, अतः अपेक्षाबुद्धि का विनाश ही द्वित्वबुद्धि की 'विनश्यत्ता' है । जिस प्रकार मोक्षप्राप्ति की अवस्था में शरीररूप निमित्तकारण के विनाश से अन्तिम तत्त्वज्ञानरूप गुण का विनाश होता है, उसी प्रकार (यह मानना पड़ेगा कि) निमित्तकारण के विनाश से भी अन्य गुणों का विनाश होता है ।

गुणस्वरूप द्वित्व का ज्ञान जातिरूप द्वित्वविषयक ज्ञान का विनाशक है, क्योंकि एक बुद्धि दूसरी बुद्धि की विनाशिका है । एवं (गुणस्वरूप द्वित्वविषयक यह

प्रशस्तपादभाष्यम्

तदनन्तरं द्वे द्रव्ये इति द्रव्यज्ञानस्योत्पादो द्वित्वस्य विनाशो द्वित्वगुणबुद्धेर्विनश्यत्ता द्रव्यज्ञानात् संस्कारस्योत्पद्यमानतेत्येकः कालः । तदनन्तरं द्रव्यज्ञानाद् द्वित्वगुणबुद्धेर्विनाशो द्रव्यबुद्धेरपि संस्कारात् ।

संवलन, द्रव्यज्ञान से उसी विषयक संस्कार की उत्पादक सामग्री का संवलन–इतने काम एक समय में होते हैं । इसके बाद उक्त द्रव्यविषयक ज्ञान से गुणरूप द्वित्वविषयक बुद्धि का विनाश और उस द्रव्यविषयक बुद्धि का भी संस्कार से विनाश हो जाता है ।

न्यायकन्दली

द्वित्वगुणश्च तस्य ज्ञानं च सम्बन्धश्चेति योजना । तदनन्तरं द्वे द्रव्ये इति द्रव्यज्ञानस्योत्पादो द्वित्वस्य विनाशो गुणबुद्धेर्विनश्यत्तेत्येकः कालः । **यद्यपि द्वे द्रव्ये इति ज्ञानोत्पत्तिकाले द्वित्वं नास्ति, तथापि तदस्य कारणम्, कार्योत्पत्तिकाले कारणस्थितेरनुपयोगात् । कार्योत्पत्त्यनुगुणव्यापारजनकत्वं हि कारणस्य कारणत्वम् । स चेदनेन कृतः, किमस्य कार्योत्पत्तिकाले स्थित्या ? व्यापारादेव कार्योत्पत्तिसिद्धेः । न त्वेवं सति तस्याकारकत्वम्, व्यापारद्वारेण तस्यैव हेतुत्वात् । न चैवं सति भाक्तं कारकत्वम् ? स्वव्यापारेण व्यवधाना-**

ज्ञान 'द्वे द्रव्ये' इस प्रकार के) द्रव्यविषयक ज्ञान का उत्पादक भी है । अतः गुणस्वरूप द्वित्वविषयक बुद्धि की उत्पत्ति एक (सामान्यरूप द्वित्वविषयक ज्ञान) की 'विनश्यत्ता' एवं दूसरे ('द्वे द्रव्ये' इस द्रव्य ज्ञान) की 'उत्पद्यमानता' दोनों ही होगी । 'द्वित्वगुणज्ञानसम्बन्धेभ्यः' इस समस्त वाक्य का विग्रह इस प्रकार है–द्वित्वगुणश्च, तस्य ज्ञानञ्च, सम्बन्धश्च । इसके बाद के एक समय में 'द्वे द्रव्ये' इस द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति, द्वित्व का विनाश एवं गुणस्वरूप द्वित्वविषयक बुद्धि की विनश्यत्ता ये तीन काम होते हैं । यद्यपि 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान के उत्पत्तिकाल में द्वित्व की सत्ता नहीं रहती, फिर भी द्वित्व उस ज्ञान का कारण अवश्य है । कारण होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कार्य के उत्पत्ति क्षण तक रहे ही; क्योंकि कार्य के उत्पादन में उस समय तक कारण की सत्ता का कुछ भी उपयोग नहीं है । कारण का इतना ही स्वरूप है कि कार्य की उत्पत्ति के अनुकूल किसी व्यापार को वह उत्पन्न कर दे । यह (व्यापारोत्पादनरूप) काम अगर इस (द्वित्व) ने कर दिया तो फिर कार्य की उत्पत्ति के समय उसकी सत्ता रहे ही इससे क्या प्रयोजन ? द्वित्व से उत्पन्न व्यापार के द्वारा 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञानस्वरूप कार्य की उत्पत्ति तो हो ही जाएगी; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह (व्यापारी दित्व) कारण ही नहीं है, वह भी (उत्पत्तिक्षण के अव्यवहित पूर्व क्षण में न रहने पर भी) व्यापार के उत्पादन के द्वारा कारण अवश्य है । (प्र.) तो फिर द्वित्व में व्यापार के द्वारा कारणत्व के रहने से कारकत्व का प्रयोग गौण है ? (उ.) नहीं; क्योंकि मध्य में

प्रशस्तपादभाष्यम्

एतेन त्रित्वाद्युत्पत्तिरपि व्याख्याता । एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाश इति ।

इसी से (अनेक द्रव्यों में रहने वाली) त्रित्वादि संख्याओं की भी व्याख्या समझनी चाहिए । (फलतः अनेक द्रव्यों में रहनेवाली संख्याओं की उत्पत्ति) अनेकविषयक बुद्धि का साथ रहने पर अनेक एकत्वों से होती है एवं अपेक्षाबुद्धि के विनाश से इन (अनेकद्रव्या संख्याओं) का विनाश होता है ।

न्यायकन्दली

भावात् । अन्यथा शरमुक्तिसमकालं निष्ठुरपृष्ठाभिघातादभिपतितस्य धन्विनः क्षणान्तर-भाविनि लक्ष्यव्यतिभेदे कर्तृत्वं न स्यात् । तदनन्तरं द्रव्यज्ञानाद् गुणबुद्धेर्विनाशः, संस्कार-स्योत्पद्यमानता, ततः संस्कारस्योत्पादो द्रव्यबुद्धेर्विनश्यत्ता, क्षणान्तरे संस्काराद् द्रव्यबुद्धे-र्विनाशः, द्रव्यबुद्धिविनाशकारणत्वं च, संस्कारस्य तद्भावभावित्वादन्यथाऽसम्भवाच्च ।

एतेन त्रित्वाद्युत्पत्तिरपि व्याख्याता । **एतेन द्वित्वोत्पत्तिविनाशनिरूपणप्रक्रमेण त्रित्वादीनामुत्पत्तिर्व्याख्याता । तमेव प्रकारं दर्शयति**—एकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाश इति ।

व्यापार के रहने से भी व्यवधान नहीं माना जाता । अगर ऐसी बात न हो तो फिर तीर छोड़ने के समय यदि कोई धनुषधारी पीठ में पाये हुए किसी निष्ठुर आघात से गिर जाय और उस छोड़े हुए तीर से आगे क्षण में लक्ष्य का छेदन भी हो जाय, तब उस धनुषधारी में उस छेदन क्रिया के कर्तृत्व का व्यवहार नहीं होगा (क्योंकि छेदन क्रिया की उत्पत्ति के समय उसकी सत्ता नहीं है) । इसके बाद 'द्वे द्रव्ये' इस आकार के द्रव्यज्ञान से गुण (द्वित्व) बुद्धि का नाश होता है एवं संस्कार के कारण एकत्र होते हैं । इसके दूसरे क्षण में संस्कार की उत्पत्ति होती है एवं उक्त द्रव्यबुद्धि के विनाशक और कारणों का संवलन होता है । इसके बाद के क्षण में संस्कार से उक्त 'द्वे द्रव्ये' इस बुद्धि का विनाश होता है । संस्कार के रहने से ही उक्त बुद्धि का नाश होता है एवं संस्कार को छोड़कर और कोई उसके विनाश का कारण सम्भव भी नहीं है । इन्हीं दोनों से यह समझना चाहिए कि संस्कार ही उक्त द्वित्वविषयक बुद्धि के विनाश का कारण है ।

एतेन त्रित्वाद्युत्पत्तिरपि व्याख्याता । 'एतेन' द्वित्व की उत्पत्ति एवं विनाश के उक्त उपपादन क्रम से त्रित्वादि और अनेक द्रव्यों में ही रहनेवाली (अनेकद्रव्या) और संख्याओं की भी व्याख्या हो गयी समझनी चाहिए । त्रित्वादि संख्याओं की उत्पत्ति की ही रीति 'एकत्वेभ्योऽनेकबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाशः' इत्यादि से दिखलायी गयी है ।

न्यायकन्दली

एतेन शतसङ्ख्याद्युत्पत्तिरपि समर्थिता । प्रत्येकमनुभूतेष्वेकैकगुणेषु क्रमभाविनां संस्काराणामन्त्यगुणानुभवानन्तरं शतव्यवहारसंवर्तकादृष्टाद्युगपदभिव्यक्तौ संयोगैकत्वादनेकविषयैकस्मरणोत्पादे सत्यनुभवस्मरणाभ्यामपेक्षाबुद्धिभ्यां स्वाश्रयेषु शतसङ्ख्या जन्यते । सा च सर्वद्रव्ये संस्कारसचिवा अन्त्यद्रव्यसंयुक्तेन्द्रियज्ञानविषयत्वात् प्रत्यक्षैव । यत्र विनष्टेषु सङ्ख्येयेष्वन्ते सङ्कलनात्मकः प्रत्ययो जायते, शतं पिपीलिकानां मया निहतमिति, तत्र कथं शतसङ्ख्याया उत्पत्तिः ? आश्रयाभावाद् नोत्पद्यत एव तत्र सा, कारणाभावात् । शतव्यवहारस्तु रूपादिष्विव गौण इत्येके समर्थयन्ति । अपरे तु प्रतीतेस्तुल्यत्वादुपचारकल्पनामनादृत्यातीतानामेव द्रव्याणां संस्कारोपनीतत्वादाश्रयतामिच्छन्ति । यदत्यन्तमसत् खपुष्पादि, तदकारणम्, निःस्वभावत्वात् । अतीतानां तु वर्तमानकालसम्बन्धो नास्ति, न तु स्वरूपम्, तेषां

इससे सौ प्रभृति संख्याओं की उत्पत्ति का भी समर्थन होता है । सौ द्रव्यों में से प्रत्येक में क्रमशः 'यह एक है' इस आकार के 'एक' गुण का अनुभव होता है । उन अनुभवों से एकत्व गुणविषयक संस्कारों की क्रमशः उत्पत्ति होती है । अन्तिम 'एक' रूप गुणविषयक अनुभव के बाद सौ विषयक व्यवहार के सम्पादक अदृष्ट से वे सभी संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं । (किन्तु उन सभी संस्कारों से) आत्मा और उनके एक ही संयोग के कारण अनेक एकत्व गुणविषयक एक ही स्मरण उत्पन्न होता है । इसके बाद अनुभव और स्मरण दोनों प्रकार की अपेक्षा बुद्धियों से उन आश्रयीभूत द्रव्यों में 'सौ' नाम की संख्या उत्पन्न होती है । कथित सभी द्रव्यविषयक संस्कारों से उत्पन्न होनेवाली 'सौ' नाम की इस संख्या की सत्ता में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है; क्योंकि उन द्रव्यों में अन्तिम द्रव्य एवं इन्द्रिय इन दोनों के संयोग से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा ही वह गृहीत होता है । (प्र.) संख्येयों (द्रव्यों) के विनष्ट होने के बाद जोड़कर जहाँ संख्या की प्रतीति "मैंने सौ कीड़ों को मारा" इत्यादि आकार की होती है, वहाँ 'सौ' संख्या की उत्पत्ति किस प्रकार से होगी? क्योंकि उसके आश्रय ही विनष्ट हो गये हैं । इस प्रश्न का उत्तर कोई इस प्रकार देते हैं कि ऐसे स्थलों में 'सौ' संख्या की उत्पत्ति ही नहीं होती, अतः ऐसे स्थलों में सौ संख्या का व्यवहार रूपादि गुणों में संख्या के व्यवहार की तरह गौण है । कोई कहते हैं कि दोनों ही प्रकार के (जहाँ सौ संख्या का आश्रयीभूत द्रव्य है एवं जहाँ उनका विनाश हो गया है) स्थलों में संख्या की उक्त प्रतीति समान रूप से होती है, अतः इन प्रतीतियों में से एक प्रतीति को मुख्य और दूसरी को गौण नहीं मान सकते, अतः उक्त स्थल में विनष्ट अथ च संस्कार के द्वारा समीप लायी गयी पिपीलिका ही उक्त सौ संख्या का आश्रय है । आकाशकुसुमादि की किसी भी काल में सत्ता नहीं है, अतः वे कभी किसी के भी कारण नहीं होते, विनष्ट पिपीलिकादि में तो केवल वर्त्तमानकाल का ही सम्बन्ध नहीं है, उनके स्वरूप के अस्तित्व का तो अभाव नहीं है ।

न्यायकन्दली

स्मृतिसन्निहितानां तर्कानुगुणसहकारिलाभात् समवायिकारणत्वमविरुद्धम् । न चैवं सति सर्वत्र तथाभावः, यथादर्शनं व्यवस्थापनात् । अतीतस्य जनकत्वेऽनुभवस्यैव स्मृतिहेतुत्व-सम्भवे संस्कारकल्पनावैयर्थ्यमिति चेत्, न, निरन्वयप्रध्वस्तस्यानुपस्थितस्यापि कारकत्वात्, तदुपस्थापनाकल्पनायां तु संस्कारसिद्धिः । तथा चान्त्यवर्णप्रतीतिकाले पूर्ववर्णानां विनष्टा-नामपि स्मृत्युपनीतत्वादर्थप्रतीतौ निमित्तकारणत्वमस्त्येव । यथेदं तथा समवायि-कारणत्वमपि केषाञ्चिद्भविष्यति । यथा च संस्कारसचिवस्य मनसो बाह्ये स्मृत्युत्पादन-सामर्थ्यमेवं प्रत्यक्षानुभवजननसामर्थ्यमपि दृष्टत्वादेषितव्यम् । एवं च सति नान्धबधिराद्यभावो बाह्येन्द्रियप्रवृत्त्यनुविधायित्वात् ।

यत्र विनष्ट एव पराश्रये स्मृत्युपनीते द्वित्वमुत्पद्यते, तत्र स्मृतिलक्षणापेक्षाबुद्धिविनाशादेवास्य विनाशः, यत्र त्वाश्रये विद्यमाने तदुत्पन्नं

अतः स्मृति के द्वारा समीप आयी हुई विनष्ट पिपीलिकादि वस्तुओं को भी अगर तर्कसम्मत सहकारी मिले तो वे भी समवायिकारण हो सकती हैं । इसमें कोई विरोध नहीं है । वस्तुस्थिति के अनुसार ही कल्पना की जाती है, अतः उपर्युक्त दृष्टान्त (मात्र) से यह कल्पना करना सङ्गत नहीं है कि विनष्ट हुए समवायिकारणों से ही सभी कार्य हों । (प्र.) अतीत वस्तु भी अगर कारण हो तो फिर अतीत अनुभव से ही स्मृति की उत्पत्ति हो ही जायेगी, इसके लिए संस्कार की कल्पना ही व्यर्थ है । (उ.) जड़-मूल से विनष्ट वस्तुओं को जब तक कोई विद्यमान दूसरी वस्तु (कारण होने के लिए) उपस्थित न करे तब तक वह कारण नहीं हो सकती । प्रकृत में अगर अनुभव को उपस्थित करनेवाले की कल्पना करें तो फिर संस्कार की ही कल्पना होगी । (नाम में विवाद की सम्भावना रहने पर भी) संस्कार (वस्तु) की सिद्धि हो ही जाएगी, अतः जिस प्रकार ज्ञान के समय विनष्ट भी पहले के वर्ण वाक्य के अन्तिम अक्षर से स्मृति के द्वारा समीप लाये जाने पर शाब्दबोध के निमित्तकारण होते हैं, वैसे ही कुछ विनष्ट वस्तु समवायिकारण भी होंगे । वस्तुस्थिति के अनुसार ही तो कल्पना की जाती है, अतः प्रकृत में भी ऐसी कल्पना करेंगे कि संस्कार का साहाय्य पाकर मन जिस प्रकार बाह्य वस्तुओं के स्मरण को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार बाह्य वस्तुविषयक प्रत्यक्ष रूप अनुभव को भी (मन) उत्पन्न कर सकता है । इस (मन से बाह्य वस्तु-विषयक प्रत्यक्ष मान लेने) से संसार से अन्धे और बहरों का लोप नहीं होगा; क्योंकि मन की प्रवृत्ति बाह्य इन्द्रियों के पीछे चलनेवाली है ।

जहाँ किसी आश्रयरूप वस्तुओं के नष्ट होने पर भी स्मृति के द्वारा उन्हें समीप लाये जाने पर विनष्ट वस्तुओं में द्वित्व उत्पन्न होता है, ऐसे स्थलों में स्मृति रूप अपेक्षाबुद्धि के नाश से ही द्वित्व का नाश होता है; किन्तु जहाँ विद्यमान वस्तुओं

प्रशस्तपादभाष्यम्

क्वचिच्चाश्रयविनाशादिति । कथम् ? यदैकत्वाधारावयवे कर्मोत्पद्यते तदैवैकत्वसामान्यज्ञानमुत्पद्यते, कर्मणा चावयवान्तराद्विभागः क्रियते, अपेक्षाबुद्धेश्चोत्पत्तिः । ततो यस्मिन्नेव

कहीं आश्रय के विनाश से भी संख्यायें विनष्ट होती हैं । (प्र.) कैसे ? (उ.) (जिस स्थल विशेष में) जिस समय संख्यारूप एकत्व के आधारभूत द्रव्य के अवयवों में क्रिया उत्पन्न होती है, उसी समय जातिरूप एकत्व का ज्ञान भी होता है । क्रिया एक अवयव से दूसरे अवयव को विभक्त करती है और अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होती है । इससे जिस समय विभाग से

न्यायकन्दली

तत्र न केवलमपेक्षाबुद्धिविनाशादस्य विनाशः, क्वचिदाश्रयविनाशादपि स्यात् । एकस्य द्रव्यस्य द्वयोर्वा द्रव्ययोरभावाद् द्वे इति प्रत्ययाभावादित्याह— क्वचिच्चाश्रयविनाशादिति । **कथमित्यज्ञेन पृष्टस्तदुपपादयन्नाह**—यदेति । **यस्मिन् काले एकगुणाश्रयस्य द्रव्यस्यावयवे क्रियोत्पद्यते तस्मिन् काले एकगुणवर्त्तिन्येकत्वसामान्ये ज्ञानमुत्पद्यते, क्षणान्तरे कर्मणावयवान्तराद्विभागः क्रियते, एकत्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेश्चोत्पत्तिः, यस्मिन्नेव कालेऽवयवद्रव्यविभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशस्तदापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वमुत्पद्यते, ततः संयोग-विनाशाद् द्रव्यस्य विनाशः, द्वित्वसामान्यबुद्धेश्चोत्पाद इत्येकः कालः । ततो यस्मिन्**

में ही द्वित्व उत्पन्न होता है, ऐसे स्थलों में अपेक्षाबुद्धि के नाश से ही द्वित्व का नाश नहीं होता है, ऐसे स्थलों में कहीं आश्रय के नाश से भी द्वित्व का नाश होता है; क्योंकि एक ही द्रव्य के रहने पर या दोनों द्रव्यों के न रहने पर 'ये दो हैं' इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती है । यही बात 'क्वचिच्चाश्रयविनाशात्' इत्यादि से कहते हैं । कैसे ? इस विषय में किसी अनजान के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'यदा' इत्यादि वाक्य लिखते हैं । जिस समय 'एक संख्या' रूप गुण के आश्रयीभूत द्रव्य के अवयव में क्रिया होती है, उसी समय एक संख्यारूप गुण में रहनेवाला एकत्वरूप जातिविषयक ज्ञान भी उत्पन्न होता है । इसके दूसरे क्षण में उस क्रिया से (क्रियाश्रय अवयव का) दूसरे अवयव से विभाग उत्पन्न होता है; एवं जातिरूप एकत्व के ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है । इसके बाद जिस समय अवयवरूप द्रव्यों के विभाग से (अवयवी) द्रव्य के उत्पादक संयोग का विनाश होता है, उसी समय अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है । उसके बाद द्रव्य के आरम्भक संयोग के नाश से द्रव्य का नाश होता है एवं जातिरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) विषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है । इतने काम एक समय में होते हैं । इसके बाद जिस समय द्वित्वत्व जाति के ज्ञान से

प्रशस्तपादभाष्यम्

काले विभागात् संयोगविनाशस्तस्मिन्नेव काले द्वित्वमुत्पद्यते । संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः, सामान्यबुद्धेश्चोत्पत्तिः । ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाशस्तस्मिन्नेव काले आश्रयविनाशाद् द्वित्वविनाश इति ।

पूर्वसंयोग का नाश होता है, उसी समय द्वित्व की उत्पत्ति होती है । संयोग के विनाश से द्रव्य का विनाश होता है एवं सामान्य रूप (द्वित्व-विषयक) बुद्धि की उत्पत्ति होती है । इसके बाद जिस समय सामान्यविषयक उक्त ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, उसी समय आश्रय के नाश से द्वित्व का नाश भी हो जाता है ।

(यद्यपि) इस प्रकार द्वित्वनाश की यह प्रक्रिया 'वध्यघातक' रूप विरोध पक्ष में तो ठीक है; किन्तु 'सहानवस्थान' रूप विरोध पक्ष में

न्यायकन्दली

काले द्वित्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाशस्तदैवावयविविनाशाद् द्वित्वविनाशः, न त्वपेक्षाबुद्धेर्विनाशस्तत्कारणम्, सहभावित्वात् । अत्र यद्यपि द्वे द्रव्ये इति ज्ञानमकृत्वैव प्रणष्टस्य द्वित्वस्योत्पत्त्या न किञ्चित् प्रयोजनम्, तथापि कारणसामर्थ्यभावी कार्योत्पादो न प्रयोजनापेक्ष इति तदुत्पत्तिचिन्ता कृता । इह खलु द्वित्वोत्पत्तिक्रमेण पूर्वपूर्वज्ञानस्योत्तरोत्तरज्ञानाद्विनाशो दर्शितः । स च ज्ञानानां विरोधे सत्युपपद्यते । विरोधं च तेषां वध्यघातकस्वभावं केचिदिच्छन्ति, सहान-

अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, उसी समय आश्रय के नाश से द्वित्व गुण का नाश होता है । गुणरूप इस द्वित्व के विनाश का अपेक्षाबुद्धि का विनाश कारण नहीं है; क्योंकि ये दोनों एक ही क्षण में उत्पन्न हुए हैं । 'द्वे द्रव्ये' इस बुद्धि को उत्पन्न करना ही द्वित्वोत्पत्ति का प्रधान प्रयोजन है । यह प्रयोजन यद्यपि प्रकृत में सिद्ध नहीं होता है (क्योंकि इसके पहले ही आश्रय के नाश से द्वित्व का नाश हो जाता है), फिर भी कारणों के सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाले कार्य (अपने उत्पादन में) किसी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखते (अतः वस्तुस्थिति के अनुसार आश्रयनाश से नष्ट होने वाले द्वित्व का निरूपण व्यर्थ नहीं है), अतः इस द्वित्व का भी विचार किया गया है । यहाँ द्वित्व की उत्पत्ति के क्रम में आगे-आगे के ज्ञान से पहले-पहले के ज्ञान का विनाश दिखलाया गया है; किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि ज्ञानों में परस्पर विरोध रहे । ज्ञानों के विरोध को कोई 'वध्यघातक' रूप मानते हैं, एवं कोई 'सहानवस्थान' रूप । इन दोनों में से

प्रशस्तपादभाष्यम्

शोभनमेतद्विधानं वध्यघातकपक्षे, सहानवस्थानलक्षणे तु विरोधे द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः । कथम् ? गुणबुद्धिसमकालमपेक्षाबुद्धि-विनाशाद् द्वित्वविनाशो तदपेक्षस्य द्वे द्रव्ये इति द्रव्यज्ञानस्यानुत्पत्तिप्रसङ्ग इति । लैङ्गिकवज्ज्ञानमात्रादिति चेत् ? स्यान्मतम्, यथाऽभूतं भूतस्येत्यत्र

(इस प्रक्रिया को स्वीकार करने पर 'द्वे द्रव्ये' इस आकार के) द्रव्य ज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी । (प्र.) कैसे ? (उ.) चूँकि गुणरूप द्वित्वविषयक बुद्धि के समय ही द्वित्व का नाश हो जाएगा, अतः द्वित्व के द्वारा उत्पन्न होनेवाले 'द्वे द्रव्ये' इस आकार के द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी । इस विषय में यह कह सकते थे कि (प्र.) अनुमिति की तरह (हेतुविषयक ज्ञान से ही) उक्त 'द्वे द्रव्ये' इस द्रव्यविषयक ज्ञान की उत्पत्ति होगी । (अभिप्राय यह है कि) जैसे 'अभूतं भूतस्य' इस सूत्र के द्वारा महर्षि ने हेतु के न रहने पर भी हेतु

न्यायकन्दली

वस्थानं चापरे । तत्राचार्यो वध्यघातकपक्षपरिग्रहं कुर्वन्नाह—शोभनमेतद्विधानमिति । **एतद्विधानमेष द्वित्वप्रकारः । वध्यघातकपक्षे द्वितीयं ज्ञानमुत्पद्य क्षणान्तरे पूर्वं विज्ञानं नाशयतीति पक्षे शोभनं युक्तमित्यर्थः । सहानवस्थानलक्षणे तु विरोध एकस्य ज्ञानस्यो-त्पादोऽपरस्य विनाश इति पक्षे द्वे द्रव्ये इति ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः, तस्मात् सहानवस्थान-लक्षणो न युक्त इत्यभिप्रायः । एतदेवोपपादयति**—कथमित्यादिना। **सहानवस्थानपक्षे हि द्वित्वकाल एवापेक्षाबुद्धेर्विनाशाद् द्वित्वस्य विनश्यत्ता, गुणबुद्धिसमकालं च द्वित्वस्य विनाश इति क्षणान्तरे द्वित्वापेक्षस्य द्वे द्रव्ये इति ज्ञानस्योत्पत्तिर्न भवेत् कारणाभावात् ।**

आचार्य (प्रशस्तपाद) वध्यघातक पक्ष को ग्रहण करते हुए 'शोभनमेतद्विधानम्' यह वाक्य लिखते हैं । 'एतद्विधानम्' अर्थात् द्वित्व की उत्पत्ति का यह क्रम 'वध्यघातकपक्षे' अर्थात् 'पहला ज्ञान उत्पन्न होकर दूसरे ज्ञान को अपने उत्पत्तिक्षण के आगे के क्षण में ही नाश कर देता है' इस पक्ष में 'शोभन' है । 'सहानवस्थानलक्षणे तु विरोधे' अर्थात् 'एक क्षण में ज्ञान की उत्पत्ति ही उससे पूर्व के क्षण में उत्पन्न ज्ञान का विनाश है' इस पक्ष में 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होगी । अतः 'सहानवस्थान' रूप विरोध पक्ष ठीक नहीं है । 'कथम्' इस पद से प्रश्न कर इसका उपपादन करते हैं । (अर्थात्) सहानवस्थान पक्ष में द्वित्व के उत्पत्तिकाल में ही अपेक्षाबुद्धि के विनाश से द्वित्वविनाश की सामग्री एकत्र हो जाती है अतः द्वित्वविषयक (निर्विकल्पक) बुद्धि की जिस क्षण में उत्पत्ति होती है, उस क्षण में द्वित्व का नाश हो जाता है, सुतराम् इसके अगले क्षण में 'द्वे द्रव्ये' इस विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होगी; क्योंकि द्वित्व रूप उस

प्रशस्तपादभाष्यम्

लिङ्गाभावेऽपि ज्ञानमात्रादनुमानम्, तथा गुणविनाशेऽपि गुणबुद्धिमात्राद् द्रव्यप्रत्ययः स्यादिति, न, विशेष्यज्ञानत्वात् । न हि विशेष्यज्ञानं सारूप्या-

के ज्ञान से अनुमिति का उपपादन किया है, वैसे ही यहाँ भी (द्वित्व) गुण का नाश हो जाने पर भी उसके ज्ञान से ही द्रव्यविषयक उक्त ज्ञान की उत्पत्ति होगी । (उ.) किन्तु यह कहना सम्भव नहीं है; क्योंकि वह (द्रव्यविषयक) ज्ञान 'विशेष्यज्ञान' अर्थात् विशिष्ट ज्ञान है ।(विशिष्ट ज्ञान) विशेष्य में विशेषण के सम्बन्ध के बिना (फलतः विशेष्य में विशेषण की सत्ता के बिना) केवल 'सारूप्य' से,

न्यायकन्दली

अत्राशङ्कते—लैङ्गिकवदिति । **एतद्विस्पष्टयति—**स्यान्मतमित्यादिना । **एवं ते मतं स्यादिदमभिप्रेतं भवेत् । यथा ध्वनिविशेषेण पुरुषानुमाने ज्ञातमेव ध्वनिलक्षणं लिङ्गमभूतमविद्यमानं विनष्टमेव भूतस्य विद्यमानस्य पुरुषविशेषस्य लिङ्गं भवतीति लिङ्गस्याभावेऽपि तज्ज्ञानमात्रादेव लैङ्गिकं ज्ञानं जायते, तथा गुणबुद्धिसमकालं द्वित्वे विनष्टेऽपि तज्ज्ञानमात्रादेव द्वे द्रव्ये इति ज्ञानं स्यादिति । अन्यस्तु—अभूतं वर्षकर्म भूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिङ्गमित्यत्र वर्षकर्मणो लिङ्गस्याभावेऽपि तज्ज्ञानमात्रादेवानुमानमिति व्याचष्टे । तदसङ्गतम्, न ह्यत्र वर्षकर्म लिङ्गम्, अपि तु तस्याभावः । स च तदानीमस्त्येव, स्वरूपेण वस्त्वनुत्पादे प्रागभावस्याविनाशात् । तस्मादस्मदुक्तैव रीतिरनुसरणीया ।**

बुद्धि का कारण उस समय नहीं है । 'लैङ्गिकवत्' इस वाक्य के द्वारा सहानवस्थान रूप विरोधपक्ष के समर्थन का उपक्रम करते हैं एवं 'स्यान्मतम्' इत्यादि से इसी पक्ष को स्पष्ट करते हैं । अर्थात् सहानवस्थान रूप विरोध मानने वालों का यह अभिप्राय हो सकता है कि जैसे विशेष प्रकार की ध्वनि से पुरुष का अनुमान होने में ध्वनिरूप हेतु केवल ज्ञात ही रहता है (पुरुष की अनुमिति के अव्यवहित पूर्वक्षण में उसकी सत्ता नहीं रहती है), अतः 'अभूत' अविद्यमान फलतः विनष्ट (ध्वनिरूप हेतु) ही 'भूत' अर्थात् विद्यमान उस पुरुषविशेष का (ज्ञापक) हेतु होता है । जिस प्रकार हेतु के न रहने पर भी हेतु के केवल ज्ञान से ही पुरुष की उक्त अनुमिति होती है, उसी प्रकार गुणरूप द्वित्वविषयक ज्ञान के समय ही द्वित्व के नष्ट हो जाने पर भी (विनष्ट) द्वित्व के ज्ञान से 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान भी होगा । 'अभूतं भूतस्य' इस (वैशेषिक) सूत्र की व्याख्या कोई इस प्रकार करते हैं कि 'अभूतम्' अर्थात् अविद्यमान वर्षारूप क्रिया 'भूतस्य' अर्थात् वायु एवं मेघ के विद्यमान संयोग का (ज्ञापक) लिङ्ग है; किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है; क्योंकि प्रकृत में वर्षारूप क्रिया (वायु और मेघ के संयोग का ज्ञापक) हेतु नहीं है; किन्तु वर्षारूप क्रिया का (प्राक्) अभाव ही (उक्त संयोग का) हेतु है । वह

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्विशेषणसम्बन्धमन्तरेण भवितुमर्हति । तथा चाह सूत्रकारः –"समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेः श्वेते बुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" इति ।

अर्थात् ज्ञानरूप एक अर्थ में विशेष्य और विशेषण के सामानाधिकरण्य मात्र से (फलतः दोनों के एक ज्ञान में विषय होने मात्र से) विशेष्य ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।जैसा कि सूत्रकार ने कहा है कि 'समवायी' (अर्थात् विशेष्य) की शुक्लता से द्रव्य में शुक्लता की प्रतीति होती है; क्योंकि इन दोनों (विशेषण एवं विशेष्य के ज्ञानों)में एक कारण और दूसरा कार्य है,

न्यायकन्दली

परिहारमाह–न, विशेष्यज्ञानत्वादिति । **ज्ञानमात्रादेव द्रव्ये इति ज्ञानोत्पत्तिरित्येतन्न, कस्मात् ? विशेष्यज्ञानत्वात् । भवतु विशेष्यज्ञानं तथापि कुतो ज्ञानमात्रान्न भवति ? तत्राह–**न हीति । **विशेषणं विशेष्यस्य स्वरूपं विशेष्यानुरञ्जकं विशेष्ये स्वोपसर्जनताप्रतीतिहेतुरिति यावत् । न चाविद्यमानस्यानुरञ्जकत्वं स्वोपसर्जनताप्रतीतिहेतुत्वं युक्तम्, अतो न विशेष्यज्ञानं विशेषणसम्बन्धमन्तरेण भवितुमर्हति विशेष्यज्ञानं सारूप्याद्विशेषणानुक्तत्वाद् विशेषणसम्बन्धमन्तरेण भवितुं नार्हति । सूत्रार्थे सूत्रकारानुमतिं**

तो वाय्वभ्रसंयोग की अनुमिति से पहले विद्यमान ही है; क्योंकि (प्रतियोगीभूत) वस्तुओं की स्वरूपतः उत्पत्ति के बिना प्रागभाव का विनाश नहीं होता है, अतः मेरी ही व्याख्या ठीक है ।

'न विशेष्यज्ञानत्वात्' इत्यादि ग्रन्थ से उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं । यह बात नहीं है कि (द्वित्व के नष्ट हो जाने पर भी) केवल द्वित्व के ज्ञान से ही 'द्वे द्रव्ये' इस (विशेष्य) ज्ञान की उत्पत्ति होगी । (प्र.) क्यों ? (उ.) चूँकि वह विशेष्य ज्ञान है । (प्र.) रहे वह विशेष्यज्ञान ही फिर भी (हेतु के न रहने पर भी हेतु के) केवल ज्ञान से ही उसकी उत्पत्ति क्यों नहीं होगी? 'न हि' इत्यादि से इसी प्रश्न का समाधान करते हैं । (अर्थात्) विशेषण विशेष्य (विशिष्ट) का 'स्वरूप' है, अर्थात् विशेष्य का 'अनुरञ्जक' है । फलतः अपने में उपसर्जनत्व (विशेषणत्व) प्रतीति का कारण है । यह अनुरञ्जकता या 'स्व' में उपसर्जनता प्रतीति की कारणता किसी अविद्यमान वस्तु में नहीं हो सकती, अतः विशिष्टज्ञान में (विशेष्यज्ञान ज्ञानत्व रूप से अविशिष्ट ज्ञान का) सारूप्य रहने के कारण ही विशेषण सम्बन्ध के बिना यह अनुरञ्जकता नहीं हो सकती । 'तथा चाह' इत्यादि सन्दर्भ से इस प्रसङ्ग में सूत्रकार की अनुमति दिखलाते हैं । द्रव्यविशेष में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले श्वेत गुण से ही श्वैत्यबुद्धि अर्थात्

प्रशस्तपादभाष्यम्

न तु लैङ्गिकं ज्ञानमभेदेनोत्पद्यते । तस्माद्विषमोऽयमुपन्यासः । न, आशूत्पत्तेः । यथा शब्दवदाकाशमित्यत्र त्रीणि ज्ञानान्याशूत्पद्यन्ते, तथा द्वित्वादिज्ञानोत्पत्तावित्यदोषः ।

अर्थात् (विशिष्टज्ञानरूप विशेष्य ज्ञान में विशेषण कारण है), अतः लैङ्गिक ज्ञान अर्थात् अनुमिति में लिङ्ग अर्थात् हेतु अभेद सम्बन्ध से भासित नहीं होता (किन्तु 'श्वेतः शङ्खः' इत्यादि आकार के विशेष्य ज्ञान अथवा विशिष्ट ज्ञान में 'श्वेत' रूप विशेषण अभेद सम्बन्ध से भासित होता है), अतः विशेष्य में विशेषण के न रहते हुए भी विशेषण के केवल ज्ञान से ही विशिष्ट ज्ञान की उपपत्ति के लिए लैङ्गिक ज्ञान को दृष्टान्त रूप में उपस्थित करना युक्त नहीं है; क्योंकि लैङ्गिक ज्ञान एवं विशेष्य ज्ञान दोनों समान नहीं हैं । (प्र.) 'द्वे द्रव्ये इस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से द्रव्य की तरह उसमें विशेषणीभूत द्वित्व भी प्रकाशित होता है; किन्तु उस समय द्वित्व

न्यायकन्दली

दर्शयति–तथा चाहेति । **समवायिनः समवेताच्छ्वैत्याच्छ्वेतगुणाच्छ्वैत्यबुद्धेः श्वेते द्रव्ये बुद्धिर्भवति श्वेतं द्रव्यमिति । ते विशेषणविशेष्यबुद्धी कार्यकारणभूते कार्यकारणस्वभावे इति सूत्रेण विशेषणस्यानुरञ्जकत्वमुक्तम् । तच्चाविद्यमानस्य नास्तीति भावः ।**

सम्प्रति लैङ्गिकज्ञानस्य विशेष्यज्ञानात् 'तु'शब्देन विशेषं सूचयन्नाह–न त्विति । **लैङ्गिकं ज्ञानं लिङ्गाभेदेन लिङ्गिनो लिङ्गोपसर्जनताग्राहितया नोत्पद्यते ।** तस्माद्विषमोऽयमुपन्यासः । **लैङ्गिकवदित्युपन्यासो विषमो द्वे द्रव्ये इति ज्ञानेन सह तुल्यो न भवतीत्यर्थः । द्वे द्रव्ये इति ज्ञानकाले द्वित्वमपि नास्ति कथं तद्विशिष्टमेव ग्रहणम् ? न, ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वस्मिन् क्षणे तस्य सद्भावात् । सर्वत्र**

श्वेत द्रव्य में श्वैत्यबुद्धि की उत्पत्ति होती है; क्योंकि श्वैत्य बुद्धि एवं श्वेत गुण इन दोनों में पहला कार्य है और दूसरा कारण ।

अब लैङ्गिक ज्ञान (अनुमिति) से प्रकृत विशेष्य (विशिष्ट) ज्ञान में 'तु' शब्द के द्वारा अन्तर दिखलाते हुए 'न तु' इत्यादि भाष्य लिखते हैं । अर्थात् (जिस प्रकार 'श्वेतः शङ्खः' इस विशिष्टबुद्धि में श्वेतगुणविशिष्ट अभेद सम्बन्ध से भासित होता है, उसी प्रकार) लैङ्गिक ज्ञान में लिङ्ग का अभेद भासित नहीं होता है, फलतः अनुमिति में साध्य का भान होता है; किन्तु साध्य में विशेषण होकर हेतु का भान नहीं होता, अतः कोई भी अनुमिति लिङ्गाभेदविशिष्ट लैङ्गिक विषयक न होने के कारण लिङ्ग में साध्य की उपसर्जनता नहीं होती । तस्मात् इसका दृष्टान्त रूप से 'लैङ्गिकवत्' इस वाक्य का उत्थापन 'विषम' है, अर्थात् लैङ्गिकवत् यह दृष्टान्त प्रकृत 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान के बराबर नहीं है । (प्र.) 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान के समय जब द्वित्व की सत्ता ही नहीं है, तो फिर द्वित्व से युक्त द्रव्य का उस ज्ञान से ग्रहण ही कैसे होता है ? (उ.)

प्रशस्तपादभाष्यम्

का नाश मान लेने पर भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा केवल विद्यमान विषय ही प्रकाशित होते हैं । अतः यही कहना पड़ेगा कि उक्त प्रत्यक्ष के समय तक द्वित्व का नाश नहीं होता । तस्मात् सहानवस्थानरूप विरोध पक्ष में जो 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की अनुत्पत्तिरूप आपत्ति दी गयी है, वह अयुक्त है । इसी प्रश्न का समाधान 'न, आशूत्पत्तेः' इत्यादि से देते हैं । (उ.) नहीं, अर्थात् कथित द्रव्यप्रत्यक्ष के समय द्वित्व का नाश अवश्य ही हो जाता है । 'द्वे द्रव्ये' यह एक ही विशिष्ट ज्ञान नहीं है; किन्तु अलग-अलग दो ज्ञान हैं । अतिशीघ्रता से उत्पन्न होने के कारण 'द्वे','द्रव्ये' एवं 'द्वे द्रव्ये' ये तीन ज्ञान 'द्वे द्रव्ये' इस आकार के एक विशिष्ट ज्ञान की तरह मालूम पड़ते हैं । जैसे कि 'शब्दवदाकाशम्' यह एक विशिष्ट ज्ञान नहीं है; किन्तु 'शब्दः', 'आकाशः' एवं 'शब्दवदाकाशम्' ये तीन ज्ञान हैं, फिर भी क्रमशः अतिशीघ्रता से उत्पन्न होने के कारण उन तीनों ज्ञानों में एक ही विशिष्ट ज्ञान की तरह व्यवहार होता है, इसी प्रकार 'द्वे द्रव्ये' यहाँ भी समझना चाहिए ।

न्यायकन्दली

द्वित्वप्रत्यक्षज्ञानस्य पूर्वक्षणवर्त्येवार्थो विषयः, अस्ति च 'द्वे द्रव्ये' इति ज्ञानोत्पादात् पूर्वस्मिन् क्षणे द्वित्वमिति तदुपसर्जनता भवत्येव । इदं त्विह वक्तव्यम्—द्वे द्रव्ये इति ज्ञाने यथा द्रव्यं प्रतिभाति तथोपसर्जनीभूतं द्वित्वमपि, न चाविद्यमानस्य द्वित्वस्य प्रतिभासो युक्तः । तस्मादेतदविनष्टमेव तदानीं विशेष्यज्ञानस्यालम्बनं स्यात्, तदवभासमानतालक्षणत्वात् तदालम्बनताया इत्यत आह—नाशूत्पत्तेरिति । **द्रव्यज्ञानकाले द्वित्वं न विनष्टमित्येतन्न, आशूत्पत्तेर्द्वित्वगुणज्ञानस्य द्रव्यज्ञानस्य च**

नहीं (यह बात नहीं है); क्योंकि द्वित्व के सभी प्रत्यक्षों में पहले क्षण में विद्यमान द्वित्व ही प्रतिभासित होता है । प्रकृत में भी 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान से पहले क्षण में द्वित्व की सत्ता तो है ही, अतः द्वित्व में उक्त उपसर्जनता के रहने में कोई बाधा नहीं है । इस प्रसङ्ग में यह आक्षेप किया जाता है कि 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान में द्रव्य की तरह द्वित्व का भी प्रतिभासित होना कहा गया है, सो ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि उक्त प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में अविद्यमान द्वित्व का प्रतिभास कैसे होगा ? अतः उक्त ज्ञान का अविनष्ट द्वित्व ही अवलम्बन हो सकता है; क्योंकि उस ज्ञान में प्रतिभासित होना ही उस ज्ञान का अवलम्बन होना है । इसी आक्षेप का समाधान 'न, आशूत्पत्तेः' इत्यादि भाष्य से कहते हैं । अर्थात् 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान के समय द्वित्व का नाश हो जाता है; किन्तु 'आशूत्पत्ति' से (उक्त ज्ञान की उपपत्ति होती है), अर्थात्

प्रशस्तपादभाष्यम्

वध्यघातकपक्षेऽपि समानो दोष इति चेत् ? स्यान्मतम्—ननु वध्यघातकपक्षेऽपि तर्हि द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गः ? कथम् ? द्वित्वसामान्यबुद्धिसमकालं संस्कारादपेक्षाबुद्धिविनाशादिति । न,

(प्र.) 'वध्यघातक' रूप विरोध पक्ष में भी तो द्रव्य ज्ञान की अनुत्पत्ति रूप आपत्ति है ही; क्योंकि द्वित्वत्व जाति के ज्ञान के समय ही संस्कार से अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाएगा । (उ.) नहीं;

न्यायकन्दली

शीघ्रमुत्पादात् क्रमस्याग्रहणे द्वित्वद्रव्ययोरेकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रतिभास इत्यभिमानः । वस्तुवृत्त्या तु पूर्वं द्वित्वस्य प्रतिभासस्तदनु द्रव्यस्येत्यर्थः । अत्र प्रकृतानुरूपं दृष्टान्तमाह—यथेति । शब्दवदाकाशमित्यत्र शब्दज्ञानमाकाशज्ञानं शब्दविशिष्टाकाशज्ञानं च त्रीणि ज्ञानान्याशूत्पद्यन्ते यथा, तथा द्वित्वादिविज्ञानोत्पत्तावपि । किमुक्तं स्यात् ? यथा शब्दादिज्ञानेष्वाशुभावितया क्रमस्याग्रहणे युगपत्प्रतिभासाभिमानस्तथा द्वित्वद्रव्यज्ञानयोरपीति ।

वध्यघातकपक्षेऽपि द्रव्यज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्ग इति केनचिदुक्तं तदाशङ्कते—वध्यघातकपक्षेऽपीति । **अस्यार्थं विवृणोति स्यान्मतमित्यादिना । यदि गुणबुद्धिसमकालं द्वित्वविनाशे द्रव्यज्ञानं नोत्पद्यते ?**

'द्वे द्रव्ये' ये दो ज्ञान हैं, जो अत्यन्त शीघ्रता से एक के बाद उत्पन्न होते हैं । इस शीघ्रता के कारण ही दोनों का अन्तर समझ में नहीं आता, एवं यह अभिमान होता है कि 'द्वे द्रव्ये' इस आकार का एक ही विशिष्टज्ञान है, जिसमें द्वित्व और द्रव्य दोनों ही प्रतिभासित होते हैं; किन्तु वस्तुतः यहाँ पहले (ज्ञान में) द्वित्व का प्रतिभास होता है, पीछे (के ज्ञान में) द्रव्य का । 'यथा' इत्यादि से इस प्रसङ्ग के अनुरूप दृष्टान्त देते हैं । अभिप्राय यह है कि 'शब्दवदाकाशम्' यहाँ पर शब्दज्ञान, आकाशज्ञान एवं शब्दविशिष्ट आकाशज्ञान ये तीन ज्ञान क्रमशः अत्यन्त शीघ्रता से उत्पन्न होते हैं । एवं इस अत्यन्त शीघ्रता के कारण ही तीनों ज्ञानों का अन्तर गृहीत नहीं हो पाता और तीनों शब्द, आकाश और शब्दविशिष्ट आकाश इनके एक ही समय प्रतभासित होने का अभिमान होता है । वैसे ही द्वित्वज्ञान और द्रव्यज्ञान इन दोनों में भी है ।

किसी की शङ्का है कि वध्यघातक पक्ष में 'द्वे द्रव्ये' इस आकार के द्रव्यज्ञान की अनुपपत्ति है ही । 'वध्यघातकपक्षेऽपि' इत्यादि से इसी शङ्का का उत्थापन करके 'स्यान्मतम्' इत्यादि से उसकी व्याख्या करते हैं । अर्थात् द्वित्व रूप गुणविषयक 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान के समय ही द्वित्व के नष्ट हो जाने के कारण द्रव्यविषयक उक्त 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति न भी हो फिर भी वध्यघातक पक्ष में द्रव्य ज्ञान की अनुत्पत्ति रूप दोष है ही ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

समूहज्ञानस्य संस्कारहेतुत्वात् । समूहज्ञानमेव संस्कारकारणं नालोचनज्ञानमित्यदोषः ।

क्योंकि समूह ज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान संस्कार का कारण है । अर्थात् समूह ज्ञान ही संस्कार का कारण है, आलोचन (निर्विकल्पक) ज्ञान नहीं, अतः उक्त आपत्ति नहीं है । अतः उक्त 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का अनुत्पत्तिरूप दोष नहीं है ।

न्यायकन्दली

तर्हि वध्यघातकपक्षेऽपि तदनुत्पत्तिः । अत्रोपपत्तिमाह–सामान्यबुद्धिसमकालं संस्कारादपेक्षाबुद्धिविनाशादिति । **यथापेक्षाबुद्धिरुत्पन्ना द्वित्वं जनयति तथा संस्कारमपि, स च तस्या विनाशकः । तेन संस्कारस्य द्वित्वस्य चोत्पादे द्वित्वसामान्यज्ञानस्य चोत्पद्यमानतापेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्तेत्येकः कालः । ततो द्वित्वसामान्यज्ञानस्य चोत्पादो गुणबुद्धेश्चोत्पद्यमानतापेक्षाबुद्धेर्विनाशो द्वित्वस्य विनश्यत्तेत्येकः कालः । ततो गुणबुद्धेरुत्पादो द्वित्वस्य विनाश इति क्षणान्तरे तदपेक्षस्य द्वे इति ज्ञानस्यानुत्पाद इति वध्यघातकपक्षेऽपि तुल्यो दोषः । समाधत्ते**–न, समूहज्ञानस्य संस्कारहेतुत्वादिति । **एतदेव विवृणोति**–समूह **इत्यादिना । समूहज्ञानं द्वित्वगुणविशिष्टद्रव्यज्ञानमेव संस्कारं करोति, नालोचनज्ञानम्, न निर्विकल्पकमपेक्षाज्ञानम्, अतो नास्य संस्काराद्विनाश इत्यर्थः ।**

इसी विषय में 'समानबुद्धिसमकालम्' इत्यादि ग्रन्थ लिखा गया है । अभिप्राय यह है कि जैसे अपेक्षाबुद्धि स्वयं उत्पन्न होकर द्वित्व को उत्पन्न करती है, वैसे ही संस्कार भी (स्वयं उत्पन्न होकर ही द्वित्व को उत्पन्न करता है), एवं संस्कार अपेक्षाबुद्धि का विनाशक भी है, अतः संस्कार और द्वित्व इन दोनों के उत्पन्न हो जाने पर सामान्यरूप द्वित्व (द्वित्वत्व) विषयक ज्ञान की उत्पद्यमानता (उक्त ज्ञान के सभी कारणों का एकत्र होना) और अपेक्षाबुद्धि की विनश्यत्ता (अर्थात् विनाश के सभी कारणों का एकत्र होना) इतने काम एक समय में होते हैं (यह मानना पड़ेगा) । इसके बाद गुणरूप द्वित्व का ज्ञान और द्वित्व का नाश, ये दो काम होते हैं । अतः इसके बाद के क्षण में द्वित्व से उत्पन्न होनेवाले 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी । इस प्रकार वध्यघातक पक्ष में भी द्रव्यज्ञान का उक्त अनुत्पत्तिरूप दोष तो समान ही है । "न, समूहज्ञानस्य संस्कारहेतुत्वात्" इत्यादि से इस आक्षेप का समाधान कर 'समूह' इत्यादि से इसकी व्याख्या करते हैं । अभिप्राय यह है कि 'समूहज्ञान' अर्थात् द्वित्वगुण-विशिष्ट द्रव्य का ज्ञान ही संस्कार का उत्पादक है, आलोचन (केवल विशेष्य) ज्ञान नहीं, निर्विकल्पक ज्ञानरूप अपेक्षाज्ञान भी नहीं, अतः संस्कार

प्रशस्तपादभाष्यम्

ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्ग इति चेत् ? स्यान्मतम्—ननु ज्ञानानां वध्यघातकविरोधे ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्ग इति । न, अविनश्यतोरवस्थान-प्रतिषेधात् । ज्ञानायौगपद्यवचनेन ज्ञानयोर्युगपदुत्पत्तिरविनश्यतोश्च

(प्र.) इस पक्ष में 'ज्ञानयौगपद्य' की आपत्ति होगी ? अर्थात् अगर 'वध्यघातक' रूप विरोध मानें तो एक ही क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति (ज्ञानयौगपद्य) की आपत्ति होगी । (उ.) नहीं, क्योंकि (ज्ञानयौगपद्य के खण्डन से) एक ही क्षण में अविनाशावस्था वाले दो ज्ञानों की सत्ता खण्डित होती है । अर्थात् उक्त 'ज्ञानायौगपद्य' वाक्य

न्यायकन्दली

अपेक्षाज्ञानस्य संस्काराहेतुत्वे द्रव्यविवेकेनैकगुणयोः स्मरणं प्रमाणम्, गुणविशिष्टद्रव्य-ज्ञानस्य तद्धेतुत्वे चाविशिष्टद्रव्यस्मरणं प्रमाणम् । यदि ज्ञानमुत्पद्य पूर्वोत्पन्नं ज्ञानं विनाशयति तदेतस्मिन् पक्षे तयोः सहावस्थानं प्राप्नोति, ततश्च ज्ञानायौगपद्यादिति सूत्रविरोध इति केनचिदुक्तं तदाशङ्कते—ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्ग इति चेत् ? स्यान्मतमित्यादिना । **अस्य विवरणं करोति—**नन्वित्यादिना । **समाधत्ते—**नेति । **एकस्मिन् क्षणे विनाश्यविनाशकज्ञानयोः सहावस्थानं न दोषाय, ज्ञानायौगपद्यादिति सूत्रेणाविनश्यतोरवस्थानप्रतिषेधात् । एतदेव दर्शयति—**ज्ञानायौगपद्यवचनेन ज्ञानयोर्युगपदुत्पत्तिरविनश्यतोश्च युगपदवस्थानं

से द्वित्व का विनाश नहीं हो सकता है । द्रव्य को छोड़कर दोनों गुणरूप एकत्वों के स्मरणरूप प्रमाण से ही यह समझते हैं कि 'उक्त अपेक्षाज्ञान संस्कार का कारण नहीं है' । एवं गुणविशिष्ट द्रव्य के स्मरणरूप प्रमाण से ही यह भी समझते हैं कि 'गुणविशिष्ट द्रव्य का ज्ञान संस्कार का कारण है' । किसी का कहना है कि (प्र.) अगर एक ज्ञान उत्पन्न होकर पहले उत्पन्न दूसरे ज्ञान को (अपने अगले ही क्षण में) नष्ट करता है तो फिर इस (वध्यघातक) पक्ष में उन दोनों ज्ञानों की एक ही (विनाशक ज्ञानोत्पत्ति) क्षण में स्थिति प्राप्त हो जाती है । ऐसा होने पर 'ज्ञानायौगपद्यात्' यह सूत्र विरुद्ध होता है । यही आक्षेप 'ज्ञानायौगपद्यप्रसङ्गः स्यान्मतम्' इत्यादि से करते हैं । 'ननु' इत्यादि से इसी आक्षेपोक्ति की व्याख्या करते हैं । 'न' इत्यादि से इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार करते हैं कि एक क्षण में विनाश्य एवं विनाशक इन दो ज्ञानों की अवस्थिति से ज्ञानयौगपद्यरूप दोष नहीं होता है । 'ज्ञानायौगपद्यात्' इस सूत्र के द्वारा विनाश्यविनाशकभावानापन्न परस्पर निरपेक्ष दो ज्ञानों की एक क्षण में सत्ता का ही निषेध महर्षि कणाद को उक्त सूत्र से अभीष्ट है । 'ज्ञानायौगपद्य-वचनेन' इत्यादि भाष्य के द्वारा यही उपपादन किया गया है । अर्थात् वध्यघातक पक्ष में अनेक ज्ञानों की एक क्षण में (एक आत्मा में) उत्पत्ति की आपत्ति

प्रशस्तपादभाष्यम्

युगपदवस्थानं प्रतिषिध्यते । न हि वध्यघातकविरोधे ज्ञानयोर्युगपदुत्पत्ति-रविनश्यतोश्च युगपदवस्थानमस्तीति ।

से एक ही क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति एवं अगले ही क्षण में विनष्ट न होनेवाले ज्ञानों की स्थिति खण्डित होती है । वध्यघातक पक्ष में एक क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति एवं अविनष्टावस्थावाले अनेक ज्ञानों की स्थिति नहीं (माननी पड़ती) है ।

न्यायकन्दली

प्रतिषिध्यत इति । वध्यघातकपक्षे च न ज्ञानयोर्युगपदुत्पादोऽस्ति, नाप्यविनश्यतोः सहावस्थानमेकस्योत्पादे द्वितीयस्य विनश्यद्रूपत्वादित्याह—न हीति । **'इति'शब्दः समाप्तिं कथयति ।**

अयि भोः सर्वमिदमुत्पत्त्यादिनिरूपणं द्वित्वस्यानुपपन्नम्, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । द्वे इति ज्ञानं प्रमाणमिति चेत् ? न, ग्राह्यलक्षणाभावात् । तथा ह्यर्थो ज्ञानग्राह्यो भवन्नुत्पन्नो भवति, अनुत्पन्नो वा ? उभयथाप्यनुपपत्तिरनुत्पन्नस्यासत्त्वात्, उत्पन्नस्य च स्थित्यभावात् । अतीत एवार्थो ज्ञानग्राह्यस्तज्जनकत्वादिति चेत् ? न, वर्तमानतावभासविरोधादिन्द्रियस्यापि ग्राह्यत्वप्रसङ्गाच्च । ईदृश एवार्थस्य स्वकारणसामग्रीकृतः स्वभावो येन जनकत्वाविशेषेऽप्ययमेव ग्राह्यो नेन्द्रियादिकम्-

नहीं है, एवं विनाश्यविनाशकभावानापन्न परस्पर निरपेक्ष अनेक ज्ञानों की स्थिति की भी आपत्ति नहीं है; क्योंकि एक (विनाशक) ज्ञान की उत्पत्ति के समय दूसरे (विनाश्य) ज्ञान की विनाशावस्था हो जाती है । यही बात 'न हि' इत्यादि से कहते हैं । इस 'इति' शब्द का अर्थ समाप्ति है ।

(प्र.) द्वित्व की उत्पत्ति या नाश अथवा ज्ञान, इन सबों का निरूपण ही गलत है; क्योंकि द्वित्वादि संख्याओं की सत्ता ही प्रमाणशून्य है । (उ.) 'द्वे' (यह दो है) इस आकार का ज्ञान ही द्वित्व संख्या की सत्ता में प्रमाण है । (प्र.) नहीं; क्योंकि 'द्वित्व' ग्राह्यलक्षण (ज्ञान से गृहीत होने योग्य) नहीं है । (उ.) अभिप्राय यह है कि उत्पन्न वस्तुओं का या अनुत्पन्न वस्तुओं का ही ज्ञान से ग्रहण होगा । इन दोनों में से किसी भी प्रकार से द्वित्वादिविषयक ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती है; क्योंकि उत्पन्न वस्तुओं की स्थिति रहती है, एवं अनुत्पन्न वस्तुओं का अस्तित्व ही नही होता है (उ.) अतीत वस्तु ही ज्ञान से गृहीत होता है; क्योंकि वही अर्थज्ञान का कारण है । (प्र.) नहीं; क्योंकि इससे वर्त्तमानत्व की स्वाभाविक प्रतीति विरुद्ध हो जाएगी । एवं (ज्ञान के कारण होने से ही अगर ज्ञान से ग्राह्य भी हो तो फिर) इन्द्रियों के भी (प्रत्यक्ष) ज्ञान की आपत्ति होगी । यह कहें कि (उ.) वस्तुओं के अपने उत्पादक कारणों से यही स्वभाव प्राप्त

न्यायकन्दली

तदनन्तरक्षणविषयश्च वर्तमानतावभास इति चेत् ? किं पुनरिदमस्य ग्राह्यत्वम् ? ज्ञानं प्रति हेतुत्वमिति चेत् ? पुनरपीन्द्रियस्य ग्राह्यत्वमापतितम्, हेतुत्वमात्रस्य तत्राप्यविशेषात् । ज्ञानस्य स्वसंवेदनमेवान्यस्य ग्राह्यतेति चेत्? अन्यस्य स्वरूपसंवेदनमन्यस्य ग्राह्यतेत्यतिचित्रमेतत् । न चित्रम्, स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात् । अर्थावग्रहस्वभावं हि विज्ञानम् । तेनास्य स्वरूपसंवेदनमेवार्थस्य ग्रहणं भवति । यदर्थजं चेदं तस्यैवायमवग्रहो न सर्वस्येति नातिप्रसक्तिः ? न, एकार्थत्वात् । अर्थजत्वं नाम ज्ञानस्यार्थादुत्पत्तिः । सा चैका । न च ज्ञानार्थयोर्धर्म इति नार्थं नियमयेत् । अथार्थस्य न ज्ञानम् अन्यधर्मत्वात्, उभयनियमाच्च तयोः परस्परग्राह्यग्राहकभावव्यवस्था नैकसम्बन्धि-नियमात् । न चातीतानागतयोरर्थयोर्ज्ञानं प्रत्यस्ति कारणत्वम्, असत्त्वात् । विषयविषयि-भावनियमाद् ग्राह्यग्राहकभावनियम इति चेत्, न, अभेदात् । ग्राह्यत्वमेव विषयत्वम्,

है कि घटादि और इन्द्रियादि इन दोनों प्रकार की वस्तुओं में ज्ञान की कारणता समान रूप से रहने पर भी घटादि वस्तुएँ ही ग्राह्य हैं, इन्द्रियादि वस्तुएँ नहीं । एवं वस्तु की उत्पत्ति के अव्यवहित आगे के क्षण का ज्ञान ही वस्तु के वर्तमानत्व का अवभास है । (प्र.) घटादि वस्तुओं में रहनेवाला एवं इन्द्रियादि वस्तुओं में न रहनेवाला यह 'ग्राह्यत्व' क्या वस्तु है ? अगर (उ.) ज्ञान के प्रति कारणत्व ही यह ग्राह्यत्व है तो (प्र.) इन्द्रियादि में फिर ग्राह्यत्व की आपत्ति होगी; क्योंकि ज्ञान का हेतुत्व भर तो इन्द्रियादि में भी समानरूप से है । (उ.) ज्ञान का 'स्वसंवेदन' ही घटादि वस्तुओं की ग्राह्यता है । (प्र.) यह तो बड़ी विचित्र बात है कि एक वस्तु के स्वरूप का ज्ञान दूसरे की ग्राह्यता हो । (उ.) नहीं, इसमें कोई विचित्रता नहीं है; क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव अभियोग की सीमा से बाहर है । विज्ञान अर्थग्रहण स्वरूप ही है, अतः विज्ञान के स्वरूप के संवेदन से ही अर्थ का ग्रहण होता है । इनमें से जो अर्थ विज्ञान का (विषयविधया) कारण होता है, उस अर्थ का ग्रहण ही विज्ञान है, सभी अर्थों का ग्रहण विज्ञान नहीं है, अतः इन्द्रियज्ञान की आपत्ति नहीं है । (प्र.) नहीं; क्योंकि वह एक ही काम कर सकती है । अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति ही ज्ञान का अर्थजन्यत्व है, अतः वह अर्थ और ज्ञान दोनों का धर्म नहीं हो सकता (वह ज्ञान का ही धर्म है, अतः) ज्ञानों का ही नियमन कर सकता है, अर्थों का नहीं । अगर अर्थ का धर्म है तो फिर ज्ञानों का ही नियमन नहीं कर सकता; क्योंकि वह दूसरे का धर्म है । दोनों के नियम से ही 'ग्राह्य-ग्राहक व्यवस्था' की, अर्थात् घटविषयक ज्ञान का ग्राह्य घट ही है, घटजन्य ही घटज्ञान है । इस व्यवस्था की उपपत्ति हो सकती है, किसी एक के नियम से नहीं । एवं भूत और भविष्य अर्थ ज्ञान के कारण भी नहीं हैं; क्योंकि उस समय उनका अस्तित्व

न्यायकन्दली

ग्राहकत्वमेव विषयित्वम्, तयोः प्रतिनियम एव कारणे पृष्टे तदेवोत्तरमुच्यत इति सर्वोत्तरधियां परिस्फुरति । नियतार्थावग्राहितापि ज्ञानस्य स्वभाव इति चेत् ? स पुनरस्य स्वभावो यदि निर्हेतुको नियमो न प्राप्नोति । अथ कारणवशात् ? तदेवोच्यतां किं स्वभावपरिघोषणया, न च तदुत्पत्तेरन्यत् पश्यामः । अथोच्यते यदुत्पादयति सरूपयति ज्ञानम्, तदस्य ग्राह्यं नेतरत् । अवश्यं चार्थाकारो ज्ञानेऽप्येषितव्यः, अन्यथा निराकारस्य बोधमात्रस्य सर्वार्थं प्रत्यविशेषाद् नीलस्येदं पीतस्येदमिति व्यवस्थानुपपत्तौ ततोऽर्थ-विशेषप्रतीत्यभावात् । अत एव विषयाकारं प्रमाणमाहुः । स चासाधारणो ज्ञानमर्थ-विशेषेण सह घटयति, न साधारणमिन्द्रियादिकम् । तदुक्तम्—

अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥

अपरत्र चोक्तम्—न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्रा-

ही नहीं है । (उ.) 'विषयविषयिभाव' से ही 'ग्राह्यग्राहकभाव' की व्यवस्था होगी । (प्र.) नहीं; क्योंकि दोनों एक ही बात है । ग्राह्यत्व और विषयत्व एक ही वस्तु हैं । एवं ग्राहकत्व और विषयित्व इन दोनों में भी कोई अन्तर नहीं है । इन दोनों के कारण के पूछने पर उन्हीं दोनों को उपस्थित करते हैं । इस प्रकार का उत्तर तो किसी लोकोत्तर बुद्धिवाले को ही सूझ सकता है । (उ.) ज्ञान का यह भी स्वभाव है कि वह किसी नियत अर्थ को ही ग्रहण करे (प्र.) यह (नियतविषयग्राहकत्व) ज्ञान का स्वभाव तभी हो सकता है जब कि वह बिना किसी कारण के ही ज्ञान में रहे । अगर यह स्वभावनियम भी किसी कारण से ही ज्ञान में रहे तो फिर उसी का उल्लेख क्यों नहीं करते, स्वभाव की घोषणा क्यों करते हैं ? अगर ज्ञान की उत्पत्ति को छोड़कर ज्ञान के (विषय) नियम का और किसी को कारण ही नहीं समझते ? अगर यह कहें कि (उ.) जो जिस ज्ञान को उत्पन्न करती है और आकार प्रदान करती है, वही वस्तु उस ज्ञान की ग्राह्य है और कोई वस्तु नहीं । एवं ज्ञान में अर्थाकारता भी माननी ही पड़ेगी; क्योंकि ज्ञान को अगर निराकार मानें तो फिर सभी विषयों के प्रति समान ही होगा । इससे 'यह ज्ञान नीलविषयक है एवं वह पीत विषयक' इस व्यवस्था की उपपत्ति नहीं होगी, अतः इस पक्ष में ज्ञानविशेष से अर्थविशेष का बोध नहीं होगा । अतः विषय के आकार को ही प्रमाण कहते हैं । वह असाधारण आकार ही ज्ञान को अर्थविशेष के साथ सम्बद्ध करता है, साधारण इन्द्रियादि नहीं । जैसा कहा है कि इस अर्थरूपता (अर्थाकारता) को छोड़कर ज्ञान को अर्थ के साथ कोई सम्बद्ध नहीं करता है, अतः ज्ञान की प्रमेयाकारता को छोड़कर प्रमेय के यथार्थ ज्ञान का कोई दूसरा करण (प्रमाण) नहीं है । दूसरी जगह और भी कहा है कि वित्ति (ज्ञान) की सत्ता मात्र

न्यायकन्दली

विशेषात् । तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेदिति । अत्रोच्यते—साकारेण ज्ञानेन किमर्थोऽनुभूयते ? किं या स्वाकारः ? किमुतोभयम् ? न तावदुभयम्, नीलमेतदित्येकस्यैवाकारस्य सर्वदा संवेदनात् । अर्थस्य च ज्ञानेनानुभवो न युक्तः, तस्य स्वरूपसत्ताकाले ज्ञानानुत्पादाज्ज्ञानकाले चातीतस्य वर्तमानतावभासायोगात् । ज्ञानसहभाविनः क्षणस्यायं वर्त्तमानतावभास इति स्वसिद्धन्तश्रद्धालुतेयम्, तस्य तदग्राह्यत्वात् ।कश्चात्र हेतुर्यद्विज्ञानं नियतमर्थं बोधयति न सर्वम् ? न हि तयोरस्ति तादात्म्यम्, तदुत्पत्तिश्च न व्यवस्थाहेतुरित्युक्तम् । तदाकारता नियमहेतुरिति चेत् ? किमित्येको नीलक्षणः समानाकारं नीलान्तरं न गृह्णाति ? ग्राहकत्वं ज्ञानस्यैव स्वभावो नार्थस्येति चेत् ? तथाप्येकं नीलज्ञानं सर्वेषां नीलक्षणानां ग्राहकं स्यात्, तदाकारत्वाविशेषात् । तदुत्पत्तिसारूप्याभ्यां स्वोत्पादकस्यैवार्थक्षणस्य ग्राह्यता न सर्वेषामिति

से वस्तुओं का ज्ञान सम्भव नहीं है; क्योंकि वह सभी वस्तुओं में समान रूप से है; किन्तु उसमें विषयाकारता का प्रवेश होने पर उसी से विषयों का अवभास होता है । (प्र.) इस प्रसङ्ग में मेरा कहना है कि आकार से युक्त ज्ञान के द्वारा अर्थ की अनुभूति होती है ? या उसके अपने आकार का ही अनुभव होता है ? अथवा आकार एवं वस्तु दोनों का ही अनुभव होता है ? दोनों का अनुभव तो उससे होता नहीं; क्योंकि 'यह नील है' इससे एक ही आकार का अनुभव होता है । एवं ज्ञान के द्वारा अर्थ का अनुभव सम्भव भी नहीं है; क्योंकि अर्थ के अस्तित्व के समय ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।एवं ज्ञान के अस्तित्व के समय वस्तुएँ अतीत हो जाती हैं, अतः वर्त्तमानत्वविषयक वस्तुओं की 'घटोऽस्ति' इत्यादि प्रतीतियाँ असम्भव हैं । 'घटोऽस्ति' इत्यादि आकार की प्रतीतियों में भासित होनेवाला वर्त्तमानत्व घटादि अर्थों का नहीं; किन्तु ज्ञान के साथ उत्पन्न होनेवाले क्षण का है, यह कहना केवल अपने सिद्धान्त में अत्यन्त श्रद्धा प्रकट करना है; क्योंकि वर्त्तमानत्व उस ज्ञान का ग्राह्य ही नहीं है । एवं इसमें भी कारण कहना पड़ेगा कि एक ज्ञान किसी नियत विषय को ही ग्रहण करे, सभी विषयों को नहीं । पहले कह चुके हैं कि वस्तु विज्ञान से अभिन्न नहीं है । यह भी कह चुके हैं कि विज्ञान की उत्पत्ति (यह ज्ञान इसी विषय का बोधक है, दूसरे ज्ञान का नहीं, इस) व्यवस्था का कारण नहीं है । (उ.) तदाकारता ही (अर्थात् जिसमें जिस अर्थ की आकारता है, फलतः जो ज्ञान यदाकारक है वही उसका नियामक है) इस नियम का कारण होगी । (प्र.) तो क्या एक नील क्षण (का ग्राहक विज्ञान) समान आकार के दूसरे नील को भी ग्रहण नहीं करता है ? (उ.) ग्राहकत्व अर्थात् अर्थ को ग्रहण करना तो ज्ञान का स्वभाव है, अर्थ का नहीं । (प्र.) फिर भी एक ही नील विज्ञान सभी नील क्षणों का ग्राहक होगा; क्योंकि सभी नील क्षणों के आकार में तो कोई अन्तर नहीं है । (उ.) वस्तुओं की उत्पत्ति एवं (ज्ञान में) उसका आकारतारूप सादृश्य

न्यायकन्दली

इन्द्रियसमनन्तरप्रत्यययोरपि ग्राह्यतापत्तिः । ताभ्यामपि हि ज्ञानमुत्पद्यते, बिभर्ति च तयोर्यथास्वं विषयग्रहणप्रतिनियमं बोधात्मकं च सारूप्यम् । अथ मतं यदेतद्विषयग्रहणप्रतिनियतत्वमिन्द्रियसारूप्यं विज्ञानस्य, यदपि समनन्तरप्रत्ययसारूप्यं बोधात्मकत्वम्, तदुभयमपि सर्वज्ञानसाधारणम्, आसाधरणं तु विषयसारूप्यम्, नीलज एव नीलज्ञाने नीलाकारस्य सम्भवात् । यश्चासाधारणो धर्मः स एव नियामक इत्येतावता विशेषेण ज्ञानमर्थं गृह्णाति नेन्द्रियसमनन्तरप्रत्ययाविति । तदप्यसारम्, समानविषयस्य समनन्तरप्रत्ययस्य ग्रहणप्रसङ्गात् । यो विज्ञाने नीलाद्याकारमर्पयति स एव तस्य ग्राह्यः, न च धारावाहिकविज्ञाने समनन्तरप्रत्ययान्नीलाद्याकारस्योत्पत्तिः, किन्त्वर्थादस्यैव तदुत्पत्तावन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वत्र सामर्थ्योपलब्धेर्बोधाकारोत्पत्तावेव बोधस्य सामर्थ्यावगमादिति चेत् ? नीलाद्याकारसमर्पको ग्राह्य इति कस्येयमाज्ञा ? नान्यस्य कस्यचित्, तस्यैव तु ग्राह्यत्वस्वभावनियमो नियामकः । एवं चेत् स्वभावनियमादेव नियमोऽस्तु,

इन दोनों से अर्थ का ग्रहण होता है, अतः ज्ञान अपने उत्पादक अर्थक्षण का ही ग्राहक है और किसी का नहीं । (प्र.) तो फिर इन्द्रिय और समनन्तरप्रत्यय (मन) इन दोनों में भी ग्राह्यता आएगी; क्योंकि वे दोनों मिलकर ज्ञान का उत्पादन करते हैं । एवं ज्ञान उन दोनों से ही क्रमशः विषयग्रहण का नियम और बोधात्मकत्वरूप सादृश्य का लाभ करता है । अगर यह कहें कि (प्र.) ज्ञान में नियतविषयग्राहकत्व इन्द्रिय का सादृश्य एवं बोधात्मकत्वरूप समनन्तरप्रत्यय (मन) का सादृश्य है, तो फिर ये दोनों तो सभी ज्ञानों में समान रूप से हैं । ज्ञान में विषय से ही असाधारण्य होता है; क्योंकि नीलरूप विषयजन्य ज्ञान में ही नीलाकारता सम्भव है । आधारण धर्म ही नियामक होता है, इसी विशेष के कारण ज्ञान (अपने जनकों में से) विषय को ही ग्रहण करता है, इन्द्रिय और समनन्तरप्रत्यय (मन) को नहीं; किन्तु इस कथन में भी कुछ तत्त्व नहीं है; क्योंकि (नीलादिविज्ञान से नीलादि वस्तुओं की तरह समान नीलादिविषयक) समनन्तरप्रत्यय के ग्रहण की आपत्ति तब भी होगी । (उ.) जो वस्तु विज्ञान में नीलादि विषय के आकार का सम्पादन करती है, वही वस्तु उस विज्ञान की ग्राह्य है । धारावाहिक ज्ञान में भी समनन्तरप्रत्यय से नीलादि आकार की उत्पत्ति नहीं होती; किन्तु नीलादि अर्थों से ही होती है; क्योंकि आकार के प्रति अर्थ ही कारण है, चूँकि उसी के साथ आकार का अन्वय और व्यतिरेक है । एवं बोध में बोधाकार की उत्पत्ति का सामर्थ्य भी देखा जाता है । (प्र.) यह किसकी आज्ञा है कि विज्ञान में नीलादि आकार का जो सम्पादक हो वही विज्ञान का ग्राह्य हो ? (उ.) विज्ञान के साथ विषय ग्रहण का जो नियम है, वही उक्त नियम का सम्पादक है । किसी की आज्ञा से यह नियम नहीं बनाया गया है । (प्र.) फिर स्वभाव के नियम से ही उक्त नियम मानिए । ज्ञान

न्यायकन्दली

ज्ञानं हि स्वसामग्रीप्रतिनियतार्थसंवेदनात्मकमेवोपजायते । अर्थोऽपि संवेद्यस्वभावनियमादेव संवेद्यते, नेन्द्रियादिकमित्यकारणमाकारः । न हि छिदिक्रिया वृक्षाकारवती येनेयं वृक्षेण सह सम्बद्ध्यते न कुठारेण; किन्त्वस्या वृक्षस्य च तादृशः स्वभावो यदियमत्रैव नियम्येत नान्यत्र । अस्येदं संवेदनमिति च व्यवस्था तदवभासमात्रनिबन्धनैवेति तदर्थमप्याकारो न मृग्यः ।

अथ साकारेण ज्ञानेनार्थो न संवेद्यत एव, किन्तु स्वाकारमात्रम् । तदर्थसद्भावो निष्प्रमाणको न तावदर्थस्य ग्रहणम्, न चाध्यवसायो विकल्पो ह्यवशिष्यते, स चोत्प्रेक्षामात्रव्यापारो भवन्नपि प्रत्यक्षपृष्ठभावित्वाद्यत्र प्रत्यक्षं प्रवृत्तं तत्र स्वव्यापारं परित्यज्य कारणव्यापारमुपाददानो वस्तु साक्षात्करोति । यत्र तु प्रत्यक्षमेवाप्रवृत्तं तत्र विकल्पोऽप्यसमर्थ एव, कारणाभावात् । ज्ञानाकारः सदृशं कारणं व्यवस्थापयन्नर्थ-सिद्धौ प्रमाणमिति चेत् ? तत्किमिदानीं स्थूलाकारस्य समर्पकोऽप्यर्थो बहिरस्ति ? का गतिरस्य वचनस्य –

तस्मान्नार्थेन विज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।
एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न सम्भवः ॥ इति ।

अपने कारणों से नियमित विषय से ही उत्पन्न होता है । एवं अर्थ भी अपने ग्राह्यत्वरूप स्वभाव से ही विज्ञान के द्वारा गृहीत होता है, अतः विज्ञान में आकार का कोई उत्पादक नहीं है । जैसे कि वृक्ष की कुठारजनित छेदन-क्रिया वृक्ष-रूप आकार से युक्त नहीं है, फिर भी वह वृक्ष के साथ ही सम्बद्ध होती है, कुठार के साथ नहीं । अतः यह कल्पना सुलभ है कि छेदनक्रिया और वृक्ष दोनों का ही यह स्वभाव है कि वह छेदनक्रिया वृक्ष में ही नियमित रहे, अतः 'यह ज्ञान इसी विषयक है' इस नियम के लिए भी किसी आकार को खोजने की आवश्यकता नहीं है ।

अगर यह कहें कि साकार विज्ञान से अर्थ गृहीत नहीं होता है, केवल विज्ञान का अपना आकार की गृहीत होता है, अतः अर्थ की सत्ता ही अप्रामाणिक है, क्योंकि अर्थों का ग्रहण ज्ञानरूप भी नहीं हो सकता, अध्यवसाय रूप भी नहीं, किन्तु अर्थों का केवल विकल्परूप ज्ञान ही हो सकता है । वह अगर होता भी है तो प्रत्यक्ष के पीछे होता है, जहाँ प्रत्यक्ष प्रवृत्त भी होता है, वहाँ अपने व्यापार को छोड़कर अपने कारणादि के व्यापार को (विकल्परूप ज्ञान के द्वारा) ग्रहण कर वस्तु का साक्षात्कार करा देता है । जहाँ प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है,वहाँ कारण के न रहने से विकल्प भी असमर्थ ही है । (उ.) ज्ञान का आकार ही अपने सदृश कारण को सिद्ध करते हुए अर्थसिद्धि का भी जनक प्रमाण है । (प्र.) क्या यह कहना चाहते हैं कि घटादि स्थूल आकार का सम्पादक भी बाहर ही है ? तो फिर आपके इस वाक्य की क्या गति होगी ? अतः विज्ञान में विज्ञानात्मक स्थूल वस्तु का अवभास नहीं होता है ।

न्यायकन्दली

इन्द्रियसमनन्तरप्रत्यययोरपि ग्राह्यतापत्तिः । ताभ्यामपि हि ज्ञानमुत्पद्यते, बिभर्ति च तयोर्यथास्वं विषयग्रहणप्रतिनियमं बोधात्मकं च सारूप्यम् । अथ मतं यदेतद्विषयग्रहणप्रतिनियतत्वमिन्द्रियसारूप्यं विज्ञानस्य, यदपि समनन्तरप्रत्ययसारूप्यं बोधात्मकत्वम्, तदुभयमपि सर्वज्ञानसाधारणम्, आसाधरणं तु विषयसारूप्यम्, नीलज एव नीलज्ञाने नीलाकारस्य सम्भवात् । यश्चासाधारणो धर्मः स एव नियामक इत्येतावता विशेषेण ज्ञानमर्थं गृह्णाति नेन्द्रियसमनन्तरप्रत्ययाविति । तदप्यसारम्, समानविषयस्य समनन्तरप्रत्ययस्य ग्रहणप्रसङ्गात् । यो विज्ञाने नीलाद्याकारमर्पयति स एव तस्य ग्राह्यः, न च धारावाहिकविज्ञाने समनन्तरप्रत्ययान्नीलाद्याकारस्योत्पत्तिः, किन्त्वर्थादस्यैव तदुत्पत्तावन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वत्र सामर्थ्योपलब्धेर्बोधाकारोत्पत्तावेव बोधस्य सामर्थ्यावगमादिति चेत् ? नीलाद्याकारसमर्पको ग्राह्य इति कस्येयमाज्ञा ? नान्यस्य कस्यचित्, तस्यैव तु ग्राह्यत्वस्वभावनियमो नियामकः । एवं चेत् स्वभावनियमादेव नियमोऽस्तु,

इन दोनों से अर्थ का ग्रहण होता है, अतः ज्ञान अपने उत्पादक अर्थक्षण का ही ग्राहक है और किसी का नहीं । (प्र.) तो फिर इन्द्रिय और समनन्तरप्रत्यय (मन) इन दोनों में भी ग्राह्यता आएगी; क्योंकि वे दोनों मिलकर ज्ञान का उत्पादन करते हैं । एवं ज्ञान उन दोनों से ही क्रमशः विषयग्रहण का नियम और बोधात्मकत्वरूप सादृश्य का लाभ करता है । अगर यह कहें कि (प्र.) ज्ञान में नियतविषयग्राहकत्व इन्द्रिय का सादृश्य एवं बोधात्मकत्वरूप समनन्तरप्रत्यय (मन) का सादृश्य है, तो फिर ये दोनों तो सभी ज्ञानों में समान रूप से हैं । ज्ञान में विषय से ही असाधारण्य होता है; क्योंकि नीलरूप विषयजन्य ज्ञान में ही नीलाकारता सम्भव है । आधारण धर्म ही नियामक होता है, इसी विशेष के कारण ज्ञान (अपने जनकों में से) विषय को ही ग्रहण करता है, इन्द्रिय और समनन्तरप्रत्यय (मन) को नहीं; किन्तु इस कथन में भी कुछ तत्त्व नहीं है; क्योंकि (नीलादिविज्ञान से नीलादि वस्तुओं की तरह समान नीलादिविषयक) समनन्तरप्रत्यय के ग्रहण की आपत्ति तब भी होगी । (उ.) जो वस्तु विज्ञान में नीलादि विषय के आकार का सम्पादन करती है, वही वस्तु उस विज्ञान की ग्राह्य है । धारावाहिक ज्ञान में भी समनन्तरप्रत्यय से नीलादि आकार की उत्पत्ति नहीं होती; किन्तु नीलादि अर्थों से ही होती है; क्योंकि आकार के प्रति अर्थ ही कारण है, चूँकि उसी के साथ आकार का अन्वय और व्यतिरेक है । एवं बोध में बोधाकार की उत्पत्ति का सामर्थ्य भी देखा जाता है । (प्र.) यह किसकी आज्ञा है कि विज्ञान में नीलादि आकार का जो सम्पादक हो वही विज्ञान का ग्राह्य हो ? (उ.) विज्ञान के साथ विषय ग्रहण का जो नियम है, वही उक्त नियम का सम्पादक है । किसी की आज्ञा से यह नियम नहीं बनाया गया है । (प्र.) फिर स्वभाव के नियम से ही उक्त नियम मानिए । ज्ञान

न्यायकन्दली

ज्ञानं हि स्वसामग्रीप्रतिनियतार्थसंवेदनात्मकमेवोपजायते । अर्थोऽपि संवेद्यस्वभावनियमादेव संवेद्यते, नेन्द्रियादिकमित्यकारणमाकारः । न हि छिदिक्रिया वृक्षाकारवती येनेयं वृक्षेण सह सम्बद्ध्यते न कुठारेण; किन्त्वस्या वृक्षस्य च तादृशः स्वभावो यदियमत्रैव नियम्येत नान्यत्र । अस्येदं संवेदनमिति च व्यवस्था तदवभासमात्रनिबन्धनैवेति तदर्थमप्याकारो न मृग्यः ।

अथ साकारेण ज्ञानेनार्थो न संवेद्यत एव, किन्तु स्वाकारमात्रम् । तदर्थसद्भावो निष्प्रमाणको न तावदर्थस्य ग्रहणम्, न चाध्यवसायो विकल्पो ह्यवशिष्यते, स चोत्प्रेक्षामात्रव्यापारो भवन्नपि प्रत्यक्षपृष्ठभावित्वाद्यत्र प्रत्यक्षं प्रवृत्तं तत्र स्वव्यापारं परित्यज्य कारणव्यापारमुपाददानो वस्तु साक्षात्करोति । यत्र तु प्रत्यक्षमेवाप्रवृत्तं तत्र विकल्पोऽप्यसमर्थ एव, कारणाभावात् । ज्ञानाकारः सदृशं कारणं व्यवस्थापयन्नर्थ-सिद्धौ प्रमाणमिति चेत् ? तत्किमिदानीं स्थूलाकारस्य समर्पकोऽप्यर्थो बहिरस्ति ? का गतिरस्य वचनस्य –

तस्मान्नार्थेन विज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।
एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न सम्भवः ॥ इति ।

अपने कारणों से नियमित विषय से ही उत्पन्न होता है । एवं अर्थ भी अपने ग्राह्यत्वरूप स्वभाव से ही विज्ञान के द्वारा गृहीत होता है, अतः विज्ञान में आकार का कोई उत्पादक नहीं है । जैसे कि वृक्ष की कुठारजनित छेदन-क्रिया वृक्ष-रूप आकार से युक्त नहीं है, फिर भी वह वृक्ष के साथ ही सम्बद्ध होती है, कुठार के साथ नहीं । अतः यह कल्पना सुलभ है कि छेदनक्रिया और वृक्ष दोनों का ही यह स्वभाव है कि वह छेदनक्रिया वृक्ष में ही नियमित रहे, अतः 'यह ज्ञान इसी विषयक है' इस नियम के लिए भी किसी आकार को खोजने की आवश्यकता नहीं है ।

अगर यह कहें कि साकार विज्ञान से अर्थ गृहीत नहीं होता है, केवल विज्ञान का अपना आकार की गृहीत होता है, अतः अर्थ की सत्ता ही अप्रामाणिक है, क्योंकि अर्थों का ग्रहण ज्ञानरूप भी नहीं हो सकता, अध्यवसाय रूप भी नहीं, किन्तु अर्थों का केवल विकल्परूप ज्ञान ही हो सकता है । वह अगर होता भी है तो प्रत्यक्ष के पीछे होता है, जहाँ प्रत्यक्ष प्रवृत्त भी होता है, वहाँ अपने व्यापार को छोड़कर अपने कारणादि के व्यापार को (विकल्परूप ज्ञान के द्वारा) ग्रहण कर वस्तु का साक्षात्कार करा देता है । जहाँ प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती है,वहाँ कारण के न रहने से विकल्प भी असमर्थ ही है । (उ.) ज्ञान का आकार ही अपने सदृश कारण को सिद्ध करते हुए अर्थसिद्धि का भी जनक प्रमाण है । (प्र.) क्या यह कहना चाहते हैं कि घटादि स्थूल आकार का सम्पादक भी बाहर ही है ? तो फिर आपके इस वाक्य की क्या गति होगी ? अतः विज्ञान में विज्ञानात्मक स्थूल वस्तु का अवभास नहीं होता है ।

न्यायकन्दली

अथायमनर्थजः ? कुतश्चिन्निमित्तात् कदाचिद्भवति, असन्नेव वा प्रतीयते, तद्वदित-राकारोऽपि भविष्यति, असन्नेव वा प्रत्येष्यते, न चाकारवादे ज्ञानाकाराणां भ्रान्ताभ्रान्तत्वविवेकः सुगम इति निरूपितप्रायम् ।

किञ्च,तदानीं बोधाकारः सदृशमर्थं कारणं कल्पयति, यदि यादृशो बोधाकारस्ता-दृश एवाकारस्य कारणमित्यवगतम् । न चार्थस्यासंवेद्यत्वे तथा प्रतीतिः सम्भवति, हेतुत्वसादृश्ययोर्विनिश्चयस्योभयग्रहणाधीनत्वादिति नाकारादर्थसिद्धिः । तदेवं न हेतुत्वं ग्राह्यलक्षणं नाप्याकारार्पणक्षमस्य हेतुत्वम्, तस्माद् ग्राह्यलक्षणाभावाद् बुद्धेरन्योऽनुभाव्यो नास्तीति साधूक्तम् ।

इतोऽपि बुद्धिव्यतिरिक्तोऽर्थो नास्ति, यद्यसौ जडो न स्वयं प्रकाशेत । न च तस्य प्रकाशकान्तरमुपलभामहे, सर्वदैकस्यैवाकारस्योपलम्भात् । अथास्ति प्रकाशम्, न तत्स्वयमप्रकाशमानमप्रकाशस्वभावं विषयमपि प्रकाशयेत् । यदव्यक्तप्रकाशं तदव्यक्तम्, यथा कुड्यादिव्यवहितं वस्तु, अव्यक्तप्रकाशश्च परस्य

इस प्रकार एक विज्ञान में आकार के खण्डित हो जाने पर वह और विज्ञानों में भी सम्भव नहीं है । (उ.) अगर नीलादि आकार के विज्ञान अर्थ के बिना ही उत्पन्न होते हैं तो फिर और ही किसी कारण से कभी उत्पन्न होते हैं, या नीलादि आकारों के अस्तित्व के बिना ही प्रतीत होते हैं, तो फिर और आकार भी वैसे ही होंगे या बिना अस्तित्व के ही प्रतीत होंगे । यह तो उपपादित-सा है कि 'आकारवाद' में ज्ञान के आकारों से किसी आकार को भ्रान्त या अभ्रान्त समझना सहज नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि बोध का आकार अपने सदृश ही कारण की कल्पना करता है तो फिर इससे यह समझा जाय कि 'इस बोध का जो आकार है उसी तरह का आकार उसका कारण है'; किन्तु यह आकार को अग्राह्य मानने पर सम्भव नहीं है; क्योंकि कारणत्व और सादृश्य इन दोनों का ग्रहण उनके प्रतियोगी और अनुयोगी रूप दो सम्बन्धियों के ग्रहण के बिना सम्भव नहीं है । एवं विज्ञान का कारण उससे ग्राह्य नहीं हो सकता एवं विज्ञान में जो आकार को उत्पन्न करेगा वह विज्ञान का कारण नहीं हो सकता । अतः हमने ठीक कहा था कि बुद्धि के ग्राह्य स्वरूप को छोड़कर और कोई बुद्धि का ग्राह्य नहीं है ।

बुद्धि से भिन्न अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता इसलिए भी नहीं है कि अर्थ अगर जड़ है तो फिर स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता एवं उसके दूसरे प्रकाशक की उपलब्धि होती नहीं है, बराबर एक आकार की ही प्रतीति होती है । अगर कोई दूसरा प्रकाशक है तो फिर वह या तो स्वयं अप्रकाश स्वभाव का होगा ? या प्रकाशस्वभाववाला होगा ? इन दोनों में से किसी से भी अर्थों का प्रकाश सम्भव नहीं है; क्योंकि जो स्वयं अप्रकाश स्वभाव का होगा वह अप्रकाशस्वभाव की ही किसी दूसरी वस्तु को कैसे प्रकाशित कर

न्यायकन्दली

बाह्योऽर्थः । तथा यत्परस्य प्रकाशकं तत्स्वप्रकाशे सजातीयपरानपेक्षम्, यथा प्रदीपः, प्रकाशकं च परस्य ज्ञानमिति । अतः प्रकाशमानस्यैव बोधस्य विषयप्रकाशकत्वमिति न्यायादनपेतम् । तथा सति सहोपलम्भनियमात् सर्वज्ञासर्वज्ञयोरिव वेद्यवेदकयोरभेदः, भेदस्य सहोपलम्भानियमो व्यापको नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात् । सहोपलम्भानियमविरुद्धश्च सहोपलम्भनियम इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या भेदादनियमव्याप्त्या व्यावर्तमानो नियमोऽभेदे व्यवतिष्ठत इति प्रतिबन्धसिद्धिः । न च 'सह'शब्दस्य साहाय्यं यौगपद्यं वार्थः, तयोश्च भेदेन व्याप्तत्वाद्विरुद्ध इति वाच्यम्, आभिमानिकस्य सहभावस्य हेतुविशेषणत्वेनोपादानाद् दृष्टान्ते द्विचन्द्रे आभिमानिकः सहभावो न तात्त्विकः, चन्द्रस्यैकत्वात् । सार्वज्ञ्य-

सकता है ? अगर यह कहें कि विज्ञान और उसके विषय दोनों ही प्रकाशस्वभाव के ही हैं; किन्तु इनमें विज्ञान का यह स्वभाव व्यक्त है और विषयों का अव्यक्त, अतः प्रकाशस्वभाववाले विज्ञान में विषयों के प्रकाशस्वभाव अभिव्यक्त होकर विषयों को प्रकाशित करते हैं, तो इस विषय में यह कहना है कि जिसका प्रकाश अव्यक्त रहता है वह स्वयं भी अव्यक्त ही रहता है, जैसे दीवाल से घिरी हुई वस्तु । पूर्वपक्षवादी के मत से वस्तुओं का प्रकाशस्वभाव अव्यक्त है, अतः उनके मत से वे वस्तु कभी प्रकाशित हो ही नहीं सकतीं । रही विज्ञान के प्रकाशस्वभाव की बात–इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि जो दूसरे का प्रकाशक होता है, वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशस्वभाववाले की अपेक्षा नहीं रखता है, जैसे कि प्रदीप । ज्ञान भी दूसरे का प्रकाशक है, अतः विज्ञान 'स्वयं प्रकाश' है । विज्ञान दूसरे का प्रकाशक है, यह बात न्याय से विरुद्ध भी नहीं है । चूँकि 'सहोपलम्भनियम' के कारण अर्थात् ज्ञान और अर्थ नियमतः साथ ही प्रकाशित होते हैं इस नियम के कारण (वे दोनों एक ही हैं) जैसे कि एक ही पुरुष (काल भेद से) सर्वज्ञ एवं असर्वज्ञ दोनों होने पर भी अभिन्न ही होता है, सुतरांम् सहोपलम्भ का अनियम भेद का व्यापक है (अर्थात् यह अव्यभिचरित नियम है कि जिन वस्तुओं का नियमतः साथ-साथ प्रकाशन नहीं होता वे अवश्य ही परस्पर भिन्न होती हैं) जैसे कि नील और पीत नियमतः साथ प्रकाशित नहीं होते और वे दोनों भिन्न होते हैं । सहोपलम्भ का यह अनियम कथित–सहोपलम्भ नियम का विरोधी है, अतः (भेद के) व्यापक (सहोपलम्भ के अनियम) के विरुद्ध (सहोपलम्भ की) उपलब्धि (ज्ञान) और अर्थों के भेद को मिटाकर दोनों को अभिन्न रूप में व्यवस्थित कर देती है (अतः विज्ञान से भिन्न किसी वस्तु की वास्तविक सत्ता नहीं है), इस प्रकार सहोपलम्भनियम में अभेद की व्याप्ति सिद्ध है । (उ.) सहोपलम्भ शब्द में प्रयुक्त 'सह' शब्द का साहाय्य अर्थ है ? या एककालिकत्व ? ये दोनों ही विषयों के भेद के साथ सम्बद्ध हैं । (प्र.) 'सहोपलम्भ' में आभिमानिक (सांवृत, अतात्त्विक) साहित्य को ही विशेषण मानते हैं । इसके दृष्टान्त द्विचन्द्र ज्ञान में भी सांवृत साहित्य

न्यायकन्दली

वित्तक्षणः स्वेनात्मना सह सर्वान् प्राणिनो युगपदुपलभ्यते । न च तेषां सार्वज्ञ्यज्ञानाभेद इत्यनैकान्तिकत्वमिति चेत् ? न, अनियमात् । क्षणाभिप्रायेण तावद् ययोः सहोपलम्भस्तयोरसौ नियत एव, क्षणयोः प्रत्येकं पुनरनुपलम्भात्; किन्तु स न विवक्षितः सन्तानाभिप्रायेण सहोपलम्भनियमः । न च सर्वज्ञसन्तानस्य चित्तान्तरसन्तानेन सह युगपदुपलम्भोऽस्ति, सर्वज्ञस्य कदाचित् स्वात्ममात्रप्रतिष्ठस्यापि सम्भवात् । न च तदानीमसर्वज्ञः, सर्वज्ञात् सामर्थ्यसम्भवात् । अपचन्नपि पाचको यथा, तथा यद्वेद्यते येन वेदनेन तत्ततो न भिद्यते,यथात्मा ज्ञानस्य, वेद्यन्ते च नीलादयः । भेदे हि ज्ञानेनास्य वेद्यत्वं न स्यात् , तादात्म्यस्य नियमहेतोरभावात्, तदुत्पत्तेरनियामकत्वात् । अन्येनान्यस्यासम्बद्धस्य वेद्यत्वे चातिप्रसङ्गादिति भेदे नियमहेतोः सम्बन्धस्य व्यापकस्यानुपलब्ध्या भेदाद्विपक्षाद्

ही है,तात्त्विक नहीं; क्योंकि चन्द्र वस्तुतः एक ही है । (उ.) सर्वज्ञत्वविषयक ज्ञान का क्षण तो अपने साथ सभी आत्माओं का ग्रहण करता है; किन्तु सर्वज्ञत्वविषयक ज्ञान और आत्माओं में तो अभेद नहीं है, अतः 'सहोपलम्भ-नियम' रूप हेतु व्यभिचरित है । (प्र.) यह व्यभिचार दोष नहीं है; क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि सर्वज्ञ-चित्त-विषयक ज्ञान के साथ और सभी चित्त अवश्य ही गृहीत हों । क्षण (प्रत्येक विज्ञान में भासित होनेवाले प्रत्येक क्षण में स्थित चित्त या आत्मा) के अभिप्राय से जिन दोनों (सन्तानियों के समूह में स्थित प्रत्येक व्यक्ति) के सहोपलम्भ का नियम है, उन दोनों में अभेद भी अवश्य ही है; क्योंकि उन दोनों में से प्रत्येक की अलग से उपलब्धि नहीं होती है; किन्तु सर्वज्ञत्व ज्ञान के समय जो और सभी आत्माओं की उपलब्धि होती है, वह सन्तान के अभिप्राय से है, सन्तान (समूह) में स्थित प्रत्येक के अभिप्राय से नहीं; क्योंकि कभी सर्वज्ञत्व की प्रतीति अगर आत्माओं को छोड़कर केवल स्वमात्रविषयक भी हो सकती है; किन्तु इससे उस समय भी वह असर्वज्ञ नहीं हो जाता; क्योंकि उस समय भी उस पुरुष से सर्वज्ञ पुरुष से होनेवाले असाधारण कार्य के सम्पादन की सम्भावना बनी रहती है । जैसे कि पाक न करते समय भी रसोइया 'पाचक' कहलाता ही है । अतः जिस ज्ञान के द्वारा जो गृहीत होता है, वह उससे भिन्न नहीं है । जैसे कि आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं है । नीलादि भी ज्ञात होते हैं । अतः नीलादि और उनके ज्ञान अगर भिन्न हों तो फिर नीलादि उनसे ज्ञात ही नहीं होंगे । (घट-विषयक ज्ञान से घट ही ज्ञात होता है इस) नियम का कारण (उक्त ज्ञान और घटादि विषयों का) तादात्म्य तो है नहीं और उसकी उत्पत्ति भी नियामक नहीं है (उत्पत्ति और अभेद ये दो ही व्याप्ति के ग्राहक हैं), परस्पर असम्बद्ध दो वस्तुओं में से एक को अगर दूसरे का ज्ञापक मानें (घट ज्ञान से पट भी ज्ञात हो इत्यादि) आपत्तियाँ होंगी, अतः ज्ञान और विषय इन दोनों में भेद का ज्ञापक और

न्यायकन्दली

व्यावर्तमानं वेद्यत्वमभेदेन व्याप्यत इति हेतोः प्रतिबन्धसिद्धिरिति । एतेनाहमित्याकारस्यापि ज्ञानादभेदः समर्थितः । यश्चायं ग्राह्यग्राहकसंवित्तीनां पृथगवभासः स एकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्वावभास इव भ्रमः । तत्राप्यनादिरविच्छिन्नप्रवाहाभेदवासनैव निमित्तम् । यथोक्तम्—

"भेदश्चाभ्रान्तिविज्ञाने दृश्येतेन्दाविव द्वये" इति ।

ननु बाह्याभावे येयं नीलाद्याकारवती बुद्धिरुदेति तस्याः किं कारणम् ? यथोक्तम्—

अर्थबुद्धिस्तदाकारा सा त्वाकारविशेषणा ।
सा बाह्यादन्यतो वेति विचारमिममर्हति ॥

अत्रापि वदन्ति—बाह्यसद्भावेऽपि तस्याः किं कारणम् ? नीलादिरर्थ इति चेत् ? न तावदयं दृश्यतेऽर्थस्य सदातीन्द्रियत्वात् । कार्यवैचित्र्येण कल्पनीय-श्चेत् ? दृश्यस्य समनन्तरप्रत्ययस्यैव शक्तिवैचित्र्यं कल्प्यताम्, येनस्वप्न ज्ञानेऽप्याकारवैचित्र्यं घटते, न हि तत्र देशकालव्यवहितानामर्थानां

भेद का व्यापक दोनों के सम्बन्ध की उपलब्धि नहीं होती है । ज्ञान के द्वारा समझ में आनेवाले घटादि ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकते । इस प्रकर वेद्यत्व भेदरूप विपक्ष से हट जाता है एवं अभेद के साथ व्याप्त हो जाता है । 'अहम्' इस आकार के ज्ञान का विषय (आत्मा) और ज्ञान के अभेद का भी समर्थन हो जाता है । विषय, प्रमाण एवं ज्ञान इनमें जो परस्पर भिन्नत्व की प्रतीति होती है, वह एक ही चन्द्रमा में द्वित्व के अवभास की तरह भ्रम है । इस भ्रम में भी अनादि एवं सतत प्रवाहित होनेवाली वासना ही कारण है । जैसा कहा है कि भ्रान्तिरूप ज्ञान में ही चन्द्रमा में द्वित्व की तरह भेद भासित होता है । अगर नीलादि बाह्य विषयों की सत्ता ही नहीं है तो फिर नीलादि आकारों से युक्त इन विविध बुद्धियों का कारण कौन है ? जैसा कहा है कि "अर्थविषयक बुद्धि अर्थाकार होती है", अतः बुद्धि आकाररूप विशेषण से युक्त अवश्य है, अतः यह विचार उठता है कि यह आकारविशिष्ट बुद्धि बाह्य वस्तु से होती है या और किसी वस्तु से ? इस विषय में विज्ञानवादी कहते हैं कि (प्र.) बाह्य वस्तुओं की सत्ता मान लेने के पक्ष में आकारविशिष्ट बुद्धि का कारण कौन होगा ? अगर नीलादि अर्थों को कारण मानें तो वह हो नहीं सकता; क्योंकि वे कभी देखे नहीं जाते ; क्योंकि अर्थ सदा ही इन्द्रिय के अगोचर हैं । अगर कार्यों की विचित्रता से उसका अनुमान करते हैं तो फिर अतीन्द्रिय अर्थ में उस शक्ति की कल्पना क्यों नहीं कर लेते ? जिससे कि स्वप्नज्ञान में भी आकार की विचित्रता की उपपत्ति हो सके । स्वप्नज्ञान में भासित होनेवाले एवं देश और काल से व्यवहित विषयों में

न्यायकन्दली

सामर्थ्यम्, अविद्यमानत्वात् । नन्वेवं विचित्रप्रत्ययोऽपि न स्याज्ज्ञानस्यैकत्वेन तदव्यतिरेकिणामप्येकत्वप्रसङ्गात्, प्रत्याकारं च ज्ञानभेदे ज्ञानानां प्रत्येकं स्वाकारमात्रनियतत्वात्, तेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सर्वाकारग्राहकस्याभावात् । अत्र ब्रूमः – न तावच्चित्रं रूपं न प्रकाशते ? संवित्तिविरोधात् । जडस्य च प्रकाशायोगः । तेनेदं ज्ञानात्मकमेव रूपम्, न चाकारभेदेन ज्ञानभेदः, चित्ररूपस्यैकस्याकारभेदाभावात् । यथा नीलस्यैको नीलस्वभाव आकारः, तथा वैचित्र्यस्यैकस्य चित्रस्वभाव एवाकारः । तस्मिंश्चात्मभूते ज्ञानं प्रवर्तमानं कृत्स्न एव प्रवर्तते,यदि वा न प्रवर्तत एव । न तु भागेन प्रवर्तते, तस्य निर्भागत्वात् । ये त्वमी भागाः परस्परविविक्ताः प्रतिभान्ति, न ते चित्रं रूपमिति न काचिदनुपपत्तिः । स्थूलाकारोऽप्यनयैव दिशा समर्थनीयः । अवयवी त्वेकः स्थूलो वा नोपपद्यते । नानावयववृत्तित्वेन तस्य नानात्वापातात् । ज्ञानाकारस्त्वेकस्मिन् ज्ञाने वर्तमान एकः स्थूलो भवत्येव । कम्पाकम्पादिविरोधस्तु संविद्विरोधो व्युदसनीय इति केचित् ।

स्वप्नज्ञान की कारणता सम्भव ही नहीं है; क्योंकि उस समय उनका अस्तित्व ही नहीं है । (उ.) ज्ञान और अर्थ यदि एक हों तो फिर चित्र रूप की प्रतीति नहीं हो सकेगी; क्योंकि चित्र रूप विषयक प्रतीति एक है, उससे अभिन्न रूप भी एक ही होगा । आकार के भेद से यदि ज्ञानों का भेद मानें तो फिर प्रत्येक ज्ञान आकार में नियत होगा, उनसे अतिरिक्त सभी रूपों का एक आकार का कोई एक ग्राहक सम्भव नहीं होगा । (प्र.) यह कहना अनुभव से विरुद्ध है कि चित्र रूप की प्रतीति ही नहीं होती है । चूँकि जड़ में प्रकाश का सम्बन्ध सम्भव नहीं है, अतः प्रकाशित होनेवाला चित्र रूप भी ज्ञान रूप ही है । चित्र रूप एक है, उसके विभिन्न आकार नहीं हैं । अतः यह कहना भी सम्भव नहीं है कि चित्र रूप की प्रतीति वस्तुतः अनेक रूपों की विभिन्न आकार की अनेक प्रतीतियाँ ही हैं । जैसे कि नील का नीलस्वभाव रूप एक ही आकार है, वैसे ही वैचित्र्य का भी चित्र स्वभाव रूप एक ही आकार है । इस स्वतन्त्र एक आकार की वस्तु में यदि ज्ञान प्रवृत्त होगा तो सम्पूर्ण में ही प्रवृत्त होगा अथवा प्रवृत्त ही नहीं होगा; किन्तु उसके किसी एक अंश में प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह अंशों से शून्य है, उसके जो परस्पर भिन्न भाग मालूम होते हैं वे चित्र रूप नहीं हैं । अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है । वस्तुओं के स्थूल आकारों का भी समर्थन इसी रास्ते से करना चाहिए । किसी बौद्ध विशेष का मत है कि सभी अवयवों में रहनेवाले एक स्थूल अवयवी का मानना ठीक नहीं जँचता; क्योंकि अनेक अवयवों से सम्बद्ध रहने के कारण उसमें भी अनेकत्व की ही आपत्ति होगी । उसको अगर ज्ञान का आकार मान लेते हैं तो फिर एक आकार के ज्ञान में आरूढ़ वस्तु में स्थूलत्व और एकत्व दोनों का रहना असम्भव नहीं होता । नाना अवयवों से एक स्थूलाकार वस्तु मानने में एक ही वस्तु में कम्प और अकम्प रूप होनेवाला विरोध रूप दोष तो वस्तुतः ज्ञानों का ही विरोध है, जिसका परिहार कर लेना चाहिए ।

न्यायकन्दली

अपरे तु ज्ञानाकारस्याप्यनादिवासनावशेन प्रतिभासमानस्य विचाराक्षमत्वमलीकत्वमेव तत्त्वमाहुः । तथा च यः प्रत्ययः स बाह्यानालम्बनो यथा स्वप्नादिप्रत्ययः, प्रत्ययश्चायं जाग्रतः स्तम्भादिप्रत्ययः, निरालम्बनता हि प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी स्वप्नादिषु दृष्टा, जाग्रतः प्रत्ययस्यापि प्रत्ययत्वमेव स्वभावः, स यदि निरालम्बनत्वं परित्यजति तदा स्वभावमेव परित्यजेत् । ननु सर्वप्रत्ययानामनालम्बनत्वे धर्मिहेतुदृष्टान्तादिप्रत्ययानामनालम्बनत्वम्, ततश्च धर्मिहेत्वाद्यभावान्नानुमानप्रवृत्तिः । अथ ते सालम्बनास्तैरेवास्य हेतोर्व्यभिचारः ? नैवम्, तेषां बहिरनालम्बनानां संवृतिमात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतुत्वात् । दृष्टा ह्यविद्यातो विद्याप्राप्तिः, यथा लिप्यक्षरेभ्यो वर्णप्रतीतिः, वर्णप्रतिपादकरेखादयोऽपि

कोई (माध्यमिक) बौद्धमतावलम्बी कहते हैं कि ज्ञानाकार से वस्तुओं का प्रतिभास भी अनादि वासना से ही होता है, अतः इसका निर्वचन भी असम्भव है । अतः 'विचाराक्षमत्व' रूप 'शून्यत्व' ही तत्त्व है । जितने भी ज्ञान हैं, उनका कोई बाह्य वस्तु विषय नहीं है । जैसे कि स्वप्न ज्ञान का कोई बाह्य विषय नहीं होता । जाग्रदवस्था के पुरुषों का स्तम्भादि विषयक ज्ञान भी केवल ज्ञान होने के नाते ही बाह्य विषयशून्य है; क्योंकि स्वप्नज्ञान को केवल ज्ञान होने के नाते ही विषयशून्य और ज्ञान दोनों समझा जाता है । अतः जागते हुए व्यक्ति का ज्ञान भी केवल ज्ञानत्व स्वभाव का ही है, उसका भी स्वभाव सविषयकत्व नहीं है (अर्थात् स्वप्न ज्ञान की तरह जाग्रदवस्था का ज्ञान भी निर्विषय ही है, जिससे सभी विषयों की सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती); अतः स्तम्भादि विषयक ज्ञान यदि निर्विषयकत्व को छोड़ेगा तो अपने ज्ञानत्व को भी खो बैठेगा । (प्र.) अगर सभी ज्ञान निर्विषयक ही हों तो (आपके अभिमत का साधक) पक्ष,हेतु, दृष्टान्तादि विषयक ज्ञान भी विषयशून्य ही होंगे, फिर पक्ष-साध्य प्रभृति के अभाव से (आपकी अभिमत) अनुमिति की ही प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । वे पक्षादि यदि सविषयक हैं तो फिर उन्हीं ज्ञानों में (निर्विषयकत्व का साधक ज्ञानत्व रूप) आपका हेतु व्यभिचरित होगा । (उ.) नहीं, यह बात नहीं है; क्योंकि वे पक्षादि विषयक ज्ञान वस्तुतः निर्विषयक होने पर भी केवल संवृति (अविद्या) के कारण ही अनुमान-प्रवृत्ति के कारण हैं । अविद्या से भी विद्या (यथार्थज्ञान) की उत्पत्ति देखी जाती है । जैसे कि लिपि से वर्णों की प्रतीति होती है । (प्र.) वर्ण की ज्ञापक रेखादि रूप वे लिपियाँ भी तो स्वरूपतः सत्य ही हैं ? (उ.) यह सत्य है कि वे रेखादि रूप से सत्य हैं; किन्तु वे अपने रेखात्व रूप से तो वर्णों के ज्ञापक नहीं हैं । उन रेखाओं में जब ककारादि वर्णों का आरोप किया जाता है, तब उसी आरोपित रूप से वे वर्ण की प्रतीति को उत्पन्न करती हैं । अतः स्वरूपतः सत्य होते हुए भी

न्यायकन्दली

स्वरूपेण सत्याः । सत्यं सत्याः, न तु तेन रूपेण प्रतिपादकाः । ककारादिरूपाध्यारोपेण प्रतिपादकाः, तदेषां कार्योपयोगित्यमसत्यमेवेति पूर्वपक्षसंक्षेपः।

यत्तावदुक्तं ग्राह्यलक्षणायोगादिति न तदर्थाभावसाधनसमर्थम्, ग्राह्यलक्षणो ह्यर्थो ग्राह्यो न भवेन्न तु तस्यासद्भावः, ग्रहणाभावस्य पिशाचादिवत् स्वरूपविप्रकर्षेणाप्युपपत्तेः । ग्रहणयोग्ये सत्यग्रहणादभावसिद्धिरिति चेत् ? कथं पुनरस्य योग्यता संप्रधारिता ? न हि तस्य ग्रहणं क्वचिदभूत्, भूतं चेन्न ग्राह्यलक्षणायोगः । किञ्च,ग्राहकाधीनं ग्रहणम्, ग्राहकं च ज्ञानं स्वात्ममात्रनियतमित्येतावतैव तदन्यस्याग्राह्यता, ग्राह्याभावादेव चेदमग्रहणमिति साध्याविशिष्टम् । अपि चेदं भवान् पृष्टो व्याचष्ट ! का ज्ञानाकारस्य ग्राह्यता ? न हि तस्यास्ति ज्ञानहेतुत्वं तदव्यतिरेकात् । नाप्याकाराधायकत्वम्, आकारद्वयाननुभवात् । न च

कार्योपयोगित्व रूप से असत्य ही हैं । इतना तक बाह्य अर्थ की यथार्थ सत्ता माननेवाले हम लोगों पर बाह्य अर्थ की यथार्थ सत्ता को न माननेवाले बौद्धों के आक्षेपरूप पूर्वपक्ष का संक्षेप में वर्णन है ।

(अब इस प्रसङ्ग में हम लोगों का उत्तर सुनिये) यह जो कहा गया है कि "'ग्राह्यलक्षण' के अयोग से बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है", यह इसलिए गलत है कि ग्राह्यलक्षण का अयोगरूप यह हेतु बाह्य वस्तु के स्वतन्त्र अस्तित्व के खण्डन का सामर्थ्य नहीं रखता है । इससे इतना ही हो सकता है कि बाह्य वस्तुएँ ज्ञात न हो सकेंगी; किन्तु इससे इनके अस्तित्व का लोप नहीं हो सकता; क्योंकि वस्तुओं के ग्रहण (ज्ञान) का न होना स्वरूपविप्रकर्ष (ज्ञान होने की योग्यता के अभाव) से भी हो सकता है । जैसे कि पिशाचादि की सत्ता रहते हुए भी उनका ग्रहण नहीं होता । (प्र.) ग्रहण की योग्यता रहने पर भी कभी-कभी कोई विषय गृहीत नहीं होता है, इससे समझते हैं कि उसकी सत्ता नहीं है । (उ.) आपने इसकी योग्यता कैसे निश्चित की ? क्योंकि आपको तो उसका भी ज्ञान नहीं है । अगर है तो फिर उसमें ग्राह्यलक्षण रूप हेतु ही नहीं है । और भी बात है, ग्रहण ग्राहक से होता है । ज्ञान ही ग्राहक है । वह केवल अपने स्वरूप में ही नियत है (अर्थात् उसमें किसी बाह्य वस्तु का सम्बन्ध नहीं है), केवल इसीलिए ज्ञान से अतिरिक्त वस्तु को आप अग्राह्य कहते हैं । एवं (आप ही कहते हैं कि) वस्तुओं का ग्रहण इसलिए नहीं होता कि वह अग्राह्य हैं । अतः यह ग्राह्यलक्षण का अयोगरूप हेतु साध्याविशिष्ट है (अर्थात् सिद्ध नहीं है, किन्तु हेतु को सिद्ध होना चाहिए) । और भी मुझे पूछना है कि ज्ञानाकार में यह ग्राह्यता क्या है ? उस आकार में ज्ञान की कारणता तो ग्राह्यता नहीं है; क्योंकि वह आकार ज्ञान से अभिन्न है (अतः उक्त ग्राह्यता ज्ञानकारणत्व रूप नहीं है) । ज्ञान में आकार सम्पादन की क्षमता भी ग्राह्यता नहीं हो सकती; क्योंकि विषयों के आकार से भिन्न ज्ञानाकार नाम की किसी दूसरी वस्तु का अनुभव नहीं

न्यायकन्दली

ज्ञानात्मकत्वमेव ग्राह्यत्वम्, सुषुप्तावस्थायां ज्ञानात्मभूतस्य ज्ञानसन्तानवदनुवर्तमानस्यापि ग्रहणाभावात् । अवभासमानत्वमेव तस्य ग्राह्यत्वमिति चेत् ? कोऽयमाकारस्यावभासः ? ज्ञानप्रतिबद्धहानादिव्यवहारयोग्यतापत्तिश्चेत् ? बाह्यस्यापि सैव योग्यता । तथा हि—नीलं पीतमेतदिति संवादिना बाह्यमेवोपाददते जहत्युपेक्षन्ते वा, नान्तरमाकारमित्यसिद्धो ग्राह्यलक्षणायोगः, कथमन्यस्योत्पत्त्यान्यस्य व्यवहारयोग्यतेति चेत् ? तस्य स्वरूप-कारणसामग्रीनियमेन तद्विषयव्यवहारानुगुणस्वभावस्योत्पादनादिति यत्किञ्चिदेतत् ।

एतेन वेद्यत्वमपि प्रत्युक्तम् । भेदेऽपि ज्ञानस्वभावकारणसामग्रीनियमादेव तस्योपपत्तेः, सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् । यदपि जडस्य प्रकाशायोग इति, तदपि प्रकाशानात्मकत्वाभिप्रायेण । सिद्धसाधनं संसर्गाभिप्रायेण निरुपपत्तिकम् । न हि जडस्य प्रकाशसंसर्गेण न भवितव्यमित्यस्ति राजाज्ञा, यथा

होता । ज्ञान रूपत्व भी ग्राह्यत्व नहीं है; क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानरूप ज्ञान समूह की तरह बराबर रहनेवाले विषयरूप ज्ञान की भी उपलब्धि नहीं होती है । यदि अवभासमानत्व को ही ग्राह्यत्व कहें तो फिर यह पूछना है कि आकारों का यह अवभासमानत्व क्या वस्तु है ? यदि वह ज्ञान के साथ नियमित रूप से सम्बद्ध ग्रहण करने की योग्यता या त्याग करने की योग्यता ही है तो फिर बाह्य वस्तुओं में (अर्थात् वस्तुओं को बाह्य मान लेने पर) भी उक्त दोनों प्रकार की योग्यतायें हैं ही; क्योंकि "यह नील है, यह पीत है" इत्यादि यथार्थ ज्ञानों से युक्त पुरुष उन ज्ञानों से बाह्य वस्तुओं को ही लेता है, छोड़ता है या उपेक्षा कर देता है, किसी आन्तर वस्तु से नहीं । तस्मात् 'ग्राह्यलक्षण' का अयोगरूप आपका हेतु ही सिद्ध नहीं है । (प्र.) एक (ज्ञान) की उत्पत्ति से दूसरे (उस ज्ञान के विषय बाह्य वस्तु) में व्यवहार की योग्यता कैसे होती है ? (उ.) इसमें कोई बात नहीं है; क्योंकि अपनी सामग्री रूप नियमित कारणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उसके विषय में व्यवहार योग्यता सम्पादन की क्षमता रूप स्वभाव को लेकर ही उत्पन्न होता है ।

इसी से ज्ञान और विषय के अभेद का साधक वेद्यत्व हेतु भी खण्डित हो गया; क्योंकि ज्ञान और विषय को भिन्न मान लेने पर भी ज्ञान का स्वभाव और सामग्री का नियम इन दोनों से ही (घटज्ञान से ही घट समझा जाय) इस नियम की उपपत्ति हो जाएगी । उक्त वेद्यत्व हेतु में विपक्ष की व्यावृत्ति भी सन्दिग्ध है । एवं प्रकाश का 'योग' (सम्बन्ध) असम्भव है, इस कथन से (योग शब्द के द्वारा) यदि जड़ और प्रकाश का अभेद (सम्बन्ध) आपको अभीष्ट है, तो फिर यह सिद्धसाधन है । यदि इससे जड़ में प्रकाश के सम्बन्ध का असम्भव कहना अभिप्रेत है, तो फिर इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि यह युक्ति से शून्य है, एवं

न्यायकन्दली

छिदिक्रिया छेद्येन सम्बध्यते भिद्यते च, तथा ज्ञानक्रियापि ज्ञेयेन सह संभन्त्स्यते भेत्स्यते च । सहोपलम्भनियमस्यापि विपक्षाद् व्यावृत्तिः सन्दिग्धा, ज्ञानस्य स्वपरसंवेद्यतामात्रेणैव नीलतद्धियोर्युगपद्ग्रहणनियमस्योपपत्तेः । बाह्याभावाज्ज्ञानं परस्य संवेदकं न भवतीति चेत् ? बाह्याभावसिद्धौ हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिसिद्धिः, तत्सिद्धौ चास्य विपक्षाभावं प्रति हेतुत्वमित्यन्योन्यापेक्षित्वम् ? तदेवास्तु किमनेन ? असिद्धश्च सहोपलम्भनियमो नीलमेतदिति बहिर्मुखतयार्थेऽनुभूयमाने तदानीमेवान्तरस्य तदनुभवस्यानुभवात् । ज्ञानस्य स्वसंवेदनतासिद्धौ सहोपलम्भनियमसिद्धिरिति चेत् ? स्वसंवेदनसिद्धौ किं प्रमाणम् ? यत्प्रकाशं तत्स्वप्रकाशे परानपेक्षं यथा प्रदीप इति चेत् ? प्रदीपस्य तद्देशवर्तितमोपनयने व्यापारः, स चानेन स्वयमेव कृत इति तदर्थं प्रदीपान्तरं नापेक्षते, वैयर्थ्यात् । स्वप्रतिपत्तौ तु चक्षुरादि-कमपेक्षत एवेति साध्यविकलता दृष्टान्तस्य । अथ प्रकाशकत्वं ज्ञानत्वमभिप्रेतम् ? तस्मात् परानपेक्षा, तदानीमसाधारणो हेतुः ।

किसी राजा की आज्ञा भी नहीं है कि जड़ और प्रकाश में सम्बन्ध न हो , जैसे कि छेदन क्रिया छेद्य वस्तु से भिन्न होती हुई भी उसके साथ सम्बद्ध होती है, उसी प्रकार ज्ञानरूप क्रिया भी ज्ञेय वस्तु से भिन्न होने पर भी उसके साथ सम्बद्ध होगी । एवं कथित 'सहोपलम्भ नियम' रूप हेतु में भी विपक्ष की व्यावृत्ति सन्दिग्ध ही है; क्योंकि ज्ञान को 'स्व' एवं 'स्व' से भिन्न (अपना विषय) दोनों का प्रकाशक मान लेने से ही उक्त 'सहोपलम्भ' नियम की उपपत्ति हो जाएगी । (प्र.) बाह्य वस्तु की तो सत्ता ही नहीं है, फिर ज्ञान दूसरे का ज्ञापक कैसे होगा? (उ.) यह कहना तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय से दूषित है; क्योंकि बाह्य वस्तु की सत्ता के उठ जाने पर सहोपलम्भ रूप हेतु में विपक्षव्यावृत्ति का निश्चय होगा और विपक्षव्यावृत्ति के सिद्ध हो जाने पर सहोपलम्भ नियम रूप हेतु के विपक्ष (बाह्य वस्तु) के अभाव की सिद्धि होगी । (प्र.) उक्त हेतु में विपक्ष की व्यावृत्ति के न रहने से ही क्या ? (उ.) वस्तुतः सहोपलम्भ नियम रूप हेतु ही असिद्ध है; क्योंकि नील और नीलविषयक ज्ञान इन दोनों का अनुभव एक समय में नहीं होता । नील की बहिर्मुख प्रतीति हो जाने के अव्यवहित उत्तर क्षण में नील ज्ञान की अन्तर्मुखतया उपलब्धि होती है । (प्र.) ज्ञान को स्वतः प्रकाश मान लेने से ही सहोपलम्भ नियम की सिद्धि होगी । (उ.) ज्ञान को स्वसंवेदन (स्वतः प्रकाश) मानने में ही क्या युक्ति है ? (प्र.) जो प्रकाश रूप होता है वह अपने प्रकाश के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता, जैसे कि प्रदीप । (उ.) प्रत्यक्ष के उत्पादन में प्रदीप का इतना ही उपयोग है कि वह विषयदेश के अन्धकार को हटाता है । प्रदीप अपने प्रत्यक्ष के लिए भी अन्धकार को हटाने का काम स्वयं कर लेता है, अतः प्रदीप के प्रत्यक्ष में दूसरे प्रदीप की आवश्यकता नहीं होती है; किन्तु चक्षुरादि

न्यायकन्दली

यच्चोक्तं यस्याव्यक्तः प्रकाशस्तत्स्वयमव्यक्तं यथा पिहितं वस्त्विति, तत्र पिहितस्याव्यक्तता अप्रकाशः, तत्र, स्वयमव्यक्तत्वात्; किन्त्वभावादेवेति व्याप्त्यसिद्धिः । यच्च प्रत्ययत्वादिति तदप्यसारं दृष्टान्तासिद्धेः । स्वप्नादिप्रत्यया अपि समारोपितबाह्यालम्बना न स्वात्ममात्रपर्यवसायिनः, जाग्रदवस्थोपयुक्तानामेवार्थानां संस्कारवशेन तथा प्रतिभासनात्, अन्यथा दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु तदुत्पत्तिनियमायोगात् । किञ्च, यदि बाह्यं नास्ति किमिदानीं नियताकारं प्रतीयते नीलमेतदिति । विज्ञानाकारोऽयमिति चेत्, न, ज्ञानाद्बहिर्भूतस्य संवेदनात् । ज्ञानाकारत्वे त्वहं नीलमिति प्रतीतिः स्यान्न त्विदं नीलमिति । ज्ञानानां प्रत्येकमाकारभेदात् कस्यचिदहमिति प्रतीतिः कस्यचिदिदं नीलमिति चेत् ? नीलाद्याकारवदहमित्या-

को अपेक्षा तो रहती ही है । अतः प्रदीपरूप दृष्टान्त में स्वतः प्रकाशकत्व का ज्ञापक परानपेक्षत्व रूप हेतु नहीं है । यदि ज्ञानत्व को ही प्रकाशकत्व रूप मानें तो फिर 'स्वतः प्रकाशत्व' का साधक परानपेक्षत्व हेतु उस समय असाधारण नाम का हेत्वाभास होगा ।

यह जो आपने कहा कि–"ढँकी हुई चीज की तरह जिसका प्रकाश अव्यक्त रहता है वह स्वयं भी अव्यक्त ही रहता है ।" इस प्रसङ्ग में कहना है कि आवृत वस्तु का अप्रकाश ही उसकी अव्यक्तता है, जो वस्तुतः उस वस्तु के प्रकाश का अभाव मात्र है । उस वस्तु के प्रकाशक की अव्यक्तता उस वस्तु की अव्यक्तता नहीं है । अतः ज्ञान के स्वतः प्रकाशत्व की साधक उक्त व्यतिरेक व्याप्ति भी सिद्ध नहीं है । (बाह्य वस्तुओं की असत्ता के साधक या ज्ञान में विषय शून्यत्व या निरालम्बनत्व का साधक) प्रत्यक्षत्व (ज्ञानत्व) हेतु में भी कुछ बल नहीं है; क्योंकि इस हेतु का (स्वप्नज्ञान रूप) दृष्टान्त ही असिद्ध है । स्वप्नज्ञान भी बाह्यविषयक है ही । वहाँ वे केवल अपने स्वरूप में नहीं हैं । जाग्रत् अवस्था के ज्ञान में भासित होने योग्य विषयों का ही संस्कारवश स्वप्नज्ञान में भान होता है । अगर यह बात न हो तो स्वप्नज्ञान में नियमतः उसी विषय का भान कैसे हो, जो वस्तु पहले से ही श्रुत या दृष्ट हो । दूसरी बात यह है कि अगर बाह्य वस्तु नहीं है तो फिर 'यह नील है' इत्यादि प्रतीतियों में नियमित रूप से किसका भान होता है ? (प्र.) प्रतीतियों में भासित होनेवाले आकार विज्ञान के हैं ? (उ) ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि उक्त प्रतीतियाँ ज्ञान से भिन्न अर्थविषयक ही होती हैं । अगर उक्त प्रतीतियों में भासित होने वाले आकार भी विज्ञान के ही हों तो फिर उन प्रतीतियों का अभिलाप 'यह नील है' इस प्रकार का न होकर 'मै नील हूँ' इत्यादि आकार का होगा । (प्र.) ज्ञानों के प्रत्येक आकार भिन्न-भिन्न हैं । इनमें से किसी आकार की प्रतीति 'अहम्' के साथ होती है एवं किसी आकार की प्रतीति 'इदम्' के साथ । (उ.) ऐसी बात नहीं है; क्योंकि नीलादि आकारों की तरह 'अहम्' आकार नियमित

न्यायकन्दली

कारस्य व्यवस्थितत्वाभावात् । तथा च यदेकेनाहमिति प्रतीयते तदपरेण त्वमिति प्रतीयते, स्वयं स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभास इति चेत्? किं वै परस्यापि संवेदनमस्ति ? स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत् ? प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदो वास्तवो न कस्मात् ? भ्रान्तं प्रत्यक्षमिति चेत् ? यथोक्तम्--

परिच्छेदान्तरं योऽयं भागो बहिरवस्थितः ।
ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासो ह्युपप्लवः ॥ इति ।

कुत एतत् ? अनुमानेनाभेदसाधनादिति चेत् ? प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभः, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वमित्यन्योन्यापेक्षितादोषः । अस्तु वा भेदो विप्लवो नियतदेशाधिकरणप्रतीतिः , कुतः ? न हि तत्रायमारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः । वासनानियमात् तदारोपनियमः स्यादिति चेत्, न, तस्या अपि तद्देशनियमकारणाभावात् । सति ह्यर्थसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशानुभवस्तद्देशा च तत्पूर्विका वासना, बाह्याभावे

नहीं है । जिसको एक आकार की प्रतीति 'अहम्' रूप से होती है, उसी आकार की प्रतीति किसी दूसरे को 'त्वम्' रूप से या 'इदम्' रूप से होती है । (प्र.) (यह नियम है कि) स्वयं की प्रतीति अपने को 'अहम्' आकार से होती है । (उ.) 'स्वयं' से भिन्न का भी तो संवेदन होता है । (प्र.) वह संवेदन भी वस्तुतः 'स्व'रूप का ही है; किन्तु भ्रान्तिवश उसमें भेद की प्रतीति होती है । (उ.) प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होनेवाला यह भेद वास्तविक ही क्यों नहीं है । (प्र.) चूँकि प्रत्यक्ष भ्रान्त है । जैसा कहा है कि जो अंश ज्ञान से भिन्न एवं बाह्य मालूम होता है, वह भी ज्ञान से अभिन्न ही है, उसमें ज्ञान-भेद की प्रतीति भ्रान्ति है । (उ.) यह क्यों? (प्र.) चूँकि अनुमान से ज्ञान और अर्थ का अभेद सिद्ध है । (उ.) उक्त कथन असङ्गत है; क्योंकि यह अन्योन्याश्रय से दूषित है । कथित अभेद का साधक अनुमान इसलिए प्रमाण है कि भेद का साधक प्रत्यक्ष भ्रान्त है । प्रत्यक्ष इसलिये भ्रान्त है कि अभेद का साधक अनुमान प्रमाण है । अगर यह मान भी लें कि उक्त भेद की प्रतीति भ्रान्ति है, फिर भी नियमित देशरूप अधिकरण की प्रतीति कैसे उपपन्न होगी ? क्योंकि इसका नियामक कोई नहीं है कि अमुक आकार के विज्ञान का आरोप अमुक आकार के विज्ञान में ही हो, विज्ञान के दूसरे आकारों में नहीं ? (प्र.) वासना के नियम से आरोप का नियम होगा ? (उ.) वासना में भी तद्देशविषयकत्व का कोई नियामक नहीं है । बाह्य वस्तुएँ जब रहती हैं, तब जो अर्थ जिस देश में रहता है उस अर्थविशिष्ट उस देश का अनुभव होता है एवं उस देशविषयक इस अनुभव से ही उस देशविषयक 'वासना' (संस्कार) की उत्पत्ति होती है । अगर बाह्य अर्थ ही न रहेंगे तो फिर वासना में भी यह विशेष किससे उपपन्न होगा ? विना विशेष कारण के विशेष

न्यायकन्दली

तु तस्याः किंकृतो देशनियमः ? न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते, बाह्यश्चार्थो नास्ति। तेन वासनानामेव वैचित्र्यं वैचित्र्यस्यार्थवत्तत्कारणानां वैचित्र्यादित्यनादिरिति चेत् ? वासनावैचित्र्यं यदि बोधाकारादनन्यत् कस्तासां परस्परतो विशेषः? अथान्यदर्थे कः प्रद्वेषः ? येन सर्वलोकप्रतीतिरपह्नूयते। केन चायमाकारो बहिरारोप्यते ? ज्ञानेन चेत् ? किं तस्य स्वात्मन्याकारसंवित्तिरेव बहिरारोपस्तदन्यो वा? आद्ये कल्पे सैव तस्य सम्यक्प्रतीतिः, सैव च मिथ्येत्यापतितम्, ज्ञानगतत्वेनाकारग्रहणस्य सत्यत्वात्, बाह्यतासंवित्तेश्चायथार्थत्वात्। अन्यत्वे तु तयोर्न क्रमेण भावः, तत्कारणस्य ज्ञानस्य क्षणिकत्वात्। न चैकस्य युगपत्सत्यत्वेन मिथ्यात्वेन च प्रतीतिसम्भवः। न च क्रमयौगपद्याभ्यामन्यः प्रकारोऽस्ति, यत्र वर्तमानं ज्ञानं स्वात्मन्याकारं गृह्णीयाद्बहिश्च तमारोपयति।

अपि च यदि ज्ञानाकारो नीलादिरर्थो यस्यैवायमाकारः स एव तं प्रतीयात्, न पुरुषान्तरं प्रतीयात्। प्रतीयते चायं बहुभिरेकः, सर्वेषां तदाभिमुख्येन

कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (प्र.) चूँकि बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है, अतः वासना में ही वैचित्र्य की कल्पना करते हैं। प्रयोजन से युक्त (उस पहली वासना में स्थित) कारणों का वैचित्र्य ही उक्त वासना के वैचित्र्य का कारण है। (उ.) वासनाओं के ये वैचित्र्य भी अगर केवल विज्ञान रूप ही हैं तो फिर उनमें परस्पर भेद क्या है ? अगर ये वैचित्र्य विज्ञान से भिन्न हैं तो फिर नीलादि वस्तुओं को ही विज्ञान से भिन्न मानने में आपको क्यों द्वेष है ? जिससे कि सर्वजनीन प्रतीतियों का आप अपलाप करते हैं। (एवं) विज्ञान के आकारों का यह आरोप कौन करता है ? अगर ज्ञान ही ? अगर आकार से अभिन्न विज्ञान में ही आकार का भान होता है और वही आरोप कहलाता है, तो फिर इस पक्ष में एक ही ज्ञान को सत्य और मिथ्या दोनों ही कहने की आपत्ति होगी; क्योंकि ज्ञान ही आकार के ग्रहण रूप होने से सत्य है एवं उसमें बाह्यत्व का आरोप होने से मिथ्या है। अगर आकार विज्ञान और आकाराधायक विज्ञान दोनों को भिन्न मानें तो फिर उक्त कारणविज्ञान और कार्यविज्ञान दोनों की क्रमशः सत्ता नहीं रहेगी; क्योंकि कारणविज्ञान क्षणिक है। (अगर दोनों विज्ञानों को एक मानें तो फिर) एक ही विज्ञान एक ही समय सत्य और मिथ्या दोनों नहीं हो सकता। क्रम और यौगपद्य को छोड़कर कोई तीसरा प्रकार नहीं है कि जिस रूप में विद्यमान आकार अपने से अभिन्न आकार का भी ग्रहण करे और अपने आकार को बाहर आरोपित भी करे।

और भी बात है। अगर ये नीलादि वस्तुएँ विज्ञान के ही आकार हों तो फिर जिस पुरुष के विज्ञान के ये आकार होंगे केवल उसी पुरुष से गृहीत हो सकेंगे, दूसरे पुरुषों से नहीं; किन्तु एक ही वस्तु अनेक पुरुषों से गृहीत होती है; क्योंकि एक

न्यायकन्दली

युगपत्प्रवृत्तेः, यस्त्वया दृष्टः स मयापीति प्रतिसन्धानात् । तस्मादर्थोऽयं न ज्ञानाकारः ।

ये तु ज्ञानाकारमप्यपह्नुवाना अलीका एव नीलादयः प्रतिभासन्त इत्याहुः, तेषां कारणनियामादुत्पत्तिनियमोऽर्थक्रियानियमश्च न प्राप्नोति, अर्थाभावेन किञ्चित् कस्यचित् कारणम्, सर्वं वा सर्वस्य, नार्थक्रियासंवादो न वा विसंवादो विशेषाभावात् । यथोक्तं गुरुभिः —

आशामोदकतृप्ता ये ये चोपार्जितमोदकाः ।
रसवीर्यविपाकादि तेषां तुल्यं प्रसज्यते ॥ इति ।

वासनाविशेषात् तद्विशेषसिद्धिरिति चेत् ? सा यदि बाह्यार्थक्रियाविशेषहेतुः ? संज्ञाभेदमात्रम्, अर्थो वासनेति । अथ ज्ञानात्मिका ? अर्थाभावे तस्या विशेषो निर्निबन्धनो बोधमात्रस्योपादानस्य सर्वत्राविशेषात्, बोधाकारस्य व्यतिरिक्तस्य च विशेषस्याभ्युपगमेऽर्थसद्भावाभ्युपगमप्रसङ्गादित्युक्तम् । न चास्मिन् पक्षे नीलादिप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वं स्यात्, तज्जननसमर्थक्षणसन्तानस्य सर्वदाऽनुवृत्तेः, अननुवृत्तौ वा कालान्तरेऽपि तत्प्रत्ययानुपपत्तिः, स्वव्यतिरिक्तस्यापेक्षणी-

ही वस्तु की ओर एक ही समय अनेक व्यक्ति प्रवृत्त दीख पड़ते हैं । एवं इस प्रकार की प्रतीति भी होती है कि 'जिसको मैंने देखा था उसी को तुमने भी देखा है', अतः नीलादि (कोई भी) बाह्य वस्तु ज्ञानरूप नहीं हैं ।

जो कोई (माध्यमिक) विज्ञान के इस आकार का भी अपलाप करते हुए 'अलीक' (शून्य) वस्तु को ही नीलादिबुद्धि का विषय मानते हैं, उनके मत से कारण के नियम से (कपालादि कारण समूह से घट की ही उत्पत्ति हो पटादि की नहीं) कार्य के (इस) नियम की उपपत्ति नहीं होगी । एवं अर्थ-क्रिया (प्रवृत्ति) का नियम भी अनुपपन्न हो जाएगा; क्योंकि अर्थक्रिया की सत्ता ही नहीं है । अतः यही कहना पड़ेगा कि किसी का कोई कारण नहीं है या सभी वस्तुएँ सभी वस्तुओं की कारण हैं । एवं अर्थक्रिया की सफलता भी नहीं होगी, विफलता भी नहीं होगी; क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है । जैसा कि गुरुओं ने कहा है कि (अगर शून्यता ही तत्त्व हो तो) मन के लड्डू खाने से तृप्त पुरुष के एवं यथार्थ मोदक का उपार्जन कर उसे खानेवाले पुरुष के रस, वीर्य और विपाकादि सभी समान ही होने चाहिए ।

(प्र.) वासना के विशेष से दोनों में जो विशेष है, उससे उन दोनों पुरुषों के रस-वीर्यादि के अन्तर की उपपत्ति होगी । (उ.) वासना अगर प्रयोजन विशेष के सम्पादन में समर्थ है ? तो फिर नाम का ही अन्तर रह जाता है कि हम उसे अर्थ कहते हैं और आप वासना कहते हैं । अगर वह भी ज्ञान स्वरूप ही है तो अर्थों के न रहने के कारण उसमें वैशिष्ट्य असम्भव है; क्योंकि बोधरूप कारण सभी जगह समान है । पहले कहा जा चुका है कि बोधाकार से भिन्न किसी विशेष को प्रयोजक मानना वस्तुतः बाह्य वस्तुओं

प्रशस्तपादभाष्यम्

परिमाणं मानव्यवहारकारणम् । तच्चतुर्विधम्—अणु, महद्, दीर्घम्, ह्रस्वं चेति । तत्र महद् द्विविधम्—नित्यमनित्यं च । नित्य-

मान (तौल और नाप) के व्यवहार का असाधारण कारण ही 'परि-माण' है । वह अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व भेद से चार प्रकार का है ।

न्यायकन्दली

यस्याभावात् । कारणपरिपाकस्य कादाचित्कत्वात् तत्कार्यस्य कादाचित्कत्वमिति चेत् ? कारणस्य परिपाकः कार्यः, कार्यजननं प्रत्याभिमुख्यम्, सोऽपि स्वसंवेदनमात्राधीनो न कादाचित्को भवितुमर्हति । अस्ति चायं कादाचित्कः प्रत्यक्षप्रतिभासः, स एव प्रतीतिविषयं देशकालकारणस्वभावनियतं बाह्यं वस्तु व्यवस्थापयंस्तदभावसाधनं बाधत इति कालात्ययापदिष्टत्वमपि हेतूनामित्युपरम्यते । समधिगता संख्या ।

सम्प्रति परिमाणनिरूपणार्थमाह— परिमाणं मानव्यवहारकारणमिति । **मानव्यवहा-रोऽणु महद् दीर्घं ह्रस्वमित्यादिज्ञानं शब्दश्च, तस्य कारणं परिमाणमित्यनेन प्रत्यक्ष-सिद्धस्यापि परिमाणस्य विप्रतिपन्नं प्रति कार्येण सत्तां दर्शयति । यथा तावज्ज्ञानस्य ज्ञेयप्रसाधकत्वं तथोक्तम् ।**

को ही मानना है । एवं इस पक्ष में नीलादि प्रतीतियों का कादाचित्कत्व (कभी होना कभी न होना) की उपपत्ति भी ठीक नहीं बैठती है; क्योंकि नीलादि विज्ञान के प्रयोजक क्षणसन्तान की सत्ता तो बराबर है ही । अगर सदा उसकी अनुवृत्ति नहीं रहती है तो फिर आगे नीलादि की प्रतीतियाँ नहीं होंगी । (प्र.) (यद्यपि) कार्य को अपने से भिन्न किसी की अपेक्षा नहीं है, फिर भी कारण का परिपाक कदाचित् ही होता है, अतः कार्य भी कभी होता है कभी नहीं । (उ.) कार्य के प्रति उन्मुख होना ही कारणों का परिपाक है, वह भी स्वसंवेदन रूप विज्ञान से भिन्न कुछ भी नहीं है, अतः उसका भी कादाचित्कत्व उचित नहीं है; किन्तु कार्यों का कादाचित्कत्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है । यह प्रत्यक्ष ज्ञान देश, काल और स्वभाव से नियत अपने बाह्य विषय का स्थापन करते हुए उसके अभाव के साधक को भी बाधित करता है । इस प्रकार बाह्य अर्थ की सत्ता का लोप करनेवाले ये सभी हेतु कालात्ययापदिष्ट हैं । (इस प्रकार) संख्या को अच्छी तरह समझा ।

'परिमाणं मानव्यवहारकारणम्' इत्यादि से अब परिमाण का निरूपण करते हैं । अणु, महत्, दीर्घ, ह्रस्व इन सबों के ज्ञान एवं इन सबों के प्रतिपादक शब्दों के प्रयोग ये दोनों ही प्रकृत 'मानव्यवहार' शब्द से अभिप्रेत हैं । प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध परिमाण को जो नहीं मानना चाहते, उन्हें (परिमाण के उक्त व्यवहार रूप) कार्य-लिङ्गक अनुमान की सूचना 'तस्य परिमाणम्' इत्यादि से देते हैं । जिस प्रकार ज्ञान अपने ज्ञेय अर्थ का साधक है, उसे (संख्याप्रकरण में) दिखला चुके हैं ।

न्यायकन्दली

शब्दस्य तु कथम् ? न ह्यसावर्थात्मा, अन्नाग्न्यसिशब्दोच्चारणे मुखस्य पूरणदाहपाटनप्रसङ्गात् । नाप्यर्थजः, कौष्ठ्यवायुकण्ठाद्यभिघातजत्वात्, अतदात्मनोऽतदुत्पन्नस्य प्रतिपादकत्वं चातिप्रसङ्गात् । तदयुक्तम्, यदि कण्ठाद्यभिघातमात्रज एव शब्दो न वक्तुर्विवक्षामपि प्रतिपादयेत् तदुत्पत्त्यभावात् । तथा च वक्तुर्विवक्षामपि न सूचयेयुः शब्दा इति प्रमत्तगीतं स्यात् । पारम्पर्येण विवक्षापूर्वकत्वाच्छब्दस्य विवक्षाप्रतिपादकत्वमिति चेत्? एवमर्थानुभवप्रतिपादकत्वमपि, विवक्षाया अर्थानुभवपूर्वकत्वात् । असत्यप्यर्थानुभवे विप्रलम्भकस्य तदर्थविवक्षाप्रतीतिरिति चेत् ? असत्यामपि तदर्थविवक्षायां भ्रान्तस्य तदर्थविषयं वाक्यमुपलब्धम् । यथाहुराचार्याः –

'भ्रान्तस्यान्यविवक्षायामन्यद् वाक्यं हि दृश्यते' । इति ।

नान्यविवक्षातोऽन्याभिधानसम्भवः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यद् यस्य कारणमवगतं तस्य तद्व्यभिचारे विश्वस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्, अतो भ्रान्तस्याप्रतीयमानाऽपि

(प्र.) किन्तु 'शब्द' अपने बोध्य अर्थ का साधक किस तरह से है ? शब्द स्वयं अर्थ स्वरूप नहीं है, अगर ऐसी बात हो तो अन्न शब्द के उच्चारण से ही पेट भर जाय, 'अग्नि' शब्द के उच्चारण से मुँह जल जाय एवं असि (तलवार) शब्द के उच्चारण से मुँह कट जाय । अर्थ से शब्द की उत्पत्ति भी नहीं होती है; क्योंकि कोष्ठसम्बन्धी वायु के कण्ठादि देशों के साथ अभिघात से शब्द की उत्पत्ति होती है । शब्द से भिन्न होने पर भी एवं शब्द का कारण न होने पर भी अगर शब्द से अर्थ का प्रतिपादन माना जाय तो अतिप्रसङ्ग होगा । (उ.) किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि अगर शब्द की उत्पत्ति कण्ठादि के अभिघात से ही हो (विवक्षा वक्ता के अर्थ प्रतिपादन की इच्छा से नहीं), तो फिर शब्द विवक्षा का भी ज्ञापक नहीं होगा; क्योंकि विवक्षा से उसकी उत्पत्ति नहीं होती है । अगर विवक्षा की सूचना भी शब्दों से नहीं होगी तो फिर शब्दों का प्रयोग केवल पागल का प्रलाप ही होगा । (प्र.) (विवक्षा साक्षात् शब्द की उत्पादक न होने पर भी) परम्परा से शब्द की उत्पादक है, अतः शब्द विवक्षा का ज्ञापक है । (उ.) इस प्रकार तो शब्द अर्थानुभव का भी सूचक है ही; क्योंकि विवक्षा अर्थानुभव से ही उत्पन्न होती है । (प्र.) अर्थ का अनुभव न रहने पर भी वञ्चक पुरुष में अर्थ की विवक्षा देखी जाती है । (उ.) विवक्षा के न रहने पर भी भ्रान्त व्यक्ति के द्वारा उस अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग भी तो देखा जाता है ।

जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि 'भ्रान्त पुरुष कहना कुछ चाहता है, किन्तु कहता कुछ और ही है' । (प्र.) एक की विवक्षा से दूसरा पुरुष शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता; क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से जिसमें कारणता निश्चित है, उसके रहते हुए भी अगर कार्य की उत्पत्ति कभी न भी हो तो फिर संसार की सभी रचनाएँ अनियमित हो जाएँगी ।

न्यायकन्दली

तदर्थविवक्षा सहसोपजाता गच्छत्तृणसंस्पर्शज्ञानवदस्पष्टरूपा कार्येण कल्पनीयेति चेत् ? विप्रलम्भकस्यापि विवक्षाविशेषेण तदर्थानुभवः कल्प्यताम्, असंविदितेऽर्थे तद्विषयस्य विवक्षाविशेषस्यायोगात् । तदानीं विप्रलम्भकस्य तदर्थानुभवो नास्तीति चेत् ? मा स्म भूत्, स्मरणं तावद्विद्यते, विप्रलम्भको हि पूर्वानुभूतमेवार्थमन्यथाभूतमन्यथा च कथयति । तत्रास्य तदर्थविवक्षा स्मरणकारणिका भवन्ती पारम्पर्येण तदनुभवकारणिकेति नास्ति व्यभिचारः, मिथ्यानुभवपूर्विकाया अपि विवक्षायाः पारम्पर्येण सत्यानुभवपूर्वकत्वात् । अनुभवश्चार्थाव्यभिचारीति शब्दादर्थसिद्धिः । अन्यथा वाक्यश्रुतौ श्रोतुरर्थप्रतीत्यभावाद् विवक्षामात्रप्रतीतेश्चापुरुषार्थत्वाच्छाब्दो व्यवहार उच्छिद्येत, वादिप्रतिवादिनोर्जयपराजय-व्यवस्थानुपपत्तिः, विवक्षामात्रं प्रत्युभयोरपि भूतार्थवादित्वात् ।

यच्चोक्तं द्रव्यादव्यतिरिक्तं परिमाणम्, द्रव्याग्रहे तद्बुद्ध्यभावादिति, तदसिद्धम् । दूराद् द्रव्यग्रहणेऽपि तत्परिमाणविशेषस्याग्रहणात् । अत एव महानप्यणुरिव भ्रान्त्या दृश्यते ।

अतः (भ्रान्त पुरुष के शब्दप्रयोगरूप) कार्य से ही यह अनुमान करते हैं कि (शब्दप्रयोग से पहले) भ्रान्त पुरुष को भी अज्ञात अर्थविषयक अस्फुट विवक्षा सहसा उत्पन्न होती है । जैसे कि राह चलते आदमी को तृण के स्पर्श का हठात् अस्पष्ट प्रतिभास होता है. । (उ.) तो फिर उस प्रतारक के विशेष प्रकार की विवक्षा से उसके उस अर्थविषयक अनुभव की कल्पना कीजिए; क्योंकि अज्ञात अर्थ की विवक्षा कभी भी नहीं उत्पन्न होती । (प्र.) उस समय ठगनेवाले पुरुष को उस विषय का अनुभव तो नहीं है । (उ.) अनुभव न रहे, स्मरण तो रह सकता है । पहले समझी हुई वस्तु को ही प्रतारक दूसरों से कहता है । इस प्रकार प्रकृत में भी चूँकि अर्थविषयक विवक्षा स्मरण का कारण है, अतः परम्परा से वह अनुभव का भी कारण होती है । सुतराम् (शब्द और विवक्षा के कार्यकारणभाव में) व्यभिचार नहीं है । अतः मिथ्या अनुभव से उत्पन्न होनेवाली विवक्षा का सत्यानुभव भी परम्परा से कारण है । तस्मात् विवक्षा एवं यथार्थानुभव इन दोनों के कार्यकारणभाव में भी व्यभिचार नहीं है । अगर ऐसीा बात न होती तो वाक्य के सुनने से सुननेवाले को अर्थ की प्रतीति न होकर विवक्षा की ही प्रतीति होती; किन्तु यह वाक्य का प्रयोग करनेवाले को अभीष्ट नहीं है, अतः शब्द से होनेवाले व्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा । वादी एवं प्रतिवादी में हार-जीत की व्यवस्था भी उठ जाएगी; क्योंकि विवक्षा के प्रसङ्ग में तो दोनों बराबर ही कहते हैं ।

यह जो आपने कहा कि (प्र.) द्रव्य और उसके परिमाण दोनों अभिन्न हैं; क्योंकि द्रव्यज्ञान के बिना उसके परिमाण का ज्ञान नहीं होता है, (उ.) सो ठीक नहीं है;

न्यायकन्दली

एवं व्यवस्थिते परिमाणे तस्य भेदं कथयति—तच्चतुर्विधमिति । **येन रूपेण चातुर्विध्यं तद्दर्शयति**--अणु महद् दीर्घं ह्रस्वं चेति । **चतुरस्रादिकं त्ववयवानां संस्थानविशेषो न परिमाणान्तरम् । दीर्घत्वादयोऽपि तथा भवन्तु ? न, अवयवसंस्थानानुपलम्भेऽपि दूराद् दीर्घादिप्रत्ययस्य दर्शनात् । अपि च भोः ! द्व्यणुकपरिमाणं तावदणु, महत्परिमाणोत्पत्तौ कारणाभावात् । तस्माच्च परमाणुपरिमाणमपकृष्टम्, कार्यपरिमाणात् कारणपरिमाणस्य हीनत्वदर्शनात् । ततश्च परमाणोः परिमाणं द्व्यणुकपरिमाणाद्भिन्नम् । एवं घटादीनां परिमाणादन्यदेव प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तमाकाशादिपरिमाणम्, तथा दीर्घं ह्रस्वं चेति परिमाणमष्टविधमेव, कुतश्चातुर्विध्यमित्याह**—तत्रेति । **तेषु चतुर्षु परिमाणेषु मध्ये महद् द्विविधं नित्यमनित्यं चेति । केषु नित्यमित्याह**—नित्यमाकाशकालदिगात्मसु । **तच्च परममहत्त्वमित्युच्यते ।**

क्योंकि दूर से द्रव्य का ज्ञान होने पर भी विशेष प्रकार के परिमाण का ज्ञान नहीं होता है, अतः भूल से बड़ी चीज भी छोटी प्रतीत होती है ।

इस प्रकार परिमाण की सत्ता सिद्ध हो जाने पर 'तच्चतुर्विधम्' इत्यादि से उसके भेद कहे गये हैं । जिन भेदों से परिमाण के चार भेद हैं, यह 'अणु महद्दीर्घं ह्रस्वञ्चेति'.इस पङ्क्ति से कहा गया है । चौकोर आदि आश्रय द्रव्यों के अवयवों के विशेष प्रकार के विन्यास ही हैं, कोई स्वतन्त्र परिमाण नहीं । (उ.) फिर दीर्घत्वादि भी अवयवों के विशेषविन्यास ही हों, स्वतन्त्र परिमाण नहीं । (उ.) संस्थान की अर्थात् अवयवों के विशेष विन्यास की प्रतीति दूर से नहीं होती है; किन्तु दीर्घत्वादि की प्रतीति दूर से भी होती है । (प्र.) द्व्यणुक 'अणु' परिमाण वाला है; क्योंकि वह महत्परिमाण का कारण नहीं है । एवं परमाणु का परिमाण (अणु होते हुए भी) द्व्यणुक के परिमाण से न्यून है; क्योंकि कार्य के परिमाण से कारण का परिमाण न्यून ही देखा जाता है । अतः परमाणु के परिमाण और द्व्यणुक के परिमाण (दोनों ही अणु होते हुए भी) भिन्न प्रकार के हैं । एवं घटादि के महत्परिमाण एवं महत्परिमाण के अन्तिम अवधि आकाशादि का महत्परिमाण दोनों ही (महत्त्वत्वेन समान होने पर भी) भिन्न प्रकार के हैं । इसी प्रकार दीर्घ और ह्रस्व में भी समझना चाहिए । अतः परिमाण का आठ भेद होना ही उचित है, चार भेद नहीं[1] । इसी प्रश्न का उत्तर 'तत्र' इत्यादि

---

1. मुद्रित न्यायकन्दली पुस्तक में 'षड्विधमेव' ऐसा पाठ है, किन्तु वह असङ्गत मालूम होता है; क्योंकि जैसे द्व्यणुक और परमाणु के अणुत्व में अन्तर है, वैसे ही दोनों के ह्रस्वत्व में भी अन्तर है । एवं जैसे कि घट और आकाशादि के महत्परिमाण में अन्तर है, वैसे ही दोनों की दीर्घता में भी । फलतः ह्रस्वत्व एवं अणुत्व के दो-दो भेद एवं महत्त्व और दीर्घत्व के दो-दो भेद सब मिलाकर आठ भेद की ही आपत्ति ठीक बैठती है और यह बात

प्रशस्तपादभाष्यम्

माकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम् । अनित्यं त्र्यणुकादावेव । तथा चाण्वपि द्विविधम्—नित्यमनित्यं च । नित्यं परमाणुमनस्सु तत् पारि-

इनमें महत् (परिमाण) नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है । नित्य महत्परिमाण आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन चार द्रव्यों में है; क्योंकि वे परममहत्त्व रूप हैं । इसी तरह अणु भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है । इन दोनों में से नित्य अणु (परिमाण) परमाणुवों और मनों में है ।

न्यायकन्दली

अनित्यं महत्परिमाणं त्र्यणुकादावेव नाकाशादिष्वित्यर्थः । यथा महद् द्विविधं तथाण्वपि द्विविधं नित्यमनित्यं च । उभयत्रापि चकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः । नित्यमणुपरिमाणं परमाणुमनःसु, उत्पत्तिविनाशकारणाभावात् । पारिमाण्डल्यमिति सर्वापकृष्टं परिमाणम् । अनित्यमणुपरिमाणं द्व्यणुक एव नान्यत्रेत्यर्थः । एतेनैतदुक्तं भवति, अणुपरिमाणप्रभेद एव परमाणुपरिमाणं महत्परिमाणप्रभेदश्च परममहत्परिमाणम्, अन्यथा परमशब्देन विशेषणा-योगात् । यत् खलु परिमाणं रूपसहायं स्वाश्रयं प्रत्यक्षयति तत्र महदिति व्यपदेशः, यच्च

से देते हैं । 'तत्र' अर्थात् उन चारों प्रकारों के परिमाणों में 'महत्' नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है । किन द्रव्यों में वह नित्य है ? इस आकाङ्क्षा की पूर्ति 'नित्यमाकाशकालदिगात्मसु' इस वाक्य से की गयी है । आकाशादि द्रव्यों में रहनेवाले 'महत्त्व' को ही 'परममहत्त्व' कहते हैं । अनित्य महत्परिमाण त्र्यसरेणु प्रभृति द्रव्यों में ही है, आकाशादि द्रव्यों में नहीं । जिस प्रकार महत्त्व नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है, उसी प्रकार 'अणु' भी दो प्रकार का हैं । दोनों वाक्यों के 'च' शब्द परिमाण की और प्रकार की सम्भावनाओं को हटाने के लिए हैं । परमाणुवों और मनों में केवल नित्य अणुपरिमाण ही रहता है; क्योंकि उनके परिमाणों का कोई विनाशक नहीं है । सब से छोटे परिमाण को पारिमाण्डल्य कहते हैं । अनित्य अणुपरिमाण केवल द्व्यणुकों में ही है, और कहीं नहीं । इससे यह अर्थ निकला कि परमाणुवों का परिमाण भी अणुपरिमाण का ही एक भेद है । एवं आकाशादि का परममहत्परिमाण भी महत्परिमाण का ही एक भेद है । अगर आकाशादि का परिमाण महत् न हो तो फिर उसमें 'परम' विशेषण ही व्यर्थ हो जाएगा । रूप के साहाय्य से जो परिमाण अपने आश्रय के प्रत्यक्ष का कारण होता है, उसे महत्परिमाण कहते हैं । जिससे यह

न्यायकन्दली के 'दीर्घं ह्रस्वञ्चेति' इस वाक्य से भी स्पष्ट होती है अतः मैंने 'षड्विधमेव' के स्थान पर 'अष्टविधमेव' ऐसा ही पाठ रखना उचित समझा ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

माण्डल्यम् । अनित्यं द्व्यणुक एव । कुवलयामलकबिल्वादिषु महत्स्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुत्वव्यवहारः । दीर्घत्वह्रस्वत्वे

यही अणुपरिमाण पारिमाण्डल्य कहलाता है । अनित्य (अणुपरिमाण) केवल द्व्यणुक रूप द्रव्य में ही है । कुवलय, आमला और बेल प्रभृति के महत्परिमाणों में अणुत्व का जो व्यवहार होता है, वह महत्परिमाणों के न्यूनाधिकभाव के कारण गौण है । जिन आश्रयों के महत् (परिमाण) और अणु (परिमाण) उत्पत्ति-

न्यायकन्दली

नो प्रत्यक्षयति तत्राण्विति व्यवहारः । न चैवं सति त्र्यणुकस्याप्यणुत्वप्रसक्तिः ? तस्यापि प्रत्यक्षत्वात्, त्र्यणुकमस्मदादिप्रत्यक्षं बहुभिः समवायिकारणैरारब्धत्वात्, घटवत् । यस्य च प्रत्यक्षस्य द्रव्यस्यावयवा न प्रत्यक्षास्तदेव त्र्यणुकम् । आकाशपरिमाणस्य तु प्रत्यक्षहेतुत्वाभावेऽपि महत्त्वमेव, तदाश्रयस्य द्व्यणुकव्याप्तितोऽधिकव्याप्तित्वात्, घटादिपरिमाणवत् ।

अनित्यमणुपरिमाणं द्व्यणुक एवेत्ययुक्तम्, कुवलयामलकबिल्वादिषु परस्परापेक्षयाणुव्यवहारदर्शनादत आह—कुवलयामलकबिल्वादिष्विति । **बिल्वे यः प्रकर्षभावो महत्परिमाणातिशययोगित्वं तस्यामलकेऽभावमपेक्ष्याणुव्यवहारो भाक्तः । उभाभ्यां भज्यत इति भक्तिः सादृश्यम्, तस्यायमिति भाक्तः, सादृश्यमात्रनिबन्धनो गौण इत्यर्थः । एवमामलकपरिमाणातिशयाभावं**

काम नहीं होता है, उस परिमाण को 'अणु' कहते हैं । इसी से त्र्यसरेणु के परिमाण में अणुत्व की आपत्ति नहीं होती है; क्योंकि उसका प्रत्यक्ष होता है । त्र्यणुक की उत्पत्ति घटादि की तरह अनेक अवयवों से होती है, अतः वह हम लोगों के प्रत्यक्ष का भी विषय है । प्रत्यक्ष दीखने वाले जिस द्रव्य के अवयवों का प्रत्यक्ष न हो उसे 'त्र्यणुक' कहते हैं । घटादि के परिमाणों की तरह आकाशादि के परिमाण की व्याप्ति द्व्यणुक के परिमाण की व्याप्ति से अधिक है, अतः आकाशादि के परिमाण भी महत् ही हैं ।

(प्र.) यह कहना ठीक नहीं कि 'अनित्य अणुपरिमाण' केवल द्व्यणुक में ही हैं; क्योंकि कुवलय, आँवला और बेल इन सबों में 'आपेक्षिक अणुत्व' का व्यवहार देखा जाता है । इसी प्रश्न का उत्तर 'कुवलयामलकबिल्वादिषु' इत्यादि पङ्क्ति से देते हैं । बेल में जो प्रकर्षभाव अर्थात् विलक्षण महत्परिमाण का सम्बन्ध है वह आँवले में नहीं है, इसी से आँवले में 'अणुत्व' का भाक्त व्यवहार होता है । अभिप्राय यह है कि 'उभाभ्यां भज्यत इति भक्तिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार केवल सादृश्य से होनेवाले व्यवहार को 'भाक्त' कहते हैं । इसी प्रकार आँवले में जिस उत्कृष्ट महत्परिमाण का सम्बन्ध है, उस प्रकार के महत्परिमाण का सम्बन्ध कुवलय में नहीं है । इसी से कुवलय

प्रशस्तपादभाष्यम्

चोत्पाद्ये महदणुत्वैकार्थसमवेते । समिदिक्षुवंशादिष्वञ्जसा दीर्घेष्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तो ह्रस्वत्वव्यवहारः । अनित्यं चतुर्विध-

शील हैं, उन आश्रयों में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व भी समवाय सम्बन्ध से उत्पत्तिशील ही हैं । लकड़ी, ईख, बाँस प्रभृति दीर्घ वस्तुओं में भी उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से ह्रस्वत्व का गौण व्यवहार होता है । चारों प्रकार के अनित्य परिमाण

न्यायकन्दली

कुवलयेऽपेक्ष्याणुव्यवहारः । यत्र हि मुख्यमणुत्वं द्व्यणुके तत्र महत्परिमाणस्याभावो दृष्टः । आमलकेऽपि यादृशं बिल्वे महत्परिमाणं तादृशं नास्तीत्येतावता साधर्म्येणोपचारप्रवृत्तिः ।

दीर्घत्वह्रस्वत्वयोर्विशेषं दर्शयति—दीर्घत्वह्रस्वत्वे **इति । महच्चाणुत्वं च महदणुत्वे, उत्पाद्ये च ते महदणुत्वे चेत्युत्पाद्यमहदणुत्वे, ताभ्यामेकस्मिन्नर्थे समवेते ह्रस्वत्वदीर्घत्वे । यत्रोत्पाद्यं महत्त्वं त्र्यणुकादौ तत्रोत्पाद्यं दीर्घत्वम्, यत्र चोत्पाद्यमणुत्वं द्व्यणुके तत्रोत्पाद्यं ह्रस्वत्वमित्यर्थः । तत्र परमाणोः परिमण्डलत्वाद्ध्रस्वत्वाभावो व्यापकत्वाच्चाकाशस्य दीर्घत्वाभाव**

में अणुत्व का व्यवहार होता है । जहाँ अणुत्व का मुख्य व्यवहार होता है, जैसे कि द्व्यणुक में, वहाँ महत्परिमाण के अभाव की भी प्रतीति होती है । आँवले में भी अणुत्व के गौण व्यवहार की प्रवृत्ति केवल इतने ही सादृश्य से होती है कि बिल्व में जिस प्रकार का उत्कृष्ट महत्परिमाण है, वह आँवले में नहीं है[1] ।

'दीर्घत्वह्रस्वत्वे' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा दीर्घत्व एवं ह्रस्वत्व रूप दोनों परिमाणों का अन्तर दिखलाते हैं । 'महच्चाणुत्वञ्च महदणुत्वे' कथित इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'दीर्घत्वह्रस्वत्वे' इत्यादि वाक्य का यह अर्थ है कि जिन द्रव्यों में उत्पत्तिशील महत्त्व एवं उत्पत्तिशील अणुत्व रहते हैं, उन्हीं में उत्पत्तिशील दीर्घत्व एवं उत्पत्तिशील ह्रस्वत्व भी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं । अर्थात् त्र्यणुकादि द्रव्यों में चूँकि उत्पत्तिशील महत्त्व ही है, अतः वहाँ दीर्घत्व भी उत्पत्तिशील ही है । एवं द्व्यणुक में चूँकि उत्पत्तिशील अणुत्व है तो फिर वहाँ ह्रस्वत्व भी उत्पत्तिशील ही है । इस प्रसङ्ग में कोई कहते हैं कि (अणुपरिमाण के आश्रय) परमाणुरूप 'परिमण्डल' सभी से अल्पपरिमाण के होने के कारण ह्रस्वत्व परिमाण का आश्रय नहीं है ।

---

1. द्व्यणुक में अणुत्व का मुख्य व्यवहार होता है, वहाँ महत्त्व नहीं है । कुवलयादि द्रव्यों में एक विशेष प्रकार का उत्कृष्ट महत्त्व न रहने के कारण महत्त्व के रहते हुए भी अणुत्व का गौण व्यवहार होता है । गौण व्यवहार वस्तु की सत्ता का साधक नहीं है, अतः कुवलयादि द्रव्यों में अणुत्व नहीं है । तस्मात् यह कहना ठीक है कि अनित्य अणुपरिमाण केवल द्व्यणुक में ही है ।

न्यायकन्दली

इत्येके । अन्ये तु परमाणुपरममहद्व्यवहारवत् परमह्रस्वपरमदीर्घव्यवहारस्यापि लोके दर्शनात् परमाणुषु परमह्रस्वत्वं परमदीर्घत्वं चाकाशे इत्याहुः । दीर्घपरिमाणाधिकरण-माकाशं महत्परिमाणाश्रयत्वात् स्तम्भादिवत् । एवं ह्रस्वपरिमाणाश्रयः परमाणुः, अणुपरि- माणाश्रयत्वात्, द्व्यणुकवत् ।

यदि ह्रस्वत्वमुत्पाद्येनाणुत्वेनैकार्थसमवेतं कथमन्यत्र ह्रस्वत्वव्यवहारः ? तत्राह— समिदिक्षुवंशादिष्विति । **समिच्चेक्षुश्च वंशाश्च समिदिक्षुवंशाः । एतेष्वञ्जसा परमार्थतो दीर्घेष्वपि वंशे यः परिमाणप्रकर्षभावो दीर्घातिशययोगित्वं तस्याभावमिक्षावपेक्ष्य प्रतीत्य भाक्तो गौणो व्यवहारः, एवमिक्षोः प्रकर्षभावस्तस्याभावं समिध्य-पेक्ष्य ह्रस्वव्यवहारः । यत् खलु परमार्थतो ह्रस्वं द्व्यणुकं तत्र दैर्घ्याभावः,**

एवं आकाशादि में भी परममहत्परिमाण के रहने से उनमें दीर्घत्व परिमाण नहीं है । कोई कहते हैं कि (जैसा कि आकाशादि में परममहत्त्व का एवं (परमाणु में) परम अणुत्व का व्यवहार लोकसिद्ध है, वैसे ही (दोनों में क्रमशः) परमदीर्घत्व एवं परमह्रस्वत्व का भी व्यवहार लोकसिद्ध है, अतः आकाशादि में परमदीर्घत्व भी है एवं परमाणु में परमह्रस्वत्व भी है । (इस प्रसङ्ग में अनुमानों का प्रयोग इस प्रकार है कि) (१) जिस प्रकार स्तम्भ महत्परिमाण का आश्रय होने से दीर्घत्व परिमाण का भी आश्रय है, वैसे ही आकाशादि भी परमदीर्घत्व परिमाण के आश्रय हैं । (२) एवं जिस प्रकार द्व्यणुक में अणुपरिमाण के रहने से उसमें ह्रस्वपरिमाण भी रहता है,वैसे ही परमाणु में भी ह्रस्वपरिमाण है; क्योंकि वह भी अणुपरिमाणवाला है ।

(प्र.) जहाँ समवाय सम्बन्ध से उत्पत्तिशील अणुत्व रहता है वहीं अगर उत्पत्तिशील ह्रस्वत्व भी समवाय सम्बन्ध से रहता है, तो फिर अन्यत्र (महत्परिमाण के आश्रय) बाँस प्रभृति में, ह्रस्वत्व का व्यवहार कैसे होता है ? (उ.) इसी प्रश्न का समाधान 'समिदादिषु' इत्यादि से देते हैं । समिध् (इन्धन), ईख और बाँस इन सबों में 'अञ्जसा' अर्थात् वस्तुतः दीर्घत्व के रहने पर भी बाँस के परिमाण का जो 'प्रकर्षभाव' अर्थात् विशेष प्रकार के दीर्घपरिमाण का सम्बन्ध है, उस प्रकार के दीर्घपरिमाण का सम्बन्ध ईख में नहीं है । इसी कारण ईख में ह्रस्वत्व का 'भाक्त' अर्थात् गौण व्यवहार होता है । इसी तरह ईख में जो परिमाण का प्रकर्ष है वह समिध् में नहीं है । इसी से समिध् में भी ह्रस्वत्व का गौण व्यवहार होता है । जो द्रव्य वास्तव में ह्रस्व है, जैसे कि द्व्यणुक उसमें दीर्घत्व अवश्य ही नहीं है । ईख में भी बाँस में रहनेवाला परिमाण का प्रकर्ष नहीं है, अतः उसमें भी अणुत्व का भाक्त व्यवहार ही होता है । (प्र.) इनमें ह्रस्वत्व के व्यवहारों को भी मुख्य ही क्यों नहीं मानते ? (उ.) चूँकि उनमें ही

प्रशस्तपादभाष्यम्

मपि संख्यापरिमाणप्रचययोनि । तत्रेश्वरबुद्धिमपेक्ष्योत्पन्ना परमाणुद्व्यणुकेषु बहुत्वसंख्या, तैरारब्धे कार्यद्रव्ये त्र्यणुकादिलक्षणे रूपाद्यु-

१. परिमाण २. संख्या और ३. प्रचय (इन तीनों में से किसी) से उत्पन्न होते हैं । (परमाणुवों से उत्पन्न होनेवाले) तीन परमाणु द्व्यणुकों में से प्रत्येक में रहनेवाली तीन एकत्व संख्या एवं उक्त तीन एकत्वविषयक ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि इन दोनों से तीनों परमाणु द्व्यणुकों में बहुत्व संख्या की उत्पत्ति होती है । इन तीन परमाणु द्व्यणुकों से उत्पन्न होनेवाले त्र्यसरेणु

न्यायकन्दली

इक्षावपि वंशस्य यादृशं दैर्घ्यं तादृशं नास्तीत्युपचारः । नन्वेतेषु वास्तव एव ह्रस्वत्वव्यवहारः किं नेष्यते? नेष्यते, तेष्वेव परापेक्षया दीर्घव्यवहारदर्शनात् । न चैकस्य दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चोभयमपि वास्तवं युक्तम्, विरोधात् । अथ कस्माद् दीर्घव्यवहार एव गौणो न भवति ? न, तस्योत्पत्तिकारणासम्भवात् । सर्वत्रैव भाक्तो ह्रस्वव्यवहारो भवतु? नैवम्, मुख्यभावे गौणस्यासम्भवात् ।

अथेदानीमुत्पाद्यस्य परिमाणस्य कारणनिरूपणार्थमाह— अनित्यं चतुर्विधमपीति । **अनित्यं चतुर्विधमपि दीर्घं ह्रस्वं महद् अणु चेति चतुर्विधं परिमाणम्,** संख्यापरिमाणप्रचययोनि **संख्यापरिमाणप्रचयकारणकम् । संख्याया-**

परस्पर सापेक्ष दीर्घत्व का भी व्यवहार होता है । ह्रस्वत्व और दीर्घत्व दोनों परस्पर विरुद्ध दो धर्म हैं, अतः एक आश्रय में उन दोनों धर्मों की वास्तविक सत्ता मानी जा सकती है । (प्र.) तो फिर दीर्घत्व का ही व्यवहार गौण क्यों नहीं है ? (उ.) उनमें भाक्त दीर्घत्व के व्यवहार को गौण मानने का कारण नहीं है, अतः वहाँ दीर्घत्व व्यवहार को गौण नहीं मानते । (प्र.) सभी जगहों में ह्रस्वत्व व्यवहार को गौण ही क्यों नहीं मान लेते ? (उ.) जहाँ जिसका मुख्य व्यवहार सम्भव होता है, वहाँ उस व्यवहार को गौण नहीं माना जा सकता ।

अब उत्पत्तिशील परिमाण के कारणों का निरूपण करने के लिए 'अनित्यं चतुर्विधमपि' इत्यादि पङ्क्ति लिखते हैं । 'अनित्यं चतुर्विधमपि' अर्थात् अनित्य दीर्घ, ह्रस्व, अणु एवं महत् ये चारों प्रकार के परिमाण 'संख्यापरिमाणप्रचय-योनि' अर्थात् ये चारों प्रकार के परिमाण संख्या, परिमाण एवं प्रचय इन तीनों में से ही किसी से उत्पन्न होते हैं । संख्यादि तीनों कारणों में से (क्रमप्राप्त) संख्या में परिमाण की कारणता 'तत्र' इत्यादि से दिखलाते हैं । 'परमाणुभ्यामारब्धं द्व्यणुकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दो द्व्यणुकों से उत्पन्न होने के कारण 'द्व्यणुक' ही यहाँ 'परमाणुद्व्यणुक' शब्द का अर्थ है । 'तेषु त्रिषु' अर्थात्

न्यायकन्दली

स्तावत्कारणत्वमाह—तत्रेति । परमाणुभ्यामारब्धं द्व्यणुकं परमाणुद्व्यणुकमित्युच्यते । तेषुत त्रिष्वेकैकगुणालम्बनमीश्वरबुद्धिमपेक्ष्योत्पन्ना या त्रित्वसंख्या सा त्रिभिर्द्व्यणुकैरारब्धकार्यद्रव्ये त्र्यणुकलक्षणे रूपाद्युत्पत्तिसमकालमेव महत्त्वं दीर्घत्वं च करोति । तत्रेतिपदं महत्परिमाण-कारणनिवारणार्थम्, त्र्यणुकादीत्यादिपदं चतुरणुकादिपरिग्रहार्थम् । कथं पुनरेष निश्चयः, त्र्यणुकादिपरिमाणस्य द्व्यणुकगता बहुत्वसंख्यैवासमवायिकारणमिति ? अन्यस्यासम्भ-वात् । न तावद् द्व्यणुकवृत्तयो रूपरसगन्धस्पर्शैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहास्तस्या-समवायिकारणम्, तेषां कारणवृत्तीनां कार्ये गुणमारभमाणानां समानजातीयगुणान्तरारम्भ एव सामर्थ्यदर्शनात् । द्व्यणुकाणुपरिमाणानां चारम्भकत्वे त्र्यणुकस्याणुत्वमेव स्यान्न महत्त्वम्, परिमाणात् समानजातीयस्यैव परिमाणस्योत्पत्त्यवगमात् । अस्ति चात्र महत्त्वम्, भूयोऽवयवारब्धत्वाद् घटादिवत् । न चासमवायिकारणं विना कार्यमुत्पद्यते, दृष्टश्चान्यत्रावयवसंख्याबाहुल्यात् समानपरिमाणारब्धयोः कार्ययोरेकत्र महत्त्वा-

उक्त तीनों परमाणु द्व्यणुकों में से प्रत्येक में एक गुणविषयक (एकत्व संख्या-विषयक) 'यह एक है' इस आकार के ईश्वरीय ज्ञान (रूप अपेक्षा बुद्धि) से जो त्रित्व संख्या उत्पन्न होती है, वही तीन द्व्यणुकों से उत्पन्न त्र्यसरेणु रूप द्रव्य में रूपादि गुणों की उत्पत्ति के समय ही महत्त्व और दीर्घत्व परिमाण को उत्पन्न करती है । ('तत्रेश्वरबुद्धि' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त) 'तत्र' पद यह समझाने के लिए है कि त्र्यसरेणु में रहनेवाले महत्त्व की कारणता महत्परिमाण में नहीं है । (त्र्यणुकादि पद में प्रयुक्त) 'आदि' पद 'चतुरणुक' का संग्राहक है । (प्र.) यह निर्णय कैसे करते हैं कि त्र्यणुकादिगत परिमाणों का द्व्यणुकों में रहनेवाली बहुत्व संख्या ही कारण है ? (उ.) चूँकि दूसरी किसी वस्तु में उक्त परिमाण की कारणता सम्भव नहीं है । समवायिकारणों में रहनेवाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, एकपृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व और स्नेह ये सभी गुण अपने आश्रयरूप समवायि-कारणों से उत्पन्न द्रव्य में रहनेवाले कथित रूपादि गुणों में से कोई भी त्र्यसरेणु में रहनेवाले परिमाणों के असमवायिकारण नहीं हो सकते । द्व्यणुकों के अणुपरिमाण भी त्र्यणुकादि के परिमाणों के कारण नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसा मानने पर त्र्यणुक का परिमाण भी 'अणु' ही होगा, 'महत्' नहीं; क्योंकि यह नियम है कि परिमाण अपने समानजातीय दूसरे परिमाण को ही उत्पन्न कर सकता है, विभिन्न जातीय परिमाणों को नहीं । त्र्यणुकादि द्रव्यों में महत्परिमाण ही है; क्योंकि (महत्परिमाणवाले) घटादि की तरह वे भी बहुत से अवयवों से उत्पन्न होते हैं । असमवायिकारण के बिना (समवेत) कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है, और स्थानों में भी समानपरिमाण के विभिन्न न्यूनाधिक संख्या के अवयवों से उत्पन्न द्रव्यों

प्रशस्तपादभाष्यम्

त्पत्तिसमकालं महत्त्वं दीर्घत्वं च करोति । द्विबहुभिर्महद्भिश्चारब्धे कार्यद्रव्ये कारणमहत्त्वान्येव महत्त्वमारभन्ते न बहुत्वम् । समान-

रूप द्रव्य में जिस समय रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है, उसी समय उक्त बहुत्व संख्या से उक्त द्रव्य में महत्त्व एवं दीर्घत्व परिमाणों की भी उत्पत्ति होती है । महत्परिमाणवाले दो या उससे अधिक अवयवों से उत्पन्न द्रव्य में कारणों (अवयवों) के महत्त्व ही महत्परिमाण को उत्पन्न करते हैं,

न्यायकन्दली

तिशयः । तेनात्र संख्याया एव कारणत्वं कल्प्यते । द्व्यणुकसंयोगाभ्यां त्र्यणुके महत्त्वोपपत्तिः स्यात्, यदि भूयसामवयवानां संयोगः कारणमित्युच्यते, प्राप्ताप्राप्तविवेकादवयवानां भूयस्त्वमेव कारणं समर्थितं स्यात्, ईश्वरबुद्ध्यपेक्षस्य त्रित्वस्य स्थितिहेत्वदृष्टक्षयाद्विनाशो न तु कदाचिदाश्रयविनाशादपि विनाशः, ईश्वरबुद्धेर्नित्यत्वात् ।

सम्प्रति महत्त्वान्महत्त्वोत्पत्तिमाह—द्विबहुभिर्महद्भिरिति । **द्वौ च बहवश्च तैरारब्धे कार्यद्रव्ये कारणमहत्त्वान्येव महत्त्वमारभन्ते, यत्र द्वाभ्यां महद्भ्यामप्रचिताभ्यामारभ्यते द्रव्यं तत्रावयवमहत्त्वाभ्यामेव महत्त्वस्योत्पादो बहुत्वसंख्याप्रचययोरभावात् । यत्र च बहुभिर्महद्भिरवयवैः कार्यमारभ्यते तत्रावयवमहत्त्वेभ्योऽवयविनि महत्त्वस्योत्पादो न बहुत्वसंख्यायाः, समान-**

में परिमाण का न्यूनाधिकभाव देखा जाता है, अतः कल्पना करते हैं कि (त्र्यणुकादि द्रव्यों के परिमाण का) संख्या ही (असमवायि) कारण है । अगर बहुत से अवयवों के संयोग को ही उन महत्त्वों का कारण मानें तो फिर विचार कर देखने से समवायिकारणों के बहुत्व में ही उक्त महत्त्वों की कारणता का समर्थन होता है । ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होनेवाले त्रित्व का विनाश उसके संस्थापक अदृष्ट के नाश से ही होता है, आश्रय के विनाश से उसका विनाश कभी नहीं होता; क्योंकि ईश्वर नित्य है ।

'द्विबहुभिर्महद्भिः' इत्यादि से महत्परिमाण से महत्परिमाण की उत्पत्ति कहते हैं । 'द्वौ च बहवश्च द्विबहवः, तैः द्विबहुभिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त वाक्य का यह अर्थ है कि दो या उनसे अधिक महान् अवयवों से आरब्ध द्रव्य के महत्त्व की उत्पत्ति समवायिकारणों के महत्त्व से ही होती है । अभिप्राय यह है कि जिस द्रव्य की उत्पत्ति प्रचय से शून्य दो महान् अवयवों से होती है, उस द्रव्य के महत्त्व का (असमवायि) कारण उन दोनों अवयवों के दोनों महत्त्व ही हैं; क्योंकि महत्त्व के उक्त कारणों में से बहुत्व संख्या और प्रचय ये दोनों ही वहाँ नहीं हैं । जहाँ बहुत से महान् अवयवों से कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होती है, उसमें अवयवों के महत्त्व से ही

प्रशस्तपादभाष्यम्

संख्यैश्चारब्धेऽतिशयदर्शनात् । प्रचयश्च तूलपिण्डयोर्वर्तमानः पिण्डारम्भकावयवप्रशिथिलसंयोगानपेक्षमाण इतरेतरपिण्डावयव-

बहुत्व संख्या नहीं; क्योंकि समान संख्या के (अथ च न्यूनाधिक परिमाण-वाले) अवयवों से उत्पन्न द्रव्यों में न्यूनाधिक परिमाण की उपलब्धि होती है । रूई के दो खण्डों से उत्पन्न एक अवयवी रूप रूई का महत्त्व, इन अवयवी के उत्पादक रूई के खण्डों में रहनेवाले 'प्रचय' से ही उत्पन्न होता है,

न्यायकन्दली

संख्यैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्चारब्धयोर्द्रव्ययोः स्थूलारब्धे महत्त्वातिशयदर्शनात् । संख्यायाः कारणत्वे हि कार्यविशेषो न स्यात्, तस्या अविशेषात् । यत्र तु समानपरिमाणैरवयवैरारब्धयोरवयवसंख्याबाहुल्यादेकत्र परिमाणातिशयो दृश्यते तत्रावयव-संख्यापि कारणमेष्टव्या, अन्यथा कार्यविशेषायोगः । यत्र समानसंख्यैः समानपरिमाणैश्च कार्यमारब्धम्, तत्र महत्त्वोत्पत्तावुभयोरपि कारणत्वम्, प्रत्येकमुभयोरपि सामर्थ्यदर्शनात्, तत्रान्यतरविशेषादर्शनादित्येके । अपरे तु परिमाणस्यैव कारणतामाहुः, समानजातीयात् कार्योत्पत्तिसम्भवे विजातीयकारणकल्पनानवकाशात् ।

प्रचयमाह—प्रचयश्चेति । **प्रचय इति द्रव्यारम्भकः प्रशिथिलः संयोगविशेषः । स तु द्वितूलकद्रव्यारम्भकयोस्तूलपिण्डयोर्वर्तमानः**

महत्त्व की उत्पत्ति होती है, अवयवों की बहुत्व संख्या से नहीं; क्योंकि समान संख्या के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों से आरब्ध दो द्रव्यों के दोनों महत्त्वों में अन्तर देखा जाता है । अगर अवयवों में रहनेवाली संख्याओं को ही महत्त्व का कारण मानें तो उक्त अन्तर की उपपत्ति नहीं होगी; क्योंकि वह तो दोनों द्रव्यों के अवयवों में समान ही है । जहाँ समान परिमाण के अथ च विभिन्न संख्या के अवयवों से उत्पन्न दो द्रव्यों के दोनों महत्त्वों में अन्तर देखा जाता है, वहाँ (महान् अवयवों से उत्पन्न द्रव्य में रहनेवाले महत्परिमाण के प्रति भी) अवयवों में रहनेवाली संख्या ही कारण है, अन्यथा उक्त महत्परिमाणों में अन्तर की उपपत्ति नहीं होगी । किसी सम्प्रदाय का कहना है कि समान संख्या के एवं समान परिमाणों के अवयवों से जिस द्रव्य की उत्पत्ति होती है, उस द्रव्य के महत्परिमाण का अवयवों की संख्या और उनके महत् परिमाण दोनों ही कारण हैं; क्योंकि संख्या एवं परिमाण दोनों में ही परिमाण की कारणता निश्चित है । उक्त स्थल में दोनों में से किसी एक को ही कारण मानने की कोई विशेष युक्ति नहीं है । इसी प्रसङ्ग में किसी दूसरे सम्प्रदाय का कहना है कि अवयवों का महत्त्व ही प्रकृत महत्परिमाण का कारण है, अवयवों की संख्या नहीं; क्योंकि जहाँ समानजातीय कारण से ही कार्य की सम्भावना हो वहाँ विभिन्न जातीय वस्तु में उसकी कारणता की कल्पना व्यर्थ है ।

न्यायकन्दली

प्रत्येकं पिण्डयोरारम्भकान् प्रशिथिलानवयवसंयोगानपेक्षमाण इतरेतरपिण्डयोरवयवानां परस्परसंयोगानपेक्षमाणो वा द्वितूलके महत्त्वमारभ्यते । यत्र पिण्डयोः संयोगः स्वयं प्रशिथिलस्तयोरारम्भकाश्चावयवसंयोगा अपि प्रशिथिलास्तत्र पिण्डाभ्यामारब्धे द्रव्ये निबिडावयवसंयोगारब्धपिण्डद्वयनिविडसंयोगजनितद्रव्यापेक्षया महत्त्वातिशयदर्शनात्, पिण्डयोः प्रशिथिलः संयोगः पिण्डारम्भकप्रशिथिलसंयोगापेक्षो महत्त्वस्य कारणम् । यत्र तु पिण्डयोः संयोगः प्रशिथिल इतरेतरपिण्डावयवानामितरेतरावयवैः संयोगा अपि प्रशिथिलाः, पिण्डयोरारम्भकाश्च न प्रशिथिलाः, तत्र पिण्डाभ्यामारब्धे द्रव्येऽत्यन्तनिबिडपरस्परावयवसंयोगपिण्डद्वयारब्धद्रव्यापेक्षया महत्त्वातिशयदर्शनात् पिण्डयोः प्रशिथिलः संयोग इतरेतरपिण्डावयवसंयोगापेक्षो महत्त्वस्य कारणमिति विवेकः ।

'प्रचयश्च' इत्यादि से प्रचय (का स्वरूप) कहते हैं । द्रव्य के उत्पादक (असमवायिकारण) विशेष प्रकार के संयोग को ही 'प्रचय' कहते हैं । रूई के दो खण्डों से रूई के जिस एक अवयवी की उत्पत्ति होती है, उस अवयवीरूप (द्वितूलक पिण्ड) में महत्परिमाण की उत्पत्ति इस द्रव्य के उत्पादक दोनों अवयवों में रहनेवाले प्रचय से होती है । (१) कोई कहते हैं कि इस प्रकार अवयवों के प्रचय से अवयवी के महत्परिमाण के उत्पादन में उन उत्पादक अवयवों के अवयवों में रहनेवाले प्रशिथिल संयोगरूप प्रचय के भी साहाय्य की आवश्यकता होती है । (२) (कोई कहते हैं कि) इसकी आवश्यकता नहीं होती है, अवयवों के अवयवों में रहनेवाले साधारण संयोग के रहने से ही काम चल जाएगा । (इनमें प्रथम पक्ष का स्वारस्य यह है कि) जिस अवयवी के उत्पादक दोनों अवयवों का संयोग प्रशिथिलात्मक है एवं अवयवों के उत्पादक अवयवों का संयोग भी प्रशिथिलात्मक ही है, इन दोनों मूलावयवों से उत्पन्न अवयवीरूप द्रव्य में जो महत्त्व है एवं जिन अवयवों का निर्माण निबिड संयोग वाले दो अवयवों से हुआ है, उन अवयवों के निबिड संयोग से उत्पन्न द्रव्य में जो महत्त्व है, उन दोनों महत्त्वों में अन्तर देखा जाता है, अतः अवयवों के प्रशिथिल संयोग के द्वारा महत्त्व के उत्पादन में उसके अवयवावयवों के परस्पर प्रशिथिल संयोग की भी अपेक्षा होती है । एवं जहाँ दोनों अवयवों का (अनारम्भक) संयोग प्रशिथिलात्मक है एवं अवयवावयवों के परस्पर संयोग भी प्रशिथिलात्मक ही हैं; किन्तु दोनों अवयवों का आरम्भक संयोग प्रशिथिलात्मक नहीं है, इन दोनों से आरब्ध अवयवी का महत्त्व उस द्रव्य के महत्त्व से अधिक देखा जाता है । जिसके अवयवों का संयोग एवं अवयवावयवों के परस्पर संयोग सभी 'घन' (निबिड) हैं । इन अवयवों से जिस द्रव्य की उत्पत्ति होती है, उस द्रव्य में रहनेवाले महत्त्व का उत्पादन अवयवों का प्रशिथिल संयोग अवयवावयवों के परस्पर निबिड संयोग के साहाय्य से ही करता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

संख्यैश्चारब्धेऽतिशयदर्शनात् । प्रचयश्च तूलपिण्डयोर्वर्तमानः पिण्डारम्भकावयवप्रशिथिलसंयोगानपेक्षमाण इतरेतरपिण्डावयव-

बहुत्व संख्या नहीं; क्योंकि समान संख्या के (अथ च न्यूनाधिक परिमाण-वाले) अवयवों से उत्पन्न द्रव्यों में न्यूनाधिक परिमाण की उपलब्धि होती है । रूई के दो खण्डों से उत्पन्न एक अवयवी रूप रूई का महत्त्व, इन अवयवी के उत्पादक रूई के खण्डों में रहनेवाले 'प्रचय' से ही उत्पन्न होता है,

न्यायकन्दली

संख्यैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्चारब्धयोर्द्रव्ययोः स्थूलारब्धे महत्त्वातिशयदर्शनात् । संख्यायाः कारणत्वे हि कार्यविशेषो न स्यात्, तस्या अविशेषात् । यत्र तु समानपरिमाणैरवयवैरारब्धयोरवयवसंख्याबाहुल्यादेकत्र परिमाणातिशयो दृश्यते तत्रावयव-संख्यापि कारणमेष्टव्या, अन्यथा कार्यविशेषायोगः । यत्र समानसंख्यैः समानपरिमाणैश्च कार्यमारब्धम्, तत्र महत्त्वोत्पत्तावुभयोरपि कारणत्वम्, प्रत्येकमुभयोरपि सामर्थ्यदर्शनात्, तत्रान्यतरविशेषादर्शनादित्येके । अपरे तु परिमाणस्यैव कारणतामाहुः, समानजातीयात् कार्योत्पत्तिसम्भवे विजातीयकारणकल्पनानवकाशात् ।

प्रचयमाह—प्रचयश्चेति । **प्रचय इति द्रव्यारम्भकः प्रशिथिलः संयोगविशेषः । स तु द्वितूलकद्रव्यारम्भकयोस्तूलपिण्डयोर्वर्तमानः**

महत्त्व की उत्पत्ति होती है, अवयवों की बहुत्व संख्या से नहीं; क्योंकि समान संख्या के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों से आरब्ध दो द्रव्यों के दोनों महत्त्वों में अन्तर देखा जाता है । अगर अवयवों में रहनेवाली संख्याओं को ही महत्त्व का कारण मानें तो उक्त अन्तर की उपपत्ति नहीं होगी; क्योंकि वह तो दोनों द्रव्यों के अवयवों में समान ही है । जहाँ समान परिमाण के अथ च विभिन्न संख्या के अवयवों से उत्पन्न दो द्रव्यों के दोनों महत्त्वों में अन्तर देखा जाता है, वहाँ (महान् अवयवों से उत्पन्न द्रव्य में रहनेवाले महत्परिमाण के प्रति भी) अवयवों में रहनेवाली संख्या ही कारण है, अन्यथा उक्त महत्परिमाणों में अन्तर की उपपत्ति नहीं होगी । किसी सम्प्रदाय का कहना है कि समान संख्या के एवं समान परिमाणों के अवयवों से जिस द्रव्य की उत्पत्ति होती है, उस द्रव्य के महत्परिमाण का अवयवों की संख्या और उनके महत् परिमाण दोनों ही कारण हैं; क्योंकि संख्या एवं परिमाण दोनों में ही परिमाण की कारणता निश्चित है । उक्त स्थल में दोनों में से किसी एक को ही कारण मानने की कोई विशेष युक्ति नहीं है । इसी प्रसङ्ग में किसी दूसरे सम्प्रदाय का कहना है कि अवयवों का महत्त्व ही प्रकृत महत्परिमाण का कारण है, अवयवों की संख्या नहीं; क्योंकि जहाँ समानजातीय कारण से ही कार्य की सम्भावना हो वहाँ विभिन्न जातीय वस्तु में उसकी कारणता की कल्पना व्यर्थ है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगापेक्षो वा द्वितूलके महत्त्वमारभते न बहुत्वमहत्त्वानि, समानसंख्यापलपरिमाणैरारब्धेऽतिशयदर्शनात् । द्वित्वसंख्या चाण्वोर्वर्तमाना

बहुत्व संख्या से नहीं, महत्परिमाण से भी नहीं । अवयवों में रहनेवाला यह प्रचय उक्त महत्त्व के उत्पादन में कहीं अपने आश्रयरूप रूई के दो खण्डों के अवयवों के प्रशिथिल संयोगरूप प्रचय की अपेक्षा रखता है, कहीं वह अपने आश्रयीभूत दोनों अवयवों के उत्पादक साधारण संयोग की सहायता से ही उक्त महत्परिमाण को उत्पन्न करता है । दो परमाणुवों में रहनेवाली द्वित्व संख्या द्व्यणुक में परिमाण को उत्पन्न करती है । जिस

न्यायकन्दली

अथ कथं तत्र बहुत्वमहत्त्वयोरेव क्लृप्तसामर्थ्ययोः कारणत्वं नेष्यते ? तत्राह—न बहुत्वमहत्त्वानीति । **प्रचयभेदापेक्षया बहुवचनम् । यत्र प्रचयविशेषात् परिमाणविशेष-प्रतीतिरस्ति तत्र बहुत्वं महत्त्वं च न कारणमित्यर्थः । अत्रोपपत्तिः** — समानसंख्यापल-परिमाणैरारब्धेऽतिशयदर्शनात् । **संख्या च पलं च परिमाणं च संख्यापलपरिमाणानि, समानानि संख्यापलपरिमाणानि येषां तैरारब्धे कार्येऽतिशयदर्शनात् । यदि हि संख्यैव कारणं समानसंख्यैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा प्रशिथिलसंयोगैर्निबिडसंयोगैश्चारब्धयोर्द्रव्ययोः प्रशि-थिलसंयोगारब्धे निबिडसंयोगारब्धापेक्षया महत्त्वातिशयो न स्यात्, कारणसंख्याया उभय-त्रापि तुल्यत्वात् । तथा यदि महत्त्वमपि कारणं समानमहत्त्वैः प्रचितैरप्रचितैश्चारब्धयो-**

महत्परिमाण में एवं बहुत्व संख्या में महत्परिमाण की कारणता स्वीकृत है ही, फिर इन्हीं दोनों में से किसी को इस महत्परिमाण का भी कारण क्यों नहीं मान लेते ? इसी प्रश्न का समाधान 'न बहुत्वमहत्त्वानि' इत्यादि से देते हैं । 'बहुत्वमहत्त्वानि' इस पद में बहुवचन का प्रयोग उन दोनों के आश्रयों में जो बहुत्व है उसके अभिप्राय से है । 'विशेष प्रकार के प्रचय से उत्पन्न महत्परिमाण का कारण महत्त्व और बहुत्व संख्या नहीं हो सकती' इस सिद्धान्त की युक्ति ही "समानसंख्यापलपरिमाणैरारब्धेऽतिशयदर्शनात्" इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित हुई है । "संख्या च पलञ्च परिमाणञ्च संख्यापलपरिमाणानि, समानानि संख्यापल-परिमाणानि येषां तैः, आरब्धेऽतिशयदर्शनात्" अगर उक्त महत्त्व का कारण केवल संख्या ही हो, प्रचय नहीं, तो फिर तीन या चार अवयवों के प्रशिथिल संयोग से उत्पन्न परिमाण में एवं तीन या चार ही अवयवों के निबिड संयोग से उत्पन्न परिमाण में अन्तर उपपन्न नहीं होगा; क्योंकि दोनों द्रव्यों के कारणों की संख्या समान है । अगर केवल अवयवों के महत्त्व को ही उक्त महत्परिमाण का भी कारण मानें (प्रचय को नहीं) तो फिर

र्द्रव्ययोरप्रचितारब्धापेक्षया प्रचितारब्धे परिमाणातिशयो न भवेत्, अस्ति च विशेषः, तेनैव तर्कयामो न संख्या कारणं न महत्त्वमिति । यत्र त्वप्रचितैरणुभिर्महद्भिश्च प्रचितैरारब्धयोर्द्रव्ययोः प्रचितैर्महद्भिरारब्धे महत्त्वातिशयदर्शनं तत्र महत्त्वप्रचययोः कारणत्वम् । यत्र प्रचितैः समानपरिमाणैर्बहुतरसंख्याकैरप्रचितैश्चारब्धयोर्द्रव्ययोर्बहुतरसंख्याकैः प्रचितैरारब्धेऽतिशयदर्शनम्, तत्र संख्याप्रचययोः कारणत्वम् । यत्राप्रचितैरणुभिरल्पसंख्यैरारब्धात् प्रचितबहुतरस्थूलारब्धे विशेषदर्शनम्, तत्र त्रयाणामेव बोद्धव्यम् । यस्तु मन्यते तुलापरिमेयेषु द्रव्येषु कारणगतानि पलानि परिमाणोत्पतौ कारणं न महत्परिमाणानि, तन्मते पलस्य कारणत्वमभ्युपगम्य प्रतिषेधः कृतः, स्वमते तु पलस्याकारणत्वात् ।

द्वित्वसंख्या चाण्वोर्वर्तमाना द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते । **यस्तु परमाणुपरिमाणाभ्यामेव द्व्यणुके परिमाणोत्पत्तिमिच्छति, तं प्रति द्व्यणुकस्याप्यणु-**

महत्त्व एवं प्रचय इन दोनों से युक्त अवयवों के द्वारा उत्पन्न द्रव्य के परिमाण में एवं महत्त्व से युक्त किन्तु प्रचय से रहित अवयवों से उत्पन्न द्रव्य के महत्त्व में अन्तर की उपलब्धि नहीं होगी; किन्तु उक्त दोनों द्रव्यों के परिमाणों में अन्तर अवश्य है । अतः यह तर्क करते हैं कि उन महत्परिमाणों का अवयवों के महत्परिमाण या संख्या कारण नहीं हैं; क्योंकि प्रचयशून्य अणुवों से उत्पन्न द्रव्य के परिमाण की अपेक्षा प्रचय एवं महत्त्व इन दोनों से युक्त अवयवों के द्वारा उत्पन्न द्रव्य के परिमाण में विशेष प्रकार के महत्त्व की उपलब्धि होती है, अतः ऐसे स्थलों के महत्त्व का महत्त्व और प्रचय दोनों ही कारण हैं । प्रचय से युक्त बहुत से समान परिमाण के अवयवों से उत्पन्न द्रव्य के महत् परिमाण में, प्रचय से युक्त उससे अधिक संख्या के एवं उसी प्रकार के महत्त्व से युक्त अवयवों से उत्पन्न द्रव्य के परिमाण में भी अन्तर उपलब्ध होता है, अतः ऐसे स्थलों में संख्या, प्रचय एवं महत्परिमाण ये तीनों ही (उस प्रकार के महत्परिमाण के) कारण हैं । जो कोई यह मानते हैं कि तराजू से तौले जाने योग्य द्रव्यों के महत्परिमाणों का कारण कारणों में रहनेवाले 'पल' (कर्षचतुष्टय) ही हैं, कारणों में रहनेवाले महत्परिमाण नहीं, उनके मत के अनुसार पल में महत्परिमाण की कारणता मानकर ही उसका खण्डन किया है; क्योंकि अपने सिद्धान्त में पल में महत्परिमाण की कारणता स्वीकृत नहीं है ।

'द्वित्वसंख्या चाण्वोर्वर्त्तमाना द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते' जो कोई दो परमाणुवों के दोनों अणुत्वों को ही द्व्यणुक परिमाण का कारण मानते हैं, उनके लिए पहले की इस युक्ति को दुहराना भी ठीक है कि उनके मत में द्व्यणुक का परिमाण परमाणुवों के

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते । महत्त्ववत् त्र्यणुकादौ कारणबहुत्वमहत्त्वसमान-जातीयप्रचयेभ्यो दीर्घत्वस्योत्पत्तिः । अणुत्ववद् द्व्यणुके द्वित्वसंख्यातो ह्रस्वत्व-स्योत्पत्तिः ।

प्रकार महत्त्व की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार समवायिकारणों में रहनेवाली संख्या, समवायिकारणों में रहनेवाले महत् (दीर्घ) परिमाण एवं समवायिकारणों में रहनेवाला समानजातीय प्रचय इन्हीं सबों से त्र्यसरेणु प्रभृति द्रव्यों में दीर्घत्व की भी उत्पत्ति होती है । द्व्यणुक में अणुत्व परिमाण की तरह ह्रस्वत्व की भी उत्पत्ति द्व्यणुक के अवयव-भूत दोनों परमाणुवों में रहनेवाली द्वित्व संख्या से ही होती है ।

न्यायकन्दली

तमत्वप्रसक्तिरिति पूर्विकैव युक्तिरावर्तनीया । अधिकं चैतद् यन्नित्यद्रव्य-परिमाणस्यानारम्भकत्वम् । परमाणुपरिमाणं न भवति कस्यचिदारम्भकं नित्यद्रव्यपरिमाणत्वात्, आकाशादिपरिमाणवत्, अणुपरिमाणत्वाद्वा मनःपरिमाणवत् ।

दीर्घत्वस्योत्पत्तिमाह—महत्त्ववदिति । **तथा महत्त्वस्य कारणबहुत्वात् समान-जातीयात् कारणमहत्त्वात् प्रचयाच्चोत्पत्तिरिति सर्वमस्य महत्त्वेन सह तुल्यम् । द्व्यणुके ह्रस्वत्वस्यापि द्वित्वसंख्यैवासमवायिकारणमित्याह**—अणुत्ववदिति । **कथमेकस्मात् कारणात् कार्यभेदः ? अदृष्टविशेषस्य सहकारिणो भेदात् । महत्त्वविशेष एव दीर्घत्वम्, अणुत्वविशेष एव ह्रस्वत्वमिति मन्यमान**

परिमाणों से भी अल्प हो जाएगा । इस प्रसङ्ग में इतना और भी कहना चाहिए कि नित्यपरिमाण कभी कारण नहीं होता है, अतः आकाश परिमाण की तरह नित्य होने के कारण परमाणुवों के परिमाण किसी के कारण नहीं हो सकते । एवं जिस प्रकार मन का परिमाण अणु होने से किसी का कारण नहीं होता है, उसी प्रकार परमाणुवों का परिमाण भी अणु होने से किसी का कारण नहीं हो सकता ।

'महत्त्ववत्' इत्यादि सन्दर्भ से दीर्घत्व परिमाण की उत्पत्ति का क्रम कहते हैं । जैसे कि महत्परिमाण की उत्पत्ति (उसके आश्रय द्रव्य के उत्पादक अवयवरूप) कारणों की बहुत्व (संख्या) से और कारणों के महत्त्व और प्रचय से होती है, ये सभी दीर्घत्व में भी महत्त्व के ही जैसे हैं । द्व्यणुक के ह्रस्वत्व में भी (उसके अणुत्व की तरह) कारणों में रहनेवाली द्वित्व संख्या ही कारण है, यही बात 'अणुत्ववत्' इत्यादि से कहते हैं । (प्र.) (परमाणुवों की) एक ही (द्वित्व संख्यारूप) कारण से (अणुत्व और ह्रस्वत्वरूप) दो विभिन्न कार्य कैसे होते हैं ? (उ.) अदृष्ट रूप सहकारि कारणों के भेद से (उक्त एक कारण से) विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति होती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

अथ त्र्यणुकादिषु वर्त्तमानयोर्महत्त्वदीर्घत्वयोः परस्परतः को विशेषः ? द्व्यणुकेषु चाणुत्वह्रस्वत्वयोरिति। तत्रास्ति महत्त्व-दीर्घत्वयोः परस्परतो विशेषः, महत्सु दीर्घमानीयताम्, दीर्घेषु

(प्र.) त्र्यसरेणु प्रभृति द्रव्यों में रहनेवाले महत्त्व और दीर्घत्व एवं द्व्यणुकादि में रहनेवाले अणुत्व और ह्रस्वत्व इनमें क्या अन्तर है ? (उ.) 'भारी वस्तुओं में से जो लम्बी हो उसे ले आओ' यह व्यवहार ही प्रकृत में महत्त्व और दीर्घत्व में भेद का

न्यायकन्दली

आह—अथेति । **समाधत्ते**—तत्रास्तीति । **यदि दीर्घमहत्त्वयोरभेदो दीर्घेषु महदानीयतामिति निर्धारणं न स्यादभेदात् । न हि भवति रूपवत्सु रूपवदानीयतामिति, अस्ति चेदं निर्धारणम् । तेन दीर्घत्वमहत्त्वयोर्भेदः कल्प्यते, परिमाणस्य व्याप्यवृत्तित्वादेकस्मिन् द्रव्ये परिमाणद्वयानुपपत्तिरिति चेत्, न, विजातीययोरेकत्र वृत्त्यविरोधात्, अवान्तरजाति-भेदेऽपि नीलपीतयोरेकत्र समावेशो न दृष्ट इति चेत् ? ययोर्न दृष्टस्तयोर्मा भूत्, दीर्घत्वमहत्त्वयोस्तु सहभावः सर्वलोकप्रतीतिसिद्धत्वादशक्यनिराकरणः ।**

'अथ' इत्यादि से कोई आक्षेप करते हैं कि (प्र.) दीर्घत्व विशेष प्रकार के महत्त्व से कोई अलग वस्तु नहीं है । एवं ह्रस्वत्व भी अणुत्व का ही एक विशेष रूप है (दीर्घत्व और ह्रस्वत्व नाम का कोई अलग परिमाण नहीं है) । 'तत्रास्ति' इत्यादि सन्दर्भ से इसका उत्तर देते हैं कि अगर महत्त्व और दीर्घत्व दोनों अभिन्न हों तो फिर 'इन लम्बे द्रव्यों में जो सबसे भारी हो उसे ले आओ' इत्यादि प्रकार के निर्द्धारणों की उपपत्ति नहीं होगी; क्योंकि दोनों अभिन्न हैं । यह निर्द्धारण नहीं होता कि 'रूपयुक्तों में से रूपयुक्त को ले आओ; किन्तु (पहला) निर्द्धारण होता है, अतः दीर्घत्व और महत्त्व में अवश्य ही अन्तर है । (प्र.) परिमाण व्याप्यवृत्ति (अपने आश्रय को व्याप्त करके रहने वाली) वस्तु है, अतः एक द्रव्य में दो (दीर्घत्व और महत्त्व या ह्रस्वत्व और अणुत्व) परिमाण नहीं रह सकते । (उ.) विभिन्न जाति के दो (व्याप्यवृत्ति) वस्तुओं का भी एक आश्रय में सत्ता मानने में कोई विरोध नहीं है । (प्र.) (रूपत्व धर्म के एक होने पर भी) अवान्तर (रूपत्वव्याप्यनीलत्वादि) रूपों से विभिन्न नील-पीतादि रूप एक आश्रय में नहीं देखे जाते । (उ.) जिन्हें एकत्र नहीं देखा जाता है उनका एकत्र रहना मत मानिए; किन्तु इससे साधारण जनों के अनुभव से सिद्ध महत्त्व और दीर्घत्व का एकत्र रहना आप नहीं रोक सकते ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

च महदानीयतामिति विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति । अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु परस्परतो विशेषस्तद्दर्शिनां प्रत्यक्ष इति । तच्चतुर्विधमपि परिमाणमुत्पाद्यमाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति ।

बोधक प्रमाण है । अणुत्व और ह्रस्वत्व के अन्तर का प्रत्यक्ष तो उसके आश्रयीभूत (परमाणु एवं द्व्यणुक) के प्रत्यक्ष से युक्त पुरुष को ही होता है । उत्पत्तिशील ये चारों प्रकार के परिमाण आश्रयों के विनाश से ही विनाश को प्राप्त होते हैं ।

न्यायकन्दली

द्व्यणुकवर्तिनोरणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु भेदो योगिनां प्रत्यक्ष इत्याह—अणुत्वह्रस्वत्वयोस्त्विति । **अस्मदादीनां तु भाक्तयोरणुत्वह्रस्वत्वयोर्भेदे तन्मुख्ययोरपि भेदानुमानम् । एतच्चतुर्विधमपि परिमाणमाश्रयविनाशादेव विनश्यति नान्यस्मादिति नियमः । उत्पाद्यग्रहणेन परमाणुपरमह्रस्वपरममहत्परमदीर्घव्यवच्छेदः । अणुत्वमहत्त्वयोः दीर्घत्वह्रस्वत्वयोश्च परस्परापेक्षाकृतत्वम्, न तु स्वभाविकमिति चेत् ? तत्र केवलावस्थायां हस्तवितस्त्यादिपरिमितस्य परिमाणस्य सापेक्षावस्थायामपि भेदानुपलब्धेः, उदयाभावप्रसङ्गाच्च । किमर्थं तर्ह्यपेक्षा ?**

'अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु' इत्यादि से कहते हैं कि द्व्यणुक में रहनेवाले ह्रस्वत्व एवं अणुत्व इन दोनों को योगीजन ही अपने (असाधारण) प्रत्यक्ष के द्वारा देख सकते हैं । 'यह नियम है कि ये चारों प्रकार के उत्पन्न होनेवाले परिमाण अपने-अपने आश्रयों के नाश से ही नष्ट होते हैं' । (इस अर्थ के ज्ञापक वाक्य में) 'उत्पाद्य' पद के उपादान से (परमाणु में रहनेवाले) परमह्रस्वत्व एवं परमाणुत्व तथा (आकाशादि में रहनेवाले) परममहत्त्व एवं परमदीर्घत्व को (आश्रय के नाश से नष्ट होनेवाले परिमाणों से) पृथक् करते हैं । (प्र.) अणुत्व एवं ह्रस्वत्व, दीर्घत्व एवं महत्त्व ये सभी तो आपेक्षिक हैं, स्वाभाविक नहीं । (उ.) एक हाथ या एक बीता भर द्रव्य जिस समय केवलावस्था में रहते हैं (अर्थात् किसी ऐसे दूसरे द्रव्य के साथ नहीं रहते जिनकी अपेक्षा इनमें ह्रस्वता या दीर्घता का व्यवहार होता हो) और जब कि वही द्रव्य न्यून या अधिक परिमाणवाले किसी दूसरे द्रव्य के साथ रहते हैं, तब उन दोनों अवस्थाओं के द्रव्य के परिमाण में अन्तर की प्रतीति नहीं होती है एवं (एक की अपेक्षा से अगर दूसरे की उत्पत्ति मानें तो, परस्परापेक्ष होने के कारण) इनकी उत्पत्ति ही असम्भव हो जाएगी । (प्र.) (एक द्रव्य के परिमाण में ह्रस्वत्व या दीर्घत्व के व्यवहार के लिए) दूसरे कीं अपेक्षा क्यों होती है ? (उ.) जिन दो परिमाणों में न्यूनाधिक व्यवहार की प्रतीति उनके आश्रयीभूत द्रव्यों के ग्रहण से ही होती है, उन दोनों परिमाणों में न्यूनाधिकभाव की प्रतीति के लिए ही दूसरे द्रव्य की अपेक्षा

प्रशस्तपादभाष्यम्

पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम् । तत्पुनरेकद्रव्यमनेकद्रव्यं च । तस्य तु नित्यत्वानित्यत्वनिष्पत्तयः संख्यया व्याख्याताः ।

'अपोद्धार' अर्थात् 'इससे यह पृथक् है' इस व्यवहार (ज्ञान और शब्दप्रयोग) का कारण ही 'पृथक्त्व' है । यह भी १. एकद्रव्य और २. अनेकद्रव्य भेद से दो प्रकार का है । इसके नित्यत्व और अनित्यत्व की सिद्धि भी संख्या की भाँति ही समझनी चाहिए । (किन्तु संख्या से पृथक्त्व में इतना ही अन्तर है कि) जिस प्रकार एकत्वादि संख्याओं में

न्यायकन्दली

प्रत्येकमाश्रयग्रहणे गृहीतयोरेव परिमाणयोः प्रकर्षभावाभावप्रतीत्यर्था, ययोरधिगमादिदमस्माद्दीर्घमिदं ह्रस्वमिति व्यवहारः स्यात् ।

पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम् । **अपोद्धारव्यवहार इदमस्मात् पृथगिति ज्ञानं व्यपदेशश्च, तस्य कारणं पृथक्त्वमिति । व्याख्यानं पूर्ववत् । इतरेतराभावनिमित्तोऽयं व्यवहार इति चेत्, न, प्रतिषेधस्य विधिप्रत्ययविषयत्वायोगात्** । तत्पुनरेकद्रव्यमनेकद्रव्यं च। **एकं द्रव्यमाश्रयो यस्य तदेकद्रव्यम्, अनेकं द्रव्यमाश्रयो यस्य तदनेकद्रव्यम्, पुनःशब्द एकद्रव्यवृत्तेः परिमाणात् पृथक्त्वस्यैकानेकद्रव्यवृत्तित्वविशेषावद्योतनार्थः । परिमाणमेकद्रव्यम्, एकपृथक्त्वं पुनरेकद्रव्यमनेकद्रव्यं चेति विशेषः ।**

होती है, जिन दोनों की प्रतीति से 'इससे यह ह्रस्व है' या 'इससे यह दीर्घ है' इत्यादि व्यवहार होते हैं ।

'पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम्' कथित व्याख्या की तरह 'यह इससे पृथक् है' इस आकार का ज्ञान एवं इस आनुपूर्वी के शब्द का प्रयोग ये दोनों ही 'अपोद्धारव्यवहार' शब्द के अर्थ हैं । (प्र.) उक्त व्यवहार तो (अवधि और आश्रय) इन दोनों में रहनेवाले भेद से ही होता है । (उ.) भेद से (पृथक्त्व की) प्रतीति नहीं होती है; क्योंकि प्रतिषेध (अभाव) विधि प्रत्यय (विना नञ्पद के वाक्य) का विषय नहीं हो सकता । 'तत्पुनरेकद्रव्यमनेकद्रव्यञ्च' इस वाक्य के 'एकद्रव्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'एकं द्रव्यम् आश्रयो यस्य' इस प्रकार की है । उक्त वाक्य के 'पुनः' शब्द से पृथक्त्व में परिमाण से इस अन्तर की सूचना दी गयी है कि परिमाण एक ही आश्रय (द्रव्य) में रह सकता है; किन्तु पृथक्त्व दोनों प्रकार का है । कोई पृथक्त्व एक ही द्रव्य में रहता है (जैसे कि एकपृथक्त्व) और कोई पृथक्त्व अनेक द्रव्यों में रहता है (जैसे कि द्विपृथक्त्वत्वादि) ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

एतावांस्तु विशेषः—एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपरसामान्याभावः, संख्यया तु विशिष्यते तद्विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति ।

संख्यात्वरूप पर-सामान्य से अतिरिक्त एकत्वत्वादि अपर-सामान्य भी हैं, उस प्रकार से पृथक्त्व में एकपृथक्त्वत्वादि नाम का कोई भी अपर-सामान्य नहीं है; किन्तु पृथक्त्व संख्या के द्वारा ही औरों से अलग रूप में समझा जाता है; क्योंकि पृथक्त्व का व्यवहार संख्या से युक्त होकर ही देखा जाता है ।

न्यायकन्दली

तस्य तु नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः संख्यया व्याख्याताः । **तस्य द्विविधस्यापि पृथक्त्वस्य नित्यत्वं चानित्यत्वं च निष्पत्तिश्च संख्यया व्याख्याताः । यथैकद्रव्यैकत्वसंख्या परमाणुषु नित्या कार्ये कारणगुणपूर्विका आश्रयविनाशाच्च नश्यति, तथैकद्रव्यमेक-पृथक्त्वम् । यथा अनेकद्रव्या द्वित्वादिका संख्या अनेकगुणालम्बनाया अपेक्षाबुद्धेरुत्पद्यते तद्विनाशाच्च विनश्यति, क्वचिच्चाश्रयविनाशाद्विनश्यति, तथानेकद्रव्यद्विपृथक्त्वादि-कमपीत्यतिदेशार्थः । नित्यं चानित्यं च नित्यानित्ये, तयोर्भावो नित्यानित्यत्वमिति द्वन्द्वात् परं श्रवणात् त्वप्रत्ययस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः । अत्रापि वाक्ये तुशब्दो विशेषावद्योत-नार्थः । तस्य नित्यत्वादयः संख्यया व्याख्याताः, न परिमाणस्येत्यर्थः ।**

'तस्य तु नित्यत्वानित्यत्वनिष्पत्तयः संख्यया व्याख्याताः' अर्थात् इन दोनों प्रकार के पृथक्त्वों के नित्यत्व और अनित्यत्व का निर्णय संख्या के नित्यत्व और अनित्यत्व के निर्णय के अनुसार समझना चाहिए । अर्थात् जैसे कि कार्यद्रव्य में रहनेवाली एकत्व रूप 'एकद्रव्या' संख्या अनित्य है; क्योंकि आश्रय के नाश से उसका नाश हो जाता है और परमाणु में रहनेवाली वही संख्या नित्य है । वैसे ही एकपृथक्त्व भी अनित्य और नित्य दोनों है । एवं जिस प्रकार द्वित्वादिरूप 'अनेकद्रव्या' संख्या अनेक एकत्वरूप गुणविषयक अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है और उस (अपेक्षा) बुद्धि के विनाश से विनष्ट होती है, उसी प्रकार द्विपृथक्त्वादि भी उत्पन्न और विनष्ट होते हैं । संख्या के धर्मों का पृथक्त्व में 'अतिदेश' का यही अभिप्राय है । 'नित्यत्वानित्यत्व' शब्द में 'त्वल्' प्रत्यय "नित्यञ्चानित्यञ्च नित्यानित्ये, तयोर्भावो नित्यानित्यत्वम्" इस तरह के द्वन्द्व समास के बाद किया गया है, अतः उसका सम्बन्ध (प्रयोग केवल अनित्य पद के बाद होने पर भी) उस द्वन्द्व समास में प्रयुक्त प्रत्येक पद के साथ है । इस वाक्य में प्रयुक्त 'तु' शब्द इस विशेष की सूचना के लिए है कि पृथक्त्वादि के नित्यत्वादि तो संख्या से व्याख्यात हो जाते हैं; किन्तु परिमाण के नित्यत्वादि नहीं ।

न्यायकन्दली

एवं संख्यया सह पृथक्त्वस्य साधर्म्यं प्रतिपाद्य वैधर्म्यं प्रतिपादयति– एतावांस्त्विति । **संख्यायाः सकाशात् पृथक्त्वस्यैतावान् भेदो यथा संख्यात्वपरसामान्यापेक्षयैकत्वद्वित्वादिकमपरसामान्यमस्ति, तथा पृथक्त्वत्वपरसामान्यापेक्षयैकपृथक्त्वत्वादिकमपरसामान्यं नास्तीति । कथं तर्ह्यनेकेष्वेकपृथक्त्वादिष्ववान्तरप्रत्ययविशेषस्तत्राह–**संख्यया तु विशिष्यत इति । **अयमेकः पृथग् द्वाविमौ पृथगित्येकत्वादिसंख्याविशिष्टो व्यवहारः पृथक्त्वे दृश्यते । तत्रैकत्र द्रव्ये वर्तमानं पृथक्त्वमेकार्थसमवेतैकत्वसंख्यया विशिष्यते, तद्विशेषश्चावान्तरव्यवहारविशेषः, अनुवृत्तिप्रत्ययश्च पृथक्त्वसामान्यकृत एवेत्यभिप्रायः । एतेन परमाणुपरिमाणेष्वपि परमाणुत्वं सामान्यं प्रत्याख्येयम्, परमशब्दविशेषितादेवाणुत्वसामान्याद् व्यवहारानुगमोपपत्तेः । अथ कस्मात् सर्वद्रव्यानुगतमेकमेव पृथक्त्वमेकत्वादिसंख्याविशेषणभेदात् प्रत्ययभेदहेतुरिति नेष्यते ? नेष्यते,**

इस प्रकार संख्या के साथ पृथक्त्व का साधर्म्य दिखला कर अब 'एतावांस्तु' इत्यादि ग्रन्थ से संख्या से इसमें जो असाधारण्य है, उसका प्रतिपादन करते हैं । अर्थात् संख्या से पृथक्त्व में इतना ही अन्तर है कि संख्या में संख्यात्व रूप परसामान्य के अतिरिक्त एकत्वत्व द्वित्वत्वादि और अपरजातियाँ भी हैं; किन्तु पृथक्त्व में पृथक्त्वत्व रूप परसामान्य को छोड़कर एकपृथक्त्वत्वादि कोई अपर सामान्य नहीं है । (प्र.) तो फिर द्विपृथक्त्वादि विभिन्न पृथक्त्वविषयक प्रतीतियों में अन्तर क्यों कर होता है ? 'संख्यया तु विशिष्यते' इत्यादि से इसी प्रश्न का समाधान किया गया है । अभिप्राय यह है कि 'अयमेकः पृथक्, द्वाविमौ पृथक्' इत्यादि स्थलों में पृथक्त्व का व्यवहार संख्या के साथ ही देखा जाता है । इनमें एक ही द्रव्य में रहनेवाला पृथक्त्व अपने आश्रयरूप द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहनेवाली एकत्वसंख्या के द्वारा ही और पृथक्त्वों से अलग रूप में समझा जाता है । उस संख्यारूप विशेष से ही एकपृथक्त्वविषयक प्रतीति में द्विपृथक्त्वादिविषयक प्रतीतियों से अन्तर होता है । विभिन्न पृथक्त्वविषयक सभी प्रतीतियों में एकाकारत्व की प्रतीति (अनुवृत्तिप्रत्यय) तो पृथक्त्वत्व सामान्य से ही होता है । इसी रीति से परमाणुवों में रहनेवाले परिमाण में परमाणुत्व जाति का खण्डन करना चाहिए; क्योंकि ('परम' शब्द से युक्त सभी अणुवों में रहनेवाले अणुत्व रूप पर) सामान्य से ही सभी परमाणुवों में परमाणुत्व के व्यवहार का अनुगम होगा । (प्र.) इस प्रकार सभी द्रव्यों में रहनेवाला एक ही पृथक्त्व क्यों नहीं मानते ? उसी से संख्यारूप विशेषण के बल से (एकपृथक्त्व, द्विपृथक्त्वादि) विशेष प्रकार के व्यवहारों की उपपत्ति होगी । (उ.) इसलिए नहीं मानते हैं, चूँकि क्रमशः उत्पन्न होनेवाले द्रव्यों में सामान्य की तरह (उत्पत्तिक्षण में ही)

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम् । स च द्रव्यगुणकर्महेतुः ।

(ये दोनों संयुक्त हैं) संयुक्त विषयक (इस प्रकार की) प्रतीति का कारण ही 'संयोग' है । यह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों का कारण है ।

न्यायकन्दली

क्रमेणोपजायमानेषु द्रव्येषु सामान्यवद् गुणस्य समवायादर्शनात् । अथेदं सामान्यमेव भविष्यति ? न, पिण्डान्तराननुसन्धाने सामान्यबुद्धिवत् पृथक्त्वबुद्धेरभावात् ।

संयोगसद्भावनिरूपणार्थमाह––संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तमिति । **अस्ति तावदिदमनेन संयुक्तमिति प्रत्ययो लौकिकानाम्, न चास्य रूपादयो निमित्तं तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् । अतो यदस्य निमित्तं स संयोगः । नैरन्तर्यनिबन्धनोऽयं प्रत्यय इति चेत् ? किं द्रव्ययोः परस्परसंश्लेषो नैरन्तर्यम् ? अन्तराभावो वा ? आद्ये कल्पे न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात्, द्रव्ययोः परस्परोपसंश्लेष एव हि नः संयोगः । द्वितीये कल्पे सान्तरयोरन्तराभावे संयोगादन्यः को हेतुरिति**

गुण का समवाय उपलब्ध नहीं होता है । (प्र.) तो फिर यह पृथक्त्व जातिरूप ही होगा, गुण नहीं ? (उ.) इसलिए यह सामान्य नहीं है कि इसकी प्रतीति एक द्रव्य में भी होती है; किन्तु पृथक्त्व की प्रतीति आश्रय और अवधि दोनों की प्रतीति के बिना नहीं होती है ।

संयोग का अस्तित्व समझाने के लिए 'संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम्' इत्यादि पङ्क्ति लिखते हैं । (अभिप्राय यह है कि) 'वह इसके साथ संयुक्त है' इस प्रकार की प्रतीति साधारण जनों को भी होती है । इस प्रतीति के कारण रूपादि नहीं हैं; क्योंकि रूपादि से जितनी प्रतीतियाँ उत्पन्न होती हैं, उनसे यह प्रतीति विलक्षण प्रकार की है । अतः उक्त प्रतीति का जो कारण है, वही संयोग है । (प्र.) उक्त प्रतीति तो दोनों अवधियों में अन्तर के न (नैरन्तर्य) रहने से होती है । (उ.) यह 'नैरन्तर्य' क्या वस्तु है ? दो द्रव्यों का परस्पर मिलन है या दोनों में व्यवधान का अभाव ? इनमें प्रथम पक्ष को स्वीकार करना संयोग को स्वीकार करना है । दूसरे पक्ष को स्वीकार करने पर पूछना है कि संयोग को छोड़कर परस्पर मिलित दो वस्तुओं के बीच में व्यवधान न रहने का और भी क्या कारण है ? (प्र.) आपके मत से दो असंयुक्त वस्तुओं में संयोग का जो कारण है, वही मेरे मत से दो अलग रहनेवाली वस्तुओं के बीच अन्तर न रहने का भी कारण है। (उ.) मान लिया कि वही कारण है, (किन्तु पूछना यह है कि) वह कारण अपने आश्रय को दूसरे देश से सम्बद्ध करके उस अन्तर को मिटाता है या दूसरे देश के साथ सम्बद्ध न करके ही ? अगर दूसरा पक्ष

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रव्यारम्भे निरपेक्षस्तथा भवतीति, "सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्च" इति वचनात् । गुणकर्मारम्भे तु सापेक्षः, "संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम्" इति वचनात् ।

यह द्रव्य का स्वतन्त्र उत्पादक है । (द्रव्य के उत्पादन में इसकी औरों से) इस विशेष की सूचना 'तथा भवति' और 'सापेक्षेभ्यो निपेक्षेभ्यश्च' सूत्रकार की इन दो उक्तियों से सिद्ध है । गुण के उत्पादन में इसे और कारणों की भी अपेक्षा होती है; क्योंकि 'संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम्' सूत्रकार की ऐसी उक्ति है ।

न्यायकन्दली

वाच्यम् । यदेव भवतामसंयुक्तयोः संयोगे कारणं तदेव नः सान्तरयोरन्तराभावे कारणमिति चेत् ? अस्तु, कामं किन्चिदं स्वाश्रयं देशान्तरं प्रापयत् तदन्तराभावं करोति ? अप्रापयद्वा ? अप्राप्तिपक्षे तावदन्तराभावो दुर्लभो पूर्वावष्टब्ध एव देशेऽवस्थानात् । देशान्तरप्राप्तिपक्षे तु तस्याः को नामान्यः संयोगो यः प्रतिषिध्यते? अविरलदेशे द्रव्यस्योत्पादे संयोगव्यवहार इति चेत् ? न, उत्पादमात्रे संयोगव्यवहारः; किन्त्वविरलदेशोत्पादे, यैवेयमुत्पाद्यमानयोरविरलदेशता स एव संयोगः ।

स च द्रव्यगुणकर्महेतुः । **तन्तुसंयोगो द्रव्यस्य पटस्य हेतुः, आत्ममनःसंयोगो बुद्ध्यादीनां गुणानाम्, एवं भेर्याकाशसंयोगः शब्दस्य गुणस्य हेतुः, प्रयत्नवदात्महस्तसंयोगो हस्तकर्मणो हेतुः, तथा वेगवद्वायु-**

मानें तो फिर व्यवधान का अभाव सम्भव न होगा; क्योंकि (कारण का आश्रय) अपने ही देश में बैठा है । अगर दूसरा पक्ष कहें कि 'दूसरे देश में अपने आश्रय को सम्बद्ध करके ही वह व्यवधान को मिटाता है' तो फिर संयोग को छोड़कर वह कौन-सी दूसरी वस्तु है जिसका आप निषेध करते हैं ? (प्र.) अविरल (व्यवधानशून्य) द्रव्य की उत्पत्ति होने पर ही संयोग का व्यवहार होता है । (उ.) उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं में तो संयोग का व्यवहार नहीं होता है, तो फिर अविरल देश में उत्पन्न जिन दो वस्तुओं में संयोग का व्यवहार होता है, उन दोनों वस्तुओं का अविरलदेशत्व ही संयोग है ।

'स च द्रव्यगुणकर्महेतुः' (संयोग द्रव्य, गुण और कर्म का कारण है) तन्तुओं का संयोग (पटरूप) 'द्रव्य' का कारण है । आत्मा और मन का संयोग बुद्धिप्रभृति 'गुणों' का कारण है । भेरी और आकाश का संयोग शब्द (रूप गुण) का कारण है । प्रयत्न से युक्त आत्मा और हाथ का संयोग हाथ की क्रिया का कारण है । वेग से

न्यायकन्दली

संयोगस्तृणकर्मणो हेतुरित्यादिकमूह्यम् । यथायं द्रव्यमारभते, यथा च गुणकर्मणी, तं प्रकारं दर्शयति--द्रव्यारम्भ **इत्यादिना । द्रव्यस्यारम्भे कर्तव्ये संयोगः स्वाश्रयं स्वनिमित्तं च कारणमन्तरेण नान्यदपेक्षते । न त्वयमनपेक्षार्थः पश्चाद्भावि निमित्तान्तरं नापेक्षत इति, श्यामादिविनाशानन्तरभाविनोऽन्त्यस्य परमाण्वग्निसंयोगस्य पाकजानां गुणानामपि आरम्भे निरपेक्षकारणत्वप्रसङ्गात् । कथमेतदवगतं त्वया यदयं द्रव्यारम्भे निरपेक्षः संयोग इति ? तत्राह**–तथा भवतीति । **'सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्च' इति वचनात्, पटार्थमुपक्रियमाणेभ्यस्तन्तुभ्यो 'भविष्यति पटः' इति प्रत्ययो जायत इति पूर्वं प्रतिपाद्य सूत्रकारेणैतदुक्तम्–तथा भवतीति सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्चेति । अस्यायमर्थो यथोपक्रियमाणेभ्यो भविष्यति पट इति प्रत्ययस्तथा सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्चेति**

युक्त वायु का संयोग तिनके की क्रिया का कारण है 'द्रव्यारम्भे' इत्यादि से यह प्रतिपादन करते हैं कि संयोग किस रीति से द्रव्य का उत्पादन करता है एवं किस प्रकार वह गुण एवं क्रिया का उत्पादन करता है । 'द्रव्यारम्भे निरपेक्षस्तथा भवति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'अनपेक्ष' शब्द का यही अर्थ है कि संयोग को द्रव्य के उत्पन्न करने में द्रव्य के समवायिकारणों और निमित्तकारणों को छोड़कर और किसी की अपेक्षा नहीं होती है । उक्त 'अनपेक्ष' शब्द का यह अर्थ नहीं है कि पीछे उत्पन्न होनेवाले भी किसी गुण की अपेक्षा उसे नहीं होती है, अगर ऐसा मानें तो श्यामादि गुणों के नष्ट होने के बाद उत्पन्न होनेवाले अग्निसंयोग को भी पाकज रूपादि के प्रति निरपेक्ष कारण मानना पड़ेगा । (प्र.) यह तुमने कैसे समझा कि द्रव्य के उत्पादन में संयोग को और किसी की अपेक्षा नहीं होती है[1] ? इसी प्रश्न का समाधान 'तथा भवति' और 'सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्च' इत्यादि दो सूत्रों के उल्लेख से करते हैं । अभिप्राय यह है कि सूत्रकार ने पहले यह प्रतिपादन किया है कि 'पट के लिए व्यापृत तन्तुओं से पट की उत्पत्ति होगी' इस प्रकार की प्रतीति होती है । इसके बाद सूत्रकार के द्वारा 'तथा भवति' एवं 'सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्च' ये दो सूत्र कहे गये हैं । इन दोनों सौत्र वाक्यों का यह अर्थ है कि जिस प्रकार पट के लिए व्यापृत तन्तुओं में यह प्रतीति होती है कि सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों प्रकार के पट की इनसे

---

1. समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले कार्यों का असमवायिकारण भी अवश्य होता है । अतः कार्यरूप द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों के असमवायिकारण भी अवश्य हैं ; किन्तु इसमें द्रव्य के असमवायिकारण में यह विशेष है कि उसके उत्पन्न हो जाने पर कार्य के उत्पादन में और किसी की अपेक्षा नहीं रहती है । असमवायिकारण का सम्बन्ध होने के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही कार्य उत्पन्न हो जाता है । कपालों का संयोग होने पर या तन्तुओं में संयोग होने पर घट या पट रूप कार्य अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न हो ही जाता है,

न्यायकन्दली

भवतीति वर्तमानप्रत्ययः, अन्यथा सापेक्षेभ्यो निरपेक्षेभ्यश्चेति भवतीति वर्तमानप्रत्ययो न स्यात्, यदा कतिचित्तन्तवः संयुक्ता वर्तन्ते कतिचिच्चासंयुक्तास्तदा तेभ्यो भवति पट इति प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अत्र सूत्रे वार्तमानिकप्रतीतिहेतुत्वेनाभिधीयमानेषु तन्तुषु संयुक्तेष्वेवानपेक्षशब्दप्रयोगात् संयोगो द्रव्यारम्भे निरपेक्ष इति प्रतीयत इति तात्पर्यम् । तुशब्देन पूर्वस्माद्विशेषं प्रतिपादयन्नाह––गुणकर्मारम्भे तु सापेक्षः । **कुतो ज्ञातमित्यत आह––**संयुक्तसमवायादिति ।

अग्नेर्वैशेषिकमित्यग्निगतमुष्णत्वं विवक्षितम् । तत्पार्थिवपरमाणुसंयुक्ते वह्नौ समवायात् परमाणौ रूपाद्युत्पत्तिकारणमित्यस्माद्वचनाद् गुणारम्भे परमाण्वग्नि-संयोगस्योष्णस्पर्शसापेक्षत्वं प्रतीयते, अन्यथा वह्निसंयोगजेषु रूपादिषु वह्निस्पर्शस्य कारणत्वाभिधानायोगात्, बुद्ध्यारम्भे आत्ममनःसंयोगस्य स्वाश्रय-

उत्पत्ति होगी, उसी प्रकार यह वर्त्तमानत्वविषयक प्रतीति भी होती है कि सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों प्रकार के तन्तुओं से पट उत्पन्न हो रहा है । संयोग अगर निरपेक्ष होकर द्रव्य का उत्पादक न हो तो फिर उक्त वर्त्तमानत्वविषयक प्रतीति नहीं हो सकेगी, प्रत्युत जिस समय पट के उत्पादक तन्तुओं में से कुछ परस्पर संयुक्त हैं और कुछ असंयुक्त, उस समय भी वर्त्तमानत्व की प्रतीति होगी । कहने का तात्पर्य है कि वर्त्तमानकालिक उक्त प्रतीति के कारण रूप से कथित परस्पर संयुक्त उक्त तन्तुओं में 'अनपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः समझते हैं कि संयोग को द्रव्य के उत्पादन में किसी और की अपेक्षा नहीं है । 'गुणकर्मारम्भे तु सापेक्षः' यह वाक्य अपने 'तु' शब्द के द्वारा अपने पहले पक्ष से इस पक्ष में अन्तर को समझाने के लिए लिखा गया है । यह आपने कैसे समझा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये 'संयुक्तसमवायात्' यह वाक्य लिखा गया है ।

'अग्नेर्वैशेषिकम्' इस वाक्य से अग्नि में रहनेवाला उष्ण स्पर्श अभीष्ट है । वह उष्ण स्पर्श पार्थिव परमाणु से संयुक्त वह्नि में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण परमाणु में होनेवाले (पाकज) रूप की उत्पत्ति का कारण है, इस वाक्य से यह समझते हैं कि परमाणु और अग्नि के संयोग से जो पाकजरूप की उत्पत्ति होती है, उसमें उसे उष्णस्पर्श की भी अपेक्षा रहती है । अगर ऐसी बात न हो तो फिर वह्निसंयोग से उत्पन्न होनेवाले रूपादि के प्रति वह्नि को कारण कहना ही असङ्गत हो जाएगा । एवं आत्मा और मन के संयोग को बुद्धि के उत्पादन में अपने आश्रय और निमित्त को छोड़कर

अतः द्रव्य के उत्पादन में असमवायिकारणीभूत संयोग को किसी और की अपेक्षा नहीं रह जाती है । गुणों के असमवायिकारण के प्रसङ्ग में यह बात नहीं है; क्योंकि कपाल में रूप की उत्पत्ति के बाद कपालसंयोगादि क्रम से जब घट की उत्पत्ति हो जाती है, उसके बाद घट में उस रूप की उत्पत्ति होती है, जिसमें कपाल का रूप असमवायिकारण है, अतः गुण के उत्पादन में असमवायिकारण को उस गुण के आश्रयादि की भी अपेक्षा रहती है ।

न्यायकन्दली

स्वनिमित्तकारणव्यतिरेकेणापि धर्माद्यपेक्षत्वमिति यथासम्भवमप्यूह्यम्, कर्मारम्भेऽपि तृणे कर्मारम्भकत्वात् । बीजविनाशानन्तरमङ्कुरस्योत्पत्तेर्मृत्पिण्डध्वंसानन्तरं घटस्योत्पादादभावादेव द्रव्यस्योत्पादो न संयोगादिति चेत् ? तदयुक्तम्, अवयवसंयोगविशेषेभ्यो द्रव्यस्योत्पत्तिदर्शनात्, अभावस्य निरतिशयत्वे कार्यविशेषस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गाच्च ।

इदं त्विह निरूप्यते—किं सत् क्रियते? असदेव वा? सत् क्रियत इति सांख्याः । असदकरणात्, न ह्यसतो गगनकुसुमस्य सत्त्वं केनचिच्छक्यं कर्त्तुम्, सतश्च सत्कारणं युक्तमेव, तद्धर्मत्वात् । दृष्टं हि तिलेषु सत एव तैलस्य निष्पीडनेन करणम् । असतस्तु करणे न निदर्शनमस्ति । इतश्च सत्कार्यम्—उपादानग्रहणात्, उपादानानि

धर्मादि वस्तुओं की भी अपेक्षा रहती है । इसी प्रकार यथासम्भव ऊह करना चाहिए । इसी प्रकार तृणादि में कर्म के उत्पादन में भी संयोग इतर सापेक्ष ही है (द्रव्योत्पादन की तरह इतर निरपेक्ष नहीं) । (प्र.) (अवयवों का) संयोग द्रव्य का कारण ही नहीं है; क्योंकि बीज के विनाश के बाद अङ्कुर की उत्पत्ति होती है एवं मिट्टी के गोले के नष्ट होने के बाद ही घट की उत्पत्ति होती है, अतः अभाव (ध्वंस) ही द्रव्य का कारण है । (उ.) यह पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि अवयवों के विशेष प्रकार के संयोग से विशेष प्रकार के द्रव्य की उत्पत्ति देखी जाती है । एवं अभावों में कोई अन्तर न रहने के कारण इस पक्ष में कार्यों की उत्पत्ति अनियमित भी हो जाएगी[1] ।

अब यहाँ यह विचार करते हैं कि पहले से विद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति कारणों से होती है ? या पहले से सर्वथा अविद्यमान वस्तु की ? इस प्रसङ्ग में सांख्य दर्शन के अनुयायियों का कहना है कि 'सत्' अर्थात् पहले से विद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति कारणों से होती है । (इसके लिए इस हेतु वाक्य का प्रयोग करते हैं) 'असदकरणात्' अर्थात् 'असत्' को कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । सर्वथा अविद्यमान आकाशकुसुम को कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता । 'सत्' कार्य का कारण भी 'सत्' ही होना चाहिए; क्योंकि कार्य कारण के धर्म से युक्त होता है । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि तिल में पहले से विद्यमान तेल को ही पेरकर उससे निकालते हैं । असत् वस्तु के उत्पादन में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है । 'उपादानग्रहण' रूप हेतु से भी

---

1. कहने का तात्पर्य है कि अभाव को ही द्रव्य का असमवायिकारण मानें तो बीज से ही अङ्कुर की उत्पत्ति होती है एवं मिट्टी के गोले से ही घट की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार के नियम नहीं रह जायेंगे । क्योंकि बीज के अभाव में एवं मिट्टी के गोले के अभाव में कोई अन्तर तो है नहीं, अतः यह भी कहा जा सकता है कि मिट्टी के गोले के अभाव से अङ्कुर की उत्पत्ति और बीज के अभाव से घड़े की उत्पत्ति होती है । यही कार्योत्पत्ति की अनियमितता या आकस्मिकत्व है ।

न्यायकन्दली

कारणानि तेषां कार्येण ग्रहणं कार्यस्य तैः सह सम्बन्धः, तस्मात् तत्कार्यं सदेव, अविद्यमानस्य सम्बन्धाभावात् । असम्बद्धमेव कार्यं कारणैः क्रियत इति चेत् ? न, सर्वसम्भवाभावात्, असम्बद्धत्वाविशेषे सर्वं सर्वस्माद्भवेत् । न चैवम्, तस्मात् कार्यं प्रागुत्पत्तेः कारणैः सह सम्बद्धम् । यथाहुः —

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥ इति ।

अपि च शक्तस्य जनकत्वम्? अशक्तस्य वा? अशक्तस्य जनकत्वे तावदतिप्रसक्तिः । शक्तस्य जनकत्वे तु किमस्य शक्तिः सर्वत्र ? क्वचिदेव वा? सर्वत्र चेत्? सैवातिव्याप्तिः । अथ क्वचिदेव ? कथमसति तस्मिन् कारणस्य तत्र शक्तिर्नियतेति वक्तव्यम्, असतो विषयत्वायोगात् । तस्माच्छक्तस्य

समझते हैं कि कार्य (कारण व्यापार से पहले भी) सत् है । 'उपादान' शब्द का यहाँ 'कारण' अर्थ है । अर्थात् कारणों के साथ कार्य के सम्बन्ध से भी समझते हैं कि कार्य (कारण व्यापार से पहले भी) सत् है; क्योंकि अविद्यमान वस्तु के साथ किसी का भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है । (प्र.) कारणों के सम्बन्ध से रहित कार्य की ही उत्पत्ति कारणों से होती है ? (उ.) ऐसी बात नहीं है; क्योंकि सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है । 'सर्वसम्भवाभावात्' (अगर कारणों के सम्बन्ध से रहित कार्य की उत्पत्ति हो तो) सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए; क्योंकि कार्य की असम्बद्धता जैसे कारणों में है, वैसे और वस्तुओं में भी समान ही है; किन्तु सभी वस्तुओं से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः उत्पत्ति से पहले भी कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध अवश्य है । जैसा कि सांख्यवृद्धों ने कहा है कि विद्यमान कारणों के साथ अविद्यमान कार्य का सम्बन्ध नहीं है । जो कोई कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति (उस) कारण से मानते हैं उनके मत में (नियत कारण से ही नियत कार्य की उत्पत्ति हो इस) व्यवस्था की उपपत्ति नहीं होगी । और भी बात है, (१) कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त वस्तुओं में कारणता है ? या (२) कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित वस्तुओं में कारणता है । इनमें दूसरा पक्ष मानें (तो तन्तु-प्रभृति कारणों से घटादि कार्यों की उत्पत्ति रूप) अतिप्रसक्ति होगी । अगर कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त ही कारण है, तो फिर इस प्रसङ्ग में यह पूछना है कि कारण में रहनेवाली यह शक्ति सभी कार्यविषयक है ? या विशेष कार्यविषयक ? इनमें अगर पहला पक्ष मानें तो फिर कथित अतिप्रसक्ति बनी बनायी है । अगर दूसरा पक्ष मानें तो यह भी कहना पड़ेगा कि कारण की वह शक्ति किसी विशेष असत् कार्य में नियमित कैसे है ? क्योंकि असत् वस्तु तो किसी का विषय नहीं हो सकती, अतः शक्ति से युक्त

न्यायकन्दली

यच्छक्यं शक्तिविषयो योऽर्थः, तस्य करणात् प्रागपि शक्यं सदेव। इतोऽपि सत् कार्यम्, कारणभावात्, कारणस्वभावं कार्यमिति नान्योऽवयवी अवयवेभ्यस्तद्देशत्वात्। यत्तु यस्मादन्यत्र तत्तस्य देशो यथा गौरश्वस्येत्यादिभिः प्रमाणैः प्रतिपादितम्, कारणं च सत्, अतस्तदव्यतिरेकि कार्यमपि सदेवेति। तदेतदुक्तम्—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यमिति॥

अत्रोच्यते, यदि कारणव्यापारात् प्रागपि पटस्तन्तुषु सन्नेव, किमित्युपलब्धिकारणेषु सत्सु सत्यामपि जिज्ञासायां नोपलभ्यते ? अनभिव्यक्तत्वादिति चेत् ? केयमनभिव्यक्तिः ? यद्युपलब्धेरभावस्तस्यैवानुपपत्तिश्चोदिता कथं तदेवोत्तरम् ? अथोपलब्धियोग्यस्यार्थक्रियानिवर्तनक्षमस्य रूपस्य विरहोऽनभिव्यक्तिः ? तदानीमसत्कार्यवादः, तथाभूतस्य रूपस्य प्रागभावे पश्चाद्भावात्। अथ मतं पटस्य चक्षुरादिवत् कुविन्दादिकारणव्यापारोऽप्युपलब्धिकारणं तस्या-

उस कारण से उत्पन्न होनेवाला एवं शक्ति का विषय वह कार्यरूप अर्थ अपने कारण में उत्पत्ति से पहले भी 'सत्' ही है। 'कारणभाव' हेतु से भी यह सिद्ध होता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले भी 'सत्' है। अभिप्राय यह है कि कार्य अपने (उपादान) कारण के स्वभाव का होता है, अतः अवयवों से भिन्न अवयवी नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है; क्योंकि अपने अवयव ही उसकी उत्पत्ति के देश हैं। जो जिससे भिन्न होता है, वह उसकी उत्पत्ति का देश नहीं होता, जैसे कि गाय का भैंस उत्पत्ति देश नहीं होता। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि कार्य अपने उपादानों से अभिन्न है। उपादान तो अवश्य ही सत् हैं, अतः उनसे अभिन्न कार्य भी 'सत्' है। (सत्कार्यवाद के साधक इन हेतुओं की ही सूचना 'असदकरणात्' इत्यादि (सां. का. ९) कारिका से दी गई है।

(सत्कार्यवाद के साधक इन हेतुओं का खण्डन असत्कार्यवादी वैशेषिकादि) इस प्रकार करते हैं कि कारणों के व्याप्त होने के पहले भी अगर तन्तुओं में पट है तो फिर पट को जानने की इच्छा रहने पर भी एवं पटप्रत्यक्ष के कारणों के रहते हुए भी सूत में पट का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? (प्र.) उस समय पट अनभिव्यक्त रहता है, अतः उस समय उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। (उ.) यह 'अनभिव्यक्ति' क्या है ? अगर वह उपलब्धि का अभाव ही है, तो फिर पूर्वपक्ष और समाधान दोनों एक ही हो गये। अगर उपलब्ध हो सकनेवाली वस्तु में उस वस्तु से होनेवाले प्रयोजन के सम्पादक रूप का अभाव ही अनभिव्यक्ति है,तो उस समय 'असत्-कार्यवाद' स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि पट में पहले से अविद्यमान उसके प्रयोजन सम्पादक रूप की उत्पत्ति हुई है। अगर यह कहें कि (प्र.) जैसे कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ पट प्रत्यक्ष के कारण हैं, वैसे ही पट के जुलाहे प्रभृति कारणों का व्यापार भी पट के प्रत्यक्ष का कारण है। इन कारणों के न

न्यायकन्दली

भावात् सतोऽप्यनुपलब्धिरिति ? न, कारणव्यापारस्यापि सर्वदा तत्र सम्भवात्, व्यापारोऽपि पूर्वमनभिव्यक्तः सम्प्रति कारणैरभिव्यज्यमानो भावमुपलम्भयतीति चेत् ? अभिव्यक्तिरपि यद्यसती ? कथं तस्याः कारणम् ? सतीति चेद्भावोपलम्भप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेति कस्यचिदपूर्वस्य विशेषस्योपजननमन्तरेण प्रागनुपलब्धस्य पश्चादुपलम्भो दुर्घटः ।

यच्चोक्तम्— असदशक्यकरणं व्योमकुसुमवदिति, तत्र स्वभावभेदाद् असदेकस्वभावं गगनकुसुमम्, सदसत्स्वभावं तु घटादिकम् ? तत्पूर्वमसत् पश्चात्सद्भवति । कथं सदसतोरेकत्र न विरोध इति चेत् ? कालभेदेन समावेशात् । प्रागुत्पत्तेः पटस्य धर्मिणोऽभावात् कथमसत्त्वं तस्य धर्म इति चेत् ? यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः, सत्त्वमसतो धर्मो न स्यादसत्त्वं त्वसत एव युक्तम् । यदसत् पूर्वमासीत् तस्य कथं सत्त्वमिति चेत् ? कारणसामर्थ्यात्, अस्ति स कोऽपि महिमा तुर्यादीनां

रहने से ही उत्पत्ति से पहले तन्तुओं में विद्यमान रहने पर भी पट का प्रत्यक्ष नहीं होता है । (उ.) ऐसा आप नहीं कह सकते; क्योंकि आपके मत से सभी कार्य उत्पत्ति से पहले भी सत् हैं, अतः जुलाहे प्रभृति का व्यापार भी सत् है, अतः वे भी सर्वदा रहेंगे ही । (प्र.) कारणों का वह व्यापार भी पहले से अनभिव्यक्त ही रहता है, उन्हीं कारणों से अभिव्यक्त होकर पटादि कार्यों के प्रत्यक्ष में सहायक होता है । (उ.) कारणों की यह अभिव्यक्ति सत् है ? या असत् ? अगर असत् है तो फिर वह उस प्रत्यक्ष का कारण कैसे हो सकती है ? अगर सत् है तो पटादि प्रत्यक्ष की उक्त आपत्ति है ही । अतः किसी अपूर्व विशेष की उत्पत्ति के बिना पहले से अनुपलब्ध वस्तु की पीछे उपलब्धि सम्भव नहीं है ।

यह जो आपने कहा कि 'आकाशकुसुम' की तरह असत् वस्तु का उत्पादन असम्भव है, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि वस्तु भिन्न-भिन्न स्वभाव की होती है । आकाश-कुसुम का केवल 'असत्त्व' ही स्वभाव है । घटादि वस्तुओं के सत्त्व और असत्त्व दोनों ही स्वभाव हैं । वे पहले असत् रहते हैं, पीछे से सत् हो जाते हैं । (प्र.) एक आश्रय में सत्त्व और असत्त्व दोनों में विरोध क्यों नहीं होता है ? (उ.) (यद्यपि वे दोनों एक ही समय एक आश्रय में नहीं रह सकते फिर भी) कालभेद से वे दोनों एक आश्रय में रह सकते हैं । (प्र.) उत्पत्ति से पहले तो पटरूप धर्मी ही नहीं है, फिर असत्त्व उसका धर्म किस प्रकार होगा? (उ.) 'जैसा देवता वैसा ही उसका भोग' (इस न्याय से) असत् वस्तुओं का सत्त्व धर्म तो होगा नहीं, अतः यही ठीक है कि असत्त्व ही उसका धर्म है । (प्र.) जो पहले असत् रहा कभी भी सत्त्व उसका धर्म कैसे हो सकता है ? (उ.) कारणों के सामर्थ्य से (असत् वस्तुओं का भी सत्त्व धर्म हो सकता है) तुरीवेमादि कारणों की ही यह अपूर्व महिमा है कि जब ये मिलकर काम

न्यायकन्दली

यदेतेषु सम्भूय व्याप्रियमाणेष्वसन्नेव पटः सम्भवति । असतोऽसम्बद्धस्य जन्यत्वेऽति-प्रसक्तिरिति चेन्नैतत्, तन्तुजातीयस्य पटजातीय एव सामर्थ्यात् । कुत एतत् ? त्वत्पक्षेऽपि कुत एतत् ? तन्तुष्वेव पटात्मता, न सर्वत्रेति ? वस्तुस्वाभाव्यादिति चेत् ? सैवात्रापि भविष्यति । अत एव चोपादाननियमः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तज्जातीयनियमने तज्जा-तीयस्य शक्त्यवधारणात् । यत् पुनरेतत् कार्यकारणयोरव्यतिरेकात् कारणावस्थानादेव कार्यस्याप्यवस्थानमिति, तदसिद्धमसिद्धेन साधितम्, कार्यकारणयोः स्वरूपशक्तिसंस्थान-भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । प्रधानात्मकविश्वस्यातीन्द्रियत्वप्रसङ्गाच्च । तद्देशत्वं तु तदाश्रितत्वमात्रनिबन्धनमेवेत्यलं वृद्धेष्वतिनिर्बन्धेन ।

एतत् तु विमृश्यतां केयं शक्तिरिति ? अतीन्द्रिया काचिदित्यार्याः । तदयुक्तम्, तस्याः सद्भावे प्रमाणाभावात् । अथ मन्यसे यथाभूतादेव

करते हैं, तब पहले से असत् होने पर भी पट सत् हो जाता है । (प्र.) पहले से बिलकुल असत् एवं कारणों के साथ बिलकुल असम्बद्ध कार्य की अगर उत्पत्ति मानें तो 'अतिप्रसक्ति' (अर्थात् कपालादि कारणों से भी पट की उत्पत्ति) होगी । (उ.) (यह अतिप्रसङ्ग) नहीं होगा; क्योंकि तन्तुजातीय वस्तुओं में पट जाति की वस्तुओं के उत्पादन का ही सामर्थ्य है । (प्र.) यही क्यों है ? (उ.) (इसके उत्तर में हम भी पूछ सकते हैं कि) तन्तु ही पटस्वरूप क्यों हैं (कपालादि पटस्वरूप क्यों नहीं हैं), अगर इसका आप यह उत्तर दें कि (प्र.) यह इसका स्वभाव है ? (उ.) तो फिर यही उत्तर मेरे लिए भी होगा । अतएव यह नियम भी ठीक बैठता है कि 'अमुक वस्तु ही अमुक वस्तु का उपादान है'; क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से तज्जातीय (पटादिजातीय) वस्तुओं के उत्पादन की शक्ति तज्जातीय (तन्त्वादिजातीय) वस्तुओं में ही निश्चित है । आपने जो यह कहा कि 'कार्य और कारण अभिन्न हैं, अतः कारण अगर सत् हो तो फिर उससे अभिन्न कार्य भी सत् ही है' यह तो असिद्ध (हेतु) से ही असिद्ध का साधन करना है (कारण और कार्य का अभेद ही सिद्ध नहीं है); क्योंकि कार्य और कारण दोनों के स्वरूप (आकार), शक्ति और विन्यास सभी में विभिन्नता देखी जाती है । अगर पूरा संसार ही प्रकृति से अभिन्न हो तो फिर पूरा संसार ही अतीन्द्रिय होगा । कार्य में जो उपादान का अन्वय देखा जाता है, उसका मूल तो इतना ही है कि वही कार्य का आश्रय है (और कारण नहीं) ।

यह विचारिये कि यह 'शक्ति' क्या वस्तु है ? आर्यों (मीमांसकों) का कहना है कि 'शक्ति एक अतीन्द्रिय स्वतन्त्र पदार्थ है'; किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है । अगर आप (मीमांसक) यह मानते हों

न्यायकन्दली

वह्नेर्दाहोत्पत्तिरवगता तथाभूतादेव मन्त्रौषधिसन्निधाने सति न दृश्यते, यदि दृष्टमेव रूपं दाहस्य कारणं स्यात् तस्य सम्भवाद् दाहानुत्पादो न स्यात् । अस्ति च तदनुत्पत्तिः, सेयमदृष्टरूपस्य वैगुण्यं गमयन्ती हुतभुजि शक्तेरतीन्द्रियायाः सत्त्वं कल्पयति, यस्या मन्त्रादिनाभिभवो विनाशो वा क्रियते । यत्र प्रतीकारवशेन पुनः कार्योदयस्तत्राभिभवः, यत्र तु सर्वथैवानुत्पत्तिः कार्यस्य तत्र विनाशः । न चैतद्वाच्यम्, न मन्त्रो वह्निसंयुक्तो नापि तत्समवेतः कथं व्यधिकरणां शक्तिं विनाशयेत्, विनाशयति चेदतिप्रसङ्गः स्यादिति, तदुद्देशेन प्राप्तत्वात् । यथैवासम्बद्धोऽप्यभिचारो यमुद्दिश्य क्रियते तमेव हिनस्ति, न पुरुषान्तरम्, एवं यामेव व्यक्तिमभिसन्धाय मन्त्रः प्रयुज्यते तस्या एव शक्तिं निरुणद्धि, न सर्वासाम् । नाप्येतदुद्‌घोषणीयम्—यदि शक्तिर्द्रव्यात्मिका ?

कि (प्र.) जिस प्रकार की वह्नि से दाह देखा जाता है, उस प्रकार की ही वह्नि से (दाह के प्रतिरोधक) मन्त्र और औषध का सामीप्य रहने पर दाह की उत्पत्ति नहीं भी होती है, अगर केवल अपने दृष्टस्वरूप से ही वह्नि दाह का कारण हो तो फिर उस रूप से युक्त वह्नि तो मन्त्रादि संनिहित देशों में भी है ही, अतः उन स्थानों में दाह के अनुत्पाद का निर्वाह नहीं होगा । दाह की उक्त उत्पत्ति और अनुत्पत्ति इन दोनों से वह्नि में दाह के प्रयोजक किसी अतीन्द्रिय धर्म की कल्पना अनिवार्य हो जाती है, जो वह्नि में अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना को उत्पन्न करती है । जिस (शक्ति) का मन्त्रादि से अभिभव या विनाश होता है, (अर्थात्) जहाँ फिर से प्रतीकार करने पर दाहादि कार्यों की उत्पत्ति होती है, वहाँ शक्ति के अभिभव की कल्पना करते हैं और मन्त्रादि प्रयोग के बाद जहाँ दाहादि कार्यों की उत्पत्ति फिर कभी नहीं होती, वहाँ शक्ति के विनाश की कल्पना करते हैं । एवं यह भी कहना ठीक नहीं है कि (उ.) वह्नि का मन्त्र के साथ न संयोग सम्बन्ध है, न समवाय, तो फिर विभिन्न अधिकरणों में रहनेवाली शक्ति का नाश वह कैसे करेगा ? अगर मन्त्र से व्यधिकरण ही शक्ति का नाश मानें तो अतिप्रसङ्ग होगा (अर्थात् दाह के प्रतिरोधक मन्त्र से संसार के सभी काम रुक जाएँगे) । (प्र.) यह आक्षेप ठीक नहीं है; क्योंकि शक्ति को नष्ट करने या प्रतिरुद्ध करने के उद्देश्य से ही मन्त्र का प्रयोग किया जाता है । जैसे कि अभिचार (मारण प्रयोग) जिस व्यक्ति को उद्देश्य कर किया जाता है, उस व्यक्ति के साथ सम्बद्ध न रहने पर भी वह उसी व्यक्ति की हत्या करता है । वैसे ही जिस व्यक्ति को मन में रखकर मन्त्र प्रयुक्त होता है, उसी व्यक्ति की शक्ति को वह नष्ट करता है या अभिभूत करता है, सभी व्यक्तियों की शक्ति को नहीं । यह घोषणा भी न करनी चाहिए कि शक्ति अगर द्रव्यरूप है ? तो फिर अपने समवायिकारण या असमवायिकारण के नाश से ही नष्ट होगी (मन्त्रादि प्रयोग

न्यायकन्दली

समवाय्यसमवायिकारणयोरन्यतरविनाशाद्विनश्येत् ? अथ गुणानतिरेकिणी ? तदाश्रय-विनाशाद्विरोधिगुणप्रादुर्भावाद्वा विनश्येदिति, समवायस्यानभ्युपगमात् । यस्य यतो विनाशं प्रतीमस्तस्य तमेव विनाशहेतुं ब्रूमो न पुनरमुं त्वत्कृतं समयमभ्युपगच्छामः, प्रतीतिपराहतत्वात् । यदि चावश्यमभ्युपेयस्तदा द्रव्यगुणयोरेव विनाशं प्रत्यभ्युपगम्यतां यत्र परिदृष्टः, शक्तिः पुनरियं सादृश्यवत् पदार्थान्तरं प्रकारान्तरेणापि विनंक्ष्यति । कार्योत्पादानुत्पादाभ्यां वह्नावधिगता शक्तिः कुत एव सर्वभावेषु कल्प्यत इति चेत् ? एकत्र तस्याः कार्योत्पादानुगुणत्वेन कल्पितायाः सर्वत्र तदुत्पत्त्यैवात्रानुमानात् ।

अत्रोच्यते—न मन्त्रादिसन्निधौ कार्यानुत्पत्तिरदृष्टं रूपमाक्षिपति । यथान्वय-व्यतिरेकाभ्यामवधृतसामर्थ्यो वह्निर्दाहस्य कारणम्, तथा प्रतिबन्धकमन्त्रादि-प्रागभावोऽपि कारणम् । स च मन्त्रादिप्रयोगे सति निवृत्त इति सामग्रीवैगुण्यादेव दाहस्यानुत्पत्तिर्न तु शक्तिवैकल्यात् । भावस्य भावरूपकारणनियतत्व-

से नहीं) अगर वह गुण स्वरूप है, तो फिर वह आश्रय के नाश से या विरोधी दूसरे गुण की उत्पत्ति से ही नष्ट होगी; क्योंकि हम समवाय नहीं मानते । जिससे जिसके नाश की हमको प्रतीति होती है, उसे ही हम उसके नाश का कारण मानते हैं । तुम्हारे बनाये हुए (द्रव्य का नाश उसके समवायिकारण के नाश से हो या असमवायिकारण के नाश से ही हो, एवं गुण का नाश आश्रय के नाश से या विरोधी गुण की उत्पत्ति से ही हो) इस नियम को हम नहीं मानते; क्योंकि यह प्रतीति के विरुद्ध है । अगर उक्त सिद्धान्त को मानना आवश्यक ही हो तो द्रव्य और गुण के नाश के लिए ही उसे मानिए, जहाँ कि वह देखा गया है । शक्ति तो सादृश्यादि की तरह दूसरा ही पदार्थ है, अतः वह दूसरे ही प्रकार से नष्ट होगा । (उ.) दाहरूप कार्य की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से वह्नि में जिस प्रकार की शक्ति का निश्चय करते हैं, उस प्रकार की शक्ति की कल्पना सभी भाव पदार्थों में क्यों करते हैं ? (प्र.) एक जगह कार्य की अनुकूलता से जैसी शक्ति की कल्पना करते हैं, दूसरी जगह भी कार्य की उत्पत्ति से ही उसी प्रकार की शक्ति की कल्पना करते हैं ।

(उ.) इस पूर्वपक्ष के समाधान में कहना है कि मन्त्रादि का सामीप्य रहने पर दाह की अनुत्पत्ति से वह्नि में किसी अदृश्य शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से वह्नि में दाह की कारणता की कल्पना जिस प्रकार करते हैं, उसी प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से ही दाह के प्रति मन्त्रादि प्रतिबन्धकों के प्रागभाव में भी कारणता की कल्पना करते हैं । मन्त्रादि का प्रागभावरूप यह कारण मन्त्रादि की सन्निधि रहने पर नहीं रहता है, अतः मन्त्रादि के प्रयोग के स्थल में दाह नहीं होता है । उक्त स्थल में दाह की अनुत्पत्ति शक्ति के

न्यायकन्दली

दर्शनादभावकार्यत्वं नास्तीति चेत् ? न, नित्यानां कर्मणामकरणात् प्रत्यवायस्योत्पादात्, अन्यथा नित्याकरणे प्रायश्चित्तानुष्ठानं न स्याद्वैयर्थ्यात् । नित्यानामकरणेऽन्यकरणात् प्रत्यवायो न तु नित्याकरणस्य करणप्रागभावस्य हेतुत्वमिति चेत् ? नित्याकरणस्य तद्भावभावित्वनियतस्य सहायत्वेन व्यापारात् । ननु यदि प्रतिबन्धकस्य प्रयोगे तदभावो निवृत्त इति दाहस्यानुत्पत्तिस्तदा प्रतिबन्धकप्रतिबन्धकेऽपि दाहो न स्यात्, तत्कारणस्य प्रागभावस्य निवृत्तत्वात् । दृश्यते च प्रतिबन्धकस्यापरेण मन्त्रादिना प्रतिबन्धे सति दाहः, तेन नाभावः कारणमित्यवस्थितेयं शक्तिः कारणम् । सा च प्राक्तनेन प्रतिबद्धा द्वितीयेनोत्तम्भितेति कल्पना अवकाशं लभते । तदप्यपेशलम्, दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनानवकाशात् । कदाचित् प्रतिबन्धकमन्त्राद्यभाव-

विघटन से नहीं होती है । (प्र.) यह नियमित रूप से देखा जाता है कि भावरूप कारण से ही भावरूप कार्य की उत्पत्ति होती है (अभावरूप कारण से नहीं), अतः अभाव को दाहरूप भाव कार्य का कारण मानना सम्भव नहीं है । (उ.) (भावरूप कारण से ही भाव कार्य की उत्पत्ति) नहीं होती है; क्योंकि नित्य कर्मों के न करने से भी पापों की उत्पत्ति होती है । अगर ऐसी बात न हो तो फिर नित्य कर्म के न करने से प्रायश्चित्त का अनुष्ठान व्यर्थ हो जाएगा । (प्र.) नित्य कर्म के अनुष्ठान के समय उसे न कर दूसरा जो कर्म किया जाता है, उसी से पाप की उत्पत्ति नहीं होती है । (वहाँ) नित्य कर्म के अनुष्ठान के प्रागभाव से पाप की उत्पत्ति नहीं होती है । (उ.) जिस समय नित्य कर्म का अनुष्ठान नहीं होगा, उस समय अवश्य ही किसी दूसरे कर्म का अनुष्ठान होगा, अतः नियत रूप से पहले रहने के कारण दूसरे कर्म का अनुष्ठान उस पाप का केवल सहायक व्यापार ही हो सकता है, कारण नहीं । (प्र.) अगर प्रतिबन्धकीभूत मन्त्रादि के प्रयोग से उक्त मन्त्रादि के प्रागभाव नष्ट हो जाते हैं और इसलिए मन्त्र के प्रयोग के स्थलों में वह्नि से दाह नहीं होता है, तो फिर दाह के प्रतिबन्धक मन्त्र के प्रभाव के प्रतिरोधक दूसरे मन्त्र के रहने पर भी दाह की उत्पत्ति नहीं होगी; क्योंकि उसका कारण प्रतिबन्धक का प्रागभाव तो नष्ट हो गया है; किन्तु दाहादि के प्रतिबन्धक मन्त्र के प्रयोग के रहने पर भी उसके विरोधी मन्त्र के प्रयोग से दाह की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः मन्त्र का प्रागभाव दाह का कारण नहीं हो सकता । तस्मात् वह्नि प्रभृति कारणों में दाहादि कार्यों के उत्पादन करने की (एक अतिरिक्त) शक्ति अवश्य है । इससे यह कल्पना भी सुलभ हो जाती है कि पहले (प्रतिरोधक) मन्त्र के प्रयोग से वह शक्ति प्रतिरुद्ध हो जाती है और दूसरे (प्रतिबन्धक के विरोधी) मन्त्र के प्रयोग से फिर से कार्योन्मुख हो जाती है । (उ.) दृष्ट कारणों से ही कार्यों की उत्पत्ति अच्छी प्रकार से हो सकती है, ऐसी स्थिति में अदृष्ट (शक्तिरूप) कारण की कल्पना व्यर्थ है । कभी

प्रशस्तपादभाष्यम्

अथ कथंलक्षणः ? कतिविधिश्चेति । अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः । स च त्रिविधः – अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्च ।

(प्र.) उसका स्वरूप (लक्षण) क्या है ? एवं वह कितने प्रकार का है ? (उ.) अप्राप्त (परस्पर न मिले हुए दो द्रव्यों की प्राप्ति) मिलन (ही) संयोग है । वह १. अन्यतरकर्मज, २. उभयकर्मज और २. संयोगज भेद से तीन प्रकार का है । इसमें (१)

न्यायकन्दली

सहिता सामग्री कारणम्, कदाचिद् द्वितीयमन्त्रादिसहिता कारणमित्यस्यां कल्पनायां को विरोधः ? यदनुरोधाददृष्टमाश्रीयते । दृष्टो ह्येकरूपस्यापि कार्यस्य सामग्रीभेदः, यथा दारुनिर्मथनप्रभवो वह्निः सूर्यकान्तप्रभवश्चेति तर्कसिद्धान्तरहस्यम् । मीमांसासिद्धान्तरहस्यं तत्त्वप्रबोधे कथितमस्माभिः ।

संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तमित्यवगतं तावत्; किन्त्वस्य स्वरूपं भेदश्च न ज्ञायते तदर्थं परिपृच्छति—अथ कथंलक्षणः कतिविधश्चेति । **अथेति प्रश्नोपक्षेपे कथंशब्दः किंशब्दार्थे, यथा को धर्मः कथंलक्षण इति । लक्षणशब्दश्च स्वरूपवचन इति किंस्वरूपः संयोगः ? कतिविधश्चेति कतिप्रकार इत्यर्थः । लक्षणं कथयति—**अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः । **पूर्वमप्राप्तयोर्द्रव्ययोः पश्चाद्या**

प्रतिबन्धकीभूत मन्त्रादि सहित कारणों का समूह ही कार्य को उत्पन्न करता है एवं कभी द्वितीय (प्रतिबन्धक मन्त्रादि के विरोधी) मन्त्रादि सहित कारणों का समूह ही उसका कारण होता है, इन दोनों कल्पनाओं में कौन-सा विरोध है कि जिसके लिए आप (मीमांसक) अदृष्ट (शक्ति) का अवलम्बन करते हैं । एक तरह के कार्यों की उत्पत्ति अनेक प्रकार के कारणों से देखी जाती है । जैसे कि काठ की रगड़ से भी अग्नि की उत्पत्ति होती है एवं सूर्यकान्तमणि से भी । (शक्ति के विषय में) यही तार्किकों के सिद्धान्त का रहस्य है । (शक्ति पदार्थ की सत्ता के प्रसङ्ग में) मीमांसकों के अभिमत सिद्धान्त के रहस्य का निरूपण मैंने 'तत्त्वप्रबोध' नाम के ग्रन्थ में किया है ।

यह तो समझा कि 'ये परस्पर संयुक्त हैं' इस आकार की प्रतीति का कारण ही संयोग है ; किन्तु यह तो नहीं समझ सके कि इसका स्वरूप क्या है ? इसके कितने भेद हैं ? यही समझाने के लिए 'अथ कथं लक्षणः? कतिविधश्च ?' इत्यादि प्रश्न करते हैं । यहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ है 'प्रश्न का आरम्भ करना' एवं 'कथम्' शब्द 'किम्' शब्द के स्थान में आया है । जैसे कि (शाबरभाष्य अ.१.पा.१. सू.१ के) 'को धर्मः ? कथं लक्षणः ?' इत्यादि स्थलों में (ये शब्द) प्रयुक्त हुए हैं । प्रकृत में

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्रान्यतरकर्मजः क्रियावता निष्क्रियस्य, यथा स्थाणोः श्येनेन, विभूनां च मूर्त्तैः । उभयकर्मजो विरुद्धदिक्क्रिययोः सन्निपातः,

क्रिया से युक्त द्रव्य के साथ निष्क्रिय द्रव्य का संयोग अन्यतर कर्मज संयोग है, जैसे कि सूखे वृक्ष के साथ बाज पक्षी का संयोग एवं विभु द्रव्यों के साथ मूर्त्त द्रव्यों का संयोग । २. दो विरुद्ध दिशाओं में रहनेवाले क्रियायुक्त दो द्रव्यों का संयोग उभयकर्मज है । जैसे (कि लड़ते हुए) दो पहलवानों का

न्यायकन्दली

प्राप्तिः परस्परसंश्लेषः स संयोगः । अप्राप्तयोरिति समवायव्यवच्छेदार्थम् । इदानीं तस्य भेदं प्रतिपादयति—स च त्रिविध इति ।

चशब्दोऽवधारणे—संयोगस्त्रिविध एव । त्रैविध्यमेव दर्शयति—अन्यतरकर्मज **इत्यादिना । द्वयोः संयोगिनोर्मध्ये यदन्यतरद् द्रव्यं तत्र यत्कर्म तस्माज्जातोऽन्यतरकर्मजः । उभयोर्द्रव्ययोः कर्मणी उभयकर्मणी ताभ्यां जात उभयकर्मजः । संयोगादपि संयोगो जायते ।** तत्रान्यतरकर्मजः **। तत्र तेषां त्रयाणां मध्ये क्रियावता द्रव्येण निष्क्रियस्य द्रव्यस्य संयोगोऽन्यतरकर्मजः । अस्योदाहरणम्**——यथा स्थाणोः श्येनेन विभूनां च मूर्त्तैः । **निष्क्रियस्य स्थाणोः**

'लक्षण' शब्द का अर्थ है 'स्वरूप', तदनुसार उक्त वाक्यों का यह अभिप्राय है कि संयोग का स्वरूप क्या है ? एवं उसके कितने भेद हैं ? 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' इस वाक्य से संयोग का लक्षण (स्वरूप) कहा गया है । पहले से अप्राप्त दो द्रव्यों की बाद में जो 'प्राप्ति' अर्थात् सम्बन्ध (होता है),वही (सम्बन्ध) संयोग है । (इस लक्षण वाक्य में) 'अप्राप्तयोः' यह पद समवाय में अतिव्याप्ति को हटाने के लिए है ।

'स च त्रिविधः' इत्यादि से अब इसके भेदों को समझाते हैं । (प्रकृत वाक्य में) 'च' शब्द अवधारण के लिए है । तदनुसार प्रकृत वाक्य का यह अर्थ है कि संयोग तीन ही प्रकार के हैं । 'अन्यतरकर्मजः' इत्यादि से वे तीनों भेद दिखलाये गये हैं । संयोग के दोनों सम्बन्धियों में जो 'अन्यतर' अर्थात् एक द्रव्य है. केवल उसी द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न होनेवाले संयोग को अन्यतरकर्मज कहते हैं । 'उभयोः द्रव्ययोः' इत्यादि व्युत्पत्ति के अनुसार 'उभयकर्मज' शब्द का वह संयोग अर्थ है–जिसकी उत्पत्ति संयोग के सम्बन्धी रूप दोनों द्रव्यों की दोनों क्रियाओं से होती है । उसी को 'उभयकर्मज' संयोग कहते हैं । संयोग से भी संयोग की उत्पत्ति होती है (अर्थात् संयोग से उत्पन्न संयोग को ही संयोगज संयोग कहते हैं)। 'तत्रान्यतरकर्मजः' अर्थात् 'तेषां त्रयाणां मध्ये' अर्थात् उन तीनों संयोगों में से क्रिया से युक्त एक द्रव्य के साथ तथा क्रिया से रहित दूसरे द्रव्य के साथ के संयोग को 'अन्यतरकर्मज संयोग' कहते हैं । 'यथा स्थाणोः' इत्यादि वाक्य से अन्यतर-

न्यायकन्दली

क्रियावता श्येनेन सह संयोगः श्येनकर्मजः । एवमाकाशादीनां विभूनां निष्क्रियाणां क्रियावद्भिर्मूर्तैरसर्वगतद्रव्यपरिमाणैर्मूर्तद्रव्यकर्मजः । नन्वेकस्य मन्दं गच्छतोऽपरेण तत्पृष्ठमनुधावतान्यतरकर्मजः संयोगो दृष्टः कथमुक्तं क्रियावता निष्क्रियस्येति ? सत्यम् । निष्क्रियत्ववाचोयुक्तिस्तु विवक्षितसंयोगहेतुभूतकर्माभिप्रायेणेति मन्तव्यम् ।

प्रथमं श्येनचरणस्थाणुशिरसोः संयोगः, तदनु स्थाणुश्येनावयविनोः । तत्रावयवयोः संयोगः कर्मजः, अवयविनोस्तु संयोगजः संयोग इति केचित् तदप्यसारम्, सक्रियस्याप्यवयविनः क्रियावत एवावयव्यन्तरेण संयोगात् । यदि चैवं नेष्यते, अवयवानामपि स्वावयवापेक्षयावयवित्वेन सर्वत्रावयविषु कर्मजस्य संयोगस्योच्छेदः स्यादिति । तथा सति चावयविनि कर्माभावो

कर्मज संयोग का ही उदाहरण कहा गया है, अर्थात् जैसे कि 'स्थाणु' अर्थात् सूखे हुए वृक्ष और श्येन (बाज) पक्षी इन दोनों का संयोग केवल बाज पक्षी की क्रिया से उत्पन्न होने के कारण 'अन्यतरकर्मज' संयोग है, उसी प्रकार विभु अर्थात् क्रिया से रहित आकाशादि द्रव्यों का मूर्त्त द्रव्यों के साथ अर्थात् क्रिया से युक्त द्रव्यों के साथ जितने भी संयोग उत्पन्न होते हैं, वे सभी मूर्त्त द्रव्य रूप केवल एक द्रव्य की क्रिया से ही उत्पन्न होने के कारण 'अन्यतरकर्मज' ही हैं । (प्र.) एक आदमी अगर मन्दगति से जा रहा है, दूसरा तीव्र गति से चलकर उससे टकरा जाता है, इन दोनों आदमियों का संयोग भी तो अन्यतरकर्मज ही है, फिर क्रिया से युक्त एक द्रव्य के क्रिया से शून्य दूसरे द्रव्य के साथ होनेवाले संयोग को ही अन्यतरकर्मज कैसे कहते हैं ? (उ.) यह ठीक है (कि अन्यतरकर्मज सभी संयोगों का एक सम्बन्धी नियमतः निष्क्रिय नहीं होता) फिर भी अन्यतरकर्मज संयोग के प्रकृत लक्षण में 'निष्क्रियत्व' का उपादान अन्यतरकर्मज संयोग के कहे हुए दोनों उदाहरणों को ही दृष्टि में रखकर किया गया है (क्योंकि स्थाणु और श्येन का संयोग एवं विभु द्रव्यों का मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग इन दोनों उदाहृत संयोगों का एक सम्बन्धी अवश्य ही निष्क्रिय है) ।

कोई कहते हैं कि (प्र.) पहले श्येन के पैर और स्थाणु के आगे का भाग इन दोनों अवयवों में संयोग उत्पन्न होता है । उसके बाद श्येनरूप अवयवी और स्थाणु-रूप अवयव इन दोनों अवयवियों में दूसरा संयोग उत्पन्न होता है । इन दोनों में से पहला संयोग ही कर्मज है और दूसरा संयोग संयोगज है । (उ.) किन्तु इस कथन में कुछ सार नहीं है; क्योंकि संयोग के क्रियाशील सम्बन्धी एक अवयवी में क्रिया के रहने से ही दूसरे (निष्क्रिय या सक्रिय) अवयवी के साथ संयोग हो जाता है । अगर ऐसा न मानें तो वे (श्येन के पैर या स्थाणु के अग्रभागादि) अवयव भी तो अपने-अपने अवयवों की अपेक्षा अवयवी हैं ही । इस प्रकार सभी अवयवियों से कर्मज

प्रशस्तपादभाष्यम्

यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा । संयोगजस्तूत्पन्नमात्रस्य चिरोत्पन्नस्य वा निष्क्रियस्य कारणसंयोगिभिरकारणैः कारणाकारणसंयोगपूर्वकः

संयोग, अथवा (लड़ते हुए दो) भेड़ों का संयोग । ३. उत्पन्न होते ही या उत्पन्न होने के बहुत बाद किसी निष्क्रिय द्रव्य का अपने अवयवों के संयोग से युक्त अपने अकारणीभूत द्रव्यों के साथ जो संयोग होता है,वह 'संयोगज-संयोग' है ।इस (संयोगजसंयोग) की उत्पत्ति कारण और अकारण के

न्यायकन्दली

वक्तव्यः, त्यक्तव्यं वावयविकर्मणः संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्मेति कर्मलक्षणमिति । दुरक्षरदुर्विदग्धानां युक्तिमाचार्यवचनं चोत्सृजतामन्धानामिव पदे पदे कियत् स्खलितं दर्शयिष्यामः ।

उभयकर्मजो विरुद्धदिक्क्रिययोः सन्निपातः । याभ्यां दिग्भ्यां द्वयोः परस्परमागच्छतोरन्योन्यप्रतीघातो भवति ते विरुद्धे दिशौ, यथा प्राचीप्रतीच्यौ दक्षिणोदीच्यावित‍ि । विरुद्धयोर्दिशोः क्रिया ययोर्द्रव्ययोस्ते विरुद्धदिक्क्रिये, तयोः सन्निपात उभयकर्मजः संयोगः, प्रत्येकमन्यत्र द्वयोरपि सामर्थ्यावधारणात् । यथा मल्लयोर्मेषयोर्वेत्युदाहरणम् । संयोगजस्तु संयोग उत्पन्नमात्रस्य चिरोत्पन्नस्य वा निष्क्रियस्य कारणसंयोगिभिरकारणैः कारणाकारणसंयोगपूर्वकः कार्याकार्यगतः ।

संयोग का ही लोप हो जाएगा । (अन्त में) इससे यही कहना पड़ेगा कि अवयवियों में क्रिया होती ही नहीं है । या फिर अवयवियों में रहनेवाले कर्म के लिए कर्म सामान्य के इस लक्षण को ही छोड़िए कि 'संयोग और विभाग का निरपेक्ष कारण ही कर्म है ।' (फलतः अवयवी में रहनेवाले कर्म के लिए दूसरा लक्षण करिए ।) इस प्रकार आचार्य के वचनों को छोड़नेवाले मूर्खों के पद-पद पर गिरनेवाले अन्धों की तरह कितने स्खलनों को हम दिखलावें ?

'उभयकर्मजो विरुद्धदिक्क्रिययोः सन्निपातः' जिन दो दिशाओं से आते हुए दो व्यक्तियों में संघर्ष हो सके वे दोनों दिशाएँ परस्पर विरुद्ध हैं, जैसे कि पूर्व और पश्चिम एवं दक्षिण और उत्तर । 'विरुद्धयोर्दिशोः क्रिया ययोर्द्रव्ययोस्ते विरुद्ध-दिक्क्रिये,, तयोः सन्निपात उभयकर्मजः संयोगः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विरुद्ध दो दिशाओं में रहनेवाली क्रियाओं से युक्त दो द्रव्य ही द्विवचनान्त प्रकृत 'विरुद्धदिक्क्रिये' शब्द के अर्थ हैं । इन दोनों द्रव्यों का संयोग ही 'उभयकर्मज' संयोग है; क्योंकि दोनों क्रियाओं में से प्रत्येक में संयोग के उत्पादन का सामर्थ्य और स्थलों में देखा जाता है । 'यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा' यह वाक्य उभयकर्मज संयोग के उदाहरण को समझाने के लिए है । 'संयोगजस्तु संयोग उत्पन्नमात्रस्य' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'कारण' शब्द से समवायिकारण और 'अकारण'

प्रशस्तपादभाष्यम्

कार्याकार्यगतः संयोगः । स चैकस्माद्द्वाभ्यां बहुभ्यश्च भवति । एकस्मात्तावत् तन्तुवीरणसंयोगाद् द्वितन्तुकवीरणसंयोगः । द्वाभ्यां

संयोग से होती है एवं इसकी स्थिति (उस कारण के) कार्य और (उसी कारण के अकार्य) द्रव्यों में रहती है । यह (संयोगजसंयोग) एक संयोग से, दो संयोगों से एवं बहुत से संयोगों से भी उत्पन्न होता है । १. (एक संयोग से इस प्रकार उत्पन्न होता है कि) तन्तु और वीरण (तृणविशेष) के एक ही संयोग से दो तन्तुओं वाले एक पट और वीरण के संयोग की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

कारणशब्देनात्र समवायिकारणमभिमतम्, अकारणशब्देन समवायिकारणादन्यदुच्यते । शेषमुदाहरणे व्यक्तीकरिष्यामः ।

स चैकस्माद् द्वाभ्यां बहुभ्यश्च भवति । **एकस्मात् तन्तुवीरणसंयोगाद् द्वितन्तुकवीरणसंयोगः । वीरणसंयुक्तस्य तन्तोस्तन्त्वन्तरेण संयोगादुत्पन्नमात्रस्य द्वितन्तुकद्रव्यस्य निष्क्रियस्य समवायिकारणभूतैकतन्तुसंयोगिना वीरणेन संयोगः प्राक्तनात् तन्तुवीरणसंयोगादेकस्माद्भवति, स चायं कारणाकारणपूर्वसंयोगपूर्वकः कथ्यते, द्वितन्तुकस्य समवायिकारणं तन्तुकारणं वीरणं तयोः संयोगेन जनितत्वात् । कार्याकार्यगतश्चायं तन्तुकार्ये द्वितन्तुके**

शब्द से 'समवायिकारण से भिन्न' अभिप्रेत हैं । संयोगजसंयोग की और बातें हम इसके उदाहरण में कहेंगे ।

"स चैकस्माद् द्वाभ्यां बहुभ्यश्च भवति, एकस्मात्तन्तुवीरणसंयोगाद् द्वितन्तुकवीरणसंयोगः" अभिप्राय यह है कि जहाँ वीरण (तृणविशेष) के साथ संयुक्त एक तन्तु के दूसरे तन्तु के साथ संयोग से (द्वितन्तुक) पट की उत्पत्ति होती है । इस (द्वितन्तुक) पट का उस वीरण के साथ भी संयोग होता है जो क्रिया से सर्वथा रहित है एवं इस पट के समवायिकारणीभूत तन्तु के साथ संयुक्त है । पट एवं (तन्तुसंयुक्त) वीरण का यह संयोग (कथित) तन्तु और वीरण के संयोग से ही उत्पन्न होता है । इसी प्रकार का संयोगजसंयोग 'कारणाकारणसंयोगपूर्वक' कहलाता है; क्योंकि उक्त द्वितन्तुक पट का समवायिकारण है तन्तु एवं अकारण है वीरण, इन दोनों के संयोग से वह उत्पन्न होता है । यह (संयोगजसंयोग) 'कार्याकार्यगत' भी है; क्योंकि (असमवायिकारणीभूत तन्तु और वीरण के संयोग का एक सम्बन्धी) तन्तु के कार्य द्वितन्तुक पट एवं उस तन्तु के अकार्य वीरण इन दोनों में वह संयोग समवाय सम्बन्ध से है । उक्त (पट और वीरण के) संयोग का (असमवायि) कारण (तन्तु और वीरण का) संयोग ही है; क्योंकि यहाँ दूसरा कोई असमवायिकारण नहीं हो सकता । अतः संयोग में संयोग की कारणता परिशेषा-

प्रशस्तपादभाष्यम्

तन्त्वाकाशसंयोगाभ्यामेको द्वितन्तुकः संयोगः । बहुभ्यश्च तन्तु-

२. दो संयोगों से संयोगजसंयोग की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि दो तन्तुओं के साथ आकाश के दो संयोगों से उन दोनों तन्तुओं से बने

न्यायकन्दली

तदकार्यं च वीरणे समवेतत्वात् संयोगस्य संयोगहेतुत्वमन्यस्यासम्भवात् परिशेषसिद्धम् । प्रत्यासत्तिश्चात्र कार्यैकार्थसमवायः, तन्तुवीरणसंयोगस्य द्वितन्तुकवीरणसंयोगेन कार्येण सहैकस्मिन्नर्थे वीरणे समवायात् । संयोगस्यैकस्य संयोगजनकत्वे गुणाश्च गुणान्तरमारभन्त इति सूत्रविरोधः ? न, सूत्रार्थापरिज्ञानात् । गुणानामपि गुणं प्रति कारणत्वमित्यनेन कथ्यते, न पुनरस्यायमर्थो बहव एव गुणा आरभन्ते, नैको न द्वावित्यवधारणस्याश्रवणात् । यत् पुनरत्र गुणाश्च गुणान्तरमारभन्त इति, कारणवृत्तीनां समानजात्यारम्भकारणानामयं नियमो न सर्वेषामिति समाधानम्, तदश्रुतव्याख्यातॄणां प्रकृष्टधियामेव निर्वहति नास्माकम् ।

द्वाभ्यां तन्त्वाकाशसंयोगाभ्यां द्वितन्तुकाकाशसंयोग **इति । आकाशं तावदुत्पन्नमात्रेण द्वितन्तुकेन समं संयुज्यते, तत्कारणसंयोगित्वाद्**

नुमान से सिद्ध है । यहाँ कारणता का सम्पादक (अवच्छेदक) सम्बन्ध 'कार्यैकार्थसमवाय' है; क्योंकि तन्तु और वीरण का संयोगरूप कारण, द्वितन्तुक पट और वीरण के संयोगरूप कार्य के साथ वीरणरूप एक वस्तु (अर्थ) में समवाय सम्बन्ध से है । (प्र.) अगर एक भी संयोग दूसरे संयोग का कारण हो तो फिर 'गुणाश्च गुणान्तरम्' सूत्रकार की यह उक्ति विरुद्ध हो जाएगी ? क्योंकि उन्होंने (उक्त सूत्र के द्वारा) कहा है कि बहुत से गुण (मिलकर) दूसरे गुण को उत्पन्न करते हैं । (उ.) यहाँ उक्तिविरोध नहीं है; क्योंकि आपने उक्त सूत्र का अर्थ ही नहीं समझा है । इस सूत्र का इतना ही अर्थ है कि गुण दूसरे गुण के (भी) कारण हैं । इसका यह अर्थ नहीं है कि बहुत से गुण मिलकर ही किसी दूसरे गुण को उत्पन्न करते हैं, एक या दो गुण नहीं; क्योंकि इस प्रकार के 'अवधारण' को समझाने के लिए सूत्र में कोई शब्द नहीं है । कुछ लोग उक्त सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि कारणों में रहनेवाले गुण से जहाँ समानजातीय गुण की उत्पत्ति होती है वहीं के लिए यह नियम है कि बहुत से गुण मिलकर ही किसी दूसरे गुण को उत्पन्न करते हैं ; किन्तु इस प्रकार की अश्रुतपूर्व व्याख्या से उनके जैसे उत्कृष्ट बुद्धिवाले का ही निर्वाह हो सकता है, मुझ जैसे साधारण बुद्धिवालों का नहीं ।

'द्वाभ्यां तन्त्वाकाशसंयोगाभ्यां द्वितन्तुकाकाशसंयोगः' द्वितन्तुक पट के उत्पन्न होते ही उसके साथ आकाश संयुक्त हो जाता है; क्योंकि उस (द्वितन्तुक) पट के कारण के साथ वह (आकाश) संयुक्त है । जैसे कि तन्तु के साथ संयुक्त वीरण उस तन्तु के द्वारा पट के

प्रशस्तपादभाष्यम्

तुरीसंयोगेभ्य एकः पटतुरीसंयोगः । एकस्माच्च द्वयोरुत्पत्तिः कथम् ?

हुए पट और आकाश के (एक ही संयोगज) संयोग की उत्पत्ति होती है । ३. (बहुत से संयोगों से एक संयोगजसंयोग की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि) तुरी और तन्तुओं के बहुत से संयोगों से तुरी और पट के एक ही (संयोगज) संयोग की उत्पत्ति होती है । (प्र.) (किन्तु) एक (संयोग)

न्यायकन्दली

द्वितन्तुककारणसंयुक्तवीरणवत् । न च तस्य संयोगस्य कारणान्तरमस्ति, अतो द्वितन्तुककारणयोस्तन्त्वोराकाशसंयोगाभ्यामेव तस्योत्पत्तिः ।

बहुभ्यश्च तन्तुतुरीसंयोगेभ्य एकः पटतुरीसंयोगः, पटकारणानां तन्तूनां प्रत्येकं तुर्या सह संयोगः, तेभ्यो बहुभ्य एकः पटतुर्योः संयोगो जायते । पटारम्भकत्वं तु तन्तूनां खण्डावयविद्रव्यारम्भपरम्परया । न च मूर्तानां समानदेशतादोषः, यावत्सु तन्तुष्वेकोऽवयवी वर्त्तते, तावत्स्वेवान्यूनानतिरिक्तेषु परस्य समवायानभ्युपगमात् । द्वितन्तुकं द्वयोस्तन्त्वोः समवैति, त्रितन्तुकं तु तयोस्तन्त्वन्तरे चेत्युत्तरोत्तरेषु कल्पनायां कुतः समानदेशत्वम् ? अत एव च पटे पाटिते तिष्ठति चाल्पतरतमादिभावभेदेन खण्डावयविग्रहणम् । तेषु विनष्टेषु तु यद्यारभ्यते पटो दुर्घटमिदम् ।

उत्पन्न होते ही उस पट के साथ संयुक्त हो जाता है; क्योंकि आकाश और द्वितन्तुक पट के संयोग का कोई दूसरा कारण नहीं है । अतः द्वितन्तुक पट के कारणीभूत दोनों तन्तुओं के साथ आकाश के दोनों संयोगों से ही उसकी उत्पत्ति होती है ।

'बहुभ्यश्च तन्तुतुरीसंयोगेभ्यः, एकः पटतुरीसंयोगः' पट के कारणीभूत तन्तुओं में से प्रत्येक तन्तु के तुरी के साथ भिन्न-भिन्न संयोग हैं । तुरी और तन्तु के उन बहुत से संयोगों से तुरी के साथ पट के एक संयोग की उत्पत्ति होती है । तन्तुओं से खण्डपटों की और खण्डपटों से महापट की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार तन्तुओं में भी परम्परा से महापट की जनकता है । (प्र.) इससे तो मूर्त्तों के समानदेशत्व की आपत्ति होगी ? (उ.) समानदेशत्व की आपत्ति नहीं है; क्योंकि जितने तन्तुओं में एक खण्डपट रूप अवयवी की वृत्तिता मानते हैं, ठीक उतने ही तन्तुओं में– न उनसे अधिक में न उनसे कम अवयवों में–दूसरे खण्ड पटरूप अवयवी की वृत्तिता नहीं मानते । द्वितन्तुक पट दो ही तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है और त्रितन्तुक पट उन दोनों तन्तुओं में और एक तीसरे तन्तु में भी समवाय सम्बन्ध से रहता है । इस प्रकार के उत्तरोत्तर खण्डपटों की कल्पना में उक्त समानदेशत्व की आपत्ति क्यों कर होगी ? इसलिए कपड़े के किसी बड़े थान को टुकड़े-टुकड़े कर देने पर किन्तु बिलकुल नष्ट न कर देने पर छोटे-बड़े

न्यायकन्दली

नन्वेवं बालशरीरावयवा अविनष्ट एव तस्मिन्नाहारावयवसहिताः शरीरान्तरमारभेरन् ? आरभन्ताम् ? यदि पट इव खण्डावयविनां वृद्धशरीरे तिष्ठति विनाशिते वा पूर्वशरीराणामुपलम्भः सम्भवति ? अथ नास्ति, न तत्रायं विधिः, यथादर्शनं व्यवस्थापनात् । एतेनारभ्यारम्भकवादपक्षे परमाण्ववस्थितस्य जगतो ग्रहणं न स्यादित्यपि प्रत्युक्तम्, परमाणूनां त्र्यणुकादिकारणत्वाभावस्य पृथिव्यधिकारे दर्शितत्वात् । अथवा यदि परमाणवो द्व्यणुकमारभ्य तत्सहितास्त्र्यणुकमारभन्ते, त्र्यणुकसहितास्तु द्रव्यान्तरम्, तथापि कुतो विश्वस्याग्रहणम् ? महत्त्वानेकद्रव्यवत्त्वरूपविशेषाणामुपलब्धिकारणानां सम्भवात् । अथ सत्स्वपि तेष्वतीन्द्रियाश्रयत्वादतीन्द्रियत्वमेव, एवं द्व्यणुकारब्धस्य त्र्यणुकस्यातीन्द्रियत्वे तत्पूर्वकस्य विश्वस्यातीन्द्रियत्वं त्वत्पक्षेऽपि दुर्निवारम् । तस्मान्नेयमत्रानुपपत्तिः । परमाणूनां त्र्यणुकानारम्भकत्वे पृथिव्यधिकारोक्तैव युक्तिरनुगन्तव्या ।

कपड़े के टुकड़ों की उपलब्धि होती है । अगर उस महापट के बिलकुल नष्ट होने पर ही उन (उपलब्ध छोटे-बड़े) पटों की उत्पत्ति हो, तो फिर कथित उपलब्धि की उपपत्ति नहीं हो सकेगी ।

(प्र.) तो फिर बालक के शरीर के अवयव भी उसी शरीर में बिना उसके विनष्ट हुए ही भोजन-द्रव्यों के अवयवों की सहायता से दूसरे शरीर को उत्पन्न कर सकते हैं ? (उ.) कर ही सकते हैं, अगर वृद्ध शरीर के नष्ट होने पर या रहते हुए ही पट की तरह उसके खण्ड अवयवियों की भी उपलब्धि सम्भव हो । अगर यहाँ खण्ड अवयवियों की उपलब्धि नहीं होती है तो फिर दूसरे शरीर की उत्पत्ति का वह प्रकार भी यहाँ नहीं है । जहाँ जैसी स्थिति रहती है, वहाँ वैसी व्यवस्था की जाती है । उक्त निरूपण से किसी सम्प्रदाय की यह आपत्ति भी मिट जाती है कि 'आरभ्य-आरम्भकवाद' पक्ष में परमाणुवों में विद्यमान संसार की उपलब्धि नहीं होगी; क्योंकि परमाणुवों में त्र्यणुकादि द्रव्यों की कारणता किस प्रकार से है ? सो पृथिवी निरूपण में दिखला चुके हैं । अथवा यह मान भी लें कि यदि परमाणु ही द्व्यणुकों को उत्पन्न कर उन्हीं द्व्यणुकों से मिलकर त्र्यसरेणु को भी उत्पन्न करते हैं एवं त्र्यसरेणु से मिलकर और द्रव्यों को भी, तब भी विश्व का अप्रत्यक्ष क्यों होगा ? चूँकि प्रत्यक्ष के जितने भी महत्त्व अनेकद्रव्यवत्त्वादि विशेष कारण हैं, सभी विद्यमान हैं । अगर विशेष कारणों के रहते हुए भी केवल अतीन्द्रियों (परमाणुवों) में आश्रित होने के कारण ही द्व्यणुक अतीन्द्रिय हो तो फिर अतीन्द्रिय द्व्यणुकों से आरब्ध होने के कारण त्र्यसरेणु भी अतीन्द्रिय होंगे और त्र्यसरेणु से आरब्ध सम्पूर्ण विश्व में ही अतीन्द्रिय में आश्रित होने के कारण अतीन्द्रियत्व की आपत्ति तुम्हारे पक्ष में भी समानरूप से होगी । अतः यह दोष यहाँ नहीं है । परमाणु साक्षात् ही त्र्यसरेणुओं का उत्पादन नहीं करते, इस प्रसङ्ग में पृथिवी निरूपण में कही गयी युक्तियों का ही अनुसन्धान करना चाहिए । (देखिये पृ० ८०, पं० ३)

प्रशस्तपादभाष्यम्

यदा पार्थिवाप्ययोरण्वोः संयोगे सत्यन्येन पार्थिवेन पार्थिवस्य, अन्येन चाप्येन चाप्यस्य युगपत्संयोगौ भवतस्तदा ताभ्यां संयोगाभ्यां पार्थिवांप्ये द्व्यणुके युगपदारभ्येते। ततो यस्मिन् काले द्व्यणुकयोः कारणगुणपूर्वक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणा-

से दोनों संयोगों की उत्पत्ति कैसे होती है ? (उ.) जब पृथिवी का एक परमाणु जल के एक परमाणु के साथ संयुक्त होता है, फिर वही पार्थिव परमाणु दूसरे पार्थिव परमाणु के साथ एवं वही जलीय परमाणु दूसरे जलीय परमाणु के साथ एक ही समय संयुक्त होता है, (इसके बाद दोनों पार्थिव परमाणुवों के एवं दोनों जलीय परमाणुवों के) दोनों संयोगों से एक ही समय पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक दोनों की उत्पत्ति होती है। इसके बाद जिस समय कारणगुणक्रम से दोनों द्व्यणुकों में

न्यायकन्दली

एकस्माच्च संयोगाद् द्वयोरुत्पत्तिः कथमित्यज्ञेन पृष्टः सन्नाह—यदेति। **पार्थिवाप्ययोः परमाण्वोः संयोगे सत्यन्येन पार्थिवेन परमाणुना पार्थिवस्य परमाणोरन्येनाप्येन चाप्यस्य परमाणोर्युगपत्संयोगौ भवतस्तदा ताभ्यां संयोगाभ्यां पार्थिवाप्ये द्व्यणुके युगपदारभ्येते। समानजातीयसंयोगस्य द्रव्यान्तरोत्पत्तिहेतुत्वात्। ततो यस्मिन्नेव काले पार्थिवाप्यद्व्यणुकयोः कारणगुणपूर्वक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः, तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणाकारणगतात् संयोगा-**

किसी अज्ञपुरुष के द्वारा 'एक ही संयोग से दो संयोगों की उत्पत्ति कैसे होती है ?' यह पूछे जाने पर 'यदा' इत्यादि से इसका उत्तर कहते हैं। (जहाँ) एक पार्थिव परमाणु और एक जलीय परमाणु दोनों परस्पर संयुक्त रहते हैं (वहाँ) उक्त पार्थिव परमाणु का दूसरे पार्थिव परमाणु के साथ एवं उक्त जलीय परमाणु का दूसरे जलीय परमाणु के साथ, एक ही समय दो संयोगों की उत्पत्ति होती है। वहाँ इन दोनों संयोगों में से दोनों पार्थिव परमाणुवों के संयोग से पार्थिव द्व्यणुक की एवं दोनों जलीय परमाणुवों के संयोग से जलीय द्व्यणुक की उत्पत्ति अवश्य ही होगी; क्योंकि एक जाति के दो द्रव्यों का संयोग (उसकी जाति के) दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति का कारण है। इसके बाद जिस समय कथित पार्थिव और जलीय दोनों द्व्यणुकों में 'कारणगुणपूर्वक्रम' से रूपादि (गुणों) की उत्पत्ति होती है, उसी समय दोनों द्व्यणुकों के समवायिकारण पार्थिव और जलीय परमाणु और (पार्थिव द्व्यणुक के) अकारण जलीय परमाणु और (जलीय द्व्यणुक के अकारण) पार्थिव परमाणु इन दोनों (कारणाकारण) के एक ही संयोग

प्रशस्तपादभाष्यम्

कारणगतात् संयोगादितरेतरकार्याकार्यगतौ संयोगौ युगपदुत्पद्येते।

रूपादि की उत्पत्ति होती है, उसी समय दोनों द्व्यणुकों के कारण और अकारण (अर्थात् जलीय द्व्यणुक के कारण जलीय परमाणु और अकारण पार्थिव परमाणु एवं पार्थिव द्व्यणुक के कारण पार्थिव परमाणु एवं अकारण जलीय परमाणु इन) दोनों में रहनेवाले एक ही संयोग से एक ही समय कार्य और अकार्य (अर्थात् पार्थिव परमाणु के कार्य पार्थिव द्व्यणुक और पार्थिव परमाणु के अकार्य जलीय द्व्यणुक इन दोनों के) संयोग एवं जलीय परमाणु के कार्य जलीय द्व्यणुक एवं अकार्य पार्थिव परमाणु, इन दोनों के संयोग, इन दोनों संयोगों की उत्पत्ति होती है। (इस प्रकार एक संयोग से दो संयोगों

न्यायकन्दली

दितरेतरकार्याकार्यगतौ संयोगौ युगपदुत्पद्येते । इतरेतरे पार्थिवाप्ये द्व्यणुके, तयोः कारणाकारणे परस्परसंयुक्तौ पार्थिवाप्यपरमाणू , पार्थिवः परमाणुरितरस्य पार्थिवद्व्यणुकस्य कारणमितरस्याप्यस्य द्व्यणुकस्याकारणम् । एवमाप्यपरमाणुरितरस्याप्यद्व्यणुकस्य कारणमितरस्य पार्थिवद्व्यणुकस्याकारणम् । तयोः संयोगाद् इतरस्य पार्थिवपरमाणोर्यत् कार्यं पार्थिवं द्व्यणुकमकार्यश्चाप्यः परमाणुः, तयोः संयोगो भवति । एवमितरस्याप्यपरमाणोर्यत् कार्यमाप्यं द्व्यणुकमकार्यस्तु पार्थिवः परमाणुस्तयोरपि संयोगो भवतीत्येकस्माद् द्वयोरुत्पत्तिः ।

से दोनों के कार्य (अर्थात्) पार्थिव परमाणु के कार्य पार्थिव द्व्यणुक और जलीय परमाणु के कार्य (जलीय द्व्यणुक) एवं दोनों परमाणुवों के अकार्य (अर्थात् पार्थिव परमाणु के अकार्य जलीय द्व्यणुक एवं जलीय परमाणु के अकार्य पार्थिव द्व्यणुक) इन दोनों के एक ही संयोग की उत्पत्ति होती है । 'इतरेतर' शब्द से परस्पर सम्बद्ध पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक, ये ही दोनों अभिप्रेत हैं । इन दोनों के कारण और अकारण अर्थात् पार्थिव द्व्यणुक के कारण पार्थिव परमाणु और अकारण जलीय परमाणु एवं जलीय द्व्यणुक के कारण जलीय परमाणु और अकारण पार्थिव परमाणु, कथित कारण और अकारण इन दोनों के संयोग से 'इतर' अर्थात् पार्थिव परमाणु के कार्य पार्थिव द्व्यणुक और अकार्य जो जलीय परमाणु, इन दोनों के संयोग की उत्पत्ति होती है । एवं 'इतर' जो जलीय परमाणु के कार्य जलीय द्व्यणुक एवं अकार्य जो पार्थिव परमाणु, इन दोनों के संयोग की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार एक ही संयोग से (संयोगज) संयोगों की उत्पत्ति होती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

किं कारणम् ? कारणसंयोगिना ह्यकारणेन कार्यमवश्यं संयुज्यत इति न्यायः । अतः पार्थिवं द्व्यणुकं कारणसंयोगिनाप्येनाणुना सम्बद्ध्यते । आप्यमपि द्व्यणुकं कारणसंयोगिना पार्थिवेनेति । अथ द्व्यणुकयोरितरेतरकारणाकारणसम्बद्धयोः कथं परस्परतः

की एक ही समय उत्पत्ति होती है।) (प्र.) (एक कारण से दो कार्यों की उत्पत्ति) क्यों होती है ? (उ.) चूँकि यह नियम है कि समवायिकारण के संयोग से युक्त अकारण (द्रव्य) के साथ (उस समवायिकारण का) कार्य भी अवश्य ही संयुक्त होता है, अतः पार्थिव द्व्यणुक उस जलीय परमाणु के साथ भी संयुक्त होता है, जिसका संयोग उक्त पार्थिव परमाणु के साथ है । (प्र.) एक-दूसरे के कारण और अकारण के साथ सम्बद्ध इन दोनों द्व्यणुकों में परस्पर संयोग

न्यायकन्दली

किं कारणम् ? पार्थिवाप्ययोर्द्व्यणुकयोर्विजातीयपरमाणुसंयोगे किं प्रमाणम् ? इति पृष्टः सन् प्रमाणमाह–कारणसंयोगिनेति । **पार्थिवपरमाणुराप्यद्व्यणुकेन सह सम्बद्ध्यते, तत्कारणसंयोगित्वात् पटसंयुक्ततुरीवत् । एवमाप्यं परमाणुमपि पक्षीकृत्य वक्तव्यम् । यतः कारणसंयोगिना कार्यं संयुज्यते, अतः पार्थिवं द्व्यणुकं कारणसंयोगिनाप्येन परमाणुना सम्बध्यते, आप्यं च द्व्यणुकं तस्य कारणसंयोगिना पार्थिवपरमाणुनेत्युपसंहारः । अथ पार्थिवाप्यद्व्यणुकयोरितरेतरकारणाकारणसम्बद्धयोः कथं सम्बन्धः ? पार्थिवद्व्यणुकस्य स्वकीयाकारणेनाप्यद्व्यणुककारणेनाप्यपरमाणुना**

'किं कारणम् ?' इत्यादि से प्रश्न करते हैं कि क्या कारण है ? अर्थात् पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक इन दोनों का अपने से भिन्न जाति के परमाणुवों के (पार्थिव द्व्यणुक का जलीय परमाणु के साथ एवं जलीय द्व्यणुक का पार्थिव परमाणु के साथ) जो संयोग की उत्पत्ति होती है, इसमें क्या कारण है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'कारणसंयोगिना' इत्यादि सन्दर्भ से देते हैं । अर्थात् जिस प्रकार तन्तु में संयुक्त तुरी के साथ पट भी संयुक्त होता है, उसी प्रकार पार्थिव परमाणु भी जलीय द्व्यणुक के साथ संयुक्त होता है; क्योंकि जलीय द्व्यणुक के कारणीभूत जलीय परमाणु के साथ वह (पार्थिव परमाणु) संयुक्त है । इसी प्रकार जलीय परमाणु को भी पक्ष बनाकर अनुमान करना चाहिए । (अर्थात् जिस प्रकार कपाल में संयुक्त दण्ड के साथ घट भी संयुक्त होता है, उसी प्रकार जलीय परमाणु भी पार्थिव द्व्यणुक के साथ संयुक्त होता है; क्योंकि पार्थिव द्व्यणुक के कारणीभूत पार्थिव परमाणु के साथ उसका संयोग है) इस प्रसङ्ग का सार मर्म यह है कि जिस द्रव्य के साथ कारण का संयोग रहता है, उस द्रव्य के साथ कार्य भी अवश्य ही संयुक्त होता है । अतः प्रकृत में पार्थिव द्व्यणुक जलीय परमाणु के साथ

प्रशस्तपादभाष्यम्

सम्बन्धः ? तयोरपि संयोगजाभ्यां संयोगाभ्यां सम्बन्ध इति। नास्त्यजः संयोगो नित्यपरिमण्डलवत्, पृथगनभिधानात् । यथा चतुर्विधं परिमाणमुत्पाद्यमुक्त्वाह नित्यं परिमण्डलमित्येवमन्यतरकर्मजादि-

किसी कारण से उत्पन्न होता है ? (उ.) इन दोनों द्व्यणुकों में भी दोनों संयोगज[1] संयोगों से ही उक्त संयोग की उत्पत्ति होती है । अनुत्पत्तिशील संयोग कोई है ही नहीं; क्योंकि सूत्रकार ने नित्य परिमण्डल (नित्य अणुपरिमाण) की तरह नित्य संयोग का उल्लेख नहीं किया है, अर्थात् सूत्रकार ने जिस प्रकार उत्पत्तिशील चार परमाणुवों के उल्लेख के बाद 'नित्यं परिमण्डलम्' इत्यादि से नित्य अणुपरिमाण का उल्लेख किया है,

न्यायकन्दली

सम्बद्धस्याप्यद्व्यणुकस्यापि स्वकीयाकारणेन पार्थिवद्व्यणुककारणेन पार्थिवपरमाणुना सम्बद्धस्य कथं सम्बन्धः ? इति पृच्छति । उत्तरमाह–तयोरपीति । **पार्थिवद्व्यणुकस्याप्येन परमाणुना यः संयोगजः संयोगो यश्चाप्यद्व्यणुकस्य पार्थिवपरमाणुना संयोगजः संयोगस्ताभ्यां पार्थिवाप्यपरमाणुसंयोगाभ्यां द्व्यणुकयोः परस्परसंयोगः । अत्रापि पूर्वोक्त एव न्यायः, कारणसंयोगिना अकारणेन संयोगि कार्यमिति ।**

संयुक्त होता है; क्योंकि उसके कारणीभूत पार्थिव परमाणु के साथ जलीय परमाणु संयुक्त है । इसी तरह जलीय द्व्यणुक भी अपने कारणीभूत जलीय परमाणु से संयुक्त पार्थिव परमाणु के साथ संयुक्त होता है । (प्र.) इतरेतर कारणों और अकारणों में परस्पर असम्बद्ध पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुकों में परस्पर संयोग कैसे होता है ? अर्थात् यह पूछते हैं कि पार्थिव द्व्यणुक अपने अकारणीभूत और जलीय द्व्यणुक के कारणीभूत जलीय परमाणु के साथ संयुक्त है एवं जलीय द्व्यणुक अपने अकारणीभूत और पार्थिव द्व्यणुक के कारणीभूत पार्थिव परमाणु के साथ संयुक्त है, फिर इससे पार्थिव और जलीय दोनों द्व्यणुकों में परस्पर संयोग कैसे होता है ? 'तयोः' इत्यादि से इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं । अभिप्राय यह है कि पार्थिव द्व्यणुक का जलीय परमाणु के साथ जो संयोगज संयोग है एवं जलीय द्व्यणुक का पार्थिव परमाणु के साथ जो संयोगज संयोग है, इन दोनों संयोगज संयोगों से ही कथित पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक इन दोनों में परस्पर संयोग की उत्पत्ति होती है । इस संयोग के प्रसङ्ग में भी पूर्वकथित वही न्याय लागू होता है कि जिस कार्य के कारण का जिस अकारण के साथ संयोग होगा, उस अकारण के साथ उस कार्य का भी संयोग अवश्य ही होगा ।

---

1. अर्थात् पार्थिव परमाणु और जलीय परमाणु के संयोग से उत्पन्न पार्थिव द्व्यणुक का जलीय परमाणु के साथ संयोग और जलीय द्व्यणुक का पार्थिव परमाणु के साथ संयोग, इन दोनों संयोगज संयोगों से पार्थिव द्व्यणुक और जलीय द्व्यणुक इन दोनों में संयोग की उत्पत्ति होती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगमुत्पाद्यमुक्त्वा पृथङ् नित्यं ब्रूयात्, न त्वेवमब्रवीत्, तस्मान्नास्त्यजः संयोगः । परमाणुभिराकाशादीनां प्रदेशवृत्तिरन्यतरकर्मजः संयोगः ।

उसी प्रकार (अगर नित्य संयोग भी होता तो) उत्पत्तिशील अन्यतर कर्मजादि संयोगों को कहने के बाद नित्य संयोग का भी अलग से उल्लेख अवश्य ही करते, सो नहीं किया है, अतः संयोग नित्य नहीं है। परमाणुवों के साथ आकाशादि के संयोग

न्यायकन्दली

त्रिविध एव संयोग इत्युक्तम् । नित्यस्यापि संयोगस्य सम्भवादिति केचित्, तत्प्रतिषेधार्थमाह—नास्त्यजः संयोगः, परिमण्डलवत् पृथगनभिधानात् । **सर्वज्ञेन महर्षिणा सर्वार्थोपदेशाय प्रवृत्तेन पृथगनभिधानात्, अजः संयोगो नास्ति, खपुष्पवत् । एतदेव विवृणोति**—यथेत्यादिना । **संयोगोऽजो न भवतीति प्रतिज्ञार्थो न पुनरजः संयोगो नास्तीति, आश्रयासिद्धत्वात् । ननु परमाण्वाकाशयोः संयोगो नित्य एव, तयोर्नित्यत्वाद-प्राप्त्यभावाच्च । यत् पुनरयं कणादेन नोक्तः, तद् भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्, अत आह**— परमाणुभिराकाशादीनामिति । **यथा महतो न्यग्रोधस्य मूलाग्रावयवव्यापिन एकस्य मूलादग्रमग्रान्मूलं गच्छता पुरुषेण संयोगविभागावन्यतरकर्मजौ युगपत्प्रतीयेते, तथा व्यापि-**

'संयोग तीन ही प्रकार के हैं' इस अवधारण के प्रसङ्ग में किसी की आपत्ति है कि उक्त अवधारण ठीक नहीं है; क्योंकि नित्य भी संयोग हो सकता है । इसी पूर्वपक्ष का खण्डन 'नास्त्यजः संयोगः' इत्यादि से किया गया है । अर्थात् सभी विषयों के ज्ञाता महर्षि कणाद सभी वस्तुओं के उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुए थे । अतः अगर नित्य परिमण्डल की तरह नित्य संयोग की भी सत्ता रहती, तो नित्य परिमण्डल की तरह उसका भी उल्लेख अवश्य ही करते; किन्तु गगनकुसुम की तरह नित्यसंयोग का भी उल्लेख महर्षि ने नहीं किया है, अतः नित्यसंयोग नहीं है । 'यथा' इत्यादि से इसी का विवरण देते हैं । 'संयोग नित्य नहीं है' प्रकृत में इसी आकार की प्रतिज्ञा है, 'नित्यसंयोग नहीं है' इस प्रकार की नहीं; क्योंकि इस (दूसरी) प्रतिज्ञा का आश्रय (पक्ष) नित्यसंयोग (आकाशकुसुम की तरह अप्रसिद्ध) है, अतः इसके लिए प्रयुक्त हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होगा । (प्र.) परमाणु और आकाश का संयोग तो नित्य है; क्योंकि वे दोनों ही नित्य हैं और वे दोनों कभी अप्राप्त (असम्बद्ध) भी नहीं रहते । (इस वस्तुस्थिति के अनुसार यह कहना ही पड़ेगा कि) कणाद ने जो नित्य संयोग का निरूपण नहीं किया है, इसका कारण उनकी भ्रान्ति है, चूँकि भ्रान्ति पुरुष का धर्म है । इसी पूर्वपक्ष के समाधान के लिए 'परमाणुभिराकाशादीनाम्' इत्यादि पङ्क्ति लिखते हैं । जैसे कि एक महान् वटवृक्ष के मूल से ऊपर की तरफ जाते हुए पुरुष का एवं अग्रभाग से मूल की तरफ आते हुए पुरुष का एक ही समय उस वृक्ष के साथ अन्यतरकर्मज संयोग और अन्यतरकर्मज विभाग दोनों ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि वे दोनों अव्याप्यवृत्ति हैं, उसी प्रकार परमाणु और आकाश का भी अन्यतरकर्मजसंयोग (आकाश के

प्रशस्तपादभाष्यम्

विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति, युतसिद्ध्यभावात् । सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं पृथगाश्रयाश्रयित्वं चेति ।

अव्याप्यवृत्ति एवं अन्यतरकर्मज ही हैं । आकाशादि विभु द्रव्यों में परस्पर संयोग है ही नहीं; क्योंकि उन सबों की युतसिद्धि नहीं है । दोनों (प्रतियोगी और अनुयोगी) में एक की स्वतन्त्र गतिशीलता और दोनों में से प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से किसी के आश्रय होने की या कहीं आश्रित होने की योग्यता ही 'युतसिद्धि' है ।

न्यायकन्दली

नोऽप्याकाशस्य परमाणुना सह संयोगविभागौ परमाणुकर्मजौ भवतः, तयोरव्याप्यवृत्तित्वादिति न परमाण्वाकाशसंयोगस्य नित्यता । इदं तावदित्थं परिहृतम्, विभूनां परस्परतः संयोगे का प्रतिक्रिया ? न ह्यसावन्यतरकर्मजः, नाप्युभयकर्मजः, तेषां निष्क्रियत्वात् । नापि संयोगजः कार्यस्य हि कारणसंयोगिना अकारणेन संयोगजः संयोगो भवति । न चायं विभूनामुपपद्यते, नित्यत्वात् । अस्ति च तेषां संयोग आकाशममूर्तेनापि द्रव्येण समं संयुज्यते मूर्तद्रव्यसंयोगित्वात् पटवदित्यनुमानात् प्रतीतः । स चाकारणवन्नित्यं तस्मादनुपपन्नमिदम्, अजः संयोगो नास्तीति । तत्राह–विभूनामिति ।

निष्क्रिय होने पर भी, परमाणु के क्रियाशील होने के कारण) हो सकता है; क्योंकि संयोग और विभाग दोनों ही अव्याप्यवृत्ति हैं । अतः परमाणु और आकाश का संयोग (दोनों के नित्य होने पर भी परमाणुगत क्रिया के अनित्य होने के कारण) नित्य नहीं है । संयोग के नित्यत्व के पक्ष में आयी हुई आपत्ति का उद्धार उसके समर्थक इस प्रकार करते हैं कि (परमाणु और आकाश के संयोग में नित्यत्व अनिवार्य न होने पर भी) विभु द्रव्यों के परस्पर संयोग में (नित्यत्व मानने के सिवाय) क्या समाधान करेंगे ? क्योंकि विभु द्रव्यों के संयोग न अन्यतरकर्मज हो सकते हैं, न उभयकर्मज; क्योंकि वे सभी क्रिया से रहित हैं । संयोग से भी (विभु द्रव्य का दूसरे विभु द्रव्य के साथ संयोग) नहीं उत्पन्न हो सकता; क्योंकि संयोगजसंयोग किसी कार्य द्रव्य का उसके अकारणीभूत द्रव्य के ही साथ होता है, जिसमें उस कार्य द्रव्य के कारणीभूत द्रव्य का संयोग रहता है । विभु द्रव्य तो नित्य ही होते हैं, अतः उनका कोई कारण ही नहीं है, तस्मात् उनका परस्पर संयोगजसंयोग नहीं हो सकता; किन्तु विभु द्रव्यों में परस्पर संयोग अवश्य ही होता है; क्योंकि इस प्रसङ्ग में यह अनुमान प्रमाण है कि जिस प्रकार पटादि द्रव्य घटादि मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयुक्त होने पर आकाशादि अमूर्त्त द्रव्यों के साथ भी संयुक्त होते हैं, उसी प्रकार आकाशादि विभु द्रव्य भी दिगादि अमूर्त्त (विभु) द्रव्यों के साथ भी अवश्य ही संयुक्त होते हैं; क्योंकि उनमें घटादि मूर्त्त द्रव्यों का संयोग है (जो मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयुक्त होगा, वह अमूर्त्त द्रव्यों के साथ भी संयुक्त होगा ही); किन्तु (इस प्रकार से

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगमुत्पाद्यमुक्त्वा पृथङ् नित्यं ब्रूयात्, न त्वेवमब्रवीत्, तस्मान्नास्त्यजः संयोगः । परमाणुभिराकाशादीनां प्रदेशवृत्तिरन्यतरकर्मजः संयोगः ।

उसी प्रकार (अगर नित्य संयोग भी होता तो) उत्पत्तिशील अन्यतर कर्मजादि संयोगों को कहने के बाद नित्य संयोग का भी अलग से उल्लेख अवश्य ही करते, सो नहीं किया है, अतः संयोग नित्य नहीं है। परमाणुवों के साथ आकाशादि के संयोग

न्यायकन्दली

त्रिविध एव संयोग इत्युक्तम् । नित्यस्यापि संयोगस्य सम्भवादिति केचित्, तत्प्रतिषेधार्थमाह–नास्त्यजः संयोगः, परिमण्डलवत् पृथगनभिधानात् । **सर्वज्ञेन महर्षिणा सर्वार्थोपदेशाय प्रवृत्तेन पृथगनभिधानात्, अजः संयोगो नास्ति, खपुष्पवत् । एतदेव विवृणोति**–यथेत्यादिना । **संयोगोऽजो न भवतीति प्रतिज्ञार्थो न पुनरजः संयोगो नास्तीति, आश्रयासिद्धत्वात् । ननु परमाण्वाकाशयोः संयोगो नित्य एव, तयोर्नित्यत्वादप्राप्त्यभावाच्च । यत् पुनरयं कणादेन नोक्तः, तद् भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्, अत आह**– परमाणुभिराकाशादीनामिति । **यथा महतो न्यग्रोधस्य मूलाग्रावयवव्यापिन एकस्य मूलादग्रमग्रान्मूलं गच्छता पुरुषेण संयोगविभागावन्यतरकर्मजौ युगपत्प्रतीयेते, तथा व्यापि-**

'संयोग तीन ही प्रकार के हैं' इस अवधारण के प्रसङ्ग में किसी की आपत्ति है कि उक्त अवधारण ठीक नहीं है; क्योंकि नित्य भी संयोग हो सकता है । इसी पूर्वपक्ष का खण्डन 'नास्त्यजः संयोगः' इत्यादि से किया गया है । अर्थात् सभी विषयों के ज्ञाता महर्षि कणाद सभी वस्तुओं के उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुए थे । अतः अगर नित्य परिमण्डल की तरह नित्य संयोग की भी सत्ता रहती, तो नित्य परिमण्डल की तरह उसका भी उल्लेख अवश्य ही करते; किन्तु गगनकुसुम की तरह नित्यसंयोग का भी उल्लेख महर्षि ने नहीं किया है, अतः नित्यसंयोग नहीं है । 'यथा' इत्यादि से इसी का विवरण देते हैं । 'संयोग नित्य नहीं है' प्रकृत में इसी आकार की प्रतिज्ञा है, 'नित्यसंयोग नहीं है' इस प्रकार की नहीं; क्योंकि इस (दूसरी) प्रतिज्ञा का आश्रय (पक्ष) नित्यसंयोग (आकाशकुसुम की तरह अप्रसिद्ध) है, अतः इसके लिए प्रयुक्त हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होगा । (प्र.) परमाणु और आकाश का संयोग तो नित्य है; क्योंकि वे दोनों ही नित्य हैं और वे दोनों कभी अप्राप्त (असम्बद्ध) भी नहीं रहते । (इस वस्तुस्थिति के अनुसार यह कहना ही पड़ेगा कि) कणाद ने जो नित्य संयोग का निरूपण नहीं किया है, इसका कारण उनकी भ्रान्ति है, चूँकि भ्रान्ति पुरुष का धर्म है । इसी पूर्वपक्ष के समाधान के लिए 'परमाणुभिराकाशादीनाम्' इत्यादि पङ्क्ति लिखते हैं । जैसे कि एक महान् वटवृक्ष के मूल से ऊपर की तरफ जाते हुए पुरुष का एवं अग्रभाग से मूल की तरफ आते हुए पुरुष का एक ही समय उस वृक्ष के साथ अन्यतरकर्मज संयोग और अन्यतरकर्मज विभाग दोनों ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि वे दोनों अव्याप्यवृत्ति हैं, उसी प्रकार परमाणु और आकाश का भी अन्यतरकर्मजसंयोग (आकाश के

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशस्तु सर्वस्य संयोगस्यैकार्थसमवेताद्विभागात्, क्वचिदाश्रयविनाशादपि । कथम् ? यथा तन्त्वोः संयोगे सत्यन्यतर-

संयोग के आश्रयरूप एक अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले विभाग से ही सभी संयोगों का विनाश होता है; किन्तु कहीं-कहीं आश्रय के विनाश से भी संयोग का विनाश होता है। (प्र.) कैसे ? (उ.) जब दो तन्तुओं के

न्यायकन्दली

यत्र युतसिद्धस्तत्रैव संयोगो दृष्टः । युतसिद्धिश्चाकाशादिषु नास्ति, अतो व्यापकाभावात् संयोगोऽपि तेषु न भवति । यच्च संयोगप्रतिपादकमनुमानमुक्तम्, तदसाधनम्, उभयपक्षसमत्वात् । यथेदं विभूनां संयोगं शास्ति, तथा ताभ्यामेव हेतुदृष्टान्ताभ्यां विभागमपि । अस्तु द्वयोरप्युपपत्तिः, प्रमाणेन तथाभावप्रतीतेरिति चेत्, न, संयोग-विभागयोरेकस्य नित्यत्वेऽन्यतरस्यासम्भवादिति द्वयोरप्यसिद्धिः, परस्परप्रतिबन्धात् ।

अथ केयं युतसिद्धिर्यस्या अभावाद्विभूनां संयोगो न सिद्ध्यति ? अत्राह—सा पुनरिति । **द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गमनं युतसिद्धिर्नित्यानाम्, द्वयोरन्यतरस्य परस्पर-**

निष्पन्न विभु द्रव्यों के) संयोग का कोई कारण नहीं है, अतः वह नित्य है । सुतरां यह कहना ठीक नहीं है कि '(नित्य) संयोग नहीं है' इसी आक्षेप का खण्डन 'विभूनाम्' इत्यादि से करते हैं । संयोग उन्हीं दो द्रव्यों में देखा जाता है, जिनमें 'युतसिद्धि' रहती है । आकाशदिगादि विभु द्रव्यों में 'युतसिद्धि' नहीं है, अतः (युतसिद्धि रूप) व्यापक के अभाव से समझते हैं कि (व्याप्य) संयोग भी उनमें नहीं है; । आकाशादि विभु द्रव्यों में परस्पर संयोग के साधन के लिए जिस अनुमान का प्रयोग किया गया है, वह (विभु द्रव्य के) नित्यसंयोग का ही साधक नहीं है; क्योंकि वह (विभुद्वय के नित्य संयोग और नित्य विभाग) दोनों पक्षों में समान रूप से लागू हो सकता है । जिस हेतु से और जिस दृष्टान्त से वह विभुओं में संयोग का साधन कर सकता है, उसी हेतु से और उसी दृष्टान्त से वह विभुओं में विभाग का भी साधन कर सकता है । (प्र.) विभुओं में परस्पर संयोग और विभाग दोनों ही अगर प्रामाणिक हों, तो दोनों ही मान लिये जायँ । (उ.) विभुओं के संयोग और विभाग दोनों में से किसी एक में नित्यत्व की सिद्धि हो जाने पर दूसरे में नित्यत्व की सिद्धि असम्भव है; क्योंकि वे दोनों परस्पर विरुद्ध हैं ।

यह 'युतसिद्धि' कौन-सी वस्तु है ? जिसके न रहने से विभु द्रव्यों में संयोग नहीं हो पाता ? 'सा पुनः' इत्यादि से इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं । दोनों में से किसी एक में गति का रहना दो नित्य वस्तुओं की युतसिद्धि है । अनित्य दो वस्तुओं की युतसिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि वे दोनों या दोनों में से एक भी कहीं

प्रशस्तपादभाष्यम्

तन्त्वारम्भके अंशौ कर्मोत्पद्यते, तेन कर्मणा अंश्वन्तराद् विभागः क्रियते, विभागाच्च तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः, संयोगविनाशात् तन्तुविनाशः, तद्विनाशे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरसंयोगस्य विनाश इति ।

संयुक्त होने पर उन दोनों तन्तुओं में से एक तन्तु के उत्पादक अंशु (तन्तु के अवयव) में क्रिया उत्पन्न होती है एवं उसी क्रिया से उस अंशु का दूसरे अंशु से विभाग उत्पन्न होता है, इस विभाग से तन्तु के उत्पादक उन दोनों अंशुओं के संयोग का विनाश होता है, संयोग के इस विनाश से उस तन्तु का नाश हो जाता है, तब उस तन्तु में रहनेवाले दूसरे (उक्त पट के अनारम्भक) तन्तु के संयोग का भी नाश होता है ।

न्यायकन्दली

परिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरनित्यानाम् । इयं द्विधाप्याकाशादिषु नास्तीत्यभिप्रायः । विनाशस्तु सर्वस्य संयोगस्य एकार्थसमवेताद् विभागात् । अन्यतरकर्मजस्योभयकर्मजस्य संयोगजस्यैकार्थसमवेताद् विभागात् । ययोर्द्रव्ययोः संयोगो वर्तते, तयोः परस्परं विभागादस्य विनाशः । यद्यपि विभागकाले संयोगो विद्यत एव, तथापि तयोः सहभावो न लक्ष्यते, विनाशस्याशुभावाद् विभागेन वा तदुपलम्भप्रतिबन्धात् ।

क्वचिदाश्रयविनाशादपि संयोगस्य विनाशः । कथम् ? तन्त्वोः संयोगे सत्यन्यतरतन्त्वारम्भकेऽंशौ कर्मोत्पद्यते, कुतश्चित् कारणात् । तेन

दूसरी जगह आश्रित हो, या कोई दूसरी वस्तु ही इन दोनों में या इन दोनों में से एक में भी आश्रित हो । अभिप्राय यह है कि इन दोनों प्रकार की युतसिद्धियों में आकाश-कालादि विभु द्रव्यों में एक भी नहीं है । (संयोग के आश्रय रूप) एक अर्थ (द्रव्य) में रहनेवाले विभाग से ही सभी संयोगों का नाश होता है, अर्थात् अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज इन तीनों प्रकार के संयोगों का एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले विभाग से, अर्थात् संयोग के आश्रयीभूत दो द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले उनके परस्पर विभाग से ही उन (सभी संयोगों का नाश होता है) । यद्यपि विभाग के उत्पत्तिक्षण में संयोग रहता ही है, फिर भी दोनों में सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहने की) प्रतीति नहीं होती है; क्योंकि अतिशीघ्रता से (विभाग की उत्पत्ति के अगले क्षण में ही) संयोग का विनाश हो जाता है । अथवा विभाग के द्वारा ही दोनों के सामानाधिकरण्य की प्रतीति प्रतिरुद्ध हो जाती है ।

कहीं आश्रय के विनाश से भी संयोग का नाश होता है । (प्र.) किस प्रकार ? (किस स्थिति में कहीं आश्रय के नाश से संयोग का नाश होता है ?) (उ.) जहाँ

प्रशस्तपादभाष्यम्

विभागो विभक्तप्रत्ययनिमित्तम् । शब्दविभागहेतुश्च ।

'इससे यह विभक्त है' इस आकार की प्रतीति का कारण ही 'विभाग' है । वह शब्द एवं विभाग का कारण है । प्राप्ति (संयोग) के

न्यायकन्दली

कर्मणा अंश्वन्तराद् विभागः क्रियते, विभागादंश्वोः संयोगविनाशात् तन्तुविनाशे तदाश्रितस्य संयोगस्य विनाशः, उभयाश्रयस्य तस्यैकाश्रयावस्थानेऽनुपलम्भादिति ।

संयोगपूर्वकत्वाद् विभागस्य तदनन्तरं निरूपणार्थमाह—विभागा विभक्तप्रत्ययनिमित्तमिति । **अत्रापि व्याख्यानं पूर्ववत् । संयोगाभावे विभक्तप्रत्यय इति चेत् ? असति विभागे संयोगाभावस्य कस्मादुत्पादः ? कर्मणा क्रियत इति चेत् ? न, कर्मणो गुणविनाशे सामर्थ्यादर्शनात् । दृष्टं च गुणविनाशे गुणानां हेतुत्वम्, तेनात्रापि गुणान्तरकल्पना । किञ्च संयोगाभावेऽसंयुक्ताविमाविति प्रत्ययः स्यान्न विभक्ताविति, अभावस्य विधिमुखेन ग्रहणाभावात् ।**

(दो द्वितन्तुक पट की उत्पत्ति के लिए) दोनों तन्तुओं में संयोग के उत्पन्न होने पर उन दोनों में से एक तन्तु के उत्पादक अंशु (तन्तु के अवयव) में किसी कारण से क्रिया उत्पन्न होती है । एवं इस क्रिया से दूसरे अंशु का पहले अंशु से विभाग उत्पन्न होता है । इस विभाग से (तन्तु के उत्पादक) दोनों अंशुओं के संयोग का विनाश होता है । इस संयोग के नाश से तन्तु का विनाश होता है । (उस एक ही) तन्तु के विनष्ट हो जाने पर (भी) उसमें रहने वाले संयोग का नाश हो जाता है; क्योंकि (नियमतः) दो आश्रयों में रहनेवाली वस्तु की (उसके केवल) एक आश्रय के न रहने पर (भी) उपलब्धि नहीं होती है ।

(किन्हीं दो द्रव्यों में) पहले संयोग के होने पर ही (उन दोनों द्रव्यों में) विभाग उत्पन्न होता है । अतः संयोग के निरूपण के बाद विभाग का उपपादन 'विभागो विभक्तप्रत्ययनिमित्तम्' इत्यादि सन्दर्भ से करते हैं । इस वाक्य की व्याख्या पहले की (अर्थात् 'संयोगः संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम्' इस वाक्य की व्याख्या की) तरह करनी चाहिए । (प्र.) संयोग के न रहने पर ही विभाग की प्रतीति होती है (विभाग नाम का कोई स्वतन्त्र गुण नहीं है) । (उ.) विभाग के न मानने पर संयोग के अभाव की उत्पत्ति किससे होती है ? क्रिया से उसकी उत्पत्ति मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि कर्म से गुण का नाश कहीं नहीं देखा जाता । एवं एक गुण से दूसरे गुण का नाश देखा जाता है । अतः (संयोगनाश के लिए) स्वतन्त्र (विभाग नाम के) गुण की कल्पना ही उचित है । (संयोग की तरह विभाग भी स्वतन्त्र गुण ही है, संयोग का अभाव नहीं ।) इसमें दूसरी युक्ति यह भी है कि तब 'इन दोनों में संयोग नहीं है' इस आकार की प्रतीति होती, 'ये दोनों विभक्त हैं' इस आकार की नहीं; क्योंकि अभाव की प्रतीति भाव के बोधक शब्द से नहीं होती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभागः । स च त्रिविधः – अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, विभागजश्च विभाग इति । तत्रान्यतरकर्मजोभयकर्मजौ

बाद उत्पन्न अप्राप्ति का नाम ही 'विभाग' है । वह १. अन्यतरकर्मज, २. उभयकर्मज और ३. विभागज विभाग भेद से तीन प्रकार का है । इनमें अन्यतरकर्मज विभाग और उभयकर्मज विभाग इन दोनों की सभी बातें

न्यायकन्दली

भाक्तः प्रत्ययोऽयमिति चेत्? तर्हि विभागस्याप्रत्याख्यानम्, निष्प्रधानस्य भाक्तस्याभावात् ।

तस्य कार्यं दर्शयति–शब्दविभागहेतुश्चेति । **न केवलं विभक्तप्रत्ययनिमित्तं शब्दविभागहेतुश्चेति चार्थः । वंशदले पाट्यमाने योऽयमाद्यः शब्दः, स तावद् गुणान्तरनिमित्तः, शब्दत्वात्, भेरीदण्डसंयोगजशब्दवत् । न चायं संयोगजः, तस्याभावात् । तस्माद् वंशदलविभागज एवायम्, तद्भावभावित्वात् । विभागस्य विभागहेतुत्वं चानन्तरं वक्ष्यामः ।**

प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिरिति **तस्य लक्षणकथनम् । अधर्म इति नञ् यथा धर्मविरोधिनि गुणान्तरे, न तु धर्माभावे, तथा अप्राप्तिरिति नञ् प्राप्तिविरोधिनि गुणान्तरे, न तु प्राप्तेरभावे । प्राप्तौ पूर्वस्थितायां याऽप्राप्तिः**

(प्र.) ('ये दोनों विभक्त हैं' इत्यादि) प्रतीतियाँ तो गौण हैं ? (उ.) इस गौणता की प्रतीति से भी विभाग का मानना आवश्यक है; क्योंकि प्रधान के बिना गौण नहीं होता है ।

'शब्दविभागहेतुश्च' इस वाक्य से विभाग के द्वारा उत्पन्न होने वाले कार्य दिखलाये गये हैं । उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'च' शब्द से यह सूचित होता है कि विभाग केवल विभक्त प्रत्यय का ही कारण नहीं है; किन्तु शब्द और (विभागज) विभाग का भी कारण है । ('विभाग से शब्द उत्पन्न होता है' इसमें यह अनुमान प्रमाण है कि) जिस प्रकार भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न शब्द का, शब्द से भिन्न उक्त संयोग कारण है, उसी प्रकार बाँस का दो भाग करने पर जो पहला शब्द होता है, उसका भी स्व (शब्द) से भिन्न कोई दूसरा ही गुण कारण है । एवं इस शब्द का (भेरी के उक्त शब्द की तरह) संयोग भी कारण नहीं है, अतः चूँकि बाँस के दोनों दलों की सत्ता के बाद ही उक्त शब्द की उत्पत्ति होती है, अतः बाँस के दोनों दलों का विभाग ही उस शब्द का कारण है । विभाग से (दूसरे) विभाग की उत्पत्ति का विवरण हम आगे देंगे ।

'प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिः' इस वाक्य से विभाग का लक्षण कहा गया है । जिस प्रकार 'अधर्म' शब्द में प्रयुक्त नञ् शब्द धर्म के विरोधी पाप रूप दूसरे गुण का बोधक है, उसी प्रकार प्रकृत 'अप्राप्ति' शब्द में प्रयुक्त 'नञ्' शब्द भी प्राप्ति (संयोग) रूप

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगवत् । विभागजस्तु द्विविधः—कारणविभागात्, कारणाकारणविभागाच्च । तत्र कारणविभागात् तावत् कार्याविष्टे कारणे कर्मोत्पन्नं

(उक्त नाम के दोनों) संयोगों की तरह हैं । (किन्तु) विभागज विभाग दो प्रकार का है--१. केवल कारणों के विभाग से उत्पन्न होनेवाला एवं २. कारण और अकारण इन दोनों के विभाग से उत्पन्न होनेवाला ।

न्यायकन्दली

प्राप्तिविरोधी गुणविशेषः, स विभाग इति वाक्यार्थः । किं प्राप्तेः पूर्वावस्थानमात्रम् ? किं वा विभागं प्रति हेतुत्वमप्यस्ति ? अवस्थितिमात्रमिति ब्रूमहे, संयोगस्य विभागहेतुत्वेऽवयवसंयोगानन्तरमेव तद्विभागस्योत्पत्तौ द्रव्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । कर्मसहकारी संयोगः कारणमिति चेत् ? अन्वयव्यतिरेकावधृतसामर्थ्यं कर्मैव कारणमस्तु, न संयोगः, तस्मिन् सत्यप्यभावात् । प्रध्वंसोत्पत्ताविव भावस्य । विभागोत्पत्तौ संयोगस्य पूर्वकालतानियमः, विभागस्य तद्विरोधिस्वभावत्वात् ।

स च त्रिविध इति **भेदकथनम् । अत्रापि चशब्दोऽवधारणे, त्रिविध एव । अन्यतरकर्मज उभयकर्मजो विभागजश्च विभाग इति ।**

गुण के विरोधी विभाग नाम के गुण का ही बोधक है (संयोग के अभाव का नहीं) । 'प्राप्ति' (संयोग) के रहने पर जो 'अप्राप्ति' अर्थात् प्राप्ति का विरोधी गुणविशेष वही 'विभाग' है । (प्र.) विभाग के उत्पन्न होने से पहले संयोग (प्राप्ति) केवल रहता है या वह उसका उत्पादक भी है ? (उ.) हम तो कहते हैं कि विभाग की उत्पत्ति के पूर्व (नियमतः) संयोग केवल विद्यमान रहता है (वह विभाग का कारण नहीं है); क्योंकि संयोग अगर विभाग का कारण हो, तो फिर द्रव्यों की उत्पत्ति ही रुक जाएगी; क्योंकि अवयवों में संयोग के होने के बाद उस संयोग से अवयवों के विभाग उत्पन्न होंगे । अगर कहें कि (प्र.) (केवल) संयोग ही विभाग का कारण नहीं है क्रिया भी उसकी सहायिका है ? (उ.) तो फिर अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा जिस क्रिया में विभाग का सामर्थ्य निश्चित है, वह क्रिया ही विभाग का कारण है, संयोग नहीं । क्योंकि संयोग के रहते हुए भी बिना क्रिया के विभाग की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः जिस प्रकार ध्वंस की उत्पत्ति से पहले (उसके प्रतियोगी) भाव की नियमतः सत्ता (ही) रहती है (एवं वह ध्वंस का कारण नहीं होता), उसी प्रकार संयोग भी विभाग से पहले नियमतः केवल रहता है, वह उसका उत्पादक नहीं है; क्योंकि विभाग स्वभावतः संयोग का विरोधी है ।

'स च त्रिविधः' इस वाक्य के द्वारा विभाग के भेद कहे गये हैं । यहाँ भी 'च' शब्द का अवधारण ही अर्थ है, (तदनुसार इस वाक्य का यह अर्थ है कि) विभाग के ये तीन ही प्रकार हैं--(१) अन्यतरकर्मज, (२) उभयकर्मज और (३) विभागज ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

यदा तस्यावयवान्तराद् विभागं करोति, न तदाकाशादिदेशात् । यदा त्वाकाशादिदेशाद् विभागं करोति, न तदवयवान्तरादिति स्थितिः । अतोऽ-

इनमें कारण मात्र के विभाग से उत्पन्न होनेवाले विभाग का निरूपण करते हैं । वस्तुस्थिति यह है कि कार्य से सम्बद्ध अवयव में उत्पन्न हुई क्रिया जिस समय अपने आश्रयरूप अवयव द्रव्य में दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न करती है, उस समय विभक्त अवयवों में आकाशादि देशों से विभाग को उत्पन्न नहीं करती एवं जिस समय (वही क्रिया) अवयवों में आकाशादि देशों से विभाग को उत्पन्न करती है, उस समय एक अवयव में

न्यायकन्दली

तत्र तेषु मध्येऽन्यतरकर्मजोभयकर्मजौ संयोगवत् । **यथा क्रियावता निष्क्रियस्य संयोगोऽन्यतरकर्मजस्तथा विभागोऽपि । यथोभयकर्मजः संयोगो मल्लयोर्मेषयोर्वा तथा विभागोऽपि** । विभागजस्तु द्विविध इति । **तुशब्देनास्य पूर्वाभ्यां विशेषकथनम् । कारणयोर्विभागादेको विभागो भवति । अपरस्तु कारणाकारणयोर्विभागादिति द्वैविध्यम् ।**
कारणविभागाच्च विभागः कथ्यते – कार्याविष्ट इत्यादिना । कार्येणाविष्टे व्याप्ते अवरुद्धे कारणे कर्मोत्पन्नं यदा तस्यावयवस्यावयवान्तराद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशकं विभागं करोति, न तदा द्रव्यावरुद्धा-

'तत्र' अर्थात् उनमें अन्यतरकर्मज और उभयकर्मज ये दोनों 'संयोगवत्' हैं, अर्थात् जिस प्रकार क्रिया से युक्त एक द्रव्य का और क्रिया से रहित दूसरे द्रव्य का संयोग अन्यतरकर्मज है, उसी प्रकार (निष्क्रिय एक द्रव्य के साथ क्रिया से युक्त दूसरे द्रव्य का) विभाग भी (अन्यतरकर्मज) है । एवं जिस प्रकार (लड़ते हुए) दो भेड़ों का (या) पहलवानों का संयोग उभयकर्मज है, उसी प्रकार उनका विभाग भी (उभयकर्मज) है । 'विभागजस्तु द्विविधः' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तु' शब्द से विभागज विभाग में कथित दोनों विभागों से भेद सूचित किया गया है । एक प्रकार का विभागज विभागकारणीभूत दोनों द्रव्यों के ही विभाग से उत्पन्न होता है और दूसरे प्रकार का विभागज विभागकारणीभूत एक द्रव्य और दूसरा अकारणीभूत द्रव्य, इन दोनों द्रव्यों के विभाग से उत्पन्न होता है । विभागज विभाग के ये ही दो भेद हैं ।

'कार्याविष्टे कारणे' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कारण (मात्र) के विभाग से उत्पन्न (विभागज) विभाग का निरूपण किया गया है । वस्तुस्थिति यह है कि कार्य से 'आविष्ट' अर्थात् नियत रूप से सम्बद्ध (अवयव रूप) कारण में उत्पन्न हुई क्रिया जिस समय अवयवी द्रव्य के उत्पादक संयोग के विनाशक विभाग को उत्पन्न करती है, उस समय (वह क्रिया) उस द्रव्य के

न्यायकन्दली

दाकाशादिदेशाद् विभागं करोति । यदा चाकाशादिदेशात्, न तदावयवान्तरादिति स्थितिनियमः । अतोऽवयवकर्मावयवान्तरादेव विभागमारभते । यत आकाशविभाग-कारणं कर्म अवयवान्तराद् विभागं न करोतीति नियमः, अतोऽवयवान्तरविभागा-रम्भकं कर्म अवयवान्तरादेव विभागं करोति, नाकाशादिदेशात् ।

अयमभिसन्धिः—आकाशविभागकर्तृत्वं कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागाना-रम्भकत्वेन व्याप्तम्, द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वविरुद्धं च द्रव्यारम्भक-संयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वम् । अतो यत्रेदमुपलभ्यते तत्र द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधि-विभागानुत्पादकत्वे निवर्तमाने तद्व्याप्तमाकाशविभागकर्तृत्वमपि निवर्तते । यथा वह्निव्या-वृत्तौ धूमव्यावृत्तिः ।

आकाशविभागकर्तृत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भ-कत्वस्य च सहभावमात्रं न व्याप्तिरिति चेत् ? न, व्यभिचारानुपलब्धेः । ययोः क्वचिद्व्यभिचारो दृश्यते तयोः सहभावमात्रम्, यथा वज्रे पार्थिवत्वलोह-

साथ सम्बद्ध आकाशादि देशों के साथ विभाग को उत्पन्न नहीं करती, अतः अवयव की क्रिया दूसरे अवयव से (अपने) विभाग को ही उत्पन्न करती है। चूँकि यह नियम है कि जिस कारण से आकाश के साथ अवयवों का विभाग उत्पन्न होगा उस कारण से एक अवयव के दूसरे अवयव का विभाग उत्पन्न नहीं होगा, अतः एक अवयव में रहनेवाले जिस विभाग की उत्पत्ति जिस क्रिया से होगी, वह क्रिया (एक अवयव में) दूसरे अवयव से विभाग की ही उत्पादिका होगी, आकाशादि देशों के साथ विभाग की नहीं ।

अभिप्राय यह है कि 'जिस क्रिया में आकाशविभाग का कर्तृत्व है, उसमें द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग का कर्तृत्व नहीं है' यह अव्यभिचरित नियम है । सुतरां द्रव्य के उत्पादक संयोग (अवयवद्वय-संयोग) के विरोधी विभाग का अनुत्पादकत्व एवं द्रव्य के अनुत्पादक संयोग के विरोधी विभाग का उत्पादकत्व, ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं । अतः जहाँ द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग का उत्पादकत्व उपलब्ध होता है, वहाँ द्रव्य के आरम्भक संयोग के विरोधी विभाग का अनारम्भकत्व (उससे स्वयं) दूर हटते हुए अपने से व्याप्त आकाश विभागकर्तृत्व को भी दूर हटा देता है । जैसे कि (जलादि में) वह्नि के प्रतिक्षिप्त होने के कारण धूम (स्वयं ही जल से हट जाता है) ।

(प्र.) आकाश-विभाग का कर्तृत्व एवं द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग का अनारम्भकत्व, ये दोनों एक आश्रय में केवल रहते भर हैं, (इसका यह अर्थ नहीं कि) दोनों में परस्पर व्याप्ति सम्बन्ध भी है । (उ.) यह (कहना ठीक) नहीं है; क्योंकि उक्त दोनों धर्मों में कहीं व्यभिचार उपलब्ध नहीं है, (समानाधिकरण) जिन दो धर्मों में से एक-दूसरे के बिना भी उपलब्ध होता है, उन दोनों धर्मों के लिए कह सकते हैं कि वे केवल एक आश्रय में

प्रशस्तपादभाष्यम्

वयवकर्मावयवान्तरादेव विभागमारभते, ततो विभागाच्च द्रव्यारम्भक-संयोगविनाशः । तस्मिन् विनष्टे कारणाभावात् कार्याभाव इत्यवयवि-

दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न नहीं करती, अतः अवयव में रहनेवाली क्रिया उसमें दूसरे अवयव से ही विभाग को उत्पन्न करती है । इसके बाद (अवयवी) द्रव्य के उत्पादक संयोग का नाश होता है । उसके विनष्ट हो जाने पर (असमवायि) कारण के अभाव से (अवयवी द्रव्य

न्यायकन्दली

लेख्यत्वयोः, सत्यपि पार्थिवत्वे काष्ठादिषु लोहलेख्यत्वात् । न तु व्योमविभागकर्तृत्वस्य विशिष्टविभागानुत्पादकत्वस्य च व्यभिचारो दृश्यते । अदृश्यमानोऽपि कदाचिदयं भविष्यतीत्याशङ्क्येत यद्यनयोः शिष्याचार्ययोरिवोपाधिकृतः सहभावः प्रतीयेत । न चैवमप्यस्ति, उपाधीनामनुपलम्भात् । यद्यप्रतीतव्यभिचारो निरुपाधिकः सहभावो न व्याप्तिहेतुरित्यग्निधूमयोरपि व्याप्तिर्न स्यादित्युच्छिन्नेदानीं जगत्यनुमानवार्ता ।

यद्यवयवकर्मणावयवान्तराद् विभागः क्रियते नाकाशादिदेशात्, ततः किं सिद्धम् ? तत्राह— विभागाच्च द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः । **आकाश-**

रहते हैं, उनमें परस्पर व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है । जैसे कि काष्ठादि (रूप एक आश्रय) में पार्थिवत्व और लौहलेख्यत्व (लोहे से लिखने पर चिह्न पड़ जाना) दोनों के रहते हुए भी वज्रादि पत्थरों में (पार्थिवत्व के रहते हुए भी) लौहलेख्यत्व के न रहने के कारण, उन दोनों धर्मों के प्रसङ्ग में यह कहा जाता है कि पार्थिवत्व और लौहलेख्यत्व दोनों धर्म एक आश्रय में केवल रहते हैं; किन्तु उन दोनों में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है; किन्तु आकाशविभाग का कर्तृत्व तथा द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग का अनुत्पादकत्व इन दोनों में से कोई एक को छोड़कर कहीं नहीं देखा जाता है । व्यभिचार के उपलब्ध न होने पर भी उक्त दोनों धर्मों में इस प्रकार के व्यभिचार की शङ्का हो सकती थी कि 'कदाचित् ये दोनों भी व्यभिचरित हों', अगर शिष्य और आचार्य के सम्बन्ध की तरह उनमें भी उपाधिमूलकत्व की उपलब्धि होती; किन्तु वह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रकृत में कोई उपाधि भी उपलब्ध नहीं है, अगर उपाधि से रहित जिस सामानाधिकरण्य में व्यभिचार उपलब्ध न हो, वह भी अगर व्याप्ति का प्रयोजक न हो तो फिर वह्नि और धूम में भी व्याप्ति नहीं होगी । इस प्रकार संसार से अनुमान की बात ही उठ जायेगी ।

अगर अवयव की क्रिया से दूसरे अवयव से ही उसका विभाग उत्पन्न हो, आकाशादि देशों से नहीं, तो फिर इससे क्या सिद्ध होता है ? इसी प्रश्न के उत्तर में यह वाक्य लिखा गया है कि 'विभागाच्च पूर्वसंयोगनाशः' । अभिप्राय यह है कि

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशः । यदा कारणयोर्वर्तमानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं त्वतन्त्रं वावयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशादिदेशाद् विभागमारभते न निष्क्रियस्य, कारणाभावादुत्तरसंयोगा-

रूप) कार्य का (अभाव) नाश होता है । उस समय (विभाग के आश्रय और विभाग के अवधि रूप) दोनों अवयवों में विद्यमान क्रिया कार्य से संयुक्त आकाशादि देशों के साथ क्रिया से युक्त अवयवों के ही विभाग को उत्पन्न करती है । (यह दूसरी बात है कि) उसे इस विभाग के उत्पादन में कार्य के नाश से युक्त काल या आश्रयीभूत अवयव के साहाय्य की भी

न्यायकन्दली

विभागकर्तृत्वे विशिष्टविभागानुत्पादाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशो न भवेदित्यर्थः । संयोग-विनाशे किं स्यादत आह—तस्मिन्निति । **संयोगेऽसमवायिकारणे तस्मिन्नष्टे कारणस्याभावात् कार्याभाव इति न्यायादवयविनो विनाशः । अवयविद्रव्ये नष्टे किं स्यादत आह**—तदेति । **द्रव्ये विनष्टे तत्कारणयोरवयवयोर्वर्तमानो विभागः कार्यविनाशेन विशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वा अवय-वमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशादिदेशाद् विभागमारभते । यावत् कार्यद्रव्यं न विनश्यति, तावदवयवस्य स्वातन्त्र्यम् । पृथगृदेशगमने योग्यता नास्तीत्यवयवदेशाद् विभागो न घटते, तदर्थमुक्तं कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वावयवमपेक्षते । कारणयोर्वर्त-**

(अवयव की क्रिया में) आकाश विभाग का भी कर्तृत्व अगर मान लें तो फिर उससे (अवयवी के नाशजनक) विशेष प्रकार के विभाग की उत्पत्ति नहीं होगी । फलतः (अवयवी) द्रव्य के उत्पादक संयोग का विनाश नहीं होगा । दोनों अवयवों के संयोग के विनाश से कौन-सा कार्य होगा ? (जिसके न होने का आपने भय दिखलाया है ।) इसी प्रश्न का समाधान 'तस्मिन्' इत्यादि से कहा गया है । 'तस्मिन्नष्टे' अर्थात् (अवयवी के) असमवायिकारण रूप उस संयोग के नष्ट होने पर 'कारण के अभाव से कार्य का अभाव' इस न्याय से अवयवी का नाश होगा । अवयविरूप द्रव्य के नाश होने पर क्या होगा ? इस प्रश्न का समाधान 'तदा' इत्यादि पङ्क्ति से कहा गया है । अर्थात् (अवयविरूप द्रव्य के नष्ट हो जाने पर उसके कारणीभूत दोनों अवयवों में रहनेवाला विभाग) क्रिया से युक्त अवयवों के ही आकाशादि देशों से विभाग को उत्पन्न करता है । उस (विभाग) को इस विभाग के उत्पादन में (अवयविरूप) कार्य के नाश से युक्त काल, स्वतन्त्र रूप से केवल अवयव, इन दोनों में से किसी एक का साहाय्य अपेक्षित होता है । अवयविरूप कार्यद्रव्य के विनष्ट हुए बिना उसके अवयवों में स्वतन्त्र रूप से दूसरे देश में जाने की योग्यता नहीं आती ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

नुत्पत्तावनुपभोग्यत्वप्रसङ्गः । न तु तदवयवकर्माकाशादिदेशाद् विभागं

अपेक्षा होती है, अथवा स्वतन्त्ररूप से ही वह उक्त विभाग को उत्पन्न करती है । निष्क्रिय अवयवों में वह विभागों को उत्पन्न नहीं कर सकती; क्योंकि (उसके बाद) कारण के न रहने से उत्तर देश के साथ संयोग की

न्यायकन्दली

मानो विभागः सक्रियस्यैव विभागं करोतीत्यत्र को हेतुरिति चेत् ? अत आह— न, निष्क्रियस्य कारणाभावादिति । **विभागाद् विभागोत्पत्तौ कर्मापि निमित्तकारणम्, तस्याभावान्न निष्क्रियस्य विभागः । अत्रैवार्थे युक्त्यन्तरमाह—**उत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपभोग्यत्वप्रसङ्ग **इति । क्रिया हि प्राधान्येन उत्तरसंयोगार्थमुपजाता, देशान्तरप्राप्तेन द्रव्येण कस्यचित् पुरुषार्थस्य सम्पादनात् । तत्र यदि सक्रियस्यावयवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशादिदेशाद् विभागो न भवति, तदा पूर्वसंयोगस्य प्रतिबन्धकस्यानिवृत्तेरुत्तरसंयोगानुत्पत्तौ सानुपभोग्या निष्प्रयोजना स्यात् । न चैतद्युक्तम् । तस्मात् सक्रियस्यैव विभाग इत्यर्थः । अवयवक्रिययोः अवयवविभागसमकालमाकाशादिविभागकर्तृत्वं नोपपद्यत इति । मा कार्षीदियं युगपद्विभागद्वयम्, क्रमकरणे तु को विरोधो येन विभाग-**

अतः (दूसरे) अवयव देश से (उस समय तक) विभाग नहीं हो सकता । इसीलिए कहा गया है कि 'काल' (काल और अवयव) अथवा स्वतन्त्र रूप से (केवल) अवयव की अपेक्षा रखता है । इसमें क्या कारण है कि कारणीभूत दोनों अवयवों में रहनेवाला विभाग, क्रिया से युक्त द्रव्य के ही विभाग को उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही 'न निष्क्रियस्य कारणाभावात्' यह वाक्य लिखा गया है । विभाग से जो विभाग की उत्पत्ति होती है, उसमें क्रिया भी निमित्तकारण है । क्रिया के न रहने से ही निष्क्रिय द्रव्य में विभाग नहीं होता । इसी में दूसरी युक्ति 'उत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपभोग्यत्वप्रसङ्गः' इस वाक्य के द्वारा दिखायी गयी है । उत्तरदेश के साथ संयोग ही क्रिया की उत्पत्ति का मुख्य प्रयोजन है; क्योंकि दूसरे (उत्तर) देश में प्राप्त द्रव्य के द्वारा ही वह पुरुष के किसी प्रयोजन का सम्पादन करती है । अभिप्राय यह है कि अगर क्रिया के द्वारा उससे युक्त अवयवरूप द्रव्य का कार्य (अवयवी) द्रव्य से संयुक्त आकाशादि देशों से विभाग उत्पन्न न हो एवं (अवयवी के) प्रतिबन्धक पहले (दोनों अवयवों के) संयोग का विनाश भी न हो, तो फिर क्रिया 'अनुपभोग्या' अर्थात् प्रयोजन से रहित (व्यर्थ) हो जायेगी; किन्तु सो उचित नहीं है, अतः सक्रिय द्रव्य का ही विभाग होता है । अर्थात् दोनों अवयवों की दोनों क्रियाओं से जिस समय दोनों अवयवों का विभाग उत्पन्न होगा, उसी समय क्रियाओं से अवयवों के आकाशादि देशों के साथ विभाग की उत्पत्ति उचित नहीं है । (प्र.) अवयवों की वे दोनों क्रियायें

प्रशस्तपादभाष्यम्

करोति, तदारम्भकालातीतत्वात् । प्रदेशान्तरसंयोगं तु करोत्येव,

उत्पत्ति नहीं होगी, जिससे विभाग की उत्पत्ति 'अनुपभोग्य' अर्थात् निष्प्र-योजन हो जाएगी । अवयव की क्रिया आकाशादि देशों से विभाग को उत्पन्न नहीं करती; क्योंकि उसके उत्पादन का काल ही बीत गया रहता है; किन्तु दूसरे प्रदेशों के साथ संयोग को अवश्य उत्पन्न करती है; क्योंकि

न्यायकन्दली

जनने दृष्टसामर्थ्यामिमां परित्यज्यादृष्टसामर्थ्यस्य विभागस्य विभागहेतुत्वमाश्रीयते ? इत्यत्राह–न तु तदवयवकर्माकाशादिदेशाद् विभागं करोति, तदारम्भककाला-तीतत्वात् । **एवं हि कर्मणः स्वभावो यत् तदसमवायिकारणतया विभागमारभमाणं स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षण एवारभते, न क्षणान्तरे, स च तस्य विभागारम्भकालो द्वितीयभागो-त्पत्तिकालेऽतीत इति न तस्मादस्योत्पत्तिः ।**

नन्वेवमुत्तरसंयोगमपि कुतः करोति ? अनेकक्षणव्यवधानात्, अत आह– प्रदेशान्तरसंयोगं करोतीति । **यथा कर्मणः स्वोत्पादानन्तरक्षणो विभागारम्भ-कालस्तथा पूर्वसंयोगनिवृत्त्यनन्तरक्षणः प्रदेशान्तरसंयोगारम्भकालः, पूर्वदेशाव-**

एक ही समय (अवयवों के परस्पर विभाग और अवयवों का आकाशादि देशों के साथ विभाग इन) दोनों विभागों को उत्पन्न न भी कर सकें, फिर भी वे ही क्रियायें क्रमशः उन दोनों विभागों को उत्पन्न कर सकती हैं, इसमें तो कोई विरोध नहीं है । चूँकि जिस (क्रिया) में विभाग को उत्पन्न करने का सामर्थ्य उपलब्ध है, उसे छोड़कर जिस (विभाग) में विभाग को उत्पन्न करने का सामर्थ्य दीख नहीं पड़ता है, उसमें विभाग की कारणता स्वीकार करते हैं ? (उ.) इसी प्रश्न का उत्तर 'न तु तदवयवकर्माकाशादिदेशाद्विभागं करोति, तदारम्भकालातीतत्वात्' इस वाक्य से दिया गया है । क्रिया का यह स्वभाव है कि जिस विभाग का वह असमवायिकारण होगी, उसे अपनी उत्पत्ति के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही उत्पन्न करेगी; आगे के क्षणों में नहीं । वही (उक्त अव्यवहितोत्तर) क्षण इसका आरम्भकाल है । यह काल द्वितीय विभाग (विभागज विभाग) की उत्पत्ति के समय बीत जाता है, अतः क्रिया से इस (विभागज विभाग) की उत्पत्ति नहीं होती ।

(अगर दोनों अवयवों की क्रिया का आरम्भकाल उसका अव्यवहित उत्तर क्षण ही है तो फिर) कुछ क्षणों के बाद वही क्रिया उत्तर संयोग को कैसे उत्पन्न करती है ? इसी प्रश्न का समाधान 'प्रदेशान्तरसंयोगं करोति' इस वाक्य से दिया है । अर्थात् जिस प्रकार क्रिया का अव्यवहित उत्तर क्षण विभाग के उत्पादन का उपयुक्त समय है, उसी प्रकार पूर्वसंयोग (दोनों अवयवों के संयोग) के नाश का अव्यवहित उत्तर क्षण ही उस दूसरे प्रदेशों के साथ संयोग (उत्तरसंयोग) के उत्पादन का

प्रशस्तपादभाष्यम्

अकृतसंयोगस्य कर्मणः कालात्ययाभावादिति ।

कारणाकारणविभागादपि कथम् ? यदा हस्ते कर्मोत्पन्न-

संयोग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया का काल तब तक नहीं बीता रहता है, जब तक कि वह संयोग को उत्पन्न न कर दे ।

(प्र.) कारण और अकारण के विभाग से (कारणाकारण विभाग-जनित) विभाग की उत्पत्ति कैसे होती है ? (उ.) जिस समय हाथ में उत्पन्न

न्यायकन्दली

स्थितस्य द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तेरसम्भवात् । तस्य च संयोगारम्भकालस्यात्ययोऽतिक्रमो न भूतः, तदानीं हि कालोऽयमतिक्रान्तः स्याद् यदि कर्मणा प्रदेशान्तरसंयोगः कृतो भवेन्न त्वेवम्, तस्मादकृतसंयोगस्य कर्मणो यः संयोगारम्भकालस्तस्यात्ययाभावात् कर्म संयोगं करोति, न विभागम् । तेन चेदयं न कृतोऽन्यस्यासम्भवादसमवायिकारणेन विना च वस्तुनोऽनुत्पादादेकार्थसमवेतो विभागोऽस्य कारणमित्यवतिष्ठते । इतिशब्दः प्रक्रमसमाप्तौ ।

एवं कारणविभागपूर्वकं विभागं प्रतीत्य कारणाकारणविभागपूर्वकं विभागं प्रत्येतुमिच्छन् पृच्छति – कारणाकारणविभागादपि कथमिति ।

उपयुक्त समय है, एक देश में रहते हुए द्रव्य का दूसरे देश के साथ संयोग सम्भव नहीं है । (अतः) इस (उत्तर) संयोगोत्पादन के समय का 'अत्यय' अर्थात् अतिक्रम नहीं हुआ है । इस संयोग के काल का अतिक्रमण तब होता, जब कि उस क्रिया से उत्तरदेश संयोग का उत्पादन हो गया होता; किन्तु सो नहीं हुआ है, अतः जिस क्रिया ने जिस संयोग को जब तक उत्पन्न नहीं किया है, तब तक उस क्रिया से उस संयोग के उत्पादन का काल नहीं बीता है । अतः क्रिया उत्तरदेश संयोग को उत्पन्न करने पर भी (विभागज) विभाग को उत्पन्न नहीं करती है । दोनों अवयवों के विभाग से अगर (विभागज) विभाग की उत्पत्ति न मानें, तो फिर उस (विभागज) विभाग का कोई दूसरा असमवायिकारण नहीं हो सकता । असमवायिकारण के न रहने पर (समवेत) कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होती है । इससे सिद्ध होता है कि विभागज विभाग के आश्रयीभूत एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला (दोनों अवयवों का) विभाग ही उस (पूर्वदेश के साथ अवयवों के) विभाग का (असमवायि) कारण है । 'इति' शब्द प्रसङ्ग की समाप्ति का बोधक है ।

इस प्रकार कारण (मात्र) के विभाग से उत्पन्न विभाग (विभागज विभाग) को समझा कर कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न होने वाले (विभागज) विभाग को समझाने के अभिप्राय से 'कारणाकारणविभागादपि कथम् ?' इस वाक्य के

प्रशस्तपादभाष्यम्

मवयवान्तराद् विभागमकुर्वदाकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभ्य प्रदेशान्तरे संयोगानारभते, तदा ते कारणाकारणविभागाः, कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागानारभन्ते तदनन्तरं कारणाकारणसंयोगाच्च कार्याकार्यसंयोगानिति ।

हुई क्रिया शरीर के दूसरे अवयवों से विभाग को उत्पन्न करती हुई आकाशादि देशों के साथ विभागों को उत्पन्न करने के बाद (उत्तर देश) संयोगों को उत्पन्न करती है, उस समय के वे विभाग (शरीर के) कारण (अवयव) और (शरीर के) अकारण के विभाग हैं । क्रिया जिस दिशा में (उत्तरसंयोगरूप) कार्य को करने के लिए उत्सुक रहती है, उसी दिशा के साहाय्य से वे (कारण और अकारण के विभाग) कार्य और अकार्य के विभागों को उत्पन्न करते हैं । इसके बाद (वे ही कारण और अकारण के विभाग) कारणों और अकारणों के संयोगों के साहाय्य से उन कारणों से उत्पन्न कार्य द्रव्यों और उनसे अनुत्पन्न अकार्य द्रव्यों में संयोगों को उत्पन्न करते हैं ।

न्यायकन्दली

उत्तरमाह—यदेत्यादिना । **हस्ते कुतश्चित् कारणात् कर्मोत्पन्नं तस्य हस्तस्यावयवान्तराद् विभागमकुर्वदाकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभ्य प्रदेशान्तरैः सह यदा संयोगानारभते तदा ते** कारणाकारणविभागाः **शरीरकारणस्य हस्तस्याकारणानामाकाशादिदेशानां विभागाः**, कर्म च यस्यां दिशि कार्यारम्भाभिमुखं **कर्मणा यत्रोत्तरसंयोगो जनयितव्यः, तां दिशमपेक्ष्य,** कार्याकार्यविभागान् **हस्तकार्यस्य शरीरस्याकार्याणामाकाशादिदेशानां विभागानारभन्ते । यतः कुड्यादिदेशाद्धस्तस्य विभागः, ततः शरीरस्यापि विभागो दृश्यते । न चायं शरीरक्रियाकार्यः,**

द्वारा प्रश्न किया गया है । 'यदा' इत्यादि सन्दर्भ से उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं । हाथ में जिस किसी कारण से उत्पन्न हुई क्रिया शरीर के अवयवों में विभागों को उत्पन्न न कर, जिस समय हाथ में आकाशादि (पूर्व) देशों के साथ विभागों को उत्पन्न कर, उत्तर प्रदेशों के साथ हाथ के संयोग का उत्पादन करती है, उस समय के वे (हाथ का आकाशादि पूर्वदेशों से) विभाग 'कारणाकारणविभाग' है, अर्थात् शरीर के 'कारण' हाथ और 'अकारणीभूत' आकाशादि प्रदेश, इन दोनों के विभाग हैं । क्रिया जिस दिशा में कार्य को उत्पन्न करने को उत्सुक रहती है, अर्थात् क्रिया से जिस देश में उत्तर संयोग उत्पन्न होता है, उस दिशा के साहाय्य से ही क्रिया, कार्य और अकार्य के, अर्थात् हाथ के कार्य शरीर का उसके अकार्य आकाशादि प्रदेशों के साथ विभागों को उत्पन्न करती है । चूँकि दीवाल प्रभृति देशों से हाथ का विभाग होने पर

न्यायकन्दली

तदानीं शरीरस्य निष्क्रियत्वात् । नापि हस्तक्रियाकार्यो भवितुमर्हति, व्यधिकरणस्य कर्मणो विभागहेतुत्वादर्शनात् । अतः कारणाकारणविभागस्तस्य कारणमिति कल्प्यते । आकाशादावित्यादिपदं समस्तविभुद्रव्यावरोधार्थम् । अत एव विभागानिति बहुवचनम्, तद्विभागानां बहुत्वात् ।

अत्राहुरेके—कुड्यादिदेशाद्धस्तशरीरविभागयोर्युगपद्भावप्रतीतेस्तयोः कार्यकारणभावाभिधानं प्रत्यक्षविरुद्धमिति । तदसङ्गतम्, हस्तविभागकाले शरीरविभागोत्पत्तिकारणाभावात् । न चासति कारणे कार्योत्पत्तिरस्ति, हस्तक्रिया च न कारणमित्युक्तम् । तस्मात् तयोर्युगपदभिमानो भ्रान्तः ।

अनुमानगम्यः क्रमभावः, प्रत्यक्षसिद्धं च यौगपद्यम्, प्रत्यक्षे च परिपन्थिन्यनुमानस्योत्पत्तिरेव नास्ति, अबाधितविषयत्वाभावात् । कथं तदनुरोधात् प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वमिति चेत् ? उत्पलपत्रशतव्यतिभेदेऽपि कुतोऽनुमानप्रवृत्तिः ? प्रत्यक्षविरोधात् । अथ मन्यसे तत्र प्रत्यक्षविरोधादनुमानं नोदेति, यत्रानेन

शरीर का भी उससे विभाग देखा जाता है । यह (शरीर और दीवाल का विभाग शरीर की) क्रिया से उत्पन्न नहीं होता है; क्योंकि शरीर उस समय निष्क्रिय रहता है । हाथ की क्रिया से वह (शरीर और दीवाल का) विभाग उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि एक आश्रय में रहनेवाली क्रिया से उस आश्रयरूप देश से भिन्न देशों में विभाग की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है । अतः यह कल्पना करते हैं कि (शरीर के) कारण हाथ और अकारणीभूत प्रदेशों का विभाग ही उस विभाग का कारण है । 'आकाशादि' शब्द में प्रयुक्त 'आदि' शब्द सभी विभु द्रव्यों का संग्राहक है । इसी कारण 'विभागान्' यह बहुवचनान्त प्रयोग भी है; क्योंकि उनके विभाग भी बहुत हैं ।

इस प्रसङ्ग में कोई कहते हैं कि (प्र.) दीवाल प्रभृति देशों की, हाथ और शरीर दोनों के साथ, दोनों विभागों की प्रतीति एक ही समय होती है । अतः उन दोनों विभागों में से एक को कारण मानना और दूसरे को कार्य मानना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है । (उ.) किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि जिस समय दीवाल से हाथ का विभाग उत्पन्न होता है, उस समय दीवाल से शरीर के विभाग की उत्पत्ति होने का कारण नहीं रहता है । कारणों के न रहने से कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । पहले कह चुके हैं कि हाथ की क्रिया उस (दीवाल और शरीर के विभाग) का कारण नहीं है । अतः यह कहना भ्रान्त, अभिमान (मूलक) ही है कि हाथ एवं शरीर दोनों से (दीवाल प्रभृति के) एक ही समय दो विभाग उत्पन्न होते हैं ।

(प्र.) उक्त दोनों विभागों का एक समय में उत्पन्न होना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है एवं उन दोनों विभागों का क्रमशः उत्पन्न होना अनुमान से सिद्ध होता है । प्रत्यक्ष से विरुद्ध अनुमान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि अनुमान के विषय का प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित न होना आवश्यक है । तो फिर अयौगपद्य के अनुमान से यौगपद्य के प्रत्यक्ष

न्यायकन्दली

विषयस्य बाधो निश्चितः स्यात् । इह त्वसौ सन्दिग्धः, पत्रशतव्यति-भेदस्याशुभावित्वेनापि निमित्तेन यौगपद्यग्राहकस्य प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तेः सम्भवात् । अस्ति च सर्वलोकप्रसिद्धम् 'अतिदृढमव्यवहिता सूची भिनत्ति, न व्यवहितम्' इति व्याप्तिग्राहकं प्रमाणम् । अतस्तत्सामर्थ्यात् प्रत्यक्षे सम्भवत्यपि भवत्यनुमानस्योदय इति । एवं चेदत्र व्यधिकरणा क्रिया विभागं न करोतीति व्याप्तिग्राहकस्य प्रमाणस्यातिदृढत्वात् प्रत्यक्षस्य चान्यथाप्युपपत्तेः सुस्थितं क्रमानुमानम् । अत एव चानेन प्रत्यक्षस्य बाधः । इदं हि सविषयम् । निर्विषयं च प्रत्यक्षम्, आशुभावित्वमात्रेण प्रवृत्तेः । यच्च सविषयं तत् तथात्वेनावस्थितस्य विषयस्य साहाय्यप्राप्त्या सबलम्, दुर्बलं च निर्विषयम-सहायत्वात् । व्याप्तिग्राहकेणैव प्रत्यक्षेण हि बाधो यदनुमानेन प्रत्यक्षस्य बाधः । तथा च दिङ्मोहादिष्वनुमानमेव बलवदिति मन्यन्ते वृद्धाः 'भवति वै प्रत्यक्षादप्यनुमानं बलीयः' इति वदन्तः । वह्नावुष्णत्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य तु नान्यथोपपत्तिरस्तीति

का भ्रान्तिरूप होना किस प्रकार सम्भव है ? । (उ.) तो फिर 'कमल के सौ पत्तों का छेदन क्रमशः ही होता है' इस क्रमानुमान की निष्पत्ति किस प्रकार होगी ? क्योंकि वहाँ भी तो प्रत्यक्ष का विरोध है । अगर यह मानें कि (प्र.) वहीं प्रत्यक्ष के विरोध से अनुमान की प्रवृत्ति रोकी जाती है, जहाँ उनके विषय का प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित होना निश्चित हो । अनुमान के विषय कमल के पत्तों के क्रमशः छेदन का प्रत्यक्ष के द्वारा बाध सन्दिग्ध है; क्योंकि सौ पत्तों का छेदन अतिशीघ्रता से क्रमशः होने से भी यौगपद्य (एक ही समय उत्पन्न होने) के ग्राहक प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो सकती है । 'सूई अगर किसी से व्यवहित न रहे, तो अतिदृढ़ वस्तु का भी भेदन करती है एवं व्यवहित होने पर नहीं' यह सर्वजनीन अनुभव ही (उक्त क्रमानुमान के कारणीभूत) व्याप्ति का निश्चायक है । अतः इस व्याप्ति के बल से विरोधी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति रहने पर भी अनुमान का उदय होता है । (उ.) तो फिर प्रकृत में भी 'एक अधिकरण में रहनेवाली क्रिया दूसरे अधिकरण में विभाग को उत्पन्न नहीं करती है' व्याप्ति का यह प्रमाण अत्यन्त दृढ़ है । एवं उक्त यौगपद्य प्रत्यक्ष की उपपत्ति और प्रकार से भी हो सकती है । अतः (दीवाल से हाथ का विभाग एवं दीवाल से शरीर का विभाग इन दोनों के) क्रमशः होने का अनुमान सुस्थिर है । अतएव इस अनुमान से प्रत्यक्ष का बाध होता है; क्योंकि यह (अनुमान) सविषयक (यथार्थ) है और प्रत्यक्ष निर्विषयक (भ्रम) है । केवल दोनों के अतिशीघ्रता से उत्पन्न होने के कारण ही यौगपद्य में प्रवृत्ति है । सविषयक (यथार्थ) ज्ञान उस (ज्ञान के द्वारा प्रकाशित) रूप से यथार्थतः विद्यमान वस्तु की सहायता प्राप्त होने के कारण बलवान् है । निर्विषयक (अयथार्थ) ज्ञान उससे दुर्बल है; क्योंकि वह असहाय है । अनुमान से प्रत्यक्ष का यह बाध वस्तुतः व्याप्ति के ग्राहक प्रत्यक्ष के द्वारा ही किया जाता है । अतएव 'कहीं

न्यायकन्दली

तेनावधारिते विषयस्य बाधे नास्त्यनुमानस्य प्रवृत्तिः । किमर्थं पुनर्ज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावः कल्प्यते, समाने विषये तयोर्विरोधात् । एकमेव तद्वस्तु किञ्चिद्रजतमित्येवं बोधयति शुक्तिकेयमिति चापरम् । शुक्तिकात्वरजतत्वयोश्च नैकत्र सम्भवः, सर्वदा तयोः परस्परपरिहारेणावस्थानोपलम्भात् । अतो विषयविरोधात् तद्विज्ञानयोरपि विरोधे सति बाध्यबाधकभावकल्पनम् ।

को बाधः ? विषयापहारः । ननु रजतज्ञानावभासितो धर्मी तावदुत्पन्नेऽपि ज्ञानान्तरे तदवस्थ एव प्रतिभाति, रजतत्वं नास्त्येव, किमपह्रियते ? सम्बन्धवियोजनस्यापहारार्थत्वात् । विज्ञाने प्रतिभातं तदिति चेत् ? सत्यं प्रतिभातं न तु प्रतिभातं शक्यापहारम्, भूतत्वादेव । न हि प्रतिभासितोऽर्थोऽप्रतिभासितो भवति, वस्तुवृत्त्या रजतमविद्यमानमपि ज्ञानेन विद्यमानवदुपदर्शितम् । तस्य

अनुमान से भी प्रत्यक्ष दुर्बल होता है' यह कहते हुए वृद्ध लोग दिग्भ्रम स्थल में प्रत्यक्ष से अनुमान को ही बलवान् मानते हैं । वह्नि में उष्णत्व के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुमान को दुर्बल मानते हैं । चूँकि वह्नि में उष्णत्व के ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण की किसी और प्रकार से उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः प्रत्यक्ष से निश्चित उष्णत्व रूप विषय का बाध रहने के कारण (वह्नि में अनुष्णत्वविषयक) अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है । (प्र.) यह कल्पना ही क्यों करते हैं कि एक ज्ञान बाध्य है और दूसरा बाधक ? (उ.) चूँकि समान विषय के दो ज्ञानों में विरोध रहता है । एक ही वस्तु को कोई रजत समझता है, कोई सीप; किन्तु शुक्तिकात्व और रजतत्व दोनों एक आश्रय में नहीं रह सकते; क्योंकि दोनों की प्रतीति बराबर एक को छोड़कर ही होती है (कभी समानाधिकरण रूप से नहीं), अतः दोनों विषयों में विरोध (सहानवस्थान) के कारण दोनों के ज्ञानों में भी विरोध होता है। इसी से एक में बाधकत्व और दूसरे में बाध्यत्व की कल्पना भी की जाती है ।

(प्र.) बाध कौन-सी वस्तु है ? (उ.) विषयों का अपहरण ही ज्ञानों का बाध है। (प्र.) (शुक्तिका में) 'यह रजत है' इस आकार के ज्ञान से प्रकाशित होनेवाला शुक्तिकारूप धर्मी, शुक्तिका में 'यह शुक्तिका है' इस आकार के बाधक ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी ज्यों का त्यों प्रतिभासित होता है और रजतत्व तो शुक्तिका में है ही नहीं, तो फिर ('यह शुक्तिका है, रजत नहीं' इत्यादि आकार के) बाधक ज्ञान किन विषयों का अपहरण करते हैं ? (उ.) बाधक ज्ञान से (ज्ञान में भासित होनेवाले धर्मी और धर्म के) सम्बन्ध का अपहरण होता है । (प्र.) वह (सम्बन्ध) भी तो (शुक्तिका में 'यह रजत है' इस) विज्ञान में प्रतिभासित है ही । (उ.) अवश्य ही सम्बन्ध भी उक्त ज्ञान में प्रतिभासित होता है; क्योंकि प्रतिभान (ज्ञान) का तो अपहरण हो नहीं सकता; क्योंकि ज्ञान की यथार्थ में सत्ता है ।

न्यायकन्दली

ज्ञानप्रसञ्जितस्य साक्षाद्विरोधिप्रतिपादनमेव वियोजनमिति चेद्रजताभावे प्रतिपादिते रजतज्ञानस्य का क्षतिरभूत् ? न ह्यस्य रजतस्थितिकरणे व्यापारः, अपि त्वस्य प्रकाशने, तच्चानेन जायमानेन कृतमिति पर्यवसितमिदं किं बाध्यते ? रजताभावप्रतीतौ पूर्वोपजातस्य रजतज्ञानस्य अयथार्थतास्वरूपं प्रतीयत इत्येषा क्षतिरभूत् ।

नन्वेवं फलापहार एव बाधः, अयथार्थतावगमे सति ज्ञानस्य व्यवहारानङ्गत्वात् । मैवम् । फलापहारस्य विषयापहारनान्तरीयकत्वात् । न तावज् ज्ञानस्य सर्वत्र फलनिष्ठता, तस्य पुरुषेच्छाधीनस्यानुपजननेऽप्युपेक्षासंवित्तेः पर्यवसानात् । यत्रापि फलार्थिता, तत्रापि फलस्य विषयप्रतिबद्धत्वाद्विषयस्य ज्ञानप्रतिबद्धत्वाद्विषयापहार एव ज्ञानस्य बाधो न फलापहारः, तस्य विषयापहारनान्तरीयकत्वादिति कृतं ग्रन्थविस्तरेण संग्रहटीकायाम् ।

विभागजविभागानन्तरभावित्वात् पूर्वं प्रतिज्ञातं चिरोत्पन्नस्य च संयोगजसंयोगं प्रतिपादयति–तदनन्तरमिति । **तस्माद्विभागजविभागादनन्तरं शरीर-**

प्रतिभासित विषय अप्रतिभासित नहीं हो सकते । (प्र.) वस्तुओं के स्वभाव के कारण (शुक्तिका स्थल में) अविद्यमान रजत भी शुक्तिका के अधिकरण में (इदं रजतम्) इस ज्ञान के द्वारा विद्यमान के समान दिखाई देता है । अगर ज्ञान से उत्थापित रजत के साक्षात् विरोध के प्रतिपादन को ही उक्त 'विरोध' कहें, तो फिर शुक्तिका के अधिकरण में रजत का अभाव प्रतिपादित होने पर भी उक्त (भ्रमात्मक) रजतज्ञान की क्या क्षति हुई? इस ज्ञान का इतना ही काम है कि वह रजत को प्रकाशित करे, रजत की स्थिति का ज्ञान उसका काम नहीं है । रजत के प्रकाशन का अपना काम तो उसने उत्पन्न होते ही कर दिया है, तो फिर उस ज्ञान से बाध किसका होता है ? (उ.) रजत के अभाव की प्रतीति होने पर पहले (शुक्तिका के अधिकरण में रजत के) ज्ञान में जो अयथार्थत्व की प्रतीति होती है, बाधक ज्ञान से बाध्यज्ञान की यही क्षति है ।

(प्र.) इस प्रकार तो 'फल' का अपहरण ही बाध है; क्योंकि अयथार्थता का ज्ञान होने पर, वह ज्ञान फिर उस व्यवहार का अङ्ग नहीं रह जाता । (उ.) ऐसी बात नहीं है; क्योंकि विषयापहरण के विना फल का अपहरण हो ही नहीं सकता । सभी जगह ज्ञान 'फलनिष्ठ' अर्थात् फल का उत्पादक नहीं होता; क्योंकि पुरुष की इच्छा के अनुसार फल की उत्पत्ति न होने पर वह (ज्ञान) उपेक्षाज्ञान में परिणत हो जाता है । जहाँ पर ज्ञान फल का उत्पादक होता भी है, वहाँ भी फल का सम्बन्ध विषय के साथ ही रहता है और विषय का सम्बन्ध ज्ञान के साथ रहता है, अतः विषय का अपहरण ही बाध है, फल का अपहरण नहीं; क्योंकि फल का अपहरण विषय के अपहरण के साथ नियमित है । (इससे अधिक) संग्रह-रूप टीका-ग्रन्थ में विस्तार करना व्यर्थ है ।

विभागज विभाग के बाद उत्पन्न होने के कारण एवं पूर्व में प्रतिज्ञात होने के कारण चिरकाल से उत्पन्न द्रव्यों के संयोगज संयोग का प्रतिपादन 'तदनन्तरम्' इत्यादि

न्यायकन्दली

ज्ञानप्रसञ्जितस्य साक्षाद्विरोधिप्रतिपादनमेव वियोजनमिति चेद्रजताभावे प्रतिपादिते रजतज्ञानस्य का क्षतिरभूत् ? न ह्यस्य रजतस्थितिकरणे व्यापारः, अपि त्वस्य प्रकाशने, तच्चानेन जायमानेन कृतमिति पर्यवसितमिदं किं बाध्यते ? रजताभावप्रतीतौ पूर्वोपजातस्य रजतज्ञानस्य अयथार्थतास्वरूपं प्रतीयत इत्येषा क्षतिरभूत् ।

नन्वेवं फलापहार एव बाधः, अयथार्थतावगमे सति ज्ञानस्य व्यवहारानङ्गत्वात् । मैवम् । फलापहारस्य विषयापहारनान्तरीयकत्वात् । न तावज् ज्ञानस्य सर्वत्र फलनिष्ठता, तस्य पुरुषेच्छाधीनस्यानुपजननेऽप्युपेक्षासंवित्तेः पर्यवसानात् । यत्रापि फलार्थिता, तत्रापि फलस्य विषयप्रतिबद्धत्वाद्विषयस्य ज्ञानप्रतिबद्धत्वाद्विषयापहार एव ज्ञानस्य बाधो न फलापहारः, तस्य विषयापहारनान्तरीयकत्वादिति कृतं ग्रन्थविस्तरेण संग्रहटीकायाम् ।

विभागजविभागानन्तरभावित्वात् पूर्वं प्रतिज्ञातं चिरोत्पन्नस्य च संयोगजसंयोगं प्रतिपादयति—तदनन्तरमिति । **तस्माद्विभागजविभागादनन्तरं शरीर-**

प्रतिभासित विषय अप्रतिभासित नहीं हो सकते । (प्र.) वस्तुओं के स्वभाव के कारण (शुक्तिका स्थल में) अविद्यमान रजत भी शुक्तिका के अधिकरण में (इदं रजतम्) इस ज्ञान के द्वारा विद्यमान के समान दिखाई देता है । अगर ज्ञान से उत्थापित रजत के साक्षात् विरोध के प्रतिपादन को ही उक्त 'विरोध' कहें, तो फिर शुक्तिका के अधिकरण में रजत का अभाव प्रतिपादित होने पर भी उक्त (भ्रमात्मक) रजतज्ञान की क्या क्षति हुई? इस ज्ञान का इतना ही काम है कि वह रजत को प्रकाशित करे, रजत की स्थिति का ज्ञान उसका काम नहीं है । रजत के प्रकाशन का अपना काम तो उसने उत्पन्न होते ही कर दिया है, तो फिर उस ज्ञान से बाध किसका होता है ? (उ.) रजत के अभाव की प्रतीति होने पर पहले (शुक्तिका के अधिकरण में रजत के) ज्ञान में जो अयथार्थत्व की प्रतीति होती है, बाधक ज्ञान से बाध्यज्ञान की यही क्षति है ।

(प्र.) इस प्रकार तो 'फल' का अपहरण ही बाध है; क्योंकि अयथार्थता का ज्ञान होने पर, वह ज्ञान फिर उस व्यवहार का अङ्ग नहीं रह जाता । (उ.) ऐसी बात नहीं है; क्योंकि विषयापहरण के विना फल का अपहरण हो ही नहीं सकता । सभी जगह ज्ञान 'फलनिष्ठ' अर्थात् फल का उत्पादक नहीं होता; क्योंकि पुरुष की इच्छा के अनुसार फल की उत्पत्ति न होने पर वह (ज्ञान) उपेक्षाज्ञान में परिणत हो जाता है । जहाँ पर ज्ञान फल का उत्पादक होता भी है, वहाँ भी फल का सम्बन्ध विषय के साथ ही रहता है और विषय का सम्बन्ध ज्ञान के साथ रहता है, अतः विषय का अपहरण ही बाध है, फल का अपहरण नहीं; क्योंकि फल का अपहरण विषय के अपहरण के साथ नियमित है । (इससे अधिक) संग्रह-रूप टीका-ग्रन्थ में विस्तार करना व्यर्थ है ।

विभागज विभाग के बाद उत्पन्न होने के कारण एवं पूर्व में प्रतिज्ञात होने के कारण चिरकाल से उत्पन्न द्रव्यों के संयोगज संयोग का प्रतिपादन 'तदनन्तरम्' इत्यादि

प्रशस्तपादभाष्यम्

यदि कारणविभागानन्तरं कार्यविभागोत्पत्तिः, कारणसंयोगानन्तरं कार्यसंयोगोत्पत्तिः । नन्वेवमवयवावयविनोर्युतसिद्धिदोषप्रसङ्ग इति । न, युतसिद्ध्यपरिज्ञानात् । सा पुनर्द्वयो-

(प्र.) अगर कारण विभाग की उत्पत्ति के बाद कार्य विभाग की उत्पत्ति होती है एवं कारण संयोग के बाद कार्य संयोग की उत्पत्ति होती है, तो फिर अवयव और अवयवी के युतसिद्धि की आपत्ति होगी ? (उ.) (यह आपत्ति) नहीं है, युतसिद्धि को न समझने के कारण ही (आपने उक्त आपत्ति दी है)

न्यायकन्दली

कारणस्य हस्तस्याकारणानामाकाशादिदेशानां संयोगात् कर्मजाद् हस्तकार्यस्य शरीरस्य निष्क्रियस्याकार्याणामाकाशादिदेशानां संयोगानारभन्ते न हस्तक्रिया, तस्याः स्वाश्रयस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुत्वात् । इतिशब्दः प्रक्रमसमाप्तौ ।

अत्र चोदयति—यदीति । **कारणस्य हस्तस्य विभागानन्तरं यदि कार्यस्य शरीरस्य विभागस्तथा कारणस्य संयोगानन्तरं कार्यस्य संयोगो न तत्समकालम् । नन्वेवं सत्यवयवावयविनोर्युतसिद्धिः, पृथक्सिद्धिः परस्परस्वातन्त्र्यं स्यात् । एतदुक्तं भवति । यदि हस्ताश्रितं शरीरं तदा हस्ते गच्छति तदपि सहैव गच्छेत्, तथा सति च संयोगविभागक्रमो न स्यात्, क्रमेण चेदनयोः संयोगविभागौ न तदा हस्तगमने शरीरस्य गमनमिति तस्य स्वातन्त्र्यप्रसक्तिः ।**

ग्रन्थ से किया जाता है । (तत्) 'तस्मात्' अर्थात् विभागज विभाग के बाद, शरीर के (समवायि) कारणीभूत सक्रिय हाथ का आकाशादि देशों के साथ (कर्मज) संयोग से ही हाथ के कार्य शरीर का (हाथ के) अकार्य आकाशादि देशों के साथ संयोग उत्पन्न होता है, क्रिया से नहीं; क्योंकि क्रिया अपने आश्रय का किसी दूसरे के साथ संयोग का ही कारण हो सकती है । यहाँ भी 'इति' शब्द प्रसङ्ग की समाप्ति का ही बोधक है ।

'यदि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा फिर से प्रश्न करते हैं कि अगर 'कारण' अर्थात् हाथ के विभाग के बाद 'कार्य' का अर्थात् शरीर का विभाग मानें एवं कारण (हाथ) के संयोग के बाद कार्य (शरीर) का संयोग मानें (अर्थात् एक ही समय कार्य और कारण के दूसरे देशों के साथ संयोग या विभाग न मानें, क्रमशः ही मानें), तो फिर अवयव और अवयवी इन दोनों की युतसिद्धि अर्थात् अलग-अलग सिद्धियाँ माननी होंगी, फलतः दोनों की स्वतन्त्रता की आपत्ति होगी । अभिप्राय यह है कि अगर शरीर हाथ में आश्रित है, तो फिर हाथ के चलने पर शरीर भी उसके साथ ही चले; किन्तु तब संयोग और विभाग का कथित क्रम ठीक नहीं होगा । अर्थात् इनमें अगर क्रमशः संयोग और विभाग हो, तो फिर हाथ के चलने से शरीर का

प्रशस्तपादभाष्यम्

रन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वमियन्तु नित्यानाम्, अनित्यानां तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति । त्वगिन्द्रियशरीरयोः पृथग्गति-मत्त्वं नास्ति, युतेष्वाश्रयेषु समवायोऽस्तीति परस्परेण संयोगः

दोनों में से एक की गतिशीलता नित्यों की युतसिद्धि है। पृथक् आश्रयों में समवाय का रहना अनित्यों की युतसिद्धि है। त्वगिन्द्रिय और शरीर दोनों यद्यपि स्वतन्त्र रूप से गतिशील नहीं हैं, फिर भी दोनों भिन्न आश्रयों में रहते हैं, अतः सिद्ध होता है कि शरीर और त्वगिन्द्रिय में संयोग (ही)

न्यायकन्दली

परिहरति—नेति । युतसिद्धिप्रसङ्ग इति न, कुतः ? युतसिद्धेरपरिज्ञानात् **। यादृशं युतसिद्धेर्लक्षणं तादृशं त्वया न ज्ञातमित्यर्थः । कीदृशं तस्या लक्षणं तत्राह—**सा पुनर्द्वयोरिति । **द्वयोरेकस्य वा परस्परसंयोगविभागहेतुभूतकर्मसमवाययोग्यता युतसिद्धिः । द्वयोः परमाण्वोः पृथग्गमनमाकाशपरमाण्वोश्चान्यतरस्य पृथग्गमनमियं तु नित्यानाम् । तुशब्दोऽवधारणे, नित्यानामित्यस्मात् परो द्रष्टव्यः, नित्यानामेवेयं युतसिद्धिरित्यर्थः । अनित्यानां तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिः । द्वयोरन्यतरस्य वा परस्परपरिहारेणान्यत्राश्रये समवायो युतसिद्धिरनित्यानां द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं समवायः । शकुन्याकाशयो-**

चलना सिद्ध नहीं होगा, इस प्रकार अवयव और अवयवी दोनों में (युतसिद्धि रूप) स्वतन्त्रता की आपत्ति होगी।

'न' इत्यादि से इसका परिहार करते हैं। अर्थात् 'युतसिद्धि' की जो आपत्ति दी गई है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि (आपत्ति देनेवाले को) 'युतसिद्धि' का यथार्थज्ञान नहीं है। अर्थात् युतसिद्धि का जो लक्षण है, उसका तुम्हें ज्ञान ही नहीं है। युतसिद्धि का क्या लक्षण है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'सा पुनर्द्वयोः' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है। अर्थात् परस्पर के संयोग और विभाग के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में या दोनों में से एक में, उक्त संयोग और विभाग के कारणीभूत क्रिया के समवाय की योग्यता ही 'युतसिद्धि' है। द्व्यणुक समवाय के दोनों ही अनुयोगी (दोनों ही परमाणु) गतिशील हैं, आकाश और परमाणु इन दोनों में से एक गतिशील है। यह नित्यों की युतसिद्धि है। अतः दोनों परमाणुवों में या परमाणु और आकाश में संयोग ही होते हैं, समवाय नहीं (क्योंकि समवाय अयुतसिद्धों में ही होता है)। 'तु' शब्द अवधारण का बोधक है। अर्थात् युतसिद्धि का कथित लक्षण नित्य के युतसिद्ध का ही है। अनित्य युतसिद्धों के लिए युतसिद्धि का दूसरा लक्षण खोजना चाहिए। 'युत' आश्रयों में समवाय ही अनित्यों की युतसिद्धि है। अर्थात् दोनों का, अथवा दोनों में से एक का परस्पर एक को छोड़कर दूसरे आश्रय में समवाय ही (अनित्यों की) युतसिद्धि है। फलतः दोनों का अथवा दोनों में से एक का पृथक् आश्रयाश्रयित्व,

प्रशस्तपादभाष्यम्

सिद्धः । अण्वाकाशयोस्त्वाश्रयान्तराभावेऽप्यन्यतरस्य पृथग्गतिमत्त्वात् संयोगविभागौ सिद्धौ । तन्तुपटयोरनित्ययोराश्रयान्तरा-

है (समवाय नहीं) । परमाणु और आकाश इन दोनों में से कोई भी पृथक् आश्रय में नहीं रहता (क्योंकि दोनों का कोई आश्रय ही नहीं है), फिर भी दोनों में से एक (परमाणु) में स्वतन्त्र गति है, अतः आकाश और परमाणु इन दोनों में संयोग की सिद्धि (और संयोगसिद्धि के कारण ही) विभाग की भी सिद्धि समझनी चाहिए । चूँकि अनित्य

न्यायकन्दली

श्चान्यतरस्य शकुनेः पृथगाश्रयाश्रयित्वम् । यद्यप्यन्यतरस्य पृथग्गमनमप्यस्ति, तथापि तस्य पृथग्गमनस्य ग्रहणं तस्य नित्यविषयत्वेन व्याख्यानात् ।

अनित्यानामपि पृथग्गमनमेव युतसिद्धिः किं नोच्यते ? तदाह—त्वगिन्द्रियशरीरयोः पृथग्गमनं नास्ति, युतेष्वाश्रयेषु समवायोऽस्तीति परस्परेण संयोगः सिद्धः । **यदि त्वनित्यानामपि पृथग्गमनं युतसिद्धिरुच्यते, त्वगिन्द्रियशरीरयोः पृथग्गमनाभावादयुतसिद्धता स्यात् । ततश्च तयोः परस्परसंयोगो न प्राप्नोति, तस्य युतसिद्धचैव व्याप्तत्वात् । तस्मादनित्यानां न पृथग्गमनं युतसिद्धिरित्यर्थः । आश्रयाभावादेव पृथगाश्रयाश्रयित्वं नित्येषु नास्ति । तेषां च पृथग्गतिमत्वात् पस्परसंयोगविभागौ सिद्धौ, तेनैषां पृथग्गमनमेव युतसिद्धिरित्यभिप्रायेणाह**—अण्वाकाशयोस्त्वाश्रयान्तराभावेऽप्यन्यतरस्य पृथग्गति-

अर्थात् समवाय ही अनित्यों की 'युतसिद्धि' है । बाज पक्षी और आकाश इन दोनों में से एक में (बाज पक्षी में) पृथक् 'आश्रयाश्रयित्व' है । यद्यपि दोनों में से एक (बाज पक्षी) में पृथक् गतिशीलता भी है; किन्तु उस पृथक् गमन का यहाँ ग्रहण नहीं है; क्योंकि नित्यों की युतसिद्धि के लिए उसका उपादान किया गया है ।

(प्र.) पृथक् गमन-शीलता को ही अनित्यों की भी युतसिद्धि का लक्षण क्यों नहीं मानते ? इसी प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि त्वगिन्द्रिय और शरीर ये दोनों यद्यपि स्वतन्त्र रूप से गतिशील हैं, फिर भी युत आश्रयों में इन दोनों का समवाय है, अतः सिद्ध होता है कि दोनों में संयोग ही है (अयुतसिद्धों में रहनेवाला समवाय नहीं) । अभिप्राय यह है कि अनित्यों की युतसिद्धि भी अगर 'पृथग् गमन' रूप ही कही जाय, तो त्वगिन्द्रिय और शरीर इन दोनों में से किसी में भी पृथक् गतिशीलता न रहने के कारण वे दोनों भी अयुतसिद्ध होंगे । इससे उन दोनों में संयोग असम्भव हो जाएगा; क्योंकि यह नियम है कि संयोग युतसिद्धों में ही होता है । अतः 'पृथग् गमनशीलत्व' अनित्यों की युतसिद्धि नहीं है । नित्य द्रव्यों का कोई आश्रय नहीं होता, अतः 'पृथगाश्रयाश्रयित्व' नित्यों की युतसिद्धि नहीं हो सकती ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

भावात् परस्परतः संयोगविभागाभाव इति। दिगादीनां तु पृथग्गतिमत्त्वाभावादिति परस्परेण संयोगविभागाभाव इति ।

तन्तु और अनित्य पट के अलग से स्वतन्त्र आश्रय नहीं रहते, अतः यह सिद्ध होता है कि इन दोनों में संयोग और (तन्मूलक) विभाग नहीं होते । दिगादि (विभु द्रव्यों में) स्वतन्त्र गति न रहने के कारण ही उनमें परस्पर संयोग और विभाग दोनों ही नहीं होते ।

न्यायकन्दली

मत्त्वात् संयोगविभागौ सिद्धाविति । **पूर्वमसत्यपि पृथग्गतिमत्त्वे त्वगिन्द्रियशरीरयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वे सति संयोगसम्भवादनित्यानां पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिर्न पृथग्गमनमित्युक्तम् ।**

सम्प्रत्येनमेवार्थं समर्थयितुं तन्तुपटयोरन्यतरस्य पृथग्गतिमत्त्वासम्भवेऽपि पृथगाश्रयत्वाभावात् संयोगविभागाभावं दर्शयति–तन्तुपटयोरित्यादिना । **विभूनां तु द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गमनाभावान्न परस्परेण संयोगः, नापि विभागः, तस्य संयोगपूर्वकत्वात्; किन्तु स्वरूपस्थितिमात्रमित्याह**–दिगादीनामिति । **एतावता सन्दर्भेणैतदुपपादितम्, हस्ते गच्छति शरीरं न गच्छतीति, एतावता न युतसिद्धिः । यदि तु हस्तशरीरयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं स्यात्, तदा भवेदनयोर्युतसिद्धता । तत्तु नास्ति, शरीरस्य हस्ते समवेतत्वात् ।**

अनित्य द्रव्य पृथक् गतिशील हैं एवं इनमें परस्पर संयोग और विभाग भी होते हैं । अतः पृथक् गमनशीलता ही अनित्यों की युतसिद्धि है । इसी अभिप्राय से 'अणु' इत्यादि सन्दर्भ लिखे गये हैं । अर्थात् परमाणु और आकाश इन दोनों का दूसरा कोई आश्रय न रहने पर भी चूँकि दोनों में से एक (अर्थात् परमाणु) स्वतन्त्र रूप से गतिशील है । अतः आकाश और परमाणु (दोनों के युतसिद्ध होने के कारण) इन दोनों में संयोग और विभाग की सिद्धि होती है । पहले पृथक् गति न रहने पर भी त्वगिन्द्रिय और शरीर में पृथगाश्रयाश्रयित्व के रहने के कारण दोनों में संयोग सम्भव होता है । इसीलिए कहा गया है कि पृथगाश्रयाश्रयित्व ही अनित्यों की युतसिद्धि है, पृथक् गमन नहीं ।

तन्तु और पट इन दोनों में से एक में पृथक् गति की सम्भावना न रहने पर भी, पृथक् आश्रयत्व के न रहने से ही दोनों में संयोग और विभाग नहीं होते, यही बात 'तन्तुपटयोः' इत्यादि सन्दर्भ से दिखलाया गया है । 'दिगादीनाम्' इत्यादि सन्दर्भ से यह प्रतिपादित हुआ है कि दो विभुद्रव्यों में या दो में से किसी एक विभुद्रव्य में भी पृथक् गति नहीं है । अतः दो विभुद्रव्यों में परस्पर संयोग नहीं होता । संयोग के न होने के कारण ही दोनों में विभाग भी नहीं होता; क्योंकि संयुक्तद्रव्यों में ही विभाग भी होता है । इन पङ्क्तियों के द्वारा यही कहा गया है कि हाथ के चलने पर भी शरीर नहीं चलता,

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशस्तु सर्वस्य विभागस्य क्षणिकत्वात्, उत्तरसंयोगावधि-सद्भावात् क्षणिक इति । न तु संयोगवद्वयोरेव विभागस्तयोरेव

चूँकि विभाग क्षणिक है, अतः उत्पत्ति के तृतीय क्षण में ही उसका विनाश हो जाता है । सभी विभाग क्षणिक इस हेतु से हैं कि उत्तर देश के साथ (विभाग के दोनों अवधि द्रव्यों के) संयोगपर्यन्त ही उनकी सत्ता रहती है । जिस प्रकार संयोग का विनाश उसके दोनों आश्रयों के विभाग से ही होता है, उसी प्रकार विभाग

न्यायकन्दली

विनाशस्तु सर्वस्य विभागस्य, क्षणिकत्वात् । **कर्मजस्य विभागजस्य च कारणवृत्तेः कारणाकारणवृत्तेश्च विभागस्य सर्वस्य क्षणिकत्वमाशुतरविनाशित्वं कुतः सिद्ध-मित्यत्राह**—उत्तरसंयोगावधिसद्भावादिति । **उत्तरसंयोगोऽवधिः सीमा, तस्य सद्भावात् क्षणिको विभागः । किमुक्तं स्यान्न विभागो निरवधिः; किन्त्वस्योत्तरसंयोगोऽवधिरस्ति, उत्तर-संयोगश्चानन्तरमेव जायते, तस्मादाशुविनाश्युत्तरसंयोगो विभागस्यावधिरित्येतदेव कुतस्त-त्राह**—न तु सयोगवदिति । **यथा संयोगः स्वाश्रययोरेव परस्परविभागाद्विनश्यति, नैवं विभागः**

इसलिए वे दोनों युतसिद्ध नहीं हो सकते, अगर हाथ और शरीर दोनों पृथगाश्रयाश्रयी होते तो वे दोनों युतसिद्ध होते, सो नहीं है, अतः हाथ में शरीर (अयुतसिद्ध होने के कारण) समवाय सम्बन्ध से है (हाथ और शरीर दोनों में संयोग सम्बन्ध नहीं है) ।

सभी विभाग के क्षणिक होने के कारण अपनी उत्पत्ति के तीसरे ही क्षण में विनष्ट हो जाते हैं । कारण (मात्र) में रहनेवाले एवं कारण और अकारण दोनों में रहनेवाले क्रिया से उत्पन्न और विभाग से उत्पन्न दोनों ही प्रकार के विभागों में क्षणिकत्व अर्थात् अतिशीघ्र विनष्ट होने का स्वभाव किस हेतु से है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'उत्तरसंयोगावधिसद्भावात्' इस वाक्य से दिया गया है । अर्थात् उत्तर संयोग ही उसकी अवधि अर्थात् सीमा है, इसी अवधि के कारण विभाग क्षणिक है । इससे क्या तात्पर्य निकला ? (यही कि) विभाग निरवधि (नित्य) नहीं है एवं उत्तर संयोग ही उसकी अवधि है; क्योंकि विभाग के बाद ही उत्तरसंयोग की उत्पत्ति होती है । अतः शीघ्रतर विनाशी उत्तरसंयोग ही उसकी अवधि है । (प्र.) यही (उत्तरदेश का संयोग) क्यों ? (विभाग का विनाशक है ? केवल अपने दोनों अवयवियों का संयोग ही क्यों नहीं विभाग का विनाशक है?) इसी प्रश्न का उत्तर 'न तु संयोगवत्' इत्यादि सन्दर्भ से दिया गया है । अर्थात्

प्रशस्तपादभाष्यम्

भावात् परस्परतः संयोगविभागाभाव इति। दिगादीनां तु पृथग्गतिमत्त्वाभावादिति परस्परेण संयोगविभागाभाव इति ।

तन्तु और अनित्य पट के अलग से स्वतन्त्र आश्रय नहीं रहते, अतः यह सिद्ध होता है कि इन दोनों में संयोग और (तन्मूलक) विभाग नहीं होते । दिगादि (विभु द्रव्यों में) स्वतन्त्र गति न रहने के कारण ही उनमें परस्पर संयोग और विभाग दोनों ही नहीं होते ।

न्यायकन्दली

मत्त्वात् संयोगविभागौ सिद्धाविति । **पूर्वमसत्यपि पृथग्गतिमत्त्वे त्वगिन्द्रियशरीरयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वे सति संयोगसम्भवादनित्यानां पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिर्न पृथग्गमनमित्युक्तम्** ।

सम्प्रत्येनमेवार्थं समर्थयितुं तन्तुपटयोरन्यतरस्य पृथग्गतिमत्त्वासम्भवेऽपि पृथगाश्रयत्वाभावात् संयोगविभागाभावं दर्शयति–तन्तुपटयोरित्यादिना । **विभूनां तु द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गमनाभावान्न परस्परेण संयोगः, नापि विभागः, तस्य संयोगपूर्वकत्वात्; किन्तु स्वरूपस्थितिमात्रमित्याह**–दिगादीनामिति । **एतावता सन्दर्भेणैतदुपपादितम्, हस्ते गच्छति शरीरं न गच्छतीति, एतावता न युतसिद्धिः । यदि तु हस्तशरीरयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं स्यात्, तदा भवेदनयोर्युतसिद्धता । तत्तु नास्ति, शरीरस्य हस्ते समवेतत्वात् ।**

अनित्य द्रव्य पृथक् गतिशील हैं एवं इनमें परस्पर संयोग और विभाग भी होते हैं । अतः पृथक् गमनशीलता ही अनित्यों की युतसिद्धि है । इसी अभिप्राय से 'अणु' इत्यादि सन्दर्भ लिखे गये हैं । अर्थात् परमाणु और आकाश इन दोनों का दूसरा कोई आश्रय न रहने पर भी चूँकि दोनों में से एक (अर्थात् परमाणु) स्वतन्त्र रूप से गतिशील है । अतः आकाश और परमाणु (दोनों के युतसिद्ध होने के कारण) इन दोनों में संयोग और विभाग की सिद्धि होती है । पहले पृथक् गति न रहने पर भी त्वगिन्द्रिय और शरीर में पृथगाश्रयाश्रयित्व के रहने के कारण दोनों में संयोग सम्भव होता है । इसीलिए कहा गया है कि पृथगाश्रयाश्रयित्व ही अनित्यों की युतसिद्धि है, पृथक् गमन नहीं ।

तन्तु और पट इन दोनों में से एक में पृथक् गति की सम्भावना न रहने पर भी, पृथक् आश्रयत्व के न रहने से ही दोनों में संयोग और विभाग नहीं होते, यही बात 'तन्तुपटयोः' इत्यादि सन्दर्भ से दिखलाया गया है । 'दिगादीनाम्' इत्यादि सन्दर्भ से यह प्रतिपादित हुआ है कि दो विभुद्रव्यों में या दो में से किसी एक विभुद्रव्य में भी पृथक् गति नहीं है । अतः दो विभुद्रव्यों में परस्पर संयोग नहीं होता । संयोग के न होने के कारण ही दोनों में विभाग भी नहीं होता; क्योंकि संयुक्तद्रव्यों में ही विभाग भी होता है । इन पङ्क्तियों के द्वारा यही कहा गया है कि हाथ के चलने पर भी शरीर नहीं चलता,

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशस्तु सर्वस्य विभागस्य क्षणिकत्वात्, उत्तरसंयोगावधि-सद्भावात् क्षणिक इति । न तु संयोगवद्वयोरेव विभागस्तयोरेव

चूँकि विभाग क्षणिक है, अतः उत्पत्ति के तृतीय क्षण में ही उसका विनाश हो जाता है । सभी विभाग क्षणिक इस हेतु से हैं कि उत्तर देश के साथ (विभाग के दोनों अवधि द्रव्यों के) संयोगपर्यन्त ही उनकी सत्ता रहती है । जिस प्रकार संयोग का विनाश उसके दोनों आश्रयों के विभाग से ही होता है, उसी प्रकार विभाग

न्यायकन्दली

विनाशस्तु सर्वस्य विभागस्य, क्षणिकत्वात् । **कर्मजस्य विभागजस्य च कारणवृत्तेः कारणाकारणवृत्तेश्च विभागस्य सर्वस्य क्षणिकत्वमाशुतरविनाशित्वं कुतः सिद्ध-मित्यत्राह**--उत्तरसंयोगावधिसद्भावादिति । **उत्तरसंयोगोऽवधिः सीमा, तस्य सद्भावात् क्षणिको विभागः । किमुक्तं स्यात्र विभागो निरवधिः; किन्त्वस्योत्तरसंयोगोऽवधिरस्ति, उत्तर-संयोगश्चानन्तरमेव जायते, तस्मादाशुविनाश्युत्तरसंयोगो विभागस्यावधिरित्येतदेव कुतस्त-त्राह**--न तु सयोगवदिति । **यथा संयोगः स्वाश्रययोरेव परस्परविभागाद्विनश्यति, नैवं विभागः**

इसलिए वे दोनों युतसिद्ध नहीं हो सकते, अगर हाथ और शरीर दोनों पृथगाश्रयाश्रयी होते तो वे दोनों युतसिद्ध होते, सो नहीं है, अतः हाथ में शरीर (अयुतसिद्ध होने के कारण) समवाय सम्बन्ध से है (हाथ और शरीर दोनों में संयोग सम्बन्ध नहीं है) ।

सभी विभाग के क्षणिक होने के कारण अपनी उत्पत्ति के तीसरे ही क्षण में विनष्ट हो जाते हैं । कारण (मात्र) में रहनेवाले एवं कारण और अकारण दोनों में रहनेवाले क्रिया से उत्पन्न और विभाग से उत्पन्न दोनों ही प्रकार के विभागों में क्षणिकत्व अर्थात् अतिशीघ्र विनष्ट होने का स्वभाव किस हेतु से है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'उत्तरसंयोगावधिसद्भावात्' इस वाक्य से दिया गया है । अर्थात् उत्तर संयोग ही उसकी अवधि अर्थात् सीमा है, इसी अवधि के कारण विभाग क्षणिक है । इससे क्या तात्पर्य निकला ? (यही कि) विभाग निरवधि (नित्य) नहीं है एवं उत्तर संयोग ही उसकी अवधि है; क्योंकि विभाग के बाद ही उत्तरसंयोग की उत्पत्ति होती है । अतः शीघ्रतर विनाशी उत्तरसंयोग ही उसकी अवधि है । (प्र.) यही (उत्तरदेश का संयोग) क्यों ? (विभाग का विनाशक है ? केवल अपने दोनों अवयवियों का संयोग ही क्यों नहीं विभाग का विनाशक है ?) इसी प्रश्न का उत्तर 'न तु संयोगवत्' इत्यादि सन्दर्भ से दिया गया है । अर्थात्

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगाद्विनाशो भवति । कस्मात् ? संयुक्तप्रत्ययवद्विभक्तप्रत्ययानुवृत्त्यभावात् । तस्मादुत्तरसंयोगावधिसद्भावात् क्षणिक इति ।

का विनाश विभाग की दोनों अवधियों के संयोग से ही नहीं होता; किन्तु विभाग के एक अवधि के उत्तर देश के साथ संयोग से भी होता है । (उत्तर संयोग होते ही विभाग का नाश हो जाता है; किन्तु) संयोग से युक्त दो द्रव्यों में 'ये दोनों संयुक्त हैं' इस प्रकार की प्रतीति की तरह विभक्त हो जानेवाले दो द्रव्यों में 'ये दोनों विभक्त हैं' इस आकार की प्रतीति चिरकाल तक नहीं होती । इससे सिद्ध होता है, उत्तर देश संयोग तक ही विभाग की सत्ता है, अतः विभाग क्षणिक है ।

न्यायकन्दली

स्वाश्रययोरेव परस्परसंयोगाद् विनश्यति; किन्तु स्वाश्रयस्यान्येनापि संयोगात् । तथा हि वृक्षस्य मूले पुरुषेण विभागस्तयोः परस्परसंयोगाद्विनश्यति, पुरुषस्य प्रदेशान्तरसंयोगाद्वा । एवं चेत् सिद्धमुत्तरसंयोगावधित्वं विभागस्य, तदारम्भकस्य कर्मणः स्वाश्रयस्य देशान्तरप्राप्तिमकृत्वा पर्यवसानाभावात् । नन्वेतदपि साध्यसमं संयोगमात्रेण विभागनिवृत्तिरिति ? तत्राह—संयुक्तप्रत्ययवदिति । **यथा संयुक्तप्रत्ययश्चिरमनुवर्तते, नैवं स्वाश्रयस्य देशान्तरसंयोगे भूते विभक्तप्रत्ययानुवृत्तिरस्ति । अतस्तस्य संयोगमात्रेणैव निवृत्तिः । उपसंहरति**—तस्मादिति ।

जिस प्रकार अपने आश्रयों के विभाग से ही संयोग का नाश होता है, उसी प्रकार विभाग का विनाश केवल अपने आश्रयों के संयोग से ही नहीं होता है; किन्तु अपने आश्रय का दूसरे देश के (उत्तरदेश के) साथ संयोग से भी (विभाग का) नाश होता है; क्योंकि वृक्ष के मूल के साथ पुरुष का विभाग, उन दोनों के परस्पर संयोग से विनष्ट होता है, अथवा पुरुष का दूसरे प्रदेश के साथ संयोग से भी (उक्त विभाग विनष्ट होता है) । अगर ऐसी बात है तो फिर यह सिद्ध है कि उत्तरदेश का संयोग ही विभाग की अवधि है । विभाग के आश्रय का दूसरे देश के साथ संयोग को उत्पन्न किये विना विभाग के कारणीभूत क्रिया का नाश नहीं होता, अतः यह सिद्ध होता है कि उत्तरदेश का संयोग विभाग की अवधि है । (प्र.) संयोग (की उत्पत्ति) होते ही विभाग का नाश हो जाता है, यह भी तो 'साध्यसम' ही है, अर्थात् सिद्ध नहीं है; किन्तु इसे भी सिद्ध ही करना है ? इसी आक्षेप के समाधान के लिए 'संयुक्तप्रत्ययवत्' यह वाक्य लिखा गया है । जिस प्रकार 'ये संयुक्त हैं' इत्यादि आकार के संयोगवैशिष्ट्य की प्रतीतियाँ चिरकाल तक रहती हैं, उसी प्रकार 'ये विभक्त हैं' इत्यादि आकार के विभागवैशिष्ट्य

प्रशस्तपादभाष्यम्

क्वचिच्चाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति । कथम् ? यदा द्वितन्तुककारणावयवे अंशौ कर्मोत्पन्नमंश्वन्तरात् विभागमारभते तदैव तन्त्वन्तरेऽपि कर्मोत्पद्यते, विभागाच्च तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः, तन्तु-कर्मणा तन्त्वन्तराद्र विभागः क्रियत इत्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव काले विभागात् तन्तुसंयोगविनाशः, तस्मिन्नेव काले संयोगविनाशात् तन्तुविनाशस्तस्मिन् विनष्टे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरविभागस्य विनाश

कहीं आश्रय के विनाश से भी विभाग का नाश होता है ।(प्र.) किस प्रकार ? (आश्रय के नाश से विभाग का नाश होता है ?) (उ.) (जहाँ) जिस समय दो तन्तुओं से बने हुए पट के कारणीभूत एक तन्तु के अवयवरूप एक अंशु में उत्पन्न हुई क्रिया दूसरे अंशु से विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय उक्त पट के अवयवरूप दूसरे तन्तु में भी क्रिया उत्पन्न होती है, इस विभाग से दोनों तन्तुओं के उत्पादक अंशुओं में रहनेवाले संयोग का नाश होता है । एवं तन्तु की क्रिया से इस तन्तु का दूसरे तन्तु से विभाग उत्पन्न होता है । इतने काम एक समय में होते हैं । इसके बाद जिस समय दोनों तन्तुओं के विभाग से (पट के आरम्भक दोनों) तन्तुओं के संयोग का नाश होता है, उसी समय (अंशुओं के) संयोग के विनाश से तन्तु का भी विनाश होता है । तन्तु का विनाश हो जाने पर उसमें

न्यायकन्दली

क्वचिदाश्रयविनाशादपि विनाशः । **कथमित्यज्ञस्य प्रश्नः । उत्तरम्—** यदेति । **द्वितन्तुककारणस्य तन्तोरवयवे अंशौ कर्मोत्पन्नमंश्वन्तरस्यांशोर्विभाग-मारभते यदा, तदैव तन्त्वन्तरेऽपि कर्म, विभागाच्चांशोस्तन्त्वारम्भकसंयोग-विनाशो यदा, तदा तन्तुकर्मणा तन्त्वन्तराद् विभागः क्रियत इत्येकः कालः ।**

की प्रतीतियाँ चिरकाल तक नहीं होती रहतीं, अतः संयोग से ही विभाग का नाश होता है । 'तस्मात्' इत्यादि वाक्य से इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं ।

'कहीं आश्रय के विनाश से भी (विभाग का) विनाश होता है' । 'कथम्' इत्यादि वाक्य से इस विषय में अनभिज्ञ का प्रश्न सूचित किया गया है और 'यदा' इत्यादि से इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है । जहाँ दो तन्तुओं से निष्पन्न पट के अवयविभूत एक तन्तु के समवायिकारण अंशु में उत्पन्न हुई क्रिया जिस समय उस अंशु के दूसरे अंशु से विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय दूसरे तन्तु में भी क्रिया

प्रशस्तपादभ्ष्यम्

इति । एवं तर्ह्युत्तरविभागानुत्पत्तिप्रसङ्गः, कारणविभागाभावात् । ततः प्रदेशान्तरसंयोगवति संयोगाभाव इत्यतो विरोधिगुणासम्भवात् ।

रहनेवाले दूसरे तन्तु के विभाग का विनाश होता है । इस प्रकार यहाँ आश्रय के विनाश से ही विभाग का विनाश होता है, उत्तर देश के संयोग से नहीं । (प्र.) अगर उक्त स्थल में उक्त प्रकार से आश्रय नाश के द्वारा ही विभाग का नाश मानें, तो फिर तन्तु का आकाशादि देशों के साथ जो (विभागज) विभाग उत्पन्न होता है, वह न हो सकेगा; क्योंकि इस

न्यायकन्दली

ततो यस्मिन् काले विभागात् तन्त्वोः संयोगविनाशः, तस्मिन्नेव कालेंऽश्वोः संयोगविनाशात् तदारब्धस्य तन्तोर्विनाशः, तस्मिंस्तन्तौ विनष्टे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरविभागस्य विनाशः, तदाऽऽश्रयविनाशः, कारणमन्यस्य विनाशहेतोरभावात् ।

अत्र पुनः प्रत्यवतिष्ठते–एवं तर्हीति । **द्वितन्तुकविनाशसमकालमेव तन्तुविभागस्य विनाशः । उत्तरो विभागः सक्रियस्य तन्तोराकाशादिदेशेन समं विभागजविभागेनोत्पद्यते, कारणस्य तन्त्वोर्विभागस्याभावात् । यद्युत्तरो विभागो न संवृत्तः, ततः किं तत्राह**–तत इति । **तत उत्तरविभागानुत्पादात् प्राक्तनस्य तन्त्वाकाशसंयोगस्य**

उत्पन्न होती है । जिस समय विभाग के द्वारा तन्तु के उत्पादक (दोनों अंशुओं के) संयोग का विनाश होता है । उसी समय एक तन्तु की क्रिया से उसका दूसरे तन्तु से विभाग भी उत्पन्न होता है । इतने काम एक समय में होते हैं । इसके बाद जिस समय विभाग से दोनों तन्तुओं के संयोग का नाश होता है, उसी समय विभागजनित दोनों अंशुओं के संयोग के नाश के द्वारा उन दोनों अंशुओं से उत्पन्न तन्तु का भी विनाश होता है । इसलिए (इस विभाग के विनाश का) आश्रयविनाश ही कारण है; क्योंकि किसी दूसरे कारण से उसके विनष्ट होने की सम्भावना नहीं है ।

'एवं तर्हि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इस प्रसङ्ग में फिर आक्षेप करते हैं । अगर दो तन्तुओं से निष्पन्न पट के विनाश के समय में ही तन्तुविभाग का भी विनाश हो जाता है, तो फिर उत्तरविभाग की अर्थात् क्रिया से युक्त तन्तु के आकाशादि देशों के साथ विभागज विभाग की उत्पत्ति न हो सकेगी; क्योंकि (इस विभागज विभाग के) कारण अर्थात् दोनों तन्तुओं का विभाग वहाँ नहीं है । (प्र.) अगर 'उत्तरविभाग' (अर्थात् उक्त विभागज विभाग) की उत्पत्ति न हो सकेगी तो क्या हानि होगी ? इसी प्रश्न के समाधान के लिए 'ततः' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । 'ततः' अर्थात् उत्तर विभाग की उत्पत्ति न होने के कारण, तन्तु

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्मणश्चिरकालावस्थायित्वं नित्यद्रव्यसमवेतस्य च नित्यत्वमिति दोषः । कथम् ? यदाप्यद्व्यणुकारम्भकपरमाणौ कर्मोत्पन्नमण्वन्तराद्

(विभागज) विभाग के कारणीभूत दोनों तन्तुओं का विभाग विनष्ट हो चुका है । इससे (१) जहाँ आश्रय के नाश से विभाग उत्पन्न होगा, उस विभाग के अवधिभूत अनित्य द्रव्य में रहनेवाली क्रिया चिरकालस्थायिनी होगी (तीन क्षणों से अधिक समय तक रहेगी), (२) एवं नित्य द्रव्य में रहनेवाली क्रिया तो नित्य ही हो जाएगी; क्योंकि (उक्त उत्तरदेश विभागरूप विभागज विभाग के उत्पन्न न होने के कारण तन्तु का उत्तरदेश के साथ संयोग रहेगा ही, एवं) एक प्रदेश में एक संयोग के रहते दूसरे संयोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः क्रिया के विरोधी (दूसरे)

न्यायकन्दली

प्रतिबन्धकस्यानिवृत्तेः प्रदेशान्तरेण सह संयोगो न भवति, अतः कारणाद् विरोधिनो गुणस्योत्तरसंयोगस्याभावात् कर्मणः कालान्तरावस्थायित्वं स्यात्, यावदाश्रयविनाशो विनाशहेतुर्नोपनिपतति—नित्यद्रव्यसमवेतस्य नित्यत्वमिति दोषः । **कथमिति प्रश्नः । उत्तरमाह**—यदेति । **आप्यद्व्यणुकस्यारम्भके परमाणौ कर्मोत्पन्नमण्वन्तराद् विभागं करोति यदा, तदैव द्व्यणुकसंयोगिन्यनारम्भकपरमाण्वन्तरेऽपि कर्म । ततो यस्मिन्नेव काले परमाणुसंयोग-**

और आकाश के संयोग की भी निवृत्ति नहीं होगी, जो कि पूर्ववर्ती संयोग का प्रतिबन्धक है । जिससे दूसरे प्रदेशों का संयोग रुक जाएगा । अतः विरोधी संयोग रूप गुण के न रहने से क्रिया में से स्थायित्व की आपत्ति होगी ; क्योंकि (उत्तरदेश संयोग को छोड़कर केवल) आश्रय का विनाश ही क्रिया के नाश का कारण है, सो जब तक नहीं होता, तब तक क्रिया की सत्ता रहेगी ही । फलतः, नित्यद्रव्यों (परमाणुवों) में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली क्रिया नित्य हो जाएगी । उक्त क्रिया के आश्रय परमाणु नित्य होने के कारण विनष्ट नहीं हो सकते, अतः विभागज विभाग के न मानने से क्रिया में नित्यत्व रूप दोष की आपत्ति होगी । 'कथम्' यह पद प्रश्न का बोधक है । 'यदा' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है । जिस समय जलीय द्व्यणुक के एक परमाणु में उत्पन्न हुई क्रिया, उसके दूसरे जलीय परमाणु के साथ विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय दूसरे परमाणु में भी क्रिया उत्पन्न होती है, जो जलीय द्व्यणुक का उत्पादक तो नहीं है; किन्तु उसमें जलीय द्व्यणुक का संयोग है । इसके बाद जिस समय (जलीय दोनों) परमाणुवों के संयोग के विनाश से, उन परमाणुवों

प्रशस्तपादभ्यम्

इति । एवं तर्ह्युत्तरविभागानुत्पत्तिप्रसङ्गः, कारणविभागाभावात् । ततः प्रदेशान्तरसंयोगवति संयोगाभाव इत्यतो विरोधिगुणासम्भवात् ।

रहनेवाले दूसरे तन्तु के विभाग का विनाश होता है । इस प्रकार यहाँ आश्रय के विनाश से ही विभाग का विनाश होता है, उत्तर देश के संयोग से नहीं । (प्र.) अगर उक्त स्थल में उक्त प्रकार से आश्रय नाश के द्वारा ही विभाग का नाश मानें, तो फिर तन्तु का आकाशादि देशों के साथ जो (विभागज) विभाग उत्पन्न होता है, वह न हो सकेगा; क्योंकि इस

न्यायकन्दली

ततो यस्मिन् काले विभागात् तन्त्वोः संयोगविनाशः, तस्मिन्नेव कालेंऽश्वोः संयोगविनाशात् तदारब्धस्य तन्तोर्विनाशः, तस्मिंस्तन्तौ विनष्टे तदाश्रितस्य तन्त्वन्तरविभागस्य विनाशः, तदाऽऽश्रयविनाशः, कारणमन्यस्य विनाशहेतोरभावात् ।

अत्र पुनः प्रत्यवतिष्ठते—एवं तर्हीति । **द्वितन्तुकविनाशसमकालमेव तन्तुविभागस्य विनाशः । उत्तरो विभागः सक्रियस्य तन्तोराकाशादिदेशेन समं विभागजविभागेनोत्पद्यते, कारणस्य तन्त्वोर्विभागस्याभावात् । यद्युत्तरो विभागो न संवृत्तः, ततः किं तत्राह**—तत इति । **तत उत्तरविभागानुत्पादात् प्राक्तनस्य तन्त्वाकाशसंयोगस्य**

उत्पन्न होती है । जिस समय विभाग के द्वारा तन्तु के उत्पादक (दोनों अंशुओं के) संयोग का विनाश होता है । उसी समय एक तन्तु की क्रिया से उसका दूसरे तन्तु से विभाग भी उत्पन्न होता है । इतने काम एक समय में होते हैं । इसके बाद जिस समय विभाग से दोनों तन्तुओं के संयोग का नाश होता है, उसी समय विभागजनित दोनों अंशुओं के संयोग के नाश के द्वारा उन दोनों अंशुओं से उत्पन्न तन्तु का भी विनाश होता है । इसलिए (इस विभाग के विनाश का) आश्रयविनाश ही कारण है; क्योंकि किसी दूसरे कारण से उसके विनष्ट होने की सम्भावना नहीं है ।

'एवं तर्हि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इस प्रसङ्ग में फिर आक्षेप करते हैं । अगर दो तन्तुओं से निष्पन्न पट के विनाश के समय में ही तन्तुविभाग का भी विनाश हो जाता है, तो फिर उत्तरविभाग की अर्थात् क्रिया से युक्त तन्तु के आकाशादि देशों के साथ विभागज विभाग की उत्पत्ति न हो सकेगी; क्योंकि (इस विभागज विभाग के) कारण अर्थात् दोनों तन्तुओं का विभाग वहाँ नहीं है । (प्र.) अगर 'उत्तरविभाग' (अर्थात् उक्त विभागज विभाग) की उत्पत्ति न हो सकेगी तो क्या हानि होगी ? इसी प्रश्न के समाधान के लिए 'ततः' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । 'ततः' अर्थात् उत्तर विभाग की उत्पत्ति न होने के कारण, तन्तु

प्रशस्तपादभाष्यम्

विभागं करोति, तदैवाण्वन्तरेऽपि कर्म । ततो यस्मिन्नेव काले विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, तदैवाण्वन्तरकर्मणा द्व्यणुकाण्वोर्विभागः क्रियते । ततो यस्मिन्नेव काले विभागाद् द्व्यणुकाणुसंयोगस्य विनाशः, तस्मिन्नेव काले संयोगविनाशाद् द्व्यणुकस्य विनाशः ।

उत्तरदेश के साथ तन्तु का संयोग भी उक्त स्थल में नहीं है, (अतः कथित युक्ति से) तन्तु प्रभृति अनित्य द्रव्यों में रहनेवाली उक्त क्रिया क्षणिक न होकर अधिक समय तक रहेगी एवं परमाणु प्रभृति नित्य द्रव्य में रहनेवाली क्रिया तो नित्य ही हो जाएगी । (प्र.) कैसे ? (अर्थात् नित्य द्रव्य में रहनेवाली क्रियाओं में नित्यत्व की आपत्ति किस प्रकार किस स्थिति में और किस स्थल में होगी ? (उ.) जिस समय (जहाँ) जलीय द्व्यणुक के उत्पादक जलीय परमाणु में उत्पन्न क्रिया (जलीय द्व्यणुक के अनुत्पादक) दूसरे परमाणु के साथ (जलीय द्व्यणुक के) विभाग को उत्पन्न करती है, उसी क्षण में (जलीय द्व्यणुक के) उत्पादक निष्क्रिय दूसरे परमाणु में भी क्रिया उत्पन्न होती है । इसके बाद जिस क्षण में विभाग के द्वारा द्रव्य के उत्पादक संयोग का विनाश होता है, उसी क्षण (जलीय द्व्यणुक के अनुत्पादक) दूसरे परमाणु की क्रिया से जलीय द्व्यणुक और (उदासीन) परमाणु इन दोनों में भी विभाग उत्पन्न होता है । इसके अनन्तर जिस क्षण में (इस जलीय द्व्यणुक और उदासीन परमाणु के) विभाग से जलीय द्व्यणुक और (उदासीन) परमाणु इन दोनों के संयोग का नाश होता है, उसी क्षण (द्व्यणुक के उत्पादक जलीय दोनों परमाणुवों के) संयोग के नाश से जलीय

न्यायकन्दली

विनाशात् तदारब्धस्य द्व्यणुकस्य विनाशः, तस्मिन् द्व्यणुके विनष्टे तदाश्रितस्य द्व्यणुकाणुविभागस्य विनाशः, ततो विभागस्य कारणस्याभावात् परमाणोराकाशदेशविभागानुत्पादे पूर्वसंयोगानिवृत्तावुत्तरसंयोगस्य विरोधिगुणस्य

के द्वारा उत्पन्न द्व्यणुक का विनाश होता है, उसी समय द्व्यणुकविनाश के कारण उसमें रहनेवाले विभाग का भी नाश हो जाता है । इसके बाद विभागरूप कारण के न रहने से परमाणु का आकाशादि देशों के साथ विभाग उत्पन्न न हो सकेगा, जिससे कि पहले संयोग का विनाश भी रुक जाएगा । (इस विनाश के रुक जाने पर) उत्तर संयोग रूप

प्रशस्तपादभाष्यम्

तस्मिन् विनष्टे तदाश्रितस्य द्व्यणुकाणुविभागस्य विनाशः । ततश्च विरोधिगुणासम्भवान्नित्यद्रव्यसमवेतकर्मणो नित्यत्वमिति ।

द्व्यणुक का भी नाश हो जाता है । जलीय द्व्यणुक के विनष्ट हो जाने पर उसमें रहनेवाले जलीय द्व्यणुक और उदासीन परमाणु के विभाग का भी नाश होता है । अतः (उत्तरसंयोग रूप) विरोधी गुण की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि उत्तरदेश संयोग के लिए पूर्वदेश के संयोग का विनाश भी आवश्यक है । एवं पूर्वदेश के संयोग का विनाश तभी होगा, जब कि उससे अव्यवहित पूर्व काल में जलीय द्व्यणुक और उदासीन परमाणु के विभाग की सत्ता रहे, (क्योंकि वही वह विरोधी गुण है, जिससे यहाँ उस पूर्वदेश के संयोग का नाश होगा । विरोधी गुण की इस असम्भावना से) परमाणुरूप नित्य द्रव्य में रहनेवाली क्रिया में नित्यत्व की आपत्ति होगी ।

न्यायकन्दली

विनाशहेतोरसम्भवान्नित्यपरमाणुसमवेतस्य कर्मणो नित्यत्वं स्यात् ।

पूर्वोक्तं तावत्परिहरति—तन्त्वंश्वन्तरविभागाद्विभाग इत्यदोषः ।

कार्याविष्टे कारणे कर्मोत्पन्नमवयवान्तरेण समं स्वाश्रयस्य विभागं कुर्वदाकाशादिदेशाद्विभागं न करोतीति नियमः, आकाशादिदेशविभागकर्तृत्वस्य विशिष्टविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तत्वात् । अवयवान्तरस्यावयवेन स्वाश्रयसंयोगिना समं तु करोत्येव, विरोधाभावात् । अतो द्वितन्तुककारणे

(क्रिया का) विरोधी गुण के विनाश का कोई कारण ही नहीं रह पाएगा । अतः परमाणु में रहनेवाली क्रिया (परमाणु की नित्यता के कारण) नित्य हो जाएगी ।

'तन्त्वंश्वन्तरविभागाद्विभागः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा पूर्वकथित दोष का परिहार करते हैं ।

यह नियम है कि कार्य के साथ सम्बद्ध कारण में उत्पन्न हुई क्रिया अपने आश्रय के दूसरे अवयव के साथ विभाग को उत्पन्न करने के समय अपने आश्रय के आकाशादि देशों के साथ विभागों को उत्पन्न नहीं करती; क्योंकि यह व्याप्ति है कि जो अपने आश्रय का आकाशादि देशों के साथ विभाग का उत्पादक होगा, वह कभी भी विशिष्ट विभाग (अर्थात् क्रिया के आश्रयीभूत एक अवयव का दूसरे अवयव के साथ विभाग) का उत्पादक नहीं हो सकता । (किन्तु उक्त क्रिया) अपने आश्रय के संयोग से युक्त अवयव के साथ तो विभाग को अवश्य ही उत्पन्न करती है; क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं है । दो तन्तुओं से बने हुए पट के कारणीभूत एक तन्तु में उत्पन्न हुई क्रिया,

प्रशस्तपादभाष्यम्

तन्त्वंशवन्तरविभागाद्विभाग इत्यदोषः। आश्रयविनाशात् तन्त्वोरेव विभागो विनष्टो न तन्त्वंशवन्तरविभाग इति । एतस्मादुत्तरो विभागो जायते, अङ्गुल्याकाशविभागाच्छरीराकाशविभागवत्, तस्मिन्नेव काले कर्म संयोगं कृत्वा विनश्यतीत्यदोषः ।

(उ.) (आश्रय के विनाश से विभागनाश के प्रसङ्ग में जो उत्तर विभाग की अनुत्पत्ति का अतिप्रसङ्ग दिया गया है, उसका यह समाधान है कि) उत्तर विभाग आकाशादि देशों के साथ तन्तु के (विभागज) विभाग एवं तन्तु और तन्तु के अनारम्भक दूसरे अंशु, इन दोनों के विभाग से उत्पन्न होता है, अतः (प्रकृत में उक्त विभागानुत्पत्ति रूप) दोष नहीं है; क्योंकि आश्रय के विनाश से दोनों तन्तुओं का विभाग ही नष्ट होता है, इससे तन्तु और (उसके अनुत्पादक) दूसरे तन्तु, इन दोनों के विभाग का नाश नहीं होता । इसी विभाग से आकाशादि देशों के साथ तन्तु के इस उत्तर विभाग की उत्पत्ति होती है, जैसे कि अङ्गुलि और आकाश के विभाग से शरीर और आकाश के विभाग की उत्पत्ति होती है । उसी समय क्रिया उत्तर (देश) संयोग को उत्पन्न कर स्वयं भी विनष्ट हो जाती है । इस प्रकार अनित्य द्रव्यों की क्रिया में चिरस्थायित्व और परमाणुवों में रहनेवाली क्रियाओं में नित्यत्व रूप दोनों दोषों का निराकरण हो जाता है ।

न्यायकन्दली

तन्तौ कर्मोत्पन्नं तन्त्वन्तराद् विभागसमकालं तदंशुनापि तन्तुसंयुक्तेन समं विभागमारभते । स च विभागस्तन्तोरंशोश्चावस्थानादवस्थित इत्याह–आश्रयविनाशात् तन्त्वोरेव विभागो विनष्टः, तन्त्वंशवन्तरविभागस्त्ववस्थित इति ।

किमतो यद्येवमित्यत आह–एतस्मादिति । अङ्गुल्याकाशविभागाच्छरीराकाशविभागवत् । **यथा कर्मजादङ्गुल्याकाशविभागाच्छरीरा-**

दूसरे तन्तु के साथ विभाग की उत्पत्ति के समय ही तन्तु के साथ संयुक्त अंशु के साथ भी विभाग को उत्पन्न करती है । यह विभाग (अपने आश्रय) तन्तु और अंशु के विद्यमान रहने के कारण रहता ही है । यही बात 'आश्रयविनाशात्तन्त्वोरेव विभागो विनष्टः' इत्यादि सन्दर्भ से कहा गया है । अर्थात् आश्रय के विनाश से दोनों तन्तुओं के विभाग का ही विनाश होता है, तन्तु और दूसरे अंशु का विभाग तो रहता ही है ।

अगर ऐसी बात है तो इससे प्रकृत में क्या ? इसी प्रश्न का समाधान 'एतस्मात्' इत्यादि से दिया गया है । 'अङ्गुल्याकाशविभागाच्छरीराकाशविभागवत्' इस उदाहरण वाक्य का यह तात्पर्य है कि जैसे अंगुलि और आकाश के विभाग से शरीर और

प्रशस्तपादभाष्यम्

अथवा अंश्वन्तरविभागोत्पत्तिसमकालं तस्मिन्नेव तन्तौ कर्मोत्पद्यते, ततोंऽश्वन्तरविभागात् तन्त्वारम्भकसंयोगविनाशः, तन्तु-

अथवा (इस प्रकार से भी आश्रय के विनाश से विभाग का विनाश हो सकता है) जिस समय (तन्तु के उत्पादक एक अंशु का) दूसरे अंशु के साथ विभाग उत्पन्न होता है, उसी समय (उन्हीं अंशुओं से आरब्ध) उसी तन्तु में क्रिया उत्पन्न होती है । इसके बाद एक अंशु का दूसरे अंशु के विभाग से तन्तु के उत्पादक (दोनों अंशुओं के) संयोग का विनाश होता है

न्यायकन्दली

काशविभागः, एवं कर्मजादंशुतन्तुविभागात् तन्त्वाकाशविभाग इत्युदाहरणार्थः । हस्ताकाशविभागाच्छरीराकाशविभागो युक्तो न त्वङ्गुल्याकाशविभागात् । अङ्गुलेः शरीरं प्रत्यकारणत्वादिति चेत् ? हस्तोऽपि बाहोराश्रयो न शरीरस्य, कुतस्तद्विभागादपि **शरीरविभागादपि शरीरविभागः । अथ समस्तावयवव्यापित्वाच्छरीरस्य हस्तोऽप्याश्रयः, एवमङ्गुल्यप्याश्रयो हस्ताङ्गुल्याद्यवयवसमुदाये शरीरप्रत्यभिज्ञानात् । तस्मिंस्तन्त्वाकाशविभागे जाते पूर्वसंयोगस्य प्रतिबन्धकस्य निवृत्तौ तन्तुसमवेतं कर्मोत्तरसंयोगं कृत्वा ततो विनश्यतीत्याह—**तस्मिन्निति ।

प्रकारान्तरेणाप्याश्रयविनाशाद् विनाशं कथयति—अथवेति । **अंश्वन्तरविभागोत्पत्तिसमकालं तस्मिन्नेव तन्तौ विभज्यमानावयवे कर्मोत्पद्यते,**

आकाश का विभाग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार क्रियाजनित अंशु और तन्तु के विभाग से तन्तु और आकाश का विभाग भी उत्पन्न होता है । (प्र.) शरीर और आकाश का विभाग तो हाथ और आकाश के विभाग से होना चाहिए, अंगुलि और आकाश के विभाग से नहीं; क्योंकि अंगुलि शरीर का कारण नहीं है । (उ.) हाथ भी तो बाँह का आश्रय (अवयव) है, शरीर का नहीं, तो फिर हाथ और आकाश के विभाग से ही शरीर और आकाश का विभाग कैसे उत्पन्न होगा ? अगर शरीर सभी अवयवों में व्याप्त है, तो फिर हाथ की तरह अंगुलि भी शरीर का आश्रय है ही; क्योंकि हाथ, अंगुलि प्रभृति सभी समुदायों में शरीर की प्रत्यभिज्ञा होती है । 'तस्मिन्' इत्यादि वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि तन्तु और आकाश के विभाग की उत्पत्ति हो जाने के बाद, प्रतिबन्धकीभूत पूर्वसंयोग के विनष्ट हो जाने पर, तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली क्रिया उत्तर संयोग को उत्पन्न कर स्वयं भी विनष्ट हो जाती है ।

'अथवा' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा आश्रय के नाश से विभागनाश की दूसरी रीति दिखलायी गई है । जहाँ दूसरे अंशु में विभाग की उत्पत्ति के समय ही विभक्त अवयव रूप उसी (अंशु विभाग के आश्रय) तन्तु में क्रिया उत्पन्न होती है । इसके बाद विभाग

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्मणा च तन्त्वन्तराद् विभागः क्रियत इत्येकः कालः । ततः संयोगविनाशात् तन्तुविनाशः, तद्विनाशाच्च तदाश्रितयोर्विभागकर्मणोर्युगपद्विनाशः ।

और तन्तु की क्रिया से एक तन्तु का दूसरे तन्तु के साथ विभाग उत्पन्न होता है । इतने काम एक समय में होते हैं । इसके बाद कथित दोनों अंशुओं के विभाग के द्वारा उत्पन्न दोनों अंशुओं के संयोग के विनाश से तन्तु का विनाश होता है एवं तन्तु के विनाश से उसमें रहनेवाले विभाग और क्रिया, इन दोनों का एक ही समय विनाश हो जाता है । अतः इस पक्ष में क्रिया में चिरकालस्थायित्व की आपत्ति भी नहीं है ।

न्यायकन्दली

ततो विभागात् तन्त्वारम्भकस्यांशुसंयोगस्य विनाशः, तन्तुकर्मणा च तस्य तन्तोस्तन्त्वन्तराद् विभाग इत्येकः कालः । तदनन्तरं संयोगस्य विनाशात् तदारब्धस्य तन्तोर्विनाशः, तद्विनाशाच्च तदाश्रितयोर्विभागकर्मणोर्युगपद्विनाशः । यच्च नित्यसमवेतस्य नित्यत्वमिति चोदितम्, तत्र प्रतिसमाधानं नोक्तम्, तस्यात्यन्तमसङ्गतार्थत्वात् । कार्याविष्टे हि कारणे कर्मोत्पन्नमवयवान्तरविभागसमकालमाकाशादिदेशेन समं विभागं न करोति, आकाशादिविभागकर्तृत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वस्य च विरोधात् । अनारम्भके तु द्व्यणुकसंयोगिनि परमाणौ कर्म द्व्यणुकविभागसमकालं तस्याकाशदेशेन

के द्वारा तन्तु के उत्पादक अंशु के संयोग का विनाश होता है एवं तन्तु की क्रिया से उस तन्तु का दूसरे तन्तु से विभाग उत्पन्न होता है । इतने काम एक समय में होते हैं । इसके बाद संयोग के विनाश से उस संयोग के द्वारा उत्पन्न तन्तु का विनाश होता है । तन्तु के विनष्ट हो जाने से उसमें रहनेवाले विभाग और कर्म दोनों ही एक ही समय नष्ट हो जाते हैं । नित्य द्रव्य में रहनेवाले कर्म में नित्यत्व की जो शङ्का की गई है, उसका उत्तर इस कारण से नहीं दिया गया, चूँकि वह अत्यन्त ही निःसार है । कार्य के साथ सम्बद्ध कारण में उत्पन्न हुई क्रिया दूसरे अवयव के साथ विभाग के उत्पत्तिक्षण में आकाशादि देशों के साथ (अपने आश्रय के) विभाग को नहीं उत्पन्न करती; क्योंकि आकाशादि देशों के साथ विभाग का कर्तृत्व एवं द्रव्य के उत्पादक संयोग के विभाग का कर्तृत्व, ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं (अतः एक समय एक आश्रय में दोनों नहीं रह सकते), द्व्यणुक के संयोग से युक्त (उस द्व्यणुक के) अनुत्पादक परमाणु में (विद्यमान) क्रिया द्व्यणुक की उत्पत्ति के समय ही आकाशादि देशों के साथ भी विभाग

प्रशस्तपादभाष्यम्

तन्तुवीरणयोर्वा संयोगे सति द्रव्यानुत्पत्तौ पूर्वोक्तेन विधानेनाश्रयविनाश-संयोगाभ्यां तन्तुवीरणविभागविनाश इति ।

अथवा (इस स्थिति में भी आश्रय के नाश से विभाग का नाश हो सकता है, जहाँ) तन्तु और वीरण (तृणविशेष) में संयोग होता है । इस संयोग से किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि यह विजातीय दो द्रव्यों का संयोग है । पहले कथित रीति के अनुसार आश्रय का विनाश और संयोग इन दोनों से तन्तु और वीरण के विभाग का नाश होता है ।

न्यायकन्दली

समं विभागं करोत्येव, ततो विभागच्च परमाणोराकाशसंयोगनिवृत्तावुत्तरसंयोगे सति तदाश्रितस्य कर्मणो विनाशो भवत्येव ।

समानजातीयसंयोगे स ति द्रव्योत्पत्तावाश्रयविनाशाद् विभागकर्मणोर्विनाशः कथितः, सम्प्रति विजातीयसंयोगे द्रव्यानुत्पत्तौ संयोगाश्रयविनाशाभ्यां विभागविनाशं कथयति—तन्तु-वीरणयोर्वा संयोगे सति द्रव्यानुत्पत्तौ पूर्वोक्तेन विधानेनेति । **तन्त्वारम्भकांशौ कर्मोत्पत्ति-समकालं वीरणे कर्म, ततोंऽशुक्रियया अंश्वन्तराद् विभागो वीरणकर्मणा च तस्य विभज्य-मानावयवेन तन्तुना आकाशदेशेन च समं विभागः क्रियते, ततोंऽशुविभागादंशुसंयोगविनाशो**

को अवश्य ही उत्पन्न करती है । इसके बाद विभाग के द्वारा परमाणु और आकाश के संयोग के नष्ट हो जाने पर उत्तर संयोग के बाद परमाणु में रहनेवाली क्रिया का भी अवश्य विनाश होता है ।

(समानजातीय द्रव्यों के संयोग के रहने पर) द्रव्य की उत्पत्ति के बाद आश्रय के विनाश से विभाग और क्रिया दोनों का ही नाश अभी कहा गया है । अब विजातीय द्रव्यों के संयोग के रहने के कारण द्रव्य की उत्पत्ति न होने पर भी संयोग और आश्रय के विनाश, इन दोनों से विभाग का विनाश 'तन्तुवीरणयोर्वा संयोगे सति द्रव्यानुत्पत्तौ पूर्वोक्तेन विधानेन' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कहा गया है । इसकी यही प्रक्रिया है कि तन्तु के उत्पादक अंशु में क्रिया की उत्पत्ति के समय ही वीरण (तृणविशेष) में भी क्रिया उत्पन्न होती है । इसके बाद अंशु की क्रिया से दूसरे अंशु के साथ उसका विभाग उत्पन्न होता है । वीरण की क्रिया से अवयव से विभक्त होते हुए तन्तु के साथ एवं आकाशादि देशों के साथ भी विभाग उत्पन्न होते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् । तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च । तत्र दिक्कृतं दिग्विशेषप्रत्यायकम् ।

'यह इससे पर (दूर अथवा ज्येष्ठ) है', 'यह इससे अपर (समीप अथवा कनिष्ठ) है' इन शब्दों के प्रयोगों और इन आकार के ज्ञानों का (असाधारण) कारण ही (क्रमशः) परत्व और अपरत्व है । १. दिक्कृत (दिशामूलक) और २. कालकृत (कालमूल) भेद से वे दोनों ही दो-दो प्रकार के हैं । इनमें दिक्कृत (परत्व और अपरत्व) दिशाओं की

न्यायकन्दली

वीरणविभागाच्च तन्तुवीरणसंयोगस्याकाशवीरणसंयोगस्य च विनाशः, ततोंऽशुसंयोग-विनाशात् तन्तुविनाशो वीरणस्य चोत्तरसंयोगोऽत उत्तरसंयोगाश्रयविनाशाभ्यां तन्तु-वीरणविभागस्य विनाश इति प्रक्रिया ।

परत्वमपरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तमिति । **परमित्यभिधानस्य प्रत्ययस्य च निमित्तं परत्वम् । अपरमित्यभिधानप्रत्यययोर्निमित्तमपरत्वमिति कार्येण सत्तां प्रतिपादयति । यद्यप्याकाशं कण्ठाद्याकाशसंयोगादिकं च परापराभिधानयोः कारणं भवति, यद्यप्यात्ममनःसंयोगादिकं च परापरप्रतीतिकारणं स्यात्, तथापि निमित्तान्तरसिद्धिः, विशिष्टप्रत्ययस्य कारणविशेष-**

इसके बाद दोनों अंशुओं के विभाग से दोनों अंशुओं के (तन्तु के उत्पादक) संयोग का विनाश होता है । एवं वीरण के विभाग से तन्तु और वीरण के संयोग का एवं आकाश और वीरण के संयोग का भी विनाश होता है । इसके बाद दोनों अंशुओं के संयोग के विनाश से तन्तु का विनाश होता है एवं वीरण और उत्तरदेश, इन दोनों के संयोग की उत्पत्ति होती है । अतः उत्तरदेशसंयोग और आश्रय के विनाश इन दोनों से तन्तु और वीरण के विभाग का विनाश होता है ।

'परत्वमपरत्वञ्च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम्' इस सन्दर्भ के द्वारा यह उपपादन किया गया है कि 'यह इससे पर है' इत्यादि आकार के ज्ञान और शब्द के प्रयोग इन दोनों का कारणीभूत गुण ही 'परत्व' है एवं 'यह इससे अपर है' इस आकार के ज्ञान और शब्द के प्रयोग, इन दोनों का कारणीभूत गुण ही 'अपरत्व' है । इस प्रकार कार्य से कारण के प्रतिपादन की रीति से परत्व और अपरत्व की सत्ता दिखलायी गयी है । यद्यपि 'यह पर है' एवं 'यह अपर है' इत्यादि शब्दों के प्रयोगों के आकाश, कण्ठ एवं आकाश के संयोगादि भी कारण हैं एवं उक्त आकार की प्रतीतियों के आत्मा एवं मन के संयोगादि भी कारण हैं, फिर भी (ये सब सामान्य कारण हैं, उन विशिष्ट

प्रशस्तपादभाष्यम्

कालकृतं च वयोभेदप्रत्यायकम् । तत्र दिक्कृतस्योत्पत्तिरभिधीयते । कथम् ? एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोः संयुक्तसंयोगबह्वल्प-

विशिष्टता को समझाते हैं । एवं कालकृत (परत्व और अपरत्व वस्तुओं के) वयस् के भेद को समझाते हैं । इनमें दिक्कृत (परत्व और अपरत्व) की उत्पत्ति बतलाते हैं । (प्र.) किस प्रकार (इनकी उत्पत्ति होती है ?) (उ.) एक दिशा में अवस्थित दो कार्य द्रव्यों में (इन द्रव्यों के आश्रयीभूत प्रदेश के साथ) संयुक्त (प्रदेशों के) संयोग की अधिकता और अल्पता

न्यायकन्दली

मन्तरेणोत्पत्त्यभावात् । एकत्र द्वयोरुपन्यासस्तयोरितरेतरसापेक्षत्वात् । 'तद् द्विविधम्', **'तत्' परत्वमपरत्वं च 'द्विविधम्' द्विप्रकारमिति भेदनिरूपणम् । किंकृतस्तयोर्भेद इत्याशङ्क्य कारणभेदाद् भेदमाह**—दिक्कृतं कालकृतं चेति । **दिक्पिण्डसंयोगकृतं दिक्कृतम् । कालपिण्डसंयोगकृतं कालकृतम् । अनयोर्भेदः कुतः प्रत्येतव्यः ? कार्यभेदादित्याह**—दिक्कृतं दिग्विशेषप्रत्यायकम्, कालकृतं तु वयोभेद-प्रत्यायकम् । **दिक्कृतं परत्वं देशविप्रकृष्टत्वं प्रत्याययति, अपरत्वं च देशसन्निकृष्टत्वम्**'। **कालकृतं तु परत्वं पिण्डस्य कालविप्रकृष्टत्वं प्रतिपादयति, अपरत्वं च**

शब्द प्रयोगों के एवं उक्त प्रतीतियों के लिए) विशेष कारणों की सिद्धि आवश्यक है; क्योंकि विशेष कारण के बिना विशेष प्रकार के शब्दों का प्रयोग या विशेष प्रकार की प्रतीतियाँ नहीं हो सकतीं । चूँकि परत्व और अपरत्व दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, अतः दोनों का एक साथ निरूपण किया गया है ।

'द्विविधं तत्' यह वाक्य उनके भेद को दिखलाने के लिए लिखा गया है । किस हेतु से दोनों में भेद है ? यह प्रश्न करके कारण के भेद से उनका भेद 'दिक्कृतं कालकृतञ्च' इत्यादि से दिखलाया गया है । दिक्कृत (परत्व और अपरत्व) काल और पिण्ड (अर्थात् परत्वादि के आश्रयीभूत द्रव्य) के संयोग से होता है । इसी प्रकार काल और पिण्ड के संयोग से 'कालकृत परत्व और अपरत्व' उत्पन्न होता है । इन दोनों का भेद किससे समझेंगे ? इसी प्रश्न का उत्तर 'दिक्कृतम्' इत्यादि से देते हैं कि कार्य की विभिन्नता से ही उन दोनों का भेद समझेंगे । विशेष प्रकार की दिशा के ज्ञान का कारण ही दिक्कृत परत्व और अपरत्व है । एवं वय के भेद के ज्ञान का कारण ही कालकृत 'परत्वापरत्व' है । अर्थात् दिक्कृत (परत्व और अपरत्व) दिशा विशेष की प्रतीति के कारण हैं । एवं कालकृत (परत्व और अपरत्व) वयोभेद के ज्ञान के कारण हैं । इनमें 'दिक्कृत परत्व' देशविप्रकृष्टत्व अर्थात् देश की दूरी का ज्ञापक है । 'दिक्कृत अपरत्व' देश के सामीप्य का बोधक है । एवं 'कालकृत परत्व' पिण्ड (आश्रयभूत द्रव्य) के कालविप्रकृष्टत्व अर्थात् ज्येष्ठत्व का

प्रशस्तपादभाष्यम्

भावे सत्येकस्य द्रष्टुः सन्निकृष्टमवधिं कृत्वा एतस्माद् विप्रकृष्टोऽयमिति परत्वाधारेऽसन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्य परेण

के रहने पर देखनेवाले एक पुरुष के समीप (प्रदेश) को अवधि मानकर 'इससे यह दूर है' इस प्रकार की दूरत्वविषयक बुद्धि परत्व के आधारद्रव्य में उत्पन्न होती है । इसके बाद इसी बुद्धि के सहयोग से दूर दिशा के

न्यायकन्दली

कालसन्निकृष्टत्वमिति विशेषः । तत्र तयोर्दिक्कृतकालकृतयोर्मध्ये दिक्कृतस्योत्पत्तिरभिधीयते ।

कथमिति प्रश्ने सत्युत्तरमाह—एकस्यामिति । **पूर्वापरदिग्व्यवस्थितयोः पिण्डयोः परापरप्रत्ययौ न सम्भवतः, तदर्थमेकस्यां दिश्यवस्थितयोरित्युक्तम् । एकस्यां दिशि प्राच्यां वा प्रतीच्यां वाऽवस्थितयोः पिण्डयोर्मध्य एकस्य द्रष्टुः संयुक्तेन भूदेशेन सहापरस्य प्रदेशस्य संयोगः, तेनापि सममपरस्येति संयुक्तसंयोगानां बहुत्वे सत्यल्पसंयोगवन्तं पिण्डं सन्निकृष्टमवधिं कृत्वैतस्मात् पिण्डाद् विप्रकृष्टोऽयमिति संयोगभूयस्त्ववति भविष्यतः परत्वस्याधारे पिण्डे विप्रकृष्टा बुद्धिरुदेति । ततो**

प्रतिपादन करता है । 'कालकृत अपरत्व' काल के सन्निकृष्टत्व का, अर्थात् कनिष्ठत्व का ज्ञापक है । यही इनमें विशेष है । 'तत्र' अर्थात् दिक्कृत परत्वापरत्व और कालकृत परत्वापरत्व इन दोनों में दिक्कृत परत्वापरत्व का निरूपण करते हैं ।

(इसी प्रसङ्ग में) 'कथम्' इस वाक्य से प्रश्न किये जाने पर 'एकस्याम्' इत्यादि वाक्य के द्वारा उत्तर देते हैं । पूर्व और पश्चिमादि विरुद्ध दिशाओं में स्थित दो पिण्डों में परत्व और अपरत्व की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः 'एकस्यां दिश्यवस्थितयोः' यह वाक्य लिखा गया है । 'एक ही' अर्थात् पूर्व या पश्चिमादि किसी एक दिशा में अवस्थित दो पिण्डों में से किसी एक पिण्ड और देखनेवाले पुरुष, इन दोनों से संयुक्त भूप्रदेश के साथ दूसरे भूप्रदेश का संयोग है, उसके साथ फिर तीसरे भूप्रदेश का संयोग है, इस प्रकार संयुक्त प्रदेशों के बहुत से संयोगों के रहने पर, संयुक्त प्रदेशों के संयोगों की अधिकता के कारण, उन भूप्रदेशों के संयोगों से अल्प संयोग से युक्त अतएव समीपस्थ पिण्ड को अवधि मानकर उत्पन्न होनेवाले परत्व के आधारभूत एवं उक्त बहुत से संयोगों से युक्त पिण्ड में 'इससे यह दूर है' इस प्रकार की विप्रकृष्ट बुद्धि अर्थात् दूरत्व की बुद्धि उत्पन्न होती है । 'ततः' अर्थात् उस दूरत्व की बुद्धि के बाद उसी विप्रकृष्ट द्रव्य को

प्रशस्तपादभाष्यम्

दिक्प्रदेशेन संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः । विप्रकृष्टं चावधिं कृत्वा एतस्मात् सन्निकृष्टोऽयमित्यपरत्वाधारे इतरस्मिन् सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्ताम-पेक्ष्यापरेण दिक्प्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिः ।

प्रदेशों के संयोग के द्वारा (दिक्कृत) परत्वविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है । इसके बाद इसी परत्वविषयक को अवलम्बन बनाकर दूर के दिक् प्रदेशों के संयोग से दिक्कृत परत्व (गुण) की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार दूर दिशा के द्रव्य को अवधि मानकर 'इससे यह समीप है' इस प्रकार की बुद्धि अपरत्व गुण के आधारभूत द्रव्य में उत्पन्न होती है । इसके बाद इस बुद्धि को अवलम्बन मानकर 'अपर' अर्थात् समीपवाले प्रदेशों के संयोग से दिक्कृत अपरत्व गुण की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

विप्रकृष्टबुद्ध्युत्पत्त्यनन्तरं विप्रकृष्टां बुद्धिमपेक्ष्य परेण संयोगभूयस्त्ववता दिक्प्रदेशेन संयोगादसमवायिकारणाद् विप्रकृष्टे पिण्डे समवायिकारणभूते परत्वस्योत्पत्तिः । द्रष्टुः स्वशरीरापेक्षया संयुक्तसंयोगभूयस्त्ववन्तं विप्रकृष्टं चावधिं कृत्वेतरस्मिन् संयुक्तसंयोगा-ल्पीयस्त्ववति सन्निकृष्टा बुद्धिरुदेति । तां सन्निकृष्टां बुद्धिं निमित्तकारणीकृत्यापरेण संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वविशिष्टेन दिक्प्रदेशेन सह संयोगादसमवायिकारणात् सन्निकृष्टे पिण्डे समवायिकारणे परत्वस्योत्पत्तिः ।

सन्निकृष्टविप्रकृष्टबुद्ध्योः परस्परापेक्षित्वादुभयाभावप्रसङ्ग इति चेत् ? न, अनभ्युपगमात् । न सन्निकृष्टोऽयमित्येवं प्रतीत्यैव तदपेक्षया विप्रकृष्टबुद्धिः,

अवधि मानकर बहुत से संयोगों से युक्त दूसरे देश की अपेक्षा परत्व की उत्पत्ति उस पिण्ड (द्रव्य) में होती है । इस परत्व का उक्त द्रव्य समवायिकारण है, पिण्ड में रहनेवाले कथित संयोग उसके असमवायिकारण हैं । अर्थात् देखनेवाले को अपने शरीर की अपेक्षा अधिक संयोगवाले दूर देश के द्रव्य को अवधि मानकर उससे भिन्न एवं उससे अल्प संयोगवाले देश के द्रव्य में 'सन्निकृष्ट बुद्धि' अर्थात् 'इससे यह समीप है' इस आकार की बुद्धि उत्पन्न होती है । इस प्रकार समीप के पिण्ड में परत्व की उत्पत्ति का उक्त पिण्ड समवायिकारण है, अल्प संयोग से युक्त दिक् प्रदेशों के साथ उक्त पिण्ड का संयोग निमित्तकारण है । एवं उक्त सन्निकृष्टबुद्धि निमित्तकारण है ।

(प्र.) किसी के सन्निकृष्ट समझे जाने पर उसकी अपेक्षा कोई विप्रकृष्ट समझा जाता है । एवं किसी के विप्रकृष्ट समझे जाने पर ही उसकी अपेक्षा कोई सन्निकृष्ट समझा जाता है । इस प्रकार दोनों बुद्धियाँ अगर परस्पर सापेक्ष हैं, तो फिर

प्रशस्तपादभाष्यम्

कालकृतयोरपि कथम् ? वर्तमानकालयोरनियतदिग्देश-संयुक्तयोर्युवस्थविरयो रूढश्मश्रुकार्कश्यवलिपलितादिसान्निध्ये सत्येकस्य

(प्र.) कालिक (कालकृत) परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? (उ.) वर्त्तमानकाल में अवस्थित किसी भी दिक्प्रदेश के साथ संयुक्त युवा पुरुष में कड़ी मूँछ और गठित शरीर (प्रभृति असाधारण) स्थिति और किसी भी दिक् प्रदेश से संयुक्त वृद्ध पुरुष में पके

न्यायकन्दली

नापि विप्रकृष्टोऽयमिति प्रतीत्यैव तदपेक्षया सन्निकृष्टबुद्ध्युदयः; किन्तु संयोगाल्पीयस्त्वसहचरितं पिण्डं प्रतीत्यैव तदपेक्षया संयोगभूयस्त्ववति विप्रकृष्टबुद्धिः । एवं संयोगभूयस्त्वसहचरितं पिण्डं प्रतीत्यैव तदपेक्षया संयोगाल्पीयस्त्ववति सन्निकृष्टबुद्ध्युत्पत्तिरिति न परस्परापेक्षित्वमनयोः ।

कालकृतयोरपि कथम् ? **दिक्कृतयोस्तावत्परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः**

दोनों बुद्धियों के कारणीभूत परत्व और अपरत्व इन दोनों की सत्ता ही उठ जाएगी। (उ.) दोनों की सत्ता के उठ जाने की आपत्ति नहीं है; क्योंकि हम ऐसा नहीं मानते; क्योंकि 'ततः' अर्थात् इस विप्रकृष्ट बुद्धि के बाद उसी के साहाय्य से बहुत से संयोगों से युक्त दूसरे उस पिण्ड में परत्व की उत्पत्ति होती है। इस परत्व का समवायिकारण उक्त पिण्ड ही है एवं उन दिशाओं के साथ उस पिण्ड का संयोग ही उसका असमवायिकारण है । अभिप्राय यह है कि द्रष्टा पुरुष के शरीर के मध्यवर्त्ती बहुत से दिग्देशों के संयोग से युक्त होने के कारण 'विप्रकृष्ट' अर्थात् दूर देश को अवधि मानकर, उससे अल्प संयोग से युक्त मध्यवर्त्ती देश में 'सन्निकृष्ट बुद्धि' अर्थात् 'उससे यह समीप है' इस आकार की बुद्धि उक्त द्रष्टा पुरुष को होती है । इस सन्निकृष्ट बुद्धिरूप निमित्तकारण से उक्त पिण्डरूप समवायिकारण में परत्व की उत्पत्ति होती है, जिसका अल्प संयोग से युक्त दिक्प्रदेश और पिण्ड का संयोग असमवायिकारण है । 'सन्निकृष्टोऽयम्' अर्थात् 'यह समीप है' इस प्रकार की सन्निकृष्ट बुद्धि से ही उसकी अपेक्षा 'यह दूर है' इस आकार की विप्रकृष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है एवं 'विप्रकृष्टोऽयम्' इस बुद्धि से ही इसकी अपेक्षा 'यह समीप है' इस आकार की सन्निकृष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है; किन्तु उक्त प्रदेशों के संयोगों की अल्पता के साथ ज्ञात द्रव्य (पिण्ड) की प्रतीति से ही (इस पिण्ड की) अपेक्षा अधिक दिक्प्रदेशों के संयोगों से युक्त पिण्ड में विप्रकृष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है । इसी प्रकार दिक्प्रदेशों के अधिक संयोगों के साथ ज्ञात द्रव्य की प्रतीति से ही उसकी अपेक्षा अल्प दिक्प्रदेशों के संयोगवाले पिण्ड में सन्निकृष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है । अतः परस्परापेक्ष होने के कारण परत्व और अपरत्व दोनों की असत्ता की आपत्ति नहीं है ।

'कालकृतयोरपि कथम्' ? अर्थात् 'कथम्' इत्यादि सन्दर्भ से प्रश्न करते हैं कि दिक्कृत परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति तो उपपादित हुई; किन्तु कालिक परत्व और

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रष्टुर्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्य परेण कालप्रदेशेन संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः, स्थविरं चावधिं कृत्वा यूनि सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते । ततस्तामपेक्ष्यापरेण कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति ।

हुए केश और शरीर की शिथिलता (प्रभृति) की स्थिति, इन दोनों स्थितियों के रहते हुए दोनों को देखनेवाले पुरुष को उक्त युवा पुरुष की अपेक्षा उक्त वृद्ध पुरुष में 'विप्रकृष्ट' बुद्धि अर्थात् कालकृत परत्व (ज्येष्ठत्व) की बुद्धि उत्पन्न होती है । इसके बाद इसी बुद्धि के साहाय्य से दूसरे कालप्रदेश के साथ के संयोग से (वृद्ध पुरुष) में कालकृत परत्व (ज्येष्ठत्व) की उत्पत्ति होती है । एवं इसी वृद्ध पुरुष की अपेक्षा युवा पुरुष में 'सन्निकृष्ट' बुद्धि उत्पन्न होती है । इसी बुद्धि के साहाय्य से दूसरे कालप्रदेश के साथ (युवा) पुरुष के संयोग से कालकृत अपरत्व (कनिष्ठत्व) की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

कथिता, कालकृतयोरपि तयोरुत्पत्तिः कथमिति प्रश्नः । समाधानं वर्तमानकालयोरिति । **द्वयोरेकस्मिन् वा पिण्डेऽविद्यमाने परत्वापरत्वे न भवतः, तदर्थं** वर्तमानकालयोरित्युक्तम् । **अनियतदिग्देशयोरित्येकदिश्यवस्थितयोर्भिन्नदिगवस्थितयोर्वा युवस्थविरयो रूढश्मश्रु च कार्कश्यं च वलिश्च पलितं च येषां कालविप्रकर्षलिङ्गानां सान्निध्ये सत्येकस्य द्रष्टुर्युवानं रूढ-**

अपरत्व की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? इसी प्रश्न का समाधान 'वर्त्तमान-कालयोः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा किया गया है । इस समाधान वाक्य में 'वर्त्तमानकालयोः' यह पद इसलिए दिया गया है कि चूँकि दोनों ही पिण्डों के न रहने पर या दोनों में से किसी एक के न रहने पर भी (उनमें से किसी में) परत्व या अपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती है । 'अनियतदिग्देशयोः' अर्थात् एक दिशा में अथवा विभिन्न दिशाओं में स्थित युवक और वृद्ध पुरुष में (से युवा पुरुष में रहनेवाले) मूँछों का कड़ापन और देह का कड़ा गठन एवं (वृद्ध पुरुष की) झुर्री और पके केश प्रभृति काल के ज्ञापक हेतुओं का सामीप्य रहने पर दोनों को देखनेवाले किसी एक पुरुष को मूँछों की कड़ाई और देह के काठिन्य से युवा पुरुष में अल्पकाल सम्बन्धरूप कनिष्ठत्व या सन्निकृष्ट बुद्धिरूप ज्येष्ठत्व की अनुमिति होती है । इस अल्पकाल को अवधि मानकर झुर्री और पके केश वाले वृद्ध पुरुष में अधिककाल सम्बन्धरूप ज्येष्ठत्व या कालविप्रकृष्टत्व की बुद्धि उत्पन्न होती है । इस प्रकार उस वृद्ध पुरुष में कालिक परत्व (ज्येष्ठत्व) की उत्पत्ति

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशस्त्वपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्यविनाशात् ।

अपेक्षाबुद्धिविनाशात् तावदुत्पन्ने परत्वे यस्मिन् काले सामान्य-बुद्धिरुत्पन्ना भवति, ततोऽपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता, सामान्यज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः

(परत्व और अपरत्व इन दोनों का) विनाश (इन सात) रीतियों में से किसी रीति से होता है–१. अपेक्षा-बुद्धि के विनाश से, २. संयोग के विनाश से, ३. द्रव्य के विनाश से, ४. द्रव्य और अपेक्षा-बुद्धि इन दोनों के विनाश से, ५. द्रव्य और संयोग इन दोनों के विनाश से, ६.संयोग और अपेक्षा-बुद्धि इन दोनों के विनाश से एवं ७. अपेक्षा-बुद्धि, द्रव्य एवं संयोग इन तीनों के विनाश से ।

१. अपेक्षा-बुद्धि के विनाश से परत्व और अपरत्व का विनाश इस प्रकार होता है कि परत्व (या अपरत्व) की उत्पत्ति के बाद जिस समय (परत्व या अपरत्व में रहनेवाले) सामान्य (परत्वत्वादि जातियों) की

न्यायकन्दली

श्मश्रुकार्कश्याद्यभावानुमितमल्पोत्पत्तिकालमवधिं कृत्वा रूढश्मश्रुवलिपलितादिमति स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते, तां बुद्धिमपेक्ष्य परेणादित्यपरिवर्तनभूयस्त्ववता कालप्रदेशेन संयोगादसमवायिकारणात् तस्मिन्नेव स्थविरे परत्वस्योत्पत्तिः, स्थविरं चावधिं कृत्वा यूनि सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते, तां बुद्धिमपेक्ष्यापरेणाल्पादित्यपरिवर्त्तनोपलक्षितेन कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिः । युवस्थविरशरीरयोः कालसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वे शरीर-सन्तानापेक्षया, न तु व्यक्तिविषयत्वेन, तयोः प्रतिक्षणं विनाशात् ।

होती है, जिसमें वह पुरुष समवायिकारण है एवं सूर्य की अधिक क्रियावाले काल प्रदेश के साथ उस पुरुष का संयोग असमवायिकारण है एवं उक्त विप्रकृष्ट बुद्धि निमित्तकारण है । (इसी प्रकार) वृद्ध पुरुष को अवधि मानकर युवा पुरुष में अल्पकाल सम्बन्धरूप सन्निकृष्ट बुद्धि की उत्पत्ति होती है । इसी बुद्धिरूप निमित्तकारण से युवा पुरुषरूप समवायिकारण में कालिक अपरत्व (कनिष्ठत्व) की उत्पत्ति होती है, जिसका असमवायिकारण आदित्य की अल्पगति से परिमित कालप्रदेश और उस युवा पुरुष का संयोग है । यद्यपि युवा शरीर और वृद्ध शरीर दोनों ही क्षणिक हैं, (अतः दोनों ही के एक-एक शरीर में समान ही काल का सम्बन्ध है) अतः दोनों में अधिककाल सम्बन्ध और अल्पकाल सम्बन्ध वर्तमानकाल के दोनों शरीर के समुदायों को दृष्टि में रखकर कहा गया है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

परत्वगुणबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः । ततोऽपेक्षाबुद्धेर्विनाशो गुणबुद्धेश्चोत्पत्तिः, ततोऽपेक्षाबुद्धिविनाशाद् गुणस्य विनश्यत्ता, गुणज्ञान-

बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी समय अपेक्षाबुद्धि को विनष्ट करनेवाले कारणसमूह एकत्र हो जाते हैं एवं (परत्वादि में रहनेवाले उक्त) सामान्य एवं सामान्य के ज्ञान और परत्वादि गुणों के साथ उक्त सामान्य का सम्बन्ध इन सबों से परत्वादि गुणविषयक बुद्धि के उत्पादक कारण-समूह भी एकत्र हो जाते हैं । ये सभी कार्य एक समय में होते हैं । उसके बाद (एक ही समय) अपेक्षा-बुद्धि का विनाश और (परत्वादि) गुणविषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है, इसके बाद अपेक्षा-बुद्धि के विनाश से परत्वादि गुणों के विनाशक कारणसमूह का एकत्र होना, परत्वादि गुण, उसके ज्ञान एवं द्रव्य के साथ परत्वादि

न्यायकन्दली

कृतकस्यावश्यं विनाशः, स च निर्हेतुको न भवतीति परत्वापरत्वयोर्विनाशहेतुमाह– विनाशस्त्विति । **परत्वापरत्वयोर्विनाशोऽपेक्षाबुद्धिविनाशात्, संयोगविनाशात्, द्रव्यविनाशात्, द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्विनाशात्, द्रव्यसंयोगयोर्विनाशात्, संयोगापेक्षाबुद्ध्योर्विनाशात्, अपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्याणां विनाशादिति सप्तविधो विनाशक्रमः ।**

(१) अपेक्षाबुद्धिविनाशात् **तावद्विनाशः कथ्यते । उत्पन्ने परत्वे यस्मिन्नेव काले परत्वसामान्ये बुद्धिरुत्पन्ना भवति।** तत इति **सप्तम्यर्थे सार्व-**

जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्य ही होता है । एवं विनाश भी बिना कारणों के नहीं होता । अतः (परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति के निरूपण के बाद) परत्व और अपरत्व के विनाश के हेतुओं का निरूपण 'विनाशस्तु' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है । विनाश इन सात प्रकार के विनाशक्रमों में से ही किसी से होता है–(परत्व और अपरत्व का विनाश) (१) अपेक्षा-बुद्धि के विनाश से, (२) संयोग के विनाश से, (३) द्रव्य के विनाश से, (४) द्रव्य और अपेक्षा-बुद्धि दोनों के विनाश से, (५) द्रव्य और संयोग इन दोनों के विनाश से (६) संयोग और अपेक्षा-बुद्धि इन दोनों के विनाश से एवं (७) अपेक्षा-बुद्धि, संयोग और द्रव्य, इन तीनों के विनाश से ।

इनमें क्रमप्राप्त सबसे पहले (१) अपेक्षा-बुद्धि के विनाश से होनेवाले परत्व और अपरत्व के विनाश का क्रम 'अपेक्षाबुद्धिविनाशात्तावत्' इत्यादि सन्दर्भ से उपपादित हुआ है । 'ततः' इस पद में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'तसिल्' प्रत्यय है । इसी समय

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्सम्बन्धेभ्यो द्रव्यबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः ततो द्रव्यबुद्धेरुत्पत्तिर्गुणस्य विनाश इति ।

संयोगविनाशादपि कथम् ? अपेक्षाबुद्धिसमकालमेव परत्वाधारे कर्मोत्पद्यते । तेन कर्मणा दिक्पिण्डविभागः क्रियते । अपेक्षाबुद्धितः

गुणों का सम्बन्ध इन सबों से (परत्वादि गुण से युक्त) द्रव्यविषयक बुद्धि के उत्पादक कारणसमूह एकत्र हो जाते हैं । इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद (परत्वादि गुणविशिष्ट) द्रव्य विषयक (विशिष्ट) बुद्धि की उत्पत्ति और परत्वादि गुणों का विनाश ये दोनों काम एक ही समय होते हैं ।

२.(प्र.) केवल संयोग के विनाश से (परत्व और अपरत्व का विनाश) किस प्रकार होता है ? (उ.) (जहाँ) अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति के समय ही परत्वादि गुणों के आधारभूत द्रव्य में क्रिया होती है, एवं उस क्रिया के द्वारा उस द्रव्य और दिक्प्रदेश इन दोनों का विभाग उत्पन्न होता है, और अपेक्षा-

न्यायकन्दली

विभक्तिकस्तसिलिति तसिल् । एतस्मिन्नेव कालेऽपेक्षाबुद्धेर्विनश्यत्ता विनाश-कारणसान्निध्यम् । सामान्यतज्ज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः **परत्वसामान्यं च, परत्वसामान्यज्ञानं च, परत्वगुणसम्बन्धश्च, तेभ्यः परत्वगुणबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः । परत्वसामान्यज्ञान-मेवापेक्षाबुद्धिविनाशकारणम्, गुणबुद्धेश्चोत्पत्तिकारणम्, अतस्तदुत्पाद एवापेक्षाबुद्धे-र्विनश्यत्ता गुणबुद्धेश्चोत्पद्यमानता स्यात् । ततः क्षणान्तरेऽपेक्षाबुद्धेर्विनाशः, परत्वगुणबुद्धेश्चोत्पादः । ततस्तस्मादपेक्षाबुद्धिविनाशाद् गुणस्य विनश्यत्ता । गुणश्च गुणज्ञानं च तत्सम्बन्धश्च तेभ्यो द्रव्यबुद्धेरुत्पद्यमानतेत्येकः कालः । अपेक्षाबुद्धिविनाशो**

(अर्थात् परत्व की उत्पत्ति हो जाने पर जिस समय परत्व गुण में रहनेवाले सामान्य का ज्ञान होता है, उसके बाद) अपेक्षा-बुद्धि की 'विनश्यत्ता' अर्थात् विनाश के सभी कारणों का समावेश होता है । 'सामान्यतज्ज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः' (इस भाष्य सन्दर्भ का) 'परत्वसामान्यञ्च परत्वसामान्यज्ञानञ्च परत्वगुणसम्बन्धश्च तेभ्यः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अभिप्राय है कि परत्वसामान्य एवं परत्वसामान्य का ज्ञान और परत्वगुण का सम्बन्ध, इन तीन कारणों से 'परत्वगुण की उत्पद्यमानता' अर्थात् परत्व-गुण के उत्पादक सभी कारणों का संनिवेश होता है, ये सभी काम एक ही समय होते हैं । परत्वसामान्य का ज्ञान ही अपेक्षाबुद्धि के विनाश एवं गुणबुद्धि की उत्पत्ति इन दोनों का कारण है । अतः अपेक्षाबुद्धि की विनश्यत्ता और गुणबुद्धि की उत्पद्यमा-नता दोनों ही वस्तुतः परत्वसामान्य बुद्धि की उत्पत्ति स्वरूप ही हैं । इसके बाद दूसरे क्षण में अपेक्षाबुद्धि का विनाश होगा एवं परत्वगुणबुद्धि की उत्पत्ति होगी । 'ततः'

प्रशस्तपादभाष्यम्

परत्वस्योत्पत्तिरित्येकः कालः, ततः सामान्यबुद्धेरुत्पत्तिः, दिक्पिण्ड-संयोगस्य च विनाशः । अतो यस्मिन् काले गुणबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव

बुद्धि के द्वारा परत्वादि गुणों की उत्पत्ति होती है । उसके बाद (परत्वादि गुणों में रहनेवाले) सामान्य विषयक बुद्धि की उत्पत्ति, उक्त द्रव्य और पूर्व-दिक्प्रदेश इन दोनों के संयोग का नाश, ये दोनों काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद जिस समय परत्वादिगुणविषयक (विशिष्ट) बुद्धि की उत्पत्ति होती है, उसी समय (कथित) दिक्प्रदेश और (परत्वादि गुणों के आधार-

न्यायकन्दली

गुणविनाशस्य कारणम्, गुणबुद्धिश्च द्रव्यबुद्धेः कारणम्, अपेक्षाबुद्धिविनाशगुणबुद्ध्युत्पादौ च युगपत् स्याताम्, अतो गुणस्य विनश्यत्ता द्रव्यबुद्धेश्चोत्पद्यमानतापि युगपत् स्यात् । ततः परत्वविशिष्टद्रव्यबुद्धेरुत्पादः परत्वगुणस्य च विनाशः ।

संयोगविनाशादपि कथं परत्वापरत्वयोर्विनाश **इति प्रश्ने कृते सत्याह**—अपेक्षाबुद्धिसमकालमेव **परत्वस्याधारे पिण्डे कर्मोत्पद्यते, क्षणान्तरे तेन कर्मणा दिशः परत्वाधारपिण्डस्य च विभागः क्रियते, अपेक्षा-**

इसके बाद, अपेक्षाबुद्धि के विनाश से गुण की विनश्यत्ता (उत्पन्न होती है) । 'गुणज्ञानतत्सम्बन्धेभ्यः' (इस भाष्यपङ्क्ति का) गुणश्च गुणज्ञानञ्च तत्सम्बन्धश्च तेभ्यः' (इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अभिप्राय है कि) गुण एवं गुण का ज्ञान और गुण का सम्बन्ध इन तीनों से द्रव्यबुद्धि (अर्थात् परत्व गुणविशिष्ट द्रव्य बुद्धि की) उत्पद्यमानता निष्पन्न होती है । ये सभी काम एक ही समय होते हैं । अपेक्षाबुद्धि का विनाश (परत्वादि) गुणों के विनाश का कारण है । गुणबुद्धि (गुणविशिष्ट) द्रव्यबुद्धि का कारण है । अतः अपेक्षाबुद्धि का विनाश और गुणबुद्धि का उत्पादन दोनों एक ही समय होते हैं । इसीलिए गुण की विनश्यत्ता और द्रव्यबुद्धि की उत्पद्यमानता ये दोनों ही एक ही समय होंगी । एवं इसी कारण (परत्व) गुण की विनश्यत्ता और (परत्वगुण विशिष्ट) द्रव्य बुद्धि की उत्पद्यमानता ये दोनों भी एक ही समय होंगी । इसके बाद परत्वगुण विशिष्ट द्रव्यबुद्धि की उत्पत्ति एवं परत्व गुण का विनाश होगा ।

(२) केवल संयोग के विनाश से परत्व और अपरत्व का विनाश किस रीति से (किस स्थिति में) होता है ? यह प्रश्न किये जाने पर 'अपेक्षाबुद्धिसमकालमेव' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । अर्थात् जहाँ निम्मिलिखित स्थिति होती है, वहाँ संयोग के विनाश से परत्व का विनाश होता है । (जैसे) अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति के समय ही पिण्ड (परत्वादि के आधार पर भूत द्रव्य) में क्रिया उत्पन्न होती है । इस क्रिया के द्वारा आगे दूसरे क्षण में उक्त पिण्ड का पूर्व दिशा के साथ विभाग उत्पन्न होता है,

प्रशस्तपादभाष्यम्

काले दिक्पिण्डसंयोगविनाशाद् गुणस्य विनाश।

द्रव्यविनाशादद्रपि कथम् परत्वाधारावयवे कर्मोत्पन्नं यस्मिन्नेव कालेऽवयवान्तराद्विभागं करोति, तस्मिन्नेव कालेऽपेक्षा-

भूत द्रव्य इन दोनों के) संयोग के विनाश से परत्वादि गुणों का विनाश होता है ।

३. (प्र.) (आधारभूत) द्रव्य के विनाश से (परत्वादि गुणों का) विनाश किस प्रकार (किस स्थिति में) होता है ? (उ.) (जहाँ) परत्वादिगुणों के आधारभूत द्रव्य (के एव अवयव) में उत्पन्न हुई क्रिया जिस समय एकअवयव का दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न करती है,

न्यायकन्दली

बुद्धेश्च परत्वस्योत्पतिरित्येकः काल । तत उत्पन्ने परत्वे परत्वसामान्यबुद्धेरुत्पत्तिः दिक्पिण्डसंयोगस्य च विभागाद् विनाश इत्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यज्ञानाद् गुणबुद्धिरुत्पद्यते तस्मिन्नेव काले दिक्पिण्डसंयोगविनाशात् परत्वस्य विनाशो नापेक्षाबुद्धिविनाशात्, अपेक्षाबुद्धेरपि तदानीमेव विनाशात् ।

द्रव्यविनाशादपि कथं विनाश इत्याह—परत्वाधारावयव **इति । भविष्यतः परत्वस्याधारो द्रव्यम्, तस्यावयवे कर्मोत्पन्नं यदाऽवयवान्तराद् विभागं करोति, तस्मिन्नेव कालेऽपेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते ततो विभागाद् यस्मिन्नेव काले द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, तस्मिन्नेव कालेऽपेक्षाबुद्धेः परत्वमुत्पद्यते । ततः**

एवं अपेक्षाबुद्धि के द्वारा परत्व की उत्पत्ति होती है । इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद जिस समय (परत्वगत जातिरूप) सामान्य के ज्ञान से गुणविशिष्टद्रव्य विषयक बुद्धि की उत्पत्ति होती है, उसी समय दिशा और (परत्व के आधारभूत द्रव्य रूप) पिण्ड इन दोनों के संयोग के विनाश से परत्व का भी विनाश होता है । (यहाँ) परत्व का विनाश अपेक्षाबुद्धि के विनाश से सम्भव नहीं है, क्योंकि उसी समय (परत्वनाश के समय ही) अपेक्षाबुद्धि का भी विनाश होता है ।

(३) (आधारभूत) द्रव्य के विनाश से परत्वादि का विनाश किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर 'परत्वाधारावयवे' इत्यादि ग्रन्थ से दिया गया है । उत्पन्न होनेवाले परत्व के आधारभूत अवयवि द्रव्य ही (प्रकृत में 'परत्वाधार' शब्द से इष्ट है) इस (द्रव्य) के अवयव में उत्पन्न हुई क्रिया जिस समय (अपने आधारभूत एक अवयव द्रव्य का) दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय अपेक्षाबुद्धि भी उत्पन्न होती है । इसके बाद जिस समय विभाग से द्रव्य के उत्पादक संयोग का विनाश

प्रशस्तपादभाष्यम्

बुद्धिरुत्पद्यते । ततो विभागाद् यस्मिन्नेव काले संयोगविनाशः, तस्मिन्नेव काले परत्वमुत्पद्यते । ततः संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः, तद्विनाशाच्च तदाश्रितस्य गुणस्य विनाशः ।

द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्युगपद्विनाशादपि कथम् ? यदा परत्याधारावयवे

इसके बाद जिस समय उक्त विभाग के द्वारा परत्वादि के आधारभूत द्रव्य के उत्पादक दोनों अवयवों के संयोग का नाश होता है, उसी समय परत्वादि गुणों की उत्पत्ति भी होती है । इसके बाद (उक्त) संयोग के विनाश से (परत्वादि के आधारभूत) द्रव्य का नाश होता है, एवं द्रव्य के विनाश से उसमें रहनेवाले परत्वादि गुणों का भी नाश हो जाता है ।

४. एक ही समय (परत्वादि के आधारभूत) द्रव्य और अपेक्षाबुद्धि इन दोनों के विनाश से परत्वादि गुणों का विनाश (कहाँ और किस

न्यायकन्दली

संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः । ततो द्रव्यविनाशात् तदाश्रितस्य गुणस्य विनाशः । तदानीमेव परत्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाशः, आश्रयविनाशाच्च दिक्पिण्डसंयोगविनाश इत्यनयोर्न हेतुत्वं सहभावित्वात् ।

द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्युगपद्विनाशादपि कथम् । **यदैव परत्वाधारावयवे कर्मोत्पद्यते, तदैवापेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते । कर्मणा चावयवान्तराद्विभागः क्रियते, परत्व-स्योत्पत्तिरित्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव कालेऽवयवविभागाद् द्रव्यारम्भक-**

होता है, उसी समय अपेक्षाबुद्धि के द्वारा परत्व की भी उत्पत्ति होती है । इसके बाद उक्त संयोग के विनाश से (अवयवि) द्रव्य का विनाश होता है । चूँकि परत्वगुण में रहनेवाले सामान्य के ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का विनाश एवं (उक्त अवयवी रूप) आश्रय के विनाश से दिशा और पिण्ड के संयोग का विनाश, ये दोनों भी उसी समय उत्पन्न होते हैं, अतः (परत्व के विनाशक रूप में कथित होने पर भी) ये दोनों प्रकृत में परत्वादि के विनाशक नहीं हो सकते ।

(४) एक ही समय उत्पन्न होनेवाले द्रव्य का विनाश, और अपेक्षा बुद्धि का विनाश इन दोनों से किस प्रकार परत्वादि का विनाश होता है ? 'द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योः' इत्यादि से इस प्रश्न का उपपादन किया गया है, एवं 'यदैव परत्वाधारावयवे' इत्यादि से उसके समाधान का उपपादन हुआ है । (जहाँ) जिस समय परत्व के

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्मोत्पद्यते तदैवापेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते । कर्मणा चावयवान्तराद्विभागः क्रियते, परत्वस्योत्पत्तिरित्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव कालेऽवयव-विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशस्तस्मिन्नेव काले सामान्यबुद्धि-रुत्पद्यते, तदनन्तरं संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः, सामान्य-

क्रिया) और अपेक्षाबुद्धि दोनों एक ही समय उत्पन्न होती हैं, एवं क्रिया उसी समय दोनों अवयवो में विभाग को उत्पन्न करती है, एवं (अपेक्षाबुद्धि) परत्वादि गुणों को उत्पन्न करती है । इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद जिस समय उक्त विभाग से द्रव्य के उत्पादक संयोग का विनाश होता है, उसी समय (परत्वादिगुणों में रहनेवाली) सामान्य (जाति) विषयक बुद्धि भी उत्पन्न होती है । इसके बाद (उक्त संयोग के नाश से)

न्यायकन्दली

संयोगविनाशः, तस्मिन्नेव काले परत्वसामान्यज्ञानमुत्पद्यते । तदनन्तरं संयोगविनाशाद् द्रव्यविनाशः, सामान्यबुद्धेश्चापेक्षाबुद्धेरपि विनाश इत्येकः कालः । ततो द्रव्यापेक्षा-बुद्ध्योर्विनाशात् परत्वस्य विनाशः, प्रत्येकमन्यत्रोभयोरपि विनाशं प्रति कारणत्वप्रतीतेः । इह चान्यतरविशेषानवधारणादुभयोरपि विनाशं प्रति कारणत्वम् ।

आधारभूत द्रव्य के अवयव में क्रिया उत्पन्न होती है, उसी समय क्रिया से उसके आधारभूत अववय द्रव्य का दूसरे अवयव से विभाग उत्पन्न होता है, एवं (उक्त अवयवी द्रव्य में) परत्व की भी उत्पत्ति होती है । इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद जिस समय अवयवों के विभाग से द्रव्य (अवयवि) के उत्पादक संयोग का विनाश होता है, उसी समय परत्व (में रहनेवाले) सामान्य का ज्ञान भी उत्पन्न होता है । इसके बाद (अवयवों के) संयोग के विनाश से द्रव्य का विनाश होता है, एवं कथित सामान्य विषयक ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का भी विनाश होता है । इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद परत्व का विनाश होता है, वह द्रव्य विनाश और अपेक्षाबुद्धि का विनाश, इन दोनों से ही होता है; क्योंकि इन दोनों में से प्रत्येक में परत्व विनाश की कारणता स्वीकृत हो चुकी है । एवं दोनों में से किसी एक में किसी विशिष्टता की प्रतीति नहीं होती, जिससे कि किसी एक को ही कारण मानें दूसरे को नहीं, अतः (समानयुक्ति रहने के कारण) दोनों को ही परत्व-विनाश का कोरण मानना पड़ता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

बुद्धेश्चापेक्षाबुद्धिविनाश इत्येकः कालः । ततो द्रव्यापेक्षाबुद्ध्योर्विनाशात् परत्वस्य विनाशः ।

द्रव्यसंयोगविनाशादपि कथम् ? यदा परत्वाधारावयवे कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद्विभागं करोति, तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मापेक्षाबुद्ध्योर्युगपदुत्पत्तिः । ततो यस्मिन्नेव काले परत्वस्योत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले विभा-

द्रव्य का नाश एवं उक्त सामान्यविषयक बुद्धि और अपेक्षाबुद्धि इन दोनों का भी नाश होता है । इसके बाद उक्त द्रव्यनाश और अपेक्षाबुद्धि का विनाश इन दोनों से परत्वादि गुणों का विनाश होता है ।

(५) (प्र.) द्रव्यनाश और संयोगनाश इन दोनों से परत्वादि गुणों का विनाश(कहाँ और) किस स्थिति में होता है ? (उ.)(जहाँ) जिस समय परत्वादि के आधारभूत द्रव्यके अवयव में उत्पन्न क्रिया उसके दूसरे अवयव से विभाग को उत्पन्न करती है, उसी समय परत्वादि के आधारभूत (अवयवि) द्रव्य में भी क्रिया एवं अपेक्षाबुद्धि दोनों की उत्पत्ति पहिले की तरह होती है, इसके बाद जिस समय परत्वादि गुणों की उत्पत्ति होती है, उसी

न्यायकन्दली

द्रव्यसंयोगविनाशादपीत्यादि । **द्रव्यसंयोगविनाशादपि कथम् विनाशः ? यदा परत्वाधारावयवे कर्मोत्पन्नमवयवान्तराद्विभागं करोति, तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मापेक्षाबुद्ध्योर्युगपदुत्पत्तिः । ततो यस्मिन्नेव काले परत्वस्योत्पत्तिस्तस्मिन्नेव कालेऽवयवविभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, पिण्डकर्मणा च दिक्पिण्डस्य च विभागः क्रियत इत्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यबुद्धिरुत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशात् पिण्ड-**

(५) 'द्रव्यसंयोगादवि' इत्यादि भाष्यग्रन्थ के द्वारा यह प्रश्न किया गया है कि द्रव्य का विनाश और संयोग का विनाश इन दोनों से परत्वादि का विनाश कैसे होता है ? (उ.)(जहाँ) जिस समय परत्वादि के आधारभूत अवयव में कर्म उत्पन्न होकर अपने आश्रयरूप अवयव का दूसरे अवयवों से विभाग को उत्पन्न करता है, उसी समय एक साथ ही अवयवी में क्रिया और अपेक्षाबुद्धि इन दोनों की उत्पत्ति होती है । इसके बाद जिस समय परत्व की उत्पत्ति होती है, उसी समय अवयवों के विभाग से द्रव्य के उत्पादक संयोग का भी विनाश होता है । एवं अवयवी की क्रिया के द्वारा दिशा से अवयवी का विभाग भी उत्पन्न होता है । इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद जिस समय (परत्व गुण में रहनेवाले) सामान्य का ज्ञान होता है, उसी समय द्रव्य के उत्पादक संयोग के विनाश से अवयवी का विनाश भी उत्पन्न होता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

गाद् द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशः, पिण्डकर्मणा दिक्पिण्डस्य च विभागः क्रियत इत्येकः कालः । ततो यस्मिन्नेव काले सामान्यबुद्धिरुत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशात् पिण्डविनाशः, पिण्ड-

समय विभाग से द्रव्य के उत्पादक संयोग का नाश, और (उक्त अवयवि-रूप) पिण्ड की क्रिया से पिण्ड का पूर्वदिक्प्रदेश से विभाग, ये दोनों काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद जिस समय सामान्य विषयक बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी समय (अवयवि) द्रव्य के उत्पादक संयोग के विनाश से (परत्वादि के आधारभूत अवयवि) पिण्डद्रव्य का विनाश, और पिण्ड के विनाश से (पूर्वदिक् प्रदेश के साथ) पिण्डसंयोग का विनाश भी होता

न्यायकन्दली

विनाशः, पिण्डविनाशाच्च पिण्डसंयोगविनाशः, ततो गुणबुद्धिसमकालं पिण्डदिक्पिण्ड-संयोगविनाशात् परत्वस्य विनाशः । अपेक्षाबुद्धिविनाशस्तु न कारणम्, तदानीमेव सामान्यबुद्धेस्तस्य सम्भवात् ।

संयोगापेक्षाबुद्ध्योर्युगपद्विनाशादपि कथम् । **यदा परत्वमुत्पद्यते तदा परत्वस्याधारे द्रव्ये कर्म, ततो यस्मिन्नेव काले परत्वसामान्यबुद्धिरुत्पद्यते परत्वस्याधारे तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मणा दिक्पिण्डविभागः क्रियते । ततः सामान्यबुद्धितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशो दिक्पिण्डविभागाच्च दिक्पिण्डसंयोग-**

एवं अवयवी के विनाश से उसमें रहनेवाले संयोग का भी विनाश होता जाता है । इसके बाद जिस समय परत्व गुण (विशिष्टद्रव्य) की बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी समय परत्व का विनाश भी होता है । अपेक्षाबुद्धि का विनाश यहाँ परत्व के विनाश का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि परत्व के विनाश के काल में ही परत्व में रहनेवाले सामान्य के ज्ञान से वह उत्पन्न होती है ।

(६) (प्र.) एक ही समय संयोग और अपेक्षाबुद्धि दोनों के विनाश से परत्व का विनाश किस प्रकार होता है ? (उ.) (इस प्रकार होता है कि) जिस समय परत्व उत्पन्न होता है उसी समय परत्व के आधारभूत द्रव्य में क्रिया भी उत्पन्न होती है । इसके बाद जिस समय परत्व में रहनेवाले सामान्य का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी समय परत्व के आधार भूत द्रव्य में उसी में रहनेवाली क्रिया से दिशा के साथ उसका विभाग भी उत्पन्न होता है । इसके बाद परत्व में रहनेवाले सामान्य विषयक बुद्धि के विनाश से अपेक्षाबुद्धि का विनाश उत्पन्न होता है, एवं दिशा और (परत्व के

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशाच्च पिण्डसंयोगविनाशः । ततो गुणबुद्धि समकालं पिण्डदिक्पिण्ड-संयोगविनाशात् परत्वस्य विनाशः ।

संयोगापेक्षाबुद्धयोर्युगपद्विनाशादपि कथम् ? यदा परत्वमुत्पद्यते, तदा परत्वाधारे कर्म, ततो यस्मिन्नेव काले परत्वसामान्यबुद्धिरुत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले पिण्डकर्मणा दिक्पिण्डविभागः क्रियते, ततः सामान्य-

है । इसके बाद (परत्वादि) गुणविषयक बुद्धि की उत्पत्ति के समय (परत्वादि के आधारभूत) पिण्ड के नाश और पिण्ड का (पूर्वदिक् प्रदेश के साथ) संयोग के नाश, इन दोनों से परत्वादि गुणों का विनाश होता है ।

(६) एक ही समय संयोग और अपेक्षाबुद्धि दोनों के विनाश से (कहाँ और) किस स्थिति में परत्वादिगुणों का विनाश होता है ? (उ.) (जहाँ) जिस समय परत्वादि की उत्पत्ति होती है, उसी समय उनके आधारभूत द्रव्यों में क्रिया भी उत्पन्न होती है । इसके बाद जिस समय परत्वादि गुणों में रहनेवाले (परत्वादि) सामान्यविषयक बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी समय पिण्ड (द्रव्य) की क्रिया से पूर्वदिक्प्रदेश के साथ पिण्ड (द्रव्य) का विभाग भी उत्पन्न होता है । इसके बाद उक्त सामान्यविषयक ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का विनाश और उक्त विभाग से पूर्वदिक्प्रदेश के साथ पिण्ड के संयोग का विनाश इतने कार्य एक समय में होते हैं । इसके बाद उक्त संयोगनाश और अपेक्षाबुद्धि का विनाश इन दोनों से परत्वादि गुणों का विनाश होता है ।

न्यायकन्दली

विनाश इत्येकः कालः । ततः संयोगापेक्षाबुद्धिविनाशात् परत्वस्य विनाशः । द्रव्यविनाशस्तु तदानीं नास्त्येवेति न तस्य हेतुत्वम् ।

त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां विनाशादपि कथम् ?

आधारभूत) द्रव्य के विभाग से उन दोनों के संयोग का नाश होता है । इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद कथित (दिक्पिण्ड) संयोग और अपेक्षाबुद्धि इन दोनों के विनाश से परत्व विनाश होता है । उस समय द्रव्य का विनाश नहीं है, अतः वह (उस समय के परत्व विनाश का) कारण नहीं हो सकता ।

(७) 'त्रयाणाम्' इत्यादि वाक्य के द्वारा (समवायि चासमवयि च निमित्तञ्च समवाय्य-समवायिनिमित्तानि, तानि च कारणानि चेति समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानि) इस विग्रह के अनुसार यह प्रश्न किया गया है कि द्रव्य या रूप समवायिकारण, दिक्पिण्ड

प्रशस्तपादभाष्यम्

बुद्धितोऽपेक्षाबुद्धिविनाशः, विभागाच्च दिक्पिण्डसंयोगविनाश इत्येकः कालः । ततः संयोगविनाशात् परत्वस्य विनाशः ।त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां युगपद्विनाशादपि कथम् ? यदापेक्षाबुद्धिरुत्पद्यते,तदा पिण्डावयवे कर्म, ततो यस्मिन्नेव काले कर्मणाऽवयवान्तराद्विभागः क्रियतेऽपेक्षाबुद्धेः परत्वस्य चोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले पिण्डेऽपि कर्म, ततोऽवयवविभागात् पिण्डारम्भकसंयोग-

(७)(प्र.) समवायिकारण(परत्वादि के आधारभूत द्रव्य) असमवायि-कारण (दिक्प्रदेशसंयोग) और निमित्तकारण (अपेक्षाबुद्धि) इन तीनों के नाश से परत्वादि गुणों का नाश(कहाँ और)किस स्थिति में होता है ? (उ.)जहाँ जिस समय अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होती है, उसी समय (परत्वादि के समवायिकारण) पिण्ड के अवयव में क्रिया उत्पन्न होती है । इसके बाद जिस समय उक्त क्रिया से (एक अवयव का) दूसरे अवयव से विभाग उत्पन्न होता है, उसी समय अपेक्षाबुद्धि और परत्वादि गुण इन दोनों की उत्पत्ति होती है । एवं पिण्ड (अवयवि) में भी क्रिया उसी समय उत्पन्न होती है । इसके बाद अवयवों के उक्त विभाग से पिण्ड के

न्यायकन्दली

समवायि चासमवायि च निमित्तं च समवाय्यसमवायिनिमित्तानि, तानि च कारणानि चेति समवाय्यसमवायि निमित्तकारणानि द्रव्यसंयोगापेक्षाज्ञानानि, तेषां त्रयाणां युगपद्विनाशात् कथं परत्वस्य विनाश इति प्रश्ने कृते प्रत्युत्तरमाह—यदेति । **इत्येतत् सर्वं युगपद्भवति कारण-यौगपद्यात्, ततश्च त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां विनाशात् परत्वस्य विनाश इति । परत्वस्य विनाश इत्युपलक्षणमिदम् । अपरत्वस्याप्ययमेव विनाशक्रमो दर्शयितव्यः ।**

संयोग रूप असमवायिकरण, एवं अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारण, इन तीनों कारणों के एक ही समय विनाश के कारण परत्व का विनाश किस प्रकार होता है ? इसी प्रश्न के उत्तर में 'यदा' इत्यादि भाष्य सन्दर्भ लिखा गया है । अर्थात् जब एक ही समय उक्त तीनों कारणों के विनाश कारणसमूह एकत्र हो जाते हैं, तो फिर तीनों का एक ही समय विनाश हो जाता है । इसके बाद परत्व के तीनों कारणों के विनाश से परत्व का विनाश हो जाता है । इस प्रकरण में 'परत्वविनाश' शब्द उपलक्षणमात्र है (नियामक नहीं), अतः इसी से अपरत्व नाश का भी यही क्रम जानना चाहिए ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशः पिण्डकर्मणा च दिक्पिण्डविभागः क्रियते, सामान्यबुद्धेश्चोत्पत्तिरित्येकः कालः । ततः संयोगविनाशात् पिण्डविनाशः, विभागाच्च दिक्पिण्डसंयोगविनाशः, सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाश इत्येतत् सर्वं युगपत् त्रयाणां समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानां विनाशात् परत्वस्य विनाश इति ॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः । सा चानेकप्रकारा, अर्थानन्त्यात् प्रत्यर्थनियतत्वाच्च ।

उत्पादक संयोग का विनाश, और अवयवी (पिण्ड) की क्रिया, उसका पूर्वदिक्प्रदेश के साथ विभाग और सामान्य विषयक बुद्धि की उत्पत्ति, इतने सारे काम एक ही समय होते हैं । इसके बाद उक्त संयोग के विनाश से पिण्ड का विनाश एवं पूर्वदिशा और पिण्ड के विभाग से इन दोनों के संयोग का नाश, एवं सामान्य ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है । इस प्रकार एक ही समय समवायिकारण (परत्वादि के आधारभूत पिण्डद्रव्य), असमवायिकारण (उक्त पिण्ड का पूर्वादि दिक्प्रदेशों के साथ संयोग) और निमित्तकारण (अपेक्षाबुद्धि) इन तीनों के विनाश से (भी) परत्वादि गुणों का विनाश होता है ।

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय (ये सभी) शब्द अभिधावृत्ति के द्वारा एक ही अर्थ के बोधक हैं ।

यह अनेक (अनन्त) प्रकार की है, क्योंकि इसके विषय अनन्त हैं और यह प्रत्येक विषय में स्वतन्त्र रूप से (भी) अवश्य ही सम्बद्ध है ।

न्यायकन्दली

बुद्धिजे परत्वापरत्वे इति समर्थिते । अथ केयं बुद्धिरित्याह—बुद्धिरित्यादि । **प्रधानस्य विकारो महदाख्यमन्तःकरणं चित्तापरपर्यायबुद्धिः । बुद्धी-**

यह समर्थन कर चुके हैं कि परत्व और अपरत्व दोनों ही बुद्धि से उत्पन्न होते हैं । किन्तु 'यह बुद्धि कौन-सी वस्तु है ?' (इस स्वाभाविक प्रश्न का उत्तर) 'बुद्धिः' इत्यादि पङ्क्ति से देते हैं ।

सांख्याचार्यों का कहना है कि प्रकृति **(प्रधान)** का महत् नाम का विकाररूप अन्तःकरण ही 'बुद्धि' है, जिसे 'चित्त' भी कहते हैं । इस बुद्धि की वह विषयाकार की

प्रशस्तपादभाष्यम्

तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे—विद्या चाविद्या चेति । तत्राविद्या चतुर्विधा—संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा ।

संशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोः सादृश्यमात्रदर्शनादुभय-विशेषानुस्मरणादधर्माच्च किंस्विदित्युभयालम्बी विमर्शः

यह (बुद्धि व्यक्तिशः) अनन्त प्रकार की होने पर भी संक्षेप में (१) विद्या (यथार्थज्ञान) और २. अविद्या (अयथार्थ ज्ञान) भेद से दो प्रकार की है । इनमें अविद्या के (१) संशय (२) विपर्यय (३) अनध्यवसाय और (४) स्वप्न, ये चार भेद हैं ।

जिन दो वस्तुओं के साधारण धर्म पहिले से ज्ञात हैं, उन दोनों के केवल साधारण धर्म रूप सादृश्य के ज्ञान, एवं पश्चात् दोनों के असाधारण धर्मों के स्मरण और अधर्म इन (तीनों हेतुओं) से 'यह अमुक वस्तु है ? या उससे भिन्न ?' इस प्रकार के दो विरुद्ध विषयों का ज्ञान ही 'संशय' है । यह (१) अन्तःसंशय और (२) बहिःसंशय भेद से दो प्रकार का

न्यायकन्दली

न्द्रियप्रणालिकया बाह्यविषयोपरक्तायास्तदाकारोपग्रहवती सत्त्वगुणाश्रयवृत्ति-र्ज्ञानम्, प्राप्तविषयाकारोपग्रहायां बुद्धौ प्रतिबिम्बितायाश्चेतनाशक्तेस्तद्वृत्त्यनुकार उपलब्धिः । तथा चाह स्म भगवान् पतञ्जलिः —"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुभव-तीति" इति । भोक्तृशक्तिरिति चितिशक्तिरुच्यते, सा चात्मैव । परिणामिन्यर्थ इति बुद्धितत्त्वे प्रतिसङ्क्रान्तेवेति प्रतिबिम्बितेवेत्यर्थः । तद्वृत्तिमनु-भवति बुद्धौ प्रतिबिम्बिता सती बुद्धिच्छायापत्त्या बुद्धिवृत्त्यनुकारिणी

वृत्ति ही ज्ञान है, जिसमें सत्वगुण की प्रधानता रहती है, एवं जो ज्ञानेन्द्रिय के मार्ग से बुद्धि के निकलने पर विषयों के साथ उसके सम्बद्ध होने के कारण उत्पन्न होती है । एवं विषय के आकार में परिणत बुद्धि (ज्ञान में) प्रतिबिम्बित पुरुष के उस वृत्ति के अनुकरण को ही 'उपलब्धि' कहते हैं । जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि भोक्तृशक्ति अपरिणामिनी एवं किसी में प्रतिबिम्बित होनेवाली नहीं है; किन्तु (बुद्धिरूप) परिणामी अर्थ में प्रतिबिम्बित की तरह उसकी वृत्तियों का अनुभव करती है । अभिप्राय यह है कि चितिशक्ति को ही भोक्तृशक्ति कहते हैं जो वस्तुतः आत्मा ही है । परिणामी अर्थ में—अर्थात् बुद्धितत्व में 'प्रतिसंक्रान्तेव' अर्थात् प्रतिबिम्बित की तरह 'तद्वृत्तिमनुभवति' अर्थात् बुद्धि की छाया पड़ने के कारण वह (चितिशक्ति) बुद्धि की वृत्तियों का अनुकरण करने-सी लगती है । सुखादि आकार के (अहं सुखी—इत्यादि

प्रशस्तपादभाष्यम्

संशयः। स च द्विविधः—अन्तर्बहिश्च । अन्तस्तावद् आदेशिकस्य सम्यङ् मिथ्या चोद्दिश्य पुनरादिशतस्त्रिषु कालेषु संशयो भवति—'किन्नु सम्यङ् मिथ्या वा' इति ।

है । (१) अन्तःसंशय (का उदाहरण यह है कि जहाँ) किसी ज्योतिषी ने (एक समय एक व्यक्ति के ग्रह स्थिति को देखकर उसे) कहा कि तुम्हें अमुक इष्ट या अनिष्ट फल भूत काल में मिल चुका है, या भविष्य में मिलनेवाला है (या) वर्त्तमान में भी है । उनका यह फलादेश सत्य हुआ । किन्तु उनके ही अन्य निर्देश मिथ्या सिद्ध हुए । (ऐसी स्थिति में वही यदि) पुनः फलादेश करते हैं तो उस व्यक्ति को ज्योतिषी के इस आदेश से उत्पन्न अपने ज्ञान में संशय होता है कि 'यह सत्य है या मिथ्या ?'

न्यायकन्दली

भवतीत्यर्थः । बुद्धेर्विषयः सुखाद्याकारः प्रत्ययः । तथा चाह स एव भगवान्– "शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, अनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते" इति ।

एतत् सांख्यमतं निराकर्तुमाह—बुद्धिरित्यादि ।

यस्या अमी पर्यायशब्दाः, सा बुद्धिः । या पुनरियं प्रक्रियोपदर्शिता सा प्रतीत्यभावादेव पराणुद्यते । विषयहानोपादानानुगुणमुत्पादव्यधर्मकमेकम्, तदधिकरणं चापरम्, यस्य तदुत्पादात् प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्, इत्युभयं प्रत्यात्ममनुभूयते, न प्रकारान्तरम् । या चास्या बुद्धेर्वृत्तिः, सा किं बुद्धेरन्याऽनन्या वा ? न तावदन्या, वृत्तिवृत्तिमतोरैकान्तिकतादात्म्याभ्युपगमात् । अथानन्या, तदा

आकार के) प्रत्यय ही बुद्धि के विषय हैं । जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने ही कहा है कि पुरुष शुद्ध (अपरिणामी) होने पर भी बुद्धि की देखी हुई वस्तुओं को ही उसके पीछे देखता है । उसके बाद देखने ही के कारण विषय स्वरूप न होने पर भी विषय रूप से प्रतिभासित होता है ।

इसी सांख्यमत का खण्डन करने के लिए 'बुद्धि' इत्यादि पङ्क्ति लिखी गई है । अर्थात् अभिधावृत्ति के द्वारा इन सभी शब्दों से जिसका बोध हो वही 'बुद्धि' है । सांख्य के अनुयायियों की जो रीति ऊपर लिखी गयी है, वह साधारण प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण ही खण्डित हो जाती है । बुद्धि एक ऐसी वस्तु है ; जिसके द्वारा (अभिमत) विषयों को ग्रहण और (प्रतिकूल विषयों का) त्याग होता है । एवं जिसकी

प्रशस्तपादभाष्यम्

बहिर्द्विविधः—प्रत्यक्षविषये चाप्रत्यक्षविषये च । तत्राप्रत्यक्षविषये तावत् साधारण-लिङ्गदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणादधर्माच्च संशयो भवति । यथाऽटव्या विषाणमात्र-दर्शनाद् गौर्गवयो वेति । प्रत्यक्षविषयेऽपि स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसादृश्यदर्शनाद्

बहि:सशय दो प्रकार का है १. जिसके विषय प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गृहीत हों एवं २. जिसके विषय प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत न हो सकें । इनमें अप्रत्यक्षविषय का बहि:संशय वह है जो दोनों कोटियों में रहनेवाले (साधारण) धर्म के ज्ञान, एवं दोनों कोटियों में से प्रत्येक के असाधारण धर्म की अनुस्मृति (पश्चात्स्मरण) और अधर्म इन कारणों से उत्पन्न होता है । जैसे जङ्गल में (जाने पर) केवल सींग के देखने पर यह संशय होता है कि यह (सींगवाला) गो है या गवय ? प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होनेवाले विषयों के संशय (का यह उदाहरण है कि) स्थाणु और पुरुष दोनों में समान रूप से रहनेवाला उच्चता (ऊँचाई) रूप से सादृश्य का ज्ञान, दोनों में से प्रत्येक में रहनेवाली वक्रता

न्यायकन्दली

बुद्धेरेकत्वे विषयाकारवतीनां तद्वृत्तीनामप्येकत्वात् त्रिचतुरादिप्रत्ययो दुर्लभः, परस्परविलक्षणाकारसंवेदनाभावाद् बुद्ध्यारूढाकारमात्रवेदित्वाच्च पुरुषस्य । यथोक्तम् — 'बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष' इति । वृत्तीनां वा नानात्वे बुद्धेरपरापि नानात्वादेकत्वव्याघात' इत्यादि दूषणमूह्यम् ।

बुद्धेर्भेदं निरूपयति—सा चानेकप्रकारेति । **अत्र कारणमाह—अर्था-**

उत्पत्ति और विनाश दोनों ही होते हैं । एवं जिसका कोई दूसरा आश्रय है । जिसमें उसकी उत्पत्ति से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही उपपन्न होती हैं । (बुद्धि के प्रसङ्ग में) इन्हीं दोनों प्रकारों का प्रत्येक आत्मा अनुभव करता है, दूसरे का नहीं । (इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न भी उठता है कि) बुद्धि की यह कथित 'वृत्ति' बुद्धि से भिन्न है या अभिन्न ? सांख्याचार्यगण वृत्ति और उसके आश्रय दोनों में अत्यन्त अभेद मानते हैं, अतः (उनके मत से) ये दोनों भिन्न तो हो नहीं सकते । यदि वृत्ति और वृत्तिमान में भेद मानें, तो ये तीन हैं, ये चार हैं इत्यादि विभिन्न प्रकार की प्रतीतियाँ दुर्लभ होंगी, क्योंकि बुद्धि के एक होने के कारण उसकी वृत्ति भी एक ही होगी, अतः वृत्तियों में परस्पर विशेष नहीं हो सकता, क्योंकि सभी आकार एक ही बुद्धि में आरूढ हैं । जैसा कि (भगवान् पतञ्जलि ने)

प्रशस्तपादभाष्यम्

वक्रादिविशेषानुपलब्धितः स्थाणुत्वादिसामान्यविशेषानभिव्यक्तावुभयविशेषानुस्मरणादुभयत्राकृष्यमाणस्यात्मनः प्रत्ययो दोलायते– किं नु खल्वयं स्थाणुः स्यात् पुरुषो वेति ?

(टेढ़ापन) और हस्तपादादि असाधारण धर्मों का अज्ञान, दोनों कोटियों में से प्रत्येक में रहनेवाले स्थाणुत्वपुरुषत्वादि जाति रूप विशेष धर्मों का अप्रत्यक्ष, एवं इन दोनों जातियों की पश्चात् स्मृति, इन सभी कारणों से पुरुष का चित्त झूले की तरह स्थाणु और पुरुष दोनों तरफ डोलता है और उसे संशय होता है कि यह (सामने दीखनेवाला) स्थाणु है ? या पुरुष ?

न्यायकन्दली

नन्त्यादिति । **यदि नामार्थस्य विषयस्यानन्तत्वं बुद्धेरनेकविधत्वे किमायातम् ? तत्राह–** प्रत्यर्थनियतत्वाच्चेति । **प्रत्यर्थं प्रतिविषयमस्मदादिबुद्धयो नियताः, अर्थाश्चानन्ता इति प्रत्येकं तत्र बुद्धयोऽप्यनन्ताः । यदि क्वचिदनेकविषयमेकं विज्ञानं तदपि तावदर्थनियतत्वात् तदर्थाद् विज्ञानान्तराद् विलक्षणमेवेत्यदोषः ।**

बुद्धेर्विषयभेदेन सत्यपि भेदे संक्षेपतो द्वैविध्यमाह–तस्या इति । **निःसन्दिग्धाबाधिताध्यवसायात्मिका प्रतीतिर्विद्या, तद्विपरीता चाविद्येति । अत्र प्रतिपादनमात्रस्य विवक्षितत्वात् पश्चादुद्दिष्टामप्यविद्यां प्रथमं कथयति–**

कहा है कि 'बुद्धेः-प्रतिसंवेदी पुरुषः ।' अर्थात् बुद्धि में आरूढ़ आकारों को ही पुरुष अनुभव करता है । वृत्ति को यदि अनेक मानें तो फिर बुद्धि को भी नाना मानना पड़ेगा ही, जिससे बुद्धि की एकता खतरे में पड़ जाएगी, इन सभी दोषों की भी कल्पना करनी चाहिए ।

'सा चानेकप्रकारा' इत्यादि सन्दर्भ से बुद्धि के भेदों का निरूपण करते हैं । 'अर्थानन्त्यात्' इस पद के द्वारा इसमें हेतु दिखलाया गया है (कि बुद्धि अनेक प्रकार की क्यों है?) यदि अर्थ या विषय अनन्त हैं, तो फिर इसलिए बुद्धियाँ क्यों अनेक हों ? इसी प्रश्न का समाधान 'प्रत्यर्थनियतत्वाच्च' इस वाक्य के द्वारा दिया गया है । 'प्रति अर्थ' अर्थात् प्रत्येक विषय में हम लोगों की बुद्धियाँ नियत रूप से अलग हैं । ये 'अर्थ' या विषय असंख्य हैं, फिर बुद्धियाँ भी अवश्य ही अनन्त होंगी । जहाँ कहीं अनेक विषयक एक ज्ञान उपलब्ध भी होता है, वह भी उतने अर्थों में नियत तो है ही, किन्तु जो अपने विषयों से भिन्नविषयक या अल्पाधिक-विषयक ज्ञानों से भिन्न भी हैं । इस प्रकार (विषयभेद से ज्ञानभेद

न्यायकन्दली

तत्रेति । **तयोर्विद्याऽविद्ययोर्मध्ये** अविद्या चतुर्विधा **चतुष्प्रकारा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा ।**

नन्वविद्या चतुर्विधेति परिसंख्यानानुपपत्तिः, रूढस्य तर्कज्ञानस्यापि सम्भवात् । अनुभूयते ह्यन्तरा संशयं निर्णयं च तर्कः । तथा हि—उत्पत्तिधर्मक आत्मेत्येके । अनुत्पत्तिधर्मक इत्यपरे । ततो विप्रतिपत्तेः किंस्विदयमुत्पत्तिधर्मा आहोस्विदेवं न भवतीति संशये विचारात्मकस्तर्कः प्रवर्तते । यद्ययमुत्पत्तिधर्मकः, तदैकस्यानेकशरीरादिसंयोगलक्षणः संसारस्तदत्यन्तविमोक्षलक्षणश्चापवर्गो नोपपद्यते । अनुत्पत्तिधर्मके तु ज्ञातरि स्यातां संसारापवर्गावित्यनुत्पत्तिधर्मकेणानेन भवितव्यमिति ।

किमस्य सम्भावनाप्रत्ययस्य प्रयोजनम् ? तत्त्वज्ञानमेव, प्रतिपक्षनिश्चयवत् प्रतिपक्षसंशयेऽपि हि हेतोरप्रवृत्तिरेव, वस्तुनो द्वैरूप्याभावात् । यथाहुर्भट्टमिश्राः—

यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते ।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम् ॥ इति ।

के मानने में) कोई दोष नहीं है । 'तस्याः' इत्यादि से कहते हैं कि विषयों के भेद से बुद्धियों के असंख्य भेद होने पर भी संक्षेपतः उसके दो ही प्रकार हैं । सन्देह से भिन्न वह निश्चयात्मक ज्ञान ही 'विद्या' है, जिसके विषय बाधित न हों । यहाँ जिस किसी प्रकार से विषयों का प्रतिपादन ही इष्ट है, अतः पीछे कही गयी अविद्या का भी 'तत्र' इत्यादि से पहिले ही निरूपण करते हैं । 'तयोः' अर्थात् विद्या और अविद्या इन दोनों में अविद्या 'चतुर्विधा' अर्थात् (१) संशय (२) विपर्यय (३) अनध्यवसाय और (४) स्वप्न भेद से चार प्रकार की है ।

(प्र.) 'अविद्या चार ही प्रकार है' संख्या का यह नियम ठीक नहीं है; क्योंकि अविद्या के अन्तर्गत इनसे भिन्न तर्क रूप पाँचवें ज्ञान की भी सम्भावना है । क्योंकि संशय और विपर्यय के मध्यवर्ती तर्क का भी अनुभव होता है । जैसे कि कोई कहता है कि आत्मा की उत्पत्ति होती है । दूसरे उसे अनुत्पत्तिशील कहते हैं । इस विप्रतिपत्ति से यह संशय होता है कि 'आत्मा उत्पत्तिशील है या नहीं ?' इस संशय के बाद यह विचार रूप तर्क उपस्थित होता है कि अगर आत्मा उत्पत्तिशील वस्तु हो, तो फिर अनेक शरीरों के साथ इसका सम्बन्ध रूप संसार और उस सम्बन्ध के अत्यन्त विनाश रूप अपवर्ग ये दोनों ही अनुपपन्न होंगे । यदि इसे अनुत्पत्तिधर्मक मान लेते हैं, तो फिर कथित संसार और अपवर्ग दोनों ही उपपन्न हो जाते हैं । अतः इसे अनुत्पत्तिधर्मक ही होना चाहिए ।

न्यायकन्दली

अनेन तूत्पत्तिधर्मकत्वं व्युदस्यानुत्पत्तिधर्मकत्वं सम्भावयिताविषये विवेचिते सत्य-सत्प्रतिपक्षत्वादनुमानं प्रवर्तते इति विषयविवेचनद्वारेण प्रमाणानुग्राहकतया तर्कस्तत्त्व-ज्ञानाय घटते, प्रमाणस्य करणत्वेनेतिकर्तव्यतास्थानीयतर्कसहायस्यैव स्वकार्ये पर्यवसानात् । न ह्यनपेक्षितदृढमुष्टिनिपीडितो जाल्मकरपञ्जरोदरे विलुठन्नपि कठोरधारः कुठारः प्रतिति-ष्ठति निष्ठुरस्यापि काष्ठस्य छेदाय । तथा चोक्तम्–

नहि तत्करणं लोके वेदे वा किञ्चिदीदृशम् ।
इतिकर्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्थिता ॥ इति ।

यदि पुनरेवं तर्को नेष्यते परस्यानिष्टापादनरूपः प्रसङ्गोऽपि नाभ्युपगन्तव्यः स्यात् ? स हि तर्कादनतिरिच्यमानात्मा, अस्ति च वैशेषिकाणामपि प्रसङ्गः, प्रसङ्गो हेतुरा-श्रयासिद्धतादिदोषात् ।

(प्र.) इस 'सम्भावना प्रत्यय' रूप तर्क का प्रयोजन क्या है? (उ.) तत्त्व का ज्ञान ही इसका भी प्रयोजन है । क्योंकि प्रतिपक्ष (बाध) निश्चय की तरह प्रतिपक्ष संशय के रहने पर भी हेतु की प्रवृत्ति नहीं होती है । क्योंकि कोई भी वस्तु (परस्पर विरुद्ध) दो रूपों का नहीं होता । जैसा कि भट्टमिश्र ने कहा है कि 'जब तक विपक्ष में अव्यतिरेकित्व अर्थात् बाधाभाव का संशय (भी) रहेगा, तब तक हेतु में साध्य की सिद्धि करने का सामर्थ्य कहाँ से आएगा ?' इस प्रकार आत्मा से उत्पत्तिधर्मकत्व हो हटा कर विषय के विवेचित होने पर सत्प्रतिपक्ष दोष के हट जाने के कारण सम्भावयिता (तर्क करनेवाला पुरुष) अनुमान में प्रवृत्त होता है । इस रीति से विषय-विवेचन के द्वारा प्रमाण का सहायक होने के कारण तर्क भी तत्त्वज्ञान का सम्पादक होता है । प्रमाण करण रूप है । 'इतिकर्त्तव्यता' (करण से कार्य सम्पादन की रीति) के साहाय्य के बिना कोई करण अपना कार्य नहीं कर सकता । प्रमाण रूप करण का तर्क ही 'इतिकर्त्तव्यता' की जगह है । अतः इसके साहाय्य से ही प्रमाण अपने कार्य में सफल हो सकता है । कैसी ही तीखे धार की कुल्हाड़ी हो, उसको पकड़नेवाला चाहे जितना बलवान् हो, यदि वह गलत ढंग से उसको पकड़ता है, तो फिर उससे कठोर काठ का छेदन नहीं हो सकता, (अतः इतिकर्त्तव्यता का साहाय्य आवश्यक है) । जैसा कहा भी गया है कि लौकिक (कुठारादि) या वैदिक (यागादि) कोई भी ऐसा करण नहीं है, जिसे अपने कार्य के सम्पादन में इतिकर्त्तव्यता के साहाय्य की अपेक्षा न हो । इस प्रकार तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी तर्क को यदि स्वीकार नहीं करेंगे, तो फिर (प्रसङ्ग) को भी मानना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि वह भी प्रतिपक्षी के अनभीष्ट पक्ष का उपस्थापन स्वरूप ही है । इस प्रकार तर्क से प्रसङ्ग में कोई अन्तर नहीं है । किन्तु वैशेषिक लोग भी प्रसङ्ग की सत्ता मानते ही हैं ।

न्यायकन्दली

अत्रोच्यते–किं परपक्षाभावप्रतीतिस्तर्कः ? किं वा स्वपक्षसम्भावना ? आद्ये पक्षे प्रमाणमेवेदम्, ज्ञातुरनित्यत्वे संसारापवर्गयोरसंभव इति ज्ञानं यद्यप्रमाणम्, नास्माद् विपक्षाभावसिद्धिः, अप्रमाणेन कस्यचिदर्थस्य सिद्धेरयोगादित्यत्रास्याप्रवृत्तिरेव विषय-विवेकाभावात् । अथ सिद्ध्यत्यस्माद् विपक्षाभावस्तदा प्रमाणमिदं प्रत्यक्षादिषु कस्मिंश्चि-दन्तर्भविष्यति, तद्व्यतिरेकेणान्यस्य प्रतीतिसाधनाभावादित्यकामेनाभ्युपगन्तव्यम् । प्रसङ्गोऽपि विरोधोद्भावनम्, तच्च कस्यचिद्बलीयसो विपरीतप्रमाणस्योपदर्शनम् । कस्तत्र विपरीतात् प्रमाणात् तदुपदर्शकाच्च वचनादन्यस्तर्कः ?

अथ स्वपक्षसम्भावनात्मकः प्रत्ययस्तर्कः ? अस्योत्पत्तौ किं कारणम् ? न तावत्स्वपक्षसाधकं प्रमाणम्, तस्याप्रवृत्तेः । तर्केण विवेचिते विषये स्वपक्षसाधकं प्रवर्तते । तदेव यदि तस्य कारणम्, सुव्यक्तमन्योन्याश्रयत्वम् ।

विपक्षाभावे प्रतीते स्वपक्षसम्भावनोपजायत इति विपक्षाभावप्रतीतिरस्य कारणमिति चेत् ? तर्हि विपक्षाभावलिङ्गमनुमानमेवैतत्, परस्पर-विरुद्धयोरेकप्रतिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वात् । भवत्येवं यदि विषयमवधार-

(उ.) इस प्रसङ्ग में हम (सिद्धान्तियों) का कहना है कि तर्क (१) प्रतिपक्षी से माने हुए सिद्धान्त के अभाव का प्रतीतिरूप है ? अथवा (२) अपने सिद्धान्तपक्ष का सम्भावनारूप है ? यदि इनमें पहिला पक्ष मानें, तब तो तर्क का प्रमाण ही मानना पड़ेगा (जिससे तर्क विद्यारूप ज्ञान में ही अन्तर्भूत हो जाएगा) क्योंकि 'ज्ञाता' (आत्मा) को यदि अनित्य मानेंगे तो संसार और अपवर्ग दोनों ही अनुपपन्न होंगे, यह ज्ञान यदि अप्रमाण है, तो इससे विपक्षाभाव (अर्थात् आत्मा में नित्यत्व) की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि अप्रमाणभूत ज्ञान से किसी भी विषय की सिद्धि सम्भव नहीं है । अतः प्रकृत में विपक्ष के अभाव की सिद्धि के लिए उक्त तर्करूप ज्ञान प्रवृत्त ही नहीं होगा, क्योंकि उसका विषय ही निर्दिष्ट नहीं है । यदि तर्क से विपक्षाभाव की सिद्धि होती है, तो फिर यह प्रमाण ही है । अतः प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण में ही अन्तर्भूत हो जाएगा । क्योंकि इच्छा न रहने पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों को छोड़कर प्रतीति का कोई दूसरा साधन नहीं है । 'प्रसङ्ग' भी विरोध के उद्भावन को छोड़कर और कुछ नहीं है । विरोध का यह उद्भावन बलिष्ठ विरोधी प्रमाण का प्रदर्शन ही है । तर्क भी विरोधी प्रमाणों और उनके प्रतिपादक वाक्यों से भिन्न और कुछ नहीं है ।

यदि तर्क को अपने पक्ष के सम्भावनात्मक ज्ञान रूप द्वितीय पक्ष मानें, तो फिर पूछना है कि इसका कारण कौन है ? अपने पक्ष का साधक प्रमाण तो उसका कारण नही हो सकता, क्योंकि वह इस ज्ञान के उत्पादन के लिए प्रवृत्त ही नहीं होगा, क्योंकि तर्क के द्वारा विचार किये हुए विषयों में ही अपने पक्ष का साधक प्रमाण प्रवृत्त होता है, यही प्रमाण अगर तर्क का भी कारण हो तो इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट

न्यायकन्दली

यत्येवमेवेदमिति । अनुजानात्ययमेकतरधर्मं न त्ववधारयति । न चायं संशयोऽपि, उभयकोटिसंस्पर्शाभावात् । किन्तु संशयात् प्रच्युतो निर्णयं चाप्राप्तः सम्भावनाप्रत्ययोऽन्य एव । तथा च लोके वक्तारो भवन्ति– एवमहं तर्कयामीति । न, योग्यतावधारणाद् यत्र विपक्षाभावस्तत्रान्यतरपक्षोपपत्तिः, यत्र तु तस्य सम्भवस्तत्रानुपपत्तिरित्यन्वयव्यतिरेकदर्शी विपक्षाभावं प्रतिपद्यमानः सम्भावयत्ययमनुत्पत्तिधर्मको भविष्यतीत्यस्मिन्नर्थे प्रमाणमेतत्प्रतिपादनाय योग्योऽयमर्थ इति प्रमाणयोग्यतां विषयस्याध्यवस्यतीति अनुमानमेव । इत्थमेव च प्रमाणमनुगृह्णाति, योग्यताप्रतीतेः प्रमाणप्रवृत्तिहेतुत्वात् । अन्यथा पुनरिदं सम्भावनामात्रमनर्थकमेव, स्वयमप्रमाणस्य सिद्ध्युपलम्भयोरनङ्गत्वाद् विषयविवेकस्यापि विपक्षाभावं प्रतिपादयता बाधकप्रमाणेनैव कृतत्वात् ।

है । (प्र.) विपक्ष के अभाव की प्रतीति से अपने पक्ष की सम्भावना उत्पन्न होती है, इस प्रकार विपक्षाभाव की प्रतीति स्वपक्षसम्भावना का कारण है । (उ.) तो फिर स्वपक्ष की सम्भावना परपक्षाभावहेतुक अनुमान ही है; क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो पक्षों में से एक का प्रतिषेध तब तक नहीं किया जा सकता जब तक दूसरे की विधि न हो । (प्र.) किन्तु इस प्रकार की प्रतीतियाँ भी तो होती हैं कि 'यह इसी प्रकार है' या 'इन दोनों में से एक को जानते तो हैं; किन्तु निश्चय नहीं कर सकते' । यह दूसरा ज्ञान संशय रूप नहीं है; क्योंकि इसमें दो कोटि विषय नहीं है । किन्तु संशय से आगे बढ़ा हुआ, एवं निश्चय स्वरूप को अप्राप्त यह सम्भावनाप्रत्यय, प्रत्यक्ष संशय और निश्चय से भिन्न एक अलग ही ज्ञान है । साधारण जन भी ऐसा कहते हैं कि 'मैं ऐसा तर्क करता हूँ' । (उ.) उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि योग्यता निश्चित रहने के कारण जहाँ कोई विपक्ष नहीं रहता है, वहाँ दो में से एक पक्ष की उपपत्ति ही होती है, जहाँ योग्यता की सम्भावना भर होती है, वहाँ एक पक्ष की अनुपपत्ति होती है । इस अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञान जिस पुरुष को है, वह विपक्ष के अभाव को समझता हुआ यह सम्भावना करता है कि आत्मा अनुत्पत्तिधर्मक ही होगी, इस विषय को समझाने के लिए (उक्त सम्भावना प्रत्यय का विषय) आत्मा का यह अनुत्पत्तिधर्मकत्व सर्वथा उपयुक्त है एवं इस अर्थ को समझाने के लिए उक्त विषय सर्वथा उपयुक्त है । इस प्रकार आत्मा के अनुत्पत्तिधर्मकत्व के विषय में प्रमाण से उत्पन्न होने की योग्यता निश्चित होती है । अतः यह अनुमान ही है । उक्त रीति से ही तर्क प्रमाण का सहायक भी होता है । प्रमाण में विषय को उचित रूप में समझाने की योग्यता की प्रतीति तर्क से ही होती है, यह योग्यता की प्रतीति ही प्रमाण की प्रवृत्ति का कारण है । यदि ऐसी बात न हो तो फिर यह सम्भावनाप्रत्ययरूप तर्क व्यर्थ ही होगा; क्योंकि तर्क स्वयं अप्रमाण है, वह न किसी के स्थापन में न किसी के खण्डन में ही सहायक हो सकता है । विषय के विवेक का ज्ञान तो विपक्षाभाव के प्रतिपादक बाधक प्रमाण से ही हो जाएगा ।

न्यायकन्दली

अन्ये तु संशयप्रभेद एव तर्कोऽनवधारणात्मकत्वादित्याहुः ।

संशयस्तावत् । **तावच्छब्दः क्रमार्थः । संशयस्तावत् कथ्यते इत्यर्थः ।** प्रसिद्धानेकविशेषयोरिति । **प्रसिद्धाः पूर्वं प्रतीता अनेकविशेषा असाधारणधर्मा वक्रकोटरादयः शिरःपाण्यादयश्च ययोः स्थाणुपुरुषयोस्तयोः सादृश्यमात्रस्य साधारणधर्ममात्रस्य क्वचिदेकत्र धर्मिणि दर्शनादुभयोः स्थाणुपुरुषयोर्विशेषाणां वक्रकोटरादीनां शिरःपाण्यादीनां च पूर्वं प्रतीतानां स्मरणादधर्माच्च किंस्विदिति उभयालम्बी विमर्शः संशयः । किं स्थाणुः ? किं वा पुरुषः ? इति अनवस्थितोभयरूपेणोभयविशेषसंस्पर्शी विमर्शो विरुद्धार्थावमर्शो ज्ञानविशेषः संशयः ।**

सादृश्यमात्रदर्शनादिति । **मात्रग्रहणसामर्थ्याद् विशेषाणामनुपलम्भो गम्यते । दर्शनशब्द उपलब्धिवचनो न प्रत्यक्षप्रतीतिवचनोऽमनुमेयस्यापि सामान्यस्य संशयहेतुत्वात् । सादृश्योपलम्भाभिधानाद्धर्म्युपलम्भोऽपि लभ्यते । अस्यानुपलम्भे तद्धर्मस्य सादृश्यस्योपलम्भाभावात् संशयोऽपि धर्मिण्येव, न सादृश्ये, तस्य निश्चितत्वात् । सादृश्यमिति च साधारणधर्ममात्रं कथ्यते, नानेकार्थसमवेतं सादृश्यम्,**

कोई सम्प्रदाय तर्क को निश्चियात्मक न होने के कारण संशय रूप ही मानते हैं ।

'संशयस्तावत्' इत्यादि सन्दर्भ का 'तावत्' शब्द 'क्रम' का बोधक है, तदनुसार इसका यही अर्थ है कि क्रमप्राप्त संशय का निरूपण करते हैं । (प्रसिद्ध) 'अनेकविशेषयोः' (इत्यादि सन्दर्भ का) "प्रसिद्धा अनेकविशेषा ययोः, तयोः सादृश्यमात्रस्य दर्शनादुभययोः स्मरणादधर्माच्च किंस्विदित्युभयालम्बी विमर्शः संशयः" इस विवरण के अनुसार स्थाणु एवं पुरुष रूप जिन दो धर्मियों में से स्थाणु की वक्रता एवं कोटर प्रभृति, एवं पुरुष के शिर-पैर प्रभृति पहिले से ज्ञात हैं, इन पूर्वज्ञात विषयों के स्मरण और अधर्म इन दोनों से 'किंस्वित्' अर्थात् यह स्थाणु है या पुरुष' इत्यादि आकार के दोनों विषयों को ग्रहण करनेवाला 'विमर्श' अर्थात् विरुद्ध दो विषयों का विशेष प्रकार का ज्ञान ही 'संशय' है । 'सादृश्यमात्रदर्शनात्' इस वाक्य में 'मात्र' पद के उपादान से उन दोनों विषयों (स्थाणु और पुरुष) के असाधारण धर्म की अनुपलब्धि का आक्षेप होता है (अर्थात् दोनों के सादृश्य ज्ञान की तरह दोनों के विशेष धर्मों का अज्ञान भी संशय के लिए आवश्यक है) । उक्त वाक्य के 'दर्शन' शब्द से सभी प्रकार के ज्ञान अभिप्रेत हैं, केवल प्रत्यक्ष ही नहीं । क्योंकि अनुमान के द्वारा ज्ञात साधारण धर्म से भी संशय होता है । सादृश्य को धर्मज्ञान का कारण कहने से धर्मी के ज्ञान में संशय की कारणता स्वयं कथित हो जाती है । क्योंकि धर्मी के ज्ञान के बिना सादृश्य रूप धर्म का ज्ञान सम्भव ही नहीं हैं । धर्मी में ही संशय होता है, सादृश्यादि (उभय साधारण) धर्मों में नहीं, क्योंकि वे तो निश्चित हैं । 'सादृश्य' शब्द से (संशय की दोनों कोटियों में रहनेवाले) सभी

न्यायकन्दली

अस्पर्शवत्यस्य स्पर्शाभावस्याकाशान्तःकरणगतस्य प्रतीत्यात्मन्यणुत्वमहत्त्वसंशयदर्शनात् ।

तदयं संक्षेपार्थः—यदायं प्रतिपत्तोभयसाधारणं धर्मं क्वचिदेकत्र धर्मिण्युपलभते, कुतश्चिन्निमितात् तस्य धर्मिणो विशेषं नोपलभते, पूर्वप्रतीतयोः स्मरति विरुद्धविशेषयोः, न चोभयोरेकत्र सम्भावयति सद्भावम्, विरुद्धत्वात् । नाप्यभावं तदविनाभूतस्य साधारणधर्मस्य दर्शनात् । तदास्य साधारणधर्मविषयत्वेनावधारिते धर्मिणि विशेषविषयत्वेनानवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयो भवति ।

नन्वनवधारणात्मकः प्रत्ययश्चेति प्रतिषिद्धम् । इदं हि प्रत्ययस्य प्रत्ययत्वं यद्विषयमवधारयति ? न, उभयस्यापि सम्भवात् । अयं हि सामान्यविशिष्टधर्म्युपलम्भेन धर्मविशेषानुपलम्भविरुद्धोभयविशेषस्मरणसहकारिणा जन्यमान इति सामान्यविशिष्टधर्मिणमवधारयन् स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विशेषमनवधारयन्ननवधारणात्मकः प्रत्ययश्च स्यात् । दृष्टं

साधारण धर्मों को समझना चाहिए । अनेक वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली 'सादृश्य' नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि आकाश और अन्तःकरण (मन) इन दोनों में रहनेवाले स्पर्शाभाव से आत्मा में अणुत्व और महत्त्व दोनों का संशय होता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय किसी ज्ञाता को किसी धर्मी में दो वस्तुओं में समान रूप से रहनेवाले धर्म का ज्ञान होता है, एवं उन दोनों वस्तुओं के असाधारण धर्मों का अनुभव नहीं हो पाता । एवं दोनों धर्मियों के पहिले से ज्ञात विशेष धर्मों का स्मरण भी रहता है । उस समय वह यह समझता है कि इन दोनों विशेष धर्मों का एक धर्मी में रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, इन दोनों विशेष धर्मों का अभाव भी निश्चित नहीं है, क्योंकि उनके साथ अवश्य रहनेवाले साधारण धर्म तो देखे ही जाते हैं । उस समय साधारण धर्मों के आश्रयरूप से निश्चित उस धर्मी में विशेष धर्मों का जो अनिश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'संशय' है ।

(प्र.) यह अनिश्चयात्मक है, एवं प्रतीति भी है, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि सभी प्रतीतियों का यही काम है कि अपने विषयों को निश्चित रूप में समझावें । (उ,) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दोनों ही बातें हो सकती हैं, चूँकि यह संशयरूप ज्ञान सामान्य धर्म से युक्त धर्मी के ज्ञान, विशेष धर्मों की अनुपलब्धि, एवं विशेष धर्मों के स्मरण, इन तीनों से उत्पन्न होता है, अतः सामान्य धर्म विशिष्ट धर्मों का तो वह अवधारण कर सकता है, क्योंकि केवल धर्मी के अंश में वह अवधारणात्मक है ही, किन्तु 'स्थाणु है या पुरुष' यह ज्ञान इन (स्थाणुत्व और पुरुषत्व) दोनों का निश्चायक न होने के कारण 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषः' यह संशयज्ञान रूप अनवधारणात्मक भी है, अतः अनवधारण

न्यायकन्दली

हि यत्र विलक्षणसामग्री, तत्र कार्यमपि विलक्षणमेव, यथा प्रत्यभिज्ञानम् ।

संशयोऽप्यविद्या । सा चानिष्टा पुरुषस्येत्यधर्मकार्यत्वं तस्य दर्शितम् । अधर्माच्चेति । **सामान्यं दृष्ट्वा यदेकं विशेषमनुस्मृत्य विशेषमनुस्मरति, तदा सामान्यदर्शनस्य विनष्टत्वात् संशयहेतुत्वानुपपत्तिरिति चेन्न, उभयविशेषविषयाभ्यां संस्काराभ्यां युगपत्प्रबुद्धाभ्यामुभयविशेषविषयैकस्मरणजननात्, तत्काले च विनश्यदवस्थस्य सामान्यज्ञानस्य सम्भवात् ।**

स च द्विविध **इति भेदकथनम् । केन रूपेणेत्यत आह—** अन्तर्बहिश्चेति । **यः समानधर्मोपपत्तेरनेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यव्यवस्थातोऽनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च समानतान्त्रिकैः पञ्चविधः संशयो दर्शितः, स सर्वो द्वैविध्येनैव संगृहीतः ।**

अन्तस्तावद् आदेशिकस्येति । **आदेशिको ज्योतिर्वित्, तेनैकदा किञ्चिद् ग्रहसञ्चारादिनिमित्तमुपलभ्यादिष्टं किञ्चिदिष्टमनिष्टं वात्राभूद्वर्त्तते भविष्यति**

और प्रत्यय दोनों ही हो सकता है । जहाँ की सामग्री (कारणसमूह) विशेष रूप की होगी, वहाँ का कार्य भी विशेष प्रकार का ही होगा, जैसे कि 'प्रत्यभिज्ञा' (अनुभवात्मक और स्मरणात्मक दोनों हैं) ।

संशय भी अविद्या ही है, अविद्या पुरुष का अनिष्ट करनेवाली है । इसीलिए कहा गया है कि 'संशय अधर्म से उत्पन्न होता है' । (प्र.) सामान्य ज्ञान के बाद एक विशेष धर्म का स्मरण कर अगर दूसरे विशेष धर्म का स्मरण होता है, तो फिर उस समय कथित सामान्य ज्ञान का ही विनाश हो जाएगा । अतः सामान्य दर्शन संशय का कारण नहीं हो सकता । (उ.) एक ही समय दोनों विशेष धर्मों के एक ही उद्बुद्ध संस्कार से दोनों विशेष धर्म विषयक एक ही (समूहालम्बन) स्मरण की उत्पत्ति हो सकती है, उस समय आगे क्षण में ही विनष्ट होनेवाले (विनश्यदवस्थ) सामान्य धर्म के ज्ञान की सम्भावना है ।

'स च द्विविधः' इस वाक्य के द्वारा संशय के दो भेद कहे गये हैं । कौन से उसके दोनों प्रकार हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर 'स च द्विविधः' इत्यादि से दिया गया है । समानतन्त्र (न्याय) के आचार्यों ने जो (१) साधारण धर्म के ज्ञान से उत्पन्न (२) असाधारण धर्म के ज्ञान से उत्पन्न (३) विप्रतिपत्ति वाक्य से उत्पन्न (४) उपलब्धि की अव्यवस्था से उत्पन्न एवं (५) अनुपलब्धि की अव्यवस्था से उत्पन्न इत्यादि संशय के जो पाँच भेद गिनाये गये हैं, वे सभी इन्हीं दो प्रकारों में अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

'आदेशिकस्य' इत्यादि से कहा गया है कि कथित संशय 'अन्तःसंशय' का उदाहरण है । 'आदेशिक' शब्द का यहाँ 'ज्योतिषशास्त्रवेत्ता' अर्थ है । उन्होंने एक समय किसी पुरुष को उसके ग्रहसञ्चारादि निमित्त को देखकर 'आदेश' किया कि 'यहाँ

न्यायकन्दली

चेति, तत् तथैव तदा संवृत्तम् । अन्यदादिष्टं तद्वितथमभूत् । पुनरिदानीं तस्योत्पन्नं तथाभूतमेव निमित्तं दृष्ट्वादिशतोऽन्तः स्वज्ञाने संशयो भवति यदेतन्मम नैमित्तिकं ज्ञानमभूत्, तत्किं सत्यमसत्यं वेति ।

बहिर्द्विविधः–प्रत्यक्षविषये अप्रत्यक्षविषये च । तत्र **तयोर्मध्येऽ**प्रत्यक्षविषये तावत् **सा**धारणलिङ्गदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणादधर्माच्च संशयो भवति । यथाऽटव्यां विषाण-मात्रदर्शनाद् गौर्गवयो वेति । **वाटान्तरितस्य पिण्डस्याप्रत्यक्षस्य सामान्येन विषाणमात्रदर्शनानुमितस्य संशयविषयत्वादप्रत्यक्षविषयोऽयं संशयः ।**

प्रत्यक्षविषयेऽपि कथयति–स्थाणुपुरुषयोरित्यादिना । **स्थाणुपुरुषयोः सम्बन्धिनी योर्ध्वता तन्मात्रस्य प्रत्यक्षविषये पुरोवर्त्तिनि धर्मिणि दर्शनात् ।** वक्रादिविशेषानुपलब्धित **इत्यादिपदेन शिरःपाण्यादिपरिग्रहः । वक्रकोटरादेः**

कुछ इष्ट या अनिष्ट था,या है , अथवा होगा, और वे उस प्रकार सङ्घटित भी हुए । फिर उसी प्रकार का निमित्त उपस्थित होते देखकर उस आदेशिक पुरुष को अपने ज्ञान में यह संशय होता है कि मेरा वह नैमित्तिक ज्ञान था या मिथ्या ?

(१) प्रत्यक्ष के द्वारा जानने योग्य विषयों का और (२) अप्रत्यक्ष विषयों का बाह्य संशय के ये दो भेद हैं । (गो और गवय) दोनों में साधारण रूप से रहनेवाले धर्मों के ज्ञान से एवं पीछे दोनों के असाधारण धर्मों के स्मरण और अधर्म से जङ्गल में केवल सींग देखने से जो पुरुष को 'यह गो है अथवा गवय' इस आकार का संशय होता है, वह 'अप्रत्यक्ष विषयक संशय' है । यह अप्रत्यक्ष विषयक इसलिए है कि विषाणरूप साधारण हेतु से अनुमित एवं रास्ते में छिपा हुआ अप्रत्यक्ष पिण्ड (गो और गवय) उसका विषय है । 'स्थाणुपुरुषयोः' इत्यादि ग्रन्थ से उस संशय का निरूपण किया है, जिसका विषय प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है । स्थाणु और पुरुष दोनों में समान रूप से रहनेवाली जो ऊँचाई (ऊर्ध्वता) है, आगे स्थित एवं प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत धर्मी में उसके प्रत्यक्ष से 'स्थाणुर्वा पुरुषः' यह संशय उत्पन्न होता है । एवं 'वक्रादिविशेषानुपलब्धितः' इस वाक्य में 'आदि' पद से (पुरुष में रहनेवाले) शिर एवं हाथ-पैर प्रभृति धर्मों का ग्रहण समझना चाहिए । अर्थात् वक्रता और कोटर प्रभृति स्थाणु के विशेष धर्मों की अनुपलब्धि तथा शिर एवं पैर प्रभृति पुरुष के विशेष धर्मों की अनुपलब्धि से प्रकृत में प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होनेवाले विषयों का संशय होता है ।

'स्थाणुत्वादिसामान्यविशेषानभिव्यक्तो' इस वाक्य में प्रयुक्त 'आदि' पद से 'पुरुषत्वादि' धर्मों का संग्रह अभीष्ट है । वक्रता और कोटर प्रभृति धर्म स्थाणुत्व की अभिव्यक्ति के कारण हैं । शिर और पैर प्रभृति धर्म पुरुषत्वकी अभिव्यक्ति के कारण हैं । इन (स्थाणुत्व और पुरुषत्व के अभिव्यञ्जक) धर्मों की अनुपलब्धि के कारण

प्रशस्तपादभाष्यम्

विपर्ययोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव भवति । प्रत्यक्षविषये तावत् प्रसिद्धानेकविषययोः पित्तकफानिलोपहतेन्द्रियस्यायथार्थालोचनाद् असन्निहितविषयज्ञानजसंस्कारापेक्षादात्ममनसोः संयोगादधर्माच्चातस्मिंस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः । यथा गव्ये-

विपर्यय भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा ज्ञात होनेवाले विषयों का ही होता है । विभिन्न जिन दो वस्तुओं के असाधारण धर्म ज्ञात हैं, उन दोनों में से (विद्यमान) एक वस्तु में (अविद्यमान) दूसरे वस्तु का ज्ञान ही 'विपर्यय' है । इसकी उत्पत्ति उक्त विषयों के यथार्थ ज्ञान का

न्यायकन्दली

स्थाणुधर्मस्य शिरःपाण्यादेर्विशेषस्य पुरुषधर्मस्यानुपलब्धितः । स्थाणुत्वादिसामान्यविशेषानभिव्यक्तावित्यादिपदेन पुरुषत्वाद्यवरोधः । वक्रकोटरादयः स्थाणुत्वाभिव्यक्तिहेतवः शिरःपाण्यादयः पुरुषत्वाभिव्यक्तिहेतवः, तेषामनुपलम्भात् । स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरनभिव्यक्तौ सत्यामुभयोः स्थाणुपुरुषयोः प्रत्येकमुपलब्धानां विशेषाणामनुस्मरणादुभयत्राकृष्यमाणस्य उभयत्र स्थाणौ पुरुषे वाकृष्यमाणस्य प्रतिपत्तुर्यदोर्ध्वतादर्शनात् स्थाणुरयमिति निश्चेतुमिच्छति, तदा पुरुषविशेषानुस्मरणेन पुरुषे समाकृष्यत इत्युभयत्राकृष्यमाणः, अत एवास्य प्रत्ययो दोलायते, नैकत्र नियमेनावतिष्ठते । दोला साधर्म्यमनवस्थितरूपत्वमेव प्रत्ययस्य दर्शयति— किन्तु खल्वयं स्थाणुः स्यात् पुरुषो वेति ।

संशयानन्तरं विपर्ययं निरूपयिति—विपर्ययोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय

जब स्थाणुत्व और पुरुषत्व का अनुभव नहीं हो पाता, किन्तु स्थाणु और पुरुष दोनों में से प्रत्येक के विशेष धर्मों का पीछे स्मरण होता है, तब 'उभयत्राकृष्यमाणस्य' 'उभयत्र' अर्थात् स्थाणु और पुरुष दोनों तरफ आकृष्ट ज्ञाता जिस समय ऊँचाई के देखने से 'यह स्थाणु ही है' यह निश्चय करने के लिए इच्छुक होता है, उसी की स्मृति से पुरुष की तरफ भी आकृष्ट होता है । इस प्रकार (स्थाणु और पुरुष) दोनों में आकृष्यमाण पुरुष का प्रत्यय दोलायित होता है, अर्थात् नियमपूर्वक एक ही स्थान में नहीं ठहरता । दोला (झूला) के साधर्म्य के द्वारा प्रत्यय में जो अनिश्चय स्वरूपता सूचित होती है, उसके स्वरूप का निर्देश 'किं नु खल्वयं स्थाणुः स्यात् पुरुषो वेति' इस वाक्य के द्वारा दिखलाया गया है ।

संशय के बाद 'विपर्ययोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा विपर्यय का निरूपण करते हैं। इस वाक्य के 'अपि' शब्द के द्वारा यह प्रतिपादित

न्यायकन्दली

एव भवतीति । **संशयस्तावत् प्रत्यक्षानुमानविषय एव भवतीति विपर्ययोऽपि तद्विषये भवतीत्यपिशब्दार्थः । प्रत्यक्षानुमानविषय एव भवतीति प्रत्यक्षानुमानव्यतिरेकेण प्रमाणान्तराभावात् । प्रत्यक्षविषये तावत् प्रसिद्धानेकविशेषयोरपि प्रसिद्धाः पूर्वं प्रतीता अनेके विशेषाः सास्नादयः केसरादयश्च ययोस्तौ प्रसिद्धानेकविशेषौ गवाश्वौ, तयोर्मध्ये योऽतस्मिन्ननश्वे गवि तदिति प्रत्ययोऽश्व इति प्रत्ययः, स विपर्ययः ।**

ननु यदि गवि गोत्वसास्नादयश्च विशेषाः परिगृह्यन्ते, तदा विपर्ययो न भवति । भवति चेदस्यानुपरमप्रसङ्गस्तत्राह—अयथार्थालोचनादिति ।**अयथार्थालोचनं यथार्थालोचनस्याभावो यथासावर्थो गौः सास्नादिमांस्तथाग्रहणाभाव इति यावत् । तस्मादतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवतीति । अनेन विशेषानुपलम्भस्य कारणत्वमुक्तम् । सन्निहिते पिण्डे गोत्वस्याग्रहणे को हेतुः, को वा हेतुरसन्निहितस्याश्वत्वस्य प्रतीतावित्याह—**पित्तकफानिलोपहतेन्द्रियस्येति । **पित्तं च कफश्चानिलश्च तैरुपहतं दूषितमिन्द्रियं यस्य, तस्यायं विपर्यय इति ।** वातपित्तश्लेष्मादिदोषाणामसन्निहितप्रतिभासे सन्निहितार्थाप्रतिभासे च सामर्थ्यं समर्थितम् । यदि दोषसामर्थ्यादिवासन्निहितं

हुआ है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ज्ञात विषयों का ही संशय होता है, उसी प्रकार 'विपर्यय' भी प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से ज्ञात विषयों का ही होता है, क्योंकि इन दोनों से भिन्न कोई प्रमाण ही नहीं है । 'प्रत्यक्षविषये तावत्' इत्यादि से प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होनेवाल विषय का विपर्यय दिखलाया गया है । 'प्रसिद्धा अनेके विशेषा ययोः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्व में ज्ञात (गाय के) सास्नादि विशेष धर्म एवं (अश्व के) केसरादि विशेष धर्म जिन दो वस्तुओं के हैं, वे दोनों ही, अर्थात् गो और अश्व ही लिखित 'प्रसिद्धानेकविशेषयोः' इस पद के अर्थ हैं । इन दोनों में से 'अतस्मिन्' अर्थात् जो तत्स्वरूप नहीं है, उसमें अर्थात् अश्व से भिन्न गो में 'तत्' अर्थात् 'यह अश्व है' इस आकार का जो प्रत्यय, वही 'विपर्यय' है । (प्र.) यदि गो के गोत्व और सास्ना प्रभृति असाधारण धर्म गृहीत होते हैं, तो फिर उक्त ज्ञान विपर्यय ही नहीं होगा । यदि उन असाधारण धर्मों के ज्ञान के रहते हुए भी उक्त विपर्ययरूप ज्ञान हो सकता है, तो फिर उसकी विरति ही नहीं होगी । इसी प्रश्न के उत्तर के लिए 'अयथार्थालोचनात्' यह पद लिखा गया है । (इस वाक्य में प्रयुक्त) 'अयथार्थालोचन' शब्द का अर्थ है 'यथार्थालोचन' (यथार्थज्ञान) का अभाव, अर्थात् गोरूप अर्थ जिस प्रकार का है (गोत्व एवं सास्नादि से युक्त है) उस प्रकार से अर्थात् गोत्वरूप से एवं सास्नादिमत्वरूप से गो के ज्ञान का अभाव (भी विपर्यय का कारण है) । उक्त यथार्थ ज्ञान के अभाव के द्वारा जो जिस रूप का नहीं है, उसका उस रूप से ज्ञान (रूप विपर्यय) की उत्पत्ति होती है । इससे गवादि के

न्यायकन्दली

प्रतिभाति सर्वं सर्वत्र प्रतिभासेत, नियमहेतोरभावादित्यत्राह–असन्निहितविषयज्ञानजसंस्कारापेक्षादात्ममनसोः संयोगादिति ।

असन्निहितो विषयोऽश्वादिस्ततः पूर्वोत्पन्नाज्ज्ञानाज्जातो यः संस्कारस्तमपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगाद् विपर्यय इति । अयमस्यार्थः––गोपिण्डसंयुक्तमिन्द्रियं गोत्वमगृह्णदपि तं पिण्डं गोसादृश्यविशिष्टं गृह्णाति, सांशत्वाद् वस्तुनः । तेन च सादृश्यग्रहणेनाश्वविषयः संस्कारः प्रबोध्यते । स च प्रबुद्धोऽश्वस्मृतिजनने प्राप्ते मनोदोषादिन्द्रयसंयुक्ते गव्यश्वसादृश्यानुरोधादनुभवाकारामश्वप्रतीतिं करोति, अतो न सर्वस्य सर्वत्रावभासः, सादृश्यसंस्कारयोः प्रतिनियमहेतुत्वात् । अत एव चेयं गुरुभिरिन्द्रियजा भ्रान्तिरुच्यते । एवं हीन्द्रियजा न स्याद् यदीयं संस्कारैकसामर्थ्यादसन्निहितमनधिकरणमश्वत्वमात्रमेव गृह्णीयान्निरुद्धेन्द्रियव्यापारस्य वा भवेत्,

गोत्वादि) विशेष धर्मों की अनुपलब्धि को (गो में 'यह अश्व है' इस आकार के) विपर्यय का कारण माना गया है । (प्र.) गो (ज्ञाता पुरुष के) समीप में है, उसके गोत्वादि विशेष धर्म तो ज्ञात नहीं हो पाते, किन्तु जो अश्व उसके अप्रत्यक्ष एवं दूर है, उसके अश्वत्वादि विशेष धर्मों का ज्ञान होता है, इसमें क्या हेतु है ? इसी प्रश्न का समाधान 'पित्तकफानिलोपहितेन्द्रियस्य' इस वाक्य से दिया गया है । 'पित्तञ्च, कफश्च, अनिलश्च पित्तकफानिलाः, तैरुपहतमिन्द्रियं यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पित्त, कफ और वायु से जिस पुरुष की इन्द्रिय दूषित हो गयी है, वही पुरुष 'पित्तकफानिलोपहतेन्द्रिय' शब्द का अर्थ है । अभिप्राय यह है कि इस प्रकार से दूषित इन्द्रियवाले पुरुष को ही यह विपर्यय ज्ञान होता है । इससे कफ, पित्त, वायु प्रभृति दोषों में समीप की वस्तुओं के अज्ञान एवं दूर की वस्तुओं के ज्ञान इन दोनों के उत्पादन की शक्ति समर्थित होती है । (प्र.) अगर केवल दोष के सामर्थ्य से ही दूर के विषय प्रतिभासित होते हैं, तो फिर सभी विषयों का प्रतिभास (विपर्यय) सर्वत्र हो, क्योंकि (अमुक स्थान में ही अमुक वस्तु का प्रतिभास हो इस) नियम का कोई कारण नहीं है ? इसी प्रश्न के समाधान में 'असंनिहितविषयज्ञानसंस्कारापेक्षादात्ममनसोः संयोगात्' यह वाक्य लिखा गया है ।

अर्थात् अश्वादि असंनिहित विषयों का बहुत पहिले से जो ज्ञान हो चुका है, उस ज्ञान से उत्पन्न संस्कार की सहायता से आत्मा और मन के संयोग के द्वारा विपर्यय की उत्पत्ति होती है । अभिप्राय यह है कि कथित रूप से दूषित इन्द्रिय गोरूप पिण्ड में संयुक्त रहने पर भी उसमें रहनेवाले गोत्व का ग्रहण नहीं करती है, (फलतः गोत्व रूप से गो का ग्रहण नहीं करती है) किन्तु गोसादृश्य से युक्त (अश्वादि) अर्थों का ही ग्रहण करती है, क्योंकि वस्तुओं के अनेक रूप हैं । इस सादृश्य के द्वारा अश्वविषयक संस्कार प्रबुद्ध हो जाता है । इस प्रबुद्ध संस्कार के द्वारा यद्यपि अश्व की स्मृति ही उचित है, फिर भी मन के दोष से गो में अश्व के

प्रशस्तपादभाष्यम्

वाश्व इति । असत्यपि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षाभिमानो भवति, यथा व्यपगत-

अभाव, आत्मा और मन के संयोग एवं अधर्म इन तीन हेतुओं से होती है । (इन कारणों में से) आत्ममनःसंयोग को उक्त दोनों विषयों के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार का साहाय्य भी अपेक्षित होता है । यह (विपर्यय) कफ, पित्त और वायु के प्रकोप से बिगड़ी हुई इन्द्रियवाले पुरुष को ही होता है । जैसे गो में अश्व का ज्ञान (विपर्यय है) ।(विपर्यय के और उदाहरण

न्यायकन्दली

व्याप्रियमाणे चक्षुषि तत्संयुक्तमेव तु गोपिण्डमश्वात्मना गृह्णती यदीयं नेन्द्रिजया, का तर्हीन्द्रियजा भविष्यति विपरीतख्यातिः ? अत एवान्यस्यान्यारोपेण प्रतिभासनाद् योऽपि निरधिष्ठाने विपर्ययस्तत्राप्यवर्तमानोऽर्थः स्वरूपविपरीतेन वर्तमानाकारेण प्रतीयत इति विपरीतख्यातिरेव, न त्वसत्ख्यातिः, स्वरूपतोऽर्थस्य सम्भवादसतो वावभास-नायोगात् । यत्र सदृशमर्थमधिष्ठाय विपर्ययः प्रवर्तते, तत्र सादृश्यं कारणम्, निरधिष्ठाने तु विभ्रमे मनोदोषमात्रानुबन्धिनि नास्य सम्भवः, यथा हि कामातुरस्य इतस्ततो भाविनि स्त्रीनिर्भासे विज्ञाने । संस्कारोऽपि तत्रैव कारणं यत्र सविकल्पको

सादृश्य के अनुरोध से अश्व का अनुभव रूप ही ज्ञान होता है । अतः सभी जगह सभी का प्रतिभास (विपर्यय भी) नहीं होता, क्योंकि कथित सादृश्य और संस्कार ये दोनों ही उसको नियमित करते हैं । अत एव 'गुरु' इसे 'इन्द्रियजनित भ्रान्ति' कहते हैं । यह भ्रान्ति अगर इन्द्रिय से उत्पन्न न हो, केवल संस्कार के सामर्थ्य से ही उत्पन्न हो तो फिर गोरूप आश्रय से दूर रहनेवाले एवं आश्रय में न रहनेवाले अश्वत्व को ही प्रकाशित करेगी । अथवा जिस पुरुष की इन्द्रियों का व्यापार निरुद्ध है, उसे भी उक्त आकार की भ्रान्ति होगी । व्यापार से युक्त चक्षु के साथ संयुक्त गोपिण्ड को अश्वरूप से ग्रहण करती हुई भी अगर यह अनुभूति भ्रान्ति नहीं है, तो फिर कौन सी विपरीतख्याति इन्द्रियजनित होगी ? अत एव विपर्यय विपरीतख्याति ही है, असत्ख्याति नहीं, क्योंकि विपर्यय में एक का ही दूसरे रूप से भान होता है । एवं जहाँ बिना अधिष्ठान के भी विपर्यय होता है, वहाँ भी अवर्त्तमान अर्थ ही अपने विरुद्ध वर्त्तमान की तरह प्रतिभासित होता है । चूँकि स्वरूपतः वस्तु की सम्भावना है, एवं सर्वथा अविद्यमान वस्तु का भान असम्भव है । जहाँ सदृश वस्तु को अधिष्ठान बनाकर विपर्यय की प्रवृत्ति होती है, वहाँ सादृश्यज्ञान ही विपर्यय का कारण है । जहाँ केवल मन के दोष से बिना अधिष्ठान का ही विपर्यय होता है, जैसे कि कामातुर पुरुष को चारों तरफ की सभी वस्तुएँ स्त्रीमय दिखती है, वहाँ सादृश्य का ज्ञान कारण नहीं हो सकता । संस्कार

प्रशस्तपादभाष्यम्

घनपटलमचलजलनिधिसदृशमम्बरमञ्जनचूर्णपुञ्जश्यामं शार्वरं तम इति ।

ये भी हैं) जहाँ वस्तुतः प्रत्यक्ष के न रहने पर भी प्रत्यक्ष के ये अभिमान होते हैं । 'मेघ से रहित यह प्रकाश बिना तरङ्ग के समुद्र की तरह है' एवं 'रात का यह अन्धकार अञ्जन के चूर्ण की तरह कृष्ण वर्ण का है';

न्यायकन्दली

भ्रमः, निर्विकल्पके त्विन्द्रियदोषस्यैव सामर्थ्यं तद्भावभावित्वात् । यथा शङ्खे पीतज्ञानोत्पत्तौ ।

विपर्ययस्योदाहरणान्तरमाह—असत्यपि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षाभिमान **इत्यादिना गगनावलोकनकुतूहलादूर्ध्वमनुप्रेषिता नयनरश्मयो दूरगमनान्मन्दवेगाः प्रतिमुखैः सूर्यरश्मिभिरतिप्रबलवेगैराहताः प्रतिनिवर्तमानाः स्वगोलकस्य गुणं देशान्तरे निरालम्बं नीलिमानमाभासयन्तो जलधरपटलनिर्मुक्तनिस्तरङ्गमहोदधिकल्पमम्बरमिति प्रत्यक्षमिव रूपज्ञानमप्रत्यक्षे नभसि जनयन्ति । स्वगोलकगुणं व्योमाधिकरणत्वेनेन्द्रियमाभासयतीत्यत्र तद्गुणानुविधानेन प्रतीतिनियमः प्रमाणम् । तथा हि——कामलाधिष्ठितेन्द्रियाधिष्ठानो विद्रुतकलधौतरसविलिप्तमिवान्तरिक्षमीक्षते । कफाधिकतया धवलगोलको रजतसच्छायं पश्यति । शर्वर्यां भवं शार्वरं तमोऽञ्जनपुञ्जमिव श्याममिति केवल-**

भी केवल सविकल्पक भ्रम का ही कारण है । निर्विकल्पक भ्रम का इन्द्रियदोष ही कारण है, क्योंकि उसके रहने से ही उसकी उत्पत्ति होती है । जैसे कि शंख में पीत ज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

'असत्यपि प्रत्यक्षे' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा विपर्यय का दूसरा उदाहरण दिखलाया गया है । आकाश को देखने के कुतूहल से ऊपर की ओर प्रेषित आँख की रश्मियों की गति दूर जाकर धीमी हो जाती है । फिर नीचे की ओर जाती हुई प्रबल गति से युक्त सूर्य की रश्मियों से बाधा पाकर वे ही रश्मियाँ नीचे की ओर लौटती हैं । तब (ये ही चक्षु की रश्मियाँ) अपने गोलक के ही गुण नीलवर्ण को बिना अधिष्ठान के ही प्रतिभास कराती हुई अप्रत्यक्ष आकाश में प्रत्यक्ष की इस आकार के ज्ञान को उत्पन्न करती हैं कि 'यह मेघों से रहित आकाश तरङ्गों से शून्य समुद्र के समान है' (कथित स्थल में) 'नयन की रश्मियाँ अपने अधिष्ठानभूत गोलक के गुण के ही आकाश में प्रतिभासित कराती हैं' इस अवधारण में यह प्रतीति ही प्रमाण है कि सदा से गोलक के गुण का ही प्रतिभास आकाश में नियमतः होता है, जैसे कि कमल नाम की व्याधि से दूषित चक्षुगोलक वाले पुरुष को आकाश पिघले हुए सुवर्ण रस से लिपा हुआ-सा दीखता है । वही आकाश कफ के आधिक्य से स्वच्छ गोलकवाले पुरुष को चाँदी की तरह दीखता हैं । 'शर्वर्यां भवं शार्वरम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रात

प्रशस्तपादभाष्यम्

अनुमानविषयेऽपि बाष्पादिभिर्धूमाभिमतैर्वह्न्यनुमानम्, गवय-दर्शनाच्च गौरिति । त्रयीदर्शनविपरीतेषु शाक्यादिदर्शनेष्विदं

बाष्प को धूम समझकर उसके द्वारा (जल में) वह्नि का अनुमान, अनुमान के विषय में विपर्यय का उदाहरण है । अथवा गवय के सींग को देखकर गो का अनुमान भी (इसका उदाहरण है) । ऋग्वेद, सामवेद

न्यायकन्दली

ज्ञानमत्यन्ततेजोऽभावे सति सर्वत्रारोपितरूपमात्रविषयमप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षमिव पश्यति ।

अनुमानविषयेऽपि वाष्पादिभिर्वाष्पधूलिपताकादिभिर्धूमाभिमतैः इति ज्ञातैरनग्निके देशेऽग्न्यनुमानम् । तथा गवयविषाणदर्शनाद् गौरिति ज्ञानमनुमानविपर्ययः ।

अत्यन्तदुर्दर्शनाभ्यासाच्च विपर्ययो भवतीत्याह––त्रयीदर्शनविपरीतेष्विति ।**त्रयाणां वेदानामृग्यजुःसाम्नां समाहारः त्रयी, अथर्ववेदस्तु त्रय्येकदेश एव ।दृश्यते स्वर्गापवर्गसाधन-भूतोऽर्थोऽनयेति दर्शनम्, त्रय्येव दर्शनं त्रयीदर्शनं,** तद्विपरीतेषु शाक्यादिदर्शनेषु **शाक्यभिक्षु-कनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादिशास्त्रेष्विदं श्रेय इति यदुपदिशन्ति, तत् प्रमाणमिति ज्ञानं मिथ्या-प्रत्ययः, तेषु कैश्चिदेवोपगृहीतेषु सर्वेषां वर्णाश्रमिणां विज्ञानात् प्रमाणविरोधाच्च । तथा शरीरेन्द्रियमनः स्वत्माभिमानो विपर्ययस्तेभ्यो व्यतिरिक्तस्य ज्ञातुः प्रतिपादनात् ।**

का अन्धकार ही 'शार्वर्य' शब्द का अर्थ है । 'रात में उत्पन्न यह अन्धकार अञ्जन समूह की तरह श्याम है' यह ज्ञान यद्यपि तेज का अत्यन्त अभाव होने पर सभी स्थानों में आरोपित रूपविषयक होने पर भी अप्रत्यक्ष विषयक ही है, फिर भी प्रत्यक्ष की तरह दीखता है ।

अनुमान रूप विपर्यय वह है जहाँ 'वाष्पादि से' अर्थात् धूम समझे जानेवाले वाष्प धूल और पताकादि से अग्निरहित देशों में जो वह्नि का ज्ञान होता है (वही अनुमानरूप विपर्यय है) । इसी तरह गवय के सींग को देखने से जो गो का ज्ञान होता है, वह भी विपर्ययरूप अनुमान ही है ।

'त्रयीदर्शनविपरीतेषु' इत्यादि से यह दिखलाया गया है कि कुत्सित दर्शनों के अभ्यास से भी विपर्ययरूप अविद्या की उत्पत्ति होती है । 'त्रयाणां समाहारः त्रयी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीनों के समुदाय का नाम ही 'त्रयी' है । अथर्ववेद त्रयी का ही एकदेश है । 'दृश्यते स्वर्गापवर्गसाधनभूतोऽर्थोऽनया इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस दृष्टि से स्वर्ग और मोक्ष इन दोनों के कारणीभूत वस्तु देखी जाँय, वही दृष्टि प्रकृत 'दर्शन' शब्द का अर्थ है । 'त्रय्येव दर्शनं त्रयीदर्शनम्'

प्रशस्तपादभाष्यम्

श्रेय इति मिथ्याप्रत्ययः विपर्ययः, शरीरेन्द्रियमनःस्वात्माभिमानः, कृतकेषु नित्यत्वदर्शनम्, कारणवैकल्ये कार्योत्पत्तिज्ञानम्, हितमुपदिशत्स्वहितमिति ज्ञानम्, अहितमुपदिशत्सु हितमिति ज्ञानम् ।

और यजुर्वेद इन तीनों के समूह रूप) त्रयी के विरुद्ध मतवाले बौद्धादि दर्शनों में 'यही मोक्ष का कारण है' इस प्रकार का अभिमान भी विपर्यय है । शरीर अथवा इन्द्रिय या मन को आत्मा समझना भी विपर्यय है । उत्पत्तिशील वस्तुओं में नित्यत्व का ज्ञान, कारणों के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति का ज्ञान, हित उपदेश करनेवालों में 'यह मेरा हितू नहीं है' इस प्रकार का ज्ञान, अनिष्ट उपदेश करनेवालों में 'यही मेरा हित है' इस प्रकार का ज्ञान, ये सभी ज्ञान विपर्यय हैं ।

न्यायकन्दली

कृतकेषु वेदेषु नित्यत्वाभिमानो विपर्ययो मीमांसकानाम् । कारणवैकल्ये **धर्माधर्मयोरभावे कार्योत्पत्तिज्ञानं सुखदुःखादिवैचित्र्यज्ञानं तच्छिष्याणां विपर्ययो लौकायतिकानाम् ।प्राणिनो न हिंसितव्या मलपङ्कादिकमशुचि न धारयिव्यमित्यादिकं हितमुपदिशत्सु वेदवृद्धेषु अहितमिति विज्ञानं प्राणिहिंसापरो धर्मो मलपङ्कादिधारणमेव श्रेयस इत्यहितमुपदिशत्सु क्षपणक-संसारमोचकादिषु हितमिति विज्ञानं तच्छिष्याणां विपर्ययः ।**

इस व्युत्पत्ति के अनुसार कथित त्रयी से अभिन्न दर्शन ही प्रकृत 'त्रयीदर्शन' शब्द का अर्थ है । त्रयी के विरुद्ध जो शाक्यादि के दर्शन हैं उनमें, अर्थात् बौद्ध, भिन्नक, निर्ग्रन्थक और संसारमोचकादि के शास्त्रों में से किसी में 'यह कल्याण का कारण है' ऐसा जो कोई उपदेश करते हैं, उस उपदेश में प्रामाण्य का ज्ञान भी (विपर्यय रूप) मिथ्याप्रत्यय ही है; क्योंकि वे शास्त्र किसी अतिसाधारण व्यक्ति के द्वारा ही परिगृहीत हैं । एवं उनमें सभी बातें वर्णाश्रमियों के विरुद्ध ही हैं, और उनकी बातें प्रमाणों से भी बहिर्भूत हैं । इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय और मन में से प्रत्येक में आत्मा का अभिमान भी विपर्यय ही है; क्योंकि इन सबों से भिन्न रूप में आत्मा का अस्तित्व प्रमाणों से सिद्ध है । प्रयत्न से उत्पन्न शब्दरूप वेदों में नित्यत्व का अभिमान भी मीमांसकों का विपर्यय ही है । 'कारणों के वैकल्य' से अर्थात् धर्म और अधर्म के न रहने पर भी 'कार्योत्पत्ति का ज्ञान' अर्थात् सुख-दुःखादि वैचित्र्य का लौकायतिकों और उनके शिष्यों का ज्ञान भी विपर्यय ही है । प्राणियों की हिंसा न करनी चाहिए, मलपङ्कादि अशुचि वस्तुओं को धारण न करना चाहिए, इत्यादि प्रकार के 'हित' उपदेश करनेवाले वेदज्ञ वृद्धों के प्रति ये 'मेरे हितू नहीं हैं, इस आकार का ज्ञान एवं 'प्राणियों की हिंसा ही परम

न्यायकन्दली

अत्र केचिद् वदन्ति--विपर्ययो नास्ति, कारणाभावात् । तदभावश्चेन्द्रियाणां यथार्थज्ञानजननस्वभावत्वात् । दोषवशादयथार्थमपि ज्ञानमिन्द्रियाणि जनयन्तीति चेन्न, शक्तिविघातमात्रहेतुत्वात् दोषाणाम् । शुक्तिसंयुक्तमिन्द्रियं दोषोपहतशक्तिं शुक्तिकात्वं न गृह्णाति, न त्वसन्निहितं रजतं प्रकाशयति दोषाणां संस्कारकत्वप्रसङ्गात् । यदि चाप्रत्यक्षमपि चक्षुरध्यक्षयति ? सर्वस्य सर्ववित्त्वं केन वार्येत ? इदं रजतमिति ज्ञानस्य शुक्तिकालम्बनमिति हि संविद्विरुद्धम् । यस्यां हि संविदि योऽर्थोऽवभासते, स तस्या आलम्बनम् । रजतज्ञाने च रजतं प्रतिभाति, न शुक्तिका । न चागृहीतरजतस्य शुक्तौ तद्भ्रमः । तस्मादिदमिति शुक्तिकाविषयोऽनुभवो रजतमिति सदृशावबोधप्रबोधित-संस्कारमात्रजं दोषकृतं तदित्यंशप्रमोषं रजतस्मरणमिति द्वे इमे संवित्ती भिन्नविषये ।

धर्म है, मलपङ्कादि का धारण करना ही परमश्रेय है, इत्यादि उपदेश करनेवाले क्षपणक संसारमोचकादि में 'ये ही मेरे हितू हैं' इत्यादि आकार के उनके शिष्यों के ज्ञान भी विपर्यय हैं ।

इस प्रसङ्ग में कोई कहते हैं कि (प्र.) विपर्यय नाम का कोई ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है । इन्द्रियाँ चूँकि यथार्थ ज्ञान को ही उत्पन्न कर सकती हैं, अतः सिद्ध होता है कि विपर्यय (या मिथ्याज्ञान) नाम की कोई वस्तु नहीं है । अगर कहें कि (उ.) दोष के साहाय्य से इन्द्रियां अयथार्थ ज्ञान को भी उत्पन्न कर सकती हैं ? (प्र.) (किन्तु यह कहना भी सम्भव) नहीं है; क्योंकि दोष कारणों की शक्ति को केवल विघटित ही कर सकते हैं, जिस पुरुष के चक्षु की शक्ति दोष के द्वारा विघटित हो गयी है, उस चक्षु का यदि शुक्ति के साथ संयोग भी होता है, तो भी वह चक्षु शुक्तिकात्व को ग्रहण नहीं कर सकती, एवं न दूरस्थ रजत को ही प्रकाशित कर सकती है, यदि ऐसी बात हो तो फिर दोषों में संस्कार की जनकता माननी पड़ेगी, फिर सभी जीवों में आनेवाली सर्वज्ञता की आपत्ति का निवारण किस प्रकार होगा ? एवं यह अनुभव के भी विरुद्ध है कि 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का विषय शुक्तिका है; क्योंकि जिस ज्ञान में जो भासित होता है वही उसका विषय होता है । 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में रजत ही भासित होता है, शुक्तिका नहीं । अज्ञात रजत का शुक्तिका में भ्रम भी नहीं हो सकता है । अतः प्रकृत 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में 'इदम्' यह अंश शुक्तिकाविषयक अनुभव है, एवं 'रजतम्' यह अंश रजतविषयक स्मृति है, जिसमें कारणीभूत अनुभव के विषय में का 'तत्ता' का अंश हट गया है । उस स्मृति की उत्पत्ति (रजत में रहनेवाली शुक्तिका के) सादृश्य से उद्‌बुद्ध संस्कार से होती है । तस्मात् 'इदम्' यह अनुभवरूप और 'रजतम्' यह स्मृति रूप फलतः दो विभिन्न विषयक ज्ञान हैं । ('इदं रजतम्' यह एक अखण्ड विशिष्ट ज्ञान नहीं है) ।

न्यायकन्दली

अत्रोच्यते–यदि रजतज्ञानं न शुक्तिकाविषयं किं त्वेषा रजतस्मृतिः, तदा तस्मिन् ज्ञाने रजतार्थी पूर्वानुभूते एव रजते प्रवर्तेत, न शुक्तिकायाम्, स्मृतेरनुभवदेशे प्रवर्तकत्वात् । अथ मन्यसे–इन्द्रियेण रजतस्य साधारणं रूपं शुक्तिकायां गृहीतम्, न शुक्तिकात्वं विशेषः, रजतस्मरणेन च तदित्युल्लेखशून्येनानिर्धारितदिग्देशं रजतमात्रमुपस्थापितम्, तत्रानयोर्गृह्यमाणस्मर्यमाणयोर्ग्रहणस्मरणयोश्च सादृश्याद् विशेषाग्रहणाच्च विवेकमनवधारयन् शुक्तिकादेशे प्रवर्तते, सामानाधिकरण्यं शुक्तिकारजतयोरध्यवस्यति रजतमेतदिति। तदप्ययुक्तम्, अविवेकस्याप्यग्रहणात् । रजताभेदग्रहो हि रजतार्थिनः शुक्तिकायां प्रवृत्तिकारणं न सादृश्यम्, भेदग्रहणं च ततो निवृत्तिकारणम्, तदुभयोरभावान्न प्रवर्त्तते न निवर्त्तेत इति स्यात्, न तु नियमेन प्रवर्त्तेत, विशेषाभावात्। एवं सामानाधिकरण्यमपि न स्यादभेदाग्रहणस्यापि वैयधिकरण्यहेतोः सम्भवात् ।तथा च प्रवृत्त्युत्तरकालीनो नेदं रजतमिति बाधकप्रत्ययोऽपि न घटते, शुक्तिकारजतयोर्भेदो न गृहीतो न तु तादात्म्यमध्यवसितं येनेदं प्रतिषिध्यते, भेदाग्रहणप्रसञ्जितस्य शुक्तिकायां रजत-

(उ.) इस प्रसङ्ग में हमलोग कहते हैं कि उक्त रजतविषयक ज्ञान में अगर शुक्ति विषय न हो, वह केवल रजत की स्मृति ही हो, तो फिर इस ज्ञान के बाद रजत को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले पुरुष पहिले से अनुभूत रजत में ही प्रवृत्त होते शुक्तिका में नहीं, क्योंकि स्मृति (अपने कारणीभूत) पूर्वानुभव के विषय रूप देश में ही प्रवृत्ति का उत्पादन कर सकती है । (प्र.) प्रकृत में रजत का साधारण रूप (इदन्त्व) ही इन्द्रिय से शुक्तिका में गृहीत होता है, शुक्तिका का विशेष धर्म शुक्तिकात्व नहीं । पूर्वानुभव की विषय 'तत्ता' के सम्बन्ध से सर्वथा रहित रजत की स्मृति से अनिश्चित केवल रजत ही जिस किसी देश में उपस्थित किया जाता है । अनुभूत एवं स्मृत दोनों विषयों के एवं अनुभव और स्मृति दोनों ज्ञानों के सादृश्य, एवं दोनों विषयों के असाधारण धर्मों का अज्ञान, इन दोनों से रजत की इच्छा रखनेवाले पुरुष को शुक्तिका और रजत के भेद का निश्चय नहीं हो पाता । अतः वह पुरुष शुक्ति रूप देश में ही रजत के लिए प्रवृत्त हो जाता है । एवं शुक्तिका और रजत इन दोनों में अभेद को यह निश्चय करता है कि 'यह रजत है' । (उ.) किन्तु उक्त कथन असङ्गत है, क्योंकि (उक्त स्थल में) अभेद का ज्ञान नहीं होता, एवं शुक्तिका में रजत के अभेद का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण है, दोनों का सादृश्य नहीं । एवं रजत और शुक्ति के भेद का ज्ञान (शुक्तिका में रजतार्थी की) निवृत्ति का कारण है । इस प्रकार (शुक्तिका में 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलों में) प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों में से एक भी नहीं बनेगी, क्योंकि न वहाँ अभेद का ज्ञान है न भेद का । एवं उक्त ज्ञान

न्यायकन्दली

व्यवहारस्यायं प्रतिषेध इति चेन्न, अभेदाग्रहणादतद्व्यवहारप्रवृत्तेरपि सम्भवात् । अस्ति च शुक्तिकादेशे रजतार्थिनः प्रवृत्तिः, अस्ति च सामानाधिकरण्यप्रत्ययो रजतमेतदिति, अस्ति च बाधकप्रत्यय इदन्ताधिकरणस्य रजतात्मतानिषेधपरः । तेनावगच्छामः शुक्तिसंयुक्तेनेन्द्रियेण दोषसहकारिणा रजतसंस्कारसचिवेन सादृश्यमनुरुन्धता शुक्तिकाविषयो रजताध्यवसायः कृतः ।

यच्चेदमुक्तं शुक्तिकालम्बनत्वमनुभवविरुद्धमिति, तदसारम् । इदन्तया नियतदेशाधिकरणस्य चाकचिक्यविशिष्टस्य शुक्तिकाशकलस्यापि प्रतिभासनात् । हानादिव्यवहारयोग्यता चालम्बनार्थः, स चात्रैव सम्भवति । योऽपि भेदाग्रहाच्छुक्तौ रजतव्यवहारप्रवृत्तिमिच्छति, तेनापि विपर्ययोऽङ्गीकृतः, अतस्मिंस्तदिति व्यवहारप्रवृत्तेरेव विपर्ययत्वात् । यच्च शक्तिव्याघातहेतुत्वं

के बाद नियमपूर्वक होनेवाली प्रवृत्ति की भी उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रकृत में कोई नहीं है । इसी प्रकार अभेद का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि भेद के ज्ञान के कारण अभेद के अग्रहण की भी वहाँ सम्भावना है । एवं यहाँ प्रवृत्ति के बाद जो 'नेदं रजतम्' इत्यादि आकार की बाधक प्रतीति होती है, वह भी नहीं बन सकेगी, क्योंकि शुक्तिका और रजत इन दोनों के भेद ज्ञात ही नहीं हैं, एवं दोनों का अभेद भी गृहीत नहीं है, फिर किससे उक्त प्रतिषेध की उपपत्ति होगी ? (प्र.) शुक्तिका और रजत इन दोनों के भेद के अज्ञान से शुक्तिका में रजतव्यवहार की जो सम्भावना होती है, उसी का निषेध 'नेदं रजतम्' इत्यादि से होता है । (इस प्रकार से उपपत्ति) नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त अभेद के अग्रहण मात्र से तो रजत से भिन्न (घटादि) व्यवहार भी हो सकता है । किन्तु शुक्तिका के प्रदेश में ही रजत की इच्छा करनेवालों की प्रवृत्ति होती है, एवं अभेद की यह प्रतीति होती है कि यह रजत है । एवं इदन्त्व के आश्रय शुक्तिका में रजतस्वरूपत्व का निषेध करनेवाला (नेदं रजतम्) यह बाधक प्रत्यय भी है । इससे यह निश्चित रूप से समझते हैं कि शुक्तिका से संयुक्त इन्द्रिय ही शुक्तिका में रजत विषयक निश्चय को उत्पन्न करती है । यह अवश्य है कि इन्द्रिय को इस विशेष कार्य के लिए दोष रूप सहकारी की, रजतसंस्कार से सहायता की और सादृश्य के अनुरोध की आवश्यकता होती है ।

यह जो कहा जाता है कि 'शुक्तिका रजतज्ञान का विषय हो, यह अनुभव से बाहर की बात है' उसमें भी कुछ सार नहीं है, क्योंकि इदन्त्व का नियत अधिकरण एवं चाकचिक्य से युक्त शुक्तिका खण्ड, ये दोनों भी तो उस प्रतीति में विषय हैं ही । जिस प्रतीति से जिसमें ग्रहण या त्याग की योग्यता आवे, वही उस प्रतीति का विषय है । यह योग्यता (इस 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में भासित होनेवाले रजत में भी) है ही । जिनकी यह अभिलाषा है कि भेद के अज्ञान से ही शुक्ति में रजत का व्यवहार और प्रवृत्ति दोनों की उपपत्ति

न्यायकन्दली

दोषाणामिति, तदपि न किञ्चित्, वातादिदोषदुष्टानां धातूनां रोगान्तरजननोपलम्भात् । सर्वस्य सर्ववित्त्वं च दोषाणां शक्तिनियमादेव पराहतम् । न च ज्ञानस्यार्थव्यभिचारे सर्वत्रानाश्वासः, यत्नेनान्विष्यमाणानां बाधकारणदोषाणामनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्व्याप्तस्य विपर्ययस्याभावावगमादेव विश्वासोपपत्तेः ।

विपर्ययानभ्युपगमे च द्विचन्द्रज्ञानस्य का गतिः ? दोषव्यतिभिन्नानां चक्षूरश्म्यवयवानां च पृथङ् निर्गत्य पतितानां चन्द्रमसि जनितस्य ज्ञानद्वयस्यायं द्वित्वावभास इति चेन्न, ज्ञानधर्मस्य चक्षुषा ग्रहणाभावात् । ज्ञानधर्मो ज्ञेयगतत्वेन गृह्यमाणो ज्ञेयग्राहकेणैवेन्द्रियेण गृह्यत इत्यभ्युपगमे तु भ्रान्तिः समर्थिता स्यात्, अन्यधर्मस्यान्यत्र ग्रहणात् । इत्यलमतिप्रकोपितैः श्रोत्रियद्विजन्मभिरित्युपरम्यते ।

ये तु शुक्तिकायां रजतप्रतीतावलौकिकं रजतं वस्तुभूतमेव प्रतीयत इति

हो, वे भी वस्तुतः 'विपर्यय' को स्वीकार ही करते हैं, क्योंकि जहाँ जो नहीं है, वहाँ उसके व्यवहार की प्रवृत्ति ही वस्तुतः 'विपर्यय' है । 'दोष केवल शक्ति का व्याघात ही कर सकता है' इस कथन में भी कुछ सार नहीं है, क्योंकि वायु प्रभृति दोषों से युक्त धातुओं से रोग नाम की दूसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है । शक्ति के नियमन से भी सभी जनों में सर्वज्ञता की आपत्ति खण्डित हो जाती है । किसी स्थान में ज्ञान का अर्थ व्यभिचारी होना ज्ञान में सभी व्यवहारों के विश्वास को डिगा नहीं सकता, क्योंकि यत्नपूर्वक अन्वेषण करने पर बाध के कारणीभूत दोष की अनुपलब्धि से दोष के अभाव का निश्चय हो जाएगा । फिर दोष के अभाव के साथ अवश्य रहनेवाले विपर्ययाभाव की सिद्धि (सुलभ) होगी । इस अभाव-निश्चय के द्वारा ही (यथार्थ) ज्ञान में विश्वास की उपपत्ति होगी ।

विपर्यय को यदि न मानें तो द्विचन्द्रों के ज्ञान की क्या गति होगी ? (प्र.) दोष से युक्त चक्षु की रश्मियों के अवयव अलग-अलग निकल कर चन्द्रमा के ऊपर जाते हैं, अतः एक ही चन्द्र के दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं । दोनों ज्ञानों में रहनेवाले द्वित्व का ही चन्द्रमा में भान होता है । (उ.) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ज्ञान में रहनेवाले धर्म का चक्षु से भान होना सम्भव नहीं है । यदि यह मान भी लें कि (प्र.) ज्ञान का धर्म जब ज्ञेय में गृहीत होता है, तब ज्ञेय का ज्ञान जिस इन्द्रिय से होता है, उसी से ज्ञानगत धर्म भी गृहीत होता है । (उ.) तो फिर इससे भी विपर्यय या भ्रान्ति ही समर्थित होती है, क्योंकि (आप के कथनानुसार भी) अन्य (ज्ञान) का धर्म द्वित्व अन्यत्र (विषय चन्द्रमा में) ही गृहीत होता है । अत्यन्त क्रुद्ध श्रोत्रिय ब्राह्मणों को इससे अधिक कहना व्यर्थ समझकर मैं इससे विरत होता हूँ ।

जो कोई इस रीति से विपर्यय का खण्डन करते हैं कि (शुक्ति में) वस्तुतः

प्रशस्तपादभाष्यम्

अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषय एव सञ्जायते । तत्र प्रयक्षविषये तावत् प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः । यथा वाहीकस्य पन-

प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा ज्ञात होनेवाले विषयों का ही अनध्यवसाय भी होता है । इनमें पहिले से ज्ञात अथवा अज्ञात किसी अन्य विषय में मग्न अथवा किसी विशेष प्रकार की प्रतीति की इच्छा या किसी प्रयोजन से अभिभूत पुरुष का ('यह क्या है ?' इस आकार का) केवल आलोचन ज्ञान ही प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होनेवाले विषय का अनध्यवसाय है । जैसे कि भार ढोनेवाले पुरुष को कटहल प्रभृति फलों को देखने के बाद यह अनिश्चयात्मक (अनध्यवसाय) होता है (कि, यह क्या है ?) उस (भारवाही पुरुष) को

न्यायकन्दली

वदन्तो विपर्ययाभावं समर्थयन्ति, तेषामस्मिञ्ज्ञाने प्रवृत्तिर्न स्यादलौकिकस्यार्थक्रिया-हेतुत्वानवगमात् ।

अनध्यवसायोऽपि प्रत्यक्षानुमानविषये सञ्जायते । **प्रत्यक्षानुमानविषये विपर्ययस्तावद्भवति, अनध्यवसायोऽपि भवतीत्यपिशब्दार्थः । प्रत्यक्षविषये तावदनुमानविषये क्रमेणानध्यवसायो वक्तव्यमित्यभिप्रायेण क्रमवाचिनं ताव-च्छब्दमाह**—प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा व्यासङ्गादर्थित्वाद्वा किमित्यालोचन-मात्रमनध्यवसायः । **प्रसिद्धाश्च ते अर्थाश्च प्रसिद्धार्थाः, येऽर्थाः पूर्वं ज्ञातास्तेषु व्यासङ्गादन्यत्रासक्तचित्तत्वाद् विशेषप्रतीत्यर्थित्वाद् वा किमित्यालोचनमात्रम् । गते**

विद्यमान रजत का ही भान होता है; किन्तु वह रजत अलौकिक है । उनके मत से इस ज्ञान के बाद प्रवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि अलौकिरूप वस्तु से किसी भी कार्य की उत्पत्ति कहीं भी किसी को ज्ञात नहीं है ।

'अनध्यवसायोऽपि' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'अपि' शब्द का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार विपर्यय प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा ज्ञात होनेवाले विषयों का ही होता है, उसी प्रकार 'अनध्यवसाय' भी उन दोनों प्रकार के विषयों का ही होता है । प्रकृत वाक्य में क्रम के वाचक 'तावत्' शब्द का प्रयोग इस अभिप्राय से किया गया है कि प्रत्यक्ष के विषय और अनुमान के विषय क्रमशः दोनों में ही अनध्यवसाय भी समझना चाहिए । 'प्रसिद्धाश्च ते अर्थाश्च' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रसिद्धार्थेषु' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'प्रसिद्धार्थ' शब्द से वह अर्थ लेना चाहिए, जो पहले से ज्ञात हो । 'तेषु व्यासङ्गात्' अर्थात् उनसे भिन्न विषयों में चित्त के लगे रहने के कारण अथवा किसी के विशेष प्रकार से प्रतीति के 'अर्थित्व' अर्थात् प्राप्ति की इच्छा से

प्रशस्तपादभाष्यम्

सादिष्वनध्यवसायो भवति । तत्र सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपवत्त्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यवसायो भवति । पनसत्वमपि पनसेष्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृत्तं प्रत्यक्षमेव, केवलं तूपदेशाभावाद् विशेषसंज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति । अनुमानविषयेऽपि नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वयं प्राणी स्यादित्यनध्यवसायो भवति ।

भी सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व, रूपवत्त्व एवं शाखा प्रभृति धर्मों के साथ वह वृक्ष निश्चित ही है । एवं विभिन्न सभी पनसों (कटहल) को एक रूप से समझानेवाली एवं पनस को आम्रादि फलों से भिन्न रूप में समझानेवाली पनसत्व जाति का भी निश्चय ही है । केवल उसे यह विशेष रूप से ज्ञात नहीं रहता है कि 'इसका नाम क्या है ?' नारिकेल द्वीप में रहनेवाले को केवल सास्ना को देखने से जो 'यह कौन-सा प्राणी होगा' इस आकार का अनध्यवसाय होता है, वह आनुमानिक विषय का अनध्यवसाय है ।

न्यायकन्दली

प्रसिद्धे राज्ञि कोऽप्यनेन पथा गत इति ज्ञानमात्रमनवधारितविशेषमनध्यवसायः । **अप्रसिद्धेष्वपरिज्ञानादेवानध्यवसायो** यथा वाहीकस्य पनसादिष्वनध्यवसायो भवति, **दक्षदेशोद्भवस्य पनसादिष्वनध्यवसाय इत्यर्थः । तत्रापि पनसे सत्त्वद्रव्यत्वपृथिवीत्ववृक्षत्वरूपत्वादिशाखाद्यपेक्षोऽध्यवसाय एव, द्रव्यमेतत् पार्थिवोऽयं रूपादिमान् शाखादिमांश्चेत्यवधारणात्** । पनसत्वमपि पनसेष्वनुवृत्तमाम्रादिभ्यो व्यावृतं निर्विकल्पकप्रत्यक्षमेव । केवलं त्वस्य पनसशब्दो नामधेयमित्युपदेशाभावाद् विशेषसंज्ञाप्रतिपत्तिर्न भवति **पनसशब्दवाच्योऽयमिति प्रतिपत्तिर्न भवति, किन्तु किमप्यस्य नामधेयं**

'किमित्यालोचनमात्रम्' अर्थात् किसी प्रसिद्ध राजा के जाने पर भी 'कोई इस रास्ते से गया है' इस प्रकार का (अनवधारणात्मक) ज्ञान–जिससे किसी के असाधारण धर्म का निर्धारण नहीं होता–'अनध्यवसाय' है । अभिप्राय यह है कि 'अप्रसिद्धों में' अर्थात् पहिले से बिलकुल अज्ञात विषयों में 'अपरिज्ञान से' अर्थात् वस्तुओं के सामान्य विषयक यथार्थ ज्ञान के न रहने से 'अनध्यवसाय' होता है । जैसे कि पालकी ढोनेवाले को एवं दक्षिण देश में रहनेवालों को पनस के (कटहल) वृक्ष में अनध्यवसाय होता है । यद्यपि वहाँ भी सभी वृक्षों में रहनेवाले शाखादि के ज्ञान से पनस में सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व एवं रूपवत्त्वादि विषयक (यह सत् है) यह द्रव्य है, यह पार्थिव है, यह वृक्ष है, यह रूपवाला है, यह शाखा से युक्त है इत्यादि प्रतीतियाँ उन (दक्ष देश के वासियों) को भी होती ही हैं, एवं सभी पनसों में रहनेवाले एवं आम प्रभृति में न रहनेवाले पनसत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी होता ही है

प्रशस्तपादभाष्यम्

उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवनं

जिस व्यक्ति के सभी इन्द्रिय मन के प्रलीन होने के कारण

न्यायकन्दली

भविष्यतीत्येतावन्मात्रप्रतीतिः स्यात् । सेयं सञ्ज्ञाविशेषानवधारणात्मिका प्रतीति-रनध्यवसायः ।

अनुमानविषयेऽपि नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात् को नु खल्वत्र प्रदेशे प्राणी स्यादित्यनध्यवसायः । **नारिकेलद्वीपे गवामभावात् तत्रत्यो लोकोऽप्रसिद्धगोजातीयः, तस्य देशान्तरमागतस्य वने सास्नामात्रदर्शनात् सामान्येन पिण्डमात्रमनुमाय तत्र जातिविशेष-विषयत्वेन को नु खल्वत्र प्राणी स्यादित्यनवधारणात्मकं ज्ञानमनध्यवस[ायः], अध्यवसायविशेषा-वधारणज्ञानादन्यदिति व्युत्पत्या । नन्वयं संशय एव, अनवधारणात्मकत्वात् । न, कारणभेदात्, स्वरूपभेदाच्च । किञ्च, उभयविशेषानुस्मरणात् संशयो न त्वनध्यव-सायः, प्रतीतिविशेषविषयत्वेनाप्यस्य सम्भवात् । तथानवस्थितोभय-**

किन्तु 'इसका नाम पनस है' इस आकार के उपदेश के अभाव से 'पनस' रूप विशेष का ज्ञान नहीं हो पाता, अर्थात् 'यह पनस शब्द का अभिधेय अर्थ है' इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो पाता । केवल 'इसका भी कोई नाम होगा' इतनी ही प्रतीति होती है । संज्ञा विशेष की यही 'अवधारणात्मक' प्रतीति 'अनध्यवसाय' (रूप अविद्या) है ।

नारिकेल–द्वीपवासियों को इस देश में केवल सास्ना के देखने से गाय के विषय में यह कौन प्राणी है ? यह ज्ञान अनुमान के द्वारा जानने योग्य विषय का अनध्यवसाय है । अभिप्राय यह है कि नारिकेल द्वीप में गायें नहीं होतीं, अतः उस देश के निवासियों को गायों का ज्ञान नहीं रहता । उस देश का कोई व्यक्ति दूसरे देश के वन में जाकर केवल सास्ना को देखने के बाद केवल पिण्ड का अनुमान करता है । इसके बाद उसे विशेष जाति के उस सास्नावाले व्यक्ति का 'यह कौन सा प्राणी' इस आकार का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान विषयविषयक अनध्यवसाय है । 'विशेषावधारणादन्यत्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विशेषधर्मपूर्वक निश्चय रूप अवधारणात्मक न होने के कारण ही उक्त ज्ञान 'अनध्यनवसाय' है । (प्र.) तो फिर यह संशय ही है, क्योंकि निश्चयात्मक नहीं है । (उ.) यह संशय नहीं हो सकता, क्योंकि इसका स्वरूप और इसके कारण दोनों ही संशय से दूसरे प्रकार के हैं । और भी बात है, दोनों कोटियों के असाधारण धर्मों के पश्चात् स्मरण से संशय होता है अनध्यवसाय नहीं, क्योंकि अनध्यवसाय में विषय होने वाले पदार्थों के असाधारणधर्म यदि अज्ञात भी रहें, तब भी अनध्यवसाय रूप ज्ञान हो सकता है । संशय और अनध्यवसाय इन दोनों में यही भेद है कि संशय में अनिश्चित दो कोटियों का सम्बन्ध रहता है, अनध्यवसाय में नहीं । चूँकि अनध्यवसाय रूप ज्ञान

प्रशस्तपादभाष्यम्

मानसं तत् स्वप्नज्ञानम् । कथम् ? यदा बुद्धिपूर्वादात्मनः शरीरव्यापारादहनि खिन्नानां प्राणिनां निशि विश्रामार्थ-

विषयों के ग्रहण से विमुख रहते हैं, उस व्यक्ति को केवल मन रूप इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है, वही 'स्वप्न ज्ञान' है । (प्र.) यह किस प्रकार उत्पन्न

न्यायकन्दली

कोटिसंस्पर्शी संशयो न त्वयमिति भेदः । विद्या त्वयं न भवति, व्यवहारानङ्गत्वादिति ।

स्वप्ननिरूपणार्थमाह—उपरतेन्द्रियग्रामस्येत्यादि । **उपरतः स्वविषयग्रहणाद् विरत इन्द्रियग्रामो यस्य असावुपरतेन्द्रियग्रामः । प्रकर्षेण सर्वात्मना लीनं मनो यस्यासौ** प्रलीनमनस्क **इति । तस्योपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेण यदनुभवनं पूर्वाधिगमानपेक्षं परिच्छेदस्वभावं मानसं मनोमात्रप्रभवं तत् स्वप्नज्ञानम् । यदा यथा पुरुषस्य मनः प्रलीयते, इन्द्रियाणि च विरमन्ति तद्दर्शयति**—कथमित्यादिना । आत्मनः शरीरव्यापाराद् **गमनागमनादहनि खिन्नस्य परिश्रान्तस्य प्राणिनो निशि रात्रौ विश्रामार्थं श्रमोपशमार्थं भुक्तपीतस्याहारस्य रसादिभावेन परिणामार्थं चादृष्टेन कारितं प्रयत्न-मपेक्षमाणादात्मान्तःकरणसंयोगान्मनसि' यः** क्रियाप्रबन्धः **क्रियासन्तानो जातस्तस्मादन्त-र्हृदये** निरिन्द्रिये **बाह्येन्द्रियसम्बन्धशून्ये आत्मप्रदेशे निश्चलं मनस्तिष्ठति यदा, तदा पुरुषः** प्रलीनमनस्क इत्याख्यायते । **प्रलीने च तस्मिन् मनस्युपरतेन्द्रिय-**

से व्यवहार नहीं चल पाता, अतः यह ज्ञान 'अविद्या' रूप ही है, यह विद्या के अन्तर्गत नहीं आ सकता ।

'उपरतेन्द्रियग्रामस्य' इत्यादि वाक्य स्वप्न के निरूपण के लिए लिखे गये हैं । 'उपरतः इन्द्रियग्रामो यस्य असौ उपरतेन्द्रियग्रामः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस पुरुष की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के ग्रहण से 'उपरत' हैं अर्थात् अपने विषयों को ग्रहण करना छोड़ दी हैं, वही पुरुष 'उपरतेन्द्रियग्राम' शब्द का अर्थ है । 'प्रकर्षेण लीनं मनो यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रकर्षेण' अर्थात् पूर्ण रूप से (किसी विषय में) लीन है मन जिसका, वही पुरुष 'प्रलीनमनस्क' शब्द का अर्थ है । (इस प्रकार के) उपरतेन्द्रियग्राम और प्रलीनमनस्क पुरुष को इन्द्रिय के द्वारा जो विचार रूप एवं मानस अर्थात् मनोमात्रजन्य पहिले के ज्ञानों से सर्वथा अनपेक्ष अनुभव होता है, वही 'स्वप्न' है । 'कथम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा यह दिखलाया गया है कि किस समय और किस प्रकार से मन प्रलीन होता है एवं इन्द्रियाँ विषयों के ग्रहण से उपरत होती हैं । शरीर के व्यापार अर्थात् गमन और आगमन के द्वारा 'खिन्न' अर्थात् थके हुए प्राणियों को निशा अर्थात् रात में 'विश्राम' अर्थात् थकावट को मिटाने के लिए एवं खाये और पिये हुए द्रव्य को रसादि रूप में परिणत करने के लिए आत्मा और अन्तःकरण के संयोग से मन

प्रशस्तपादभाष्यम्

माहारपरिणामार्थं वादृष्टकारितप्रयत्नापेक्षादात्मान्तःकरणसम्बन्धान्मनसि क्रिया-प्रबन्धादन्तर्हृदये निरिन्द्रिये आत्मप्रदेशे निश्चलं मनस्तिष्ठति, तदा प्रलीन-मनस्क इत्याख्यायते । प्रलीने च तस्मिन्नुपरतेन्द्रियग्रामो भवति, तस्याम-वस्थायां प्रबन्धेन प्राणापानसन्तानप्रवृत्तावात्ममनःसंयोगविशेषात् स्वापाख्यात् संस्काराच्चेन्द्रियद्वारेणैवासत्सु विषयेषु प्रत्यक्षाकारं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते ।

होता है ? (उ.) शरीर के अति सञ्चालन से श्रान्त प्राणियों को विश्राम देने के लिए एवं भोजन के परिपाक के लिए हृदय के बीच बाह्य इन्द्रियों से रहित आत्मा के प्रदेश में जिस समय जिस पुरुष का मन (इष्ट प्राप्ति या अनिष्ट की निवृत्ति के लिए) आत्मा के द्वारा जानबूझ-कर निष्क्रिय होकर बैठ जाता है, उस समय उस व्यक्ति को 'प्रलीनमनस्क' कहते हैं । (बाह्येन्द्रिय प्रदेश में मन की यह निष्क्रिय स्थिति) मन की उन क्रियाओं से होती है, जो अदृष्ट युक्त आत्मा और अन्तःकरण (मन) के सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार मन के निष्क्रिय होकर बैठ जाने के कारण बाह्य इन्द्रियाँ अपने कामों को करने में (उस समय) असमर्थ हो जाती हैं । ऐसी अवस्था में प्राणवायु और अपान वायु की प्रवृत्तियाँ अधिक हो जाती हैं । ऐसी स्थिति में 'स्वाप' नाम के आत्मा और मन के विशेष प्रकार के संयोग, एवं संस्कार इन दोनों से (मन रूप) इन्द्रिय के द्वारा ही अविद्यमान विषयक प्रत्यक्षा-कारक (प्रत्यक्ष नहीं) जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'स्वप्नज्ञान' कहते हैं।

न्यायकन्दली

ग्रामो भवति, अन्तःकरणानधिष्ठितानामिन्द्रियाणां विषयग्रणाभावात् । तस्यां प्रलीनमनोऽवस्थायां प्रबन्धेन बाहुल्येन प्राणापानवायुसन्ताननिर्गमप्रवेशलक्षणायां प्रवृत्तौ सम्भवन्त्यात्ममनःसंयोगात् स्वापाख्यात् **स्वाप इति नामधेयात्**

में 'क्रियासन्तान' अर्थात् क्रियाओं के समूह की उत्पत्ति होती है । उस संयोग को इस काम के लिए अदृष्ट से प्रेरित प्रयत्न के साहाय्य की भी अपेक्षा होती है । पुरुष के हृदय के बीच 'निरिन्द्रिय' अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित आत्मा के एक प्रदेश में जिस समय मन निश्चल रहता है, उसी समय वह पुरुष 'प्रलीनमनस्क' कहलाता है । उसके अर्थात् मन के प्रलीन होने पर पुरुष 'उपरतेन्द्रियग्राम' होता है, (अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करने से विमुख हो जाती हैं) क्योंकि अन्तःकरण (मन) प्राण और अपान वायुओं के समुदाय के गमनागमन रूप प्रलीन वृत्ति के उत्पन्न होने पर

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्तु त्रिविधम्–संस्कारपाटवाद्धातुदोषाददृष्टाच्च । तत्र संस्कार-पाटवात् तावत् कामी क्रुद्धो वा यदा यमर्थमादृतश्चिन्तयन् स्वपिति, तदा सैव चिन्तासन्ततिः प्रत्यक्षाकारा सञ्जायते । धातुदोषाद् वातप्रकृतिस्तद्

वह तीन प्रकार का है, १. संस्कार की पटुता से उत्पन्न २. धातु के दोष से उत्पन्न एवं ३. अदृष्ट से उत्पन्न । इनमें संस्कार की पटुता से उत्पन्न स्वप्न का उदाहरण यह है कि जिस समय कामी अथवा क्रुद्ध पुरुष जिस वस्तु की बराबर चिन्ता करते हुए सोता है, उस समय वही चिन्तासमूह प्रत्यक्ष का रूप ले लेती है ।

न्यायकन्दली

संस्काराच्च पूर्वानुभूतविषयादसत्सु देशकालव्यवहितेषु विषयेषु प्रत्यक्षाकार**मपरोक्षसंवेदना-कारं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते ।**

तत्तु त्रिविधम् । कुत इत्याह–संस्कारपाटवादिति । संस्कारपाटवात् तावत् कामी क्रुद्धो वा यदा यमर्थं **प्रियतमां शत्रुं** वादृतोऽ**नुमन्यमानश्चिन्तयन् स्वपिति,** तदा सैव चिन्तासन्ततिः **स्मृतिसन्ततिः संस्कारातिशयात्** प्रत्यक्षाकारा **साक्षादर्थावभासिनी** सञ्जायते । **शरीरधारणाद् धातवो वसासृङ्मांसमेदोमज्जास्थिशुक्रात्मानः, तेषां दोषाद् वातादिदूषितत्वाद् विपर्ययो भवतीत्याह**–वातप्रकृति**र्यदि वा कुतश्चिन्निमित्तादुपचितेन वातेन दूषितः स्वात्मन आकाशगमनमितस्ततो धावनमित्यादिकं पश्यति । पित्तप्रकृतिः पित्तदूषितो वा अग्निप्रवेशकनकपर्वताभ्युदितार्कमण्डलादिकं पश्यति । श्लेष्मप्रकृतिः श्लेष्मदूषितो वा सरित्समुद्रप्रतरणहिमपर्वतादीन् पश्यति । स्वयमनुभूतेषु परत्रा-**

प्रायः विभिन्न काल के और विभिन्न देश के विषयों में भी 'प्रत्यक्षाकार' अर्थात् अपरोक्ष आकार के 'स्वप्न' ज्ञान की उत्पत्ति होती है । (इस स्वप्न ज्ञान के) 'स्वाप' अर्थात् निद्रा नाम का आत्मा और मन का संयोग और पहिले के अनुभव के द्वारा ज्ञात विषयक संस्कार भी कारण हैं ।

(प्र.) यह तीन प्रकार का क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर 'संस्कारपाटवात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा दिया गया है । कामी अथवा क्रुद्ध व्यक्ति संस्कार की पटुता से जिस समय 'जिस अर्थ को अर्थात् प्रियतमा अथवा शत्रु को आदर से' अर्थात् अनन्यचित्त होकर चिन्तन करते हुए सोता है, उस समय उसी 'चिन्तन' का अर्थात् स्मृति का समुदाय संस्कार की विलक्षणता से प्रत्यक्षाकार अर्थात् अर्थों को साक्षात् प्रकाशित करने वाला हो जाता है । शरीर को 'धारण' करने के हेतु से वसा, मांस, शोणित, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र इन सातों का समुदाय 'धातु' कहलाता है । इनके दूषित हो जाने पर वायु प्रभृति दूषित हो जाते हैं। दूषित वायु प्रभृति के द्वारा 'विपर्यय रूप' स्वप्नज्ञान की

प्रशस्तपादभाष्यम्

दूषितो वा आकाशगमनादीन् पश्यति । पित्तप्रकृतिः पित्तदूषितो वाग्निप्रवेशकनक-पर्वतादीन् पश्यति । श्लेष्मप्रकृतिः श्लेष्मदूषितो वा सरित्समुद्रप्रतरणहिम-पर्वतादीन् पश्यति । यत् स्वयमनुभूतेष्वननुभूतेषु वा प्रसिद्धार्थेष्वप्रसिद्धार्थेषु वा यच्छुभावेदकं गजारोहणच्छत्रलाभादि, तत् सर्वं संस्कारधर्माभ्यां भवति । विपरीतं च तैलाभ्यञ्जनखरोष्ट्रारोहणादि तत् सर्वमधर्मसंस्काराभ्यां भवति । अत्यन्ताप्रसिद्धाऽर्थेष्वदृष्टादेवेति । स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य

धातु दोष से उत्पन्न स्वप्नज्ञान के उदारहण ये हैं—वायुप्रकृति के पुरुष अथवा प्रकुपित वायु के पुरुष को आकाश गमनादि के प्रत्यक्ष सदृश ज्ञान होते हैं । पित्तप्रकृति के अथवा कुपित पित्त के पुरुष को अग्निप्रवेश, स्वर्णमय पर्वतादि का प्रत्यक्ष-सा होता है । कफ प्रकृतिक अथवा दूषित कफवाले पुरुष को नदी समुद्रादि में तैरने एवं बर्फ से भरे पर्वत का प्रत्यक्ष-सा होता है । (अदृष्टजनित स्वप्न के ये उदाहरण हैं) स्वयं ज्ञात एवं दूसरों के लिए अज्ञात,एवं स्वयं अज्ञात दूसरों से ज्ञात और विषयों के जितने स्वप्नज्ञान शुभ के सूचक हैं, वे सभी संस्कार और धर्म (रूप अदृष्ट) से उत्पन्न होते हैं । जैसे कि गजारोहण, छत्रलाभादि के स्वप्न ज्ञान । एवं उन्हीं विषयों के जितने स्वप्नज्ञान अशुभ के सूचक हैं, वे सभी अधर्म (रूप अदृष्ट) और संस्कार से उत्पन्न होते हैं । जैसे कि तैल का मालिश, खरारोहण, उष्ट्रारोहण आदि के स्वप्न ज्ञान । स्वयं भी अज्ञात एवं दूसरे से भी अज्ञात (सर्वथा अप्रसिद्ध) विषयों के दर्शन रूप स्वप्नज्ञान केवल अदृष्ट से ही होते हैं । यद्यपि (उक्त प्रकार से) जिनकी इन्द्रियाँ अपने कार्य से विमुख हो गयी हैं, उन्हें 'स्वप्नान्तिक' नाम का एक पाँचवाँ (स्वप्न से भिन्न) भी एक

न्यायकन्दली

प्रसिद्धेषु स्वयमननुभूतेषु वा परत्र प्रसिद्धेषु सत्सु यद् गजारोहणच्छत्रलाभादिकं शुभावेदकं स्वप्ने दृश्यते, तत् सर्वं संस्कारधर्माभ्यां भवति । शुभावेदकविपरीतं

उत्पत्ति होती है । यही विषय 'वातप्रकृतिः' इत्यादि वाक्य के द्वारा कहा गया है । 'वातप्रकृति' अर्थात् किसी कारण से जिस पुरुष की वायु दूषित हो चुकी है,वह पुरुष अपना 'आकाशगमन' अर्थात् आकाश में इधर-उधर दौड़ना प्रभृति (स्वप्न) देखता है । एवं जिस पुरुष में पित्त प्रधान है अथवा जिसका पित्त दूषित हो चला है, वह अग्नि

प्रशस्तपादभाष्यम्

भवति, तथाप्यतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य प्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेवेति भवत्येषा चतुर्विधाऽविद्येति ।

विद्यापि चतुर्विधा–प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।

ज्ञान होता है, किन्तु वह अतीत के किसी ज्ञान के सदृश ही दूसरा ज्ञान है, अतः स्मृति ही है, तस्मात् कथित रीति से 'अविद्या' रूप ज्ञान के कथित चार ही प्रकार हैं ।

९७. (अविद्या की तरह) विद्या भी चार प्रकार की है, उसके १. प्रत्यक्ष २. लैङ्गिक ३. स्मृति और ४. आर्ष (ये चार) भेद हैं ।

न्यायकन्दली

तैलाभ्यञ्जनखरोष्ट्रारोहणाद्यधर्मसंस्काराभ्यां भवति । अत्यन्ताप्रसिद्धेषु स्वतः परतश्चाप्रतीतेषु चन्द्रादित्यभक्षणादेषु ज्ञानं तददृष्टादेव, अननुभूतेषु संस्काराभावात् । यद्यपि संस्कारपाटवाद्धातुदोषाददृष्टाद् वा समारोपितबाह्यस्वरूपः स्वप्नप्रत्ययो भवन्नतस्मिंस्तदिति भावाद् विपर्ययः, तथाप्यवस्थाविशेषभावित्वात् पृथगुक्तः । कदाचित् स्वप्नदृष्टस्यार्थस्य स्वप्नावस्थायामेव प्रतिसन्धानं भवति–अयं मया दृष्ट इति, तच्च पूर्वानुभूतस्य स्वप्नस्यान्तेऽवसाने भवतीति

प्रवेश, सोने का पर्वत उदित सूर्यमण्डल प्रभृति वस्तुओं को स्वप्न में देखता है । जिस पुरुष में कफ की प्रधानता रहती है या जिसका कफ दूषित रहता है, वह नदी और समुद्रों में तैरने का एवं बस्फ के पर्वतादि का स्वप्न देखता है । स्वयं अनुभूत किन्तु और स्थानों में अप्रसिद्ध, अथवा अपने से अननुभूत किन्तु और स्थानों में प्रसिद्ध वर्त्तमान वस्तुवों के जो स्वप्न शुभ के ज्ञापक होते हैं, जैसे कि हाथी पर चढ़ना, छत्र का लाभ प्रभृति–ये सभी स्वप्न, पुण्य और संस्कार से होते हैं । शुभ के ज्ञापकों से विरुद्ध जितने भी स्वप्न हैं, जैसे कि तेल का मालिश, गदहे पर चढ़ना, ऊँट पर चढ़ना–ये सभी स्वप्न अधर्म और संस्कार इन दोनों से होते हैं । 'अत्यन्त अप्रसिद्ध' अर्थात् अपने से या दूसरों से सर्वथा 'अज्ञात' चन्द्र सूर्यादि के भोजन का स्वप्नात्मक ज्ञान केवल अदृष्ट से ही होता है, क्योंकि बिना अनुभव किये हुए किसी वस्तु का संस्कार नहीं होता । यद्यपि संस्कार की पटुता, धातु के दोष, अथवा अदृष्ट से उत्पन्न स्वप्नज्ञान में चूँकि बाह्य विषयों का ही समारोप होता है, अतः तदभाव युक्त आश्रय में तत्प्रकारक होने के कारण वह विपर्यय ही है, तथापि (और विपर्ययों से) विशेष अवस्था के कारण (विपर्यय से) अलग कहा गया है । कभी कभी स्वप्न में देखी हुई वस्तु का स्वप्न में ही इस प्रकार से अनुसन्धान होता है कि 'इसको मैंने देखा' । यह (अनुव्यवसाय) पहिले अनुभूत स्वप्न के अन्त में होने के कारण 'स्वप्नान्तिक' कहलाता है । किसी का यह भी आक्षेप है

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्राक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यत इति प्रत्यक्षम् अक्षाणीन्द्रियाणि, घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्रमनांसि षट् । तद्धि द्रव्यादिषु

इनमें 'अक्षम् अक्षम् प्रतीत्योत्पद्यते यज्ज्ञानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है । (इस) 'अक्ष' शब्द के अर्थ हैं 'इन्द्रिय' १. घ्राण २. रसना ३. चक्षु ४. त्वचा ५. श्रोत्र एवं ६. मन ये छः इन्द्रियाँ हैं ।

न्यायकन्दली

स्वप्नान्तिकमुच्यते । तदप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भावात् स्वप्नज्ञानमिति कस्यचिदाशङ्कामपनेतुमाह–स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति, तथाप्यतीतस्य **पूर्वानुभूतस्य स्वप्नज्ञानप्रबन्धस्य** प्रत्यवेक्षणा**दनुसन्धानात् स्मृतिरेवेति** । **उपसंहरति**–भवत्येषा चतुर्विधाऽविद्येति ।

सम्प्रति विद्यां विभजते– विद्यापीति । **न केवलमविद्या चतुर्विधा, विद्यापि चतुर्विधेति** । प्रत्यक्षेति । **आदौ प्रत्यक्षस्य निर्देशः कारणत्वात्, तदनन्तरमनुमानस्य तत्पूर्वकत्वात्, तदनन्तरं स्मृतेः प्रत्यक्षानुमितेष्वर्थेषु भावात्, लौकिकप्रमाणान्ते संकीर्तनमार्षस्य लोकोत्तराणां पुरुषाणां तद्भावात्** ।

प्रत्यक्षस्य लक्षणं तावत्कथयति–तत्राक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यत इति प्रत्यक्ष-

कि यह ज्ञान भी कथित 'उपरतेन्द्रियग्राम' पुरुष को ही होता है, अतः यह भी 'स्वप्न' ही है (स्वप्नान्तिक नहीं) इसी आक्षेप के समाधान के लिए 'स्वप्नान्तिकम्' इत्यादि वाक्य लिखा गया है । कहने का तात्पर्य है कि यह स्वप्नान्तिकज्ञान यद्यपि 'उपरतेन्द्रियग्राम' पुरुष को ही होता है; फिर भी यह 'अतीत' अर्थात् पूर्वानुभूत स्वप्नज्ञानों के 'प्रत्यवेक्षण' अर्थात् अनुसन्धान से उत्पन्न होने के कारण स्मृति ही है । 'भवत्येषा' इत्यादि से इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं ।

'विद्यापि' इत्यादि संन्दर्भ के द्वारा अब 'विद्या' (यथार्थज्ञान–प्रमा) का विभाग करते हैं । (इस 'अपि' शब्द का यह अभिप्राय है कि) केवल अविद्या ही चार प्रकार की नहीं है, किन्तु विद्या भी चार प्रकार की है । प्रत्यक्ष का निरूपण सबसे पहिले इस हेतु से किया गया है कि वह (अन्य सभी ज्ञानों का) कारण है । प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का निरूपण इसलिए किया गया है कि वह सीधे प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है । प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ज्ञात अर्थों की ही स्मृति होती है, अतः इन दोनों के निरूपण के बाद स्मृति का निरूपण हुआ है । आर्षज्ञान लोकोत्तर पुरुषों को ही होता है, अतः उसका निरूपण लौकिक प्रमाणों के निरूपण के बाद अन्त में किया गया है ।

'तत्राक्षमक्षम्' इत्यादि ग्रन्थ से क्रम के द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं । 'अक्षमक्षम्प्रतीत्योत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियों की प्राप्ति (सम्बन्ध) से जितने भी ज्ञान उत्पन्न हों, वे सभी 'प्रत्यक्ष प्रमाण' हैं । इस प्रकार विशेष

प्रशस्तपादभाष्यम्

पदार्थेषूत्पद्यते । द्रव्ये तावद् द्विविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूप-प्रकाशचतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम्,

यह (प्रत्यक्ष) द्रव्यादि पदार्थों का होता है। इसमें द्रव्य का प्रत्यक्ष दो प्रकार का है १. निर्विकल्पक और २. सविकल्पक (द्रव्य के निर्विकल्पक और सविकल्पक) दोनों ही प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं । १. अनेक द्रव्यवत्त्व

न्यायकन्दली

मिति । **अक्षमक्षं प्रतीत्य प्राप्य यदुत्पद्यते, तत् प्रत्यक्षं प्रमाणमिति । कारणविशेषजत्वमपि कार्यस्य समानासमानजातीयव्यवच्छेदसमर्थत्वाल्लक्षणं भवति । यथा यवबीजप्रभवत्वं यवाङ्कुरस्य, अत एव यवाङ्कुर इति व्यपदिश्यते । सुखदुःखसंस्काराणामपीन्द्रियजत्वात् प्रत्यक्ष-प्रमाणत्वप्रसङ्ग इति चेन्न, बुद्ध्यधिकारेण विशेषितत्वात् । अक्षमक्षं प्रतीत्य या बुद्धि-रुत्पद्यते, तत् प्रत्यक्षम् । सुखादयश्च न बुद्धिस्वभावाः कुतस्तेषु प्रसक्तिः? यद्येवं सन्नि-कर्षस्य प्रामाण्यं न लभ्यते ? सत्यम् । इतो वाक्यान्न लभ्यते, यदि तु करणव्युत्पत्त्या तस्यापि**

कारणों से उत्पन्न होना भी लक्ष्य को समानजातियों और असमानजातियों से भिन्न रूप से समझाने में समर्थ होने के कारण लक्षण हो सकता है । (जैसे कि) यव के अङ्कुर से उत्पन्न होना ही यव का लक्षण है, अत एव वह 'यवाङ्कुर' कहलाता है । (प्र.) सुख, दुःख और संस्कार ये सभी भी तो इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं, अतः इन सबों में प्रत्यक्षलक्षण की आपत्ति होगी। (उ.) यह आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण बुद्धि निरूपण कोआरम्भ करने के बाद कहा गया है। (तदनुसार) प्रत्यक्ष का यह लक्षण निष्पन्न होता है कि इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न जो ज्ञान, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है । (प्र.) यदि यह बात है तो फिर यह उपपन्न नहीं होगा कि 'इन्द्रिय का सम्बन्ध प्रमाण है' । (उ.) यह ठीक है कि उक्त लक्षण वाक्य के द्वारा इन्द्रियसम्बन्ध में प्रामाण्य का लाभ नहीं होगा, किन्तु 'परिच्छेद' अर्थात् प्रमिति के कारण होने से इन्द्रियसम्बन्ध का प्रमाण होना भी अभीष्ट है । प्रकरण से यह समझा जाता है कि 'यह विद्या का निरूपण है' । अतः विद्या से बहिर्भूत संशय और विपर्यय में प्रामाण्य स्वतः खण्डित हो जाता है । 'अक्षम्प्रतीत्य यदुत्पद्यते ज्ञानम्' केवल ऐसी ही व्युत्पत्ति मानें (अर्थात् अक्षम् अक्षम् यह वीप्सा न मानें) तो फिर अतिप्रसिद्ध होने के कारण कभी किसी को यह भ्रान्ति भी हो सकती है कि 'बाह्येन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है' इस भ्रान्ति की सम्भावना को हटाने के लिए ही 'अक्षम् अक्षम्' वीप्सा से युक्त इस व्युत्पत्ति का आश्रय लिया गया है । 'प्रत्यक्ष' शब्द 'कुगतिप्रादयः' इस सूत्र के द्वारा विहित 'प्रादिसमास' के द्वारा सिद्ध है । 'प्रतिगतमक्षम्' इस समास के कारण विशेष्यवाचक पद के अनुसार 'प्रत्यक्ष' पद में

न्यायकन्दली

प्रामाण्यमभिमतम्, परिच्छेदहेतुत्वात् । संशयविपर्ययव्युदासो विद्यानिरूपणस्य प्रकृतत्वात् ।

अक्षं **प्रतीत्य यदुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षमित्युक्तेऽतिप्रसिद्धत्वाद् बाह्येन्द्रियजमेव प्रत्यक्षमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमक्षमक्षमिति वीप्सा समस्तेन्द्रियावरोधार्था कृता । कुगतिप्रादय इति प्रादिसमासः । प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमित्यनेनास्याभिधेयलिङ्गता, प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रत्यक्षा बुद्धिः प्रत्यक्षः प्रत्यय इति । अक्षशब्दस्य बहुष्वर्थेषु निरूढत्वाद् विशिनष्टि–**अक्षाणीन्द्रियाणि ।

तानि च सांख्यैरेकादशविधान्युक्तानि, तन्निवृत्त्यर्थं परिसंख्यां करोति–घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्रमनांसीति **अक्षजं विज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्ते स्मृतिरपि [illegible]क्षा [illegible]यात्, अतस्तामसद्विषयां दर्शयितुं प्रत्यक्षविषयं निर्दिशति–**तद्धीति ।**हिशब्दोऽवधारणे । तत् प्रत्यक्षं** द्रव्यादिष्वेव **द्रव्यगुणकर्मसामान्येष्वेवोत्पद्यते, न विशेषसमवाययोरित्यर्थः ।द्रव्यस्य प्राधान्यात् प्रथमं तत्प्रत्यक्षोत्पत्तिमाह–**द्रव्ये तावदिति ।**तावच्छब्दः क्रमार्थः । महति द्रव्ये पृथिव्यप्तेजोलक्षणे प्रत्यक्षं भवति, कुतः कारणादित्यत्राह–**अनेकद्रव्यवत्त्वादिति ।**अनेकद्रव्यवत्त्वं भूयोऽवयवाश्रितत्वम् । रूपस्य प्रकाश उद्भवसमाख्यातो रूपस्य धर्मः, यदभावाद् वारिस्थे तेजसि प्रत्यक्षाभावः** चतुष्टयसन्निकर्षादा**त्मनो मनसा संयोगो मनस इन्द्रियेण इन्द्रियस्यार्थेनैतस्मात् कारणकला**पाद्धर्मादिसामग्र्ये च **सति धर्माधर्मदिक्कालादीनां समग्राणां भावे सति प्रत्यक्षं स्यात् । परमाणौ द्व्यणुके च प्रत्यक्षाभावान्**महतीत्युक्त**म् । अवयवभूयस्त्वप्रकर्षाप्रकर्षाभ्यामवयविनि**

लिङ्ग परिवर्तित होता रहता है, जैसे कि 'प्रत्यक्षं ज्ञानम्, प्रत्यक्षा बुद्धिः, प्रत्यक्षः प्रत्ययः' इत्यादि। 'अक्ष' शब्द अनेक अर्थों में अनादि काल से प्रसिद्ध (निरूढ) है, अतः लिखते हैं कि 'अक्षाणि इन्द्रियाणि' ।

सांख्यदर्शन के आचार्यों ने ग्यारह इन्द्रियाँ कही हैं, उसी पक्ष को खण्डन करने के लिए 'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्रमनांसि' इत्यादि वाक्य के द्वारा इन्द्रियों की संख्या का निर्द्धारण करते हैं । 'इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है' (प्रत्यक्ष लक्षण के लिए) केवल इतना कहने से स्मृति भी प्रत्यक्ष कहलाएगी, अतः स्मृति के विषयों को विद्यमान रहना आवश्यक नहीं है, यह समझाने के लिए 'तद्धि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रत्यक्ष के विषयों का निर्देश करते हैं । ('तद्धि' इस शब्द में प्रयुक्त) 'हि' शब्द 'इस अवधारण' का बोधक है, कि यह (उक्त लक्षण से लक्षित) प्रत्यक्ष द्रव्यादि विषयों का ही होता है । अभिप्राय यह है कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य इन चार पदार्थों का ही होता है, विशेष एवं समवाय इन दोनों विषयों का नहीं । इन सबों में द्रव्य ही प्रधान है, अतः 'द्रव्ये तावत्' इत्यादि वाक्य के द्वारा द्रव्य के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति ही सबसे पहिले कही गयी है । इस वाक्य का 'तावत्' शब्द 'क्रम' का बोधक है ।

न्यायकन्दली

स्फुटत्वास्फुटत्वातिशयानतिशयदर्शनादनेकद्रव्यवत्त्वं कारणम् । सत्यपि महत्त्वेऽनेकद्रव्यवत्त्वे च वायोरनुपलम्भाद् रूपप्रकाशो हेतुः। सर्वस्यैव ज्ञानस्य सुखदुःखादिहेतुत्वाद् देशकालादि-नियमेनोत्पादाच्च धर्माधर्मदिक्कालजन्यत्वम्। अन्तरेणात्ममनःसंयोगं मन इन्द्रियसंयोगमि-न्द्रियार्थसंयोगं च प्रत्यक्षाभावाच्चतुष्टयसन्निकर्षः कारणम् ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य हेतुत्वे सामान्योपलम्भवद् विशेषोपलम्भस्यावश्यंभावितया संशय-विपर्ययानुत्पत्तिरिति चेन्न, अनियमात् ।सामान्यं हि बहुविषयत्वात् स्वाश्रयस्य चक्षुःसन्निकर्ष-मात्रेणोपलभ्यते, विशेषस्तु स्वल्पविषयत्वात् स्वाश्रयस्य च तदवयवानां च भूयसां

महत् परिमाण से युक्त पृथिवी, जल और तेज का ही प्रत्यक्ष क्यों होता है ? इसी प्रश्न का समाधान 'द्रव्ये तावत्' इत्यादि ग्रन्थ से कहते हैं । (१) 'अनेकद्रव्यवत्त्व' शब्द का अर्थ है अनेक द्रव्यों में आश्रित होना । (२) 'रूप का प्रकाश' रूप में रहनेवाला 'उद्भूतत्व' नाम का एक विशेष प्रकार का धर्म है, जिसके न रहने से ही जल में (तेज के) रहते हुए भी तेज का प्रत्यक्ष नही होता । (३) 'चतुष्टयसंनिकर्ष' से अर्थात् आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग इन तीन संयोग रूप कारणों के द्वारा 'धर्मादि सामग्रियों के रहने पर' अर्थात् धर्म, अधर्म और दिशा, काल प्रभृति (सामान्य) कारणों के रहने पर प्रत्यक्ष होता है । 'महति' शब्द इसलिए रखा गया है कि परमाणु और द्व्यणुक इन दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होता है । प्रत्यक्ष के प्रति 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को इसलिए कारण मानते हैं कि अवयवों के न्यूनाधिकभाव से अवयवियों में स्फुटत्व रूप विशेष और अस्फुटत्व रूप अविशेष दोनों ही देखे जाते हैं । अनेकद्रव्यवत्त्व और महत्त्व के रहते हुए भी वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः कथित 'रूपप्रकाश' को भी प्रत्यक्ष का कारण माना गया है । सभी ज्ञान सुख या दुःख के कारण हैं, एवं सभी ज्ञान किसी नियमित देश और नियमित काल में ही उत्पन्न होते हैं, अतः धर्म, अधर्म, दिशा और काल इन सबों को भी प्रत्यक्ष का कारण माना गया है । आत्मा और मन के संयोग के न रहने पर मन और इन्द्रिय के संयोग एवं इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के रहने पर भी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः इन चारों का संनिकर्ष भी प्रत्यक्ष का कारण है ।

(प्र.) प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष को यदि कारण मानें, तो फिर (अर्थगत) सामान्य की तरह (अर्थ के असाधारण धर्म या व्यक्तिगत धर्म) रूप विशेषों का भी सभी प्रत्यक्षों में भान मानना पड़ेगा, जिससे संशय और विपर्यय दोनों ही अनुपपन्न होंगे । (उ.) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह नियम नहीं है कि सामान्य की तरह प्रत्यक्ष में विशेष का भी अवश्य ही भान हो, (सामान्य के अवश्य भासित होने में यह युक्ति है कि) सामान्य बहुत से विषयों के साथ सम्बन्ध रहता है, उनमें से कहीं संनिकर्ष होते ही उसकी भी उपलब्धि हो जाती है । विशेष (असाधारण) धर्म अल्प

न्यायकन्दली

चक्षुरवयविना भूयोभिश्च तदवयवैः सह सन्निकर्षमपेक्षत इति न सहोपलम्भनियमः, सामग्रीभेदात् । अत एव दूरादव्यक्तग्रहणम्, गच्छतश्चक्षूरश्मेरन्तराले प्रकीर्णानामवयवानामर्थप्राप्त्यभावात् ।

केचित् सविकल्पकमेवैकं प्रत्यक्षमाचक्षते, व्यवसायात्मकत्वेन सर्वस्य व्यवहारयोग्यत्वात्, शब्दव्युत्पत्तिरहितानामपि तिरश्चामर्थविकल्पात् प्रवृत्तेः, तान् प्रत्याह–स्वरूपालोचनमात्रमिति । **स्वरूपस्यालोचनमात्रं ग्रहणमात्रं विकल्परहितं प्रत्यक्षमात्रमिति यावत् । यदि हि वस्तुस्वरूपस्य निर्विकल्पकेन ग्रहणं नेष्यते, तदा तद्वाचकशब्दस्य स्मृत्यभावात् सविकल्पकमपि न स्यात् । अतः सविकल्पकमिच्छता निर्विकल्पकमप्येषितव्यम्, तच्च न सामान्यमात्रं गृह्णाति, भेदस्यापि प्रतिभासनात् । नापि स्वलक्षणमात्रम्, सामान्याकारस्य संवेदनात्, व्यक्त्यन्तरदर्शने प्रतिसन्धानाच्च । किन्तु सामान्यं विशेषं चोभयमपि गृह्णाति, यदि परमिदं सामान्यमयं विशेष इत्येवं विविच्य न प्रत्येति, वस्त्वन्तरानुसन्धानविरहात् । पिण्डान्तरानुवृत्तिग्रहणाद्धि सामन्यं विविच्यते**

स्थान में रहता है, अतः उसके प्रत्यक्ष के लिए उसके आश्रय एवं आश्रय के अवयवों के साथ चक्षुरिन्द्रिय रूप अवयवी और उसके अवयवों का भी संनिकर्ष आवश्यक है । इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनों के 'सहोपलम्भनियम' अर्थात् दोनों साथ ही उपलब्ध हों यह नियम नहीं है; क्योंकि दोनों के प्रत्यक्ष के कारण भिन्न हैं । यही कारण है कि दूर से वस्तुओं का अस्फुट ग्रहण होता है । चूँकि जाती हुई चक्षु की रश्मियों के बीच में बिखरे हुए कुछ अवयवों के साथ अर्थ का सम्बन्ध नहीं हो पाता ।

कोई कहते हैं कि प्रत्यक्ष केवल सविकल्पक ही होता है, क्योंकि वही निश्चयात्मक होने के कारण सभी तरह के व्यवहार की योग्यता रखता है, जिसके द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति से सर्वथा रहित सर्पादि तिर्यक् योनियों के प्राणियों की भी विशेष अर्थ के ज्ञान से होनेवाली प्रवृत्तियाँ उपपन्न होती हैं । उन्हीं को लक्ष्य कर 'स्वरूपालोचनमात्रम्' यह पद लिखा गया है । 'स्वरूपालोचन' शब्द का ग्रहणमात्र अर्थात् विकल्प-रहित केवल प्रत्यक्ष अर्थ है । निर्विकल्पक ज्ञान से यदि वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न मानें, तो फिर उस वस्तुस्वरूप के वाचक शब्द की स्मृति न हो सकेगी । उस स्मृति के न होने से सविकल्पक ज्ञान भी न हो सकेगा । अतः सविकल्पक ज्ञान को माननेवालों को निर्विकल्पक ज्ञान भी मानना ही पड़ेगा । निर्विकल्पक ज्ञान केवल सामान्य को ही नहीं ग्रहण करता, बल्कि उसमें 'भेद' (विशेष अर्थात् व्यक्ति) का भी भान होता है । एवं निर्विकल्पक ज्ञान में केवल भेद (व्यक्ति) भी भासित नहीं होता; क्योंकि अनुभव के द्वारा यह सिद्ध है कि उसमें सामान्य भी भासित होता है । यदि यह कहें कि (प्र.) 'यह सामान्य है' 'यह विशेष है' इस प्रकार अलग-अलग दोनों का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि (निर्विकल्पक ज्ञान में) दूसरी वस्तु का (अर्थात् ज्ञात वस्तु के सजातीय

प्रशस्तपादभाष्यम्

समान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्ममनःसन्निकर्षात् प्रत्यक्ष-

(२) उद्भूत रूप (३) प्रकाश एवं (आत्मा, मन, चक्षुरादि इन्द्रियाँ और घटादि अर्थ इन) चार वस्तुओं के (तीन) संनिकर्ष, इन सबों के द्वारा धर्मादि (साधारण) सामग्रियों के रहते हुए द्रव्य के स्वरूप का केवल आलोचन (निर्विकल्पक) ज्ञान होता है । आत्मा और मन के संनिकर्ष से ही (उक्त कारणों के रहते हुए) द्रव्य का सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, (किन्तु) उसे (आत्ममनःसंनिकर्ष को) इस कार्य के लिए (द्रव्य के) सामान्य धर्म, विशेष धर्म, द्रव्य, गुण, कर्म प्रभृति विशेषणों की भी अपेक्षा होती है । (जिससे द्रव्य के सविकल्पक ज्ञान के 'यह द्रव्य सत् है, यह पृथिवी है, गाय सींगवाली है, गाय शुक्ल है, गाय जाती है, इत्यादि आकार होते हैं ।

न्यायकन्दली

व्यावृत्तिग्रहणाद् विशेषोऽयमिति विवेकः । निर्विकल्पकदशायां च पिण्डान्तरानुसन्धानाभावात् सामान्यविशेषयोरनुवृत्तिव्यावृत्ती धर्मौ न गृह्येते, तयोरग्रहणान्न विविच्य ग्रहणम् । स्वरूपग्रहणं तु भवत्येव, तस्यान्यानपेक्षत्वात् । अत एव निर्विकल्पेन सामान्यविशेषस्वलक्षणानां न विशेषणविशेष्यभावानुगमः, तस्य भेदावगतिपूर्वकत्वान्निर्विकल्पेन च सामान्यादीनां परस्परभेदानध्यवसायात् । अतः परं

से भिन्न वस्तु का) भान नहीं होता । (उ.) इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि दूसरे पिण्डों में अनुवृत्ति के ग्रहण से सामान्य का ज्ञान होता है और व्यावृत्ति के ग्रहण से विशेष का भान होता है । जिस समय निर्विकल्पक ज्ञान होता है, उस समय दूसरे व्यक्ति का अनुसन्धान नहीं रहता है, अतः सामान्य की अनुवृत्ति और व्यावृत्ति दोनों में से किसी का भी ज्ञान सम्भव नहीं है, अतः अनुवृत्ति और व्यावृत्ति दोनों के अज्ञान के कारण सामान्य और विशेष के विवेक का ज्ञान नहीं हो पाता है । (व्यक्ति के) स्वरूप का ग्रहण तो होता ही है, क्योंकि स्वरूपग्रहण में दूसरे की अपेक्षा नहीं है । यही कारण है कि जाति, व्यक्ति एवं स्वलक्षण (व्यक्तिगत असाधारणधर्म तद्व्यक्तित्वादि) ये सभी निर्विकल्पकज्ञान में भासित होने पर भी विशेष्यविशेषणभावापन्न होकर भासित नहीं होते, क्योंकि विशेष्यविशेषणभाव के लिए दोनों में भेद का ज्ञान आवश्यक है । निर्विकल्पक ज्ञान से सामान्यादि के भेद का भान नहीं होता । निर्विकल्पक ज्ञान के बाद 'यह इसका विशेषण है' एवं 'यह इसका विशेष्य है' इत्यादि आकार का बोध सविकल्पक ज्ञान से होता है, क्योंकि विशेष्यविशेषणभाव की प्रतीति इन्द्रिय के द्वारा उसी पुरुष को हो

न्यायकन्दली

सविकल्पकं सामान्यविशेषरूपतां प्रत्येति पिण्डान्तरमनुसन्दधानस्यात्मनोऽनुवृत्तिव्यावृत्ती धर्मौ प्रतिपद्यमानस्येन्द्रियद्वारेण तथाभूतप्रतीत्युपपत्तेः ।

सौगताः पुनरेवमाहुः—स्वलक्षणान्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रतिभासं निर्विकल्पकं वस्तुन्य-भ्रान्तम्, अतस्तदेव प्रत्यक्षं न सविकल्पकम्, तस्य वासनाधीनजन्मनो वस्त्वननुरोधिप्रतिभा-सस्य केशादिज्ञानवद् वस्तुनि भ्रान्तत्वादिति । तेषां मतं निराकर्तुं सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षतामाह—सामन्येत्यादि ।

सामान्यं च विशेषश्च द्रव्यं च गुणश्च कर्म च सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्माणि, सानान्यविशेषद्रव्यगुणकर्माण्येव विशेषणानि सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणानि, तान्य-पेक्षते य आत्ममनःसन्निकर्षः, तस्मात् सद्द्रव्यमिति सामन्यविशिष्टम् । पृथिवीति पृथिवीत्वविशिष्टम्, विषाणीति द्रव्यविशिष्टम् शुक्लो गौरिति गुणविशिष्टम् गच्छतीति कर्मविशिष्टं प्रत्यक्षं स्यात् । चतुष्टयसन्निकर्षादित्यनेनैवात्ममनःसंयोगे लब्धे

सकती है, जिसे निर्विकल्पक ज्ञान में भासित होनेवाले उसके सजातीय पिण्डों का अनुसन्धान रहे एवं (जिसका निर्विकल्पक ज्ञान हो एवं जिसका उक्त अनुसन्धान हो) इन दोनों में अनुवृत्ति प्रत्यय के कारणीभूत सामान्य और व्यावृत्ति प्रत्यय के कारणीभूत विशेष दोनों का ज्ञान भी रहे ।

बौद्धों का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, सविकल्पक ज्ञान नहीं, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान के ही साथ विषय के स्वलक्षण (असाधारण-धर्म) का अन्वय और व्यतिरेक है, अतः वही अपने विषय में अभ्रान्त है । चूँकि सविकल्पक ज्ञान वासना के अधीन है, वह अपनी उत्पत्ति के लिए विषयवस्तु का अनुरोध नहीं रखता । अतः केशराशि के ज्ञान की तरह सविकल्पक ज्ञान अपने विषयवस्तु में भ्रान्त है । बौद्धों के इस मत को खण्डित करने के लिए ही 'सामान्य' इत्यादि ग्रन्थ से 'सविकल्पकज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण है' यह उपपादन किया गया है ।

सामान्यञ्च, विशेषश्च, द्रव्यञ्च, गुणश्च, कर्म च सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्माणि, (द्वन्द्व)सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्माण्येव विशेषणानि सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्म-विशेषणानि (कर्मधारय), तान्यपेक्षते यः आत्ममनःसंनिकर्षः, 'तस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्य, विशेष, द्रव्य, गुण, और कर्म स्वरूप विशेषणों के साहाय्य से आत्मा और मन के संनिकर्ष के द्वारा 'सद् द्रव्यम्' इस आकार का सत्ता (सामान्य) विशिष्ट द्रव्य का ज्ञान, 'इयं पृथिवी' इस आकार का पृथिवीत्व रूप विशेष प्रकारक ज्ञान, 'अयं विषाणी' इस आकार का द्रव्य विशेषणक ज्ञान, 'शुक्लो गौः' इस आकार का गुणविशेषणक ज्ञान, 'गौर्गच्छति' इस आकार का कर्मप्रकारक ज्ञान, ये जितने भी ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे सभी

न्यायकन्दली

पुनरस्योपादानं पूर्वस्मान्निर्विकल्पकप्रक्रमादिदं प्रक्रमान्तरमित्यवद्योतनार्थम् ।

सविकल्पकमर्थे न प्रमाणमिति कथमुच्यते? प्रतीयते हि घटोऽयमिति ज्ञाने विच्छिन्नः कम्बुग्रीवात्मा सर्वतो व्यावृत्तः पदार्थः । अनर्थजप्रतिभासो विकल्पस्तस्मादर्थाध्यवसायो भ्रान्त इति चेत्? यथोक्तम्—

"विकल्पो वस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः" । इति ।

न, प्रवृत्तौ संवादात् । अथानुभवजन्मा विकल्पोऽर्थात्मतयारोपितस्वप्रतिभासः स्वलक्षणस्वप्रतिभासयोर्भेदं तिरोधाय स्वलक्षणदेशे पुरुषं प्रवर्तयति संवादयति च, मणिप्रभायां मणिबुद्धिवत् पारम्पर्येणार्थप्रतिबन्धादर्थप्राप्तेरिति चेत्? यदि विकल्पो वस्तु न संस्पृशति, कथं तदात्मतया स्वप्रतिभासमारोपयेत्? न ह्यप्रतीते मरुमरीचिनिचये तदधिकरणो जलसमारोपो दृष्टः ।

अथ प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पः करणव्यापारमुपाददानोऽर्थक्रियासमर्थं वस्तु साक्षात्करोति, अन्यथार्थक्रियार्थिनो विकल्पतः प्रवृत्त्ययोगात् । यथाह— "ततोऽपि विकल्पाद् वस्तुन्येव प्रवृत्तिः"इति । एवं तर्हि वस्तुनि प्रमाणम्, तत्राविसंवादिप्रतीतिहेतुत्वात् । अथ मन्यसे यः क्षणः प्रत्यक्षेण गृह्यते,

प्रत्यक्ष हैं । (निर्विकल्पक ज्ञान के प्रसङ्ग में कथित) चतुष्टय संनिकर्ष से ही यद्यपि आत्मा और मन के संनिकर्ष का लाभ हो जाता है; फिर भी 'यह आरम्भ निर्विकल्पक ज्ञान के उपक्रम से सर्वथा भिन्न है' यह दिखलाने के लिए ही अलग से यहाँ भी आत्मा और मन के संनिकर्ष का उपादान किया गया है ।

(उ.) किस युक्ति के द्वारा यह कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान अपने विषय का ज्ञापक प्रमाण नहीं है ? क्योंकि 'घटोऽयम्' इस सविकल्पक ज्ञान में पटादि अन्य सभी पदार्थों से भिन्न कम्बुग्रीवादिमत् स्वरूप एक विलक्षण वस्तु भासित होता है । (प्र.) जो ज्ञान विना अर्थ के भी उत्पन्न हो, उसे 'विकल्प' कहते हैं । उससे जो (सविकल्पक नाम का) अध्यवसाय उत्पन्न होगा, वह भी अवश्य ही भ्रान्त होगा । जैसा कहा गया है कि—विशिष्ट वस्तु को समझाने के कारण ही ज्ञान सविकल्पक होता है । किन्तु उससे होनेवाली प्रवृत्तियाँ विफल होती हैं, अतः सविकल्पक ज्ञान भ्रान्तिरूप है । (उ.) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान से होनेवाली प्रवृत्तियाँ सफल (भी) होती हैं । (प्र.) पहिले (निर्विकल्पक) अनुभव से उत्पन्न होनेवाले सविकल्पक अनुभव में उसके विषय के अभेद का आरोप होता है, इसके बाद इस आरोप के कारण उसका घटादि विषयरूप से ही प्रतिभास होता है । इस प्रकार सविकल्पक अनुभव में भासित होनेवाले विषयों की प्रवृत्ति सफल होती है (किन्तु प्रवृत्ति की इस सफलता से सविकल्पक ज्ञान में प्रामाण्य की सिद्धि नहीं की जा सकती) । (उ.) (इस प्रसङ्ग में यह पूछना है कि) अगर सविकल्पक ज्ञान का अपने विषय के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है, तो फिर वह विषय में अपने प्रतिभास का आरोप ही कैसे कर सकता है ? क्योंकि अज्ञात मरु-मरीचिका में तो जल का

न्यायकन्दली

नासौ विकल्पेनाध्यवसीयते, यश्च विकल्पेनाध्यवसीयते, न स प्रवृत्या लभ्यत इति क्षणापेक्षया न संवादः, तेषां क्षणिकत्वात् । किन्तु यादृशः क्षणः प्रत्यक्षेण गृह्यते, तादृशो विकल्पेनाध्यवसीयते, यादृशश्च विकल्पेनाध्यवसीयते, तादृशश्च प्रवृत्या लभ्यत इत्यनाकलितक्षणभेदस्यातद्व्यावृत्तवस्तुमात्रापेक्षया संवादः । तत्र च विकल्पो गृहीतग्राहित्वादप्रमाणम्, तथाभूतस्यार्थस्य प्रत्यक्षेणैव गृहीतत्वात् । लिङ्गजस्तु विकल्पः प्रमाणान्तराप्राप्तस्वलक्षणप्रापकतया प्रमाणमिति । तदप्यसारम्, नहि क्षणस्यान्यव्यावृत्तिरभावरूपान्यव्यावृत्त्यपेक्षया वा तस्यारोपितं साधारणं रूपमवस्तुभूतं

आरोप देखा नहीं जाता । जैसा कहा गया है कि 'अप्रमा ज्ञान से भी यथार्थवस्तु में ही प्रवृत्ति होती है' अगर ऐसी बात है तो फिर सविसल्पक ज्ञान अवश्य ही अपने विषय का ज्ञापक प्रमाण है, क्योंकि अपने विषय की सफल प्रवृत्ति का वह कारण है । यदि यह मानते हैं कि (प्र.) जो क्षण (वृत्ति घटादि) प्रत्यक्ष (निर्विकल्पकज्ञान) से गृहीत होता है, वही सविकल्पक ज्ञान के द्वारा निर्णीत नहीं होता (क्योंकि प्रत्येक क्षण वृत्ति घटादि भिन्न हैं) एवं जिसका निर्णय सविकल्पक ज्ञान के द्वारा होता है, प्रवृत्ति के द्वारा उसी का लाभ नहीं होता है । 'अतः प्रवृत्ति और सविकल्पक ज्ञान में एक ही विषय भासित होते है' इस प्रकार दोनों में एक विषयत्व का सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता । क्योंकि (निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान और प्रवृत्ति ये) सभी क्षणिक हैं (अतः भिन्न हैं) । (वस्तुस्थिति यह है कि) जिस प्रकार का क्षण (वृत्ति पदार्थ) (निर्विकल्पक) प्रत्यक्ष के द्वरा गृहीत होता है, उसी के जैसा क्षण (वृत्ति पदार्थ) विकल्प (सविकल्पक प्रत्यक्ष) के द्वारा भी निश्चित होता है । एवं जिस प्रकार की वस्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होती है, उसी प्रकार की वस्तु का लाभ प्रवृत्ति से भी होता है । किन्तु (निर्विकल्पक ज्ञान, सविकल्पक ज्ञान एवं प्रवृत्ति) इनके विषयों का भेद गृहीत नहीं होता है, और यह भान होता है कि सविकल्पक ज्ञान के विषय की ही प्राप्ति प्रवृत्ति से हुई है । वस्तुतः प्रवृत्ति की सफलता का यह व्यवहार केवल इतने ही अंश में पर्यवसित है कि सविकल्पक ज्ञान और प्रवृत्ति के विषयों में 'अतद्व्यावृत्त' या 'अपोह' (रूप घटभिन्नभिन्नत्वादि धर्म) एक हैं । वह व्यवहार दोनों के विषयों के ऐक्यमूलक नहीं है, (क्योंकि दोनों के विषय भिन्न हैं) इनमें प्रत्यक्षात्मक सविकल्पक ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा गृहीत) विषय का ही ज्ञापक है, अतः वह प्रमाण नहीं है । किन्तु लिङ्ग (हेतु) जनित (स) विकल्पक ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह किसी दूसरे प्रमाण से सर्वथा अज्ञात असाधारण विषय का बोधक है । (उ.) इस उपपत्ति में भी कुछ सार नहीं है । (घटादि वस्तुओं में क्षणभेद के कारण भेद होते हुए भी जो तत्तत्क्षणों में रहनेवाले घटादि वस्तुओं के ही अन्यव्यावृत्ति रूप अपोह के कारण क्रमशः उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पकज्ञान और प्रवृत्ति के विषयों में ऐक्य व्यवहार का समर्थन किया है वह सम्भव नहीं है) क्योंकि प्रत्येक क्षण (वृत्ति घटादि

न्यायकन्दली

प्रत्यक्षेण गृह्यते, हेतुत्वस्य ग्राह्यलक्षणत्वादवस्तुनश्च समस्तार्थक्रियाविरहात् । क्षणस्तु परमार्थसन्नर्थक्रियासमर्थत्वात् प्रत्यक्षस्य विषयः । स च विकल्पकालाननुपातीत्युक्तम्, कुतो विषयैकता ? अस्तु वा विकल्पप्रत्यक्षयोरनिरूपितरूपः कश्चिदेकः प्रवृत्तिसंवादयोग्यो विषयः, तथापि विकल्पः प्रमाणत्वं नातिवर्त्तते, धारावाहिकबुद्धिवदर्थपरिच्छेदे पूर्वानपेक्षत्वात्, अध्यवसितप्रापणयोग्यत्वाच्च । प्रमाणत्वे चावस्थिते प्रत्यक्षमेव स्याल्लिङ्गाद्यभावादर्थेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च । यत् पुनरयमर्थजो भवन्नपि निर्विकल्पकवदिन्द्रियापातमात्रेण न भवति, तदिन्द्रियार्थसहकारिणो वाचकशब्दस्मरणस्या-

वस्तुओं में रहनेवाले अपोह या अन्य व्यावृत्ति) अभाव रूप है, अतः क्षणों का साधारण रूप हो या सभी क्षणिक वस्तुओं में समारोपित ही हो–किसी भी स्थिति में उसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि अवस्तु (अभाव) से कोई काम नहीं हो सकता (अतः उससे प्रत्यक्ष रूप कार्य भी नहीं हो सकता, किन्तु प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण है) चूँकि क्षण (वृत्ति घटादि वस्तुओं) की परमार्थत्ता है, अतः वे ही अर्थक्रियाकारी होने से अपने निर्विकल्प प्रत्यक्ष रूप कार्य का उत्पादन कर सकते हैं । किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष काल में रहननेवाले विषय सविकल्पक प्रत्यक्ष के समय तक (आप के मत से) रह नहीं सकते, अतः (आपके मत से) 'निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान दोनों एक-विषयक हैं' इसकी उपपत्ति किस प्रकार की जा सकती है ? यदि यह मान भी लें (कि उक्त ऐक्य व्यवहार में समर्थ) दोनों प्रत्यक्षों का एक ही कोई अनिर्वचनीय विषय है, तब भी सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व को कोई हटा नहीं सकता, क्योंकि धारावाहिक बुद्धि की तरह इसमें विषय के निर्द्धारण के लिए पहिले किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, एवं अपने द्वारा निश्चित विषय को प्राप्त कराने की योग्यता भी है । इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान में प्रमाणत्व के निश्चित हो जाने पर यही कहना पड़ेगा कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण ही होगा, क्योंकि अनुमान प्रमाण मानने के प्रयोजक लिङ्गादिज्ञान वहाँ नहीं हैं, एवं (प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक) इन्द्रिय का अन्वय और व्यतिरेक भी है । निर्विकल्पक ज्ञान की तरह अर्थजनित होने पर भी जो विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होते ही सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, उसका यह कारण है कि विषय के वाचक शब्द का स्मरण उससे पहिले नहीं होता है, उसका यह कारण है कि विषय के वाचक शब्द का स्मरण उससे पहिले नहीं रहता है, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान के उत्पादन में वाचक शब्द का स्मरण भी इन्द्रिय और अर्थ का सहकारी है (अर्थात् वाचक शब्द का स्मरण भी सविकल्पक ज्ञान का सहकारी कारण है) । (प्र.) तो फिर स्मृति के बाद उत्पन्न होनेवाला यह विकल्प स्मृति से ही उत्पन्न होता है, इन्द्रिय और अर्थ से नहीं, क्योंकि इन्द्रिय, अर्थ एवं सविकल्पक ज्ञान इनके मध्य में स्मृति आ जाती है । (उ.) क्या सहकारी कारण मुख्य कारण में जो कार्य करने की शक्ति है, उसे रोक देता है ? तो फिर बीज भी अङ्कुर का कारण नहीं होगा, क्योंकि बीज और अङ्कुर के बीच में पृथिवी और जल भी आ जाता है । (जिससे

न्यायकन्दली

भावात् । स्मृत्यनन्तरभावी विकल्पः स्मृतिज एवं नेन्द्रियार्थजः, तयोः स्मृत्या व्यवहितत्वादिति चेत् ? किं भोः सहकारी भावस्य स्वरूपशक्तिं तिरोधत्ते ? क्षित्युदकतिरोहितस्य बीजस्याङ्कुरजननं प्रति का वार्ता शब्दस्मरणेनेन्द्रियार्थयोः क उपकारो येनेदं तयोः सहकारि भवतीति चेत् ? यथा विकल्पः स्वोत्पत्तावर्थेन्द्रिययोरन्वयव्यतिरेकावनुकरोति, तथा स्मृतेरपि । ततश्चेन्द्रियार्थयोरयमेव स्मरणेनोपकारो यदेतौ केवलौ कार्यमकुर्वन्तौ स्मृतिसहकारिलाभात् कुरुतः । स्वरूपातिशयानाधायिनो न सहकारिण इति क्षणभङ्गप्रतिषेधावसरे प्रतिषिद्धम् ।

स्यादेतत्—कल्पनारहितं प्रत्यक्षम् । कल्पनाज्ञानं तु सविकल्पकम्, तस्मादर्थे न प्रमाणमिति ।

अथ केयं कल्पना ? शब्दसंयोजनात्मिका प्रतीतिरेका, अर्थसंयोजनात्मिका चापरा विशिष्टग्राहिणी कल्पना । तदयुक्तम्, विकल्पानुपपत्तेः । शब्दसंयोजनात्मिका प्रतीतिः किमर्थे शब्दं संयोजयति ? किं वा स्वयं

व्यवहित होने के कारण बीज में भी कारणता कुण्ठित हो जाएगी) । (प्र.) (मुख्य कारण तो कार्य के उत्पादन में उपकार करनेवाला ही सहकारी कारण है) तदनुसार वाचक शब्द का स्मरण इन्द्रिय और अर्थ का क्या उपकार करता है, जिससे शब्द के स्मरण को सविकल्पक प्रत्यक्ष का सहकारिकारण मानें ? (उ.) जिस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय और अर्थ का अनुगमन करता है, उसी प्रकार वह स्मृति के अन्वय और व्यतिरेक के अनुगमन की भी अपेक्षा रखता है । इन्द्रिय और अर्थ को वाचक शब्द की स्मृति से यही उपकार होता है कि इसके बिना वे दोनों सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप अपना काम नहीं कर पाते और स्मृति रूप सहकारी के रहने से कर पाते हैं । 'मुख्य कारण के स्वरूप में किसी विशेष का सम्पादन न करनेवाला सहकारी ही नही है' इस आक्षेप का हम क्षणभङ्गवाद के खण्डन के अवसर पर निराकरण कर चुके हैं । (प्र.) 'कल्पना' से भिन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, किन्तु सविकल्पक ज्ञान तो 'कल्पना' रूप है, अतः वह अपने अर्थ का ज्ञापक प्रमाण नहीं है ।

(उ.) इस प्रसङ्ग में पूछना है कि यह 'कल्पना' कौन-सी वस्तु है ? (१) (निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा ज्ञात) अर्थ को (उसके बोधक) शब्द के साथ सम्बद्ध करनेवाली (शब्द संयोजनात्मिका) प्रतीति 'कल्पना' है (२) अथवा उसी अर्थ को विशेषण के साथ सम्बद्ध करनेवाली (विशिष्ट विषयक) अर्थ संयोजनात्मिका प्रतीति ही 'कल्पना' है ? किन्तु ये दोनों ही पक्ष अयुक्त हैं, क्योंकि इन दोनों पक्षों के सभी सम्भावित विकल्प अनुपपन्न ठहरते हैं ।

न्यायकन्दली

शब्देन संयुज्यते ? यदि तावदर्थे शब्दं संयोजयति ? तत्रापि किं शब्दात्मकमर्थं करोति ? किं वा शब्दाकारोपरक्तं गृह्णाति ? आहोस्विच्छब्देन व्यपदिशति ?

न तावत्प्रतीतिरर्थं शब्दात्मकं करोति, अर्थस्य निर्विकल्पकगृहीतेनैव स्वरूपेण विकल्पज्ञानेऽपि प्रतिभासनात्, अर्थक्रियाकरणाच्च । अन्यथा व्युत्पन्नाव्युत्पन्नयोर्युगपदेकार्थव्यवसायायोगात् ।

अथ शब्दाकारोपरक्तमर्थं गृह्णाति ? तदप्ययुक्तम्, अप्रतीतेः । निर्विकल्पकज्ञानेनार्थे गृहीते प्रागनुभूतस्तद्वाचकः शब्दः, स्मर्यते, प्रतियोगिदर्शनात् । स्मृत्या रूढश्चासौ तदर्थे एवार्थं परिच्छिनत्ति, न तु स्फुटिक इव नीलोपरक्तः शब्दाकारोपरक्तोऽर्थो गृह्यते, शब्दस्याचाक्षुषत्वात्, केवलस्यैवार्थस्येदन्तया निर्विकल्पकवत् प्रतिभासनाच्च । न च वाचके स्मर्यमाणे वाच्यस्य काचित् स्वरूपक्षतिरस्ति, येनायं सत्यपीन्द्रियसंयोगे प्रत्यक्षतां न लभते । यथोक्तम्–

(१) शब्द संयोजनात्मिका प्रतीति ही 'कल्पना' है, इस पक्ष के प्रसङ्ग में यह पूछना है कि यह प्रतीति क्या अर्थ के साथ शब्द को सम्बद्ध करती है या वह स्वयं ही शब्द के साथ सम्बद्ध होती है?

यदि यह कहें कि 'अर्थ में ही शब्द को सम्बद्ध करती है' तो फिर इस पक्ष में पूछना है कि वह प्रतीति शब्दस्वरूप अर्थ को ग्रहण करती है (अर्थात् अर्थ में शब्द को अभेद सम्बन्ध से सम्बद्ध करती है) अथवा शब्दाकार से अर्थ को ग्रहण करती है ? अथवा शब्द के द्वारा अर्थ का व्यवहार करती है (इन तीनों पक्षों में से पहिले पक्ष के अनुसार यह कहना अयुक्त है कि उक्त कल्पना रूप प्रतीति) अर्थ को शब्द से अभिन्न रूप में ग्रहण करती है, क्योंकि जिस रूप से अर्थ निर्विकल्पक ज्ञान में भासित होता है, उसी रूप से सविकल्पक ज्ञान से भी गृहीत होता है । एवं (सविकल्पक ज्ञान के द्वारा ज्ञात) अर्थ ही 'अर्थक्रियाकारी' अर्थात् कार्योत्पादक भी है (क्योंकि अर्थ में शब्द का अभेद समारोपित ही है, स्वाभाविक नहीं, समारोपि अर्थ से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है) । अन्यथा (यदि सविकल्पक प्रत्यक्ष शब्द विशिष्ट अर्थ विषयक ही हो तो फिर) व्युत्पन्न (शब्द अर्थ के वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध से अभिज्ञ) पुरुष एवं 'अव्युत्पन्न (उक्त सम्बन्ध से अनभिज्ञ) पुरुष दोनों को एक ही समय एक ही विषयक सविकल्पक ज्ञान नहीं होंगे ।

शब्द से उपरक्त अर्थ को ही 'सविकल्पक ज्ञान ग्रहण करता है' यह पक्ष भी अनुभव से विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है, क्योंकि अर्थ (शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का) प्रतियोगी है, उसी के निर्विकल्पक ज्ञान रूप दर्शन' से पूर्वानुभूत उस अर्थ के वाचक शब्द का स्मरण होता है । उस स्मृति का विषय होकर ही वाचक शब्द उस अर्थ के साथ

न्यायकन्दली

संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते ।
संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा ॥ इति ।

प्रतीतिः शब्देन संसृष्टार्थं व्यपदिशतीत्यपि न सुप्रतीतम्। आत्मा हि चेतनः प्रतिसन्धानादि-सामर्थ्यात् सङ्केतकालानुभूतं वाचकशब्दं स्मृत्वा तेनार्थं व्यपदिशति । घटोऽयमिति न प्रतीतिः, तस्याः प्रतिसन्धानादिसामर्थ्याभावात् । एवं तावत्प्रतीतिर्न शब्दं संयोजयति । नापि स्वयं शब्देन संयुज्यते, ज्ञानस्य तदव्यतिरिक्तस्य चाकारस्य

सम्बद्ध होकर निश्चित होता है । जिस प्रकार नीलवर्ण के द्रव्य के साथ सम्बद्ध होने पर वह स्फटिक नीलवर्ण से युक्त-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार शब्द से युक्त होकर अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि (घटादि अर्थ चक्षु से गृहीत होते हैं किन्तु) शब्द का चक्षु से ग्रहण नहीं होता । दूसरी यह भी बात है कि (यह नियम नहीं है कि सभी सविकल्पक ज्ञान शब्द से युक्त अर्थ को ही ग्रहण करें) केवल अपने इदन्त्वादि असाधारण रूप से भी वह निर्विकल्पक ज्ञान की तरह अर्थ को ग्रहण करता है (अर्थात् जिस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान में अर्थ इदन्त्वादि अपने असाधारण रूपों से भासित होता है, उसी प्रकार कुछ सविकल्पक ज्ञानों में भी होता है, अन्तर केवल इतना होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान में विशेष्य और विशेषण दोनों ही विश्लिष्ट ही भासित होते हैं; किन्तु सविकल्पक ज्ञान में दोनों संश्लिष्ट ही भासित होते हैं) वाचक शब्द की स्मृति हो जाने से वाच्य अर्थ के स्वरूप में ऐसी कोई विच्युति नहीं आती कि इन्द्रियसंयोग के रहने पर भी (इदन्त्वादि असाधारण रूप से) उसका प्रत्यक्ष न हो सके । जैसा कहा गया है कि–

संज्ञा की स्मृति होने पर भी वह अपने वाच्य अर्थ के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं ला सकती, क्योंकि अपने अर्थ के प्रसङ्ग में उदासीन होने के कारण उसके अर्थ में प्रत्यक्ष होने की जो योग्यता है–उसे तिरोहित करने का सामर्थ्य उसमें नहीं है ।

यह पक्ष भी ठीक नहीं जँचता कि 'प्रतीति (सविकल्पक प्रत्यक्ष) शब्द से सम्बद्ध अर्थ का व्यवहार करती है' क्योंकि प्रतीति अचेतन है, उसमें स्मरण करने का सामर्थ्य नहीं है; चेतन आत्मा में ही स्मरणादि का ऐसा सामर्थ्य है कि शब्दार्थ सङ्केत के समय अनुभूत वाचक शब्द को स्मरण कर उससे 'घटोऽयम्' इत्यादि व्यवहार का सम्पादन कर सकती है । इस प्रकार 'प्रतीति शब्द को अर्थ के साथ सम्बद्ध करती है' यह पक्ष (अपने सभी विकल्पों के अनुपपन्न होने के कारण) अयुक्त है ।

(सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप प्रतीति स्वयं शब्द के साथ सम्बद्ध होती है) यह पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि ज्ञान एवं उसके आकार दोनों ही 'क्षणिक' होने के कारण असाधारण हैं (अर्थात् एक ज्ञान और उसका आकार एक ही पुरुष के द्वारा ज्ञात होता है)

न्यायकन्दली

क्षणिकत्वेनासाधारणतया चाशक्यसङ्केतयोः शब्देन संस्रष्टुमयोग्यत्वात्, विषयवाचिना शब्देन विषयिणो ज्ञानस्य तद्व्यतिरिक्तस्य व्यपदेशाभावाच्च। अथ मन्यसे विकल्पः शब्दसंसृष्टार्थविषयः, स चार्थः संसृज्य शब्देन व्यपदिश्यते च। (यत्र शब्दस्य सङ्केतः) तत्र च शब्दस्य सङ्केतो यदक्षणिकं साधारणं च, न च स्वलक्षणं स्वलक्षणविषयो वा बोधो बोधविषयश्चाकारः साधारणोऽक्षणिकश्च भवति। बोधाकारस्य बाह्यत्वमपि बोधाकारादनन्यदसाधारणमेव। सामान्यं च वस्तुभूतं नास्ति, विचारासहत्वात्। तस्मात् प्रत्येकं विकल्पैर्बाह्यत्वेनारोपितेषु स्वाकारेषु परस्परभेदानध्यवसायादन्यव्यावृत्ततयैकत्वे समारोपिते शब्दस्य सङ्केत इति प्रमाणबलादायातमवर्जनीयम्। तत्र चालीके शब्दसंसर्गवति विकल्पः प्रवर्तमानोऽसन्तमर्थं विकल्पयतीति कल्पनाज्ञानमिति। यथोक्तम्–

अतः प्रतीति और उसका आकार दोनों का शब्द के साथ सङ्केत नहीं हो सकता। अतः प्रतीति में (सङ्केत सम्बन्ध से) शब्द में सम्बद्ध होने की योग्यता नहीं है। एवं घटादि विषयों के वाचक घटादि शब्द के द्वारा घटादि विषयों से भिन्न घटादि अर्थविषयक ज्ञान का प्रतिपादन भी सम्भव नहीं है (क्योंकि विषय और विषयी दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव के हैं)। यदि यह मानते हों कि (प्र.) शब्द से सम्बद्ध अर्थ ही सविकल्पक ज्ञान का विषय है और वह अर्थ शब्द के साथ सम्बद्ध होकर ही व्यवहार में आता है। (उ.) शब्द का सङ्केत (रूप सम्बन्ध) उसी के साथ होता है, जो अक्षणिक (अनेक क्षणों तक रहने वाला) तथा साधारण (अनेक पुरुषों से गृहीत होनेवाला) हो। कोई भी स्वलक्षण (अर्थात् विज्ञान) अथवा स्वलक्षण का विषय या उसका आकार बौद्धों के मत से अक्षणिक और साधारण नहीं है। बोध के आकार में (बाह्यत्व की कल्पना कर उस कल्पित आकार को साधारण मान कर भी काम नहीं चलाया जा सकता क्योंकि) वह कल्पित बाह्यत्व भी बोध के आकार से अभिन्न होने के कारण असाधारण ही होगा (साधारण नहीं) सामान्य नाम का कोई भाव पदार्थ विचार से बहिर्भूत होने के कारण है ही नहीं। अतः यही मानना पड़ेगा कि विकल्प (विज्ञान) के द्वारा उसके आकारों में बाह्यत्व की कल्पना की जाती है, किन्तु परस्पर विभिन्न उन आकारों का भेद अज्ञात ही रहता है, इस अज्ञान के कारण ही उन आकारों में एकत्व का आरोप होता है। इन प्रमाणों के बल पर यही कहना पड़ता है कि इसी एकत्व के अधिष्ठानभूत वस्तु में शब्द का सङ्केत है,फलतः जिसमें शब्द का संकेत है, वह अलीक है, और उसी असत् अर्थ में सविकल्पक ज्ञान प्रवृत्त होकर उसे निश्चित करता है। इस प्रकार (सविकल्पक) ज्ञान कल्पनारूप है। जैसा कहा गया है कि 'कल्पना रूप ज्ञान में जो रूप बाह्य एक वस्तु की तरह एवं दूसरों से भिन्न की तरह भासित होता है, वह परीक्षा करने पर उन रूपों

न्यायकन्दली

तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः ।
व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षानङ्गभावतः ॥ इति ।

अत्रोच्यते—यदि सामान्यस्य वस्तुभूतस्याभावात् तद्विशिष्टग्राहिता कल्पनात्वम्,तर्ह्यसदर्थतैव कल्पनात्वं न शब्दसंसृष्टार्थग्राहिता । तत्र यदि शक्ष्यामः प्रमाणेन सामान्यमुपपादयितुं तदा सत्यपि शब्दसंसृष्टग्राहकत्वे तद्विषयं विकल्पज्ञानमिन्द्रियार्थजत्वात् प्रत्यक्षमेव स्यात् । यदपरोक्षावभासि तत् प्रत्यक्षं यथा निर्विकल्पकम्, अपरोक्षावभासि च विकल्पज्ञानम् । इह ज्ञानानां परोक्षत्वमनिन्द्रियार्थजत्वेन व्याप्तं यथानुमाने, अनिन्द्रियार्थजत्वविरुद्धं चेन्द्रि-

से भिन्न ठहरता है, अतः (कल्पना ज्ञान में विषयीभूत वह विशेष प्रकार का) अर्थ निस्तत्त्व है (असत्) है ।

(उ.) (सविकल्पक ज्ञान कल्पना रूप होने के कारण प्रमाण नहीं है) इस प्रसङ्ग में सिद्धान्तियों का कहना है कि सामान्य (जाति) नाम का कोई भाव पदार्थ बौद्धों के मत में नहीं है और सामान्य से युक्त अर्थ का ग्राहक होने के कारण ही सविकल्पक ज्ञान कल्पना (भ्रम) है, तो फिर यही कहिये कि असत् अर्थ को ग्रहण करने के कारण ही सविकल्पक ज्ञान कल्पना (भ्रम) है । यह क्यों कहते हैं कि शब्द से सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होने के कारण सविकल्पक ज्ञान भ्रम है । इस प्रकार यह निश्चित होता है कि सविकल्प ज्ञान चूँकि असत् अर्थ का प्रकाशक है, इसीलिए वह 'कल्पना' है । इसलिए वह 'कल्पना' नहीं है कि शब्द से सम्बद्ध अर्थ का प्रकाशक है । (ऐसी स्थिति में) यदि प्रमाण के द्वारा सामान्य नाम के भाव पदार्थ की सत्ता का हम लोग प्रमाण के द्वारा प्रतिपादन कर सकें, एवं सविकल्पक ज्ञान यदि शब्द से सम्बद्ध अर्थ का प्रकाशक भी हो; किन्तु इन्द्रिय और अर्थ (के संनिकर्ष) से उसकी उत्पत्ति हो, तो फिर इस इन्द्रियार्थजत्व रूप हेतु से उसमें प्रत्यक्षत्व की सिद्धि की जा सकती है । (इस प्रसङ्ग के दृष्टान्त में साध्य का साधक यह अनुमान है) कि निर्विकल्पक ज्ञान की तरह जितने भी अपरोक्ष की तरह विषयों के भासक ज्ञान हैं, वे सभी प्रत्यक्ष होते हैं, अतः सविकल्पक ज्ञान भी अपरोक्षावभासि होने के कारण प्रत्यक्ष है । (इस अनुमान में) यह 'व्यापकविरुद्धोपलब्धि' अर्थात् व्यतिरेकव्याप्ति भी हेतु है कि अनुमान की तरह जितने भी ज्ञान बिना इन्द्रिय के उत्पन्न होते हैं, वे सभी परोक्ष ही होते हैं । इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न होना (इन्द्रियार्थजत्व) एवं इन्द्रिय से भिन्न कारणों से उत्पन्न होना (अनिन्द्रियार्थजन्यत्व) ये दोनों परस्पर विरोधी हैं । अनिन्द्रियार्थजत्व का विरोधी यह इन्द्रियार्थजत्व निर्विकल्पक ज्ञान में है (जो कि दोनों के मत से प्रत्यक्ष है,,अतः इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण है) । (प्र.) (उक्त अनुमान के) विपक्ष में यह विरोधी अनुमान भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि जिस प्रकार अनुमान रूप ज्ञान की उत्पत्ति में स्मृति की अपेक्षा

न्यायकन्दली

यार्थजत्वं तद्भावभावित्वान्निर्विकल्पकज्ञाने प्रतीयत इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । विपक्षे यत् स्मृतिपूर्वकं तदप्रत्यक्षं यथानुमानज्ञानम्, स्मृतिपूर्वकं च सविकल्पकज्ञानमिति प्रतिपक्षानुमानमप्यस्तीति चेत् ? प्रत्यक्षत्वं यदि क्वचिदवगतम्, तदा सविकल्पके तस्य न प्रतिषेधः, प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य । अथ निर्विकल्पके प्रतीतम्, तत् कथं प्रतीतम् ? इन्द्रियार्थतद्भावभावित्वानुमानेनेति चेत् ? तर्हि प्रत्यक्षत्वप्रसाधकस्य तद्भावभावित्वानुमानस्य प्रामाण्याभ्युपगमे सति प्रत्यक्षत्वप्रतिषेधकानुमानं प्रवृत्तं तद्विपरीतवृत्ति अश्रावणः शब्द इतिवत् तेनैव बाध्यते । एवं तावच्छब्दसंयोजनात्मिका प्रतीतिः कल्पना न भवतीति ।

अर्थसंयोजनात्मिकापि विशिष्टग्राहिणी न कल्पना, विशेषणस्य विशेष्यस्य **च तयोः सम्बन्धस्य च व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावस्य वास्तवत्वात् । अर्थावग्रहं विज्ञानम्, तदर्थेन्द्रियसन्निकर्षाद् यथाभूतोऽर्थस्तथोपजायते न त्वर्थे**

होती है एवं प्रत्यक्ष में नहीं होती है, उसी प्रकार और भी जिन ज्ञानों में स्मृति की अपेक्षा होगी वे प्रत्यक्ष नहीं हो सकते । सविकल्पक ज्ञान में भी (वाचक शब्द की) स्मृति अपेक्षित होती है, अतः वह भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । (उ.) जिसका प्रतिषेध सविकल्पक ज्ञान में करते हैं, वह प्रत्यक्षत्व कहीं पर ज्ञात है, या नहीं ? यदि नहीं, तो फिर सविकल्पक ज्ञान में भी उसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिसकी कहीं सत्ता ज्ञात रहती है उसी का कहीं प्रतिषेध भी किया जाता है । यदि इसका यह उत्तर देंगे कि 'यह प्रत्यक्षत्व निर्विकल्पक ज्ञान में ही ज्ञात है' तो फिर यह पूछेंगे कि किस हेतु से आपने निर्विकल्पक ज्ञान में प्रत्यक्षत्व को समझा ? यदि उसका यह उत्तर देंगे कि 'चूँकि निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न होता है' अतः प्रत्यक्ष है , तो फिर यह स्वीकृत ही हो जाता है कि 'इन्द्रियार्थजत्व हेतु से जो प्रत्यक्षत्व का अनुमान होता है, वह प्रमाण है' इसके बाद यदि कोई यह अनुमान करेगा कि 'इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न भी सविकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं है' तो यह 'अश्रावणः शब्द' इस अनुमान की तरह धर्मिग्राहक प्रमाण से ही बाधित हो जाएगा । अतः कल्पना 'शब्दसंयोजनात्मिका' है, इस पक्ष में भी सविकल्पक ज्ञान का प्रामाण्य खण्डित नहीं हो सकता ।

यदि कल्पना को अर्थ संयोजनरूप विशिष्ट विषयक ज्ञान से अभिन्न मानें, तो भी सविकल्पक ज्ञान इस प्रकार की कल्पना रूप होने पर भी प्रमाण होगा ही, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में विशेष्य, विशेषण और दोनों का व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक-भाव सम्बन्ध ये तीन वस्तुएँ भासित होतीहैं, विशिष्टज्ञान के विषय ये तीनों ही विषय वास्तव हैं, आरोपित नहीं (अतः सविकल्पक ज्ञान केवल विशिष्ट विषयक होने से ही अप्रमाण नहीं हो

न्यायकन्दली

विचार्य प्रवर्त्तते । विशिष्टज्ञानं तु विचार इदं विशेष्यमयमनयोः सम्बन्ध एषा च लोकस्थितिः । दण्डी पुरुषो न तु पुरुषो दण्ड इति विचार्य च प्रत्येकमेतानि पश्चादेकीकृत्य गृह्णाति दण्डी पुरुष इति । यद्यर्थस्य विशिष्टता वास्तवी प्रथममेव विशिष्टज्ञानं जायेत । न भवति चेत् ? नास्य स्वरूपतो विशिष्टता, किन्तूपाधिकृतेति विशिष्टताज्ञानं कल्पनेति चेत् ? दुरूहितमिदमायुष्मता, आत्मा हि प्रत्येकं विशेषणादीन् गृहीत्वाताननुसन्दधान इन्द्रियेणार्थस्य विशिष्टतां प्रत्येति न ज्ञानमचेतनम्, तस्य प्रतिसन्धानाशक्तेः, विरम्य व्यापराभावाच्च । अर्थो विशेषणसम्बन्धाद् विशिष्ट एव, विशेषेणादिग्रहणस्य सहकारिणोऽभावात् । प्रथममिन्द्रियेण न तथा गृह्यते, गृहीतेषु विशेषणादिषु गृह्यत इत्यर्थेन्द्रियजं तावद्विशिष्टज्ञानम् । यदि

सकता) । (प्र.) इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान में अर्थ अपने वास्तविक रूप में ही भासित होता है । किन्तु वह विचार पूर्वक अपने विषय को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त नहीं होता । 'यह विशेषण है, यह विशेष्य है, यह उन दोनों का सम्बन्ध है' इस प्रकार के विचार से ही तो 'विशिष्ट ज्ञान' की उत्पत्ति होती है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान के सम्बन्ध में साधारण जनों की स्थिति इस प्रकार है कि 'दण्ड ही विशेषण है और पुरुष ही विशेष्य है, किन्तु इसके विपरीत लोक में यह व्यवहार नहीं है कि 'पुरुष ही विशेषण है और दण्ड ही विशेष्य है' इस प्रकार के विचार के बाद दण्ड, पुरुष एवं दोनों के सम्बन्ध इन तीनों को एक ज्ञान में आरूढ कर 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि आकार की विशिष्ट प्रतीतियाँ होती हैं। ऐसी स्थिति में पुरुष की दण्डविशिष्टता अर्थात् अर्थ की विशिष्टता यदि वास्तव-वस्तु हो, तो फिर पहिले ही इन्द्रियपात होते ही 'विशिष्टबोध' की ही उत्पत्ति होती, सो नहीं होती है, अतः समझना चाहिए कि विशेषण विशिष्टता अर्थ का स्वाभाविक धर्म नहीं है, किन्तु औपाधिक धर्म है (जैसे कि जवाकुसुम संनिहित स्फटिक का लौहित्य) अतः विशिष्ट विषयक ज्ञान (अर्थात् सविकल्पक ज्ञान) प्रमा रूप नहीं है । (उ.) यह तो आप की बड़ी ही विचित्र कल्पना है, क्योंकि आत्मा पहिले विशेषणादि को जानकर फिर उनकी स्मृति की सहायता से इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की विशिष्टता का भी अनुभव करता है । यह सब काम ज्ञान के द्वारा नहीं हो सकता; क्योंकि वह अचेतन है, एवं (क्षणिक होने के कारण) एक व्यापार के बाद दूसरे व्यापार की क्षमता भी ज्ञान में नहीं है । विशेषण से युक्त होने के कारण ही अर्थ 'विशिष्ट' कहलाता है (विशिष्ट रूप से गृहीत होने के कारण नहीं) इन्द्रिय के प्रथम सम्पात के बाद ही जो विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती है, उसका कारण है विशेषण ज्ञान रूप सहकारि कारण का अभाव । इस स्थिति में यदि विशिष्टबुद्धि रूप होने के अपराध से ही विशिष्ट ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान)

प्रशस्तपादभाष्यम्

मुत्पद्यते, सद् द्रव्यं पृथिवी विषाणी शुक्लो गौर्गच्छतीति । रूपरसगन्धस्पर्शेष्वनेकद्रव्यसमवायात् स्वगतविशेषात् स्वाश्रयसन्नि-

इन्द्रियों के द्वारा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श विषयक प्रत्यक्ष के उत्पादन के लिए इनमें से प्रत्येक के लिए नियमित चक्षुरादि तत्तत् इन्द्रिय, अनेक अवयवों से बने हुए द्रव्य में समवाय, रूपादि प्रत्येक में रहने-वाले रूपत्वादि असाधारण धर्म, एवं कथित रूपादि विषयों के आश्रयीभूत

न्यायकन्दली

विशिष्टज्ञानत्वादेवापराधात् प्रत्यक्षं न भवति, दुःसमाधेयमित्युपरम्यते ।

रूपादिषु प्रत्यक्षोत्पत्तिकारणमाह—रूपरसेत्यादि । **अनेकेष्ववयवेषु समवेतं द्रव्यमनेक-द्रव्यम्, तत्र समवायात् । स्वगतो विशेषो रूपे रूपत्वं रसे रसत्वं गन्धे गन्धत्वं स्पर्शे स्पर्शत्वं तस्मात् स्वाश्रयसन्निकर्षाद् रूपादीनां य आश्रयस्तस्य ग्राहकैरिन्द्रियैः सन्निकर्षा**न्नियतेन्द्रियनिमित्तं **चक्षुर्निमित्तं रूपे, रसंननिमित्तं रसे, घ्राणनिमित्तं गन्धे, त्वगिन्द्रियनिमित्तं स्पर्शे ज्ञानमुत्पद्यते ।**

प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तो फिर इस प्रश्न का समाधान कठिन है, अतः हम इससे विरत होते हैं ।

'रूपरस' इत्यादि पङ्क्ति के द्वारा रूपादि विषयों के प्रत्यक्ष के कारण कहे गये हैं । (इस वाक्य के 'अनेकद्रव्यसमवायात्' इस पद का) 'अनेकेष्ववयवेषु समवेतं द्रव्यमनेकद्रव्यं तत्र समवायात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनेक अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला (द्रव्य ही 'अनेकद्रव्य' शब्द का) अर्थ है, उसमें रूपादि का समवाय रूपादि के प्रत्यक्ष का कारण है । (अर्थात् कथित 'अनेकद्रव्य' में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले रूपादि का ही प्रत्यक्ष होता है, अन्य रूपादि का नहीं) रूप में रूपत्व, रस में रसत्व, गन्ध में गन्धत्व और स्पर्श में स्पर्शत्व ही प्रकृत 'स्वगतविशेष' शब्द से अभिप्रेत हैं, ये भी क्रमशः रूपादि प्रत्यक्ष के कारण हैं । 'स्वाश्रयसंनिकर्ष' से अर्थात् रूपादि के जो आश्रयद्रव्य हैं, उनका अपने-अपने ग्राहक इन्द्रियों के साथ जो संनिकर्ष (उससे रूपादि का) 'नियतेन्द्रियनिमित्त' अर्थात् रूप में चक्षु स्वरूप निमित्त से, रस में रसनेन्द्रिय निमित्त से, गन्ध में घ्राण रूप निमित्त से, एवं स्पर्श में त्वक् रूप निमित्त से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है । चूँकि 'स्वगतविशेष' अर्थात् रूपत्वादि धर्म भी क्रमशः रूपादि प्रत्यक्ष के कारण हैं, अतः (रूप का प्रत्यक्ष चक्षु से ही हो, रस का प्रत्यक्ष रसनेन्द्रिय से ही हो इत्यादि प्रकार की) व्यवस्थायें उपपन्न होती हैं । ऐसा न मानने पर कोई व्यव-च्छेदक न रहने के कारण इन्द्रियों के साङ्कर्य की आपत्ति होगी । 'शब्दस्य त्रय-

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्षान्नियतेन्द्रियनिमित्तमुत्पद्यते । शब्दस्य त्रयसन्निकर्षाच्छ्रोत्रसमवेतस्य तेनैवोपलब्धिः । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वस्नेह-

तत्तत् द्रव्य में चक्षुरादि तत्तद् इन्द्रिय का सन्निकर्ष, इन तीन कारणों की और अपेक्षा होती है । श्रोत्र (रूप आकाश) में रहनेवाले शब्द का ही श्रोत्र रूप इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है (किन्तु) इसमें आत्मा, मन और श्रोत्र रूप इन्द्रिय इन तीनों के (दो) सन्निकर्षों की भी अपेक्षा होती है (रूपादि प्रत्यक्ष में कथित आत्मादि चार वस्तुओं के तीन सन्निकर्षों की नहीं) । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह,

न्यायकन्दली

स्वगतविशेषाणां हेतुत्वाद् रूपादिष्विन्द्रियव्यवस्था, अन्यथा परिप्लवः स्याद् विशेषाभावात् । शब्दस्य त्रयसन्निकर्षाच्छ्रोत्रसमवेतस्य तेनैवोपलब्धिः । त्रयसन्निकर्षादिति **आत्ममन इन्द्रियाणां सन्निकर्षो दर्शितः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षः श्रोत्रसमवेतस्येत्यनेनोक्तः ।** तेनैवोपलब्धिरिति । **श्रोत्रेणैवोपलब्धिरित्यर्थः । संख्यादीनां कर्मान्तानां प्रत्यक्षद्रव्यसमवेतानामाश्रयवच्चक्षुःस्पर्शनाभ्यां ग्रहणम् ।**

कर्मप्रत्यक्षमिति न मृष्यामहे, गच्छति द्रव्ये संयोगविभागातिरिक्तपदार्थान्तरानुपलब्धेः । यस्त्वयं चलतीति प्रत्ययः, स संयोगविभागानुमितक्रियालम्बन इति । तदसारम्, यदि कर्माप्रत्यक्षं विभागसंयोगाभ्यामनुमीयते, तदा विभागसंयोगयोरुभयवृत्तित्वादाश्रयान्तरेऽपि कर्मानुमीयेत । न च मूलादग्रमग्राच्च मूलं गच्छति शाखामृगे तरावप्यनारतसंयोगविभागाधिकरणे चलतीति प्रत्यय उदयते ।

संनिकर्षात्' इत्यादि वाक्य के 'त्रयसंनिकर्षात्' इस पद के द्वारा आत्मा, मन और इन्द्रियों के संनिकर्ष (प्रत्यक्ष के कारण रूप में) दिखलाये गये हैं । एवं 'श्रोत्रसमवेतस्य' इस पद के द्वारा (शब्द प्रत्यक्ष के कारणीभूत) इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष दिखलाया गया है । 'तेनैवोपलब्धिः' अर्थात् श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है । प्रत्यक्ष के विषय द्रव्यों में रहनेवाले 'संख्यादीनां कर्मान्तानाम्' अर्थात् संख्या से लेकर कर्मपर्यन्त (संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, वेग और कर्म इन ग्यारह वस्तुओं का) चक्षु और त्वचा इन दोनों इन्द्रियों से ग्रहण होता है ।

(प्र.) हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि कर्म का भी प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि द्रव्य के चलने पर (उत्तर देश के साथ) संयोग और (पूर्व देश से) विभाग इन दोनों से भिन्न किसी वस्तु की प्रतीति द्रव्य में नहीं होती है । द्रव्य में जो 'चलति' इस प्रकार की

न्यायकन्दली

यदि मतं योऽयं तरुमृगस्याकाशादिनापि संयोगस्तस्य तरुसमवेतात् कर्मणो निष्पत्त्यनवकल्पनान्न तरौ कर्मानुमानमिति कल्प्यताम् ? तर्हि देशान्तरसंयोगार्थं तरुमृगेऽपि कर्मान्तरम्, तरौ तु कर्मकल्पना न निवर्त्तत एव । यदधिकरणं कार्यं तदधिकरणं कारणमित्युत्सर्गस्तस्यैकत्र व्यभिचारेऽन्यत्र क आश्वासः ? शाखामृगसमवेतेन कर्मणा कल्पितेन शाखामृगस्य तरुणा देशान्तरेणापि समं संयोगविभागयोरुत्पत्तेरुभयकर्मकल्पनानुपयोग इति चेत् ? नैवम्, प्रतिबद्धं हि लिङ्गं यत्रोपलभ्यते तत्र प्रतिबन्धकमुपस्थापयतीत्येतावत्येवानुमानस्य सामग्री ।

प्रतीति होती है, वह कर्म विषयक अनुमिति रूप है, जिसकी उत्पत्ति उक्त संयोग और विभाग रूप हेतुओं से होती है । (उ.) उक्त कथन में कुछ सार नहीं है, क्योंकि यदि कर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता है एवं संयोग और विभाग से उसका अनुमान ही होता है तो फिर (संयोग और विभाग तो उभयाश्रयी हैं) अतः उनके दूसरे आश्रयों (पूर्वदेश और उत्तर देशों) में भी कर्म की अनुमिति होनी चाहिए (सो नहीं होती है), किन्तु वृक्ष में जिस समय मूलभाग से अग्रभाग की तरफ और अग्रभाग से मूलभाग की तरफ बन्दर दौड़ लगाता रहता है, उस समय (संयोग और विभाग के दूसरे आश्रय) वृक्ष में 'चलति' यह प्रतीति भी नहीं होती । यदि यह कहें कि (वृक्ष के साथ संयुक्त) बन्दर का आकाशादि द्रव्यों के साथ भी तो संयोग है, सुतराम् वृक्ष में रहनेवाली क्रिया से उस संयोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः वृक्ष में क्रिया का अनुमान नहीं हो सकता । (प्र.) तो फिर आकाशादि दूसरे देशों के साथ वानर के संयोग और विभाग के लिए बन्दर में ही (वृक्ष में कपि के संयोगादि के उत्पादक कर्म से भिन्न) दूसरे कर्म की ही कल्पना कीजिए, (उ.) इससे तो वृक्ष में क्रिया के अनुमान की निवृत्ति नहीं हो सकती । यह औत्सर्गिक नियम है कि कार्य के आश्रय में कारण को अवश्य ही रहना चाहिए । इस नियम में यदि यहाँ व्यभिचार हो (अर्थात् कार्य के अधिकरण में कारण के न रहने पर या अन्यत्र रहने पर भी उस अधिकरण में कार्य की उत्पत्ति हो) तो फिर दूसरे स्थानों में (कार्य के अधिकरण में कारण के नियमतः रहने के नियम में) कौन सा विश्वास रह जाएगा ? (प्र.) वानर में समवाय सम्बन्ध से अनुमित होनेवाली क्रिया के द्वारा ही वानर का वृक्ष के साथ एवं आकाशादि दूसरे देशों के साथ भी संयोग और विभाग दोनों की उत्पत्ति हो सकती है, अतः वानर में (वृक्षगत संयोगादिजनक एवं आकाशादिगत संयोगादि के जनक) दो क्रियाओं की कल्पना का कोई उपयोग नहीं है । (उ.) ऐसी बात नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिबद्ध (अर्थात् साध्य की व्याप्ति से युक्त) जिस हेतु की उपलब्धि जिस पक्ष में होती है, उस पक्ष में वह हेतु 'प्रतिबन्धक' को (अर्थात् जिसका प्रतिबन्ध हेतु में है उस साध्य को) अवश्य ही उपस्थित करेगा । उसमें साध्य की दूसरे प्रकार से उपपत्ति के द्वारा

न्यायकन्दली

तस्यार्थापत्तिवदन्यथोपपत्या कः परिभवः, न चेदं पुरुष इव चेतनं यत् प्रयोजनानुरोधात् प्रवर्तते । यदि त्वेकस्य व्योमप्रदेशस्य संयोगविभागाः क्रियानुमितिहेतवः कल्प्यन्ते? न शक्यं कल्पयितुम्, अतीन्द्रियव्योमाश्रयाणां विभागसंयोगानामप्रत्यक्षत्वात् । भूगोलकप्रदेशविभाग-संयोगसन्तानानुमेयत्वे गच्छतो वियति विहङ्गमस्य कर्म दुरधिगमं स्यात् । वियद्वित-तालोकनिवहविभागसंयोगप्रवाहो यदि तस्य लिङ्गमिष्यते ? अनिच्छतोऽप्यन्धकारे वायु-दोषादेकस्मादुपजातावयकम्पस्य भुजाग्रं मे कम्पते भ्रूश्चलतीत्यदृष्टान्तःकरणाधिष्ठित-त्वगिन्द्रियजा कर्मबुद्धिरनिबन्धना स्यात् । रात्रौ महामेघान्धकारे क्षणमात्रस्थायिन्यां विद्युति चलतीति प्रत्ययस्य का गतिः ?

बुद्धीत्यादि । **आत्मसमवेतानां संयुक्तसमवायाद् ग्रहणम्** । भावेति ।

कौन सी बाधा आएगी ? जैसे कि अर्थापत्ति में साध्य की अन्यथा उपपत्ति के द्वारा बाधा आती है । क्योंकि पुरुष की तरह प्रमाण चेतन तो है नहीं कि वह प्रयोजन के अनुसार काम करेगा (अचेतन वस्तु तो स्वभाव के अनुसार ही काम कर सकती है, अतः साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु पक्ष में साध्य को अवश्य ही उपस्थित करेगा, चाहे उस साध्य की उस पक्ष में दूसरे प्रकार से भी उपपत्ति सम्भव हो) । यदि आकाश प्रदेश के संयोगों और विभागों को ही सभी क्रियाओं की अनुमिति का कारण मानें (तो कदाचित् उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि सभी मूर्त द्रव्यों का संयोग और विभाग आकाशादि नित्यद्रव्यों के साथ अवश्य रहता है) । किन्तु यह कल्पना सम्भव नहीं है । यदि यह कहें कि (प्र.) आकाशादि अतीन्द्रिय हैं, अतः उनमें रहनेवाले संयोग और विभाग भी अतीन्द्रिय ही होंगे, अतः उनके द्वारा कर्म का अनुमान यद्यपि नहीं हो सकता, फिर भी भूगोलक में विद्यमान संयोग और विभाग को ही कर्म का अनुमापक लिङ्ग मान सकते हैं (इससे कर्म की अनुमिति उपपन्न होगी)। (उ.) इस हेतु के द्वारा आकाश में उड़ते हुए पक्षियों में विद्यमान क्रिया की अनुमिति न हो सकेगी, जिससे उक्त पक्षियों की क्रियाओं का ज्ञान ही कठिन हो जाएगा । यदि आकाश में फैले हुए आलोक रूप तेज (द्रव्य) में रहनेवाले संयोग को पक्षियों में रहनेवाले कर्म का अनुमापक हेतु मानेंगे तो भी रात में विना इच्छा के भी वायु के दोष से उत्पन्न होनेवाले कम्प रूप कर्म की 'भुजाग्रं मे कम्पते, भ्रूश्चलति' इत्यादि आकार की जितनी भी प्रतीतियाँ अदृष्ट एवं अन्तःकरण (मन) से अधिष्ठित त्वगिन्द्रिय से (प्रत्यक्ष रूप) उत्पन्न होती हैं, उनको विना कारण के ही स्वीकार करना पड़ेगा । एवं रात को बादल घिर जाने के कारण गाढ़ अन्धकार में जब बिजली कौंधती है उस समय उस क्षणिक विद्युत् में जो 'बिजली चलती है' इत्यादि आकारकी प्रतीतियाँ होती हैं उनके प्रसङ्ग में ही (कर्म को प्रत्यक्ष न माननेवाले) क्या उपाय करेंगे ?

'बुद्धि' इत्यादि पङ्क्ति का सार यह है कि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वालों का संयुक्तसमवाय सम्बन्ध के द्वारा प्रत्यक्ष होता है । 'भाव' इत्यादि पङ्क्ति का

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रवत्ववेगकर्मणां प्रत्यक्षद्रव्यसमवायाच्चक्षुःस्पर्शनाभ्यां ग्रहणम् । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगादुपलब्धिः ।

द्रवत्व,वेग और क्रिया इन ग्यारह वस्तुओं का चक्षु और त्वचा इन दोनों इंन्द्रियों से ग्रहण हो सकता है, (किन्तु इनके उक्त प्रत्यक्ष के लिए) प्रत्यक्ष हो सकनेवाले द्रव्यों में इनके समवाय का रहना भी आवश्यक है (अर्थात् प्रत्यक्ष होनेवाले द्रव्य में रहनेवाले संख्यादि गुणों के ही प्रत्यक्ष हो सकते हैं, प्रत्यक्ष न होनेवाले द्रव्यों के संख्यादि के नहीं) । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न इन छः गुणों का आत्मा और मन इन दोनों के ही

न्यायकन्दली

सत्ताद्रव्यत्वादीनां सामान्यानामाश्रयो येनेन्द्रियेण गृह्यते तेनैव तानि गृह्यन्ते । तत्र संयोगाद् द्रव्यग्रहणम्, संयुक्तसमवायाद् गुणादिप्रतीतिः, संयुक्तसमवेतसमवायाद् गुणत्वादि-ज्ञानम्, समवायाच्छब्दग्रहणम्, समवेतसमवायाच्छब्दत्वग्रहणम्, सम्बद्धविशेषणतया चाभाव-ग्रहणमिति षोढा सन्निकर्षः यत् संयुक्तसमवेतविशेषणत्वेन रूपे रसाद्यभावग्रहणम्, या च संयुक्तसमवेतविशेषणविशेषणत्वेन रूपत्वे रसत्वाद्यभावप्रतीतिः, यश्च समवेतविशेषणतया ककारे खकाराद्यभावावगमः, यच्च समवेतसमवेतविशेषणतया गत्वे खत्वाद्यभावसंवेदनम्, तत् सर्वं सम्बद्धविशेषणभावेन संगृहीतम् ।

यह अभिप्राय है कि सत्ता द्रव्यत्व प्रभृति सामान्यों का प्रत्यक्ष उसी इन्द्रिय से होता है, जिससे उनके आश्रयों का प्रत्यक्ष होता है । (इन्द्रियों के निम्नलिखित छः संनिकर्ष प्रत्यक्ष के सम्पादक हैं) जिनमें (१) संयोग के द्वारा द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है । (२) संयुक्त समवाय सम्बन्ध से गुणादि का (अर्थात् द्रव्यसमवेत वस्तुओं का) प्रत्यक्ष होता है । (३) गुणत्वादि का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेत-समवाय सम्बन्ध से होता है । केवल (४) समवाय सम्बन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष होता है । (५) शब्दत्व का प्रत्यक्ष समवेतसमवाय सम्बन्ध से निष्पन्न होता है और (६) सम्बद्ध विशेषणता सम्बन्ध से अभाव का प्रत्यक्ष होता है । रूप में रसाभाव का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेत-विशेषणता' सम्बन्ध से, रूपत्व में रसत्वाभाव का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतविशेषण (समवेत) विशेषणता सम्बन्ध से, 'क' वर्ण में 'ख' वर्ण के अभाव का प्रत्यक्ष 'समवेतविशेषणता' से, एवं गत्व में खत्वाभाव का प्रत्यक्ष 'समवेतसमवेत-विशेषणता' सम्बन्ध से होता है, ये सभी विशेषणतायें कथित 'सम्बद्धविशेषणता' शब्द के द्वारा संगृहीत होती हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

भावद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनामुपलभ्याधारसमवेतानामाश्रयग्राहकैरिन्द्रियैर्ग्रहण-मित्येतदस्मदादीनां प्रत्यक्षम् । अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां

संयोग से प्रत्यक्ष होता है । (उन्हीं) भाव (सत्ता) द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि का प्रत्यक्ष उनके आश्रयीभूत वस्तुओं के ग्राहक इन्द्रियों से होता है, जिनके आश्रय प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण के योग्य हों ।

न्यायकन्दली

अपरे तु सर्वत्र यथासम्भवं संयोगसमवाययोरेव हेतुत्वादवान्तरसम्बन्धकल्पनां नेच्छन्ति, ईदृशो हि तेषां भावानां स्वभावो यदेषामन्यसन्निकर्षादेव ग्रहणम् । अतिप्रसङ्गश्च नास्ति, स्वाश्रयप्रत्यासत्तेर्नियामकत्वात् ।

उपसंहरति–एतदस्मदादीनां प्रत्यक्षमिति । **अस्मदादीनामयोगिना-मित्यर्थः । योगिप्रत्यक्षमाह**–अस्मद्विशिष्टानां त्विति । **योगः समाधिः । स द्विविधः–सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च । सम्प्रज्ञातो धारकेण प्रयत्नेन**

किसी सम्प्रदाय के लोग प्रत्यक्ष के लिए (१) संयोग और (२) समवाय इन दो ही सम्बन्ध को आवश्यक मानते हैं एवं (संयुक्त समवायादि) अवान्तर सम्बन्ध की कल्पना को निरर्थक समझते हैं, अर्थात् द्रव्य में चक्षु का जो संयोग है, उसी से द्रव्य की तरह उसमें रहनेवाले सामान्य, गुण एवं कर्मादि के भी बोध होंगे, एवं समवाय सम्बन्ध से शब्द एवं उसमें रहनेवाले शब्दत्वादि सामान्यों का भी बोध होगा । कुछ वस्तुओं का यह स्वभाव स्वीकार करेंगे कि दूसरे के साथ के संनिकर्ष से भी उनका प्रत्यक्ष होता है । संयोग संनिकर्ष से यदि घटत्व या घट रूप का प्रत्यक्ष हो सकता है, तो फिर उसी सम्बन्ध से शब्द का भी प्रत्यक्ष हो (क्योंकि दोनों में ही संयोग संनिकर्ष की असत्ता समान रूप से है) इस पक्ष में उक्त अतिप्रसङ्गों की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि आश्रय में संनिकर्ष का रहना नियामक होगा (अर्थात् इस पक्ष में ऐसा नियम है कि इन्द्रिय का संयोग संनिकर्ष जिस द्रव्य के साथ रहेगा, उसमें रहनेवाले सामान्य, गुण या कर्म का ही उस संयोग संनिकर्ष से भान होगा । शब्द के आश्रय आकाश रूप द्रव्य में चक्षु का प्रत्यक्षजनक संनिकर्ष नहीं है । इसी प्रकार समवाय में भी समझना चाहिए) ।

'एतदस्मदादीनां प्रत्यक्षम्' इस वाक्य के द्वारा (अस्मदादि के प्रत्यक्ष का) उपसंहार करते हैं । उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'अस्मदादि' शब्द का अर्थ है योगियों से भिन्न जीव । 'अस्मद्विशिष्टानाम्' इत्यादि संदर्भ के द्वारा योगियों के प्रत्यक्ष का निरूपण करते हैं । 'योग' शब्द का अर्थ है समाधि । यह योग (१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार का है । धारक प्रयत्न के द्वारा आत्मा के किसी प्रदेश में नियोजित मन का और तत्त्वज्ञान की इच्छा से युक्त आत्मा का संयोग ही 'सम्प्रज्ञातयोग' है । वश किए हुए मन का बिना किसी विशेष अभिलाषा के पहिले ही बिना विचारे हुए

प्रशस्तपादभाष्यम्

युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते । वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसन्निकर्षाद् योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते ।

१. युक्त और २. वियुक्त भेद से योगी दो प्रकार के हैं, उनमें (हम लोग जैसे साधारण जनों से विलक्षण) 'युक्तयोगियों' को योगाभ्यास के द्वारा विशेष बलशाली मन से अपनी आत्मा, आकाश, दिक्, काल, परमाणु, वायु और मन एवं इन सबों में रहनेलाले गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय प्रभृति पदार्थों के भी यथार्थस्वरूप का प्रत्यक्ष होता है । किन्तु (वियुक्त योगियों को) आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ इन (चारों के) तीन संयोग से ही योगजनित धर्मरूप विशेष बल के कारण सूक्ष्म (परमाण्वादि), व्यवहित (दीवाल प्रभृति से घिरे हुए वस्तु) और बहुत दूर की वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होता है ।

न्यायकन्दली

क्वचिदात्मप्रदेशे वशीकृतस्य मनसस्तत्वबुभुत्साविशिष्टेनात्मना संयोगः । असम्प्रज्ञातश्च वशीकृतस्य मनसो निरभिसन्धिर्निरभ्युत्थानात् क्वचिदात्मप्रदेशे संयोगः । तत्रायमुत्तरो मुमुक्षूणामविद्यासंस्कारविलयार्थमन्त्ये जन्मनि परिपच्यते, न धर्ममुपचिनोति, अभिसन्धिसहकारिविरहात् । नापि बाह्यं विषयमभिमुखीकरोति, आत्मन्येव परिणामात् । पूर्वस्तु योगोऽभिसन्धिसहायः प्रतनोति धर्मम् । यदर्थं तत्त्वबुभुत्साविशिष्टश्च तदर्थमुद्द्योतयति, इति तेन योगेन योगिनः च्युतयोगा अपि योग्यतया योगिन उच्यन्ते । न च तेषामप्रक्षीणमलावरणानां तदानीमतीन्द्रियार्थदर्शनमस्त्यत आह—युक्तानामिति ।

युक्तानां **समाध्यवस्थितानां** योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा **स्वात्मनि,**

किसी द्रव्य के साथ संयोग ही 'असम्प्रज्ञात' योग है । इन दोनों योगों में अन्तिम योग अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि का परिपाक मुमुक्षुओं को अन्तिम जन्म में होता है, जिससे संस्कार-सहित अविद्या का विनाश हो जाता है । असम्प्रज्ञात समाधि से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि धर्म का सहकारिकारण अभिलाषा या एषणा उस समय नहीं रहती है । उस समय किसी बाह्य विषय का भान भी नहीं होता है, क्योंकि उस समय अन्तःकरण केवल अपने स्वरूप से ही परिणत होता है । पहिला योग अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग विषयों की अभिलाषा की सहायता से धर्म को उत्पन्न करता है, जिससे तत्त्वज्ञान की इच्छा से युक्त योगी को सभी विषय प्रतिभात होते हैं । अतः सम्प्रज्ञात समाधि से युक्त

न्यायकन्दली

स्वात्मान्तरेषु स्वात्मन आत्मान्तरेषु परकीयेषु, आकाशे दिशि काले वायौ परमाणुमनस्सु तत्समवेतेषु गुणादिषु समवाये चावितथमविपर्यस्तं स्वरूपदर्शनं भवति । अस्मदादिभिरात्मा सर्वदैवाहं ममेति कर्तृत्वस्वामित्वरूपसंभिन्नः प्रतीयते, उभयं चैतच्छरीराद्युपाधिकृतं रूपं न स्वाभाविकमत एव अहं ममेति, प्रत्ययो मिथ्यादृष्टिरिति गीयते, सर्वप्रवादेषु, विपरीतरूपग्राहकत्वात् । स्वाभाविकं तु यदस्य स्वरूपं तद्योगिभिरालोक्यते, यदा हि योगी वेदान्तप्रवेदितमात्मस्वरूपमहं तत्त्वतोऽनुजानीयामित्यभिसन्धानाद् बहिरिन्द्रियेभ्यो मनः प्रत्याहृत्य क्वचिदात्मदेशे नियम्यैकाग्रतयात्मानुचिन्तनमभ्यस्यति, तदास्य तत्वज्ञान-संवर्तकधर्माधानक्रमेणाहङ्कारममकारविनिर्मुक्तमात्मतत्त्वं स्फुटीभवति ।यदा तु परात्माकाश-कालादिबुभुत्सया तदनुचिन्तनप्रवाहमभ्यस्यति, तदास्य परात्मादितत्त्वज्ञानानुगुणोऽचिन्त्य-प्रभावो धर्म उपचीयते, तद्बलाच्चान्तःकरणं बहिः शरीरान्निर्गत्य परात्मादिभिः संयुज्यते । तेषु संयोगात्, संयुक्तसमवायात् तद्गुणादिषु, संयुक्तसमवेतसमवायात्

योगी (अपने लक्ष्य असम्प्रज्ञात से) च्युत होने पर भी 'योग' की अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता के कारण 'योगी' कहलाते हैं । सम्प्रज्ञात समाधि के समय योगियों के (तत्त्व के) आवरक मल की सत्ता सर्वथा क्षीण नहीं रहती है, अतः उन्हें अतीन्द्रिय अर्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है । यही बात 'युक्तानाम्' इत्यादि से कही गयी है । 'युक्तों' को अर्थात् 'सम्प्रज्ञात' समाधि से युक्त योगियों को इस योग से उत्पन्न धर्म के अनुग्रह से युक्त· मन के द्वारा अपनी आत्मा और अपनी आत्मा से भिन्न आत्माओं का अर्थात् अपनी आत्मा से भिन्न दूसरों की आत्माओं का, आकाश, काल, वायु, परमाणु और मन इन सबों का और इन सबों में रहनेवाले गुणादि और समवाय का 'अवितथ' अर्थात् विपर्ययरहित (यथार्थ) ज्ञान होता है । अस्मदादि को आत्मा की प्रतीति कर्तृत्व एवं स्वमित्व रूप से ही बराबर होती है । ये दोनों ही शरीररूप उपाधि मूलक होने के कारण आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं । अतः तन्मूलक 'अहम्, मम' इत्यादि आकार की आत्मा की सभी प्रतीतियाँ सभी मतों के अनुसार आत्मा के स्वरूप के विरुद्ध धर्म विषयक होने के कारण 'मिथ्यादृष्टि' कही जाती हैं । आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप को केवल योगिगण ही देख पाते हैं । जिस समय योगिगण उपनिषदों में कथित आत्मा के स्वरूप को 'मैं यथार्थ रूप से जानूँ' इस संकल्प के द्वारा बाह्य विषयों से मन को खींचकर आत्मा के किसी भी प्रदेश में लगाकर आत्मचिन्तन का अभ्यास करते हैं, उस समय तत्त्वज्ञान के सम्पादक धर्म के उत्पादन के क्रम से अहङ्कार और ममकार से विनिर्मुक्त आत्मा का तत्त्व प्रकाशित होता है । जिस समय दूसरे की आत्त्मा एवं कलादि वस्तुओं को जानने की इच्छा से उनके चिन्तन के प्रयास का अभ्यास योगिगण करते हैं, उस समय योगियों में वह उत्कृष्ट धर्म बढ़ने लगता है, जिसका प्रभाव हम

न्यायकन्दली

तद्गुणत्वादिषु, सम्बद्धविशेषणभावेन समवायाभावयोर्ज्ञानं जनयति । दृष्टं तावत् समाहितेन मनसाऽभ्यस्यमानस्य विद्याशिल्पादेरज्ञातस्यापि ज्ञानम् । तदितरत्रानुमानम् । आत्माकाशादिष्वभ्यासप्रचयस्तत्त्वज्ञानहेतुः, विशिष्टाभ्यासत्वाद् विद्याशिल्पाद्यभ्यासवत् । तथा बुद्धेस्तारतम्यं क्वचिन्निरतिशयं सातिशयत्वात् परिमाणतारतम्यवत् ।

ननु सन्ताप्यमानस्योदकस्यौष्ण्ये तारतम्यमस्ति, न च तस्य सर्वातिशायी वह्निरूपतापत्तिलक्षणः प्रकर्षो दृश्यते । नापि लङ्घनाभ्यासस्य क्वचिद् विश्रान्तिरवगता, न सोऽस्ति पुरुषो यः समुत्प्लवेन भुवनत्रयं लङ्घयति । उच्यते—यः स्थिराश्रयो धर्मः स्वाश्रये च विशेषमारभते, सोऽभ्यासः क्रमेण प्रकर्षपर्यन्तमासादयति । यथा कधौतस्य पुटपाकप्रबन्धाहिता शुद्धिः परां रक्तसारताम् । न चोदकतापस्य स्थिर आश्रयो यत्रायमभ्यस्यमानः परां काष्ठां गच्छेत्,

साधारण जनों की चिन्ता के भी बाहर है । उस धर्म के बल से अन्तःकरण उनके शरीर से बाहर होकर दूसरों की आत्मा प्रभृति वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होता है । (दूसरों की आत्मा में) अन्तःकरण के संयोग से दूसरी आत्मा का एवं (उसी संयोग से युक्त) संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से उस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले गुणादि का, एवं संयुक्त-समवेतसमवाय सम्बन्ध से उन गुणादि में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले गुणत्वादि धर्मों का, एवं परात्मसम्बद्ध विशेषणतासम्बन्ध से उस आत्मा में रहनेवाले समवाय और अभाव का प्रत्यक्ष योगियों को होता है । क्योंकि पूर्व से सर्वथा अज्ञात विद्या एवं शिल्पादि ज्ञान का भी समाधि युक्त मन के द्वारा अभ्यास करने पर योगियों को होता है । इस प्रसङ्ग में इससे यह अनुमान फलित होता है कि जिस प्रकार विशेष प्रकार के अभ्यास से योगियों को विद्या- शिल्पादि का ज्ञान देखा जाता है, उसी प्रकार विशेष प्रकार के अभ्यास के कारण उनको आकाश एवं दूसरे की आत्मा प्रभृति अतीन्द्रिय विषयों का भी प्रत्यक्ष होता है । एवं इसी प्रसङ्ग में यह दूसरा अनुमान प्रयोग भी है कि जैसे परिमाण के आधिक्य का विश्राम आकाश में एवं परिमाण की न्यूनता का विश्राम परमाणुओं में होता है, उसी प्रकार बुद्धि की विशदता का भी कहीं विश्राम अवश्य होगा (वह आश्रय योगियों और परमेश्वर की बुद्धि ही है) । (प्र.) आग पर चढ़े हुए जल की गर्मी में न्यूनाधिक भाव देखा जाता है, किन्तु उसके आधिक्य की पराकाष्ठ–जो प्रकृत में जल का आग में परिवर्तित हो जाना ही है–नहीं देखा जाता । एवं यह भी नियम नहीं है कि सभी की चरम विश्रान्ति हो ही, क्योकि लङ्घन (कूदना) के अभ्यास की चरम परिणति नहीं देखी जाती । कोई भी पुरुष ऐसा उपलब्ध नही है, जो कूदकर तीनों भुवनों को लाँघ सके । (अतः उक्त अनुमान ठीक नहीं है) । (उ.) इसके उत्तर में कहना है कि स्थिर आश्रय में रहनेवाला जो धर्म है, वही अपने आश्रय में वैशिष्ट्य का सम्पादन कर सकता है, और उसी का अभ्यास क्रमशः चरम सीमा

न्यायकन्दली

अत्यन्ततापे सत्युदकपरिक्षयात् । नापि लङ्घनाभ्यासस्य स्वाश्रये विशेषाधायकत्वमस्ति, निरन्वयविनष्टे पूर्वलङ्घने लङ्घनान्तरस्य बलान्तरात् प्रयत्नान्तरादप्यपूर्वस्युत्पत्तेः । अत एव त्रिचतुरोत्प्लवपरिश्रान्तस्य लङ्घनं पूर्वस्मादपचीयते, सामर्थ्यपरिक्षयात् । बुद्धिस्तु स्थिराश्रया स्वाश्रये विशेषमाधत्ते, प्रथममगृहीतार्थस्य पुनः पुनरभ्यस्यमानस्य ग्रहणदर्शनात् । तस्याः पूर्वपूर्वाभ्यासाहिताधिकाधिकोत्तरोत्तरविशेषाधानक्रमेण दीर्घकालादरनैरन्तर्येण सेविताया योगजधर्मानुग्रहसमासादितशक्तेः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तिर्नानुपपत्तिमती ।

यत् पुनरत्रोक्तम्, योगिनोऽतीन्द्रियार्थद्रष्टारो न भवन्ति, प्राणित्वात्, अस्मदादिवत्; तद्यदि पुरुषमात्रं पक्षीकृत्योक्तं तदा सिद्धसाधनम्, पुरुषविशेषश्च परस्यासिद्धः, सिद्धश्चेद्धर्मिग्राहकप्रमाणविरुद्धमनुमानम् ।

अथोच्यते—प्रसङ्गसाधनमिदम्, प्रसङ्गसाधनं च न स्वपक्षसाधनायोपादीयते, किन्तु परस्यानिष्टापादनार्थम् । परानिष्टं च तदभ्युपगमसिद्धैरेव धर्मादिभिः

तक हो सकता है । जैसे सुवर्ण में पुटपाक से आनेवाली शुद्धता स्वर्ण के पूर्ण रक्त वर्ण होने तक जाती है । जल की गर्मी का कोई स्थिर आश्रय नहीं है, जहाँ किया गया उसका अभ्यास चरम सीमा तक हो सके; क्योंकि अत्यन्त ताप के बाद तो जल का नाश ही हो जाता है । इसी तरह लङ्घन के अभ्यास में भी वह सामर्थ्य नहीं है,जिससे कि कूदनेवाले में कूदने की विशेष क्षमता को उत्पन्न कर सके, क्योंकि एक लङ्घन के पूर्ण विनष्ट हो जाने पर ही दूसरे लङ्घन की उत्पत्ति दूसरे बल और प्रयत्न से होती है । यही कारण है कि तीन-चार बार कूदने के बाद कूदनेवाले का सामर्थ्य घट जाने के कारण आगे का कूदना कुछ न्यून ही हो जाता है; किन्तु बुद्धि का आश्रय तो स्थिर है, अतः अभ्यास के द्वारा अपने आश्रय में वह 'विशेष' का आधान कर सकती है, क्योंकि देखा जाता है कि जो विषय पूर्ण अज्ञात रहता है, अभ्यास से उसका भी विशेष प्रकार का ज्ञान होता है । अतः योगजनित धर्म के अनुग्रह से विशेष शक्तिशालिनी बुद्धि के प्रकर्ष की अत्यन्त उत्कृष्ट परिणति होने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि वह उसके पहले-पहले के अभ्यास से आगे-आगे के ज्ञानों में विशेष का आधान करती रहती है, यदि बहुत दिनों तक बिना बीच में छोड़े हुए आदरपूर्वक उसकी सेवा की जाय ।

जो सम्प्रदाय (मीमांसक लोग) यह अनुमान उपस्थित करते हैं कि (प्र.) योगीगण भी हमलोगों की तरह प्राणी हैं, अतः वे भी अतीन्द्रिय विषयों को नहीं देख सकते । (उ.) उनसे इस प्रसङ्ग में पूछना है कि इस अनुमान में सभी पुरुष पक्ष हैं या विशेष प्रकार के पुरुष ? यदि सभी पुरुषों को पक्ष करें तो उक्त अनुमान में सिद्धसाधन

शक्यमापादयितुम् । तत्र प्रमाणेन स्वप्रतीतिरनपेक्षणीया, न ह्येवं परः प्रत्यवस्थातुमर्हति 'तवासिद्धा धर्मादयो नाहं स्वसिद्धेष्वपि तेषु प्रतिपद्ये' इति ।

अत्र ब्रूमः—किं प्रसङ्गसाधनमनुमानं तदन्यद्वा ? यद्यन्यत् व्याप्युक्तलक्षणेषु प्रमाणेष्वन्तर्भावो वर्णनीयः, वक्तव्यं वा लक्षणान्तरम् । यदि त्वनुमानमेव, तदा स्वप्रतीतिपूर्वकमेव प्रवर्त्तते, स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पिपादयिषया सर्वस्य परार्थानुमानस्य प्रवृत्तेः । अन्यथा गगनकमलं सुरभि, कमलत्वात्, क्रीडासरःकमलव-

दोष होगा, क्योंकि सभी पुरुषों को अतीन्द्रिय अर्थों का द्रष्टा तो कोई भी नहीं मानता । यदि विशेष प्रकार के पुरुष में अतीन्द्रियार्थ दर्शन के अभाव की सिद्धि करना चाहते हैं, तो फिर इसमें आपके मत से पक्षासिद्धि होगी, क्योंकि पक्ष का उसके असाधारण धर्म के साथ निश्चित रहना अनुमान के लिए आवश्यक है । मीमांसकों के मत में 'विशेष प्रकार के पुरुष' सिद्ध नहीं हैं । यदि उनकी सिद्धि करना चाहेंगे, तो उस (धर्मितावच्छेदकविशिष्ट) धर्मी के ग्राहक प्रमाण से ही योगियों में अतीन्द्रियार्थ दर्शनरूप 'विशेष' की भी सिद्धि हो जाएगी, जिससे उक्त अनुमान बाधित हो जाएगा । यदि यह कहें कि (प्र.) (उक्त अनुमान तो) प्रसङ्ग (आपत्ति) साधन के लिए है । प्रसङ्ग के साधन का उपन्यास तो दूसरों के मत के खण्डन के लिए ही किया जाता है, अपने मत के साधन के लिए नहीं, दूसरों (प्रतिपक्षी) के अनभिमत धर्मों की आपत्ति तो उनके मत से सिद्ध धर्मादि के द्वारा भी दी जा सकती है । यह आवश्यक नहीं है कि जिसकी आपत्ति देनी है, उसके विषयों को अपने मत के अनुसार प्रमाणों के द्वारा भी सिद्ध होना ही चाहिए; क्योंकि प्रतिपक्षी यह आरोप कर ही नहीं सकते कि तुम्हारे मत के अनुसार जिन धर्मों की उपपत्ति नहीं हो सकती, उन धर्मों की केवल अपने मत से सिद्ध पदार्थों में प्रतीति मुझे नहीं होती ।

(उ) इस प्रसङ्ग में हम (सिद्धान्तियों) लोगों का कहना है कि जिसे आप 'प्रसङ्गसाधन' कहते हैं, वह अनुमान ही है या और कुछ ? यदि अनुमान नहीं है, तो फिर कथित प्रमाणों में ही उसका अन्तर्भाव करना होगा या फिर इसके लिए कोई दूसरा ही लक्षण करना पड़ेगा ? यदि अनुमान ही है, तो फिर पहिले उसके विषयों का ज्ञान अवश्य चाहिए; क्योंकि इस स्वज्ञान के द्वारा ही अनुमान की उत्पत्ति होती है । सभी परार्थानुमानों में इच्छा से ही प्रवृत्ति होती है । जो कोई भी परार्थानुमान में प्रवृत्त होता है, सबकी यही इच्छा रहती है कि मेरे सदृश ज्ञान का उत्पादन बोद्धा में हो । अन्यथा (यदि पक्षतावच्छेदक रूप से पक्ष का उभयसिद्ध ज्ञान न रहने पर भी अनुमान प्रमाण हो तो) यदि कोई परार्थानुमान का प्रयोग करनेवाला पुरुष कमल की उत्पत्ति गगन में मानकर इस अनुमान का प्रयोग करे कि गगन का कमल सरोवर के कमल की तरह ही सुगन्धित है, क्योंकि वह भी कमल है, तो इसे भी प्रमाण मानना पड़ेगा। (अतः 'योगिनो अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो न भवन्ति'

न्यायकन्दली

दित्यस्यापि प्रतिपादकाभ्युपगतसिद्धाश्रयस्य प्रामाण्योपपत्तिः । सन्दिग्धव्याप्तयश्च प्राणित्वादयः । यदि विवादाध्यासितस्य पुरुषधौरेयस्य प्राणित्वादिकमपि भवेत् सर्वज्ञत्वमपि स्यात्, कैवात्रानुपपत्तिः ? नहि तयोः कश्चिद् विरोधः प्रतीक्षितः, सर्वज्ञताया प्रमाणान्तरागोचरत्वात् । प्राणित्वादेरसर्वज्ञतया सहभावस्तु सन्दिग्धः, किमस्मदादीनां प्राणित्वाद्यनुबन्धिनीयमसर्वज्ञता ? किं वा सर्वज्ञानकारणत्वेनावगतस्य योगजधर्मस्याभावकृतेति न शक्यते निर्धारयितुम् । अतोऽनवधारितव्याप्तिकं प्राणित्वादिकम्, न तदनुमानसमर्थम् । अतीन्द्रियज्ञानकारणं योगजो धर्म इति न सिद्धम्, कुतस्तदभावादस्मदादीनामसर्वज्ञता शङ्क्येत, अस्माकं तावत्सिद्धं तेनेदमाशङ्क्यते ततश्च नोभयसिद्धा व्याप्तिः, कुतोऽनुमानम् ?

युक्तानां प्रत्यक्षं व्याख्याय वियुक्तानां व्याचष्टे–वियुक्तानां पुनरिति । **अत्यन्तयोगाभ्यासोपचितधर्मातिशया असमाध्यवस्थिता अपि येऽतीन्द्रियं**

इत्यादि अनुमान प्रमाण नहीं हो सकते) । दूसरी बात यह है कि इस अनुमान के प्राणित्वादि हेतु में व्याप्ति सन्दिग्ध है (निश्चित नहीं, प्राणी सर्वज्ञ न हो, इसका कोई निश्चय नहीं है) । अतः पुरुष श्रेष्ठ (योगी) प्राणी भी हो सकते हैं और सर्वज्ञ भी हो सकते हैं, इसमें कौन-सी अनुपपत्ति है ? क्योंकि प्राणित्व और सवर्ज्ञत्व इन दोनों में कोई परस्पर विरोध पहिले से निश्चित नहीं है । (आपके मत से) सर्वज्ञता किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध नहीं है । हम लोगों की तरह प्राणियों में जो प्राणित्व और असर्वज्ञत्व दोनों का सहभाव देखा जाता है, उससे यह निश्चय नहीं कर सकते कि हम लोग प्राणी हैं, इसीलिए असर्वज्ञ हैं या हम लोगों में योग से उत्पन्न होनेवाला और सर्वज्ञता को उत्पन्न करनेवाला वह उत्कृष्ट धर्म नहीं है, इस कारण असर्वज्ञ हैं । अतः कथित प्राणित्व हेतु–जिसमें कि असर्वज्ञता की व्याप्ति निश्चित नहीं है–उक्त अनुमान का सम्पादन नहीं कर सकता । 'योग से उत्पन्न धर्म के द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान उत्पन्न होता है' यह आपके मत से निश्चित नहीं है, अतः आप किस प्रकार यह आशङ्का करते हैं कि हम लोगों में चूँकि योगज धर्म नहीं है,अतः हम लोग असर्वज्ञ हैं । एवं हम लोगों को यह निश्चित है कि 'योग-जनित धर्म के ज्ञान से अतीन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति होती है' अतः हम लोगों की यह शङ्का ठीक है कि 'हम लोगों में चूँकि योगज उत्कृष्ट धर्म नहीं है, अतः हम लोग असर्वज्ञ हैं' अतः आपके हेतु में अन्वय और व्यतिरेक दोनों से ही व्याप्ति असिद्ध है, अतः उससे अनुमान किस प्रकार हो सकता है ?

युक्त योगियों के प्रत्यक्ष के बाद 'वियुक्त' योगियों के प्रत्यक्ष की व्याख्या 'वियुक्तानां पुनः' इत्यादि ग्रन्थ से की गयी है । वे ही 'वियुक्तयोगी' हैं जो समाधि अवस्था में न होते हुए भी अत्यन्त योगाभ्यास के कारण अतीन्द्रिय वस्तुओं को भी देख सकते हैं । उन्हें 'चतुष्टयसंनिकर्ष' अर्थात् आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय इन चार वस्तुओं के संनिकर्ष से योगजधर्म के अनुग्रह से प्राप्त विशेष सामर्थ्य के द्वारा

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्, प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः, प्रमातात्मा, प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम् ।

जिस समय सत्तारूप (सामान्य) एवं (द्रव्यत्वादिरूप) विशेष विषयों का स्वरूपालोचन (निर्विकल्पक) ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है, (उस समय) द्रव्यादि पदार्थ प्रमेय हैं । आत्मा प्रमाता है । द्रव्यादि-विषयक

न्यायकन्दली

पश्यन्ति ते वियुक्ताः, तेषामभिमुखीभूतनिखिलविषयग्रामाणामप्रतिहतकारणगणानां चतुष्टयसन्निकर्षादात्ममनइन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् योगजधर्मानुग्रहसहकारितात् तत्सामर्थ्यात् सूक्ष्मेषु **मनः परमाणुप्रभृतिषु** व्यवहितेषु **नागभुवनादिषु** विप्रकृष्टेषु **ब्रह्मभुवनादिषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते ज्ञानम् ।**

एवं तावद्व्याख्यातं प्रत्यक्षम्, सम्प्रति प्रमाणफलं विभजते—तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षमिति । **सामान्यं सत्ता, द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिकं विशेषा व्यक्तयः, तेषु स्वरूपालोचनमात्रं स्वरूपग्रहणमात्रं विकल्परहितं प्रमाणम्, प्रमायां साधकतमत्वात् । साधकतमत्वं च तस्मिन् सति प्रमित्सोर्भवत्येवेत्यतिशयः, प्रमातरि प्रमेये च सति प्रमा भवति, न तु भवत्येव, प्रमाणे तु निर्विकल्पके**

अपने सामने की सभी वस्तुओं और उनके सभी कारणों का एवं 'सूक्ष्म विषयों' का अर्थात् मन एवं परमाणु प्रभृति विषयों का, एवं 'व्यवहित विषयों' का अर्थात् नागलोकादि का, एवं 'विप्रकृष्ट' विषयों का अर्थात् ब्रह्मलोक प्रभृति का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष की व्याख्या हो गयी । अब 'तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्रं प्रत्यक्षम्' इत्यादि से प्रत्यक्ष प्रमाण कौन है ? और उस (करण) का फल कौन है ? इसका विभाग करते हैं । (उक्त वाक्य के) 'सामान्य' शब्द से सत्ता, द्रव्यत्व, कर्मत्व प्रभृति को समझना चाहिए । 'विशेष' शब्द से (उक्त सामान्य के आश्रय) व्यक्तियों को समझना चाहिए । इन सबों में 'स्वरूपालोचनमात्र, अर्थात् स्वरूप का ग्रहणमात्र फलतः निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि प्रकृत में वही (उन विषयों के सविकल्पक ज्ञानरूप) प्रमा का सबसे निकट साधक (साधकतम) है । वह साधकतम इसलिए है कि उसके रहने पर उक्त प्रमाज्ञान के इच्छुक पुरुष को उक्त सविकल्पक ज्ञानरूप प्रमा अवश्य होती है । प्रमा के और करणों से उसमें यही 'विशेष' है । प्रमाता, प्रमेय प्रभृति साधनों के रहते हुए भी प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति

प्रशस्तपादभाष्यम्

सामान्यविशेषज्ञानोत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्,

प्रत्यक्ष ज्ञान ही (उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण की फलरूप) प्रमिति है । जिस समय उक्त (सत्तारूप) सामान्य और (द्रव्यत्वादि) विशेष विषयक निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमितिरूप से (फलरूप से) इष्ट हो, उस समय ('आलोच्यते ज्ञायते अर्थोऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार) केवल 'आलोचन' अर्थात् (ज्ञान से

न्यायकन्दली

विशेषणज्ञानादिलक्षणे विशेष्यज्ञानादिलक्षणा प्रमा भवत्येवेत्यतिशयः । प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः, **द्रव्यादयश्चत्वारः पदार्थाः प्रमेयाः प्रमितिविषयाः प्रमितौ जातायां तेषु हानादिव्यवहारः प्रवर्त्तत इत्यर्थः** । प्रमाता आत्मा, **बोधाश्रयत्वात्** । प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम्, **यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं प्रमाणम्, तदा द्रव्यादिविषयं विशिष्टं ज्ञानं प्रमितिरित्यर्थः । यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानमपि प्रमारूपमर्थ-प्रतीतिरूपत्वात्, तदा** तदुत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्रं प्रत्यक्षम् । **आलोच्यतेऽनेनेत्यालोचनमिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्तन्मात्रम्** । अविभक्तं **केवलं ज्ञानानपेक्षमिति यावत् । सामान्यविशेषज्ञानोत्पत्तौ प्रमाणम्, विशेष्यज्ञानोत्पत्तावपीन्द्रियार्थसन्निकर्षः**

यद्यपि होती है, किन्तु होती ही नहीं है । विशेषणज्ञान रूप निर्विकल्पक ज्ञान के रहने पर (विशेषणविशिष्ट) विशेष्य ज्ञानरूप प्रमा अवश्य होती है, अतः वही प्रमाण (अर्थात् प्रमा का साधकतम) है । यही और कारणों से इसमें 'विशेष' है । 'प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः' अर्थात् द्रव्यादि (द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य ये) चार पदार्थ प्रत्यक्ष के 'प्रमेय' हैं, अर्थात् प्रमाज्ञान के विषय हैं । अभिप्राय यह है कि (उक्त विशिष्ट) प्रमाज्ञान के होने पर ही हानोपानादि के व्यवहार होते हैं । आत्मा प्रमा ज्ञान का आश्रय है, अतः वह 'प्रमाता' है । प्रमिति है द्रव्यादिविषयक ज्ञान । अभिप्राय यह है कि जिस समय सामान्य और विशेष का निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण है, उस समय द्रव्यादि विषयक विशिष्ट (सविकल्पक) ज्ञान ही फलरूपा प्रमिति है । जिस सामान्य और विशेष विषयक निर्विकल्पक ज्ञान को ही अर्थ की प्रतीतिरूप होने के कारण (फलरूप) प्रमा मानते हैं, उस समय उस प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति में 'अविभक्त आलोचन मात्र' ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । 'आलोच्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस वाक्य के 'आलोचन' शब्द का अर्थ है इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष । 'तन्मात्रमविभक्तम्' अर्थात् ज्ञान से अनपेक्ष केवल इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही सामान्य विशेषविषयक (निर्विकल्पक ज्ञान का उत्पा-

प्रशस्तपादभाष्यम्

अस्मिन्नान्यत् प्रमाणान्तरमस्ति, अफलरूपत्वात् ।

अनपेक्ष) इन्द्रिय और अर्थ का सम्प्रयोग ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि वहाँ ज्ञानादि कोई दूसरा प्रमाण उपस्थित नहीं है । एवं यह ज्ञान निर्विकल्पक होने के कारण किसी ज्ञानरूप प्रमाण का फल भी नहीं है, इस हेतु से भी उक्त निर्विकल्पक ज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमिति के पक्ष में उक्त आलोचनरूप इन्द्रिय और अर्थ का सम्प्रयोग ही प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

न्यायकन्दली

प्रमाणं भवत्येव प्रमाहेतुत्वात्, किन्तु विशेषणज्ञानसहकारितया न केवलः, सामान्यविशेषज्ञानोत्पत्तौ तु ज्ञानानपेक्षः केवल एवेत्यभिप्रायः । सन्निकर्षमात्रमिह प्रमाणं न ज्ञानमित्यत्रोपपत्तिमाह—न तस्मिन्निति ।

सामान्यविशेषज्ञाने नान्यत् प्रमाणं ज्ञानरूपमस्ति सामान्यविशेषज्ञानस्याफलरूपत्वात् ज्ञानफलत्वाभावात् । विशेष्यज्ञानं हि विशेषणज्ञानस्य फलम्, विशेषणज्ञानं न ज्ञानान्तरफलम्, अनवस्थाप्रसङ्गात् । अतो विशेषणज्ञाने इन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्रमेव प्रमाणमित्यर्थः । यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं फलं तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणम्, यदा विशेष्यज्ञानं फलं तदा सामान्यविशेषालोचनं

दक करण) प्रमाण है (अर्थात् जिस समय निर्विकल्पक ज्ञान फल रूप है, उस समय इन्द्रियार्थ संनिकर्ष प्रमाण है) । विशेष्य (विशिष्ट) ज्ञान की उत्पत्ति में भी इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष उक्त ज्ञान का कारण होने से (यद्यपि) प्रमाण है ही, फिर भी विशिष्ट ज्ञानरूप कार्य के उत्पादन के लिए उसे विशेषण ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) की भी अपेक्षा होती है, अतः केवल वही विशिष्ट ज्ञान का करण (प्रमाण) नहीं है । किन्तु सामान्य विशेषज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) के उत्पादन में उसे दूसरे किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, अतः वहाँ वह 'केवल' अर्थात् ज्ञान से अनपेक्ष होकर (प्रमा का उत्पादक करण) प्रमाण है । 'न तस्मिन्' इत्यादि ग्रन्थ से यह उपपादन करते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञानरूप प्रमा के उत्पादन में केवल इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही क्यों करण है ? कोई ज्ञान उसका करण क्यों नहीं है ? अभिप्राय यह है कि कोई ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञानरूप प्रमा का उत्पादक करण (प्रमाण) नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान 'अफल रूप है' अर्थात् किसी ज्ञान का फल नहीं हैं । विशिष्ट ज्ञान (विशेष्य ज्ञान) तो विशेषण ज्ञान (निर्विकल्पकज्ञान) का फल है, किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान (विशेषण ज्ञान) किसी ज्ञानरूप करण का फल नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था हो जाएगी । यही कारण है निर्विकल्पक (विशेषण) प्रमा का, इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही केवल करण है । फलितार्थ यह है कि जिस समय निर्विकल्पकरूप सामान्य और विशेष का ज्ञान फल है, उस समय इन्द्रिय और अर्थ का संनिकर्ष ही केवल प्रमाण है, एवं जिस समय विशेष्य

प्रशस्तपादभाष्यम्

अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षादवितथमव्यपदेश्यं

अथवा आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ इन चारों के (तीन) सम्प्रयोग से जिस किसी भी वस्तुविषयक अव्यपदेश्य अर्थात् शब्दाजन्य यथार्थ ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। एवं द्रव्यादि पदार्थ (इस प्रमाण के) प्रमेय हैं। एवं आत्मा प्रमाता है।

न्यायकन्दली

प्रमाणमित्युक्तं तावत्। सम्प्रति हानादिबुद्धीनां फलत्वे विशेष्यज्ञानं प्रमाणमित्याह— अथवेति। सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षात् **चतुष्टयग्रहणमुदाहरणार्थम्। द्वयसन्निकर्षात् त्रयसन्निकर्षा**दवितथं **संशयविपर्ययरहित**मव्यपदेश्यं **व्यपदेशे भवं व्यपदेश्यं न व्यपदेश्यमव्यपदेश्यं शब्दाजन्यं यद् विज्ञानं जायते** तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्। **संशयो ह्यनवस्थितोभयधर्मतया पदार्थमुपदर्श्य व्यवस्थितैकधर्माणं प्रापयति, अन्यथाध्यवसायो वितथ एवेत्यवितथपदेन व्युदस्यन्ति। अव्युत्पन्नस्य सन्निहितेऽर्थे व्याप्रियमाणे चक्षुषि शब्दश्रवणानन्तरं यद् गौरिति ज्ञानं जायते, तत्राक्षमपि कारणम्, अन्यथा रेखोपरेखत्वादिविशेषप्रतीत्ययोगात्।**

(विशिष्ट) ज्ञान ही फलरूप से अभिप्रेत है, उस समय सामान्य और विशेष का आलोचन (निर्विकल्पक) ज्ञान ही प्रमाण है।

'अथवा' इत्यादि ग्रन्थ से अब यह कहते हैं कि हानादि बुद्धि को अगर फल मानें, तो विशिष्ट ज्ञान ही प्रमाण है। 'सर्वपदार्थेषु चतुष्टयसंनिकर्षात्' इस वाक्य में 'चतुष्टय' पद का प्रयोग केवल उदाहरण दिखाने के लिए है, अतः दो के संनिकर्ष से या तीन के संनिकर्ष से भी उत्पन्न 'अवितथ' अर्थात् संशय और विपर्यय से भिन्न 'अव्यपदेश्य' (अर्थात् 'व्यपदेशे भवं व्यपदेश्यम्, न व्यपदेश्यमव्यपदेश्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार) शब्द से अनुत्पन्न उक्त प्रकार का ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जिन दो रूपों से संशय के द्वारा एक ही विषय उपस्थित होता है, बाद में उनमें से एक रूप से निश्चित अर्थ की प्राप्ति का प्रयोजक होने से उपादान बुद्धिरूप प्रमिति के करणरूप संशय प्रमाण कोटि में यद्यपि आ सकता है, किन्तु संशय उस एक वस्तु को भी अनिश्चितरूप से ही उपस्थित करता है, इस प्रकार संशय 'वितथ' ही है, अवितथ नहीं। 'अन्यथाध्यवसाय' अर्थात् विपर्यय तो वितथ ही है। इस प्रकार 'अवितथ' पद से संशय और विपर्ययरूप सभी मिथ्या ज्ञानों की व्यावृत्ति होती है। (गो में गोशब्दवाच्यत्व विषयक ज्ञानरूप) व्युत्पत्ति जिस पुरुष को नहीं है, उसका चक्षु जिस समय गोरूप पिण्ड में व्यापृत रहता है, उसी समय 'अयं गौः' इस वाक्य के द्वारा जो उसे 'गौः' इस प्रकार का शब्दज्ञान होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिए ही 'अव्यपदेश्य' पद दिया गया है। इस ज्ञान के प्रति यद्यपि चक्षु भी कारण है, यदि ऐसा न हो तो उस व्यक्ति को गो की छोटी बड़ी रेखाओं का ज्ञान न हो सकेगा, फिर भी वह ज्ञान

प्रशस्तपादभाष्यम्

यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्, प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः, प्रमातात्मा, प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति ।

एवं उन विषयों में उपादेयत्व या हेयत्व अथवा उपेक्षा की बुद्धि ही प्रमिति है ।

न्यायकन्दली

न च तत् प्रत्यक्षम्, अनन्तरभाविनः शब्दस्यैव तदुत्पत्तौ साधकतमत्वादिन्द्रियस्यापि तत्सहकारितामात्रत्वात् । तथापि पृष्टो व्यपदिशति—अनेन समाख्यातम्, न पुनरेव-मभिधत्ते प्रत्यक्षो मया प्रतीतं गौरयमिति, तस्य व्यवच्छेदार्थमुक्तमव्यपदेश्यमिति ।

प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनम् । **गुणदर्शनमुपादेयत्वज्ञानम्, दोषदर्शनं हेयत्व-ज्ञानमुः, माध्यस्थ्यदर्शनं न हेयं नोपादेयमिति ज्ञानं प्रमितिः, पदार्थस्वरूपबोधे सत्युप-कारादिस्मरणात् । सुखसाधनत्वादिविनिश्चये सत्युपादेयादिज्ञानं भवत् पदार्थस्वरूपबोध-स्यैव फलं भवति, सुखस्मरणादीनामवान्तरव्यापारत्वात् । यथोक्तम्—**

"अन्तराले तु यस्तत्र व्यापारः कारकस्य सः"॥ इति ।

प्रत्यक्षरूप नहीं है, क्योंकि शब्द ही उस प्रमा का 'साधकतम' करण है, इतना ही विशेष है कि इन्द्रिय भी उस ज्ञान का सहकारिकारण है । इसीलिए पूछने पर वह व्यक्ति यह कहता है कि 'उसने कहा है कि यह गो है' वह यह नहीं कहता, मैंने प्रत्यक्ष के द्वारा देखा है कि 'यह गो है' ।

'प्रमितिर्गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनम्' । 'यह ग्रहण के योग्य है' इस आकार का (उपादेयत्व) ज्ञान ही 'गुणदर्शन' है । 'यह त्याग के योग्य है' इस प्रकार का (हेयत्व) ज्ञान ही 'दोषदर्शन' है । 'न इसके लेने से कुछ होगा न छोड़ने से' इस प्रकार का ज्ञान ही 'माध्यस्थ्यदर्शन' है । ये ज्ञान ही (विशिष्ट ज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न होनेवाली) प्रमितियाँ हैं, क्योंकि उक्त हेयत्व या उपादेयत्व का ज्ञान पदार्थ के स्वरूप विषयक बोध (विशिष्टज्ञान) का ही फल है, सुख के स्मरण का नहीं, क्योंकि सुखादि की स्मृतियाँ तो बीच के व्यापार हैं । (विशिष्ट ज्ञान से हेयत्वादि ज्ञान के उत्पादन का यह क्रम है कि) पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) होने पर उस ज्ञान के विषय में 'यह सुख (या दुःख) का साधन है' इस आकार का निश्चय उत्पन्न होता है । इसके बाद उन विषयों में उपादेयत्व (या हेयत्व) की बुद्धि उत्पन्न होती है । (उपादेयत्वादि का ज्ञान उक्त विशिष्ट ज्ञान का ही फल है, सुखादि स्मरण का नहीं) । जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि (कार्य के लिए करण की प्रवृत्ति के बाद और कार्य की उत्पत्ति से पहिले इस) मध्य में जो उत्पन्न होता है, वह तो कारक (करण) का (कार्योत्पादन में सहायक) व्यापार है (स्वयं कारक नहीं है, अतः करण भी नहीं है) ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम् ।

हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान ही 'लैङ्गिक' ज्ञान (अनुमिति) है ।

न्यायकन्दली

अन्ये त्वेवमाहुः—यदर्थस्य सुखसाधनत्वज्ञानं तद् गुणदर्शनम्, उपादेयत्वज्ञानमपि तदेव । यद् दुःखसाधनत्वज्ञानं तद् दोषदर्शनं हेयत्वज्ञानमपि तदेव । यच्च न सुखसाधनं न च दुःखसाधनमेतदिति ज्ञानं तन्माध्यस्थ्यं न हेयं नोपादेयमिति ज्ञानं प्रमितिः । पदार्थस्वरूपबोधे सत्युपकारादिस्मरणात् सुखसाधनत्वादिविनिश्चये सत्युपादेयादिज्ञानं भवत् पदार्थस्वरूप-बोधस्यैव फलं भवति, सुखस्मरणादीनामुपेक्षाज्ञानमपि तदेव । सर्वं चैतदभ्यासपाटवोपेतस्य व्याप्तिस्मरणमनपेक्षमाणस्य वस्तुस्वरूपग्रहणमात्रादेवाननुसंहितलिङ्गस्यापरोक्षावभासित-योत्पादादभ्यासपाटवसहकारिणः प्रत्यक्षस्य फलमिति ।

लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम् । **दर्शनशब्द उपलब्धिवचनो न चाक्षुषप्रतीतिवचनः, अनुमितानुमानस्यापि सम्भवात् । लिङ्गदर्शनाल्लिङ्गविषयः संस्कारो जायते; किन्त्वस्य न परिग्रहः, बुद्ध्यधिकारेण विशेषितत्वात् । संशब्देन सम्यगर्थवाचिना संशयविपर्ययस्मृतीनां व्युदासः । लिङ्गस्य**

कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि (घटादि) अर्थों का 'इससे सुख मिलता है' इस आकार का जो (सुखसाधनत्व) का ज्ञान होता है, वही गुणदर्शन है, एवं 'उपादेयत्व का ज्ञान' भी वही है । एवं (कण्टकादि) विषयों का जो 'इससे दुःख मिलता है, इस आकार का (दुःखसाधनत्व) का ज्ञान होता है, वही 'दोषदर्शन' है, एवं 'हेयत्वज्ञान' भी वही है । हवा में उड़ते हुए (पत्ते प्रभृति) विषयों में जो 'इससे न सुख ही मिलेगा न दुःख ही' इस आकार का ज्ञान होता है, उसी को 'माध्यस्थ्य दर्शन' कहते हैं । (उपादेयत्वादि के) ये सभी ज्ञान चूँकि अपने विषयों को अपरोक्षरूप से ही प्रकाशित करते हैं और इनकी उत्पत्ति में (अनुमिति के प्रयोजक) लिङ्गदर्शन एवं व्याप्ति स्मरणादि की भी अपेक्षा नहीं होती है, अतः ये (सविकल्पक) प्रत्यक्षरूप प्रत्यक्ष प्रमाण के ही फल हैं । इतना अवश्य है कि इन ज्ञानों के उत्पन्न होने में अभ्यास जनित पटुता भी अपेक्षित होती है, अतः वह भी उन प्रमितियों का सहकारिकारण है ।

'लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ केवल चक्षु से उत्पन्न ज्ञान ही नहीं है, किन्तु सभी ज्ञान या उपलब्धि उसके अर्थ हैं, क्योंकि अनुमान के द्वारा ज्ञात हेतु से भी अनुमान होता है (अर्थात् अनुमितानुमान भी होता है) । यद्यपि (कथित) लिङ्गदर्शन से लिङ्गविषयक संस्कार भी उत्पन्न होता है, (जिससे लिङ्ग की स्मृति उत्पन्न होती है, अतः उसमें अनुमिति का लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा, किन्तु यह बुद्धि (अनुभव) का प्रकरण है, अतः 'प्रकरण' के द्वारा

न्यायकन्दली

दर्शनाज्ज्ञानात् सम्यग् जायमानं लैङ्गिकमिति वाक्यार्थः । तस्य च ज्ञानस्य सम्यग्जातीयस्य यथार्थपरिच्छेदकतयोत्पादः, सर्वधियां यथार्थपरिच्छेदकत्वस्य कुलधर्मत्वात् । संशय-विपर्ययौ तावद्यथासावर्थो न तथा परिच्छिन्तः । स्मृतिरप्यर्थपरिच्छेदिका न भवति, अनुभवपारतन्त्र्यादिति वक्ष्यामः । अन्ये तु विद्याधिकारेण संशयविपर्ययौ व्युदस्यन्ति । अनर्थजायाश्च स्मृतेर्व्युदासार्थं 'तद्धि द्रव्यादिषु पदार्थेषूत्पद्यते' इत्यावर्त्तयन्ति । तदयुक्तम्, वाक्यलभ्येऽर्थे प्रकरणस्यानपेक्षणात्, अनर्थजत्वात्, स्मृतिव्युदासे चातीतानागतविषयस्य लैङ्गिकज्ञानस्यापि व्युदासप्रसङ्गात् ।

'लिङ्गदर्शनात् संजायमानम्' के बाद 'ज्ञानम्' पद का अध्याहार स्वभावतः प्राप्त है । (अतः संस्कार को ज्ञानरूप न होने के कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं है) । ('सञ्जायमानम्' इस पद में प्रयुक्त) 'सम्' शब्द 'सम्यक्' अर्थ में प्रयुक्त है, (अतः 'लिङ्गदर्शन से उत्पन्न 'सम्यक्' ज्ञान ही अनुमान है' ऐसा लक्षण निष्पन्न होने के कारण) संशय, विपर्यय एवं स्मृति इन तीनों की अनुमान से व्यावृत्ति हो जाती है; क्योंकि ये (ज्ञान होते हुए भी) सम्यग् ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान नहीं हैं । सभी सम्यग् ज्ञानों का यह स्वभाव है कि अपने विषयों को उनके यथार्थस्वरूप में उपस्थित करें, चूँकि अपने विषयों को यथार्थरूप में उपस्थित करना सभी (यथार्थ) ज्ञानों का मौलिक धर्म है । संशय और विपर्यय तो अपने विषयों को उसी रूप में उपस्थित नहीं करते जो कि उनका यथार्थस्वरूप है । स्मृति के प्रसङ्ग में हम आगे कहेंगे कि स्मृति चूँकि अनुभव के अधीन है, अतः वह अपने विषयों की परिच्छेदिका नहीं है । (पूर्वानुभव ही स्मृति के विषयों का परिच्छेदक है) । कोई कहते हैं कि यह विद्या (यथार्थ ज्ञान) का प्रकरण है, अतः प्रकरण के बल से बुद्धि विद्यारूप ही होगी, इसी से संशय और विपर्यय इन दोनों की अनुमिति से व्यावृत्ति हो जाएगी । स्मृति में अनुमिति लक्षण की अतिव्याप्ति के लिए वे लोग (प्रत्यक्ष प्रकरण में पठित) 'तद्धि द्रव्यादिषु पदार्थेषूत्पद्यते' इस वाक्य की यहाँ आवृत्ति करते हैं । अतः स्मृति अर्थजनित न होने के कारण अनुमिति के अन्तर्गत नहीं आती । किन्तु ये (दोनों ही बातें) असङ्गत हैं, क्योंकि वाक्य के द्वारा जिस अर्थ का लाभ हो सकता है, उसे प्रकरण की अपेक्षा नहीं होती । एवं अर्थजनित न होने के कारण यदि स्मृति की व्यावृत्ति करें, तो फिर भूत और भविष्य विषयक अनुमान की भी अनुमिति से व्यावृत्ति हो जायगी[1] ।

1. अभिप्राय यह है कि संशय और विपर्यय में अनुमिति लक्षण की अतिव्याप्ति हटानी है । 'सञ्जायमानम्' पद घटक 'सम्' शब्द को सम्यगर्थक मान लेने से भी उक्त

प्रशस्तपादभाष्यम्

लिङ्गं पुनः—

यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥

जो अनुमिति में प्रधानरूप से विषय होनेवाली वस्तु के साथ अर्थात् पक्ष के साथ सम्बद्ध हो (इसे पक्षसत्व कहते हैं), एवं जो साध्यरूप धर्म से युक्त (दृष्टान्त) में यथार्थरूप से ज्ञात हो (इसे सपक्षसत्व कहते हैं), साध्य का न रहना जिसमें निश्चित

न्यायकन्दली

लिङ्गस्य लक्षणमाह—लिङ्गं पुनरिति । **अनुमेयः प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी, तेन यत् सम्बद्धं तस्मिन् वर्तत इत्यर्थः । यथा विपक्षैकदेशे वर्तमानमपि च लिङ्गं विपक्षवृत्ति भवति, एवं पक्षैकदेशे वर्तमानमनुमेयेन सम्बद्धमेव । ततश्चतुर्विधाः परमाणवोऽनित्या गन्धवत्वादित्यस्यापि भागासिद्धस्य हेतुत्वं प्राप्नोतीति चेत् ? न, वैधर्म्यात् । यः साध्यसाधनव्यावृत्तिविषयोऽर्थः, स विपक्षः । साध्यसाधनयोर्व्यावृत्तिर्न समुदितेभ्यः, किन्तु प्रत्येकमेव सम्भवतीति प्रत्येकमेव विपक्षता । पक्षस्तु स भवति यत्र वादिना साध्यो धर्मः प्रतिपादयितुमिष्यते । न च वादिना**

'लिङ्गं पुनः' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा 'लिङ्ग' का लक्षण कहा गया है । ('यदनुमेयेन' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त) अनुमेय' शब्दका अर्थ वह 'धर्मी' है, जिसमें (अनुमान प्रयोग करनेवाले को अपने अभीष्ट वस्तु अर्थात् साध्यरूप) धर्म का प्रतिपादन इष्ट हो । (फलतः प्रकृत में 'अनुमेय' शब्द से पक्ष अभिप्रेत है) 'तेन यत् सम्बद्धम्' उस (पक्ष) में जो विद्यमान रहे (वह हेतु है) । (प्र.) जिस प्रकार विपक्षीभूत किसी एक वस्तु में यदि (हेतु) रहता है,तो वह हेतु 'विपक्षवृत्ति' (हेत्वाभास) हो जाता है, उसी प्रकार किसी एक पक्ष में भी यदि हेतु की सत्ता है, तो फिर वह हेतु 'अनुमेयसम्बद्ध' (पक्षवृत्ति) होगा । (इस वस्तुस्थिति के अनुसार यदि कोई इस अनुमान का प्रयोग करे कि) चारों प्रकार के (अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों द्रव्यों के) परमाणु अनित्य हैं, क्योंकि उन सभी में गन्ध है, तो फिर इस अनुमान का उक्त गन्ध

दोनों अतिव्याप्तियाँ हट सकती हैं । एवं अनुमिति चूँकि विद्यारूप सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में पठित है, अतः लिङ्गदर्शन से उत्पन्न ज्ञान में सम्यक्त्व का लाभ प्रकरण से भी हो सकता है । फलतः अनुमिति लक्षणघटक ज्ञान में सम्यक्त्व विशेषण देने से ही दोनों मतों में संशय और विपर्यय में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है । यह सम्यक्त्व प्रथम पक्ष में वाक्य लभ्य है, दूसरे पक्ष में प्रकरण लभ्य है। प्रकरण की अपेक्षा वाक्य बलवान् है । (देखिए बलाबलाधिकरण) । अतः प्रकरणापेक्षी द्वितीय पक्ष असङ्गत है ।

न्यायकन्दली

पार्थिवपरमाणावेकस्मिन्ननित्यत्वं प्रतिपादयितुमिष्यते, किन्तु चतुर्ष्वपि परमाणुष्विति समुदितानामेव पक्षत्वे स्थितेऽसिद्धवद् भागासिद्धस्यापि व्युदासः, अनुमेयसम्बन्धाभावात् । प्रसिद्धं च तदन्विते इति । **तदिति योग्यत्वात् साध्यधर्मः परामृश्यते** । तदन्विते **साध्यधर्मान्विते सपक्षे** प्रसिद्धं **परिज्ञातमिति विरुद्धासाधारणयोर्व्यवच्छेदः । तदभावे च नास्त्येवेति । अत्रापि तदिति**

हेतु भी पक्षवृत्ति होगा, क्योंकि उन चारों प्रकार के परमाणुओं में से एक पार्थिव परमाणु में वह विद्यमान है, किन्तु वह हेतु तो भागासिद्ध हेत्वाभास है, (अतः 'हेतु' का वह 'अनुमेयसम्बद्धत्व' रूप लक्षण ठीक नहीं है) । (उ.) जिसमें साध्य और हेतु दोनों का अभाव निश्चत हो वही 'विपक्ष' है । यह विपक्षता (विपक्षतावच्छेदकाश्रयीभूत) प्रत्येक विपक्ष व्यक्ति में है । (विक्षतावच्छेदकाश्रयीभूत) सभी विपक्ष व्यक्ति समूह में ही नहीं, (अतः किसी भी विपक्ष व्यक्ति में रहनेवाला हेतु विपक्षवृत्ति होने के कारण भागासिद्ध हेत्वाभास होता है) 'पक्ष' के प्रसङ्ग में सो बात नहीं है, क्योंकि पक्ष वही है जिसमें वादी को साध्य सिद्धि की इच्छा हो, प्रकृत में वादी की यह इच्छा नहीं है कि केवल पार्थिव परमाणु में ही अनित्यत्व की सिद्धि करे, किन्तु वादी की यह इच्छा है कि चारों प्रकार के परमाणुओं में ही अनित्यत्व की सिद्धि करे । तदनुसार उक्त चारों परमाणुओं का समूह ही पक्ष है, तदन्तर्गत एक पार्थिव परमाणु नहीं, अतः जिस प्रकार पक्षाभिमत सभी वस्तुओं में हेतु के न रहने से हेतु (हेतु नहीं रह जाता या) असिद्ध नाम का हेत्वाभास हो जाता है, उसी प्रकार (पक्षान्तर्गत पार्थिव परमाणुरूप पक्ष में गन्धरूप हेतु के रहने पर भी पक्षान्तर्गत जलादि के तीनों परमाणुओं में गन्ध के न रहने से वह हेतु न होकर) भागासिद्ध नाम का हेत्वाभास ही होगा; क्योंकि उसमें पक्षान्तर्गत जलादि परमाणुओं का सम्बन्ध न रहने के कारण पक्षान्तर्गत ही पार्थिव परमाणु का सम्बन्ध रहते हुए भी अनुमेयस्वरूप चारों परमाणुओं के साथ सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार हेतु के लक्षण में 'अनुमेयेन सम्बद्धम्' इस विशेषण से स्पष्ट ही पक्ष में कहीं भी न रहनेवाला हेतु स्वरूपासिद्ध या भागासिद्ध हेत्वाभास होगा ।

'प्रसिद्धञ्च तदन्विते' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तत्' शब्द से साध्यरूप धर्म ही गृहीत होता है, क्योंकि उसी का ग्रहण प्रकृत में उपयोगी है । 'तदन्विते' अर्थात् साध्यरूप धर्म से युक्त अर्थात् 'सपक्ष' में 'प्रसिद्ध' अर्थात् अच्छी तरह से ज्ञात (होना हेतु के लिए आवश्यक है) । (हेतु के इस सपक्षवृत्तित्व रूप लक्षण से) विरुद्ध और असाधारण नाम के हेत्वाभासों में हेतुत्व का व्यवच्छेद होता है, अर्थात् उनमें हेतु लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती ।

'तदभावे च नास्त्येव' इस वाक्य के 'तत्' शब्द से साध्यरूप धर्म का ही ग्रहण करना चाहिए । (तदनुसार) इस वाक्य का यह अर्थ है कि साध्यरूप धर्म का अर्थात् साध्य का अभाव जिन आश्रयों में रहे, उन सभी आश्रयों में जो कदापि न रहे वही (सपक्षवृत्ति

प्रशस्तपादभाष्यम्

विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥

यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितम-

हो, ऐसे आश्रयों में जो कदापि न रहे (इसे विपक्षासत्व कहते हैं), वही (पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व से युक्त) हेतु साध्य का ज्ञापक है । (सपक्षसत्वादि इन तीन) लक्षणों में से एक या दो लक्षणों से भी रहित हेतु को काश्यप ने असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध नाम का हेत्वाभास कहा है ।

(लिङ्ग के लक्षण बोधक कथित पहिले श्लोक का यह अभिप्राय है कि) जो साध्य के साथ किसी समयविशेष में एवं देशविशेष में सम्बद्ध

न्यायकन्दली

साध्यधर्मस्यैव परामर्शः, तस्य साध्यधर्मस्याभावे नास्त्येव न पुनरेकदेशेऽस्त्यपीत्यनै-कान्तिकव्यवच्छेदः । तल्लिङ्गमनुमापकम् **अनुमेयस्य ज्ञापकम्** ।

लिङ्गं व्याख्याय लिङ्गाभासं व्याचष्टे–विपरीतमतो यत् स्यादिति । **अत उक्तलक्षणाल्लिङ्गाद् यदेकेन द्वितयेन लिङ्गलक्षणेन विपरीतं रहितं विरुद्ध-मसिद्धं सन्दिग्धम्, तत्** कश्यपात्मजो**ऽलिङ्गमनुमेयाप्रतिपादकमब्रवीत् । असिद्धमनुमेये नास्ति, अनैकान्तिकं विपक्षादव्यावृत्तमित्यनयोरेकेन लिङ्गलक्षणेन विपरीतत्वम् ।**

और पक्षवृत्ति) 'हेतु' है । उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'एवं' शब्द के द्वारा यह सूचित किया गया है कि ऐसे किसी भी आश्रय में हेतु को न रहना चाहिए जिसमें कि साध्य न रहे । इस प्रकार इस विशेषण के द्वारा अनैकान्तिक नाम के हेत्वाभास में हेतु लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण होता है । 'तल्लिङ्गमनुमापकम्' (अर्थात् उक्त पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व और विपक्षावृतित्व इन) तीनों लक्षणों से युक्त हेतु ही साध्य का ज्ञापक है ।

लिङ्ग के लक्षण के कहने के बाद अब 'विपरीतमतो यत् स्यात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा लिङ्गाभास (हेत्वाभास) का लक्षण कहते हैं । 'अत' अर्थात् हेतु के कथित तीनों लक्षणों में से हेतु के एक या दो लक्षणों से 'विपरीत' अर्थात् शून्य हेतु को 'काश्यप' ने अर्थात् कश्यप के पुत्र ने क्रमशः विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध नाम का 'अलिङ्ग' (हेत्वाभास) कहा है, क्योंकि ये अनुमेय के ज्ञापक नहीं हैं । इनमें 'असिद्ध' नाम का हेत्वाभास अनुमेय (पक्ष) में नहीं रहता, (अर्थात् उसमें पक्षवृत्तित्व रूप एक धर्म का अभाव है),'अनैकान्तिक' नाम का हेत्वाभास विपक्ष से अव्यावृत्त है, अर्थात् विपक्षा-वृत्तित्वरूप हेतु के एक ही लक्षण से रहित होने के कारण हेत्वाभास है (इस प्रकार असिद्ध और अनैकान्तिक ये दोनों हेतु के एक ही लक्षण से रहित होने के कारण

प्रशस्तपादभाष्यम्

नुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव, तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवतीति ।

रहे, अनुमेयरूप धर्म के किसी (निश्चित) अधिकरण में या सभी अधिकरणों में जिसकी सत्ता प्रमाण के द्वारा सिद्ध रहे, एवं साध्य के अभाव के निर्णीत अधिकरण में जिसकी असत्ता भी प्रमाण के द्वारा निश्चित ही हो, वही वस्तु पूर्व में अज्ञात साध्य के अनुमिति का लिङ्ग है ।

न्यायकन्दली

विरुद्धं सपक्षे नास्ति, विपक्षादव्यावृत्तमिति तस्य द्वितयेन लिङ्गलक्षणेन रहितत्वम् ।

यदनुमेयेन सम्बद्धमिति श्लोकार्थं विवृणोति–यदनुमेयेनेति । **अनुमेयेनार्थेन साध्यधर्मिणा सह यद्देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितं सम्बद्धम्, अनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सपक्षे सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धं प्रमाणेन प्रतीतम्, अनुमेयविपरीते च साध्यव्यावृत्तिविषये चार्थे सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्य साध्यधर्मिणोऽप्रतीतस्यार्थस्य साध्यधर्मस्यानुमापकं लिङ्गं भवति । यावति देशे काले वा दृष्टान्तधर्मिणि लिङ्गस्य साध्यधर्मेणाविनाभावो निदर्शितस्तावत्येव देशे काले वा साध्यधर्मिणि प्रतीयमानस्य गमकमिति प्रतिपादनार्थमुक्तम्**–देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमिति । **सर्वसपक्षव्यापकवत् सपक्षैकदेशवृत्तेरपि हेतुत्वार्थं** सर्वस्मिन्नेकदेशे **वा प्रसिद्धमित्युक्तम् । समस्त-**

हेत्वाभास हैं) विरुद्ध नाम का हेत्वाभास सपक्ष में नहीं रहता और विपक्ष में रहता है, अतः विरुद्ध सपक्षवृत्तित्व और विपक्षव्यावृत्तत्व हेतु के इन दोनों लक्षणों से रहित हेत्वभास है ।

'यदनुमेयेनार्थेन' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इत्यादि श्लोक की व्याख्या करते हैं । पहले से अज्ञात अर्थ स्वरूप साध्य (धर्म) की अनुमिति का जनक वह 'लिङ्ग' है, जो अनुमेय अर्थ के साथ अर्थात् साध्य के धर्मी (पक्ष) के साथ किसी देश विशेष में एवं कालविशेष में 'सहचरित' अर्थात् सम्बद्ध हो, एवं अनुमेय (साध्य) रूप धर्मसे युक्त (पक्ष से भिन्न) किसी आश्रयरूप सपक्ष के किसी एक देश में या उसके सभी देशों में 'प्रसिद्ध' हो, अर्थात् प्रमाण के द्वारा निश्चित हो, एवं अनुमेय के विपरीत अर्थात् साध्य का अभाव जिनमें निश्चित हो, उन सभी आश्रयों में प्रमाण के द्वारा जिसकी असत्ता भी निश्चित ही हो (वही लिङ्ग है) । 'देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितम्' यह वाक्य इस लिए लिखा गया है कि दृष्टान्तरूप धर्मी के जितने देश में एवं जितने काल में हेतु का साध्यरूप धर्म के साथ 'अविनाभाव' (व्याप्ति) देखा जाय, उन्हीं देशों में और उन्हीं कालों में साध्य के धर्मी (पक्ष) में जाते हुए साध्य का वह हेतु ज्ञापक होता है । 'सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धम्' यह वाक्य इस

न्यायकन्दली

विपक्षव्यापकवद्विपक्षैकदेशवृत्तेरप्यहेतुत्वावद्योतनार्थं सर्वस्मिन्नसदेवेति **पदम्** ।

केचित् प्रवादुका एवं वदन्ति—नावश्यं प्रमाणसिद्धो वैधर्म्यदृष्टान्त एव द्रष्टव्यः, 'यत्रेदमपि नास्ति तत्रेदमपि नास्ति' इति वचनादपि साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्ति-प्रतीतिसम्भवात् । तथा च तेषां ग्रन्थः—

तस्माद् वैधर्म्यदृष्टान्तोऽनिष्टोऽवश्यमिहाश्रयः ।
तदभावेऽपि तन्नेति वचनादपि तद्गतेः ॥ इति ।

तन्निवृत्त्यर्थं प्रमाणत **इति । साध्यविपरीते यत् प्रमाणतोऽसल्लिङ्गं न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः । प्रमाणशून्यस्य वचनमात्रस्य सर्वत्र सम्भवे हेतुहेत्वाभासव्यवस्थानुपपत्तिप्रसङ्गः । अतिव्यापक-मिदं लिङ्गलक्षणम्, प्रकरणसमे कालात्ययापदिष्टे च भावादिति चेत् ? अत्राह कश्चित्—प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टावनैकान्तिक एवान्तर्भवतः, संदिग्धविपक्षे साध्यधर्मिणि प्रकरण-समस्य भावान्निश्चितविपक्षे च कालात्ययापदिष्टस्य वृत्तेः । यथा च प्रकरणसमः 'यतः प्रकरण-**

लिए लिखा गया है कि जिस प्रकार सभी सपक्षों (दृष्टान्तों) में रहनेवाली वस्तु में (साध्य के ज्ञापन करने का सामर्थ्यरूप) हेतुत्व है, उसी प्रकार कुछ ही सपक्षों में रहनेवाली वस्तु में भी उक्त हेतुत्व है । 'सर्वस्मिन्नसदेव' यह वाक्य इसलिए दिया गया है कि जिस प्रकार सभी विपक्षों में रहनेवाला पदार्थ भी साध्य का ज्ञापक हेतु नहीं हो सकता, उसी प्रकार कुछ थोड़े से विपक्षों में रहनेवाला पदार्थ भी साध्य का ज्ञापक हेतु नहीं हो सकता । किसी सम्प्रदाय के लोगों (बौद्धों) का कहना है कि 'वैधर्म्य दृष्टान्त में प्रमाण के द्वारा हेतु की असत्ता सिद्ध ही हो' यह कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि 'जहाँ साध्य नहीं है, वहाँ हेतु भी नहीं है' इस प्रकार के साधारण वाक्य से ही साध्य से शून्य सभी आश्रयों (सभी विपक्षों) में हेतु की असत्ता की प्रतीति हो सकती है । जैसा कि उन लोगों का (उक्त सिद्धान्त का समर्थक) यह वचन है कि "तस्मात् अनुमान के लिए वैधर्म्य दृष्टान्तरूप आश्रय (प्रयोजक) का मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि 'जहाँ साध्य नहीं है, वहाँ हेतु भी नहीं है' इस वाक्य से भी उस (साध्यशून्य आश्रय में हेतु के अभाव) की प्रतीति हो जाएगी" इस सिद्धान्त के खण्डन के लिए ही प्रकृत वाक्य में 'प्रमाणतः' पद दिया गया है । अर्थात् विपक्ष में हेतु की असत्ता प्रमाण से ही सिद्ध होनी चाहिए, प्रमाणशून्य केवल वचन मात्र के प्रयोग से प्रकृत में समाधान नहीं होगा, क्योंकि प्रमाणशून्य वचनों का प्रयोग तो सभी जगह सम्भव है, इससे 'यह हेतु है और हेत्वाभास है' इस प्रकार की व्यवस्था ही नहीं रह जाएगी । (प्र.) हेतु का यह लक्षण तो 'प्रकरणसम' और 'कालात्ययापदिष्ट' नाम के हेत्वाभासों में भी रहने के कारण अतिव्यापक (अतिव्याप्त) है । इसके उत्तर में कोई कहते हैं कि (उ.) प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट इन दोनों का अन्तर्भाव भी 'अनैकान्तिक' नाम के हेत्वाभास में ही हो जाता है, क्योंकि सन्दिग्धविपक्ष रूप साध्य के धर्मी में (अर्थात् पक्ष में)

न्यायकन्दली

चिन्ता, स निर्णयार्थमुपदिष्टः प्रकरणसमः' प्रक्रियते प्रस्तूयत इति प्रकरणं पक्षप्रतिपक्षौ, तयोश्चिन्ता विचारः, सा यत्कृता स निर्णयार्थमुपदिष्ट उभयपक्षसाम्यात्र प्रकरण-साम्येऽन्यतरपक्षनिर्णयाय कल्पते । यथा नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः, अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुलब्धेरिति शब्दे नित्यानित्यधर्मयोरनुपलम्भान्नित्यत्वसंशये सति तद्विचारोऽभूत्, अन्यतरधर्मग्रहणे तत्त्वनिश्चयाद् विचारस्याप्रवृत्तेः । तत्रानित्यधर्मानुपलम्भो नित्यत्व-विनिश्चयार्थमुपदिष्टः, नित्यधर्मानुपलम्भोऽनित्यत्वविनिश्चयार्थमुपदिष्टः, नित्यधर्मानु-पलम्भं प्रतिपक्षमनतिवर्तमानो न निर्णयाय कल्पते, तत्प्रतिबन्धात् । स चायं सम्भवत्प्रतिपक्षे धर्मिणि वर्तमान एकस्मिन्नन्ते नियतो न भवतीत्यनै-

प्रकरणसम हेत्वाभास की सत्ता रहती है । एवं निश्चित विपक्ष में 'कालात्यया-पदिष्ट' हेत्वाभास की सत्ता रहती है । अभिप्राय यह है कि (न्यायसूत्र में) प्रकरणसम के लक्षण के लिए यह सूत्र निर्दिष्ट है कि 'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमुपदिष्टः प्रकरणसमः ।' 'प्रक्रियते प्रस्तूयते इति प्रकरणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपस्थित किये जानेवाले पक्ष और प्रतिपक्ष ये दोनों ही इस सूत्र में प्रयुक्त 'प्रकरण' शब्द के अर्थ हैं ।'तयोश्चिन्ता प्रकरणचिन्ता' अर्थात् कथित पक्ष और प्रतिपक्ष की जो 'चिन्ता' अर्थात् विचार, फलतः संशय जिससे उत्पन्न हो, उन दोनों में से किसी एक पक्ष के निश्चय के लिए प्रयुक्त हेतु ही प्रकरणसम नाम का हेत्वाभास है, क्योंकि वह हेतु दोनों पक्षों के साधन के लिए समान ही है, (अतः प्रकरणसम है) । उन दोनों में से कोई एक हेतु एक पक्ष का निर्णायक नहीं हो सकता । जैसे कि एक ने यह पक्ष उपस्थित किया कि 'शब्द नित्य है, क्योंकि अनित्य वस्तुओं में रहनेवाले धर्मों की उपलब्धि शब्द में नहीं होती है । दूसरा पक्ष उपस्थित हुआ कि 'शब्द अनित्य है', क्योंकि नित्य पदार्थों में रहनेवाले धर्म की उपलब्धि उसमें नहीं होती । इस प्रकार नित्यों में रहनेवाले धर्म को ज्ञापन करने का सामर्थ्य मान लिया जाय तो फिर साध्य के धर्मी पक्ष में साध्य के अभाव रूप धर्मों एवं अनित्यों में रहनेवाले धर्मों की अनुपलब्धि से शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व का संशय उपस्थित होगा । इस संशय के कारण ही 'प्रकरण' का उक्त 'चिन्ता' रूप विचार उपस्थित होता है । उन दोनों में से एक (नित्य या अनित्य) धर्म का निर्णय रूप विचार उपस्थित होता है । उन दोनों में से एक (नित्य या अनित्य) धर्म का निर्णय हो जाने पर तो उक्त विचार की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । इन दोनों में शब्द में नित्यत्व के निश्चय के लिए अनित्य धर्म के अनुपलब्धिरूप हेतु का प्रयोग होता है, एवं शब्द में अनित्यत्व के निश्चय के लिए नित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु का प्रयोग होता है । इनमें अनित्यधर्मानुपलब्धि रूप हेतु नित्यधर्म के अनुपलब्धिरूप प्रतिपक्ष को पराजित नहीं कर सकता, (इसी प्रकार नित्यधर्मानुपलब्धिरूप हेतु अनित्यधर्मानुपलब्धिरूप प्रतिपक्ष को भी पराजित नहीं कर सकता), अतः शब्द में नित्यत्व या अनित्यत्व का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही अपने प्रतिपक्ष के द्वारा प्रतिहत हैं । अतः यह हेतु

न्यायकन्दली

कान्तिकः । एवं कालात्ययापदिष्टोऽप्यनैकान्तिकः , प्रत्यक्षनिश्चितोष्णत्वे वह्नौ विपक्षे कृतकत्वस्य भावात् । एतदयुक्तम् । यदि पक्षव्यापकत्वे सति सपक्षे सद्भावो विपक्षाच्च व्यावृत्तिरित्येतावतैव हेतोर्गमकत्वम्, तदास्तु नाम साध्यधर्मिणि प्रतिपक्षसम्भावना, तथापि प्रकरणसमेन स्वसामर्थ्यात् साध्यं साधयितव्यमेव । अथ न शक्नोति साधयितुं प्रतिपक्षसंशयाक्रान्तत्वात् ? न तर्हि त्रैरूप्यमात्रेण गमकत्वमिति असत्प्रतिपक्षत्वमपि रूपान्तरमास्थेयम्, सति प्रतिपक्षे हेतुत्वाभावादसति तद्भावात् । एवं कालात्ययापदिष्टेऽपि वाच्यम् । यदि त्रैरूप्यमात्रेण लिङ्गत्वं कृतकत्वाद् वह्नावनुष्णत्वमस्त्येवेति कथमनैकान्तिकत्वम् ? अथ सत्यपि कृतकत्वे वह्नावनुष्णत्वं न भवति, प्रत्यक्षेणोष्णताप्रतीतेः, तदा प्रत्यक्षाविरोधे सति प्रतिपादनं न तद्विरोध इत्यबाधितविषयत्वमपि रूपान्तरमनु-

(अर्थात् शब्द में नित्यत्व का साधक और अनित्यत्व का साधक हेतु) साध्य संशयवाले पक्ष में विद्यमान होने के कारण 'एक अन्त' में, किसी एक कोटि के निश्चय के लिए नियत नहीं है, अतः 'प्रकरणसम' अनैकान्तिक ही है । इसी प्रकार 'कालात्ययापदिष्ट' अर्थात् बाधित हेत्वाभास भी अनैकान्तिक ही है, क्योंकि 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इत्यादि अनुमान का कृतकत्व रूप कालात्ययापदिष्ट हेतु वह्निरूप उस विपक्ष में ही विद्यमान है, जिसमें कि (अनुमान से बलवान्) प्रतिपक्ष के द्वारा (अनुष्णत्वरूपसाध्य के अभावरूप) उष्णत्व की सत्ता निर्णीत है । (उ.) (किन्तु प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट का इस प्रकार अनैकान्तिक में अन्तर्भाव करना) अयुक्त है, क्योंकि यदि सभी पक्षों में रहने से, एवं सपक्षों में रहने से, और विपक्षों में न रहने से ही हेतु में साध्य की अनुमिति का सामर्थ्य मान लिया जाय, तो साध्य की सम्भावना रहने पर भी प्रकरणसम हेत्वाभास से साध्य का साधन होगा ही, क्योंकि उसमें साध्य को ज्ञापन करने का (पक्षसत्वादि) उक्त सामर्थ्य तो है ही । यदि प्रतिपक्ष संशय के कारण वह अपने साध्य का साधन नहीं कर सकता, तो फिर यह कहना ठीक नहीं है कि (पक्षसत्वादि) तीनों धर्मों का रहना ही हेतु में साध्य के साधन का सामर्थ्य है, इसके लिए 'असत्प्रतिपक्षितत्व' नाम का एक और प्रयोजक हेतु में साध्य साधन के लिए मानना पड़ेगा । क्योंकि प्रतिपक्ष के रहने पर हेतु में साध्य साधन की क्षमता नहीं रहती है, और उसके न रहने से हेतु में वह क्षमता रहती है । इसी प्रकार कालात्ययापदिष्ट के प्रसङ्ग में भी कहना चाहिए कि यदि पक्षसत्वादि तीनों रूपों के रहने से ही हेतु साध्य का साधन कर सके तो कृतकत्व के रहने के कारण वह्नि में अनुष्णता का अनुमान भी हो सकता है, सुतराम् यह प्रश्न रह जाता है कि वह्नि में अनुष्णता का साधक कृतकत्व हेतु 'अनैकान्तिक' कैसे है ? यदि वह्नि में कृतकत्व के रहने पर भी उष्णता की प्रत्यक्ष प्रतीति वह्नि में होती है, अतः अनुष्णत्व की उक्त अनुमिति नहीं होती है, तो यह कहना पड़ेगा कि पक्षसत्त्वादि की तरह (अबाधित-विषयत्व या) हेतु में अबाधितत्त्व का रहना भी साध्य ज्ञान के लिए आवश्यक है ।

न्यायकन्दली

सरणीयम् । तस्मादन्यथोच्यते, पक्षो नाम साध्यपर्यायः, साध्यं च तद् भवति, यत् साधनमर्हति, सम्भाव्यमानप्रतिपक्षश्चार्थो न साधनमर्हति, वस्तुनो द्वैरूप्याभावादित्ययमपक्षधर्म एव। तथा प्रत्यक्षादिविरुद्धोऽपि पक्षो न भवति, रूपान्तरेण सिद्धस्य रूपान्तरेण साधनानर्हत्वात् । अतः प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टावुभौ 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इत्यन्तेनैव निराकृतौ, अनुमेयाभासाश्रयत्वात् ।

अतः (अर्थात् पक्षसत्त्वादि तीनों रूपों को ही हेतुत्व का प्रयोजक मानें तो प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभासों में हेतुत्व का वारण किस प्रकार होगा ? अतः इस प्रश्न का हम लोग (सिद्धान्ती) दूसरा समाधान कहते हैं कि (हेतु के बल रूप) पक्षवृत्तित्वादि के घटकीभूत 'पक्ष' शब्द और 'साध्य' शब्द दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं। साध्य वह है जिसका कि साधन हो सके; किन्तु जिस साध्य के प्रतिपक्ष की सम्भावना रहती है, उसका साधन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तुओं के (परस्पर-विरुद्ध) दो रूप नहीं हो सकते [1]। अतः प्रकरणसमहेतु 'पक्षधर्म' ही नहीं है, अर्थात् साध्य से युक्त पक्षरूप अनुमेय से अभिन्न साध्य के साथ सम्बद्ध ही नहीं है, इसी प्रकार कालात्ययापदिष्ट हेतु भी 'पक्ष धर्म' न होने के ही कारण 'हेतु' नहीं है, क्योंकि वह्नि की अनुष्णता प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, एक प्रकार से सिद्ध वस्तु का दूसरे (विरुद्ध) रूप से साधन करना सम्भव नहीं है, अतः प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट इन दोनों हेत्वाभासों में हेतु का 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इस वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट विशेषण ही नहीं है । अतः 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इसके उपादान से ही प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट दोनों हेत्वाभासों में हेतु लक्षण की अतिव्याप्ति हट जाती है ।

---

1. अभिप्राय यह है कि 'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' एवं 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः' इत्यादि प्रकरणसम के स्थल में नित्यत्वविशिष्ट शब्द और अनित्यत्वविशिष्ट शब्द ही 'साध्य' है । शब्दरूप पक्ष का नित्यत्व या अनित्यत्व दो में से कोई एक ही स्वरूप सत्य हो सकता है, अर्थात् शब्द नित्य ही हो सकता है या अनित्य ही, वह नित्य और अनित्य दोनों नहीं हो सकता । चूँकि अनुमान के समय शब्द में नित्यत्व या अनित्यत्व कोई भी सिद्ध नहीं है, अतः नित्यधर्मानुपलब्धि या अनित्यधर्मानुपलब्धि इन दोनों में से कोई भी हेतु 'अनुमेय' अर्थात् नित्यत्व या अनित्यत्वविशिष्ट शब्दरूप 'पक्ष' में विद्यमान नहीं है । अतः प्रकरणसम हेतु में हेतुत्व का प्रयोजक 'पक्षवृत्तित्व' रूप धर्म ही नहीं है । सुतराम् 'अपक्षधर्म' होने के कारण ही प्रकरणसम 'असिद्ध' (स्वरूपासिद्ध) हेत्वाभास है, जिसकी सूचना 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इस वाक्य से ही दे दी गयी है ।

इसी प्रकार बाधित (कालात्ययापदिष्ट) हेतु भी 'असिद्ध' हेत्वाभास में ही अन्तर्भूत हो जाता है, क्योंकि 'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' इत्यादि स्थलों में वह्नि में यद्यपि द्रव्यत्व है, किन्तु उसमें अनुष्णत्व के विरुद्ध उष्णत्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अतः अनुष्णत्व बाधित है । अनुष्णत्वविशिष्ट वह्निरूप पक्ष में द्रव्यत्व की सत्ता नहीं है, क्योंकि अनुष्णत्व विशिष्ट वह्नि नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । इसकी भी सूचना 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इसी वाक्य से दे दी गयी है ।

न्यायकन्दली

नन्वेवमप्यलक्षणमिदमव्यापकत्वात् । त्रिविधो हि हेतुः–अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति । तत्रान्वयी विशेषोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्, सामान्यवत् । अस्य हि पक्षादन्यः सर्व एव सदसत्प्रभेदः सपक्षः, प्रमातृमात्रस्य प्रमाणमात्रापेक्षयाऽनभिधेयस्याप्रमेयस्याभावात् । यश्च पुरुषमात्रस्यानभिधेयोऽप्रमेयश्च, स वाजिविषाणवदसन्नेव, न वा सपक्षो विपक्षो वा स स्यात्, निःस्वभावत्वात् । यश्च सत् स सर्वः सपक्ष एवेति तदभावे च नास्त्येवेत्यव्यापकं लक्षणम्, व्यतिरेकाभावात् । अगमकमेव तदिति चेन्न, अन्वयाव्यभिचारात् । अन्यस्य सद्भावादन्यस्य सिद्धिरित्यत्रान्वयः कारणम्, तस्य तु व्यभिचारप्रतीतिरपवादिका । अस्ति तावत् प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोरन्वयः, सर्वत्र प्रमेयेऽभिधेयत्वस्य दर्शनात् । न च व्यभिचारो दृष्टो नापि शङ्कामारोहति, यं यं व्यतिरेकविषयं बुद्धिगोचरी-

(प्र.) प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभासों में अतिव्याप्ति के न होने पर भी हेतु का यह लक्षण 'तदभावे च नास्त्येव' इस विशेषण के कारण केवलान्वयि हेतु में अव्याप्त या अव्यापक है ही । अभिप्राय यह है कि (१) अन्वयी (केवलान्वयी), (२) (केवल) व्यतिरेकी, एवं (३) अन्वयव्यतिरेकी भेद से हेतु तीन प्रकार के हैं । इनमें 'विशेषोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् सामान्यवत्'[1] इस अनुमान का हेतु अन्वयी (केवलान्वयी) है । इस अनुमान के पक्ष से अतिरिक्त जितने भी भाव और अभाव पदार्थ हैं, वे सभी सपक्ष हैं, क्योंकि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी प्रमाता पुरुष के द्वारा प्रमित नहीं है (अर्थात् प्रमेय नहीं है) और किसी (शब्द) प्रमाण का अभिधेय नहीं है । जो न किसी प्रमाता पुरुष के द्वारा शब्द से निर्दिष्ट होता है और न किसी प्रमाता पुरुष के द्वारा प्रमित ही होता है, वह घोड़े के सींग की तरह सर्वथा असत् होने के कारण न सपक्ष ही हो सकता है, न विपक्ष ही, क्योंकि असत् वस्तुओं का कोई स्वभाव नहीं होता । जितने भी पदार्थ 'सत्' हैं, वे सभी इस अनुमान के सपक्ष ही हैं । अतः इस अनुमान में व्यतिरेक नहीं है, अर्थात् कोई विपक्ष नहीं है । सुतराम् 'तदभावे च नास्त्येव' हेतु लक्षण का यह अंश उक्त केवलान्वयी हेतु में नहीं रहने के कारण हेतु का उक्त लक्षण अव्याप्ति से दुष्ट है । यदि यह कहें कि (प्र.) केवलान्वयी हेतु से अनुमान होता ही नहीं । (उ.) तो यह कहना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि एक की सत्ता से दूसरे की जो सिद्धि होती है, इसमें 'अन्वय' ही कारण है । चूँकि इस कार्यकारणभाव में कोई व्यभिचार उपलब्ध नहीं है, (अतः 'केवलान्वयि-हेतु से अनुमिति नहीं होती' यह नहीं कहा जा

---

1. अनुमान प्रयोग का आशय है कि जिस प्रकार घटत्वादि जातियाँ प्रमेय होने के कारण अभिधेय हैं, उसी प्रकार 'विशेष' अर्थात् घटादि व्यक्ति भी प्रमेय होने के कारण अभिधेय हैं ।

न्यायकन्दली

करोति परस्य च वक्तुमिच्छति, तस्य सर्वस्य प्रमेयत्वाभिधेयत्वप्राप्तेः । न चास्ति विशेषो विपक्षे सत्यव्यभिचारः कारणं न विपक्षाभावादिति । तेन प्रमेयत्वमभिधेयत्वं गमयति । व्यतिरेकी च सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति । अस्य पक्षादन्यः सर्व एव विपक्षः, तथापि हेतुत्वं विपर्ययसम्बन्धाव्यभिचारात् । घटादिष्वप्राणादिमत्त्वेन निरात्मकत्वस्य व्याप्तिरवगता, अप्राणादिमत्त्वस्य न जीवच्छरीरे निवृत्तिः प्रतीयते । तत्प्रतीत्या व्याप्तस्य निरात्मकत्वस्य निवृत्त्यनुमानम् ।

अथ मन्यसे योऽर्थो नवागतस्तद्व्यतिरेकोऽपि न शक्यते प्रत्येतुम्, प्रतिषेधस्य विधिविषयत्वात् । आत्मा च न क्वचिदवगतः, कथं तस्य घटादिभ्यो

सकता), क्योंकि व्यभिचार की प्रतीति ही अन्वयी हेतु से साध्य की अनुमिति होने में बाधक है, सो प्रकृत में नहीं है । प्रमेयत्व और अभिधेयत्व दोनों में अन्वय या सामानाधिकरण्य अवश्य है; क्योंकि सभी प्रमेयों में अभिधेयत्व की प्रतीति होती है। इन दोनों में व्यभिचार (एक को छोड़कर दूसरे का रहना) कहीं नहीं देखा जाता। एवं उन दोनों में कहीं व्यभिचार की शङ्का भी नहीं है, क्योंकि जो कोई भी स्थल व्यभिचार के लिए कोई सोचेगा या दूसरे को कहना चाहेगा, उन सभी स्थलों में अभिधेयत्व और प्रमेयत्व दोनों ही देखे जाते हैं (अतः इस अनुमान में कोई विपक्ष है ही नहीं) । जिस प्रकार जिन सब स्थलों में विपक्ष प्रसिद्ध है, उन सब स्थलों में यदि व्यभिचार नहीं है, तो वह हेतु अनुमिति का कारण होता है । उसी प्रकार जिन सब स्थलों में विपक्ष की सत्ता ही नहीं है, उन सब स्थलों में भी यदि व्यभिचार की उपलब्धि नहीं होती है, तो वह हेतु साध्य का साधक क्यों नहीं होगा? क्योंकि दोनों स्थितियों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है । अतः प्रमेयत्व अवश्य ही अभिधेयत्व का ज्ञापक हेतु है । 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्' इस अनुमान का हेतु (केवल) व्यतिरेकी है, क्योंकि पक्ष को छोड़कर और सभी पदार्थ इसके 'विपक्ष' हैं, फिर भी यह 'हेतु' है ही, क्योंकि (साध्य के) विपर्यय (अर्थात् अभाव का हेत्वभाव के साथ) व्यभिचार नहीं हैं । (साध्य का निरात्मकत्वरूप अभाव घटादि में है, उनमें हेतु का अप्राणादिमत्त्वरूप अभाव भी अवश्य ही है, इस प्रकार) अप्राणादिमत्त्वरूप हेत्वभाव के साथ निरात्मकत्वरूप साध्याभाव की व्याप्ति गृहीत है । इससे जीवित शरीर रूप (प्रकृत पक्ष में) अप्राणादिमत्त्वरूप (हेत्वभाव की) निवृत्ति अर्थात् अभाव का बोध होता है । जीवित शरीर में (अप्राणादिमत्त्वाभाव की) इस प्रतीति से उसमें निरात्मकत्वरूप साध्याभाव की निवृत्ति का अनुमान होता है ।

अगर यह समझते हों कि (प्र.) जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, उसके अभाव का भी ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जिसकी कहीं सत्ता रहती है, उसी का कहीं प्रतिषेध भी

न्यायकन्दली

व्यावृत्तिप्रतीतिरिति । तदयुक्तम् । परस्य तावत् समस्तवस्तुविषयं नैरात्म्यमिच्छतो घटादिभ्यः सिद्धैवात्मव्यावृत्तिः । स्वस्यापि जीवच्छरीरेष्वेवात्मनो बुद्ध्यादिभिः कार्यैः सह कार्यकारणभावे सिद्धे घटादिभ्यो बुद्ध्यादिव्यावृत्त्या तदुत्पादनसमर्थस्य विशिष्टात्मसम्बन्धस्याभावसिद्धिः । यथा धूमाभावे क्वचित् तदुत्पादनयोग्यस्य वह्नेरभावसिद्धिः । यद्येवमात्मापि जीवच्छरीरेषु सिद्ध एव, सम्बन्धिप्रतीतिमन्तरेण सम्बन्धप्रतीतेरसम्भवात् । ततश्च व्यतिरेक्यनुमानवैयर्थ्यम्, निष्पादितक्रिये कर्मणि साधनस्य साधनन्यायातिपातात् । नैवम्, स्वसिद्धस्यात्मनः परं प्रत्यसिद्धस्य साध्यत्वात् । न चान्वयाव्यभिचारः प्रतिपादको न व्यतिरेकाव्यभिचार इत्यस्ति नियमहेतुः । तस्माद् व्यतिरेकिणोऽपि हेतुत्वात् तेन

हो सकता है । आत्मा कहीं पर ज्ञात नहीं है, अतः घटादि पंदार्थों में भी उसके अभाव की प्रतीति क्यों होगी ? (उ.) तो यह समझना भूल होगी, क्योंकि (बौद्धादि) परमत के अनुसार भी तो घटादि में नैरात्म्य सिद्ध ही है, क्योंकि वे तो सभी वस्तुओं में नैरात्म्य की अभिलाषा करते हैं । 'स्वमत' (वैशेषकादिमत) में भी जीवित शरीर में ही आत्मा का सम्बन्ध बुद्धि प्रभृति का कारण है, अतः (अवच्छेदकत्व सम्बन्ध) से शरीर में बुद्धियादि कार्यों की उत्पत्ति होती है (मृत शरीर एवं घटादि में नहीं), इस प्रकार आत्मा से सम्बद्ध जीवित शरीर और बुद्धि प्रभृत्ति में कार्यकारण भाव की सिद्धि हो जाने पर घटादि में बुद्धि का अभाव सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि आत्मा का उक्त विशेष प्रकार का सम्बन्ध ही बुद्धि की उत्पत्ति का कारण है, सो घटादि में नहीं है, अतः उसमें कथित सात्मकत्व भी नहीं है । इस 'स्व' मत में भी निरात्मकत्वरूप साध्याभाव का ज्ञान सम्भावित है । जैसे कि धूम के न रहने पर कहीं पर धूम को उत्पादन करनेवाले वह्नि के अभाव की सिद्धि होती है । (प्र.) (जीवित शरीर में जिस सात्मकत्व की सिद्धि करना चाहते हैं, वह सात्मकत्व आत्मा का सम्बन्ध ही है) सम्बन्ध का ज्ञान बिना प्रतियोगी और अनुयोगी रूप दोनों सम्बन्धियों के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है । अतः जीवित शरीर में आत्मा तो सिद्ध ही है । तस्मात् उक्त व्यतिरेकी अनुमांन व्यर्थ है, क्योंकि निष्पन्न कामों में साधन अपना साधनत्व छोड़ बैठता है (उ.) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अपने मत से जीवित शरीर में आत्मा के सिद्ध रहने पर भी नास्तिकों के मत में वह सिद्ध नहीं है । अतः परमत से असिद्ध आत्मा के सम्बन्ध का अनुमान ही प्रकृत में व्यतिरेकी हेतु से किया गया है । यह नियम मान लेने में कोई युक्ति नहीं है कि अन्वय का अव्यभिचार (अन्वयव्याप्ति) ही साध्य का ज्ञापक है और व्यतिरेक का अव्यभिचार (व्यतिरेक) व्याप्ति नहीं । अतः (केवल) व्यतिरेकी भी हेतु अवश्य है । तस्मात् 'प्रसिद्धञ्च तदन्विते' इत्यादि से कथित सपक्षवृत्तित्वरूप

न्यायकन्दली

प्रसिद्धं च तदन्विते **इत्यव्यापकम् । अत्रैक समानतन्त्रप्रसिद्ध्या केवलान्वयिनः केवल-व्यतिरेकिणश्च परिग्रह इति वदन्ति । अपरे तु व्यस्तसमस्तं लक्षणं वदन्ति । अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्वित इति अन्वयिनो लक्षणम् । अनुमेयेन सम्बद्धं तद्विपरीते च नास्त्येवेति व्यतिरेकिण इति । समस्तं लक्षणमन्वयव्यतिरेकिण इति । साध्यसाधनत्वं सामान्यलक्षणं त्रयाणाम् । यथा प्रमाणानां यथार्थपरिच्छेदकत्वं सामान्यलक्षणम् ।**

विशेषण के न रहने से हेतु का प्रकृतलक्षण (केवल) व्यतिरेकी हेतु में अव्याप्त है ।

केवलान्वयि हेतु और केवलव्यतिरेकी हेतु इन दोनों में कथित अव्याप्ति का समाधान कोई इस प्रकार करते हैं कि केवलान्वयि हेतु और केवलव्यतिरेकी हेतु इन दोनों में हेतुत्व का व्यवहार समानतन्त्र (न्यायदर्शन) के अनुसार समझना चाहिए । (सिद्धान्ततः वैशेषिक मत से वे दोनों हेतु नहीं हैं) ।

कोई (इन दोनों को वैशेषिक मत से भी हेतु मानते हुए) हेतु के लक्षणवाक्य को सम्पूर्ण और खण्डशः दोनों प्रकार से लक्षण का बोधक मान कर उनमें अव्याप्ति दोष का परिहार करते हैं । तदनुसार 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इत्यादि श्लोक से निम्नलिखित तीन लक्षणवाक्य निष्पन्न होते हैं

(१) यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धञ्च तदन्विते । (अर्थात् जो पक्ष और सपक्ष दोनों में ही रहे, वही हेतु है) । हेतु का यह लक्षण (केवल) अन्वयी ('विशेषोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' इस अनुमान के प्रमेयत्व) हेतु का है (अर्थात् हेतु के इस लक्षण में 'तदभावे च नास्त्येव' इस वाक्य से कथित विपक्षावृत्तित्व का प्रवेश नहीं है, अतः केवलान्वयि स्थल में विपक्ष की अप्रसिद्धि से हेतु लक्षण की अव्याप्ति नहीं है) ।

(२) यदनुमेयेन सम्बद्धं तदभावे च नास्त्येव । अर्थात् पक्ष में रहे और विपक्ष में न रहे वही 'हेतु' है । हेतु का यह लक्षण (केवल) व्यतिरेकी हेतु के लिए है । अतः 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्'. इत्यादि व्यतिरेकी हेतु में सपक्ष की अप्रसिद्धि के कारण अव्याप्ति नहीं है । क्योंकि हेतु के इस लक्षण में 'प्रसिद्धञ्च तदन्विते' इस वाक्य के द्वारा कथित 'सपक्षसत्त्व' का निवेश नहीं है) ।

(३) 'यदनुमेयेन सम्बद्धम्' इत्यादि संपूर्ण श्लोक के द्वारा कथित लक्षण अन्वयव्यतिरेकी हेतु का है, क्योंकि इसमें पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, एवं विपक्षासत्त्व हेतु के ये तीनों ही लक्षण विद्यमान रहते हैं ।

कथित तीनों हेतुओं में समान रूप से रहेवाला लक्षण यही है कि 'जो साध्य का साधन करे, वही हेतु है' जैसे 'जो यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करे वही प्रमाण है' यह सभी प्रमाणों का साधारण लक्षण है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

यत्तु यथोक्तात् त्रिरूपाल्लिङ्गादेकेन धर्मेण द्वाभ्यां वा विपरीतं तदनुमेयस्याधिगमे लिङ्गं न भवतीति । एतदेवाह सूत्रकारः– "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्च" (अ. ३ आ. १ सू. १५) इति ।

उक्त प्रकार से कहे गये (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व रूप हेतुत्व के सम्पादक) तीनों धर्मों में से एक या दो धर्मों से रहित कोई वस्तु साध्य की अनुमिति का नहीं (किन्तु हेत्वाभास) है । यही बात (उनका हेत्वाभासत्व) सूत्रकार ने 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्च' इस सूत्र के द्वारा कही है ।

न्यायकन्दली

विपरीतमतो यत् स्यादिति द्वितीयश्लोकस्यार्थं विवृणोति–यत्त्विति । अनपदेश इति । **अपदेशो हेतुर्न भवतीत्यपदेशोऽहेतुरित्यर्थः** । अप्रसिद्ध **इति विरुद्धासाधारणयोः परिग्रहः, तयोः साध्यधर्मेण सह प्रसिद्ध्यभावादहेतुत्वम् । असन्नित्यसिद्धस्यावरोधः, स हि सपक्षे साध्यधर्मेण सह प्रसिद्धोऽपि धर्मिणि वृत्त्यभावादहेतुः** । सन्दिग्धश्चेत्य**नैकान्तिकाभिधानम् । स हि धर्मिणि दृश्यमानः किं साध्यधर्मसहचरितः किं वा तद्रहित इति सन्दिग्धो भवति, न पुनरेकं धर्ममुपस्थापयितुं शक्नोति । उभयथा दृष्टत्वादहेतुः ।**

'यत्तु' इत्यादि से 'विपरीतमतो यत् स्यात्' इस दूसरे श्लोक की व्याख्या करते हैं । कथित 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्च' इस सूत्र में प्रयुक्त 'अनपदेश' शब्द का 'अपदेशो हेतुर्न भवति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अहेतु' (अर्थात् हेत्वाभास) अर्थ है । उक्त सूत्र के 'अप्रसिद्ध' शब्द से विरुद्ध और असाधारण इन दोनों को (हेत्वाभास के अन्तर्गत) समझना चाहिए । ये दोनों इस लिए अहेतु हैं कि साध्यरूप धर्म के साथ इनकी 'प्रसिद्धि' नहीं है, अर्थात् निश्चय नहीं है, फलतः सपक्षसत्त्व नहीं है । 'असन्' शब्द से 'असिद्ध' नाम का हेत्वाभास अभिप्रेत है, क्योंकि असिद्ध हेत्वाभास सपक्ष में साध्य धर्म के साथ रहते हुए भी, अर्थात् सपक्षवृत्ति होते हुए भी 'धर्मी' में अर्थात् पक्ष में ही नहीं रहता है, अतः वह हेतु न होकर हेत्वाभास है । 'सन्दिग्धश्च' इस पद से 'अनैकान्तिक' को हेत्वाभास कहा गया है । अनैकान्तिक यद्यपि पक्ष में देखा जाता है, किन्तु यह सन्देह बना ही रहता है कि वह साध्य के साथ रहनेवाला है ? या साध्याभाव के साथ ? इसी सन्देह के कारण यह साध्य या साध्याभाव रूप किसी एक धर्म को निश्चितरूप से उपस्थित नहीं कर सकता, क्योंकि वह दोनों के साथ देखा जाता है, अतः वह हेतु नहीं है ।

धर्मी (हेतु) में धर्म (साध्य) की अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकव्याप्ति इन दोनों के रहने पर भी बोद्धा पुरुष को यदि 'यह हेतु इस साध्य से व्याप्त है' इस प्रकार

प्रशस्तपादभाष्यम्

विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्नन्यभावे धूमोऽपि न भवतीत्येवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति ।

(अनुमिति की उत्पत्ति की यह) रीति है कि 'जहाँ-जहाँ धूम है, उन सभी स्थानों में वह्नि भी अवश्य ही है, एवं जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, उन सभी स्थानों में धूम भी नहीं है' इस प्रकार से 'समय' अर्थात् व्याप्ति का निश्चय जिस पुरुष को है, उसी पुरुष को धूम के असन्दिग्ध दर्शन अर्थात् निश्चय, और उसके बाद उत्पन्न धूम और वह्नि के सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहने) के स्मरण के बाद अग्नि का (अनुमिति रूप) निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है ।

न्यायकन्दली

इदमनेनाविनाभूतमिति ज्ञानं यस्य नास्ति तं प्रति धर्मिणि धर्मस्यान्वयव्यतिरेकवतोऽपि लिङ्गत्वं न विद्यते, तदर्थमविनाभावस्मरणमनुमेयप्रतीतावनुमानाङ्गमिति दर्शयति— विधिस्त्विति ।

विधिस्तु अनुमेयप्रतीतिप्रकारस्तु, यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमो न भवतीति । एवं प्रसिद्धसमयस्य **प्रसिद्धाविनाभावस्य पुरुषस्या**सन्दिग्धधूमदर्शनाद् धूम **एवायम्, न बाष्पादिकमिति ज्ञानात्** साहचर्यानुस्मरणाद् यत्र **धूमस्तत्राग्निरित्येवमनुस्मरणात्, तदनन्तरमग्न्यनुमानं भवति । नन्वेवं द्वितीयो लिङ्गपरामर्शो न लभ्यते ? मा लम्भि, नहि नस्तेन प्रयोजनम्, लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणाभ्यामेवानुमेयप्रतीत्युपपत्तेः । न च स्मृत्यनन्तरभावित्वादनुमेयप्रतीतिरनियतदिग्देशा स्यात् ? लिङ्गदर्शनस्य नियामकत्वात् । नाप्युपनय-**

से 'अविनाभाव' रूप व्याप्ति का भान नहीं रहता है, तो फिर उस हेतु में उस साध्य का हेतुत्व (अर्थात् ज्ञापकत्व) नहीं रहता है । अतः अविनाभाव (व्याप्ति) का स्मरण भी अनुमेय की प्रतीति (अनुमिति) का सहकारिकारण है । यही बात 'विधिस्तु' इत्यादि सन्दर्भ से दिखलायी गयी है ।

'विधि' अर्थात् अनुमिति की उत्पत्ति की रीति यह है कि जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है, एवं जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है' इस प्रकार से 'समय' अर्थात् अविनाभाव (व्याप्ति) की प्रतीति जिस पुरुष को है, उसे जब धूम का 'असन्दिग्ध' ज्ञान आर्थात् 'यह धूम ही है, बाष्पादि नहीं' इस आकार का ज्ञान होता है, तब 'साहचर्य के अनुस्मरण से' अर्थात् 'जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है' इस प्रकार के स्मरण के बाद अग्नि की अनुमिति होती है । (प्र.) यदि अनुमिति का यही क्रम निर्धारित हो जाता है तो फिर 'द्वितीय लिङ्गपरामर्श' में (अर्थात् 'साध्यव्याप्तिविशिष्टहेतुमान् पक्षः' इस आकार के परामर्श में) अनुमिति की कारणता का लाभ न होगा ? (उ.) न हो, क्योंकि व्याप्ति का स्मरण और पक्षधर्मता का ज्ञान, इन दोनों से ही अनुमिति की उत्पत्ति हो जाएगी । (प्र.) अनुमिति यदि (व्याप्ति) स्मरण के अव्यवहित उत्तर काल में ही उत्पन्न हो, तो फिर वह कब किस देश (पक्ष) में उत्पन्न होगी, इसका कोई नियामक नहीं होगा ? (उ.) 'लिङ्गदर्शन' ही उसका नियामक होगा

न्यायकन्दली

वैयर्थ्यम्, अवयवान्तरैरप्रतिपादितस्य पक्षधर्मत्वस्य प्रतिपादनार्थं परार्थानुमानम्, तस्योपन्यासात् ।

अपि भोः । कोऽयमविनाभावो नाम ? अव्यभिचारः । स कस्माद्भवति ? तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामिति सौगताः । यादृच्छिकः सम्बन्धो यथैव भवति, न भवत्यपि, तथा च नियमहेतोरभावः । तत्र यदि नाम सपक्षे दर्शनमदर्शनं च विपक्षे, तथाप्यव्यभिचारो न शक्यते ज्ञातुम्, विपक्षवृत्तिशङ्काया अनिवारणात् । तदुत्पत्तिविनिश्चये तु शङ्का निवार्यते, कारणेन विना कार्यस्यात्मलाभासंभवात् । तदुत्पत्तिविनिश्चयोऽपि कार्यहेतुः पञ्चप्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भसाधनः । कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सत्युपलम्भः, उपलब्धस्य

(अर्थात् अनुमिति का पक्षधर्मताज्ञान रूप लिङ्गदर्शन) जिस पक्ष में होगा, अनुमिति भी नियमतः उसी पक्ष में होगी । एवं उपनय रूप अवयव वाक्य के वैयर्थ्य की आपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि पक्षधर्मता का प्रतिपादन अन्य अवयव वाक्यों से सम्भव नहीं है, अतः पक्षधर्मता का प्रतिपादन करने के लिए ही उपनय वाक्य का परार्थानुमान में प्रयोग होता है ।

(प्र.) यह 'अविनाभाव' क्या वस्तु है ? यदि यह कहें कि (उ.) अव्यभिचार ही अविनाभाव है । (प्र.) तो फिर यह पूछना है कि यह अव्यभिचार किससे (ज्ञात) होता है ?

इस प्रसङ्ग में बौद्धों का कहना है कि (१) तादात्म्य और (२) कार्य की उत्पत्ति इन दोनों से ही अव्यभिचार (व्याप्ति) गृहीत होती है । (१) (तदुत्पत्तिमूलक व्याप्ति के मानने में यह युक्ति है कि) दो वस्तुओं का आकस्मिक (यादृच्छिक) सम्बन्ध जिस प्रकार कभी होता है, उसी प्रकार कभी नहीं भी होता है । अतः यह सम्बन्ध व्याप्ति का नियामक नहीं हो सकता । (२) यदि उसी हेतु में साध्य की व्याप्ति मानें, जिसकी प्रतीति सपक्ष (दृष्टान्त) में हो और विपक्ष में उसकी प्रतीति न हो, तो यह भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि इस (सपक्षदर्शन और विपक्षादर्शन) के बाद भी हेतु के विपक्ष में होने की सम्भावना का निराकरण नहीं हो सकता । किन्तु जब यह निश्चय हो जाता है कि 'इस हेतु की उत्पत्ति उस साध्य से हुई है' तो फिर उक्त शङ्का, (सम्भावना) का निराकरण हो जाता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य की स्वरूपस्थिति ही नहीं हो सकती । 'हेतुरूप कार्य साध्यरूप कारण से उत्पन्न होता है' इस प्रकार का निर्णय रूप 'तदुत्पत्ति विनिश्चय' प्रत्यक्ष रूप उपलम्भ और अनुपलम्भ को मिला कर पाँच कारणों से उत्पन्न होता है । (इनमें तीन कार्य सम्बन्धी हैं) । (१) उत्पत्ति से पहिले कार्य की अनुपलब्धि, (२) कारण के उपलब्ध होने पर कार्य की उपलब्धि, एवं (३) उपलब्ध

न्यायकन्दली

पश्चात् कारणानुपलम्भादनुपलम्भ इति कार्यस्य द्वावनुपलम्भावेक उपलम्भः, कारणस्य चोपलम्भानुपलम्भाविति । एवमुपलम्भानुपलम्भैः पञ्चभिः सत्येवाग्नौ धूमस्य भावोऽसत्यभाव इति निश्चीयते । कार्यस्यैतदेव कार्यत्वं यत् तस्मिन् सत्येव भावोऽसत्यभाव इति तादात्म्यप्रतीत्याप्यविनाभावो निश्चीयते । भावस्य न स्वभावव्यभिचारः, निःस्वभावत्वप्रसङ्गात् ।

तादात्म्यनिश्चयो विपक्षे बाधकस्य प्रमाणप्रवृत्त्या सिद्ध्यति । अप्रवृत्ते तु बाधके शतशः सहभावदर्शनेऽपि कदाचिदेतद्विपक्षे स्यादिति शङ्कायाः को निवारयिता प्रभवति ? तदुक्तम्—

कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न तु दर्शनात् ॥ इति ।

कार्यकारणभावान्नियामकात् स्वभावाद् वा नियामकादविनाभावनियमः, न सपक्षे दर्शनाद् विपक्षे चादर्शनादिति ।

होने के बाद भी कारण की अनुपलब्धि से कार्य की (पुनः) अनुपलब्धि, इस प्रकार कार्य का एक उपलम्भ और दो अनुपलम्भ ये तीन होते हैं । एवं कारण का (१) उपलम्भ और (२) कारण का अनुपलम्भ ये दो हैं । इन उपलम्भों और अनुपलम्भों को मिलाकर इन्हीं पाँच कारणों के रहने पर यह निश्चय होता है कि वह्नि के रहने से ही धूम की सत्ता है, और वह्नि के न रहने से धूम की सत्ता नहीं रहती है । कोई भी वस्तु 'कार्य' नाम से इसीलिए अभिहित होती है कि कारण के रहने से ही उसकी सत्ता होती है, और कारण के न रहने से उसकी सत्ता नहीं रहती है (अर्थात् 'कार्य' वही है जिसकी सत्ता कारण की सत्ता के अधीन हो, और कारण की सत्ता न रहने पर जो सत्ता का लाभ न कर सके) हेतु में साध्य की तादात्म्य प्रतीति से भी अविनाभाव (या व्याप्ति) का निश्चय होता है । यह नहीं हो सकता कि वस्तुओं का स्वभाव उनमें कभी रहे और कभी नहीं, ऐसा मानने पर तो वस्तुओं का कोई स्वभाव ही नहीं रह जाएगा । जिस धर्म के बिना भी धर्मी रह सके, वह धर्म उस धर्मी का 'स्वभाव' कैसे होगा ? विपक्ष में बाधकप्रमाण की प्रवृत्ति से ही हेतु में साध्य का तादात्म्य निश्चित होता है । यदि विपक्ष में बाधक प्रमाण की प्रवृत्ति न हो, तो फिर सैकड़ों स्थानों में साध्य और हेतु दोनों को साथ देखने पर भी 'जहाँ साध्य नहीं है, वहाँ भी यह हेतु कभी रह सकता है' इस शङ्का का निवारण कौन करेगा ?

यही बात 'कार्यकारणभावाद्वा' इत्यादि श्लोक के द्वारा इस प्रकार कही गयी है कि कार्यकारणभावरूप नियामक और स्वभाव (तादात्म्य) रूप नियामक इन दोनों से ही अविनाभाव का निश्चय होता है, हेतु का सपक्ष में दर्शन और विपक्ष में अदर्शन से (अविनाभाव का निश्चय नहीं होता है) ।

न्यायकन्दली

अत्रोच्यते—किं यत्र तादात्म्यतदुत्पत्ती तत्राव्यभिचारः ? किं वा यत्राव्यभिचारस्तत्र तादात्म्यतदुत्पत्ती ? न तावदाद्यः कल्पः, सत्यपि तदुत्पादे धूमधर्मस्य पार्थिवत्वादेरग्निव्यभिचारात् । सत्यपि तादात्म्ये वृक्षत्वस्य विशेषाद् व्यभिचारात् । अथ यत्राव्यभिचारस्तत्र तादात्म्यतदुत्पत्ती, तर्ह्यव्यभिचारसत्त्वे तयोर्गमकत्वम् । एवं चेत्, अव्यभिचार एवास्तु गमकः, किं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् ? कार्यमपि हि न कार्यमित्येव गमयतीति, नापि स्वभावः स्वभाव इति, किं तर्हि ? तदव्यभिचारीति, अव्यभिचार एव गमकत्वे कारणं न तादात्म्यतदुत्पत्ती, व्यभिचारात् । न चैवमुपपत्तिमारोहति धूमो वह्निना क्रियते न पार्थिवत्वादयस्तद्धर्मा इति, वस्तुनो निर्भागत्वात् । नान्ये तदुपलब्धं शिंशपा वृक्षात्मिका न वृक्षः शिंशपात्मकः, धवखदिरादिसाधारणत्वादिति, तयोरभेदात् ।

इस प्रसङ्ग में हम (वैशेषिक) लोग पूछते हैं कि (१) क्या जिस साध्य का तादात्म्य जिस हेतु में रहता है, उसी हेतु में उस साध्य का अव्यभिचार (व्याप्ति) रहता है ? एवं जिस साध्य से जिस हेतु की उत्पत्ति होती है, उसी हेतु में उस साध्य का अव्यभिचार (व्याप्ति) रहता है ? (२) अथवा जिस हेतु में साध्य की व्याप्ति रहती है, उसी हेतु में उस साध्य का तादात्म्य या जन्यत्व रहता है ? इन दोनों में प्रथम कल्प इसलिए ठीक नहीं है कि वह्नि से धूम की उत्पत्ति होने पर भी धूम के पार्थिवत्वादि धर्मों के साथ वह्नि का व्यभिचार है (अतः पार्थिवत्वादि धर्म से अभिन्न धूम के साथ वह्नि का व्यभिचार भी है ही, क्योंकि धर्म और धर्मी आपके मत से एक हैं) । एवं ('वृक्षः शिंशपायाः' इत्यादि स्थलों में) शिंशपा में यद्यपि वृक्ष का तादात्म्य है, फिर भी वृक्षत्व में 'विशेष' का अर्थात् शिंशपा का व्यभिचार है (क्योंकि विल्वादि वृक्ष होने पर भी शिंशपा नहीं है ।) यदि उसका यह अर्थ करें कि जिस हेतु में साध्य का अव्यभिचार है, वहाँ साध्य निरूपित उत्पत्ति (साध्य रूप कारण जन्यत्व) या साध्य का तादात्म्य अवश्य है । तो फिर इसका अभिप्राय यह हुआ कि हेतु में साध्य के अव्यभिचार के रहने के कारण ही उस हेतु में रहनेवाले साध्य के तादात्म्य या साध्यरूप कारणजन्यत्व दोनों में साध्य की ज्ञापकता है । यदि यह स्थिति है तो फिर अव्यभिचार को ही साध्य का ज्ञापक मानिए ? साध्य के तादात्म्य या उत्पत्ति को इन सबों के बीच लाने का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि हेतु साध्य से उत्पन्न होता है या साध्य से अभिन्न है, इन दोनों में से किसी भी कारण से हेतु में साध्य की ज्ञापकता नहीं है, किन्तु हेतु इसलिए साध्य का ज्ञापक है कि उसमें साध्य का अव्यभिचार है । (प्र.) धूम की उत्पत्ति तो वह्नि से होती है; किन्तु धूम के पार्थिवत्वादि धर्म तो वह्नि से उत्पन्न नहीं होते । (उ.) यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु का एक ही स्वरूप होता है (अतः धूम को यदि

न्यायकन्दली

यदि धवादिसाधरणी वृक्षता न शिंशपात्यम्, तदा नानयोरेकत्वं स्वभावभेदस्य भेदलक्षणत्वात् । अभेदे तु यथा वृक्षत्वं सर्ववृक्षसाधारणं तथा शिंशपात्वमपि स्यात् । न च तादात्म्ये गम्यगमकभावे व्यवस्था युक्ता, तस्याभेदाश्रयत्वात् । यदि शिंशपात्वे गृह्यमाणे वृक्षत्वमगृहीतम्,क्व तादात्म्यम् ? गृहीतं चेत् ? (तत्) क्वानुमानम् ?

अथोच्यते–यथावस्थितो धर्मी, शिंशपात्वं वृक्षत्वं च त्रयमेकात्मकमेव, तत्र धर्मिणि गृह्यमाणे शिंशपात्वं वृक्षत्वमपि गृहीतमेव । यथोक्तम्–

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ।
भागः कोऽन्यो न दृष्टः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥ इति ।

वह्नि जन्य मानना है, तो उसमें रहनेवाले वस्तुतः तदभिन्न पार्थिवत्वादि को भी वह्नि जन्य मानना ही होगा) अतः कथित व्यभिचार है ही ।

यह भी निश्चय नहीं है कि शिंशपा तो वृक्ष रूप है, किन्तु (वृक्षत्व के आश्रय धवखदिरादि अन्यवृक्षों में भी) साधारण रूप से रहने के कारण वृक्षत्व शिंशपा-स्वरूप नहीं है; क्योंकि वृक्ष और शिंशपा दोनों अभिन्न हैं । यदि (प्र.) यह कहें कि वृक्षत्व (शिंशपा की तरह उससे भिन्न) धवादि में भी है; किन्तु शिंशपात्व तो केवल शिंशपा में ही है, धवादि में नहीं । (उ.) तो फिर वृक्षत्व और शिंशपात्व दोनों एक नहीं हो सकते, क्योंकि स्वभावों की विभिन्नता ही वस्तुओं की विभिन्नता है[1] । यदि शिंशपात्व और वृक्षत्व को अभिन्न मानें तो फिर जिस प्रकार वृक्षत्व सभी वृक्षों में रहता है,उसी प्रकार (वृक्षत्व से अभिन्न) शिंशपात्व की सत्ता भी सभी वृक्षों में माननी ही पड़ेगी । दूसरी बात यह है कि यदि वृक्षत्व और शिंशपात्व में अभेद मानें तो यह निर्धारण नहीं हो सकता कि शिंशपात्व ही वृक्षत्व का ज्ञापक है, वृक्षत्व शिंशपात्व का ज्ञापक नहीं । क्योंकि ज्ञाप्यज्ञापकभाव भेदों के अधीन है (अर्थात् ज्ञाप्य और ज्ञापक को परस्पर भिन्न ही होना चाहिए) । शिंशपात्व का ज्ञान हो जाने पर भी यदि वृक्षत्व अज्ञात ही रहता है, तो फिर शिंशपात्व और वृक्षत्व में तादात्म्य कहाँ ? यदि शिंशपात्व के गृहीत होने पर उसी ज्ञान से वृक्षत्व भी गृहीत हो जाता है, तो फिर वृक्षत्व के अनुमान की ही कौन-सी सम्भावना है ?

यदि यह कहें कि (प्र.) अपने स्वरूप में अवस्थित शिंशपावृक्ष रूप धर्मी एवं वृक्षत्व और शिंशपात्व रूप दोनों धर्म, ये तीनों वस्तुतः एक ही हैं । अतः धर्मी के गृहीत होने पर वृक्षत्व और शिंशपात्व रूप उसके धर्म भी उसी ज्ञान से गृहीत हो जाते हैं । जैसा कहा गया है कि "तस्मात् किसी भी धर्मी के प्रत्यक्ष होने पर

1. अर्थात् वृक्ष और शिंशपा इन दोनों में अगर अभेद है एवं इस कारण शिंशपा वृक्षात्मक है, तो फिर यह कैसे कह सकते हैं– वृक्ष शिंशपात्मक नहीं है ।

न्यायकन्दली

यदेवं शिंशपाविकल्पो जातो न वृक्षविकल्पः, स वृक्षशब्दस्मृत्यभावापराधात् शिंशपाशब्दसंस्कारप्रबोधजन्मना शिंशपाविकल्पेन चाशिंशपाव्यावृत्तिपर्यवसितेन नावृक्षव्यावृत्तिरुपनीयते, सर्वविकल्पानां पर्यायत्वप्रसङ्गात् । गम्यगमकभावश्च व्यावृत्त्योरेव नानयोर्न वस्तुनः, तस्यान्वयाभावात् । अवृक्षव्यावृत्त्यशिंशपाव्यावृत्ती च परस्परं भिन्ने, व्यावर्त्यभेदात् ? अतो यथोक्तदोषानुपपत्तिरिति । अहो पूर्वापरानुसन्धाने परं कौशलं पण्डितानाम् ? तादात्म्यमनुमानबीजम्, साध्यसाधनभूतयोर्व्यावृत्त्योः परस्परं भेद इति किमिदमिन्द्रजालम् ? वृक्षशिंशपयोस्तादात्म्यं

उसी प्रत्यक्ष के द्वारा उसके सभी धर्मों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है । अतः उसका कौन-सा अंश देखने से बच जाता है, जिसकी परीक्षा अन्य प्रमाणों से की जाय ।''

तब यह बात रही कि (उस ज्ञान में शिंशपात्व की तरह वृक्षत्व भी यदि भासित होता है तो फिर) उस विकल्प (विशिष्ट ज्ञान) का अभिलाप 'यह शिंशपा है' इस शब्द के द्वारा क्यों होता है ? 'यह वृक्ष है' इस प्रकार के शब्दों के द्वारा क्यों नहीं ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि उस समय वृक्ष शब्द की स्मृति नहीं रहती है । इसी स्मृति के न रहने के 'अपराध' से ही वृक्ष शब्द से उसका अभिलाप नहीं हो पाता । शिंशपा शब्द की स्मृति से जिस शिंशपा विषयक विकल्प ज्ञान की उत्पत्ति होता है, उसका पर्यवसान 'अशिंशपाव्यावृत्ति' रूप 'अपोह' में ही होता है, उससे 'अवृक्षव्यावृत्ति' रूप 'अपोह' का ज्ञान नहीं होता । यदि ऐसा हो, तो सभी विशिष्ट ज्ञानों के बोधक शब्द एकार्थक हो जाएँगे (अर्थात् सभी ज्ञान एक विषयक हो जाएँगे) । एक ही व्यावृत्ति (अपोह) ही दूसरी व्यावृत्ति की ज्ञापिका हो सकती है (फलतः ज्ञाप्यज्ञापकभावसम्बन्ध दो अपोहों में ही हो सकता है) किन्तु व्यावृत्ति के आश्रयों में ज्ञाप्यज्ञापकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि (क्षणिक होने के कारण उनमें परस्पर सामानाधिकरण्यरूप) अन्वय ही सम्भव नहीं है । (वृक्ष और शिंशपा इन दोनों के अभिन्न होने पर भी) अवृक्षव्यावृत्ति और अशिंशपाव्यावृत्ति ये दोनों अपोह तो भिन्न हैं, क्योंकि दोनों अपोहों के व्यवच्छेद्य भिन्न हैं[1] । अतः कथित (सभी ज्ञानों में एक विषयत्व की) आपत्ति नहीं है । (उ.) यह तो आप जैसे पण्डितों का आगे और पीछे अनुसन्धान करने की अपूर्व ही चतुरता है, जिससे यह इन्द्रजाल सम्भव होता है कि तादात्म्य (अभेद) को तो अनुमान का प्रयोजक मानते हैं, और कहते हैं कि साध्य और साध्य से अभिन्न हेतु इन दोनों की व्यावृत्तियाँ (अपोह) भिन्न

---

1. उक्त विवरण के अनुसार शिंशपात्व का यह स्वभाव निष्पन्न होता है कि वह केवल शिंशपा में ही रहे, और वृक्षत्व का यह स्वभाव निष्पन्न होता है कि वह शिंशपा में रहे और उससे भिन्न धवखदिरादि सभी वृक्षों में भी रहे, तो फिर विभिन्न स्वभाव की ये दोनों वस्तुएँ एक कैसे हो सकतीं हैं ?

न्यायकन्दली

तदात्मतया च व्यवस्थितयोरवृक्षव्यावृत्त्यशिंशपायावृत्त्योः सत्यपि भेदे यथाध्यवसायं तादात्म्यमिति चेत् ? सिद्धे तादात्म्ये सत्यशिंशपाव्यावृत्त्या धर्मिण्यवृक्षव्यावृत्तिरध्यवसेया, तत्राध्यवसितायामवृक्षव्यावृत्तौ यथाध्यवसायं तादात्म्यसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयदोषः । व्याप्तिग्रहणवेलायामेकात्मतयाध्यवसितयोर्व्यावृत्त्योस्तादात्म्यसिद्धिरिति चेत् ? तथाध्यवसितयोरभेदः काल्पनिकः । यद्यनुमानं कल्पनासमारोपेणापि प्रवर्त्तेत, न कश्चिदहेतुर्नाम । प्रमेयत्वानित्यत्वयोरप्येकात्मतयाध्यवसितयोर्यथाध्यवसायं

हैं । (प्र.) वृक्ष और शिंशपा इन दोनों में यद्यपि तादात्म्य है, किन्तु वृक्ष और शिंशपा इन दोनों से क्रमशः अभिन्नरूप से निश्चित अवृक्षव्यावृत्ति (वृक्षभिन्नभिन्नत्व) और अशिंशपाव्यावृत्ति (शिंशपाभिन्नभिन्नत्व) ये दोनों व्यावृत्तियाँ परस्पर भिन्न हैं । अतः दोनों व्यावृत्तियों में वास्तविक भेद रहते हुए भी ज्ञानीय अभेद (अर्थात् 'दोनों अभिन्न हैं' इस आकार के भ्रमात्मक ज्ञान के द्वारा गृहीत अभेद) हैं, औप इसी अभेद के कारण अशिंशपाव्यावृत्ति रूप हेतु के द्वारा अवृक्षव्यावृत्ति का अनुमान होता है[1] । (उ.) यह कहना भी सम्भव नहीं है (क्योंकि इससे अन्योन्याश्रय दोष होगा) चूँकि तादात्म्य के रहने पर अशिंशपाव्यावृत्ति के द्वारा वृक्ष रूप धर्मी में अवृक्षव्यावृत्ति का अनुमान होगा, कथित साध्य साधनभूत दोनों व्यावृत्तियों में तादात्म्य तब होगा, जब कि पक्ष रूप शिंशपा में अनुमान के द्वारा अवृक्षव्यावृत्ति की प्रतीति हो जाएगी, अतः अन्योन्याश्रयदोष होगा । (प्र.) व्याप्ति ज्ञान के समय में ही जो दोनों व्यावृत्तियों का अभेद गृहीत होता है, उसी से तादात्म्य की सिद्धि होती है, अतः (अनुमितिमूलक उक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं है) । (उ.) तो फिर यह कहिए कि अभिन्नरूप से ज्ञायमान दोनों व्यावृत्तियों का अभेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं । यदि हेतु प्रभृति के काल्पनिक ज्ञान से भी अनुमान की प्रवृत्ति मानें, तो हेत्वाभास नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाएगी । इस प्रकार तो प्रमेयत्व एवं अनित्यत्व इन दोनों में भी एकात्मता (अभेद) का विपर्यय हो ही सकता है, और इस विपर्यय रूप अध्यवसाय के द्वारा प्रमेयत्व और अनित्यत्व में भी काल्पनिक अभेद रहेगा ही । (प्र.) (जहाँ अनित्यत्व नहीं है, वहाँ भी प्रमेयत्व है, इस प्रकार) विपक्षव्यावृत्ति के न रहने के कारण प्रमेयत्व

---

1. अवृक्षव्यावृत्त हैं वृक्ष से भिन्न सभी पदार्थों के भेदों का समूह एवं अशिंशपाव्यावृत्त है, शिंशपावृक्षमात्र को छोड़ और सभी पदार्थों के भेदों का समूह, इन दोनों भेदों के समूह भिन्न हैं, क्योंकि दोनों भेदों के प्रतियोगी समूह अलग-अलग हैं, पहले प्रतियोगिसमूह में शिंशपा नहीं है, क्योंकि शिंशपा भी वृक्ष ही है । दूसरे समूह में शिंशपा को छोड़कर और सभी वृक्ष भी हैं; क्योंकि सभी वृक्ष शिंशपा नहीं है ।

न्यायकन्दली

तादात्म्यसम्भवात् । विपक्षव्यावृत्त्यभावात् प्रमेयत्वस्यानित्यत्वेन सह तादात्म्याभाव इत चेत् ? सत्यम्, वास्तवं तादात्म्यं नास्ति, कल्पनासमारोपितं तावदस्त्येव, तदेवानुमानोदयबान्धवं समर्थितवन्तो यूयमिति विपक्षादव्यावृत्तिरसत्समा । अपि च तादात्म्ये तदुत्पादे च यस्य प्रतीतिर्विपक्षे हेत्वभावप्रतीत्या, तदभावप्रतीतिरपि दृश्यानुपलब्धेः, अनुपलब्धिश्चानुमानभूतत्वात् स्वसाध्येन विपक्षे हेत्वभावेन सह तादात्म्यप्रतीत्या तदुत्पादप्रतीत्या वा प्रवर्तते, तस्या अपि स्वसाध्येन तादात्म्यतदुत्पादनिश्चयो विपक्षे वृत्त्यभावप्रतीत्या, तदभावप्रतीतिश्चानुपलब्ध्यन्तरसापेक्षा, यावान् प्रतिषेधः स सर्वोऽप्यनुपलब्धिविषय इत्यभ्युपगमात् । ततश्चानवस्थापाताद् व्यतिरेकासिद्धौ तादात्म्यतदुत्पादासिद्धेर्न स्वभावः कार्यं वा हेतुः । किञ्च तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावेऽपि कृत्तिकोदयरोहिण्यस्तङ्गमनयोर्गम्यगमकभावः प्रतीयते । तस्मात् कार्यकारणभावाद् वा नियमः स्वभावाद् वेत्यनालोचिताभिधानम् ।

के साथ अनित्यत्व का तादात्म्य नहीं है । (उ.) यह सत्य है कि उन दोनों में प्रामाणिक तादात्म्य नहीं है, किन्तु काल्पनिक तादात्म्य तो है, तुम लोगों ने काल्पनिक तादात्म्य को ही तो अनुमानोदय के परम सहायक रूप में समर्थन किया है ? अतः प्रकृत में विपक्षव्यावृत्ति का रहना और न रहना दोनों ही बराबर है । और भी बात है कि व्याप्ति के प्रयोजक तादात्म्य और उत्पत्ति के रहने पर विपक्ष में हेतु के जिस अभेद की प्रतीति से जिसकी प्रतीति होगी, उस हेत्वभाव की प्रतीति के लिए भी दृश्यानुपलब्धि की आवश्यकता होगी, क्योंकि अभाव विषयक सभी प्रतीतियों के लिए दृश्यानुपलब्धि को कारण माना गया है । दृश्यानुपलब्धि रूप अनुमान प्रमाण के लिए भी विपक्ष में हेत्वभाव के साथ-साथ हेतु में साध्य के तादात्म्य या उत्पत्ति की प्रतीति आवश्यक होगी । इस तादात्म्य और उत्पत्ति की प्रतीति के लिए भी विपक्ष में हेत्वभाव की प्रतीति आवश्यक होगी । एवं इस हेत्वभाव की प्रतीति के लिए फिर दूसरी दृश्यानुपलब्धि आवश्यक होगी, क्योंकि जितने भी प्रतिषेध हैं, सभी को अनुपलब्धि प्रमाण का विषय माना गया है । इस अनवस्था दोष के कारण विपक्ष में हेतुव्यतिरेक (हेत्वभाव) की सिद्धि सम्भव न होने के कारण कथित तादात्म्य एवं उत्पत्ति की सिद्धि ही सम्भव नहीं है, अतः हेतु में साध्य का तादात्म्य या हेतु का साध्य से उत्पन्न होना ही हेतु में साध्य की व्याप्ति का कारण नहीं हो सकता । दूसरी बात यह है कि कृत्तिका नक्षत्र का उदय एवं रोहिणी नक्षत्र का अस्त इन दोनों में ज्ञाप्यज्ञापकभाव की प्रतीति होती है, किन्तु इन दोनों में से न किसी का किसी में तादात्म्य है और न किसी की उत्पत्ति ही किसी से होती है । तस्मात् बिना पूर्ण आलोचन के ही यह कह दिया गया है कि 'नियम' अर्थात् व्याप्ति की प्रतीति हेतु में साध्य की जन्यता या तादात्म्य की प्रतीति से ही होती है ।

न्यायकन्दली

स्वभावेन हि कस्यचित् सह सम्बन्धो नियतो निरुपाधिकत्वात्, उपाधिकृतो हि सम्बन्धः तदपगमार्थं निवर्तते, न स्वाभाविकः । यदि धूमस्योपाधिकृतो वह्निसम्बन्धः ? उपाधय उपलभ्याः स्युः, शिष्याचार्ययोरिव प्रत्यासत्तावध्ययनम् । नहि वह्निधूमयोरसकृदुपलभ्यमानयोस्तदुपाधीनामनुपलम्भे किञ्चिद् बीजमस्ति । न चोपलभ्यमानस्य नियमेनानुपलभ्या भवन्त्युपाधयः, ते हि यदि स्वरूपमात्रानुबन्धिनस्तथाप्यव्यभिचारसिद्धिः, तत्कृतस्यापि सम्बन्धस्य यावद्द्रव्यभावित्वात् । अथागन्तवः ? तत्कारणान्यपि प्रतीयेरन् । उपाधयस्तत्कारणानि च सर्वाण्यतीन्द्रियाणीति गुर्वीयं कल्पना । यस्य चोपाधयो न सन्ति, स धूमः कदाचित् स्वतन्त्रोऽप्युपलभ्येत, यथेन्धनोपाधिकृतधूमसम्बन्धो वह्नेः शुष्केन्धनकृताधिपत्यो विधूमः प्रत्यवमृश्यते । न च तथा संविदन्तरे धूमः कदाचिन्निरग्निराभाति । तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्ताना-

अभिप्राय यह है कि स्वभाव के द्वारा ही किसी भी वस्तु का किसी वस्तु के साथ जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वही उपाधि से शून्य होने के कारण 'नियम' कहलाता है । उपाधिमूलक सम्बन्ध ही उपाधि के हटने पर टूटता है, स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं । यदि धूम में वह्नि का सम्बन्ध भी उपाधिमूलक ही हो, तो फिर उन उपाधियों की उपलब्धि उसी प्रकार होनी उचित है, जिस प्रकार कि शिष्य और आचार्य की उपलब्धि के बाद अध्ययन रूप उपाधि की उपलब्धि होती है । इसका कोई हेतु नहीं मालूम होता कि बार-बार उपलब्ध होनेवाले वह्नि और धूम के सम्बन्ध की उपलब्धि तो हो, किन्तु उसकी प्रयोजिका उपाधि की उपलब्धि न हो । इसमें भी कोई हेतु नहीं है कि उपलब्ध होनेवाली वस्तुओं के सम्बन्ध की उपाधियाँ नियमतः अनुपलभ्य ही हों । ये (उपाधियाँ) यदि अपनी स्वरूपसत्ता के कारण ही अपने उपधेयों (साध्य और हेतुओं) के सम्बन्ध के कारण हैं, फलतः नित्य हैं, तो भी व्याप्ति की सिद्धि हो ही जाती है, क्योंकि यह औपाधिक सम्बन्ध अपने उपधेय रूप सम्बन्धियों की सत्ता तक विद्यमान ही रहता है । यदि ये आगन्तुक हैं ? अर्थात् कारणों से उत्पन्न होते हैं, तो फिर उनके कारणों की भी प्रतीति होनी चाहिए । यह कल्पना तो बहुत गौरवपूर्ण होगी कि उपाधियाँ और उनके कारण सभी अतीन्द्रिय ही हैं । जिन हेतुओं के उपाधि नहीं होते, वे कदाचित् स्वतन्त्र रूप से (साध्यसम्बन्ध के बिना) भी उपलब्ध होते हैं । किन्तु उपाधि से रहित धूम हेतु कभी भी स्वतन्त्र रूप से (वह्नि को छोड़कर) उपलब्ध नहीं होता है, जैसे कि उपाधिमूलक सम्बन्ध के योग्य वह्नि ही जब सूखी हुई लकड़ियों से उत्पन्न होती है, तो बिना धूम सम्बन्ध के भी देखी जाती है, यद्यपि वह्नि ही जब गीली लकड़ी से उत्पन्न होती है,

न्यायकन्दली

मुपाधीनामनुपलम्भादभावप्रतीतौ (उपलब्धानामनुपलम्भादभावप्रतीतौ) उपलब्धानां शेषका-लेन्धनावस्थाविशेषाणां पुनः पुनर्दर्शनेषु व्यभिचारादहेतुत्वनिश्चये सति निखिलदेश-कालादिविशेषाध्याहारेण न उपाध्यभावोपलब्धिदोषः । सहभावदर्शनजसंस्कारसहकारिणा निरस्तप्रतिपक्षशङ्केन चरमप्रत्यक्षेण धूमसामान्यस्याग्निसामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभावं निश्चित्य इदमनेन नियतमिति नियमं निश्चिनोति ।

यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीतः, तथापि न नियमग्रहणम् । न हि सहभावमात्रान्नियमः, अपि तु निरुपाधिकसहभावात् । निरुपाधिकत्वं च तस्य भूयोदर्शनाभ्यासावशेषमित्यतो भूयः सहभावग्रहणबलभुवा सविकल्पकप्रत्यक्षेण सोऽध्यवसीयत इति । एतेन प्रत्यक्षे उपलब्धविद्यमानविषयत्वाद-तीतानागतासु व्यक्तिषु कथं नियमग्रहणमिति प्रत्युक्तम् । न हि

तब उसमें धूम के उपाधिमूलक सम्बन्ध की भी योग्यता है, किन्तु धूम की कोई भी प्रतीति वह्नि सम्बन्ध को छोड़कर नहीं होती है । तस्मात् जिन उपाधियों में उपलब्ध होने की योग्यता है (अर्थात् जिनकी उपलब्धि हो सकती है), उनकी अनुपलब्धि से ही उपाधियों के अभाव की सिद्धि होती है । इस प्रकार उपाधि के अभाव की प्रतीति हो जाने पर आर्द्रेन्धन संयोगरूप उपाधि से युक्त वह्नि हेतु में बार-बार धूम का व्यभिचार देखे जाने पर वह्नि हेतु में अहेतुत्व (हेत्वाभासत्व) का निश्चय हो जाता है । अतः 'सभी देशों में या सभी कालों में उपाधि के अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती' केवल इसी कारण सभी हेतुओं में उपाधि संशय की आपत्ति नहीं दी जा सकती । अतः धूम सामान्य में वह्नि सामान्य का जो स्वाभाविक सामानाधिकरण्य है, उसके निश्चय से ही 'यह (धूम) इससे (वह्नि से) नियत है' इस प्रकार से (व्याप्ति रूप) नियम का ज्ञान होता है । (व्याप्ति के कारणीभूत उक्त सामानाधिकरण्य का निश्चय) प्रतिपक्ष शङ्का से रहित उस अन्तिम प्रत्यक्ष से होता है, जिसमें उसे सहभाव विषयक प्रत्यक्ष से उत्पन्न संस्कार के साहाय्य की भी अपेक्षा होती है । यद्यपि प्रथमतः ही जब धूम और वह्नि साथ-साथ देखे जाते हैं, तब भी दोनों का सामानाधिकरण्य गृहीत ही रहता है, तथापि उससे नियम (व्याप्ति) का ग्रहण नहीं होता; किन्तु उपाधिरहित सहभाव से ही व्याप्ति का ग्रहण होता है । बार-बार साध्य और हेतु को साथ देखने से ही उपाधि के अभाव का निश्चय होता है । अतः बार-बार सामानाधिकरण्य के दर्शन के द्वारा बलप्राप्त (सामानाधिकरण्य विषयक) सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही वह (नियम) गृहीत होता है । इससे नियम (व्याप्ति ग्रहण के प्रसङ्ग में इस आपत्ति का भी समाधान हो जाता है कि (प्र.) प्रत्यक्ष केवल वर्त्तमान काल की वस्तुओं का ही होता है, अतीत में बीते हुए एवं भविष्य काल में होनेवाले

न्यायकन्दली

विशेषनिष्ठं व्याप्तिग्रहणमाचक्ष्महे । विशेषहान्या सामान्येन व्याप्तिग्रहणे तु सर्वत्रैव निर्विशङ्कः प्रत्ययः, तस्य सर्वत्रैकरूपत्वात् । किं व्यक्तयो व्याप्तावप्रविष्टा एव ? को वै ब्रूते न प्रविष्टा इति । किन्तु सामान्यरूपतया, न विशेषरूपेण । अत एव धूमसंवित्त्या वह्निमात्रमेवानुसन्दधानस्तमनुधावति, न विशेषमाद्रियते । यदि तु सामान्येन सर्वत्र निश्चितेऽपि नियमे निष्प्रामाणिकैराशङ्का क्रियते, तदा त्वत्पक्षेऽपि प्रत्यक्षेण दृष्टासु वह्निधूमव्यक्तिषु गृहीतेऽपि कार्यकारणभावे देशकालव्यवहितात् तद्भावसन्देहादत्रानुमानाप्रवृत्तिं को निवारयति ?

अथोच्यते—भूयोदर्शनेन कार्यकारणभावो निर्द्धार्यते सकृद्दर्शनेन तदुपाधिजत्यशङ्काया अनिवर्तनात् । भूयोदर्शनं च सामान्यविषयम्, क्षणिकानां व्यक्तीनां पुनः पुनर्दर्शनाभावात् । तेनानग्निव्यावृत्तस्याधूमव्यावृत्तस्य च सामान्य-

अनन्त हेतु (धूमादि) व्यक्तियों में (वह्नि आदि) साध्य के नियम (व्याप्ति) का (प्रत्यक्ष रूप) ग्रहण कैसे होगा ? (उ.) हम लोग विशेष व्यक्तियों में अलग-अलग व्याप्तिग्रहण नहीं मानते, किन्तु विशेष को छोड़कर केवल हेतुसामान्य में साध्यसामान्य की व्याप्ति का ग्रहण मानने से ही सभी हेतुओं में व्याप्ति का शङ्का से सर्वथा रहित निश्चय हो जाएगा । क्योंकि सामान्यमुखी व्याप्ति सभी व्यक्तियों में समान है । (प्र.) तो क्या व्याप्तिग्रहण में विशेष्य रूप से (हेतु) व्यक्तियों का प्रवेश नहीं होता ? (उ.) कौन कहता है कि व्याप्ति के ग्रहण में व्यक्तियों का प्रवेश नहीं होता है । 'व्याप्ति सामान्य विषयक ही है, विशेष विषयक नहीं' इसका इतना ही अभिप्राय है कि व्याप्तिबुद्धि में विशेष भी सामान्य रूप से ही भासित होते हैं, अपने असाधारण तत्तद्व्यक्तित्वादि रूपों से नहीं । अत एव धूम के ज्ञान से वह्नि सामान्य की अनुमिति के द्वारा प्रमाता वह्नि सामान्य का ही अनुधावन करता है, किसी विशेष प्रकार के वह्नि का आदर वह नहीं करता । यदि हेतु सामान्य में साध्य सामान्य की व्याप्ति के निश्चित हो जाने पर भी अप्रामाणिक लोग यह शङ्का करें कि तुम्हारे मत में भी यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत धूम और प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत वह्नि इन दोनों में कार्यकारणभाव के गृहीत होने पर भी विभिन्न देशों के धूमों और वह्नियों में एवं विभिन्न काल के धूमों और वह्नियों में कार्यकारणभाव का सन्देह बना ही रहेगा तो फिर इस सन्देह के कारण सभी अनुमानों के उच्छेद का निवारण कौन कर सकेगा ?

यदि यह कहें कि (प्र.) हेतु और साध्य को बार-बार एक स्थान में देखने (भूयोदर्शन) से दोनों में कार्यकारणभाव का निश्चय होता है । कहीं एक बार हेतु और साध्य दोनों में सामानाधिकरण्य के देखने पर भी यह संशय रह ही जाता है कि इन दोनों का सम्बन्ध स्वाभाविक है, या औपाधिक ? बार-बार का यह देखना (भूयोदर्शन) साध्य सामान्य का हेतु सामान्य के साथ ही हो सकता है, एक साध्य व्यक्ति

न्यायकन्दली

विषयः कार्यकारणभाव एकत्र निश्चीयमानः सर्वत्र विनिश्चितो भवति, सामान्यस्यैकत्वादिति चेत् ? अस्माभिरपीत्थमेव सर्वत्र निश्चीयमानो नियमः किं भवद्भ्यो न रोचते ? किञ्च, भवतां प्रत्यक्षागोचरः सामान्येन कार्यकारणभावः, अनुभवतोऽवस्तुत्वात्, व्यक्तयस्तादृश्यः । तासु सर्वाणि प्रत्यक्षेण गृह्यन्ते । न चातीतानागतानां व्यक्तीनां मनसा संकलनमिति न्याय्यम्, मनसो बहिरर्थे स्वातन्त्र्येऽन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गात् । दृष्टासु व्यक्तिषु कार्यकारणभावोऽध्यवसायश्चादृष्टासु नानुमानोदयस्तदन्यत्वात् । नापि व्यक्तीनां साध्यसाधनभावो युक्तः, परस्परमनन्वितत्वात् । न च तासामेकेन सामान्येनोपग्रहः, वस्त्ववस्तुनोः सम्बन्धाभावात्, असम्बद्धस्योपग्राहकत्वे चातिप्रसङ्गात् । तत्किंविषयः प्रत्यक्षसाधनस्तदुत्पादविनिश्चयः, यस्मादनुमानप्रवृत्तिरिति न विद्मः ।

का एक हेतु व्यक्ति के साथ नहीं, क्योंकि व्यक्ति क्षणिक हैं । अतः उनको बार बार साथ देखना सम्भव नहीं है । तस्मात् अनग्निव्यावृत्त (अपोह या अग्नित्व जाति) अधूम व्यावृत्त (अपोह या धूमत्व जाति) इन दोनों का सामान्य विषयक कार्यकारणभाव ही गृहीत होता है । 'धूम सामान्य की उत्पत्ति वह्निसामान्य से होती है' यह निश्चित हो जाने पर सभी धूमों और सभी वह्नियों में कार्यकारणभाव गृहीत हो जाता है, क्योंकि सामान्य (अपोह) एक ही है । (उ.) इसी प्रकार जब हम हेतु सामान्य में साध्य सामान्य के नियम (व्याप्ति) का उपपादन करते हैं, तो आप लोगों को क्यों पसन्द नहीं आता ? आप लोगों का सामान्य (अपोह) चूँकि अभाव रूप है, अतः सामान्यों में आप लोग (बौद्धगण) कार्यकारणभाव का अनुभव नहीं कर सकते । व्यक्ति सभी प्रत्यक्ष के विषय हैं अतः उनमें कार्यकारणभाव का ग्रहण होता है । यह कहना भी उचित नहीं है कि (प्र.) भूत और भविष्य व्यक्तियों का (चक्षुरादि से ज्ञान सम्भव न होने पर भी) मन से ग्रहण हो सकता है (अतः अतीत और अनागत व्यक्तियों में भी कार्यकारणभाव का ग्रहण असम्भव नहीं है) । (उ.) (यह सम्भव इसलिए नहीं है कि) मन को यदि बाह्य अर्थों के ग्रहण में स्वतन्त्र (अर्थात् चक्षुरादि निरपेक्ष) मान लिया जाय तो जगत् में कोई गूँगा या बहरा न रह जाएगा । इस प्रकार भी बौद्धों के मत से उपपत्ति नहीं की जा सकती कि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत व्यक्तियों में ही कार्यकारण भाव गृहीत हो सकता है, किन्तु (व्याप्ति) का निश्चय अदृष्ट व्यक्तियों में भी होता है, चूँकि व्यक्ति भिन्न भिन्न हैं । व्यक्तियों में परस्पर कार्यकारणभाव भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वे परस्पर असम्बद्ध हैं । उन सभी व्यक्तियों का एक सामान्य धर्म (अपोह) के द्वारा संग्रह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तु (भाव) और अवस्तु (अभाव) इन दोनों में सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, यदि सम्बन्ध के न रहने पर भी संग्रह मानें तो (अघटव्यावृत्ति रूप अपोह से पट व्यक्तियों का संग्रह रूप) अतिप्रसङ्ग होगा । अतः यह

प्रशस्तपादभाष्यम्

एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्। शास्त्रे च कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नाव-

इसी प्रकार और सभी स्थानों में एक वस्तु में जिस किसी दूसरी वस्तु की दैशिक और कालिक व्याप्ति रहती है, वह एक वस्तु उस दूसरे की ज्ञापक हेतु होती है। वैशेषिक सूत्र में जो व्याप्ति के लिए कार्यादि सम्बन्धों का उल्लेख है, वह

न्यायकन्दली

एवं देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्, **यथा धूमो वह्नेर्लिङ्गम् । एवं देशाविनाभूतं कालाविनाभूतं चेतरस्य साध्यधर्मस्य लिङ्गम् । यथा काश्मीरेषु सुवर्णभाण्डागारिकपुरुषैर्यववाटिकासंरक्षणं यवनालेषु हेमाङ्कुरोद्भेदस्य लिङ्गम् । कालाविनाभूतं यथा प्रागुज्योतिषाधिपतेर्वेश्मनि प्रातर्गायनादीनि नृपतिप्रबोधस्य लिङ्गम् । यदि देशकालाविनाभावमात्रेण गमकत्वं ननु सूत्रविरोधः ? अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकमिति,**

समझ में नहीं आता कि प्रत्यक्ष के द्वारा किसमें उत्पत्ति का निश्चय होगा ? जिससे कि अनुमान की प्रवृत्ति होगी।

इसी प्रकार (साध्य की) दैशिक या कालिक व्याप्ति से युक्त एक पदार्थ (हेतु) दूसरे (साध्य) का ज्ञापक हो जाता है। जैसे कि धूम वह्नि का ज्ञापक हेतु है। (अभिप्राय यह है कि) दैशिक और कालिक व्याप्ति से युक्त 'एक' (हेतु) पदार्थ 'इतर' का अर्थात् साध्य रूप धर्म का ज्ञापक हेतु होता है। (दैशिक व्याप्ति से युक्त हेतु का उदाहरण यह है) जैसे कि काश्मीर देश में जब यह देखा जाता है कि यव की क्यारियों का संरक्षण सोने के खजाने के अधिकारी लोग कर रहे हैं, तब यह समझा जाता है कि यव की क्यारियों में केसर के अङ्कुर उग आये हैं, अतः काश्मीर देश की यव की क्यारियों का सोने के खजाने के अधिकारियों द्वारा संरक्षण (रूप क्रिया) यव की क्यारियों में केसर के अङ्कुर का ज्ञापक हेतु है। (एवं कालिक व्याप्ति से युक्त हेतु का उदाहरण यह है) जैसे कि प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के राजगृह में प्रातःकालिक गाना-बजाना वहाँ के राजा के जागरण का ज्ञापक हेतु है। (प्र.) यदि दैशिक व्याप्ति और कालिक व्याप्ति केवल इन दोनों सम्बन्धों में से किसी के रहने से ही हेतु में साध्य को समझाने का सामर्थ्य माना जाय

प्रशस्तपादभाष्यम्

धारणार्थम्, कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात् । तद्यथा अध्वर्युरों श्रावयन् व्यवहितस्य होतुर्लिङ्गम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च

केवल उदाहरण के लिए ही है, अवधारण के लिए नहीं । क्योंकि (कथित कार्यत्वादि सम्बन्धों में से किसी के न रहने पर भी अनुमान होता है) जैसे कि ओंकार को सुनाते हुए अध्वर्यु समूह अपने से व्यवहित भी होता (हवन करने वाले) के अनुमापक होते हैं । अथवा चन्द्र का उदय समुद्र की वृद्धि और कुमुद के विकास का अनुमापक होता है । अथवा शरद् ऋतु में जल की

न्यायकन्दली

तत्राह—शास्त्रे च कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थमिति । **अस्येदमिति सूत्रे कार्यादीनामुपादानं लिङ्गनिदर्शनार्थं कृतम्, न त्वेतावन्त्येव लिङ्गानीत्यवधारणार्थम् । कथ-मेतदित्याह**—कस्मादिति । **उत्तरमाह**—व्यतिरेकदर्शनादिति । **कार्यादिव्यतिरेकेणाप्यनुमानदर्श-नाद् नावधारणार्थम्** । (तत्र) **यत्र कार्यादीनां व्यतिरेकस्तद्दर्शयति**— यथाध्वर्युरों श्रावयन् व्यवहितस्य होतुर्लिङ्गमिति । **अध्वर्युर्होतारमोम् इत्येवं श्रावयति नान्यमित्येवं यस्य पूर्वमवगति-**

तो फिर 'अस्येदं कार्यम्' इस सूत्र का विरोध होगा (क्योंकि इस सूत्र के द्वारा कार्यत्व, कारणत्व, संयोग, विरोध एवं समवाय इतने सम्बन्धों को ही हेतु में साध्य के ज्ञापन के सामर्थ्य का प्रयोजक माना गया है, दैशिक और कालिक व्याप्ति को नहीं) । इसी प्रश्न का समाधान "शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतम्, नावधारणार्थम्" इस वाक्य के द्वारा किया गया है । अर्थात् वैशेषिक सूत्र रूप शास्त्र में जो 'कार्यत्वादि' सम्बन्ध का उपादान किया गया है, उसका यह अवधारण रूप अर्थ अभिप्रेत नहीं है कि कथित कार्यत्वादि सम्बन्धों में से ही किसी के रहने से हेतु साध्य का ज्ञापक होता है । किन्तु साध्य के 'व्याप्ति रूप सम्बन्ध से युक्त हेतु ही ज्ञापक होता है' इस नियम के उदाहरण रूप में ही कार्यत्वादि सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है कि साध्य के इन कार्यत्वादि सम्बन्धों से युक्त हेतु में साध्य की व्याप्ति रहती है । 'कस्मात्' इस वाक्य के द्वारा प्रश्न किया गया है कि कैसे समझते हैं कि उक्त सूत्र में 'कार्यादि' का उपादान अवधारण के लिए नहीं है ? 'व्यतिरेकदर्शनात्' इस वाक्य से उक्त प्रश्न का उत्तर दिया गया है । अर्थात् कथित कार्यत्वादि सम्बन्ध के न रहने पर भी हेतु से साध्य का बोध होते देखा जाता है, अतः समझते हैं कि कार्यत्वादि सम्बन्धों का उल्लेख 'अवधारण' के लिए नहीं है । इन कार्यत्वादि सम्बन्धों के रहने पर भी जहाँ अनुमिति होती है, उसका प्रदर्शन 'यथाऽध्वर्युरों श्रावयन् व्यवहितस्य होतुर्लिङ्गम्' इस वाक्य के द्वारा किया गया है । जिस पुरुष को यह नियम पहले से अवगत है कि होता को ही अध्वर्यु ओंकार सुनाते हैं किसी दूसरे को नहीं, वही पुरुष अध्वर्यु को ओंकार का उच्चारण करते हुए

प्रशस्तपादभाष्यम्

शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति । एवमादि तत् सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्र-वचनात् सिद्धम् ।

स्वच्छता अगस्त्य नाम के नक्षत्र के उदय का ज्ञापक होती है । (व्याप्ति के प्रयोजक) कथित कार्यत्वादि सम्बन्धों से भिन्न इन वस्तुओं में व्याप्ति के प्रयोजक अवशिष्ट सभी सम्बन्धों का संग्रह सूत्रकार ने उक्त सूत्र के 'अस्येदम्' इस वाक्य के द्वारा किया है ।

न्यायकन्दली

भूतस्य ओं इति श्रावयन्तमध्वर्युं प्रतीत्य कुड्यादिव्यवहिते होतरि अनुमानं होताप्यत्रास्तीति । न चाध्वर्युः होतुः कार्यं न कारणं न संयोगे (गी) न च विरोधे (धी) न समवाये (यी) चेति व्यतिरेकः ।

उदाहरणान्तरमाह— चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेरित्यादि । **यदा चन्द्र उदेति तदा समुद्रो वर्द्धते कुमुदानि च विकसन्तीति नियमो येनावगतः, तस्य चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च लिङ्गं स्यात् । न च चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धि-कुमुदविकासयोः कार्यम् । उदयो हि चन्द्रस्य विशिष्टदेशसंयोगः, स च चन्द्रक्रियाकार्यः, न समुद्रवृद्ध्यादिनिमित्तः । न चायं समुद्रवृद्धेः कारणं नापि कुमुदविकासस्य, उत्कल्लोललक्षणाया वृद्धेः, पत्राणां परस्परविभागलक्षणस्य**

देखता है और दीवाल से छिपे रहने के कारण होता को नहीं देखता, तब भी 'होता' का यह अनुमान उसे होता है कि यहाँ होता भी अवश्य है । किन्तु अध्वर्युरूप हेतु होतारूप साध्य का न कार्य है, न कारण, न संयोगी है, न विरोधी और न समवायी । (अतः सूत्र में कथित कार्यत्वादि सम्बन्धों में से अध्वर्यु में होता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उक्त अध्वर्यु से होता का अनुमान होता है, अतः 'कथित कार्यत्वादि सम्बन्ध के क़ारण ही हेतु ज्ञापक होता है' इस नियम में यही व्यतिरेक व्यभिचार है) ।

'चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः' इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने उक्त व्यतिरेक व्यभि-चार का दूसरा उदाहरण कहा है । 'जिस समय चन्द्रमा का उदय होता है, उस समय समुद्र बढ़ जाता है और कुमुद के पुष्प प्रफुल्लित हो जाते हैं । यह नियम जिस पुरुष को ज्ञात है, उसके लिए चन्द्रमा का उदय समुद्रवृद्धि और कुमुदिनी के विकास का अवश्य ही ज्ञापक लिङ्ग होगा, किन्तु चन्द्रमा का उदय न समुद्र की वृद्धि से उत्पन्न होता है, न कुमुद के विकास से, क्योंकि चन्द्रमा का किसी विशेष देश के साथ संयोग ही चन्द्रमा का उदय है, चन्द्रमा का यह संयोग चन्द्रमा में रहनेवाली क्रिया से ही उत्पन्न होगा, समुद्र की वृद्धि प्रभृति कारणों से नहीं, (अतः चन्द्रमा का उदय समुद्रवृद्धि का या कुमुद के विकास का कार्य नहीं है) एवं चन्द्रमा का उदय न समुद्र की वृद्धि का कारण है, न कुमुद के विकास का, क्योंकि समुद्र की वृद्धि है उसका उफान, एवं कुमुद का विकास है

न्यायकन्दली

च **विकासस्य तत्कालसन्निहितकारणाधीनकर्मजन्यत्वादित्यादि वाच्यम्** । शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्य **प्रसादो वैशद्यम्, तच्छरदि प्रतीयमानमगस्त्योदयस्य लिङ्गम्, न कालान्तरे, व्यभिचारात्** ।

कार्यादिव्यतिरिक्तमपि यदि लिङ्गमस्ति तर्हि नूनं तत्र सर्वलिङ्गानामनवरोधादत आह— एवमादि तत् सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धमिति । अध्वर्युरों श्रावयतीत्येव**मादिपदाविनाभूतं लिङ्गं** तत् सर्वमस्येद**मितिपदेन** सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धं **परिगृहीतम्** । **अर्थान्तरमर्थान्तरस्य लिङ्गमिति न युज्यते (इति) प्रसक्तिः स्यादिति पर्यनुयोगमाशङ्क्येदमुक्तं सूत्रकारेणास्येदमिति । लिङ्गमित्यन्यत्वाविशेषेऽप्यस्य साध्यस्येदं सम्बन्धीति कृत्वा अस्येदं लिङ्गं न सर्वस्येति सामान्येन सम्बन्धिमात्रस्य लिङ्गत्वप्रतिपादनात् । यद् यस्य**

उसके पत्रों का एक दूसरे से विभाग, ये दोनों ही उस समय अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाले कर्मों से ही उत्पन्न होंगे (चन्द्रमा की वृद्धि से नहीं, अतः चन्द्रमा का उदय समुद्रवृद्धि का कार्य भी नहीं है) 'शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्य लिङ्गम्' (इस वाक्य में प्रयुक्त) 'प्रसाद' शब्द का अर्थ है वैशद्य (स्वच्छता), यह वैशद्य शरद् ऋतु में (ही) ज्ञात होकर अगस्त्य नाम के नक्षत्र के उदय का ज्ञापक लिङ्ग होता है, अन्य ऋतु में ज्ञात होने पर भी नहीं, क्योंकि व्यभिचार देखा जाता है (अर्थात् ग्रीष्मादि ऋतुओं में जल में स्वच्छता का भान होने पर भी अगस्त्योदय की प्रतीति नहीं होती) ।

(प्र.) (यदि साध्य के) कार्यादि न होने पर भी कोई हेतु साध्य का ज्ञापक हो सकता है, तो फिर 'अस्येदं कार्यम्' इत्यादि सूत्र के द्वारा लिङ्ग के जिन प्रकारों का उल्लेख किया गया है, उनसे सभी हेतुओं का संग्रह नहीं होता है ? (जिससे सूत्रकार की न्यूनता होती है) इसी प्रश्न का समाधान भाष्यकार ने 'एवमादि' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा दिया है । 'एवमादि' अर्थात् साध्य के कार्यादि से भिन्न और सभी हेतु उक्त सूत्र के 'अस्येदम्' इस सम्बन्धबोधक वाक्य के द्वारा संगृहीत होते हैं । अभिप्राय यह है कि 'अध्वर्युरों श्रावयति' इत्यादि वाक्यों के द्वारा जिन हेतुओं का उल्लेख किया गया है वे सभी हेतु उक्त सूत्र के ही 'अस्येदम्' इस सम्बन्धबोधक वाक्य के द्वारा 'सिद्ध' हैं, अर्थात् संगृहीत हैं । किन्तु "अर्थान्तर (साध्य के कार्यत्वादि सम्बन्धों से रहित कोई भी अर्थ) अर्थान्तर का (अर्थात् हेतु के कारणत्वादि सम्बन्धों से शून्य किसी दूसरे अर्थ का) साधक हेतु नहीं हो सकता" उक्त सूत्र में कार्यत्वादि सम्बन्धों के उल्लेख से इस अवधारण की स्थिति हो जायगी । इस अभियोग की सम्भावना को हटाने के लिए ही सूत्रकार ने उक्त सूत्र में (कार्यत्वादि सम्बन्धों के बोधक वाक्यों के अतिरिक्त) 'अस्येदम्' इस वाक्य का भी प्रयोग किया है । 'इतरस्य लिङ्गम्' इत्यादि भाष्य के द्वारा लिङ्ग का भेद और सभी पदार्थों (साध्यों) में समान रूप से रहने पर भी 'इस साध्य का सम्बन्ध इसी हेतु में है' इस नियम के अनुसार यह नियम भी उपपन्न होता है

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्तु द्विविधम्—दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च । तत्र दृष्टं प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजात्यभेदेऽनुमानम् । यथा गव्येव

१. दृष्ट और २. सामान्यतोदृष्ट भेद से अनुमान दो प्रकार का है । जिस हेतु के साथ पूर्व में ज्ञात साध्य और वर्तमान में उसी हेतु के ज्ञाप्य साध्य दोनों अभिन्न हों, उस हेतु से उत्पन्न अनुमान ही 'दृष्ट' अनुमान है । जैसे कि पहले एक स्थान में गाय में ही केवल सास्नारूप हेतु

न्यायकन्दली

देशकालाद्यविनाभूतं तत् तस्य लिङ्गमित्युक्तम्, तदेव हि तस्य यद् यस्याव्यभिचारि (त्वेन) (यद्यस्य) व्यभिचारि न तत् तस्य, अन्यत्रापि भावात् । अपि भोः ! किमस्येदं कार्यमिति न सम्बध्नातीति ब्रूमहे, कार्यादिग्रहणं तर्हि किमर्थम् ? निदर्शनार्थमित्युक्तम् । अवश्यं हि शिष्यस्योदाहरणनिष्ठं कृत्वा किमप्यव्यभिचारि लिङ्गं दर्शनीयमिति सूत्रे कार्यादिकमुदाहृतम् । न तावन्त्येव लिङ्गानीत्यर्थः ।

भेदं कथयति— तत्तु द्विविधं दृष्टं सामान्यतोदृष्टं चेति । **चशब्दोऽवधारणार्थः । तदनुमानं द्विविधमेव दृष्टमेकमपरं सामान्यतोदृष्टम्** । तत्र **तयोर्मध्ये** दृष्टं प्रसिद्ध-

कि 'इस साध्य का यही लिङ्ग है' । इस प्रकार सामान्य रूप से साध्य के सभी सम्बन्धियों में लिङ्गत्व का प्रतिपादन 'एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्' इस भाष्य के द्वारा किया गया है । अर्थात् जिसमें जिस दूसरे वस्तु की दैशिकी या कालिकी व्याप्ति है, वही उसका हेतु है । जिसमें जिसका व्यभिचार है, वह उसका हेतु नहीं है, क्योंकि उसके न रहने के स्थान में भी वह रहता है । (प्र.) तो क्या उक्त सूत्र में 'किमस्येदं कार्यम्' इस वाक्य के द्वारा यह कहते हैं कि 'साध्य का सम्बन्ध हेतु में नहीं है' ? यदि ऐसी बात है तो फिर 'कार्यादि' का उपादान ही उक्त सूत्र में व्यर्थ है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'निदर्शनार्थम्' इस वाक्य से दिया गया है । अभिप्राय यह है कि शिष्यों को उदाहरण के द्वारा पूर्ण अभिज्ञ बनाकर ही यह समझना होगा कि 'साध्य का अव्यभिचारी ही उसका लिङ्ग है' । अतः सूत्र में कार्यादि सम्बन्धों का उल्लेख केवल उदाहरण के लिए है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सूत्र में कथित कार्यत्वादि सम्बन्धों से युक्त ही हेतु है, साध्य के और सम्बन्धों से युक्त भी हेतु हो सकते हैं, यदि वह सम्बन्ध अव्यभिचरित हो ।

'तत्तु द्विविधम्—दृष्टम्, सामान्यतोदृष्टञ्च' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अनुमान के अवान्तर प्रकारों का निरूपण किया गया है । उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'च' शब्द 'अवधारण' अर्थ का है । (तदनुसार उक्त वाक्य का यह अर्थ है कि) कथित अनुमान दो ही प्रकार का है, एक है 'दृष्ट' और दूसरा है 'सामान्यतोदृष्ट' । 'तत्र' अर्थात् उन दोनों अनुमानों में से 'दृष्टं प्रसिद्धसाध्ययोर्जात्यभेदेऽनुमानम्' 'प्रसिद्ध' अर्थात् हेतु के साथ पहले

प्रशस्तपादभाष्यम्

सास्नामात्रमुपलभ्य देशोन्तरेऽपि सास्नामात्रदर्शनाद् गवि प्रतिपत्तिः । प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजातिभेदे लिङ्गानुमेयधर्म-

को देखकर, दूसरे स्थान में सास्ना को देखने के बाद गोविषयक प्रतिपत्ति (अनुमिति) होती है । जिस हेतु के साथ पूर्व में ज्ञात साध्य और उसी हेतु के द्वारा वर्त्तमान में ज्ञाप्य साध्य, दोनों विभिन्न जाति के हों, उस हेतु सामान्य और (वर्तमान में अनुमेय) साध्यसामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान उत्पन्न होता है, उसे 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं । जैसे कि कृषक,

न्यायकन्दली

साध्ययोर्जात्यभेदेऽनुमानम् । प्रसिद्धं **यत् पूर्वं लिङ्गेन सह दृष्टं** साध्यं **यत् सम्प्रत्यनुमेयं तयो**रत्यन्तजात्यभेदे **सति यदनुमानं तद् दृष्टम् । यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरे गवि प्रतिपत्तिः । पूर्वं गोत्वजातिविशिष्टायामेव गोव्यक्तौ सास्नोपलब्ध्या सम्प्रत्यपि गोत्वजातिविशिष्टायामेव गोव्यक्तेरनुमानमत्यन्तजात्यभेदे । इदं च दृष्टमित्याख्यायते ।**

सास्नामात्रदर्शनाद् वनान्तरे यदनुमीयते गोत्वसामान्यं तस्य स्वलक्षणं पूर्वं नगरे दृष्टमिति कृत्वा प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजातिभेदे लिङ्गानुमेयधर्म-सामान्यानुवृत्तितोऽनुमानं सामान्यतोदृष्टम् । प्रसिद्धं लिङ्गेन सह प्रतीतं

जो साध्य ज्ञात है और जो साध्य अभी अनुमेय है, इन दोनों के जातितः अत्यन्त अभिन्न होने पर जो अनुमान होता है, वह 'दृष्ट' अनुमान है । जैसे कि पहले किसी गाय में ही सास्ना को देखकर दूसरे देश में गो का अनुमान होता है । पहले गोत्व जाति से युक्त गो व्यक्ति में ही सास्ना की उपलब्धि हुई, अभी भी सास्ना से जो गो की अनुमिति होती है, वह गोत्व जाति से युक्त गो व्यक्ति में ही होती है, अतः गो विषयक इन दोनों ज्ञानों में विषय होनेवाला गोत्व अत्यन्त अभिन्न (एक ही) है, तस्मात् यह 'दृष्ट' अनुमान कहलाता है । इसे दृष्ट अनुमान होने की युक्ति यह है कि वन में केवल सास्ना के देखने से जिस गोत्व जाति का अनुमान होता है, वह उस स्वरूप से नगर में पहले से ही गो में देखा जा चुका है ।

"प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजातिभेदे लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तितोऽनुमानं सामान्यतोदृष्टम्" (इस भाष्यवाक्य के) 'प्रसिद्धसाध्ययोः' इस पद से 'प्रसिद्धं लिङ्गेन सह प्रतीतं साध्यमनुमेयं ययोः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुमान का साध्य एवं हेतु के साथ पहले गृहीत होनेवाला साध्य ये दोनों साध्य अभिप्रेत हैं । इन दोनों साध्यों में परस्पर अत्यन्त भेद के रहने पर भी हेतु सामान्य में साध्यसामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान उत्पन्न होता है, वही 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है । (इस अर्थ के बोधक

प्रशस्तपादभाष्यम्

सामान्यानुवृत्तितोऽनुमानं सामान्यतोदृष्टम् । यथा कर्षकवणिग्राजपुरुषाणां च प्रवृत्तेः फलवत्त्वमुपलभ्य वर्णाश्रमिणामपि दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रवर्तमानानां फलानुमानमिति । तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं

वणिक् और राजपुरुषों की सभी सफल प्रवृत्तियों को देखकर वर्णाश्रमियों की उन धार्मिक प्रवृत्तियों से भी फल का अनुमान होता है, जिन प्रवृत्तियों के कोई प्रत्यक्ष फल नहीं दीख पड़ते ।

न्यायकन्दली

साध्यमनुमेयं तयोरत्यन्तजातिभेदे सति, लिङ्गं चानुमेयधर्मश्च लिङ्गानुमेयधर्मौ, तयोः सामान्ये लिङ्गानुमेयधर्मसामान्ये, तयोरनुवृत्तिः लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तिः, ततो लिङ्गसामान्यस्य साध्यसामान्येन सहाविनाभावाद् यदनुमानं तत् सामान्यतोदृष्टम् । यथा कर्षकवणिग्राजपुरुषाणां प्रवृत्तेः फलत्वमुपलभ्य वर्णाश्रमिणामपि दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रवर्तमानानां फलानुमानम् । **कर्षकादिप्रवृत्तेः फलं दृष्ट्वा वर्णाश्रमिणां प्रवृत्तेरपि फलानुमानम्, कर्षकस्य प्रवृत्तेः फलं शस्यादिकम्, वणिग्राजपुरुषस्य च प्रवृत्तेः फलं काञ्चनमणिमुक्तावाजिवारणादिकम्, वर्णाश्रमिणां च प्रवृत्तेः फलं स्वर्गादिकमित्यनयोरत्यन्तजातिभेदः । अनुमानोदयस्तु प्रवृत्तित्वसामान्यस्य फलवत्त्वसामान्येनाविनाभावात् । अत एव चेदं सामान्यतोदृष्टमुच्यते, सामान्येन नियमदर्शनात् ।**

'लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यवृत्तितोऽनुमानं सामान्यतोदृष्टम्' इस भाष्यवाक्य का विग्रह इस प्रकार है कि) लिङ्गं चानुमेयधर्मश्च लिङ्गानुमेयधर्मौ, तयोः सामान्ये लिङ्गानुमेयधर्मसामान्ये, तयोरनुवृत्तिः लिङ्गानुमेयसामान्यानुवृत्तिः, ततो लिङ्गसामान्यस्य साध्यसामान्येन सहाविनाभावाद् यदनुमानं तत् 'सामान्यतोदृष्टम्' । 'यथा कर्षकवणिग्राजपुरुषाणां प्रवृत्तेः फलवत्त्वमुपलभ्य वर्णाश्रमिणामपि दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रवर्त्तमानानां फलानुमानम्' । अर्थात् कृषकादि की प्रवृत्तियों की सफलता को देखकर वर्णाश्रमियों की उन प्रवृत्तियों में भी सफलता का अनुमान होता है, जिन प्रवृत्तियों की उत्पत्ति के लिए वे दृष्ट (सांसारिक) फलों का अनुसन्धान नहीं करते । अभिप्राय यह है कि भूमि जोतने की किसानों की प्रवृत्ति के फल हैं अन्न प्रभृति एवं बनियों तथा राजसेवा में लगे व्यक्तियों की प्रवृत्तियों के फल हैं, सुवर्ण, मणि, मुक्ता, हाथी, घोड़े प्रभृति; किन्तु वर्णाश्रमियों के (सन्ध्यावन्दनादि) प्रवृत्तियों के फल हैं स्वर्गादि । इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि साध्य और दृष्टान्त दोनों अत्यन्त विभिन्न जाति के हैं । फिर भी उक्त दृष्टान्त के द्वारा अनुमान की उत्पत्ति उस सामान्यमुखी व्याप्ति से होती है, जो प्रवृत्तिसामान्य का फलसामान्य के साथ है[1] । इसीलिए इस अनुमान को

1. अभिप्राय यह है कि 'शिष्ट जनों की सभी प्रवृत्तियाँ सफल ही होती हैं' इस सामान्य व्याप्ति के बल से ही उक्त अनुमान होता है । किन्तु इस व्याप्ति के अवधारण के लिए

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रमितिरग्निज्ञानम् । अथवाऽग्निज्ञानमेव प्रमाणं प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमित्येतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम् ।

इनमें लिङ्ग (हेतु) का ज्ञान ही (अनुमान प्रमाण है) एवं (उससे उत्पन्न) अग्नि का ज्ञान ही (फलरूपा) प्रमिति है । अथवा (कथित) अग्नि का ज्ञान ही (अनुमान) प्रमाण है । अग्नि में उपादेयत्व, हेयत्व या उपेक्षा की बुद्धि ही प्रमिति (अनुमिति) है । ये सभी अनुमान करनेवाले पुरुष में ही निश्चय (अनुमिति) के उत्पादक (स्वार्थानुमान) हैं ।

न्यायकन्दली

यः पुनरत्रानुमेयः स्वर्गादिलक्षणः फलविशेषो नैतज्जातीयस्य फलस्य नियमो दृष्टो वर्णाश्रमिणां प्रवृत्तेरपि जीविकामात्रमेव प्रयोजनमिति बार्हस्पत्याः, तदर्थमाह–दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्येति । **सन्त्येव तथाविधाः पुरुषा ये खलु दृष्टनिस्पृहा वानप्रस्थादिकं व्रतमाचरन्ति; तेषां प्रवत्तेरिदं फलानुमानमिति न सिद्धः साध्यत इत्यर्थः ।**

'सामान्यतोदृष्ट' कहा जाता है । चूँकि सामान्यमुखी व्याप्ति के दर्शन से ही इसकी उत्पत्ति होती है ।

बार्हस्पत्य[1] (चार्वाक) लोग (इस अनुमान में सिद्धसाधन दोष का उद्भावन इस प्रकार करते हैं कि) वर्णाश्रमियों की प्रवृत्ति से स्वर्गादि जिस प्रकार के अलौकिक फलों का यहाँ अनुमान किया जाता है, उस प्रकार के फलों का नियम नहीं देखा जाता है (क्योंकि वे अतीन्द्रिय हैं) अतः वर्णाश्रमियों की उन प्रवृत्तियों का अपनी जीविका चलाना ही फल है, वह तो दृष्ट ही है । अतः इसमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इसका विषय पहले से ही सिद्ध है । इसी सिद्धसाधन दोष को मिटाने के लिए प्रकृत भाष्यसन्दर्भ में 'दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य' यह वाक्य लिखा गया है । इस वाक्य से यह कहना अभिप्रेत है कि इस प्रकार के भी महापुरुष हैं जो वर्णाश्रमियों के लिये निर्दिष्ट वानप्रस्थादि व्रतों का आचरण करते हैं, जिनका जीविकादि दृष्ट फलों के प्रति स्नेह नहीं है । वर्णाश्रमियों की इस प्रकार की प्रवृत्तियों से फल का अनुमान ही प्रकृत में सामान्यतोदृष्ट अनुमान के उदाहरण के लिए उपस्थित किया गया है, अतः सिद्धसाधन दोष नहीं है ।

प्रकृत में साध्यभूत वर्णाश्रमियों की सफलता को उपस्थित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सिद्ध नहीं है एवं प्रत्यक्ष के द्वारा उसका सिद्ध होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि उसके स्वर्गादि फल अतीन्द्रिय हैं । अतः प्रकृत फल से सर्वथा विपरीत अर्थात् कृषकादि के प्रत्यक्ष फलों को दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया गया है ।

1. इसी प्रसङ्ग में बार्हस्पत्यों का यह श्लोक सर्वदर्शनसंग्रहादि ग्रन्थों में उल्लिखित है–

न्यायकन्दली

प्रमाणशब्दः करणव्युत्पत्तिसिद्धो न फलं विना पर्यवस्यति, अतः प्रमाणफलविभागं दर्शयति– तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणमिति । **तत्रानुमाने लिङ्गज्ञानं प्रमाणं प्रमीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या,** प्रमितिः **प्रमाणस्य फलमग्निज्ञानम् । यद्यपि लिङ्गलिङ्गिज्ञानयोरुत्पत्त्यपेक्षया विषयभेदस्तथापि लिङ्गज्ञानस्यापि लिङ्गिनि ज्ञानोत्पत्तौ व्यापाराल्लिङ्गिविषयत्वम्, ततश्च प्रमाणफलयोर्न व्यधिकरणत्वम् । प्रकारान्तरमाह–** अथवेति । **अग्निज्ञानं प्रमाणम्,** प्रमितिः **प्रमाणस्य फलम् ।** अग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनम्– **गुणदर्शनं सुखसाधनमेतदिति ज्ञानम्, दोषदर्शनं दुःखसाधनत्वज्ञानम्, माध्यस्थ्यदर्शनं सुखदुःखसाधनत्वाभावज्ञानम्, अग्निज्ञाने सति तथाप्रतीत्युत्पादात् ।**

'प्रमीयतेऽनेन' इस करणव्युत्पत्ति के द्वारा प्रकृत में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया गया है । प्रमाकरणरूप इसका निरूपण प्रमारूप फल के निर्देश के बिना अधूरा ही रहेगा । अतः 'तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणम्' इस वाक्य के द्वारा प्रमाण और फल का विभाग दिखलाया गया है । 'तत्र' अर्थात् अनुमान स्थल में 'लिङ्ग- ज्ञान' ही 'प्रमाण' है चूँकि यहाँ 'प्रमाण' शब्द 'प्रमीयतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति के द्वारा सिद्ध है । 'प्रमिति' अर्थात् प्रमाण का फल है 'अग्नि' का ज्ञान । यद्यपि यह ठीक है कि (प्र०) लिङ्गज्ञान और लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान दोनों की उत्पत्ति भिन्न विषयक होती है, (अतः दोनों व्यधिकरण हैं, किन्तु कार्य और कारण को समान अधिकरण का होना चाहिए) । (उ०) फिर भी लिङ्गी (साध्य) में जो (विधेयता सम्बन्ध से) ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसमें लिङ्गज्ञान व्यापार (रूप कारण) है, अतः लिङ्गज्ञान भी लिङ्गिरूप विषय से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है । अतः लिङ्गज्ञानरूप प्रमाण और लिङ्गि (साध्य) ज्ञानरूप फल इन दोनों में सर्वथा विपरीतविषयत्व रूप वैयधिकरण्य की आपत्ति नहीं है । 'अथवा' इत्यादि सन्दर्भ से (प्रमाण फल विभाग का) दूसरा प्रकार दिखलाया गया है । अग्नि (साध्य) का ज्ञान ही 'प्रमाण' है और 'प्रमिति' अर्थात् उस प्रमाण का फल है–'अग्नि में गुण, दोष और माध्यस्थ्य का ज्ञान' । (अग्नि में) 'यह सुख का साधन है' इस प्रकार का ज्ञान है 'गुणदर्शन' । एवं 'यह दुःख का साधन है' इस आकार की बुद्धि ही 'दोषदर्शन' है । और 'न यह सुख का साधन है न दुःख का' इस प्रकार का ज्ञान ही 'माध्यस्थ्यदर्शन' है । चूँकि अग्नि-ज्ञान के बाद ही उक्त गुणदर्शनादि उत्पन्न होते हैं (अतः ये गुणदर्शनादि अग्निज्ञान रूप प्रमाण के फल हैं) ।

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुष हीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

प्रशस्तपादभाष्यम्

शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः, समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति ।

शब्दादि प्रमाण भी इसी (अनुमान) के अन्तर्गत हैं (वे स्वतन्त्र अलग प्रमाण नहीं हैं), क्योंकि शब्दादि प्रमाणों से भी उसी रीति से (व्याप्ति के बल पर) प्रमिति की उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार अनुमान प्रमाण से प्रमिति की उत्पत्ति होती है । जैसे कि जिस पुरुष को पूर्व में व्याप्ति गृहीत है, उसी पुरुष को हेतु के निश्चय और व्याप्ति के स्मरण इन दोनों से अप्रत्यक्ष अर्थ की अनुमिति होती है, उसी प्रकार शब्दादि प्रमाणों से भी अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान होता है ।

न्यायकन्दली

एतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम् । **निश्चितमिति भावे निष्ठा, स्वनिश्चितार्थं स्वनिश्चयार्थमेतदनुमानमित्यर्थः ।**

शब्दादीन्यपि प्रमाणान्तराणि सङ्गिरन्ते वादिनः, तानि कस्मादिह नोक्तानि ? इति पर्यनुयोगमाशङ्क्य तेषामत्रैवान्तर्भावान्न पृथगभिधानमित्याह–शब्दादीनामपीति । **शब्दादीनामनुमानेऽन्तर्भावोऽनुमानाव्यतिरेकित्वम्,** समानविधित्वात् **समानप्रवृत्तिप्रकारत्वात् । यथा व्याप्तिग्रहणबलेनानुमानं प्रवर्तते, तथा शब्दादयोऽपीत्यर्थः । शब्दोऽनुमानं व्याप्तिबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवत् । समानविधित्वमेव दर्शयति–** यथेति । **प्रसिद्धः समयोऽविनाभावो यस्य**

'एतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम्' इस भाष्यवाक्य का 'निश्चित' शब्द 'भाव' अर्थ में निष्ठा प्रत्यय से निष्पन्न है । तदनुसार उक्त वाक्य का यह अर्थ है कि यह कथित अनुमान अपने आश्रय पुरुष में ही निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए है (दूसरों को समझाने के लिए नहीं) ।

(प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त) शब्दादि प्रमाणों को भी अन्य दार्शनिक गण स्वीकार करते हैं कि वे शब्दादि प्रमाण इस भाष्य में क्यों नहीं कहे गये ? अपने ऊपर इस अभियोग की आशङ्का से भाष्यकार ने 'शब्दादीनामपि' इत्यादि ग्रन्थ से यह कहा है कि 'उन शब्दादि प्रमाणों का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है' । शब्दादि प्रमाणों का अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है, अर्थात् शब्दादि प्रमाण अनुमान से अभिन्न हैं (अनुमान ही हैं), क्योंकि (अनुमान और शब्दादि) 'समानविधि' के हैं, अर्थात् अनुमान और शब्दादि की सभी प्रवृत्तियाँ समान हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अनुमान की प्रवृत्ति व्याप्ति के बल से होती है, उसी प्रकार शब्दादि प्रमाणों की प्रवृत्ति भी व्याप्ति के बल से ही होती है, (इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि) जिस प्रकार व्याप्ति के बल से धूम वह्नि का ज्ञापक है, उसी प्रकार शब्द भी व्याप्ति के बल से ही अर्थ का ज्ञापन करता है, अतः (धूम की तरह) शब्द भी

न्यायकन्दली

पुरुषस्य तस्य लिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यां **लिङ्गदर्शनम्, यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवंभूतायाः प्रसिद्धेरनुस्मरणं च । ताभ्यां यथाऽतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानं तथा शब्दादिभ्योऽपीति । तावद्धि शब्दो नार्थं प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्येवं नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्गं स्यात् ।**

अत्राह कश्चित्— अनुमाने साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी प्रतीयते, शब्दादर्थानुमाने को धर्मी ? न तावदर्थः, तस्य तदानीमप्रतीयमानत्वात् । शब्दो धर्मीति चेत् ? किमस्य साध्यम् ? अर्थवत्त्वं चेत् ? न पर्वतादेरिव वह्न्यादिना शब्दस्यार्थेन सह संयोगसमवायादिलक्षणः कश्चित् सम्बन्धो निरूप्यते, येनायमर्थविशिष्टः साधनीयः । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव एव हि तयोः सम्बन्धः, सोऽर्थप्रतीत्युत्तर-

अनुमान रूप से ही प्रमाण है। 'यथा' इत्यादि से कथित 'समानविधि' का प्रदर्शन करते हैं । 'प्रसिद्धः समयो यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस पुरुष को समय (व्याप्ति) पूर्व से ज्ञात है, वही पुरुष 'प्रसिद्धसमय' शब्द का अर्थ है । 'लिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्याम्' इस वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि लिङ्गदर्शन (अर्थात् पक्षधर्मताज्ञान) और 'जहाँ धूम है वहाँ वह्नि भी अवश्य ही है' इस प्रकार की 'प्रसिद्धि' अर्थात् व्याप्ति का स्मरण, इन दोनों से उक्त 'प्रसिद्धसमय' पुरुष को जिस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा अज्ञेय वस्तु का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शब्दादि प्रमाणों से भी कथित पुरुष को ही ज्ञान होता है (अतः शब्दादि प्रमाण भी वस्तुतः अनुमान ही हैं) । शब्द तब तक अर्थ के बोध का उत्पादन नहीं कर सकता, जब तक कि अर्थ के साथ उसका अव्यभिचार (व्याप्ति) गृहीत न हो जाय, ज्ञात अव्यभिचार (व्याप्ति) के द्वारा ही जब (धूम की तरह) शब्द भी अर्थ का ज्ञापक है, तो फिर धूम की तरह वह भी ज्ञापक लिङ्ग (अनुमान) ही होगा ।

यहाँ कोई (शब्द को अलग स्वतन्त्र प्रमाण माननेवाले) यह विचार उठाते हैं कि अनुमान में तो साध्य रूप धर्म से युक्त धर्मी की प्रतीति होती है, किन्तु शब्द से जो अर्थ का अनुमान होगा उसमें धर्मी रूप से किसका भान होगा ? अर्थ तो उस अनुमान का धर्मी (पक्ष) हो नहीं सकता, क्योंकि वह तब तक अज्ञात है (पक्ष को पहले से निश्चित रहना चाहिए) । शब्द को ही यदि उस अनुमान का पक्ष मानें, तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस अनुमान का साध्य कौन होगा ? अर्थवत्त्व को साध्य मानना सम्भव नहीं है; क्योंकि पर्वतादि पक्षों का वह्नि प्रभृति साध्यों के साथ जिस प्रकार का संयोगसमवायादि सम्बन्ध है, शब्द के साथ अर्थ का उस प्रकार के किसी सम्बन्ध का निर्वचन सम्भव नहीं है, जिस सम्बन्ध के द्वारा अर्थ से युक्त शब्द रूप धर्मी का साधन किया जा सके । शब्द और अर्थ में प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध ही केवल हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध का ज्ञान तो शब्द से अर्थ-प्रतीति के बाद ही होगा, अर्थ-प्रतीति के पहले नहीं । एवं वह्नि और धूम की तरह

न्यायकन्दली

कालीनो नार्थप्रतिपादनात् पूर्वं सम्भवति । नाप्यग्निधूमयोरिव शब्दार्थयो-रस्त्यविनाभावनियमः, देशकालव्यभिचारात्; तद्व्यभिचारश्चासत्यपि युधिष्ठिरे कलौ युधिष्ठिरशब्दप्रयोगात्, असत्यामपि लङ्कायां जम्बुद्वीपे लङ्काशब्दश्रवणात् । तस्मादनुमान-सामग्रीवैलक्षण्याच्छब्दो नानुमानम्, देशविशेषेऽर्थव्यभिचारात् । न धूमो वह्निं क्वचिद् व्यभिचरति, शब्दस्तु स्वार्थं व्यभिचरति । तथा हि चौर इति भक्ताभिधानं दाक्षिणात्यानाम्, आर्यावर्तनिवासिनां तु तस्कराभिधानम् ।

यदि च शब्दोऽनुमानं त्रैरूप्यप्रतीत्याऽस्य प्रामाण्यनिश्चयः स्यात्, नाप्तोक्तत्वप्रतीत्या, तत्प्रतीत्या तु निश्चीयमाने प्रामाण्येऽनुमानाद् व्यतिरिच्यत एव । एवं वैधर्म्यात् ।

अत्रोच्यते— यदूर्ध्वीकृतायां तर्जन्यां देशकालव्यवहितेष्वर्थेषु दशसंख्यानुमानं न तत्र संख्या धर्मिणी, अप्रतीयमानत्वात् । नापि तर्जनीविन्यासो धर्मी, तस्य

शब्द और अर्थ में 'अविनाभाव' (व्याप्ति) सम्बन्ध है भी नहीं; क्योंकि जिस देश या जिस काल में शब्द या अर्थ है, उस देश और उस काल में अर्थ या शब्द अवश्य रहता ही नहीं है; क्योंकि कलिकाल में युधिष्ठिर रूप अर्थ की सत्ता न रहने पर भी युधिष्ठिर शब्द का प्रयोग होता है, एवं लङ्का नगरी की सत्ता जम्बुद्वीप में वर्त्तमान काल में न रहने पर भी 'लङ्का' शब्द का प्रयोग होता है । अतः यह मानना पड़ेगा कि शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न है, क्योंकि विशेष प्रकार के कई देशों में शब्द के साथ अर्थ का व्यभिचार देखा जाता है । धूम का वह्नि के साथ व्यभिचार कहीं नहीं देखा जाता; किन्तु शब्द के साथ अर्थ का व्यभिचार देखा जाता है । जैसे कि एक ही 'चौर' शब्द का प्रयोग दाक्षिणात्य लोग भात के अर्थ में करते हैं; किन्तु उसी 'चौर' शब्द को आर्य लोग 'तस्कर' (चोर) अर्थ में प्रयोग करते हैं ।

दूसरी बात यह है कि शब्द यदि अनुमान रूप से ही प्रमाण होता तो उससे अर्थबोध के लिए उसके (पक्षसत्त्वादि) तीनों रूपों से ज्ञान की ही अपेक्षा होती (जैसे कि सभी अनुमानों में होता है), आप्तोक्तत्व निश्चय की नहीं । यदि शब्द में आप्तोक्तत्व के निश्चय के बाद ही प्रामाण्य का निश्चय होता है, तो फिर अवश्य ही शब्द अनुमान से भिन्न प्रमाण है; क्योंकि दोनों के स्वरूप भिन्न हैं ।

इस प्रसङ्ग में हम लोग कहते हैं कि (यह सङ्केत कर लेने पर कि यदि केवल तर्जनी अङ्गुली को ऊपर उठावें तो उससे दश संख्या को समझना, इसके बाद तर्जनी अङ्गुली को ऊपर उठाने पर उस सङ्केत को समझनेवाले को दश संख्या का अनुमान होता है, जिस दश संख्या का आश्रयीभूत द्रव्य उस बोद्धा पुरुष के आश्रयीभूत देश और काल से भिन्न देश और भिन्न काल का होता है । इस अनुमान में पक्ष कौन होता है ?

न्यायकन्दली

प्रतिपाद्यमानतया दशसंख्यया सह सम्बन्धान्तराभावेन तद्विशिष्टप्रतिपादनायोगात् । नाप्यनयोरेकदेशता, नाप्येककालत्वम्, कथमनुमानप्रवृत्तिः ? क्रयविक्रयव्यवहारे वणिजां तथाविधतर्जनीविन्यासस्य दशसंख्याप्रतिपादनाभिप्रायाव्यभिचारोपलम्भात् । कर्त्तुस्तत्प्रतिपादनाभिप्रायावगतिमुखेनास्य दशसंख्याप्रीतिहेतुत्वमिति चेत् ? शब्दस्याप्येवमेव । प्रथमं गोशब्दादुच्चारिताद् वक्तुः ककुदादिमदर्थविवक्षा गम्यते, स्वसन्ताने गोशब्दोच्चारणस्य पदार्थविवक्षापूर्वकत्वोपलम्भात् । तदर्थविवक्षया चार्थानुमानम् । अयं चात्र प्रयोगः — पुरुषो धर्मी ककुदादिमदर्थविवक्षावान्, गोशब्दोच्चारणकर्त्तृत्वादहमिवेति । अर्थाभावेऽप्यनाप्तानां विवक्षोपलब्धेर्न विवक्षातोऽर्थसिद्धिरिति चेत् ? शब्दादपि कथं तत्सिद्धिः ?

संख्या तो इस अनुमान का पक्ष हो नहीं सकती; क्योंकि वह पहले से प्रतीत नहीं है । तर्जनी का ऊपर उठाना (विन्यास) भी उस अनुमान का धर्मी नहीं हो सकता; क्योंकि इस अनुमान के द्वारा मुख्य ज्ञाप्य दश संख्या के साथ उसका कोई (सङ्केत सम्बन्ध को छोड़कर) दूसरा (स्वाभाविक संयोग समवायादि) सम्बन्ध नहीं है । अतः दश संख्यारूप साध्य धर्म से युक्त तर्जनीविन्यासरूप धर्मी का बोध इस अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता; क्योंकि तर्जनीविन्यास और प्रकृत दश संख्या न एक काल के हैं, न एक देश के । अतः तर्जनी के उक्त विशेष प्रकार के विन्यास से दश संख्या में जो अनुमान की प्रवृत्ति होती है, वह कैसे हो सकेगी ? यदि यह कहें कि (प्र०) खरीद-बिक्री के प्रसङ्ग में बनियों में यह अव्यभिचरित नियम प्रचलित है कि केवल तर्जनी को उठाने से दश संख्या को समझना, अतः उक्त तर्जनी-विन्यास से तर्जनी को ऊपर उठानेवाले पुरुष के इस अभिप्राय का बोध होता है कि 'तर्जनी को ऊपर उठाने से इस पुरुष को दश संख्या का बोध अभिप्रेत है' । इसी रीति से इसके बाद तर्जनी के उक्त विन्यास से दश संख्या का अनुमान होता है । (उ.) तो फिर शब्द से अर्थानुमान के प्रसङ्ग में भी यही रीति समझिए कि (श्रोता) पुरुष को वक्ता के द्वारा उच्चरित गो शब्द (के श्रवण) से ककुदादि धर्मों से युक्त (बैल) जीव को समझाने के लिए वक्ता के शब्द-प्रयोग की इच्छा (विवक्षा) ज्ञात होती है; क्योंकि श्रोता अपने ज्ञात शब्द समूहों में से जब गोशब्द का उच्चारण करता है, उससे पूर्व उसे ककुदादि से युक्त अर्थ की विवक्षा का अपने में बोध होता है । इस प्रसङ्ग में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है कि जिस प्रकार मेरे द्वारा गोशब्द के उच्चारण से पहले मुझमें ककुदादि धर्मों से युक्त अर्थ की विवक्षा रहती है, उसी प्रकार यह गोशब्द का उच्चारण करनेवाला पुरुषरूप धर्मी भी ककुदादि धर्मों से युक्त अर्थ की विवक्षा से युक्त है; क्योंकि यह भी गोशब्द के उच्चारण का कर्त्ता है । (प्र.) अर्थ की सत्ता न रहने पर भी अनाप्त (अविश्वास्य) लोगों में उस अर्थ की विवक्षा देखी जाती है, अतः विवक्षा से अर्थ की सिद्धि नहीं की जा सकती । (उ.) शब्द

न्यायकन्दली

भ्रान्त्या विप्रलम्भधिया वार्थशून्यस्य शब्दस्य प्रयोगात् । आप्तोक्ताच्छब्दादर्थप्रतीतिरिति चेत् ? आप्ताभिप्रायादेवार्थस्याधिगतिरिति समानार्थः ।

यत्तु सत्यपि लिङ्गत्वे देशविशेषे शब्दस्यार्थ(स्य) व्यभिचारो न धूमस्य, तत्रैष न्यायः । धूमः स्वाभाविकेन सम्बन्धेनाग्नेर्लिङ्गम् । शब्दस्तु चेष्टावत् पुरुषेच्छाकृतेन सङ्केतेन प्रवर्तमानो यत्र यत्रार्थे पुरुषेण सङ्केत्यते तस्य तस्यैवार्थस्य विवक्षावगतिद्वारेण लिङ्गम् । अत एवास्मादाप्तप्रयुक्तत्वानुसारेण चेष्टादिवत् तावदर्थनिश्चये सातत्योर्ध्वगत्यादिधर्मविशिष्टस्येव धूमस्याप्तोक्तस्यैव शब्दस्यार्थाव्यभिचारसम्भवात् ।

शब्दस्यार्थप्रतिपादनं मुख्यया वृत्त्या किं न कल्प्यते ? सम्बन्धाभावात्, असम्बद्धस्य गमकत्वे चातिप्रसङ्गात् । अस्ति स्वाभाविकः

(को अलग प्रमाण मान लेने) से ही अर्थ की सिद्धि क्यों कर होगी ? क्योंकि अभिधा की भ्रान्ति से अथवा श्रोता को ठगने के लिए ऐसे शब्दों का भी प्रयोग होता है जिनके वे अर्थ सम्भावित नहीं रहते । (प्र.) आप्तजनों के द्वारा उच्चरित शब्द से ही अर्थ की प्रतीति होती है । (उ.) इसके बदले यह भी तो कह सकते हैं कि आप्तपुरुष के द्वारा प्रयुक्त शब्द के श्रवण से श्रोता को उनके अभिप्राय का बोध होता है एवं उस अभिप्राय से अर्थविषयक अधिगति (अनुमिति) होती है ।

यह जो कहा गया है कि "शब्द यद्यपि अर्थ का (ज्ञापक) लिङ्ग है, किन्तु किसी विशेष प्रकार के देश में शब्द का भी अर्थ के साथ व्यभिचार उपलब्ध होता है, किन्तु धूम में वह्नि का व्यभिचार कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, (अतः धूम से वह्नि का अनुमान होता है, किन्तु शब्द से अर्थ का अनुमान नहीं हो सकता)" । इस प्रसङ्ग में यह युक्ति है कि धूम (संयोग रूप) स्वाभाविक सम्बन्ध से वह्नि का ज्ञापक हेतु है, किन्तु शब्द में यह बात नहीं है । जिस प्रकार पुरुषकृत सङ्केत के द्वारा तर्जन्यादि के विशेष विन्यास रूप चेष्टा से दश संख्या का अनुमान होता है, उसी प्रकार शब्द भी पुरुष की बोधनेच्छा रूप सङ्केत के द्वारा ही अर्थबोध के लिए प्रवृत्त होता है । अतः पुरुष का सङ्केत जिन अर्थों में जिन शब्दों का रहता है, उन्हीं अर्थों के वे शब्द विवक्षा के बोध के द्वारा ज्ञापक लिङ्ग होते हैं । जिस प्रकार चेष्टा रूप हेतु से (बनियों के सङ्केत के द्वारा दश संख्या प्रभृति) अर्थों का बोध होता है, उसी प्रकार शब्दों से उसके आप्तोक्तत्व के कारण ही अर्थ का बोध होता है । अतएव जिस प्रकार अविच्छिन्नमूला एवं ऊर्ध्वमुखी रेखा से युक्त धूम में वह्नि का अव्यभिचार सम्भव होता है, उसी प्रकार आप्त से उच्चरित शब्द में भी अर्थ का अव्यभिचार (व्याप्ति) भी सम्भव है ।

(प्र.) अभिधा रूप मुख्य वृत्ति से ही शब्द के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन क्यों नहीं मान लेते ? (उ.) चूँकि शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

न्यायकन्दली

सम्बन्ध इति चेत् ? शब्दस्यैकस्य देशभेदेन नानार्थेषु प्रयोगात् । यत्रायमार्यैः प्रयुज्यते तत्रास्य वाचकत्वम्, इतरत्र सङ्केतानुरोधात् प्रवृत्तस्य लिङ्गत्वमिति चेत् ? न, तुल्य एव तावच्चौरशब्दस्तस्करे भक्ते च प्रतीतिकरः, तत्रास्य तस्करे वाचकत्वं भक्ते च लिङ्गत्वमिति नास्ति विशेषहेतुः । आर्याणामपि चौरशब्दादर्थप्रतीतिः लिङ्गपूर्विका, चौरशब्दजनितप्रतिपत्तित्वात्, उभयाभिमतदाक्षिणात्यप्रयुज्यमानचौरशब्दजनितप्रतिपत्तिवत् । न च स्वाभाविकसम्बन्धसद्भावे प्रमाणमस्ति । शब्दस्य वाच्यनिष्ठा स्वाभाविकी वाचकशक्तिरेवोभयत्र दत्तपदत्वात् सम्बन्ध इत्युच्यते भवद्भिः । तथा चोक्तम्—"शक्तिरेव हि सम्बन्धः" इति । शब्दशक्तेश्च स्वभावादेव वाच्यनिष्ठत्वे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नोऽपि शब्दादर्थं

(प्र.) यदि अर्थ के साथ असम्बद्ध शब्द को ही अर्थ का बोधक मानें तो फिर (घट पद से पट बोध की आपत्ति रूप) अतिप्रसङ्ग होगा, अतः शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक (शक्ति रूप) सम्बन्ध की कल्पना करते हैं । (उ.) यह सम्भव नहीं है; क्योंकि एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों के बोध के लिए प्रयोग होता है । (प्र.) जिस अर्थ में आर्यलोग जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उस अर्थ का तो वह शब्द वाचक है (अर्थात् उस अर्थ में उस शब्द का स्वाभाविक सम्बन्ध है) । उससे भिन्न जिन अर्थों में केवल सङ्केत से ही शब्द प्रवृत्त होता है, वहाँ वह (धूम की तरह) ज्ञापक लिङ्ग है । (उ.) यह भी कहना सम्भव नहीं है; क्योंकि एक ही 'चौर' शब्द चोर और भात दोनों का समान रूप से बोधक है । इन दोनों अर्थों में से चौर रूप अर्थ का तो चौर शब्द को वाचक मानें और भात रूप अर्थ का उसे बोधक लिङ्ग मानें, इसमें विशेष युक्ति नहीं है । (इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि) जिस प्रकार दोनों पक्ष यह मानते हैं कि दाक्षिणात्यों के द्वारा प्रयुक्त 'चौर' शब्द से भात रूप अर्थ की प्रतीति उक्त शब्द रूप लिङ्ग से उत्पन्न (होने का कारण अनुमिति रूप होती) है, उसी प्रकार आर्यों के द्वारा प्रयुक्त चौर शब्द से तस्कर की प्रतीति भी चौर शब्द रूप लिङ्ग से ही होती है; क्योंकि यह प्रतीति भी चौर शब्द से उत्पन्न होती है । इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है कि शब्द और अर्थ दोनों में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध है; क्योंकि केवल शब्द में ही रहनेवाला जो वाच्य (अर्थ) का वाचकत्व सम्बन्ध है, उसी सम्बन्ध को अर्थ और शब्द दोनों में कल्पना कर लेते हैं और केवल शब्द में रहनेवाले उस सम्बन्ध को ही आप (मीमांसक) लोग दोनों का 'सम्बन्ध' कहते हैं । जैसा कहा गया है कि 'शक्ति ही सम्बन्ध है' । शब्द के शक्ति रूप सम्बन्ध को यदि स्वाभाविक रूप से ही वाच्य अर्थ में भी मान लें तो फिर जिस प्रकार व्युत्पन्न (अर्थ में शब्द-

न्यायकन्दली

प्रतीयात् शब्दस्यार्थस्य तयोः सम्बन्धस्य च सम्भवात् । ज्ञातः सम्बन्धोऽर्थप्रत्ययहेतुर्न सत्तामात्रेणेति चेत् ? यथाहुः –

ज्ञापकत्वाद्धि सम्बन्धः स्वात्मज्ञानमपेक्षते ।
तेनासौ विद्यमानोऽपि नागृहीतः प्रकाशकः ॥ इति ।

कीदृशं तस्य सम्बन्धस्य ज्ञानम् ? अस्य शब्दस्यायमर्थो वाच्य इत्येवंभूतमिति चेत् ? तत् कस्माद् भवति ? वृद्धव्यवहारादिति चेत् ? एतदेवाभिधानाभिधेयालम्बनज्ञानं परस्परं व्यवहरद्भिर्वृद्धैः पार्श्वस्थस्य बालकस्य क्रियमाणं सङ्केतो व्युत्पत्तिरिति चाभिधीयमानं संस्कारद्वारेणार्थप्रतीतिकारणमस्तु, किं सम्बन्धान्तरेण ? शब्दस्य हि निजं सामर्थ्यं शब्दत्वम्, आगन्तुकं च सामर्थ्यं सङ्केतो विशिष्टा चानुपूर्वी । तस्मादेव सामर्थ्यद्वितयात् तदर्थप्रत्ययोपपत्तिः, सम्बन्धान्तरकल्पनावैयर्थ्यम्, दृष्टात् कार्योपपत्तावदृष्टकल्पनानवकाशात् ।

सङ्केत को जाननेवाले) पुरुष को शब्द से अर्थ का बोध होता है, उसी प्रकार अव्युत्पन्न (उक्त सङ्केत को न जाननेवाले) पुरुष को भी शब्द से अर्थ के बोध की आपत्ति होगी; क्योंकि वहाँ भी शब्द और अर्थ इन दोनों का शक्ति रूप सम्बन्ध है ही । (प्र.) उक्त सम्बन्ध ज्ञात होकर ही अर्थबोध के प्रति कारण है, केवल सत्ता मात्र से नहीं (अतः अव्युत्पन्न पुरुष को अर्थबोध नहीं होता है) । जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि चूँकि शब्द का शक्ति रूप सम्बन्ध ज्ञापक हेतु है (उत्पादक नहीं), अतः वह अपने अर्थज्ञान रूप कार्य के उत्पादन में अपने ज्ञान की अपेक्षा रखता है, यही कारण है कि शब्द में विद्यमान रहने पर भी जब तक वह ज्ञात नहीं हो जाता है, तब तक अर्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता । (उ.) शक्ति रूप सम्बन्ध का कैसा ज्ञान अर्थबोध के लिए अपेक्षित है ? यदि यह कहें कि 'इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है' इस प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है, तो फिर यह पूछना है कि 'यह ज्ञान किससे उत्पन्न होता है' ? यदि इसका यह उत्तर दें कि 'यह ज्ञान वृद्धों के व्यवहार से उत्पन्न होता है' तो फिर 'अभिधानाभिधेय' के इस ज्ञान को ही अपने संस्कार के द्वारा कारण क्यों नहीं मान लेते ? जो शब्दों का व्यवहार करते हुए वृद्धजनों से बालकों में उत्पन्न होता है और जिसे 'सङ्केत' एवं 'व्युत्पत्ति' भी कहते हैं । इसके लिए शब्द का अर्थ में विलक्षण सम्बन्ध मानने का क्या प्रयोजन है ? कहने का अभिप्राय है कि शब्द की अपनी स्वाभाविक शक्ति शब्दत्व रूप ही है, एवं पुरुषों के द्वारा उसमें दो शक्तियाँ उत्पन्न की जाती हैं, जिनमें पहली है सङ्केत और दूसरी है विशेष प्रकार की आनुपूर्वी (वर्णों का विन्यास) । इन्हीं दोनों सामर्थ्यों से शब्द के द्वारा अर्थ की उत्पत्ति हो जाएगी । अतः शब्द की अर्थ में स्वतन्त्र सम्बन्ध की कल्पना व्यर्थ है; क्योंकि दृष्ट कारणों से ही कार्य की उत्पत्ति संभावित होने पर अतीन्द्रिय कारणों की कल्पना उचित नहीं है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः, "तद्वचनादाम्नायस्य

श्रुति एवं स्मृति रूप शब्द प्रमाणों का भी प्रामाण्य उनके वक्ताओं के प्रामाण्य के ही अधीन है। यही बात "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्", "लिङ्गाच्चानित्या

न्यायकन्दली

ननु यदि वक्तृद्वारेण शब्दोऽर्थावबोधकः, तदा वेदवाक्यादर्थप्रत्ययो न घटते, वक्तुरभावादत आह– श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्ष **इति । न केवलं लौकिक आम्नायः, श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तुः प्रामाण्यमपेक्ष्य प्रत्यायकः । शब्दो वक्त्रधीनदोषः, न त्वयमसुरभिगन्धवत् स्वभावत एव दुष्टः । यथोक्तम्–**

शब्दे कारणवर्णादिदोषा वक्तृनराश्रयाः ।
नहि स्वभावतः शब्दो दुष्टोऽसुरभिगन्धवत् ॥

नित्यत्वे वेदस्य वक्तुरभावाद् दोषाणामनवकाशे सति निराशङ्कं प्रामाण्यं सिद्ध्यति, पौरुषेयत्वे तु निर्विचिकित्सं प्रामाण्यं न लभ्यते, कदाचित् पुरुषाणां रागद्वेषादिभिरयथार्थस्यापि वाक्यस्य दर्शनात् । तत्राह– "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" **इति । तदित्यनागतावेक्षणन्यायेन "अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः" इति**

(प्र.) यदि वक्ता की विवक्षा के द्वारा ही शब्द अर्थ का बोधक है, तो फिर वेद-वाक्यों से अर्थों का बोध न हो सकेगा; क्योंकि वेदों का कोई वक्ता नहीं है । इसी प्रश्न के समाधान के लिए "श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः" भाष्य का यह वाक्य लिखा गया है । अर्थात् केवल लौकिक 'आम्नाय' के द्वारा प्रमाबोध के उत्पादन के लिए ही वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं है; किन्तु श्रुति एवं स्मृति रूप आम्नाय (शब्द) भी अपने द्वारा प्रमात्मक बोध के उत्पादन के लिए वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखते हैं; क्योंकि शब्द दुर्गन्ध की तरह स्वतः ही दुष्ट नहीं है । उसमें तो वक्ता के दोष से ही दोष आते हैं । जैसा कहा गया है कि 'शब्द में कारणों के द्वारा वर्णों के जितने भी दोष भासित होते हैं, वे सभी वस्तुतः वक्ता पुरुष में रहनेवाले दोषों के कारण ही आते हैं । दुर्गन्ध की तरह शब्द स्वभावतः स्वयं दुष्ट नहीं हैं'।

(प्र.) वेदों को यदि नित्य मान लिंया जाता है तो फिर उनमें निःशङ्क प्रामाण्य की सिद्धि होती है । यदि उन्हें पौरुषेय मानते हैं तो यह शङ्का बनी ही रहती है कि 'कदाचित् इसका कोई अंश अप्रमाण न हो'; क्योंकि कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि रागद्वेष के कारण मनुष्य अयथार्थ (बोधजनक) वाक्य का भी प्रयोग करता है। इसी प्रश्न का उत्तर 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इत्यादि सूत्रों का उल्लेख करते हुए भाष्यकार ने दिया है । 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इस सूत्र में 'तत्' शब्द से 'आनेवाले भविष्यवस्तु को भी बुद्धि के द्वारा देखा जा सकता है' (अनागतावेक्षण) इस

न्यायकन्दली

सूत्रे प्रतिपादितस्यास्मद्विशिष्टस्य वक्तुः परामर्शः, तद्वचनात् **तेन विशिष्टेन पुरुषेण प्रणयना**दाम्नायस्य **वेदस्य प्रामाण्यम्** ।

अयमभिसन्धिः — दोषाभावप्रयुक्तं प्रामाण्यं न नित्यत्व प्रयुक्तम्, सत्यपि नित्यत्वे श्रोत्रमनसोरागन्तुकदोषैः क्वचिदप्रामाण्यात् । असत्यपि नित्यत्वे प्रमृष्टदोषाणां चक्षुरादीनां प्रामाण्यात् । दोषाश्च पुरूविशेषे नैव सन्तीत्युपपादितम् । तेनैतत्प्रोक्तस्याम्नायस्य सत्यपि पौरुषेयत्वे प्रमाण्यम् । न हि यथार्थद्रष्टा प्रक्षीणरागद्वेषः कृपावानुपदेशाय प्रवृत्तोऽयथार्थ- मुपदिशतीति शङ्कामारोहति ।

अथ पुरुषविशेषप्रणीतो वेद इति कुत एषा प्रतीतिरिति ? सर्वैर्वर्णाश्रमिभि- रविगानेन तदर्थपरिग्रहात् । यत्किञ्चन्पुरुषप्रणीतत्वे तु वेदस्य बुद्धादि- वाक्यवन्न सर्वेषां परीक्षकाणामविगानेन तदर्थानुष्ठानं स्यात्, कस्यचिद-

न्याय से आगे 'अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः' इस सूत्र में कथित अस्मदादि साधारण जनों से उत्कृष्ट पुरुष का परामर्श अभिप्रेत है । 'तद्वचनात्' उस विशिष्ट पुरुष के द्वारा निर्मित होने के कारण ही 'आम्नाय' में अर्थात् वेद में प्रामाण्य है ।

गूढ़ अभिप्राय यह है कि किसी भी प्रमाण में प्रामाण्य के लिए उसका नित्य होना आवश्यक नहीं है । उसमें दोषों का न रहना ही उसके प्रामाण्य के लिए पर्याप्त है; क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय और मन ये दोनों ही नित्य हैं (पौरुषेय नहीं हैं); किन्तु किसी कारण से जब इनमें दोष आ जाते हैं तो फिर (ये नित्य होते हुए भी) अप्रमाण हो जाते हैं । इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ यद्यपि अनित्य हैं फिर भी जब तक दोषों से शून्य रहती हैं तब तक उनमें प्रामाण्य बना रहता है । अतः विशिष्ट पुरुष (रूप ईश्वर) के द्वारा रचित आम्नाय में उसके पौरुषेय होने पर भी प्रामाण्य के रहने में कोई बाधा नहीं है । इसकी तो शङ्का भी नहीं की जा सकती कि यथार्थ ज्ञान से युक्त और रागद्वेष से रहित कृपाशील महापुरुष जब उपदेश करने के लिए उद्यत होंगे तो वे अयथार्थ (ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले) वाक्यों का भी कभी प्रयोग करेंगे ।

(प्र.) यह कैसे समझते हैं कि विशिष्ट (सर्वज्ञ) पुरुष के द्वारा ही वेदों का निर्माण हुआ है ? (उ.) चूँकि ब्राह्मणादि सभी वर्णों के लोग एवं ब्रह्मचर्यादि सभी आश्रमों के लोग बिना किसी विरोध के वेदों के द्वारा प्रतिपादित निर्देशों का पालन करते हैं । यदि किसी साधारण पुरुष से वेदों का निर्माण हुआ होता तो बुद्धिपूर्वक चलनेवाले इतने शिष्ट जनों के द्वारा वेदों के द्वारा कथित अर्थों का बिना विरोध के अनुष्ठान होता, जैसे कि बुद्धादि के वाक्यों का अनुसरण कुछ ही व्यक्तियों के द्वारा हुआ और वह भी बहुत विरोध के बाद । वेदों को बुद्धादि वाक्यों की तरह अप्रामाणिक मानने पर वर्णाश्रमियों में से भी किसी को अप्रामाण्य ज्ञान के द्वारा वेदों से अप्रमा ज्ञान भी होता । (इससे यह अनुमान होता है कि) जिसमें सभी का प्रामाण्य होता है, वह प्रमाण ही होता है (अप्रमाण नहीं), जैसे कि प्रत्यक्षादि

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रामाण्यम्" (वै.अ. १ आ. १ सू. ३) "लिङ्गाच्चानित्या बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वै. अ. ६ आ. १ सू. १) "बुद्धिपूर्वो ददातिः" (वै. अ. ६ आ. १ सू. ३) इत्युक्तत्वात् ।

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे", "बुद्धिपूर्वो ददातिः" इत्यादि सूत्रों के द्वारा कही गयी है ।

न्यायकन्दली

प्रामाण्यावबोधेन विसंवादप्रतीतेरपि सम्भवात् । यत्र च सर्वेषां संवादनियमस्तत्प्रमाणमेव, यथा प्रत्यक्षादिकम् । प्रमाणं वेदः, सर्वेषामविसंवादिज्ञानहेतुत्वात्, प्रत्यक्षवत् । यत्तु दृष्टार्थेषु कर्मस्वनुष्ठानात् क्वचित् फलादर्शनं न तदस्य प्रामाण्यं प्रतिक्षिपति, सामग्री-वैगुण्यनिबन्धनत्वात् । तन्निबन्धनत्वं च यथावत्सामग्रीसम्भवे सति फलदर्शनात् ।

आप्तोक्तत्वादाम्नायस्येति न युक्तम्, तदर्थानुष्ठानकालेऽभियुक्तैरनुष्ठा-तृभिः स्मृत्ययोग्यस्य कर्तुरस्मरणादभावसिद्धेरत आह–लिङ्गाच्चानित्य इति । **तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यमित्यत्रोक्तमाम्नायपदं प्रकृतत्वादिह सम्बध्यते, लिङ्गा-दाम्नायोऽनित्यो गम्यत इत्यर्थः । लिङ्गमुपन्यस्यति–** बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेद **इति ।**

प्रमाण । अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह वेद भी सभी व्यक्तियों में प्रमा ज्ञान का ही उत्पादक होने के कारण प्रमाण ही है । यह जो कोई आक्षेप करते हैं कि 'वेदों के द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानों में से कुछ निष्फल भी होते हैं, जिससे निःशङ्क प्रामाण्य का विघटन होता है', यह आक्षेप तो उन अनुष्ठानों की यथा- विहित सामग्री में वैगुण्य की कल्पना करके भी हटाया जा सकता है । 'उन अनुष्ठानों के विधान के अनुसार सामग्री का सम्बलन नहीं था' यह इसी से समझ सकते हैं कि विधान के अनुसार सामग्री के द्वारा जो अनुष्ठान किया जाता है, वह अवश्य ही सफल होता दीखता है ।

(प्र.) आम्नाय (वेद) आप्तों से उक्त होने के कारण प्रमाण नहीं है; क्योंकि अनुष्ठान के समय अनुष्ठाताओं को वेदों के कर्त्ता का स्मरण नहीं होता है, अतः सत्ता के न रहने के कारण वे स्मृति के अयोग्य हैं ? इसी प्रश्न के समाधान के लिए 'लिङ्गाच्चानित्यः' इस सूत्र का उल्लेख किया गया है । इस सूत्र के पूर्ववर्ती 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इस सूत्र के 'आम्नाय' पद को प्रकृत में उपयुक्त होने के कारण 'लिङ्गाच्चानित्यः' इस सूत्र में अनुवृत्त समझना चाहिए । तदनुसार इस सूत्र का यह अर्थ होता है कि हेतु से आम्नाय को अनित्य समझना चाहिए (अर्थात् हेतु से वेद में अनित्यत्व का अनुमान करना चाहिए) । 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' इस सूत्र के उल्लेख के द्वारा वेद में अनित्यत्व के साधक हेतु का ही निर्देश किया गया है । उक्त सूत्र का 'वाक्यकृतिः' शब्द 'वाक्यस्य कृतिः' इस समास

न्यायकन्दली

वाक्यस्य कृतिर्वेद इति—वाक्यस्य कृतिर्वाक्यरचना बुद्धिपूर्विका, वाक्यरचनात्वात्, लौकिक-वाक्यरचनावत् ।

लिङ्गान्तरमाह—बुद्धिपूर्वो ददातिरित्युक्तत्वात् । **वेदे ददातिशब्दो बुद्धिपूर्वको ददाति-रित्युक्तत्वाल्लौकिकददातिशब्दवत् ।**

यच्चेदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति, तदसिद्धम्, "प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्ना-हरासीन्न रात्रिरासीत्, स तपोऽतप्यत, तस्मात् तपसश्चत्वारो वेदा अजायन्त" इत्याम्नायेनैव कर्तृस्मरणात्, जीर्णकूपादिभिर्व्यभिचाराच्च । तदेवमनित्यत्वे वेदस्य सिद्धे पुरुषवचसां द्वैतोपलम्भात् प्रामाण्यसन्देहे सति दृष्टे विषये कदाचि-दर्थसन्देहात् प्रवृत्तिर्भवत्यपि, अदृष्टे तु विषये प्रचुरवित्तव्ययशरीरायाससाध्ये

के द्वारा निष्पन्न है, तदनुसार उक्त सूत्र से यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार लौकिक वाक्य की रचना केवल वाक्य की रचना होने के कारण ही पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार वेदवाक्यों की रचना भी चूँकि वाक्य-रचना ही है, अतः वह भी पुरुष की बुद्धि से ही उत्पन्न है ।

वेदों में अनित्यत्व के साधन के लिए ही दूसरे हेतु का प्रदर्शन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'बुद्धिपूर्वो ददातिः' इस सूत्र की रचना महर्षि कणाद ने की है । इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार लोक में 'ददाति' शब्द का प्रयोग (पुरुष की) बुद्धि के द्वारा निष्पन्न होता है, उसी प्रकार वेद के 'ददाति' शब्द का प्रयोग भी केवल 'ददाति' शब्द का प्रयोग होने के कारण ही बुद्धि के द्वारा उत्पन्न है ।

(वेद को नित्य माननेवालों ने) यह जो 'अस्मर्य्यमाणकर्त्तृकत्व' रूप हेतु का उल्लेख (वेदों के नित्यत्व के लिए किया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि) यह हेतु ही वेद रूप पक्ष में सिद्ध नहीं है । चूँकि 'प्रजापतिर्वा' इत्यादि वेद-वाक्यों में कर्त्ता का स्पष्ट उल्लेख है । एवं यह 'अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्व' रूप हेतु उन जीर्ण कूपादि में व्यभिचरित भी है, जिनके बनानेवालों का नाम आज कोई नहीं जानता । इस प्रकार वेदों में अनित्यत्व के सिद्ध हो जाने पर (यह उपपादन करना सुलभ है कि) दृष्टान्तभूत लौकिक वाक्य प्रमाण और अप्रमाण दोनों ही प्रकार के उपलब्ध होते हैं, अतः उनमें प्रामाण्यसन्देह के कारण उन वाक्यों से निर्दिष्ट कार्यों में कदाचित् अर्थ के सन्देह से भी प्रवृत्ति हो सकती है; किन्तु वैदिक यागादि कार्यों में "जिनके फल स्वर्गादि सर्वथा अदृष्ट हैं, जिनके अनुष्ठान में बहुत से धन का व्यय होता है, शारीरिक परिश्रम भी बहुत

न्यायकन्दली

तावत् प्रेक्षावान्न प्रवर्तते, यावत् तद्विषये वाक्यस्य प्रामाण्यं नावधारयति । दृष्टं च लोके वचसः प्रामाण्यं वक्तृगुणावगतिपूर्वकम्, तेन वेदेऽपि तथैव प्रामाण्यान्निर्विचिकित्समनुष्ठानं स्यात् ।

अत्रैके वदन्ति—नाप्तोक्तत्वनिबन्धनं वचसः प्रामाण्यम्, सर्वप्रमाणानां स्वत एव प्रामाण्यादिति । ते इदं प्रष्टव्याः, प्रामाण्यमेव तावत् किमुच्यते ? किमर्थाव्यभिचारः ? किं वा यथार्थपरिच्छेदकत्वम् ? न तावदर्थाव्यभिचारः ।

सत्यपि वह्निनियतत्वे धूमस्य प्रमत्तस्य कुतश्चिन्निमित्तादनुत्पादिताग्निज्ञानस्य प्रामाण्याभावात्, नीलपीतादिषु प्रत्येकं व्यभिचारेऽपि चक्षुषो यथार्थज्ञानजनकत्वेनैव प्रामाण्यात् ।

अथ यथार्थपरिच्छेदकत्वं प्रामाण्यम् ? तत् किं स्वतो ज्ञायते ? स्वतो वा जायते ? किं वा स्वतो व्याप्रियते ? यदि तावज्ज्ञानेन स्वप्रामाण्यं स्वयमेव ज्ञायेत, यथार्थपरिच्छेदकमहमस्मीति । न तर्हि

अपेक्षित होता है—तब तक प्रवृत्ति नहीं हो सकती जब तक कि उन अनुष्ठानों के बोधक वाक्यों में प्रामाण्य का अवधारण न हो जाय । शब्दों के प्रामाण्य के प्रसङ्ग में लोक में यह देखा जाता है कि उसका प्रामाण्य अपने ज्ञान के लिए वक्ता में यथार्थज्ञानादि गुणों के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, अतः वेदों में भी उसी प्रकार से वक्ता में गुणावधारणमूलक प्रामाण्य जब तक अवधारित नहीं होगा, तब तक उनसे विहित यागादि का निःशङ्क अनुष्ठान नहीं हो सकेगा ।

इस प्रसङ्ग में एक सम्प्रदाय के (मीमांसक) लोग कहते हैं कि (प्र.) शब्द आप्तजनों से उक्त होने के कारण प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः है । (उ.) इन लोगों से यह पूछना चाहिए कि आप लोग प्रामाण्य किसे कहते हैं ? क्या (१) अर्थ के साथ ज्ञान का अव्यभिचार (नियत सम्बन्ध) ही प्रामाण्य है ? अथवा (२) वस्तुओं को अपने रूप में निश्चित करना ही प्रामाण्य है ?

(१) अर्थ का अव्यभिचार तो प्रामाण्य नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे कितने ही पागल दुनिया में हैं, जिन्हें जिस किसी प्रतिबन्ध के कारण धूम में वह्नि की व्याप्ति रहने पर भी धूम-ज्ञान से वह्नि का ज्ञान नहीं होता, फलतः उस धूम-ज्ञान में प्रामाण्य नहीं रहेगा । एवं नील में सम्बद्ध चक्षु पीत में व्यभिचरित रहने पर भी यथार्थ ज्ञान का कारण होने से ही प्रमाण माना जाता है ।

(२) यदि प्रामाण्य को यथार्थपरिच्छेदकत्व रूप मानें तो उस प्रसङ्ग में पहले यह पूछना है कि यह यथार्थपरिच्छेदकत्व निम्नलिखित पक्षों में से क्या है ? (१) प्रामाण्य स्वतः ज्ञात होता है ? या (२) प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है अथवा (३) प्रामाण्य अपने अर्थपरिच्छेद रूप कार्य में स्वतः व्यापृत होता है ? (१) यदि ज्ञान का प्रामाण्य अपने ही द्वारा 'यथार्थ-परिच्छेदक

न्यायकन्दली

प्रमाणे यथार्थमिदमयथार्थं वेति संशयः कदाचिदपि स्यात्, विपर्ययज्ञाने च प्रवृत्तिर्न भवेत् । अथ स्वात्मनि क्रियाविरोधादात्मानमगृह्णद् विज्ञानमात्मनो यथार्थपरिच्छेदकत्वं न गृह्णाति, तर्हि तत्परिच्छेदाय परमपेक्षितव्यम्, प्रमाणेन विना प्रमेयप्रतीतेरभावात् । प्रामाण्यस्यापि प्रमीयमानदशायां प्रमेयत्वादिति परतः प्रामाण्यमेव । परेण प्रामाण्ये ज्ञायमाने परेण प्रामाण्यं ज्ञेयम्, तस्यापि प्रामाण्यमपरेण ज्ञेयं तस्याप्यन्येनेत्यनवस्थेति चेत् ? नानवस्था, सर्वत्र प्रामाण्ये जिज्ञासाभावात् । प्रमाणं हि स्वोत्पत्त्यैवार्थं परिच्छिनत्ति न ज्ञातप्रामाण्यम्, तेन त्वर्थे परिच्छिन्नेऽपि यत्र कुतश्चिन्निमित्तात् प्रमाणमिदमप्रमाणं वेति संशये जाते विषयसन्देहात् पुरुषस्याप्रवृत्तिः, तत्रास्य प्रवृत्त्यर्थं करणान्तरात् प्रामाण्य-जिज्ञासा भवति, अनवधारिते प्रामाण्ये संशयानुच्छेदात् । यत्र पुनरत्यन्ताभ्यास-

मैं ही हूँ' इस प्रकार से ज्ञात होता तो फिर (प्रमा ज्ञान रूप) प्रमाण में 'यह यथार्थ है या अयथार्थ' ? इस प्रकार का संशय कभी नहीं होता । एवं विपर्यय ज्ञान से जो (विफला) प्रवृत्ति होती है, वह भी कभी नहीं होती (उससे भी सफल प्रवृत्ति ही होती) । यदि यह कहें (प्र.) 'स्व' में क्रिया के विरोध के कारण अर्थात् एक ही वस्तु में एक क्रिया का कर्तृत्व और कर्मत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों का समावेश असम्भव होने के कारण एक ज्ञान व्यक्ति अपने उसी ज्ञान व्यक्ति का ग्रहण नहीं कर सकता, अतः 'स्व' में रहनेवाले यथार्थपरिच्छेदकत्व का भी ग्रहण उससे नहीं होता है । (उ.) तो फिर अर्थ-परिच्छेद के लिए किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा-होगी; क्योंकि प्रमाण के बिना प्रमेय का ज्ञान नहीं होता है । प्रमाण भी अपने प्रमा ज्ञान में विषय होने की दशा में प्रमेय है ही । अतः यथार्थपरिच्छेदकत्व भी 'परतः' ही है । (प्र.) दूसरी प्रमा से जिस समय प्रामाण्य गृहीत होता है, उस समय यह प्रामाण्य उस दूसरे प्रमाण का ज्ञेय विषय होता है । किन्तु जब यह दूसरा प्रमाण स्वयं ज्ञेय होता है, तब वह किसी तीसरे प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है । इसी तरह उस तीसरे प्रमाण का भी ग्रहण किसी चौथे प्रमाण से होगा । इस प्रकार 'परतः प्रामाण्यम्' पक्ष में; अनवस्था दोष है । (उ.) यह अनवस्था दोष 'परतः प्रामाण्य' पक्ष में नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञानों में प्रामाण्य का संशय उपस्थित नहीं होता । प्रमाण अपनी उत्पत्ति के द्वारा अपने अर्थों का अवधारण कर लेता है । अर्थ परिच्छेद के लिए प्रामाण्य के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है । प्रामाण्यसंशय के द्वारा अर्थ में प्रवृत्ति के न होने का यह कारण है कि प्रमाण के द्वारा अर्थ-परिच्छेद के बाद जब किसी कारणवश अर्थ के परिच्छेदक इस प्रमाण में 'यह प्रमाण है या अप्रमाण ?' इस आकार का संशय उपस्थित होता है और इस संशय से अर्थविषयक संशय होता है । इस अर्थ-संशय के कारण ही प्रवृत्ति का उक्त प्रतिरोध होता है, प्रवृत्ति के इस प्रतिरोध को हटाकर पुनः प्रवृत्ति के सम्पादन के लिए ही दूसरे कारणों के द्वारा प्रामाण्य को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है; क्योंकि जब तक प्रामाण्य का अवधारण नहीं हो जाएगा, तब तक प्रमाण्य का उक्त संशय

न्यायकन्दली

पाटवादखिलविशेषग्रहणाद् वा प्रमृष्टसन्देहकलङ्कलेखमेव प्रमाणमुदेति, तत्र तदुत्पत्त्यैवार्थ-निश्चये प्रमातुर्निराकाङ्क्षत्वात् प्रतिपित्सैव नास्तीति न प्रमाणान्तरानुसरणम्। यस्तु तत्रापि ज्ञानस्योभयथा दर्शनेन सन्देहमारोपयति स न शक्नोत्यारोपयितुम्, तदर्थनिश्चयेनैव पराहतत्वात् । यथाह मण्डनो ब्रह्मसिद्धौ—

"अनाश्वासो ज्ञायमाने ज्ञानेनैवापबाध्यते" । इति ।

यदि प्रवृत्त्यर्थं प्रामाण्यं विजिज्ञास्यते ? यत्रानवधारितप्रामाण्यस्यैवार्थसंशयात् प्रवृत्तिरभूत् तत्रार्थप्राप्तिपरितुष्टस्य प्रामाण्ये जिज्ञासा नास्ति, कथं प्रवृत्ति-सामर्थ्यात् प्रमाणस्यार्थवत्त्वावधारणम् ? न तत्रापि कर्षकस्येव बीजपरीक्षार्थं प्रामाण्यपरीक्षार्थमेव प्रवृत्तिः, अस्यास्त्येव तदर्थिता । यस्य प्रामाण्यसन्देहादर्थे सन्दिहानस्यार्थग्रहणार्थमेव प्रवृत्तिर्जाता, तस्यार्थप्राप्तिचरितार्थस्यानभिसंहितमपि

दूर नहीं हो सकेगा । जहाँ अभ्यास की अत्यन्त पटुता के कारण अथवा विषय के सभी अंशों को खूब अच्छी तरह देखने के कारण ऐसा ही प्रमाण उपस्थित होता है, जिसमें सन्देह कलङ्क की रेखा भी नहीं रहती है, वहाँ प्रमाण केवल अपनी उत्पत्ति के द्वारा ही अर्थ का अवधारण करा देता है (इसी से प्रमाता पुरुष की प्रामाण्य ज्ञान की आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है), अतः ऐसे स्थलों में प्रामाण्य-ज्ञान के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती । जो कोई 'ज्ञान प्रमा और अप्रमा दोनों प्रकार का होता है' केवल यह समझने के कारण ही ऐसे स्थलों में भी प्रामाण्य सन्देह का आरोप करते हैं, उनका यह आरोप भी सम्भव नहीं है; क्योंकि तदर्थ विषयक निश्चय हो जाने के कारण तदर्थ विषयक प्रामाण्य सन्देह नहीं हो सकता । जैसा कि आचार्य मण्डन ने ब्रह्मसिद्धि में कहा है कि किसी विषयक ज्ञान में उत्पन्न अविश्वास उस विषयक निश्चय के द्वारा ही पराभूत हो सकता है (अर्थात् इसके लिए ज्ञानगत प्रामाण्य का अवधारण अपेक्षित नहीं है)।

यदि प्रवृत्ति के लिए ज्ञान के प्रामाण्य की जिज्ञासा मानते हैं, तो फिर जो प्रवृत्ति अर्थ के संशय से ही होती है, जिस प्रवृत्ति के आश्रयीभूत पुरुष में प्रामाण्य का अवधारण है ही नहीं, (उस प्रवृत्ति की उपपत्ति कैसे होगी ?) क्योंकि वह पुरुष तो उसी संशयजनित प्रवृत्ति के द्वारा अभीष्ट अर्थ को पाकर सन्तुष्ट है, उसमें प्रामाण्य की जिज्ञासा क्यों कर उठेगी ? फिर कैसे कहते हैं कि प्रवृत्ति की सफलता से प्रमाण में अर्थवत्त्व का अवधारण होता है ? जिस प्रकार कोई किसान बीज की परीक्षा को ही प्रधान प्रयोजन मानकर प्रवृत्त होता है, उस प्रकार की स्थिति प्रकृत में नहीं है; क्योंकि वह सन्दिग्ध पुरुष उस अर्थ का प्रार्थी है । किन्तु जहाँ प्रामाण्य-सन्देह के कारण उत्पन्न अर्थ-सन्देह से ही अर्थ-ग्रहण में पुरुष प्रवृत्त होता है और उसकी प्रवृत्ति सफल भी होती है, उस प्रवृत्ति की सफलता से परितुष्ट पुरुष को भी प्रवृत्ति की सफलता से प्रामाण्य की अनुमिति अवश्य होती है;

न्यायकन्दली

प्रामाण्यावधारणं वस्तुसामर्थ्याद् भवति, प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य प्रामाण्याव्यभिचारात् । तदेवं तावत् प्रामाण्यं स्वतो न ज्ञायते । नापि स्वतो जायते । यदि ज्ञानमुत्पद्य पश्चात् स्वात्मनि यथार्थपरिच्छेदकत्वं जनयति, प्रतिपद्येमहि तस्य स्वतः प्रमाणताम् । यथार्थावबोधस्वभावस्यैव तस्य कारणादुत्पत्तिं पश्यन्तः परापेक्षमेव तस्य प्रामाण्यं मन्यामहे ।

अथ मन्यसे प्रमाणं स्वयमेव स्वकीयं प्रामाण्यं जनयतीति स्वतः प्रमाणत्वं न ब्रूमः, अपि तु ज्ञानं प्रामाण्योत्पादाय स्वोत्पादककारणकलापादन्यन्नापेक्षत इति स्वतः प्रामाण्यम् । एतदप्यसत् । यदि ह्यन्यूनानतिरिक्तज्ञानोत्पादिकैव सामग्री प्रामाण्ये कारणम्, विपर्ययज्ञानं कुतः ? यथार्थज्ञानजननं कारणानां स्वभावः, स यदा दोषैः प्रच्याव्यते तदा तान्ययथार्थज्ञानं जनयन्ति, यदा तु स्वभावप्रच्युतिहेतवो दोषा न भवन्ति, तदा तेषां यथार्थज्ञानजननमेव स्वभावो व्यवतिष्ठत इति चेत् ? तत् किं वक्तृज्ञानमात्रादेव तत्पूर्वके वाक्ये

क्योंकि प्रवृत्ति की सफलता रूप हेतु में प्रामाण्य का अव्यभिचार (व्याप्ति) है ही और वस्तु के सामर्थ्य को कार्य करने से कोई रोक नहीं सकता ? तस्मात् प्रामाण्य न स्वतः उत्पन्न होता है और न स्वतः ज्ञात ही होता है । यदि उत्पन्न होने के बाद ज्ञान अपने में यथार्थपरिच्छेदकत्व को उत्पन्न करता तो समझते कि वह 'स्वतः प्रमाण' है । किन्तु हम देखते हैं कि यथार्थ बोध (यथार्थपरिच्छेद) स्वरूप ही तो उसकी उत्पत्ति होती है, अतः हम लोग उसके प्रामाण्य के लिए दूसरे कारणों की अपेक्षा मानते हैं ।

(प्र.) यदि यह मानते हो कि (प्र. गुरुमत) प्रामाण्य के स्वतस्त्व का यह अर्थ नहीं है कि प्रमाण अपने प्रामाण्य का उत्पादन स्वयं करता है; किन्तु स्वतः प्रामाण्य यह है कि ज्ञान के जितने कारण हैं, उतने से ही ज्ञान के प्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है, प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए उन कारणों से न अधिक कारण की आवश्यकता है और न उन कारणों में से किसी को छोड़कर उसकी उत्पत्ति हो सकती है । (उ.) किन्तु यह भी असङ्गत है; क्योंकि यदि ज्ञान के लिए जितने कारण आवश्यक हैं, उतने ही कारण यदि ज्ञान के प्रामाण्य के लिए अपेक्षित हैं, प्रामाण्य के लिए न उनसे अधिक की आवश्यकता है; न उनमें से किसी को छोड़कर प्रामाण्य की उत्पत्ति हो सकती है, तो फिर विपर्यय रूप ज्ञान क्यों कर उत्पन्न होता है ? (प्र.) यद्यपि यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करना ही उन कारणों का स्वभाव है; किन्तु दोषों से वे जिस समय अपने उस स्वभाव से प्रच्युत हो जाते हैं, उस समय उनसे (दोष सान्निध्य के कारण) अयथार्थ ज्ञान की भी उत्पत्ति होती है । जिस समय उन कारणों को उस स्वभाव से च्युत करनेवाले दोष उपस्थित नहीं रहते, उस समय ज्ञान के कारणों का अपना यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला स्वभाव व्यवस्थित ही रहता है । (उ.) तो क्या वक्ता पुरुष

न्यायकन्दली

यथार्थतोत्पादः ? एवं सति सर्वमेव वाक्यमवितथं स्यात् । अथ प्रमाणज्ञानाद् वाक्ये यथार्थतोत्पादः ? न तर्हि कारणस्वरूपमात्रात् प्रामाण्यमपि तु तद्गुणात् । शब्दस्य कारणमर्थज्ञानम्, तस्य गुणो यथार्थत्वम् । अयथार्थत्वं च दोषः । तत्र यथार्थताया वाक्यप्रामाण्यहेतुत्वे कारणगुणादेव तस्य प्रामाण्यम्, न स्वरूपमात्रात् । शब्दस्य च गुणात् प्रामाण्ये ज्ञानान्तराणामपि तथैव स्यात् । विवादाध्यासितानि विज्ञानानि कारणगुणाधीन-प्रामाण्यानि, प्रमाणज्ञानत्वाच्छब्दाधीनप्रमाणज्ञानवत् ।

शब्देऽपि कारणगुणस्य दोषाभावे व्यापारो न प्रामाण्योत्पत्ताविति चेत् ? न, गुणेन दोषप्रतिबन्धाद् दोषकार्यस्यायथार्थत्वस्योत्पत्तिर्मा भूत्, यथार्थत्वोत्पादस्तु

में रहनेवाले (प्रमा-अप्रमा साधारण) सभी ज्ञानों से उस पुरुष के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से उत्पन्न ज्ञानों में यथार्थता (प्रमात्व) की उत्पत्ति होती है ? यदि ऐसी बात हो तो सभी वाक्य प्रमाण ही होंगे । अगर वक्ता में रहनेवाले प्रमाज्ञान से ही तज्जनित वाक्य में प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, अर्थात् वाक्यजनित ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर 'ज्ञान के उत्पादक कारणों से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है' यह न कहकर यह कहिए कि उस 'कारणगुण' से अर्थात् वक्तृज्ञान रूप कारण में रहनेवाले प्रमात्व रूप गुण से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है । शब्द का कारण है वक्ता में रहनेवाला ज्ञान, वक्ता के ज्ञान रूप इस कारण में रहनेवाला (प्रमात्व का उत्पादक) गुण है, उस ज्ञान की 'यथार्थता' और अयथार्थत्व का उत्पादक दोष है, उस ज्ञान की अयथार्थता । इनमें वक्ता में रहनेवाले ज्ञान की यथार्थता रूप गुण को वाक्य के प्रामाण्य का कारण मानें तो फिर (यही निष्पन्न होता है कि) वक्तृज्ञान रूप कारण में रहने वाले उसके प्रमात्व रूप गुण से ही शब्द से उत्पन्न ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, ज्ञान स्वरूपतः अपने सामान्य कारणों से प्रामाण्य को लिये हुए ही उत्पन्न नहीं होता है । इस प्रकार शब्द में परतः प्रामाण्य के स्वीकृत हो जाने पर अनुमानादि ज्ञानों में भी प्रामाण्य के 'परतस्त्व' की यह स्थिति सुव्यवस्थ हो जाएगी । इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार वक्ता के ज्ञान रूप कारण में रहनेवाली यथार्थता रूप गुण से शब्द के द्वारा उत्पन्न ज्ञान में यथार्थता (प्रमात्व) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उन सभी ज्ञानों में–जिनके प्रसङ्ग में (स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसकों के साथ) विवाद है–कारण में रहनेवाले कथित 'गुण' से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, चूँकि वे सभी ज्ञान प्रमाण है ।

(प्र.) शब्द प्रमाण स्थल में भी वक्ता के ज्ञान का प्रमात्वरूप 'गुण' इतना ही करता है कि शब्द ज्ञान में अप्रमात्व को लानेवाले दोषों को हटा देता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए वह (गुण) कुछ भी नहीं करता (जो जिसकी उत्पत्ति के लिए कुछ भी नहीं करता, वह उसका कारण कैसे हो सकता है ?) अतः शाब्दज्ञान को दृष्टान्त रूप से

न्यायकन्दली

कुतः ? कारणाभावे हि कार्याभावो न तु विपरीतस्य भावः । ज्ञानस्वरूपमात्रादिति चेत् ? न, तस्याविशेषात् । अर्थसम्बन्धो हि ज्ञानस्य विशेषः, स चेद्दोषप्रतिबन्धमात्रोपक्षीणत्वाद् यथार्थतोत्पत्तावनङ्गम्, स्वरूपस्याविशेषाद् नार्थविशेषनियतं वाक्यं स्यादविशेषाद् विशेषसिद्धेरभावात् । अथ यदर्थविषयं ज्ञानं तदर्थविषयमेव वाक्यं जनयतीति, तदा ज्ञानस्य यथार्थतैव वाक्यस्य यथार्थताहेतुः, न बोधरूपतामात्रमित्यायातं तस्य गुणादेव प्रामाण्यम् । अस्तु वा गुणस्य दोषाभावे व्यापारस्तथापि परतः प्रामाण्यं न हीयते, तदुत्पत्तौ सर्वत्र कारणस्वभावव्यतिरिक्तस्य दोषाभावस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सामर्थ्यावधारणात् ।

उपस्थित करना युक्त नहीं है । (उ.) यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि गुण से दोष में कार्य को उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही केवल प्रतिरुद्ध होती है, इससे दोष से होनेवाली जो ज्ञान की अयथार्थता या अप्रमात्व है, उसकी उत्पत्ति गुण के रहने से भले ही रुक जाय; किन्तु गुण के द्वारा उक्त ज्ञान में यथार्थत्व की उत्पत्ति कैसे हो जायेगी ? (जब तक वह प्रमाज्ञान के उत्पादन के लिए कोई व्यापार न करे) कारण के न रहने से इतना ही होगा कि–उसका कार्य उत्पन्न न हो सकेगा, किन्तु कारण के न रहने पर विरपीत कार्य की उत्पत्ति कैसे हो जाएगी ? (अभिमत कार्य की अनुत्पत्ति और विपरीत कार्य की उत्पत्ति दोनों बिलकुल पृथक् वस्तु हैं) । (प्र.) सभी ज्ञानों की उत्पादिका जो साधारण सामग्री है, उसी से प्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है । (उ.) यह तो विपर्ययादि ज्ञानों में भी समान ही है, अतः यह नहीं कह सकते कि ज्ञानों के साधारण कारणों से प्रामाण्य की ही उत्पत्ति होती है, अप्रामाण्य की नहीं । यदि यह कहें कि (प्र.) अर्थ का सम्बन्ध ही (प्रमा) ज्ञान का (अप्रमा) ज्ञान से अन्तर है, गुण दोषों को हटाने के ही काम में लग जाने के कारण यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति का अङ्ग नहीं है । (उ.) (घटादि ज्ञान और पटादि ज्ञान दोनों का ज्ञानत्व रूप धर्म) तो एक ही है, अतः किसी विशेष प्रकार के अर्थ की सिद्धि के लिए जो विशेष प्रकार के वाक्यों का प्रयोग का नियम है वह न रह सकेगा; क्योंकि विशेष वाक्य से विशेष प्रकार की सिद्धि आप मानते नहीं हैं । यदि यह कहें (प्र.) वक्ता में जिस विषय का ज्ञान रहता है, तदर्थ विषयक बोध को उत्पन्न करनेवाले वाक्य की ही उत्पत्ति (उस वक्तृज्ञान से) होती है, (उ.) तो फिर कारणीभूत वक्तृज्ञान की यथार्थता ही वाक्य के प्रामाण्य का कारण है, शब्द केवल इसलिए प्रमाण नहीं है कि वह जिस किसी ज्ञान को उत्पन्न कर देता है । इससे वही बात आ जाती है कि (दोष से अप्रामाण्य की तरह) गुण से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है । दूसरी बात यह है कि यदि गुण का उपयोग दोषों को हटाने भर के लिए मान भी लें, फिर भी प्रामाण्य के परतस्त्व में कोई बाधा नहीं आती है; क्योंकि प्रमात्व के प्रति उसके आश्रयीभूत ज्ञान के कारणों से अतिरिक्त

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रतिपत्तिदर्शनात् तदप्यनुमानमेव ।

चेष्टा के साथ सङ्केतित अर्थ के ज्ञान से युक्त पुरुष को ही उस चेष्टा से अर्थ का बोध होता है, अतः चेष्टा भी अनुमान प्रमाण के ही अन्तर्गत है (अतिरिक्त प्रमाण नहीं) ।

न्यायकन्दली

दोषाभावाद् विपर्ययाभावः, प्रामाण्यं त्विन्द्रियादिस्वरूपमात्राधीनमिति चेत् ? दोषः प्रामाण्योत्पत्तिः प्रतिबध्यते, विपर्ययः पुनरिन्द्रियादिस्वरूपाधीन इति कस्मान्न कल्प्यते ? दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद् विपर्ययस्य नैवं कल्पनेति चेत् ? प्रामाण्यस्यापि दोषाभावान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वदर्शनान्न तत्कल्पनेति समानम् । न हि तदस्ति प्रमाणं यद् दोषाणां प्रागभावं प्रध्वंसाभावं नापेक्षते ।

एवं प्रवृत्त्यादिकार्यजननव्यापारोऽपि प्रमाणस्य परत एव न स्वरूपमात्राधीनः, उपकारापकारादिसापेक्षस्य प्रवृत्त्यादिकार्यजनकत्वादित्येषा दिक् ।

हस्तस्यावाङ्मुखाकुञ्चनादाह्वानं प्रतीयते, पराङ्मुखोत्क्षेपणाच्च विसर्जनप्रतीतिर्भवति, एतत्प्रमाणान्तरमिच्छन्ति केचित् । तान् प्रत्याह–प्रसिद्धाभिनय-

दोषाभाव में भी कारणता अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध है । (प्र.) दीप के अभाव से तो विपर्यय (अप्रमा) का अभाव ही उत्पन्न होता है, प्रामाण्य तो ज्ञान सामान्य के लिए अपेक्षित इन्द्रियादि कारण समुदाय से ही उत्पन्न होता है । (उ.) इसी प्रकार यह कल्पना भी तो की जा सकती है कि दोषों से प्रामाण्य की उत्पत्ति ही केवल प्रतिरुद्ध होती है, इन्द्रियादि साधारण कारणों से ही विपर्यय की उत्पत्ति होती है । यदि यह कहें कि (प्र.) विपर्यय के साथ ही दोष के अन्वय और व्यतिरेक दोनों हैं, अतः यह (दोष से प्रामाण्य की उत्पत्ति के प्रतिरोध की) कल्पना नहीं की जा सकती ? (उ.) इसी प्रकार 'प्रामाण्य के साथ ही दोषाभाव का अन्वय और व्यतिरेक दोनों देखे जाते हैं, अतः दोषाभाव से प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है' यह कल्पना भी तुल्य युक्ति से की जा सकती है; क्योंकि ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं है, जो अपने प्रमाज्ञान रूप कार्य के लिए दोषों के प्रागभाव या ध्वंस रूप अभाव की अपेक्षा नहीं करता ।

इसी प्रकार चूँकि प्रमाण विषय में उपकारकत्व बुद्धि की सहायता से ही प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं, विषय में अपकारकत्व बुद्धि के सहयोग से ही प्रमाण के द्वारा निवृत्ति की उत्पत्ति होती है, अतः प्रमाण प्रवृत्त्यादि कार्यों के उत्पादन में भी परापेक्षी ही है (केवल प्रवृत्त्यादि कार्यों की उत्पत्ति भी स्वतः नहीं होती है), यही परतः प्रामाण्यवादियों की दृष्टि है ।

हाथ को अपनी तरफ मोड़ने की 'आकुञ्चन' नाम की क्रिया से अपने तरफ बुलाने का बोध होता है, एवं हाथ को बाहर की तरफ फैलाने की प्रसारण नाम की क्रिया से बाहर जाने की आज्ञा का बोध होता है । इस बोध के लिए कोई उक्त क्रिया

प्रशस्तपादभाष्यम्

आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव ।

(अज्ञ पुरुष को) सर्वथा अज्ञात गवय का ज्ञान आप्त पुरुष से उच्चारित 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य से ही होता है । अतः उपमान भी आप्तवचन (शब्द) के ही (अन्तर्गत) है । (फलतः उपमान भी अनुमान ही है।)

न्यायकन्दली

स्येति । **कराकुञ्चनादि-लक्षणोऽभिनयोऽनेनाभिप्रायेण क्रियत इत्येवं यत्पुरुषस्य प्रसिद्धोऽभिनयः, तस्य चेष्टया करविन्यासेनाह्वानविसर्जनादिप्रतीतिर्दृश्यते नान्यस्य, अतस्तदपि चेष्टया ज्ञानमनुमानमेव ।**

उपमानस्यानुमानेऽन्तर्भावं कुर्वन्नाह—आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव । **आप्तिः साक्षादर्थस्य प्राप्तिः, यथार्थोपलम्भः, तया वर्त्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थदृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयोक्तोपदेष्टा, तेनाप्तेन वनेचरेण विदितगवयेना**प्रसिद्धगवयस्या**ज्ञातगवयस्य नागरिकस्य कीदृग्गवय इति पृच्छतो** गवा **गोसारूप्येण** गवयस्य

स्वरूप 'चेष्टा' नाम का एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं । उसी के खण्डन के लिए 'प्रसिद्धाभिनयस्य' यह वाक्य कहा गया है । 'प्रसिद्धोऽभिनयो यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस पुरुष को यह सङ्केत ज्ञात है कि 'हाथ की ये आकुञ्चनादि क्रियायें इन अभिप्रायों से की जाती हैं' वही पुरुष प्रकृत में 'प्रसिद्धाभिनय' शब्द से अभीष्ट है । उसी पुरुष को 'चेष्टा' से अर्थात् हाथ के विशेष प्रकार के अभिनय या क्रिया से बुलाने या बाहर लौटने की क्रिया का बोध होता है, दूसरे को नहीं । अतः चेष्टा से उत्पन्न होनेवाला वह ज्ञान भी अनुमान ही है ।

'उपमान भी अनुमान ही है, वह कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है' यह उपपादन करते हुए भाष्यकार ने 'आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनमुपमानमाप्तवचनमेव' यह वाक्य लिखा है । 'आप्त्या वर्त्तते यः स आप्तः' इस व्युत्पत्ति से ही 'आप्त' शब्द बना है । साक्षात् 'अर्थ' की प्राप्ति को ही 'आप्ति' कहते हैं, जो वस्तुतः यथार्थज्ञान रूप ही है । तदनुसार 'आप्त' शब्द से उस विशिष्ट पुरुष को समझना चाहिए, जिसने विषयों को उनमें विद्यमान सभी धर्मों के साथ प्रत्यक्ष के द्वारा देखा है (उनको पूर्ण रूप में यथार्थ रूप में समझा है) और उस यथार्थज्ञान से ज्ञात वस्तु के ख्यापन (लोगों को विदित) करने की इच्छा के द्वारा ही जो उपदेश करते हैं । वनों में रहनेवाले इस प्रकार के किसी 'आप्त' पुरुष से—जिन्हें गवय का ज्ञान है—जब 'अप्रसिद्ध गवय' अर्थात् गवय को न जाननेवाले नागरिक के द्वारा 'गवय किस तरह का होता है' यह प्रश्न किया जाता है, तब उस पुरुष के द्वारा 'गवा' अर्थात् गोसादृश्य के द्वारा गवय को समझाने के

न्यायकन्दली

प्रतिपादनादुपमानं यथा गौर्गवयस्तथेति वाक्यमाप्तवचनमेव, वक्तृप्रामाण्यादेव तथा प्रतीतेः। आप्तवचनं चानुमानम् । तस्मादुपमानमप्यनुमानाव्यतिरिक्तमित्यभिप्रायः ।

ये तावत् पूर्वमीमांसका वनेचरवचनमेवोपमानमाहुः, तेषामिदमनुमानमेव ।

येऽपि शबरस्वामिशिष्या अनुभूतस्य गोपिण्डस्य वने गवयदर्शनात् स्मृत्यारूढायां गवि 'मदीया गौरनेन सदृशी' इति सारूप्यज्ञानमुपमानमाचक्षते, तदपि स्मरणमेव । सादृश्यं हि सामान्यवत् प्रत्येकं व्यक्तिसमाप्तं न संयोगवदुभयत्र व्यासज्य वर्तते, गोपिण्डस्यादर्शनेऽपि वने गवयव्यक्तौ गोसदृशोऽयमिति प्रतीत्युत्पादात् । यथोक्तं मीमांसागुरुभिः —

सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते ।
प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात् तदुपलभ्यते ॥ इति ।

लिए 'यथा गौस्तथा गवयः' (अर्थात् गो को जिस प्रकार देख रहे हो गवय भी उसी प्रकार का होता है) प्रयुक्त यह वाक्य 'आप्तवचन' अर्थात् शब्द प्रमाण ही है; क्योंकि यहाँ भी वचनों के प्रमाण्य से ही अर्थ की प्रतीति होती है । आप्तवचन अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है । अतः उपमान भी अनुमान के ही अन्तर्गत है, यही उक्त भाष्य सन्दर्भ का अभिप्राय है ।

प्राचीन मीसांसकों ने वनवासी के उक्त आप्तपुरुष के वचन को ही उपमान प्रमाण माना है, उनका यह उपमान प्रमाण भी अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाता है ।

शबरस्वामी (मीमांसासूत्र के भाष्यकर्त्ता) के अनुयायी शिष्यगण यह कहते हैं कि जिस पुरुष ने गाय के शरीर को देखा है, वन में जाने पर वही जब गवय को देखता है, तब उसे पहले देखे हुए गो का स्मरण हो आता है । तब स्मरण किये हुए उस गो में यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि 'हमारी गाय इस गवय के समान है' । यह सादृश्य ज्ञान ही उपमान प्रमाण है । इस प्रकार का उपमान प्रमाण रूप ज्ञान अनुमान के अन्तर्गत न आने पर भी स्मरण रूप हो सकता है; क्योंकि जिस प्रकार सामान्य (जाति) की अधिकरणता उसके प्रत्येक अधिकरण में अलग-अलग होती है, उसी प्रकार सादृश्य की अधिकरणता भी उसके अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों में अलग-अलग है । जिस प्रकार संयोग के अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों में उसकी एक ही अधिकरणता रहती है, उस प्रकार सादृश्य की एक ही अधिकरणता उसके अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों में नहीं है; किन्तु अलग-अलग है । अतः गवय को देखने के समय गो का प्रत्यक्ष न रहने पर भी वन में गवय व्यक्ति रूप सादृश्य का ज्ञान उस समय अप्रत्यक्ष गो में भी हो सकता है ।

जैसा कि मीमांसा के आचार्यों ने कहा है कि–चूँकि सादृश्य की उपलब्धि उसके (एक आश्रय) प्रतियोगी के न देखने पर भी होती है, अतः सामान्य की तरह उसकी आश्रयता प्रत्येक आश्रय में अलग-अलग है ।

न्यायकन्दली

प्रत्येकं परिसमाप्तत्वेऽपि सादृश्यं यद्यपि गवयग्रहणाभावाद् गवयसदृश इति गवि पूर्वं प्रतीतिर्नासीत्, तथापि । स्वाश्रयसन्निकर्षमात्रभाविनी सादृश्यप्रतीतिरुचितेव । यथा प्रतियोग्यन्तराग्रहणात् तस्मादिदं दीर्घमिदं ह्रस्वमिति प्रतीत्यभावेऽपि स्वाश्रयप्रत्यासत्तिमात्रेण परिमाणस्य । स्वरूपतो ग्रहणम् । कथमन्यथा देशान्तरगतः प्रतियोगिनं गृहीत्वा अस्मात् तद्दीर्घं ह्रस्वमिति व्यवस्यति ।

यदि गवि पुरा सादृश्यमिन्द्रियापातमात्रेण न गृहीतम् ? सम्प्रत्यपि गवये न गृह्यते, गवयदर्शनादेव गव्येव च स्मरणमित्युभयनियमो न स्यादविशेषात् । यावतां खुरलाङ्गूलित्यादिसामान्यानां गवि ग्रहणम्, तावतामेव गवयेऽपि ग्रहणात् स्मरणनियम इति चेत् ? भूयोऽवयवसामान्यान्येवोभयवृत्तित्वात् सादृश्यम् । तानि चेत् प्रत्येकमाश्रयग्रहणेन गृह्यन्ते, गृहीतमेव सादृश्यम् । तस्माद्

यद्यपि सादृश्य अपने प्रत्येक आश्रय में स्वतन्त्र रूप से ही रहता है, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि गवय को देखने से पहले उसका ज्ञान न रहने के कारण (गो प्रत्यक्ष के समय) गो में 'यह गवय के समान है' इस आकार की प्रतीति नहीं थी, तथापि केवल सादृश्य के आश्रयीभूत गवय में चक्षु के सन्निकर्ष से, (फलतः ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से सादृश्य का प्रत्यक्ष सम्भव न होने पर भी स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही) सादृश्य का ग्रहण होना अनुचित नहीं है । जैसे कि दीर्घत्वादि के आश्रयीभूत दण्डादि आश्रय जहाँ प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत रहते हैं, एवं इन दीर्घत्वादि परिमाणों के दूसरे अवधि द्रव्यों का ज्ञान नहीं रहता है, ऐसे स्थलों में 'यह इससे दीर्घ है' या 'यह इससे छोटा है,' इत्यादि विशिष्ट प्रतीतियाँ यद्यपि नहीं होती हैं, फिर भी 'यह दीर्घ है' या 'यह ह्रस्व है' इत्यादि आकारों से स्वरूपतः केवल परिमाण का ग्रहण तो होता ही है, यदि ऐसी बात न हो तो दूसरे देश में जाकर वह उसके दूसरे अवधि रूप प्रतियोगी को जब देख लेता है, उसके बाद 'यह उस द्रव्य से बड़ा या छोटा है' इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, वह कैसे होगी ?

(प्र.) गो में यदि गोत्व की तरह गवय का सादृश्य भी रहता तो गवय को देखने से पहले भी गो में इन्द्रिय सम्बन्ध के होते ही गवय के सादृश्य की भी प्रतीति हो जाती, सो नहीं होती है ? (उ.) गवय के प्रत्यक्ष के समय भी तो गो में उस सादृश्य की प्रतीति नहीं होती है । अतः यह दोनों नियम नहीं किये जा सकते कि उक्त सादृश्य की प्रतीति (१) गवय-प्रत्यक्ष से ही उत्पन्न होती है और (२) गो में ही उत्पन्न होती है; क्योंकि इससे विपरीत कल्पना के लिए भी स्थिति समान है। (प्र.) खुर, पूँछ प्रभृति जितने धर्मों का पहले गो में ग्रहण हो चुका है, उतने का ही जब गवय में भी ग्रहण होता है तभी गो में गवयसादृश्य का स्मरण होता है, ऐसे नियम की कल्पना करेंगे ।

न्यायकन्दली

गवयग्रहणे सत्यसन्निहितगोपिण्डावलम्बिनी सादृश्यप्रतीतिः सदृशदर्शनाभिव्यक्तसंस्कार-जन्या स्मृतिरेव, न प्रमाणान्तरम् । दृष्टा च निर्विकल्पकगृहीतस्यापि स्मृतिविषयता, अव्युत्पन्नेनैकपिण्डग्रहणे प्रथममविकल्पितस्य सामान्यस्य पिण्डान्तरग्रहणे प्रत्यभिज्ञानात् ।

येऽपि श्रुतातिदेशवाक्यस्य गवयदर्शने गोसादृश्यप्रतीत्या 'अस्य गवयशब्दो नामधेयम्' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिमुपमानमिच्छन्ति, तेषामपि यथा गौर्गवयस्तथेति वाक्यं तज्जनिता च 'लोके यः खलु गवय इति श्रूयते स गोसदृशः' इति बुद्धिरागम एव । यदपि गोसदृशस्य गवय- शब्दवाच्यत्वज्ञानं तदप्यनुमानम्, तत्र तच्छब्दप्रयोगात् । यः खलु शब्दो यत्राभियुक्तैरविगानेन प्रयुज्यते स तस्य वाचकः । प्रयुज्यते चारण्यकेनाविगानेन गोसदृशे गवयशब्द इति । तस्मात्

(उ.) गो और गवय दोनों में जो अनेक अवयवों की समानतायें हैं, वे ही दोनों में रहने के कारण सादृश्य कहलाती हैं । ये समानतायें यदि गो और गवय इन दोनों में से एकमात्र के ग्रहण से भी गृहीत होती हैं, तो फिर सादृश्य भी उसी प्रकार गृहीत हो ही गया । तस्मात् प्रमाता पुरुष से दूर में रहनेवाले गोपिण्ड में जो गवय के सादृश्य की प्रतीति होती है, वह स्मरण रूप ही है । केवल इतनी-सी बात है कि वह स्मरण उस संस्कार से उत्पन्न होता है, जिसका उद्‌बोधन गोसदृश गवय के दर्शन से होता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत विषयों का भी स्मरण उपलब्ध होता है, जैसे कि अव्युत्पन्न पुरुष के द्वारा एक पिण्ड के ग्रहण के समय सविकल्पक ज्ञान के द्वारा अगृहीत सामान्य की भी उसी जाति के दूसरे पिण्ड के ग्रहण के समय प्रत्यभिज्ञा होती है ।

नैयायिकों का कहना है कि जो प्रमाता पहले किसी आप्त पुरुष से 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य को सुन लेता है, बाद में वही जब गवय को देखता है तो उसे यह प्रतीति होती है कि 'इसी पिण्ड का नाम गवय है' । यह प्रतीति चूँकि गवय शब्द रूप संज्ञा की गवय पिण्ड रूप संज्ञी में (वाच्यवाचकरूप) सम्बन्ध विषयक है । ('अयं गवयपदवाच्यः' इस आकार की प्रतीति कों संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति कहते हैं), अतः यही उपमान है; किन्तु नैयायिकों का भी यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह भी वस्तुतः शब्द प्रमाण ही है; क्योंकि 'लोक में यह जो 'गवय' का नाम सुनते हैं वह गोसदृश वस्तु का ही बोधक है' यह बुद्धि भी तो 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य से ही उत्पन्न होती है । एवं इससे गोसदृश पिण्ड में गवय शब्द के अभिधेय होने का जो ज्ञान होता है, वह (उपमान न होकर) शब्द ही है; क्योंकि गोसदृश पिण्ड में ही गवय शब्द का प्रयोग होता है, (अतः नैयायिक गण जिसे उपमान कहते हैं, वह भी शब्दजनित होने के कारण अनुमान ही है) एवं गोसदृश (गवय में) जो गवय शब्द की वाच्यता का ज्ञान होता है, वह भी अनुमान ही है; क्योंकि (यहाँ अनुमान का यह आकार है कि) आप्तगण एक स्वर से बिना विरोध के जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करते हैं वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है, सभी आरण्यक आप्तजन गवय शब्द का प्रयोग उसी पिण्ड में करते हैं जो गो के समान है । तस्मात् गो-सदृश उस पिण्ड का नाम अवश्य ही 'गवय' है । एवं

प्रशस्तपादभाष्यम्

दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव, श्रवणादनुमितानुमानम् ।

प्रमाणों के द्वारा ज्ञात अर्थ से अर्थों की जो अवगति (दृष्टार्थापत्ति) होती है वह विरोधि (व्यतिरेकी) अनुमान ही है । वाक्य के श्रवण से जो अर्थावगति (श्रुतार्थापत्ति) होती है, वह भी अनुमितानुमान ही है ।

न्यायकन्दली

सोऽपि गवयशब्दवाच्य एवेति सामान्येन ज्ञानमनुमानमेव । प्रत्यक्षे गवये सादृश्यज्ञानं त्रैलोक्यव्यावृत्तपिण्डबुद्धिरपि प्रत्यक्षफलम् । यच्च तद्गतत्वेन संज्ञासंज्ञिसम्बन्धानुसन्धानम्, तदपि सादृश्यग्रहणाभिव्यक्तपूर्वोपजातसामान्यप्रवृत्तगोसदृशगवयशब्दवाच्यत्वज्ञानजनितसंस्का-रजत्वादेकत्रोपजातसामान्यविषयसङ्केतज्ञानसंस्कारकृततज्जातीयपिण्डान्तरविषयतच्छब्दवाच्य-त्वानुसन्धानवत् स्मरणमेव । एवं हि तदायमनुसन्धत्ते 'अस्यैव तन्मया पूर्वमेव तृतच्छब्द-वाच्यत्वमवगतम्' इत्युपमानाभावः ।

दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थान्तरकल्पनार्थापत्तिः । श्रुतग्रहणस्य पृथग-भिधानसाफल्यमुपपादयता परेणार्थापत्तिरुभयथोपपादिता दृष्टार्थापत्तिः, श्रुतार्थापत्तिश्च ।

गवय में जो गोसादृश्य का ज्ञान अर्थात् 'यह गवय रूप पिण्ड संसार के और सभी पिण्डों से भिन्न (स्वतन्त्र जीव) है' इस प्रकार का ज्ञान भी (उपमान से उत्पन्न न होकर) प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही उत्पन्न होता है । एवं 'गवय रूप यही अर्थ गवय शब्द रूप संज्ञा का संज्ञी (वाच्य) है' इस प्रकार संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का जो अनुसन्धान होता है, वह भी स्मरण ही है (उपमान नहीं); क्योंकि 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के द्वारा पहले उत्पन्न ग्रहणरूप संस्कार से ही इसकी उत्पत्ति होती है । यह संस्कार उक्त सादृश्यज्ञान से ही उद्बुद्ध होता है । जैसे कि किसी एक ही घट व्यक्ति में घट पद का सङ्केत सामान्य रूप से गृहीत होने पर भी उससे उत्पन्न संस्कार के द्वारा दूसरे घट व्यक्ति में भी घट शब्द की वाच्यता का इस आकार का अनुसन्धान होता है कि 'इस व्यक्ति में जिस घटवाच्यता को मैं समझ रहा हूँ, उसको मैं पहले जान चुका हूँ । इन सभी उपपत्तियों से यह सिद्ध होता है कि उपमान नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है ।

शब्द या और किसी प्रमाण के द्वारा निश्चित अर्थ की उपपत्ति जिस दूसरे अर्थ की कल्पना के विना न हो सके, उस दूसरे अर्थ को ही 'अर्थापत्ति' कहते हैं । इस लक्षण में ('शब्द प्रमाण के द्वारा' इस अर्थ के बोधक) 'श्रुत' पद का स्वतन्त्र रूप से साफल्य का उपपादन करते हुए मेरे प्रतिपक्षियों (मीमांसकों) ने (१) दृष्टार्थापत्ति और (२) श्रुतार्थापत्ति इसके ये दो भेद किये हैं ।

न्यायकन्दली

यत्रार्थोऽन्यथानुपपद्यमानोऽर्थान्तरं गमयति, सा दृष्टार्थापत्तिः । यथा जीवति चैत्रो गृहे नास्तीत्यत्राभावप्रमाणेन गृहे चैत्रस्याभावः प्रतीतो जीवतीति श्रुतेश्च तत्र सम्भवोऽपि प्रतीयते, जीवतो गृहावस्थानोपलम्भात् । न चैकस्य युगपदेकत्र भावाभावसम्भवः, तयोः सहावस्थानविरोधात् । तदयमभावः प्रतीयमानो जीवतीति श्रवणान्नोपपद्यते, यद्ययं बहिर्न भवतीति । अनुपपद्यमानश्च यस्मिन् सति उपपद्यते तत्कल्पयति । जीवतो गृहाभावोऽन्यथा नोपपद्यते । यद्ययं बहिर्न भवतीति जीवतीत्यनेन सह विरोध एव तस्यानुपपत्तिः । सा चैत्रस्य बहिर्भावे प्रतीते निवर्तते । चैत्रो जीवति गृहे च नास्ति बहिःसद्भावादिति सावकाशनिरवकाशयोः प्रमाणयोर्विरोधे सति निरवकाशस्यानुपपत्तिमुखेन सावकाशस्य विषयान्तरोपपादनात् तयोरविरोधसाधनमर्थापत्तिः । या पुनर्देशादिनियतस्य सम्बन्धिनो दर्शनात् सम्बन्धस्मरणद्वारेण सम्बन्ध्यन्तरप्रतीतिः सानुमानमित्यनयोर्भेदो ज्ञानोदयप्रकारभेदात् ।

जहाँ प्रकृत अर्थ अनुपपन्न होकर दूसरे अर्थ का ज्ञापक होता है वहाँ 'दृष्टार्थापत्ति' समझनी चाहिए । जैसे 'जीवति चैत्रो गृहे नास्ति' (चैत्र जीते हैं किन्तु घर में नहीं हैं) इस स्थल में जीवित रहने के कारण चैत्र के घर में रहने की सम्भावना की भी प्रतीति होती है; क्योंकि जीवित व्यक्ति घर में भी देखे जाते हैं । एवं अनुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण से घर में चैत्र का अभाव भी निश्चित है; किन्तु एक ही समय चैत्र का घर में रहना और न रहना दोनों सम्भव नहीं है; क्योंकि एक ही वस्तु में एक ही समय सत्ता और असत्ता दोनों का रहना परस्पर विरोध के कारण सम्भव नहीं है । अतः अभाव प्रमाण के द्वारा चैत्र के घर में न रहने की जो प्रतीति होती है, वह तब तक उपपन्न नहीं हो सकती, जब तक कि चैत्र का घर से बाहर रहना निश्चित न हो । जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह ऐसी ही किसी वस्तु की कल्पना करता है, जिससे कि उसकी उपपत्ति हो सके । जीते हुए का घर में न रहना अन्यथानुपपन्न है, अर्थात् यदि वह बाहर नहीं रहता है तो ठीक नहीं बैठता । 'जीवति' के साथ 'गृहे नास्ति' का यह 'विरोध' ही उसकी 'अनुपपत्ति' है । यह अनुपपत्ति तब हटती है जब कि चैत्र के इस प्रकार से बाहर रहने की प्रतीति होती है कि 'चैत्र घर में नहीं रहने पर भी बाहर है; क्योंकि वह जीवित है' (इससे अर्थापत्ति का यह निष्कृष्ट लक्षण हुआ कि) एक सावकाश प्रमाण के साथ दूसरे निरवकाश प्रमाण का विरोध उपस्थित होने पर निरवकाश प्रमाण की अनुपपत्ति के प्रदर्शन के द्वारा सावकाश प्रमाण को दूसरे विषय का ज्ञापक मानकर उक्त दोनों प्रमाणों में अविरोध का सम्पादन ही 'अर्थापत्ति' है । एक देश या एक काल में नियमित रूप से रहनेवाले दो सम्बन्धियों में से एक को देखने से उनके (नियम या व्याप्ति रूप) सम्बन्ध की स्मृति के द्वारा जो दूसरे सम्बन्धी की प्रतीति होती है, वही अनुमान (या अनुमिति) है । इस प्रकार चूँकि अनुमान और अर्थापत्ति इन दोनों प्रमाणों से ज्ञान की उत्पत्ति की

न्यायकन्दली

यथोक्तम्–

अन्वयाधीनजन्मत्वमनुमाने व्यवस्थितम् ।
अर्थापत्तिरियं त्वन्या व्यतिरेकप्रवर्तिनी ॥ इति ।

श्रुतार्थापत्तिरपि यत्रानुपपद्यमानः शब्दः शब्दान्तरं कल्पयति, यथा 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्याद् रात्रौ भुङ्क्त इति वाक्यैकदेशकल्पना ।

तत्र दृष्टार्थापत्तिं तावदनुमानेऽन्तर्भावयति–दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येवेति । **दृश्यत इति दर्शनम्, दर्शनं च तदर्थश्चेति दर्शनार्थः, पञ्चभिः प्रमाणैरवगतोऽर्थः । तस्माद् दर्शनार्थादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थान्तरस्यावगतिर्विरोध्येव, विरोध्यनुमानमेव । यस्य यथा नियमस्तस्य तथैव लिङ्गत्वम्, इह तु प्रमाणान्तरविरुद्ध एवार्थोऽर्थान्तराविनाभूत इति विरोध्येव लिङ्गम् ।**

अयमभिप्रायः–गृहाभावो यद्यनुपपत्तिमात्रेण बहिर्भावं कल्पयति, नियमहेतोरभावाद् अर्थान्तरमपि कल्पयेत् । स्वोपपत्तये गृहाभावोऽर्थान्तरं

रीतियाँ भिन्न हैं, अतः ये दोनों दो भिन्न प्रमाण हैं । (अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति की रीति दिखलायी जा चुकी है) जैसा कहा गया है कि–

यह निश्चित है कि अन्वय (व्याप्ति) के द्वारा अनुमान प्रमाण अपने फल रूप ज्ञान का उत्पादन करता है, अतः व्यतिरेक (व्याप्ति) के द्वारा अपने ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान से भिन्न है ।

जहाँ शब्द अनुपपन्न होकर दूसरे शब्द की कल्पना करता है, वहाँ 'श्रुतार्थापत्ति' समझनी चाहिए । जैसे कि 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' (यह मोटा तो है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है) इस वाक्य के द्वारा 'रात्रौ भुङ्क्ते' (तो फिर रात में खाता है) इस वाक्यखण्ड का कल्पक होता है ।

'दर्शनार्थापत्तिर्विरोध्येव' इस वाक्य के द्वारा कथित 'दृष्टार्थापत्ति' अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाते हैं । इस भाष्य में प्रयुक्त 'दर्शनार्थ' शब्द की अभीष्ट व्युत्पत्ति इस प्रकार है, "दृश्यत इति दर्शनम्, दर्शनञ्च तदर्थश्च दर्शनार्थः" तदनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि (अभाव) इन पाँच प्रमाणों में से किसी के द्वारा निश्चित अर्थ ही उक्त 'दर्शनार्थ' शब्द से अभिप्रेत है । इस 'दर्शनार्थ' अर्थात् कथित पाँच प्रमाणों में से किसी के द्वारा अवगत अर्थ से जो दूसरे अर्थ की 'आपत्ति' अवगति होती है, वह 'विरोधी' ही अर्थात् विरोधी अनुमान ही है । हेतु में साध्य का जिस प्रकार का नियम रहेगा, उसी प्रकार से हेतु में साध्य की ज्ञापकता (हेतुता) भी होगी । यहाँ (अर्थापत्ति स्थल में) दूसरे प्रमाण से विरुद्ध अर्थ ही दूसरे अर्थ की व्याप्ति से युक्त है । अतः यहाँ विरोधी ही हेतु है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि चैत्र का घर में न रहना (गृहाभाव) यदि केवल अपनी अनुपपत्ति से ही उसके बहिर्भाव (बाहर रहने) की कल्पना करे तो फिर वह तुल्ययुक्ति से दूसरे की भी कल्पना कर सकता है; क्योंकि ऐसे नियम का कोई कारण नहीं है कि वह चैत्र के बहिर्भाव की ही कल्पना करे और किसी की नहीं ।

न्यायकन्दली

कल्पयति, अन्यस्मिन् कल्पिते च न तस्योपपत्तिरिति चेत् ? बहिर्भावे सति तस्यो-पपत्तिरिति केन तत् कथितम् ? वयं तु ब्रूमो बहिर्भावेऽपि सति गृहाभावस्यानुपपत्तिरेव । दृष्टमेतद् अव्यापकं द्रव्यमेकत्रास्ति तदन्यत्र नास्तीति । यथा प्राचीप्रतीच्योरेकत्रोपलभ्यमानः सविताऽन्यत्र न भवतीति, इदं दर्शनबलेनैवावधार्यते जीवतो गृहाभावो बहिर्भावे सत्युपपद्यते नान्यथेति । नन्वेवमन्वयावगतिपूर्विकैव तथोपपत्त्यवगतिः ? तथा सति चार्थापत्तिरनुमानमेव, अन्वयाधीनजन्यत्वात् । यत्तु विरोधे सति प्रवर्तत इति तद् वैधर्म्यमात्रम् । तथा चात्र प्रयोगः—देवदत्तो बहिरस्ति, जीवनसम्बन्धित्वे सति गृहेऽनु-पलभ्यमानत्वात्, अहमिवेति ।

श्रुतार्थापत्तिमन्तर्भावयति—श्रवणादनुमितानुमानमिति । **'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभोजनकल्पना** 'अनुमितानुमानम्' । **लिङ्गभूतेन वाक्येनानुमितात् पीनत्वात् तत्कारणस्य रात्रिभोजनस्यानुमानात् ।**

(प्र.) चैत्र का गृह में न रहना (गृहाभाव) अपनी उपपत्ति के लिए ही दूसरे अर्थ की कल्पना करता है, यह काम चैत्र के बहिर्भाव रूप दूसरे अर्थ की कल्पना से ही सम्भव है और किसी दूसरे अर्थ की कल्पना से नहीं । अतः वह चैत्र के बहिर्भाव की ही कल्पना करता है, किसी और अर्थ की नहीं । (उ.) यह आपसे किसने कहा कि चैत्र के बाहर रहने की कल्पना कर लेने से ही चैत्र के घर में न रहने की उपपत्ति हो जाएगी ? यदि हम यह कहें कि जीवित चैत्र के बाहर रहने की कल्पना कर भी ली जाय, तो भी चैत्र का घर में न रहना अनुपपन्न ही रहेगा । यदि इसका यह उत्तर दें कि (प्र.) (व्यापक आकाशादि को छोड़कर) जितने भी अव्यापक (मूर्त्त) द्रव्य हैं, उनको देखते हैं कि एक समय यदि एक आश्रय में रहते हैं तो दूसरे में नहीं । जैसे कि पूर्वदिशा और पश्चिमदिशा इन दोनों में से किसी एक में जिस समय सूर्य की उपलब्धि होती है, उस समय वे दूसरी दिशा में नहीं रहते । इसी से यह समझते हैं कि जीवित चैत्र का घर में न रहना, चैत्र के बाहर रहने से ही उपपन्न हो सकता है । (उ.) यदि ऐसी बात है तो फिर चैत्र के बहिर्भाव में उसके गृह में न रहने की अन्वयव्याप्ति से ही अर्थापत्ति होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि चूँकि अर्थापत्ति की उत्पत्ति अन्वयव्याप्ति से होती है, अतः वह अनुमान ही है । यह (अर्थापत्ति रूप अनुमान) जो विरोध के कारण अपने कार्य में प्रवृत्त होता है, इससे और अनुमानों से इसकी विचित्रता ही केवल व्यक्त होती है, (इससे इसका अनुमान न होना निश्चित नहीं होता) । प्रकृत में अनुमान का यह प्रयोग इष्ट है कि जैसे कि 'जीवन सम्बन्ध से युक्त मैं घर में न रहने पर बाहर अवश्य रहता हूँ' उसी प्रकार जीवन के सम्बन्ध से युक्त देवदत्त घर में अनुपलब्ध होने के कारण अवश्य ही बाहर है ।

'श्रवणादनुमितानुमानम्' इस वाक्य के द्वारा 'श्रुतार्थापत्ति' को अनुमान में अन्तर्भूत करते हैं । 'श्रवणात्' अर्थात् 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य को सुनने से जो

न्यायकन्दली

इदमत्राकूतम्—अर्थाप्रतिपादकत्वं प्रमाणस्यानुपपत्तिः । 'दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यं च स्वार्थं बोधयत्येव, का तस्यानुपपन्नता ? पीनत्वं भोजनकार्यं दिवाऽभोजने सति नोपपद्यते, कारणाभावात् । तदनुपपत्तौ च वाक्यमप्यनुपपन्नम्, अनन्वितार्थत्वादिति चेत् ? तर्ह्यर्थानुपपत्तिर्वाक्यस्यानुपपन्नत्वमर्थोपपत्तिश्चोपपन्नत्वम्, न त्वस्य स्वरूपेणोपपत्त्यनुपपत्ती । दिवा न भुञ्जानस्य पीनत्वलक्षणश्चार्थो भोजनकार्यत्वाद् रात्रिभोजनरूपेणार्थेनोपपद्यते, न रात्रिभोजनवाक्येनेत्यर्थस्यानुपपत्त्या तस्य तद्वाक्यस्य चोपपत्तिहेतुरर्थ एवार्थनीयो न वाक्यम्, अनुपपादकत्वात् । उपपद्यमानश्चार्थोऽर्थेनैवावगम्यते, दिवा भोजनरहितस्य पीनत्वस्य रात्रिभोजनकार्यत्वाव्यभिचारादिति नास्त्यर्थापत्तिः शब्दगोचरा ।

देवदत्त के रात्रिभोजन की कल्पना होती है वह भी 'अनुमितानुमान' ही है । अर्थात् 'पीनः' इस वाक्य रूप लिङ्ग (हेतु) से अनुमित पीनत्व (मोटाई) के द्वारा पीनत्व के कारणीभूत रात्रि-भोजन का वहाँ भी अनुमान ही होता है ।

गूढ़ अभिप्राय यह है कि अपने अर्थ को यथार्थ रूप से न समझा पाना ही प्रमाणों की अनुपपत्ति है । 'दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य का अर्थ है दिन में अभोजन, इस अर्थ का ज्ञापन तो वह अवश्य ही करता है, फिर उसमें किस प्रकार की अनुपपत्ति है ? (प्र.) भोजन से उत्पन्न होनेवाला पीनत्वरूप कार्य ही दिन को भोजन न करने से अनुपपन्न होता है; क्योंकि पीनत्व का कारण वही नहीं है । पीनत्व रूप अर्थ की इस अनुपपत्ति से ही 'पीनः' इत्यादि वाक्य अनुपपन्न होता है; क्योंकि (योग्यता न रहने के कारण) उसका अन्वय नहीं हो पाता है । (उ.) तो फिर यह कहिए कि अर्थ की अनुपपत्ति ही वाक्य की अनुपपत्ति है और अर्थ की उपपत्ति ही उसकी उपपत्ति है, वाक्य स्वतन्त्र रूप से उपपन्न या अनुपपन्न नहीं होता । दिन को भोजन न करनेवाले (देवदत्त) में रहनेवाली पीनता भी भोजन से ही उत्पन्न हो सकती है, अतः प्रकृत में रात्रिभोजन रूप अर्थ से ही उसकी उपपत्ति होती है, 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस रात्रिभोजन वाक्य से नहीं । चूँकि पीनत्व रूप अर्थ की अनुपपत्ति से ही रात्रि-भोजन रूप अर्थ और उसका बोधक 'रात्रौ भुङ्क्ते' यह वाक्य दोनों की ही उपपत्ति होती है, 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य से इसकी उपपत्ति नहीं होती है, अतः इनके लिए 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ की कल्पना ही आवश्यक है, 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की कल्पना आवश्यक नहीं है । उपपन्न होनेवाला 'अर्थ' (अपने व्याप्त) दूसरे अर्थ से ही उपपन्न होता है; (इस नियम के अनुसार) चूँकि दिन में भोजन न करनेवाले देवदत्त की पीनता की व्याप्ति रात्रि-भोजन रूप कार्य के साथ है, अतः दिन को न खानेवाले की पीनता रूप अर्थ की उपपत्ति रात्रि भोजन रूप अर्थ से ही होती है, तस्मात् कोई भी अर्थापत्ति 'शब्द' विषयक नहीं है (अर्थात् श्रुतार्थापत्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है) ।

न्यायकन्दली

अथ मतम्—अर्थोऽर्थेनैवोपपद्यत इति तदुपपत्त्यैव तच्छब्दस्याप्युपपन्नता, किन्तु शाब्दोऽर्थः शाब्देनैवार्थेनोपपद्यते, प्रमाणान्तरावगतस्य तेन सहान्वयाभावात् । न हि पचतीत्युक्ते क्रियायाः कर्मणा विनानुपपत्तिः पच्यमानस्य कलायस्य प्रत्यक्षेणोपशाम्यति, तस्मिन् सत्यपि किं पचतीत्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः। शब्दोपनीते तु कर्मणि निर्विचिकित्सः प्रत्ययो भवति 'शाकं पचति कलायं पचति' इति । 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यपि वाक्यार्थानुपपत्तिरियम्, तस्मादस्यापि शाब्देनैवार्थेनोपशान्तिर्भविष्यतीति प्रथममर्थापत्त्या रात्रिभोजनप्रतिपादकं वाक्यमेवार्थनीयम्, अन्यथा दिवावाक्यपदार्थैः सह रात्रिभोजनस्यान्वयाभावात् । वाक्यविषये चार्थापत्तिपर्यवसाने रात्रिभोजनमर्थो नार्थापत्तिविषयतामेति, तस्य वाक्यादेवावगमात् । न चैतद्वाच्यम्, दिवा-

यदि यह कहें कि (प्र.) यह तो ठीक है कि एक अर्थ की उपपत्ति उससे नियत दूसरे अर्थ से ही होती है एवं अर्थ की उपपत्ति से ही तद्बोधक शब्द की भी उपपत्ति होती है; किन्तु इतना अन्तर है कि शब्द के द्वारा उपस्थित अर्थ की अनुपपन्नता शब्द के द्वारा उपस्थित दूसरे अर्थ से ही निवृत्त की जा सकती है; क्योंकि शब्द से भिन्न अन्य प्रमाणों के द्वारा उपस्थित अर्थ का अन्वय शब्द प्रमाण के द्वारा उपस्थित अर्थ के साथ नहीं होता है । जैसे कि केवल 'पचति' पद के उच्चारण के बाद जो कर्म के बिना पाक क्रिया की अनुपपत्ति उपस्थित होती है, उसकी निवृत्ति प्रत्यक्ष के द्वारा पकते हुए मटर (कलाय) को देखकर भी नहीं होती । उसके प्रत्यक्ष के बाद भी 'किं पचति' यह जिज्ञासा बनी ही रहती है । 'कलायम्' 'शाकम्' इत्यादि पदों के प्रयोग के बाद जब इन शब्दों से कलाय या शाक रूप कर्म उपस्थित हो जाता है, तभी 'कलाय पक रहा है' या 'शाक पक रहा है' इत्यादि आकार के निश्चयात्मक बोध होते हैं । 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ वाक्य के द्वारा उपस्थित अर्थ की ही अनुपपत्ति है, अतः 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य के द्वारा उपस्थित किये हुए रात्रि-भोजन रूप अर्थ से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है (दूसरे प्रमाणों के द्वारा उपस्थित किये हुए रात्रि-भोजन रूप अर्थ से नहीं)। अतः प्रकृत में अर्थापत्ति से रात्रि-भोजन के बोधक 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की ही कल्पना करनी होगी । ऐसा न करने पर (अर्थापत्ति के द्वारा सीधे रात्रि-भोजन रूप अर्थ की ही कल्पना करने पर) 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इस (दिवा) वाक्य के द्वारा उपस्थित पदार्थों के साथ (दूसरे प्रमाण के द्वारा उपस्थित) रात्रि-भोजन रूप अर्थ का अन्वय नहीं हो सकेगा । (उ.) जब प्रकृत श्रुतार्थापत्ति की विषयता केवल वाक्य के द्वारा उपस्थित अर्थ में नियत हो जाती है, तो फिर रात्रि-भोजन रूप अर्थ अर्थापत्ति प्रमाण से ग्राह्य ही नहीं रह जाता; क्योंकि (अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस) वाक्य रूप शब्द प्रमाण से ही उसकी अवगति हो जायेगी । यह कहना भी उचित नहीं है कि (प्र.) 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' यह वाक्य और इस वाक्य के अर्थ दोनों में से किसी का भी 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य के साथ कोई नियत सम्बन्ध नही हैं, अतः इनमें से किसी के द्वारा

न्यायकन्दली

वाक्यस्य तदर्थस्य या रात्रिवाक्येन सह प्रत्यासत्त्यभावान्न ताभ्यां तदुपस्थापनमिति, अर्थ-प्रत्यासत्तिद्वारेण वाक्यस्यापि प्रत्यासन्नत्वात् । न चार्थापत्तावनुमानवत् प्रत्यासत्तिरपेक्षते, तस्या अनुपपत्तिमात्रेणैव प्रवृत्तेः । तदुक्तम्–

न चार्थेनार्थ एवायं द्वितीयो गम्यते पुनः ।
सविकल्पकविज्ञानग्राह्यत्वावृत्तिरोहितः ॥
शब्दान्तराण्यबुद्ध्वाऽसामर्थ्यमेवावगच्छति ।
तेनैषां प्रथमं तावन्नियतं वाक्यगोचराः ।
वाक्यमेव तु वाक्यार्थं गतत्वाद् गमयिष्यति[1] ॥ इति ।

'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की उपस्थिति नहीं हो सकती । (उ.) चूँकि 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य के अर्थ के साथ 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य के अर्थ का नियत सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध के द्वारा ही 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य के साथ भी 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य का नियत सम्बन्ध अवश्य है । (दूसरी बात है कि) अर्थापत्ति को अपने प्रमेय में प्रवृत्त होने के लिए अनुमान की तरह नियत सम्बन्ध की अपेक्षा भी नहीं होती है, उसका काम अर्थानुपपत्ति से ही चल जाता है । जैसा कहा गया है कि –

(१) 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य से भोजन न करने वाले देवदत्त की पीनता का शाब्दबोध रूप सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है (इस सविकल्पक ज्ञान में विषयीभूत दिन में न खानेवाले देवदत्त की मोटाई रूप प्रथम) अर्थ के द्वारा (रात्रि-भोजन रूप) द्वितीय अर्थ ज्ञात नहीं होता है; क्योंकि वह (रात्रि-भोजन रूप द्वितीय अर्थ) 'वृत्तिरोहित' नहीं है, अर्थात् किसी शब्द से (अभिधादि)' 'वृत्ति' के द्वारा उपस्थित नहीं है ।

(२) अतः 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य को सुनने के बाद 'रात्रि-भोजन' रूप दूसरे अर्थ को समझानेवाले 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्यादि किसी दूसरे शब्द को न सुनकर (समझनेवाला पुरुष) इतना ही समझता है कि 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य में रात्रि-भोजन रूप अर्थ को समझाने का सामर्थ्य नहीं है ।

(३) अतः (श्रुतार्थापत्ति स्थल में) अर्थापत्ति के द्वारा पहले 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्यादि वाक्यों का ही बोध होता है । इसके बाद अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञात 'रात्रौ भुङ्क्ते' यह वाक्य ही रात्रि-भोजन रूप अर्थविषयक बोध को उत्पन्न करेगा ।

---

1. उपक्रम और उपसंहार की दृष्टि से इन श्लोकों का यथाश्रुत पाठ ठीक नहीं जँचता । इन श्लोकों का निम्नलिखित स्वरूप का होना उचित जान पड़ता है, तदनुसार ही अनुवाद किया गया है ।
न चार्थे नार्थ एवायं द्वितीयो गम्यते पुनः । स विकल्पकविज्ञानग्राह्येणावृत्तिरोहितः ॥
शब्दान्तराण्यबुद्ध्वाऽसामर्थ्यमेवावगच्छति ।
तेनैषा प्रथमं तावन्नियतं वाक्यगोचरा ॥ वाक्यमेव तु वाक्यार्थं गतत्वाद् गमयिष्यति ॥

न्यायकन्दली

अत्रोच्यते—पदानि वाक्यार्थप्रतिपादनाय प्रयुज्यन्ते । तानि प्रत्येकं पदार्थसंस्पर्शात्मकं वाक्यार्थं प्रतिपादयितुमशक्नुवन्त्यपर्यवसितव्यापारत्वाद् एकार्थकारीणि पदान्तराण्यपेक्षन्ते । यत्र पुनरमीभिर्वाक्यार्थः प्रतिपादितः,तत्रैषां शब्दान्तरापेक्षा नास्त्येव, स्वव्यापारस्य कृतत्वात् । यस्तैरुपपादितोऽर्थः स नोपपद्यत इति चेत् । नोपपादि, न ह्यर्थस्याविरोधोपपादनमपि शब्दस्य व्यापारः, किन्तु प्रतिपादनम् । तच्चानेनासन्निहितेऽपि रात्रिवाक्ये कृतमेव । प्रतीयते हि दिवाऽभोजनवाक्यात् पीनस्याभोजनम्, निःसन्दिग्धाऽभ्रान्ता चात्रेयं प्रतीतिः, अन्यथार्थापत्तेरपि प्रवृत्त्यभावात् । निश्चितस्यैव हि पीनस्य दिवाऽभोजनप्रमाणसिद्धस्यानुपपत्तिर्न युक्तेति तदुपपादनमर्थ्यते, सन्दिग्धे विपरीतत्वेन चावधारिते तस्मिन् कस्योपपत्तयेऽर्थान्तरकल्पना स्यात् ? न चार्थयोः पर-

इस प्रसङ्ग में हम लोगों का कहना है कि वाक्य के अर्थ को समझाने के लिए ही पदों का प्रयोग किया जाता है । वाक्य में प्रयुक्त होनेवाले पदों के अर्थ ही परस्पर उपयुक्त सम्बन्ध से युक्त होकर 'वाक्यार्थ' कहलाते हैं । इस विशिष्ट वाक्यार्थ को कोई एक पद नहीं समझा सकता; क्योंकि पदों में केवल अपने-अपने ही अर्थ को समझाने का सामर्थ्य होता है । अतः एक पद अपने अर्थ के साथ और अर्थों के सम्बन्ध के लिए दूसरे पदों की अपेक्षा रखता है । जहाँ जितने ही पदों से वाक्यार्थविषयक बोध का सम्पादन हो जाता है, वहाँ उनसे भिन्न पदों की अपेक्षा नहीं होती है । इन पदों के द्वारा उपस्थित अर्थ में यदि अनुपपन्नता या विरोध है तो इसको छुड़ाने का दायित्व पदों पर नहीं है; क्योंकि अपने-अपने अर्थों का प्रतिपादन करना ही पदों का काम है, उनके विरोध को मिटाना नहीं । 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' यह वाक्य 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य का सान्निध्य न पाने पर भी दिन को भोजन न करनेवाले में पीनत्व रूप अपने अर्थ का बोध रूप काम तो कर ही दिया है; क्योंकि 'दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य से दिन में भोजन न करनेवाले में पीनत्व की अभ्रान्त एवं निःसन्दिग्ध प्रतीति हो जाती है । यदि 'दिवा' वाक्य से दिन को भोजन न करनेवाले में पीनत्व की अभ्रान्त और निःशङ्क प्रतीति न हो तो फिर आगे उससे अर्थापत्ति की प्रवृत्ति भी क्योंकर होगी ? दिन में न खाने पर भी देवदत्त में निश्चित पीनत्व की उपपत्ति ठीक नहीं बैठती है, उसकी उपपत्ति के लिए ही उसको प्रमाण सिद्ध रूप में समझाना आवश्यक होता है । दिन को न खाने पर भी देवदत्त में जो पीनता है, वह यदि इस स्थिति में सन्दिग्ध या विपरीत ही हो तो फिर उसकी उपपत्ति ही अपेक्षित नहीं है । अतः किसकी उपपत्ति के लिए रात्रि-भोजन रूप दूसरे अर्थ की कल्पना आवश्यक होगी ? किन्हीं दो अर्थों में परस्पर विरोध है, केवल इसीलिए 'उनकी प्रतीति ही नहीं होती' यह कहना

प्रशस्तपादभाष्यम्

सम्भवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव ।

अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्,

'सम्भव' प्रमाण से भी व्याप्ति के द्वारा ही अर्थ का बोध होता है, अतः वह भी अनुमान ही है ।

अभाव प्रमाण भी अनुमान के ही अन्तर्गत है; क्योंकि जिस प्रकार

न्यायकन्दली

स्परविरोध इति तयोः प्रतीतिरप्रतीतिर्भवति । तस्मादर्थप्रतीत्यैवोपपन्नः शब्दो न शब्दान्तरमपेक्षते, कर्तव्यतान्तराभावात् । अर्थ एव तु तेनाभिहितोऽर्थान्तरेण विनानुपपद्यमानः प्रतीत्यनुसारेण स्वोपपत्तये मृगयतीत्यव्याहतं शब्दश्रवणादनुमितानुमानमिति ।

शतं सहस्रे सम्भवतीति सम्भवाख्यात् प्रमाणान्तरात् सहस्रेण शतज्ञानमिति केचित् । तन्निरासार्थमाह–सम्भवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव । **सहस्रं शतेनाविनाभूतम्, तत्पूर्वकत्वात् । तेन सहस्राच्छतज्ञानमनुमानमेव ।**

प्रमेयाभावप्रतीतौ भावग्राहकप्रत्यक्षादिपञ्चप्रमाणानुत्पत्तिरभावाख्यं प्रमाणान्तरं कैश्चिदिष्टम् । तद् व्युदस्यति–अभावोऽप्यनुमानमेव । **कथमित्यत**

ठीक नहीं है । अतः 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि शब्द यदि दिन में न खानेवाले में 'पीनत्वादि' रूप अपने अर्थ को अभ्रान्त और निःशङ्क रूप से समझा देते हैं, तो फिर वे अपना कर्त्तव्य कर ही लेते हैं; क्योंकि उन शब्दों का उन अर्थों को समझाना छोड़कर दूसरा कोई कर्त्तव्य नहीं है । अपने इस कार्य के सम्पादन के लिए उन्हें 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्यादि किसी दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं है । तस्मात् दिन में न खानेवाले की पीनता रूप अर्थ ही रात्रि-भोजन रूप दूसरे अर्थ के बिना अनुपपन्न होकर अपनी उपपत्ति के लिए उस दूसरे अर्थ की खोज करता है, अतः 'दिवा न भुङ्क्ते' इस शब्द के श्रवण के बाद जो रात्रि-भोजन रूप अर्थ का बोध होता है, वह 'अनुमितानुमान' ही है । इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है ।

'हजार में सौ के रहने की सम्भावना है' इस प्रकार के सम्भव नाम के स्वतन्त्र प्रमाण से ही कोई सम्प्रदाय सहस्र संख्या से सौ संख्या का ज्ञान मानते हैं । उनका खण्डन करने के लिए ही 'सम्भवोऽप्यविनाभावादनुमानमेव' यह वाक्य लिखा गया है । अभिप्राय यह है कि सहस्र में सौ की व्याप्ति रूप सम्बन्ध है । इस व्याप्ति रूप सम्बन्ध के द्वारा ही उक्त ज्ञान होता है, अतः सहस्र संख्या से जो शत संख्या का ज्ञान होता है, वह भी अनुमान ही है ।

किसी सम्प्रदाय के लोग किसी वस्तु के अभाव की प्रतीति के लिए एक 'अभाव' नाम का और प्रमाण मानते हैं । एवं इस अभाव को भाव पदार्थों के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच

प्रशस्तपादभाष्यम्

एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।

उत्पन्न कार्य अपने कारण की सत्ता का ज्ञापक हेतु है, उसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य भी अपने कारण की असत्ता का ज्ञापक हेतु ही है ।

न्यायकन्दली

आह–यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।

योऽप्यभावं प्रमाणमिच्छति, तस्यापि न ज्ञानानुत्पादमात्रात् प्रमेयाभावज्ञानम्, स्वरूप-विप्रकृष्टस्यापि वस्तुनोऽभावप्रतीतिप्रसङ्गात् । किन्तु ज्ञानकारणेषु सत्सु ज्ञानयोग्यस्य वस्तुनो ज्ञानानुत्पादोऽभावावगमनिमित्तम् । न चायोग्यानुपलम्भाद् योग्यानुपलम्भस्य कश्चित् स्वरूपतो विशेषः, अभावस्य निरतिशयत्वात् । तेन नायं स्वशक्त्यैवेन्द्रियवद् बोधकः, किन्तु योग्यानुपलम्भो ज्ञेयाभावं न व्यभिचरति । अयोग्यानुपलम्भस्तु व्यभिचरति, सत्यपि ज्ञेये तस्य

प्रमाणों की अनुत्पत्ति रूप कहते हैं, उनके इस मत का खण्डन ही 'अभावोऽप्यनुमानमेव' इत्यादि भाष्यसन्दर्भ के द्वारा किया गया है । किस युक्ति से यह अभाव नाम का प्रमाण मानते हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर 'यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गमेवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्' इस वाक्य के द्वारा दिया गया है ।

जो सम्प्रदाय उक्त अभाव को स्वतन्त्र प्रमाण मानने को इच्छुक हैं, उन्हें भी ज्ञान की केवल अनुत्पत्ति से ही किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान नहीं होता, यदि ऐसी बात हो तो उन वस्तुओं के अभावों की भी प्रतीति की आपत्ति होगी, जिन वस्तुओं में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है । अतः (उन्हें भी) यही कहना पड़ेगा कि ज्ञान के (सामान्य) कारणों के रहने पर ज्ञात होने योग्य वस्तुओं के ज्ञान की अनुत्पत्ति ही उन वस्तुओं के अभाव का ज्ञापक 'अभाव' नाम का प्रमाण है । (उपलब्धि के) योग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि और (उपलब्धि के) अयोग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि इन दोनों के स्वरूपों में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिससे कि दोनों अनुपलब्धियों में भेद माना जाय; क्योंकि केवल अभाव रूप दोनों अनुपलब्धियों में कोई विशेष धर्म नहीं है । अतः अभाव (या प्रमाणों की कथित अनुत्पत्ति) उस प्रकार केवल अपनी ही शक्ति से अपने ज्ञेय अभाव के ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते,जिस प्रकार इन्द्रियाँ केवल अपनी शक्ति से ही प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती हैं । कथित अभाव प्रमाण से वस्तुओं के अभाव की प्रतीति की यह रीति है कि जिस वस्तु की जहाँ उपलब्धि हो सकती है, वहाँ यदि उसकी उपलब्धि नहीं होती है,

न्यायकन्दली

सम्भवात्, एतावता विशेषेण योग्यानुपलम्भः प्रतिपादको नापरः । एवं सत्यभावो लिङ्गमेव स्यादविनाभावग्रहणसापेक्षत्वात् । तदनपेक्षत्वे त्वविशेषेण तस्याभावस्याभाव-बोधकत्वमिति दुर्निवारणप्रसङ्गः ।

अपि चेन्द्रियसन्निकर्षादुपलभ्यमाने भूतलेऽभावज्ञानमपि भवति 'अघटं भूतलम्' इति, तत्र भूतलस्येवाभावस्यापि प्रत्यक्षता किं नेष्यते ? भावांशेनैवेन्द्रियस्य सम्बन्धः, योग्यत्वादिति चेत् ? नेदमनुपपादितं सिध्यति । कार्यगम्या हि योग्यता, यथेन्द्रियान्वय व्यतिरेकानुविधायि कार्यं भावे दृश्यते, तद्वदभावेऽपीति भाववदभावोऽपि इन्द्रियग्रहण-योग्य एव । कार्यदर्शनादेव चास्येन्द्रियसम्बन्धोऽपि कश्चित् कल्पयिष्यते ।

तो समझते हैं कि वहाँ वह वस्तु नहीं है, इस प्रकार योग्यानुपलब्धि के साथ योग्य वस्तु के अभाव की व्याप्ति है, प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तुओं के अभाव के साथ उस वस्तु की अनुपलब्धि की व्याप्ति नहीं है, (अर्थात् व्यभिचार है); क्योंकि (अयोग्य पिशाचादि) ज्ञेयों के रहने पर भी उनकी उपलब्धि नहीं होती है; (अर्थात् अनुपलब्धि रहती है), इससे यह निष्कर्ष निकला कि योग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि ही उसके अभाव का ज्ञापक है, अयोग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि नहीं । अतः उक्त अभाव प्रमाण भी उक्त प्रमेयाभाव का ज्ञापक हेतु ही है; क्योंकि व्याप्ति के द्वारा ही उसका ज्ञापन कर सकता है, अन्यथा नहीं । यदि उसमें व्याप्ति की अपेक्षा न मानें तो सभी अभावों से सभी अभावों की प्रतीति की आपत्ति होगी, जिसका वारण करना सम्भव न होगा ।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय के द्वारा भूतल के उपलब्ध होने पर ही 'अघटं भूतलम्' इत्यादि आकारों से अभाव की प्रतीति भी होती है । यदि ऐसी बात है तो फिर भूतल की तरह उसमें विशेषण रूप से भासित होनेवाले घट के अभाव का इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष ही क्यों नहीं मान लेते ? (प्र.) भाव पदार्थ ही इन्द्रियों से प्रकाशित होने की क्षमता रखते हैं, अतः (कल्पना करते हैं कि) भाव पदार्थों के साथ ही इन्द्रियों का (प्रत्यक्षोपयुक्त) सम्बन्ध हो सकता है । (उ.) ('भाव पदार्थों में इन्द्रियों के प्रत्यक्षोपयुक्त सम्बन्ध की योग्यता है' यह सिद्धान्त) युक्ति के द्वारा उपपादन किये बिना नहीं माना जा सकता । कार्य से ही कारण में कार्योत्पादन की योग्यता निर्धारित होती है । जिस प्रकार भाव पदार्थों के प्रत्यक्ष रूप कार्य के साथ इन्द्रियों का अन्वय और व्यतिरेक दोनों देखे जाते हैं, उसी प्रकार अभाव की उपलब्धि के साथ भी वे दोनों देखे जाते हैं, अतः भाव पदार्थों की तरह अभाव पदार्थों में भी इन्द्रियों से गृहीत होने की योग्यता है । इस प्रकार इन्द्रियों से अभाव के प्रत्यक्ष की उपपत्ति हो जाने पर अभाव पदार्थों के साथ भी इन्द्रियों के किसी उपयुक्त सम्बन्ध की कल्पना कर ली जाएगी ।

न्यायकन्दली

अथ मतम्—निरधिकरणो न कस्यचिदभावः प्रतीयते, देशादिनियमेन प्रवृत्ति-निवृत्तिदर्शनात् । यदधिकरणश्चायं प्रतीयते तस्य प्रतीताविन्द्रियव्यापारो नाभावग्रहणे, इन्द्रियव्यापारोपरमेऽप्यभावप्रतीतिदर्शनात् । तथा हि—कश्चित् स्वरूपेण देवकुलादिकं प्रतीत्य स्थानान्तरगतो देवकुले देवदत्तोऽस्ति नास्तीति केनचित् पृष्टस्तदानीमेव ज्ञातजिज्ञासो नास्तीति प्रतीत्याऽभावं व्यवहरति नास्तीति । न च पूर्वमेव देवकुलग्रहणसमये देवदत्ता-भावो निर्विकल्पेन गृहीतः, सम्प्रति स्मर्यमाण इति वाच्यम्, युक्तं घटादीनामिन्द्रियसन्नि-कर्षान्निर्विकल्पेन ग्रहणम्, तेषां स्वरूपस्य परानपेक्षत्वात् । अभावस्य तु प्रतिषेधस्वभावस्य स्वरूपमेव यस्यायं (एव) प्रतिषेधः स्यात् तदधीनम्। अतस्तत्प्रतिषेधतामन्तरेण तदभावस्य स्वरूपान्तराभावात् । तत्रास्य प्रतियोगिस्वरूपनिरूपणमन्तरेण निरूपणम-

इस प्रसङ्ग में अभाव को प्रमाण माननेवालों का कहना है कि नियमतः किसी विशेष देश में ही अभाव के प्रसङ्ग में प्रवृत्ति होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि किसी अधिकरण में ही अभाव की प्रतीति होती है, अधिकरण को छोड़कर केवल अभाव की प्रतीति नहीं होती है । तदनुसार जिस अधिकरण में अभाव की प्रतीति होती है, उस अधिकरण की प्रतीति में ही इन्द्रिय का व्यापार अपेक्षित होगा । (प्र.) उस अधिकरण में भी अभाव की प्रतीति के लिए इन्द्रिय का व्यापार अपेक्षित नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों के व्यापार के हट जाने पर भी अभाव की प्रतीति होती है । जैसे किसी पुरुष को किसी देवालय को देखने के बाद किसी दूसरे स्थान में जाने पर कोई पूछता है कि 'वहाँ देवदत्त है या नहीं, ? उसी समय उस पुरुष की जिज्ञासा को समझकर 'देवालय में देवदत्त नहीं है' इस प्रतीति के द्वारा वह पुरुष 'नास्ति' का व्यवहार (अर्थात् 'देवकुले देवदत्तो नास्ति' इस वाक्य का व्यवहार) करता है । (प्र.) देवालय के देखने के समय ही उसे वहाँ देवदत्त के अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान हो गया था । अभी वह उसी निर्विकल्पक ज्ञानजनित स्मृति के द्वारा देवदत्त के अभाव का व्यवहार करता है । (उ.) ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान सम्भव ही नहीं है । घटादि पदार्थों का निर्विकल्पक ज्ञान इसलिए सम्भव होता है कि उनके ज्ञान के लिए प्रतियोगी प्रभृति किसी दूसरे पदार्थों को जानने की अपेक्षा नहीं होती है; किन्तु अभाव तो किसी भाव पदार्थ का प्रतिषेध रूप है, अतः उसको जानने के लिए उस भाव पदार्थ को भी जानना आवश्यक है, जिसका कि वह प्रतिषेध है; क्योंकि भाव के प्रतिषेध को छोड़कर अभाव का कोई दूसरा स्वरूप ही नहीं है । तस्मात् प्रतिषेध्य (प्रतियोगि) ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान सम्भव ही नहीं है । (अर्थात् अभाव का ज्ञान प्रतियोगी रूप विशेषण से युक्त होकर ही होगा, अतः अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान असम्भव है) । भाव और अभाव में यही अन्तर है कि भाव का अपने भावत्व रूप से ही

न्यायकन्दली

शक्यम् । अयमेव हि भावाभावयोर्विशेषो यदेकस्य विधिरूपतया ग्रहणम्, अपरस्य त्वन्यप्रतिषेधमुखेन । यदाह न्यायवार्त्तिककारः—"स्वतन्त्रपरतन्त्रोपलब्ध्यनुपलब्धिकारण-भावाच्च विशेषः, सत्तु खलु प्रमाणस्यालम्बनं स्वतन्त्रम्, असत्तु परतन्त्रमन्यप्रतिषेध-मुखेनेति" । यदि त्वभावस्यापि स्वातन्त्र्येण ग्रहणं तदा भावादविशेषः स्यात् । अतो नास्त्यभावस्य निर्विकल्पकेन ग्रहणम् ।

यदपि विकल्पितं किं देवदत्तसङ्कीर्णस्य देवकुलस्य पूर्वं प्रतीति-रासीत् ? तद्विविक्तस्य वा ? सङ्कीर्णग्रहणे तावत् केवलस्य न स्मरणम् । विविक्तग्रहणे वाभावोऽगृहीत एव पश्चात् स्मर्यत इति प्राप्तम् । तदप्यसारम्, देवदत्तभावाभावयोरग्रहणेऽपि देवकुलस्य स्वरूपेण ग्रहणात् । तस्मान्न पूर्वमभाव-ग्रहणम्, तदभावान्न स्मृतिः, न च तदानीं प्रमाणान्तरमुपलभ्यते, तस्माद् व्यवहितेऽपि

ग्रहण होता है; किन्तु अभाव का भाव के प्रतिषेध रूप से ग्रहण होता है । जैसा कि न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि "भाव और अभाव में यही अन्तर है कि एक (भाव) स्वतन्त्र है और दूसरा (अभाव) परतन्त्र । एवं एक की सत्ता का उसकी अपनी उपलब्धि ही नियामक है और दूसरे की सत्ता के प्रतियोगी की अनुपलब्धि नियामक है । 'सत्' अर्थात् भाव पदार्थ प्रमाण के द्वारा स्वतन्त्र ही गृहीत होता है; किन्तु 'असत्' अर्थात् अभाव प्रतियोगी के प्रतिषेध रूप से, फलतः प्रतियोगी परतन्त्र होकर प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है" । यदि अभाव की भी स्वतन्त्र उपलब्धि ही हो तो भाव और अभाव दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा, फलतः दोनों अभिन्न हो जायेंगे । अतः निर्विकल्पक ज्ञान के अभाव का गृहीत होना सम्भव नहीं है ।

इस प्रसङ्ग में किसी ने जो यह विकल्प उपस्थित किया था कि पहले देवदत्त और देवालय (देवकुल) दोनों की साथ-साथ प्रतीति थी ? या देवदत्त से असम्पृक्त केवल देवकुल की ही प्रतीति थी ? यदि साथ-साथ प्रतीति मानें तो फिर केवल देवकुल का स्मरण नहीं होगा । (उस स्मृति में देवदत्त भी अवश्य ही भासित होगा, एवं देवदत्त के भासित होने पर उसके अभाव की प्रतीति असम्भव होगी) । यदि दूसरा पक्ष मानें तो (यह अनिष्टापत्ति होगी कि) पूर्व में अज्ञात ही देवकुल का स्मरण होता है । (उ.) इस विकल्प में भी कुछ सार नहीं है; क्योंकि देवदत्त या उनका अभाव, इन दोनों में से किसी का ग्रहण न होने पर भी देवकुल अपने देवकुलत्व स्वरूप के साथ ही वहाँ ज्ञात होता है । देवदत्त के अभाव का उस पुरुष को पहले सविकल्पक या निर्विकल्पक कोई भी ज्ञान नहीं था । अतः देवदत्त के अभाव की स्मृति भी उस पुरुष को नहीं हो सकती । उस समय देवदत्त के अभाव का ज्ञापक कोई दूसरा प्रमाण भी नहीं उपलब्ध होता है, अतः यही कहना पड़ेगा कि उस पुरुष को देवदत्त की सन्निधि

न्यायकन्दली

प्रतियोगिनि स्मृत्यारूढेऽभावग्रहणाय प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकव्यावृत्तिरेव प्रमाणम् ।

एकत्र चाभावस्याभावपरिच्छेद्यत्वे सिद्धेऽन्यत्रापि तेनैव सेत्स्यतीति सिद्धमभावस्य प्रमाणान्तरत्वम् ।

अत्रोच्यते—देशान्तरं गतः केनचित् पृष्टो देवकुले देवदत्तस्येदानीन्तनानुपलम्भेनेदानीन्तनाभावं प्रत्येति 'इदानीं नास्ति' इति ? किं वा प्राक्तनानुपलम्भेन प्राक्तनाभावं देवकुलग्रहणसमये नासीदिति ? इदानीन्तनानुपलब्धिस्तावद् योग्यानुपलब्धिर्न भवति, देशव्यवधानात् । सम्प्रत्यभावो देवदत्तस्य सन्दिग्धः, आगमनस्यापि सम्भवात् । प्राक्तनाभावपरिच्छेदयोग्या तु प्राक्तनानुपलब्धिर्नेदानीमनुवर्तते, अवस्थान्तरप्राप्तेः । न चाविद्यमाना प्रतीतिकारणं भवितुमर्हति ।

न रहने पर भी प्रश्न-कर्त्ता के पूछने पर देवदत्त की स्मृति हो जाती है । स्मृति के द्वारा उपस्थित देवदत्त के अनुभावक प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों में से कोई भी वहाँ उपस्थित नहीं है, अतः देवदत्त के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का न रहना या व्यावृत्ति रूप अभाव प्रमाण से ही वहाँ देवदत्त के अभाव का बोध होता है ।

इस प्रकार एक स्थान में उक्त अभाव प्रमाण को अभाव का ज्ञापक मान लेने पर अन्य सभी स्थानों में अभाव की ज्ञापकता उसमें सिद्ध हो जाती है ।

इस प्रसङ्ग में (अभाव को स्वतन्त्र प्रमाण न माननेवाले) हम लोगों का कहना है कि दूसरे देश में जाने पर किसी पुरुष को किसी अन्य पुरुष के द्वारा पूछे जाने पर देवकुल में इस (पूछने के) समय की जो देवदत्त की अनुपलब्धि है, उस अनुपलब्धि के द्वारा (१) देवदत्त का एतत्कालिक जो अभाव है, उसे पूछनेवाले को इस प्रकार समझाया जाता है कि 'अभी देवकुल में देवदत्त नहीं है' (२) अथवा जिस समय वह पुरुष देवकुल में था, उस समय की जो देवकुल में देवदत्त की अनुपलब्धि थी, उस अनुपलब्धि के द्वारा देवदत्त के तात्कालिक अभाव को ही इस प्रकार समझाते हैं कि 'उस समय देवकुल में देवदत्त नहीं थे ।' इनमें इस समय की जो देवकुल में देवदत्त की अनुपलब्धि है, वह प्रत्यक्ष योग्य वस्तु की उपलब्धि ही नहीं है; क्योंकि इस समय बोद्धा पुरुष के देश और देवकुल इन दोनों में बहुत बड़ा व्यवधान है (अतः देवदत्त उस देश में रहनेवाले पुरुष के द्वारा ज्ञात होने योग्य नहीं हैं), अतः यह योग्यानुपलब्धि न होने के कारण देवदत्त के अभाव का ग्राहक नहीं हो सकती । 'इस समय देवकुल में देवदत्त नहीं हैं' यह भी सन्दिग्ध ही है; क्योंकि बीच में वह आ भी सकते हैं । पूर्वकाल में रहनेवाली अनुपलब्धि–जो पूर्वकालिक अभाव को ही समझा सकती है–उसका अभी रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्थिति बदल गई है । अविद्यमान अनुपलब्धि अभावोपलब्धि का कारण नहीं हो सकती ।

न्यायकन्दली

नापि स्मृत्यारूढा व्याप्रियते, पूर्वमसंविदितत्वात् । न ह्यनुपलब्धिः प्रमाणान्तरसंवेद्या, अभावरूपत्वात् । अनुपलब्ध्यन्तरापेक्षायां चानवस्था स्यात् । तस्मादियमगृहीतैवेन्द्रि-यवदर्थपरिच्छेदिकेति राद्धान्तः, तथा सति कुतस्तस्याः स्मरणम् ? अनुभवाभावात् ।

अथ मतम्—देवकुले देवदत्तानुपलम्भो देवदत्तोपलम्भेन विनिवर्त्यते, न च देशान्तरगतस्य तदुपलम्भो जातः, तस्मादस्त्येव तदनुपलम्भः । यदि त्ववस्थान्तरमापन्नः, न चावस्थाभेदे वस्तुभेद इति । अस्तु तर्हि तावदिहैवम् । यत्र तु पूर्वं प्रतियोगिस्मरणाभावाद् वस्त्वभावो न गृहीतः, पश्चात् कालान्तरे वस्तुग्रहणादिहेदानीं नासीदिति प्राक्तनाभावज्ञानम्, तत्र कः प्रती-

यह कहना भी सम्भव नहीं है कि (प्र.) स्मृति के द्वारा उपस्थापित अनुपलब्धि से ही वहाँ अभाव का बोध होगा, (उ.) क्योंकि अनुपलब्धि का पहले अनुभव न रहने के कारण उसकी स्मृति सम्भव नहीं है । अनुपलब्धि चूँकि अभाव रूप है, अतः प्रत्यक्षादि पाँचों (भावबोधक) प्रमाणों में से किसी से भी उसका बोध सम्भव नहीं है । दूसरी अनुपलब्धि से यदि प्रकृत प्रमाणभूत अनुपलब्धि का अनुभव मानें, तो फिर कारणीभूत उस अनुपलब्धि के अनुभव के लिए तीसरी अनुपलब्धि की आवश्यकता होगी, जो अन्त में अनवस्था में परिणत होगी । तस्मात् यही कहना पड़ेगा कि जिस प्रकार इन्द्रिय से प्रत्यक्ष के उत्पादन में उसके ज्ञात होने की आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार अनुपलब्धि रूप प्रमाण भी स्वयं बिना ज्ञात हुए ही केवल अपनी सत्ता के द्वारा ही अपने अभाव रूप अर्थ के निश्चय का उत्पादन करता है । तस्मात् पूर्व में अनुपलब्धि का अनुभव न रहने के कारण उसकी स्मृति किस प्रकार हो सकती है ?

यदि यह कहिए कि (प्र.) देवकुल में देवदत्त की जो अनुपलब्धि है वह केवल देवदत्त की उपलब्धि से ही हट सकती है । देवकुल से आनेवाला पुरुष जब दूसरे देश में चला आता है, उस समय उसे देवदत्त की उपलब्धि तो हो नहीं पाती । अतः (जिस समय वह दूसरे के पूछने पर देवकुल में देवदत्त के अभाव का प्रतिपादन करता है) उस समय देवकुल में देवदत्त की अनुपलब्धि बनी हुई है । मान लिया कि उस समय की अनुपलब्धि से इस समय की अनुपलब्धि दूसरी अवस्था में है; किन्तु कोई भी वस्तु केवल अवस्था के बदल जाने से दूसरी वस्तु नहीं हो जाती । (उ.) यह मान भी लिया जाय कि उक्त रीति से देवकुल में देवदत्त के कथित अभाव के प्रतिपादन की इस प्रकार उपपत्ति की जा सकती है, तथापि जहाँ प्रतियोगी का स्मरण न रहने के कारण किसी एक अधिकरण में पहले उस प्रतियोगी का अभाव ज्ञात न हो सका, फिर कुछ काल बीत जाने पर उसी अधिकरण में उस प्रतियोगी रूप वस्तु का ग्रहण हुआ । ऐसे अधिकरण में उस समय उसी वस्तु के पूर्वकालिक अभाव का

न्यायकन्दली

कारः ? निवृत्तो हि तद्वस्त्वनुपलम्भस्तस्योपलम्भेन । न चानुपलम्भः पूर्वमासीदिति सम्प्रत्यविद्यमानोऽपि प्रतीतिहेतुः, प्रनष्टेन्द्रियस्यापि विषयग्रहणप्रसङ्गात् । अद्यतनेन तूपलम्भेनाद्यतनानुपलम्भस्तस्य निवर्तितः, प्राक्तनानुपलम्भस्त्वस्त्येव । तेन प्राक्कालीनाभावपरिच्छेदयोग्येन प्राक्तनाभावः परिच्छिद्यत इति चेत् ? अहो पाण्डित्यम् ? अहो नैपुण्यम् ? अनुपलम्भ उपलम्भप्रागभावः, स च वस्तूत्पत्त्यवधिरेक एव न प्राक्तनाद्यतनकालभेदेन भिद्यते, तत्राद्यतनानुपलम्भो निवृत्तः, प्राक्तनो न निवृत्त इति कः कुशाग्रीयबुद्धेरन्य इममतिसूक्ष्मविवेकमवगाहते । तस्मादभावोऽभावेनैव परिच्छिद्यत इति न बुद्ध्यामहे ।

कथं तर्हि स्वरूपमात्रं गृहीत्वा स्थानान्तरगतस्य स्मर्यमाणे प्रतियोगिन्यभावप्रतीतिः ? अनुमानात्, यो हि यस्मिन् स्मर्यमाणे स्मृतियोग्यः

इस प्रकार का ज्ञान होता है कि 'उस अधिकरण में उस समय यह वस्तु नहीं थी' वहाँ (अनुपलब्धि को प्रमाण माननेवाले) आप क्या प्रतीकार करेंगे ? अर्थात् यहाँ अभाव का ग्रहण किससे होगा ? क्योंकि यहाँ वर्त्तमान काल के प्रतियोगी की उपलब्धि से प्रतियोगी की भूतकालिक अनुपलब्धि नष्ट हो चुकी है । (प्र.) उस अधिकरण में उस वस्तु की अनुपलब्धि तो पहले से ही थी; किन्तु उसका ज्ञान भर नहीं था । वही (भूतकालिक) अनुपलब्धि वर्त्तमान काल में उपलब्धि के द्वारा नष्ट हो जाने पर भी उस अधिकरण में उस वस्तु के अभाव का ग्राहक होगी । (उ.) यह समाधान भी ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में न रहने पर भी यदि भूतकाल में कभी रहने से ही कोई किसी का उत्पादन कर सके, तो फिर जिसे कभी इन्द्रिय थी और अभी वह नष्ट हो गयी है, ऐसे व्यक्ति को भी रूपादि का प्रत्यक्ष होना चाहिए । (प्र.) आज की किसी वस्तु की उपलब्धि से आज की ही उस वस्तु की अनुपलब्धि विनष्ट होगी, उससे पूर्व की अनुपलब्धि नहीं, अतः पूर्वकाल की उस विषय की अनुपलब्धि तो इस (उपलब्धि के) समय भी है ही, इस अनुपलब्धि का तो विनाश नहीं हुआ है । पूर्वकालिक इसी अनुपलब्धि के द्वारा पूर्वकालिक उस वस्तु के अभाव का निश्चय होगा । (उ.) इस पाण्डित्य और निपुणता का क्या कहना? (यह आप नहीं समझते कि) अनुपलब्धि शब्द का अर्थ है उपलब्धि का प्रागभाव । वह अनादि काल से अपने प्रतियोगी की उत्पत्ति के समय तक बराबर रहने वाली एक ही वस्तु है । वह वर्तमानकाल और भूतकाल के भेद से भिन्न नहीं हो सकती । अतः प्रकृत में पूर्वकालिक अनुपलब्धि का नाश नहीं हुआ है और एतत्कालिक अनुपलब्धि का नाश हो गया है, इस भेद को किसी कुशाग्रबुद्धि महापुरुष को छोड़कर और कौन समझ सकता है? तस्मात् हम लोग इस बात को नहीं समझ पाते कि (अनुपलब्धि रूप) अभाव से ही अभाव का ग्रहण होता है ।

न्यायकन्दली

सत्यामपि सुस्मूर्षायां न स्मर्यते, स तस्य ग्रहणकाले नासीदिति । यथा केवले प्रदेशे स्मर्यमाणे तत्र प्राक्प्रतीताभावो घटोऽस्मर्यमाणः । न च स्मर्यते देवकुले स्मर्यमाणे सत्यामपि सुस्मूर्षायां स्मृतियोग्योऽपि देवदत्तः । तस्मात् सोऽपि देवकुलग्रहणसमये नासीदिति स्मृत्यभावादनुमानम् । सहोपलब्धयोरपि वस्तुनोः संस्कारपाटवादिविरहादेकस्य स्मरणमपरस्यास्मरणं दृष्टम्, यथाधीतस्य श्लोकस्यैकस्य पदान्तरस्मरणेऽपि पदान्तरास्मरणम् । तत्र कथमेकस्य स्मरणे परस्यास्मरणाद् अभावानुमानमनैकान्तिकत्वादिति चेत् ? सहस्थितयोरपि पदार्थयोः कदाचित् कारणानुरोधादेक उपलभ्यते नापरः, तत्रापि कथं भूतलोपलम्भादनुपलभ्यमा नस्य घटस्याभावसिद्धिः ?

(प्र.) तब फिर जहाँ कोई व्यक्ति केवल भूतल रूप आश्रय को देखकर दूसरी जगह चला जाता है, वहीं कुछ काल के बाद घट रूप प्रतियोगी का स्मरण होने पर 'उस भूतल रूप अधिकरण में उस समय घट नहीं था' इस प्रकार से उसे अभाव का ग्रहण होता है, उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? (उ.) उस अभाव का ग्रहण अनुमान प्रमाण से होगा; क्योंकि (घट से असंयुक्त) केवल भूतल के स्मरण की पूर्ण इच्छा रहने पर भी पहले से ज्ञात भूतल में घट का स्मरण नहीं होता है, वहाँ यह निश्चित है कि घट नहीं था । इससे यह सामान्य नियम उपपन्न होता है कि जिस एक वस्तु का स्मरण होने पर और स्मरण की पूर्ण इच्छा रहने पर भी स्मृति के योग्य जिस दूसरी वस्तु का स्मरण नहीं होता है,उस (एक) वस्तु में वह (दूसरी) वस्तु नहीं है । तदनुसार देवालय का स्मरण होने पर देवदत्त के स्मरण की इच्छा रहने पर और देवदत्त में स्मृति की पूर्ण योग्यता रहने पर भी यदि उनकी स्मृति नहीं होती है, तो यह अनुमान सुलभ हो जाता है 'उस समय देवालय में देवदत्त नहीं थे' ।(प्र.) उक्त नियम में व्यभिचार रहने के कारण कथित रीति से भूतकालिक अभाव का अनुमान सम्भव नहीं है; क्योंकि साथ-साथ अनुभव होनेवाले दो विषयों में से यदि एकविषयक संस्कार दृढ़ नहीं रहता है या उसमें कुछ पटुता की कमी रहती है, तो फिर उसका स्मरण नहीं होता है । एवं दूसरे विषय का संस्कार यदि उन दोषों से दूर रहता है, तो उस विषय का स्मरण होता है । जैसे कि पढ़े हुए एक पद्य के एक अंश का स्मरण होता है, दूसरे का नहीं । इस प्रकार के स्थलों में एक का स्मरण न होने पर भी दूसरे का स्मरण किस प्रकार हो सकेगा? (उ.) (जिस प्रकार एक साथ ज्ञात होनेवाले दो विषयों में से कभी एक का स्मरण होता है,दूसरे का नहीं. उसी प्रकार) एक साथ रहनेवाले दो पदार्थों में से भी एक का स्मरण होता है, चूँकि उसके सभी कारण ठीक रहते हैं । दूसरे का स्मरण नहीं होता; क्योंकि

न्यायकन्दली

अथ मतम्—एकज्ञानसंसर्गिणोरेकोपलम्भेऽपरस्यानुपलम्भोऽभावसाधनं न सर्वः। येन हि ज्ञानेन प्रदेशो गृह्यते तेनैव तत्संयोगी घटोऽपि गृह्यते,यैव प्रदेशग्रहणे सामग्री सैव घटस्यापि सामग्री । यदि प्रदेशे घटोऽभविष्यत् सोऽपि प्रदेशे ज्ञायमाने विज्ञास्येत, तत्तुल्यसामग्रीकत्वात् । न ज्ञायते च, तस्मान्नास्त्येव, तदनुपलम्भस्य प्रकारान्तरेणासम्भवादिति । यद्येवमस्माकमप्येकज्ञानसंसर्गिणोरेकस्मरणेऽपरस्यास्मरणमभावसाधनम् । यैव देवकुलग्रहणसामग्री सा देवदत्तस्यापि तत्संयुक्तस्य ग्रहणसामग्री, या च देवकुलस्य स्मरणसामग्री सा देवदत्तस्यापि स्मृतिसामग्री, तदेकज्ञानसंसर्गित्वाद् यदि देवकुलग्रहणकाले देवदत्तोऽभविष्यत् सोऽपि देवकुले स्मर्यमाणे अस्मरिष्यत्, तत्तुल्यसामग्रीत्वात् । न च

उसके स्मरण के कारणों में कुछ त्रुटि रहती है । ऐसी स्थिति में भूतल के स्मरण के बाद घट का स्मरण न होने से भूतल में घट के न रहने की सिद्धि किस प्रकार होगी ।

यदि यह कहें कि (प्र.) सभी अनुपलब्धियाँ अभाव की साधिका नहीं हैं; किन्तु एक ज्ञान में विषय होनेवाले दो विषयों में से एक की अनुपलब्धि ही दूसरे के अभाव की साधिका है । अतः जिस ज्ञान के द्वारा भूतल रूप प्रदेश का ग्रहण होता है, उसी ज्ञान के द्वारा भूतल में संयुक्त घट का भी ग्रहण होता है । जिन कारणों के समूह से प्रदेश का ज्ञान होता है, उसी कारण समूह से भूतल में संयोग सम्बन्ध से रहनेवाले घट का भी ज्ञान होता है । अतः भूतल में यदि घट रहता तो भूतल के दीखने पर वह भी दीख पड़ता ही; क्योंकि भूतल और घट दोनों का ग्रहण एक ही प्रकार के कारणों से होता है ; किन्तु भूतल के ज्ञात होने पर भी घट ज्ञात नहीं होता है । तस्मात् घट की उक्त अनुपलब्धि से समझते हैं कि वहाँ भूतल में घट है ही नहीं; क्योंकि भूतल में घटाभाव के बिना घट की इस अनुपलब्धि की सम्भावना नहीं है । (उ.) यदि ऐसी बात है तो समान रूप से हम भी कह सकते हैं कि एक ज्ञान में विषय होनेवाले दो विषयों में से एक विषय की स्मृति के न रहने की दशा में यदि दूसरे की स्मृति नहीं होती है, तो फिर यह 'अस्मरण' (या उस विषय की स्मृति का न होना) ही उस दूसरे विषय के भाव का साधक है । तदनुसार देवकुल को देखने की सामग्री (कारणसमूह) एवं देवकुल में संयोग सम्बन्ध से रहनेवाले देवदत्त को देखने का कारण समूह चूँकि दोनों एक ही हैं । अतः जिस सामग्री से देवालय का स्मरण होगा, उसी सामग्री से देवदत्त का भी स्मरण होना चाहिए । इस उपपत्ति के अनुसार देवालय के दर्शन के समय यदि उसमें देवदत्त रहते तो देवकुल की स्मृति के बाद उनकी भी स्मृति अवश्य होती; क्योंकि देवकुल और देवदत्त दोनों की स्मृतियों के उत्पादक कारणसमूह समान रूप के हैं; किन्तु देवकुल की स्मृति होने पर भी देवदत्त का स्मरण

न्यायकन्दली

स्मर्यते, तस्मान्नासीद् देवदत्तः, तदस्मरणस्य प्रकारान्तरेणासम्भवादिति समानम् । श्लोकस्य तु पदान्युच्चारणानुरोधात् क्रमेण पठ्यन्ते, नैकज्ञानसंसर्गीणि । तेषु यत्र तु बहुतरः संस्कारो जातस्तत् स्मर्यते, नापरमिति नास्त्यनुपपत्तिः ।

एवमुपलभ्यमानस्यापि वस्तुनो यत् प्राक्तनाभावज्ञानं प्रागिदमिह नासीदिति ज्ञानम्, तदपि प्रतियोगिनः प्राक्तनास्तित्वे स्मर्यमाणे तत्सत्तास्मृत्यभावादनुमानम् ।

ये तु स्मृत्यभावमप्यभावं प्रमाणमाचक्षते तेषाम् "अभावोऽपि प्रमाणाभावः" इति भाष्यविरोधः, "प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते" इत्यादिवार्त्तिकविरोधश्चेत्यलं बहुना ।

ये पुनरेवमाहुः—अभावरूपस्य प्रमेयस्याभावान्न साध्वी तस्य प्रमाण-चिन्तेति । त इदं प्रष्टव्याः—नास्तीति संविदः किमालम्बनम्? यदि न किञ्चित् ?

नहीं होता है, अतः उस समय देवकुल में देवदत्त नहीं थे; क्योंकि उस समय देवकुल में देवदत्त के अभाव के बिना उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती । किसी श्लोक के एक अंश की स्मृति और दूसरे अंश की देवदत्त की उक्त अस्मृति की स्थिति ही भिन्न है; क्योंकि श्लोक के प्रत्येक पद अलग-अलग पढ़े जाते हैं, एवं उनके ज्ञान भी अलग-अलग क्रमशः ही उत्पन्न होते हैं, अतः श्लोक रूप वाक्य के कोई भी अनेक अंश एक ज्ञान के द्वारा गृहीत नहीं होते । सुतरां श्लोक के प्रत्येक पद के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला संस्कार अलग-अलग है। इन संस्कारों में से जिन पदों के संस्कारों में दृढ़ता अधिक होती है, उनके द्वारा उन पदों का स्मरण होता जाता है और जिन पदों के संस्कार दुर्बल होते हैं, उनका स्मरण नहीं होता है । अतः श्लोक के प्रसङ्ग में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इसी प्रकार वर्तमानकाल में जिस वस्तु की उपलब्धि है, उसके पूर्वकालिक अभाव की जो इस आकार की प्रतीति होती है कि 'यह पहले नहीं था', वह (प्रतीति) भी अनुमान ही है ; क्योंकि इस अभाव के प्रतियोगी का पूर्वकालिक अस्तित्व के स्मृत होने पर भी अधिकरण में उसकी सत्ता की स्मृति न होने से ही उक्त प्राक्तन अभाव की प्रतीति उत्पन्न होती है ।

(मीमांसकों का) जो सम्प्रदाय स्मृति के अभाव को भी 'अभाव' प्रमाण मानता है, उसको "अभावोऽपि प्रमाणाभावः" इस शाबरभाष्य और "प्रमाणपञ्चकं यत्र" इत्यादि उसके वार्त्तिक दोनों के विरोध का सामना करना पड़ेगा ?

जो कोई यह कहते हैं कि (प्र.) अभाव नाम का कोई अलग प्रमेय ही नहीं है, अतः उसके प्रमाण की बात ही अनुचित है । (उ.) उनसे यह पूछना चाहिए

न्यायकन्दली

दत्तः स्वहस्तो निरालम्बनं विज्ञानमिच्छतां महायानिकानाम् । अथ भूतलमालम्बनम्? कण्टकादिमत्यपि भूतले कण्टको नास्तीति संवित्तिः, तत्पूर्वकश्च निःशङ्कं गमनागमनलक्षणो व्यापारो दुर्निवारः । केवलभूतलविषयं 'नास्तीति' संवेदनम्, कण्टकसद्भावे च कैवल्यं निवृत्तमिति प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरभाव इति चेत् ? ननु किं कैवल्यं भूतलस्य स्वरूपमेव ? किमुत धर्मान्तरम् ? स्वरूपं तावत् कण्टकादिसंवेदनेऽप्यपरावृत्तमिति स एव प्रतिपत्तिप्रवृत्त्योरविरामो दोषः । धर्मान्तरपक्षे च तत्त्वान्तरसिद्धिः ।

अथ मन्यसे भाव एवैकाकी सद्वितीयश्चेति द्वयीमवस्थामनुभवति तत्रैकाकीभावः स्वरूपमात्रमिति केवल इति चोच्यते, तादृशस्य तस्य दृश्ये

कि 'नास्ति' इस आकार की बुद्धि का विषय (प्रमेय) कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में वे यदि यह कहें कि (प्र.) उस बुद्धि का कोई भी विषय नहीं है; क्योंकि उक्त भाष्य और वार्त्तिक दोनों ही में 'प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों की अनुत्पत्ति' को ही 'अभाव' प्रमाण कहा गया है । किसी के भी मत से स्मृति प्रमाण नहीं है, अतः स्मृति के किसी भी अभाव का प्रामाण्य भाष्य और वार्त्तिक के द्वारा अनुमोदित नहीं हो सकता । (उ.) तो फिर बिना विषय के ही विज्ञान की इच्छा करनेवाले महायान के अनुयायियों की ही तरफ आप अपना हाथ बढ़ाते हैं । यदि इस प्रश्न के उत्तर में यह कहें कि (प्र.) (कण्टकाभावादि का) भूतल रूप आश्रय ही उक्त 'नास्ति' प्रत्यय का विषय है, (उ.) तो फिर काँट प्रभृति से युक्त भूतल में भी 'कण्टको नास्ति' इस आकार की बुद्धि होगी, जिससे कि (निष्कण्टक भूमि की तरह) काँटों से युक्त भूतल में भी निःशङ्क होकर आना-जाना सम्भव हो जाएगा । (प्र.) 'नास्ति' इस प्रकार की उक्त बुद्धि का 'केवल' भूतल ही विषय है । काँट के रहने पर भूतल से यह 'कैवल्य' हट जाता है, अतः भूतल में काँट के न रहने पर भूतल में 'कण्टको नास्ति', न इस 'प्रतिपत्ति' की आपत्ति ही होती है और न गमन और आगमन की निःशङ्क प्रवृत्ति ही हो पाती है । (उ.) इस प्रसङ्ग में पूछना है कि भूतल का यह 'कैवल्य' भूतल स्वरूप है या उससे भिन्न कोई दूसरा धर्म है ? (यदि पहला पक्ष मानें तो फिर) भूतल में कण्टकादि ज्ञान के समय भी (भूतल स्वरूप वह) कैवल्य है ही । अतः इस पक्ष में भी उक्त निःशङ्क प्रवृत्ति की और कण्टक के रहने पर भी भूतल में 'कण्टको नास्ति' इस ज्ञान की आपत्ति रहेगी ही । यदि कैवल्य को भूतल से भिन्न कोई दूसरा धर्म मानें तो (अभाव की तरह) किसी दूसरे पदार्थ का मानना आवश्यक ही होगा ।

यदि यह कहें कि (प्र.) भाव की दो अवस्थायें होती हैं–(१) एकाकी अवस्था और (२) सद्वितीयावस्था । इनमें 'एकाकी' अवस्था से युक्त भूतल ही 'स्वरूप मात्र' कहलाता है । इस केवल भूतल में (घटाभाव के) प्रतियोगी

न्यायकन्दली

प्रतियोगिनि घटादौ जिघृक्षिते सत्युपलब्धिर्घटाद्यभावव्यवहारं प्रवर्तयतीति ।

अत्रापि ब्रूमः—घटादेरभावाद् भूतलं च व्यतिरेच्यैकाकिशब्दस्यार्थः कः समर्थितो भवद्भिर्यो हि नास्तीति प्रतिषेधधिय आलम्बनम् ? न हि विषयवैलक्षण्यमन्तरेण विलक्षणाया बुद्धेरस्त्युदयः, नापि व्यवहारभेदस्य सम्भवः । स्वाभाविकं यदेकत्वं भावस्य तदेवैकाकित्वमिति चेत् ? किमेकत्वं प्रतियोगिरहितत्वम् ? एकत्वसंख्या वा ? एकत्वसंख्या तावद् यावदाश्रयभाविनी भावस्य सद्वितीयावस्थायामप्यनुवर्तते । अथ प्रतियोगिरहितत्वं स्वाभाविकमेकत्वमुच्यते, सिद्धं प्रमेयान्तरम् ।

नन्वभाववादिनोऽपि भूतलग्रहणमभावप्रतीतिकारणम्, अप्रतीते भूतले तत्राभावप्रतीतेरयोगात् । तत्र न तावत् कण्टकादिसहितभूतलोपलम्भात् कण्टको

घटादि के ग्रहण की इच्छा से जब केवल भूतल की उपलब्धि होती है (अर्थात् घटयुक्त भूतल की उपलब्धि नहीं होती है) तब (भूतल की) वही उपलब्धि भूतल में घटाभाव से व्यवहार को उत्पन्न करती है ।

(उ.) इस प्रसङ्ग में भी हम लोगों का कहना है कि भूतल शब्द के साथ प्रयुक्त 'एकाकी' शब्द का भूतल और घटाभाव को छोड़कर और कौन-सा अर्थ आप लोग मानते हैं, जिसे आप 'भूतले घटो नास्ति' इस प्रतिषेधबुद्धि का विषय कहते हैं ? विषयों की विलक्षणता के बिना बुद्धियों की विलक्षणता सम्भव नहीं है । एवं बुद्धियों की विभिन्नता के बिना (शब्द प्रयोग रूप) विभिन्न व्यवहार भी सम्भव नहीं हैं । (प्र.) (भूतलादि आश्रय रूप) भावों में जो स्वाभाविक 'एकत्व' है वही उसका एकाकित्व (या एकाकी अवस्था) है । (उ.) यह एकत्व (भूतल में रहनेवाले घटाभाव के) प्रतियोगी का (भूतल में) न रहना ही है ? या उसमें रहनेवाली एकत्व संख्या रूप है ? यदि एकत्व संख्या रूप मानें तो वह एकाकित्व भूतल रूप आश्रय जब तक रहेगा तब तक—घट की सत्ता के समय भी—भूतल में रहेगा ही (अर्थात् भूतल में घट रहने की दशा में भी घटाभाव की प्रतीति की आपत्ति होगी) । यदि उस स्वाभाविक एकत्व को भूतलादि में घटादि प्रतियोगियों का न रहना ही मानें, तो फिर अभाव रूप अलग स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकृत ही हो गया ।

(प्र.) जो सम्प्रदाय अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, उनके मत से भी जब तक भूतल की प्रतीति नहीं होती, तब तक भूतल में अभाव की प्रतीति नहीं होती है । अतः उनके मत से भी भूतल की प्रतीति भूतल में अभाव प्रतीति का कारण है ही । किन्तु कण्टक सहित भूतल के ग्रहण से भूतल में 'कण्टको नास्ति' इस अभाव की प्रतीति नहीं होती है । यदि कण्टकादि के अभाव से युक्त भूतल की

न्यायकन्दली

नास्तीति प्रतीतिः । अभावविशिष्टभूतलग्रहणस्याभावप्रतीतिहेतुत्वे च (भावग्रहणे) तदभावग्रहणे तदभावविशिष्टभूतलग्रहणम्, तदभावविशिष्टाद् भूतलग्रहणाच्चाभावग्रहणमिति स्वयमेव स्वस्य कारणमभ्युपगतं स्यात् । तस्मादभावव्यतिरिक्ता प्रतियोगिसंसर्गव्यतिरेकिणी भूतलस्य त्वयापि काचिदेकाकित्यावस्थाभ्युपगन्तव्या, यस्याः प्रतीतावभावप्रतीतिः स्यात्, सैवास्माकं नास्तीति व्यवहारं प्रवर्तयतीति । तदप्ययुक्तम्, भूतलस्वरूपग्रहणस्यैवाभाव-प्रतीतिहेतुत्वात् । न च सद्वितीयग्रहणेऽप्येतत्प्रतीतिप्रसङ्गः, भूतलग्रहणवदभावेन्द्रियसन्नि-कर्षोऽप्यभावग्रहणसामग्री, कण्टकादिसद्भावे तदभावो नास्तीति विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् सत्यपि भूतलग्रहणे नाभावप्रतीतिः । न हि चक्षुरालोकादिकमुपलम्भकारणमस्तीति यद्यत्र नास्ति तदपि तत्र प्रतीयते । तदेवं सिद्धोऽभावः ।

प्रतीति को भूतल में कण्टकाभाव की प्रतीति का करण मानें, तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि 'भूतल में कण्टकाभाव के ग्रहण से ही कण्टकाभाव से युक्त भूतल का ग्रहण होता है' एवं 'कण्टकाभावविशिष्ट भूतल के ग्रहण से ही भूतल में कण्टकाभाव का ग्रहण होता है' इन दोनों का इस अनिष्टापत्ति में पर्यवसान होगा कि 'वस्तु स्वयं ही अपना कारण है' । तस्मात् आप (अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ माननेवाले) को भी भूतल की कोई ऐसी 'एकाकी अवस्था' माननी ही होगी, जो कण्टकाभावादि स्वरूप न हो, एवं भूतल में कण्टक रूप प्रतियोगी की सत्त्व दशा में न रहे, जिससे भूतल में कण्टकाभाव का व्यवहार हो सके । भूतल की वही एकाकी अवस्था भूतल में कण्टकाभाव के व्यवहार का कारण होगी' (इसके लिए अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है । (उ.) यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल भूतल का ग्रहण ही भूतल में होनेवाले कण्टकाभावादि के प्रत्ययों का कारण है । (प्र.) तो फिर जिस समय भूतल में कण्टकादि दूसरी वस्तुओं का प्रत्यय होता है, उस समय कण्टकाभावादि की प्रतीतियाँ क्यों नहीं होतीं ? (उ.) चूँकि भूतल में कण्टकाभाव के प्रत्यक्ष (ग्रहण) के लिए जिस कारण समूह की अपेक्षा है, उसमें भूतल ग्रहण की तरह कण्टकाभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी निविष्ट है । भूतल में जिस समय कण्टक की सत्ता रहती है, उस समय कण्टकाभाव रूप विषय नहीं रहता है । अतः उस समय कण्टकाभाव रूप विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष सम्भव नहीं है । (भूतल में कण्टक की सत्त्व दशा में) भूतल का प्रत्यक्ष रहने पर भी, कण्टटकाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है । यह तो सम्भव नहीं है कि प्रकाश एवं चक्षु प्रभृति प्रत्यक्ष के कारण विद्यमान हैं, केवल इसीलिए जो जहाँ नहीं भी है, उसका भी वहाँ प्रत्यक्ष हो । इस प्रकार यह सिद्ध है कि अभाव नाम का स्वतन्त्र पदार्थ अवश्य है ।

न्यायकन्दली

स च चतुर्व्यूहः—प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावश्चेति ।

प्रागुत्पत्तेः कारणेषु कार्यस्याभावः प्रागभावः, तत्र प्राक् कार्योत्पत्तेः पूर्वमभावो विशेषस्य प्रागभावः स चानादिरप्यनित्यः, कार्योत्पादेन तस्य विनाशात्, अविनाशे च कार्यस्योत्पत्त्यभावात् । कः प्रागभावस्य विनाशः ? वस्तूत्पाद एव । निवृत्ते वस्तुनि प्रागभावोपलब्धिप्रसङ्ग इति चेत्? वस्तुवद् वस्त्ववयवानामप्यारब्धकार्याणां प्रागभावविनाशलक्षणत्वात् ।

उत्पन्नस्य स्वरूपप्रच्युतिः प्रध्वंसाभावः । स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी, भावस्य पुनरनुपलम्भात् । प्रागभूतस्य पश्चाद्भाव उत्पादः, प्रध्वंसस्य कः

(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) इतरेतराभाव (अन्योन्याभाव या भेद) और (४) अत्यन्ताभाव, अभाव के ये चार भेद हैं ।

(१) उत्पत्ति से पहले (समवायि) कारणों में कार्य का जो अभाव रहता है, वही प्रागभाव है (प्रागभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि) 'प्राक्' अर्थात् कार्य की उत्पत्ति से पहले 'अभाव' अर्थात् कार्य रूप 'विशेष' का अभाव ही 'प्रागभाव' है । यह अनादि होने पर भी विनाशशील है, यदि प्रागभाव को अविनाशी मानें तो कार्य की उत्पत्ति ही न हो सकेगी । अतः (प्रतियोगिभूत) कार्य की उत्पत्ति से उसका विनाश मानना आवश्यक है । (प्र.) प्रागभाव का विनाश कौन-सी वस्तु है ? (उ.) प्रतियोगिभूत वस्तु की उत्पत्ति ही उसके प्रागभाव का विनाश है । (प्र.) तो फिर उस वस्तु के विनष्ट हो जाने पर उस वस्तु के प्रागभाव की फिर से उपलब्धि होनी चाहिए ? (उ.) (प्रागभाव के विनाश को प्रतियोगी का उत्पत्ति स्वरूप मानने पर भी यह आपत्ति) नहीं है; क्योंकि प्रागभाव का विनाश जिस प्रकार प्रागभाव के प्रतियोगी रूप वस्तु का उत्पत्ति रूप है, उसी प्रकार उस वस्तु के कारणीभूत उन अवयवों के स्वरूप भी हैं, जिन अवयवों से कार्य की उत्पत्ति हो चुकी है ।

(२) उत्पन्न हुए कार्य का अपने स्वरूप से हटना ही (उसका) 'प्रध्वंसाभाव' है । यह अभाव उत्पत्तिशील होने पर भी विनाशशील नहीं है; क्योंकि विनष्ट हुए भाव व्यक्ति की फिर कभी उपलब्धि नहीं होती है । (प्र.) पहले से जिसका प्रागभाव रहता है, बाद में उसकी सत्ता ही उस वस्तु की उत्पत्ति कहलाती है; किन्तु प्रध्वंस का प्रागभाव कौन-सी वस्तु है? (उ.) प्रध्वंस[1] के प्रतियोगिभूत वस्तु की सत्ता ही

1. अर्थात् जिसकी उत्पत्ति होगी, उसका यदि प्रागभाव मानना आवश्यक हो तो प्रध्वंस का भी प्रागभाव मानना आवश्यक होगा; क्योंकि वह भी उत्पत्तिशील है । अतः प्रश्न उठता है कि प्रध्वंस का प्रागभाव क्या है ?

न्यायकन्दली

प्रागभावः ? यस्यार्थस्य यः प्रध्वंसः, तस्यार्थस्य स्वरूपस्थितिरेव तत्प्रध्वंसस्य प्रागभावः । यथा वस्तूत्पत्तिरेव तत्प्रागभावस्य विनाशः, तथा प्रध्वंसोत्पत्तिरेव तत्प्रागभावस्य विनाशः। यदसद्भूतं तस्य कथमभाव इति न परिचोद्यम्, कारणसामर्थ्यस्यापर्यनुयोज्यत्वात् ।

गव्यश्वाभावोऽश्वे च गोरभाव इतरेतराभावः । स च सर्वत्रैको नित्य एव, पिण्डविनाशेऽपि सामान्यवत् पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञानात् । यथा सामान्यमदृष्टवशादुपजायमानेनैव पिण्डेन सह सम्बद्ध्यते, नित्यत्वं च स्वभावसिद्धम्, तथेतरेतराभावोऽपि । इयांस्तु विशेषः—पिण्डग्रहणमात्रेण सामान्यग्रहणम्, इतरेतराभावग्रहणं तु प्रतियोगिसापेक्षम्, पररूपनिरूपणीयत्वात् ।

अत्यन्ताभावो यदसतः प्रतिषेध इति । इतरेतराभाव एवात्यन्ताभाव इति चेत् ? अहो राजमार्ग एव भ्रमः ? इतरेतराभावो हि स्वरूपसिद्धयोरेव

उस प्रध्वंस का प्रागभाव है । जिस प्रकार प्रतियोगिभूत वस्तु की उत्पत्ति ही उसके प्रागभाव का विनाश है,उसी प्रकार प्रध्वंस की उत्पत्ति ही उसके प्रागभाव का विनाश है । यह अभियोग करना युक्त नहीं है कि (प्र.) जो (प्रागभाव) स्वयं अभाव स्वरूप है, उसका अभाव कैसे निष्पन्न होगा ? (उ.) क्योंकि कारणों का सामर्थ्य सभी अभियोगों से बाहर है ।

(२) गो में अश्व का अभाव और अश्व में गो का जो अभाव है, वही 'इतरेतराभाव' है । वह समवाय की तरह अपने सभी आश्रयों में एक ही है, और नित्य भी है; क्योंकि आश्रयीभूत एक वस्तु के विनष्ट हो जाने पर भी उसी प्रकार की दूसरी वस्तु में उसका भान होता है । जैसे कि (घटत्व) सामान्य के आश्रयीभूत एक घट का नाश हो जाने पर भी दूसरे घट में उसका प्रत्यभिज्ञान होता है । एवं जिस प्रकार घटादि वस्तुओं के उत्पन्न होते ही अदृष्ट रूप कारणवश सामान्य उनके साथ सम्बद्ध हो जाता है । एवं जिस प्रकार सामान्य में नित्यत्व स्वभावतः प्राप्त है । उसी प्रकार ये सभी बातें इतरेतराभाव (अन्योन्याभाव या भेद) में भी समझनी चाहिए । (सामान्य और इतरेतराभाव इन दोनों में उक्त सादृश्यों के रहते हुए भी) इतना अन्तर है कि केवल आश्रय का ज्ञान होते ही सामान्य का ज्ञान हो जाता है; किन्तु इतरेतराभाव को समझने के लिए (उसके आश्रय के अतिरिक्त) उसके प्रतियोगी के ज्ञान की भी अपेक्षा होती है; क्योंकि सभी अभाव को समझने के लिए प्रतियोगी रूप दूसरी वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा होती है ।

सर्वथा अविद्यमान वस्तु का जो निषेध वही 'अत्यन्ताभाव' है । (प्र.) अत्यन्ताभाव इतरेतराभाव से भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं । (उ.) यह तो राजमार्ग में ही भूल होने जैसी बात है; क्योंकि जहाँ प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों की सत्ता रहती है, किन्तु परस्पर एक के तादात्म्य का दूसरे में निषेध किया जाता है, वहाँ इतरेतराभाव माना जाता है ।किसी सिद्ध आश्रय में सर्वथा अविद्यमान, किन्तु केवल बुद्धि में आरोपित

प्रशस्तपादभाष्यम्

तथैवैतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एवेति ।

पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानु-

इसी प्रकार 'ऐतिह्य' भी सत्य अर्थ का बोधक एवं आप्त से उच्चरित शब्द प्रमाण ही है (फलतः अनुमान ही है) ।

अपने निश्चित अर्थ को दूसरे को समझाने के लिए (प्रसिद्ध) पाँच अवयव (पञ्चावयव) वाक्यों का प्रयोग ही 'परार्थानुमान' है । (अर्थात्)

न्यायकन्दली

गवाश्वयोरितरेतरात्मताप्रतिषेधः । अत्यन्ताभावे तु सर्वथा असद्भूतस्यैव बुद्ध्यावारोपितस्य देशकालानवच्छिन्नः प्रतिषेधः । यथा षट्पदार्थेभ्यो नान्यत् प्रमेयमस्तीति । यदि चात्यन्ताभावो नेष्यते, षडेव पदार्था इत्ययं नियमो दुर्घटः स्यात् ।

ऐतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एव **'इति ह' इति निपातसमुदाय उपदेशपारम्पर्ये वर्तते, तत्रायं स्वार्थिकः ष्यञ्प्रत्ययः, ऐतिह्यमिति ।**

वितथमैतिह्यं तावत् प्रमाणमेव न भवति । अवितथमाप्तोपदेश एव । आप्तोपदेशश्चानुमानम् । तस्मादवितथमैतिह्यमनुमानान्न व्यतिरिच्यत इत्यभिप्रायः ।

परार्थानुमानव्युत्पादनार्थमाह—पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानमिति । **प्रतिपादनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे प्रतीतिः पर्यवस्यति, तस्य पञ्चभागाः समूहापेक्षयावयवा इत्युच्यन्ते । स्वयं साध्यानन्तरीयकत्वेन निश्चितोऽर्थः स्वनिश्चितार्थः, साध्याविनाभूतं लिङ्गम् ।**

वस्तु का 'इस आश्रय में यह कभी किसी भी प्रदेश में नहीं है' इस प्रकार का प्रतिषेध ही अत्यन्ताभाव है । जैसे द्रव्यादि छः पदार्थों से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है (इस प्रकार का प्रतिषेध अत्यन्ताभाव रूप है) यदि अत्यन्ताभाव न मानें तो 'पदार्थ छः ही हैं' इस प्रकार का अवधारण कठिन होगा ।

'ऐतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एव' इस वाक्य में प्रयुक्त 'ऐतिह्य' शब्द 'इति ह' इन दोनों निपातों से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है । ये दोनों निपात 'परम्परा से प्राप्त उपदेश' रूप अर्थ के बोधक हैं ।

अभिप्राय यह है कि जो 'ऐतिह्य' रूप वचन (या उपदेश) असत्य है, वह तो प्रमाण ही नहीं है । जो ऐतिह्य प्रमा ज्ञान का उत्पादक है, वह आप्तवचन को छोड़कर और कुछ भी नहीं है । (यह उपपादन कर चुके हैं कि) आप्तोपदेश अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है । अतः ऐतिह्य भी अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है ।

'पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्' यह वाक्य परार्थानुमान को समझाने के लिए कहा गया है । अभीष्ट अर्थ की प्रतीति जिन शब्दों के समूह से सम्पन्न होती है, उसके पाँच खण्ड होते हैं । वाक्य के वे ही पाँच खण्ड वाक्यसमूह की अपेक्षा (अर्थात् उक्त समूह को अवयवी मानकर) उसके अवयव कहलाते हैं । 'स्वयं साध्यानन्तरीयकत्वेन निश्चितोऽर्थः स्वनिश्चितार्थः' इस व्युत्पत्ति के

न्यायकन्दली

तस्य पञ्चावयवेन वाक्येन प्रतिपादनं तत्प्रतिपत्तिजननसमर्थपञ्चावयववाक्यप्रयोगः परार्थानुमानम् । पञ्चावयवं हि वाक्यं यावत्सु रूपेषु लिङ्गस्य साध्याविनाभावः परिसमाप्यते तावद्रूपं लिङ्गं प्रतिपादयति । तत्प्रतिपादिताच्च लिङ्गात् साध्यसिद्धिः । न वाक्यमेव साध्यं बोधयति, तस्य शाब्दत्वप्रसङ्गात् । तस्मादविनाभूतलिङ्गाभिधायकवाक्यप्रयोग एव परार्थानुमानमुच्यते ।

अपरे तु यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, वाक्यं च साध्यपरम्, तत्प्रतिपादनार्थमस्य प्रयोगात् । लिङ्गप्रतिपादनं त्ववान्तरव्यापारः, वचनमात्रेण विप्रतिपन्नस्य साध्यप्रतीतेरभावादिति वदन्त एवं व्याचक्षते—स्वनिश्चितार्थः साध्यः, तस्य लिङ्गप्रतिपादनमेवावान्तरव्यापारीकृत्य पञ्चावयवेन वाक्येन प्रतिपादनं तत्प्रतिपादकवाक्यप्रयोगः परार्थानुमानमिति ।

स्वोक्तं विवृणोति—पञ्चावयवेनैवेत्यादिना । **क्वचयवमेव वाक्य-**

अनुसार साध्य की व्याप्ति से युक्त वस्तु ही (प्रकृत वाक्य में प्रयुक्त) 'स्वनिश्चित' शब्द का अर्थ है । उस (स्वनिश्चित अर्थ रूप साध्यव्याप्त हेतु) का पञ्चावयव वाक्य के द्वारा जो 'प्रतिपादन' अर्थात् साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतुविषयक बोध के उत्पादन में क्षम पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग, वही 'परार्थानुमान' है । जिन धर्मों के द्वारा हेतु में साध्य की व्याप्ति पूर्ण रूप से समझी जाती है, उन धर्मों से युक्त हेतु का ही प्रतिपादन पञ्चावयव वाक्य से होता है । पञ्चावयव वाक्य के द्वारा प्रतिपादित उक्त हेतु से ही साध्य का बोध (अनुमिति) होता है, साक्षात् पञ्चावयव वाक्य से साध्य की अनुमिति नहीं होती है, यदि ऐसी बात हो तो साध्य का उक्त बोध अनुमिति न होकर शाब्दबोध हो जाएगा । अतः साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु के बोधक पञ्चावयव वाक्यों के प्रयोग को ही 'परार्थानुमान' कहा जाता है ।

दूसरे सम्प्रदाय के कुछ लोग कहते हैं कि जिस विषय को समझाने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही विषय उस शब्द का अर्थ होता है । पञ्चावयव वाक्य साध्य को समझाने के लिए ही प्रयुक्त होता है, अतः साध्य ही पञ्चावयव वाक्य रूप शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ है । चूँकि केवल पञ्चावयव रूप वाक्य के प्रयोग से भ्रान्त व्यक्ति को साध्य का बोध नहीं होता है, अतः मध्यवर्त्ती व्यापार के रूप में (साध्यव्याप्य हेतु का ज्ञान) आवश्यक होता है । ये लोग प्रकृत वाक्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि साध्य ही प्रकृत 'स्वनिश्चितार्थ' शब्द से अभिप्रेत है । इसी 'साध्य' का प्रतिपादन पञ्चावयव वाक्य से (मुख्यतः) होता है। इतना अवश्य है कि इस काम के लिए उसे साध्यव्याप्यहेतुज्ञान को बीच का व्यापार मानना पड़ता है । अतः साध्य के ज्ञापक पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग ही 'परार्थानुमान' है ।

'पञ्चावयवेनैव वाक्येन' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार ने 'पञ्चावयवेन वाक्येन' इत्यादि अपनी ही पङ्क्ति की व्याख्या की है । किसी सम्प्रदाय के लोग

प्रशस्तपादभाष्यम्

मानम् । पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम् ।

अपने निश्चित अर्थविषयक संशय या विपर्यय अथवा अव्युत्पत्ति से युक्त पुरुषों को पञ्चावयव वाक्य के द्वारा ही उस अर्थ को समझाने के लिए उक्त (अपने निश्चित) अर्थ का (पञ्चावयव वाक्य के द्वारा) प्रतिपादन ही 'परार्थानुमान' समझना चाहिए ।

न्यायकन्दली

मित्येके । त्र्यवयवमित्यपरे । तत्प्रतिषेधार्थमेवकारकरणम्—पञ्चावयवेनैवेति । **प्रतिपाद्येऽर्थे यस्य संशयोऽस्ति स संशयितः, यस्य विपर्ययज्ञानं स विपरीतः, यस्य न संशयो न विपर्ययः किन्तु स्वज्ञानमात्रं सोऽव्युत्पन्नः, त्रयोऽपि ते प्रतिपादनार्हाः, तत्त्वप्रतीतिविरहात् ।**

यो यानि पदानि समुदितानि प्रयुङ्क्ते, स तत्पदार्थसंसर्गप्रतिपादनाभिप्रायवानिति सामान्येन स्वात्मनि नियमे प्रतीते पश्चात् पदसमूहप्रयोगाद् वक्तुस्तत्पदार्थसंसर्गप्रतिपादनाभिप्रायावगतिद्वारेण पदेभ्यो वाक्यार्थानुमानं न तु पदार्थेभ्यस्तत्प्रतीतिः । न हि पदार्थो नाम प्रमाणान्तरमस्ति मीमांसकानाम् । नापि वाक्यार्थप्रतिपादनाय पदैः प्रत्येकमभिधीयमानानां पदार्थानां वाक्यार्थप्रतिपादन-

दो ही अवयव मानते हैं । अन्य सम्प्रदाय के लोग तीन अवयव मानते हैं । इन दोनों मतों का खण्डन करने के लिए ही 'एवकार' से युक्त 'पञ्चावयवेनैव' यह वाक्य लिखा गया है । प्रतिपादन के लिए अभिप्रेत अर्थ में जिसे संशय रहता है, वही पुरुष प्रकृत में 'संशयित' शब्द का अर्थ है । एवं जिसे उक्त अर्थ का विपर्यय रहता है, वही व्यक्ति विपरीत (या 'विपर्यस्त' शब्द का अर्थ) है । जिस पुरुष को प्रकृत अर्थ का न संशय ही है, न विपर्यय ही, केवल स्वज्ञान ही है, वही पुरुष प्रकृत में अव्युत्पन्न शब्द का अर्थ है । इन तीन प्रकार के पुरुषों को ही विषयों का समझना उचित है; क्योंकि इन्हें साध्य का तत्त्व ज्ञात नहीं रहता है ।

'जो पुरुष जिन अनेक पदों का साथ-साथ प्रयोग करता है, उसका यह अभिप्राय भी अवश्य ही रहता है कि उनमें से प्रत्येक पद का अर्थ परस्पर सम्बद्ध होकर ज्ञात हो । अपने स्वयं इस नियम को समझने के बाद ही पदसमूह (रूप) वाक्य के प्रयोग से वक्ता का यह अभिप्राय ज्ञात होता है कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद के अर्थ परस्पर सम्बद्ध होकर ज्ञात हों । वक्ता के इस अभिप्रायविषयक ज्ञान के द्वारा पदों से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, पद के अर्थों से वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती है; क्योंकि मीमांसकों के मत में भी पदार्थ नाम का कोई प्रमाण नहीं है। यह कहना भी सम्भव नहीं है कि (प्र.) वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद के द्वारा उपस्थित सभी

न्यायकन्दली

शक्तिराविर्भवति, प्रमेयप्रतीतिमात्रव्यापारस्य प्रमाणस्य प्रमेयशक्त्याधायकत्वाभावात्। तस्मात् पदार्था वाक्यार्थं प्रतिपादयन्तो लिङ्गत्वेन वा प्रतिपादयेयुरन्यथानुपपत्त्या वा, उभयथाऽप्यशाब्दो वाक्यार्थः स्यात्।

ननु किं पदानि प्रत्येकमेकैकमर्थं प्रतिपादयन्ति वाक्यार्थस्य लिङ्गम् ? किं वा परस्परान्वितं स्वार्थं बोधयन्ति ? अत्रैके तावदाहुः—व्युत्पत्त्यपेक्षया पदानामर्थप्रतिपादनम्। व्युत्पत्तिश्च गामानय गां बधानेत्यादिषु वृद्धव्यवहारेषु क्रियान्वितेषु कारकेषु, कारकान्वितायां वा क्रियायाम्, न स्वरूपमात्रे। अतः परस्परान्विता एव पदार्थाः पदैः प्रतिपाद्यन्त इति।

अत्र निरूप्यते—यदि गामानयेत्यादिवाक्ये गामिति पदेनैवानयेत्यर्थान्वितः स्वार्थोऽभिहितस्तदानयेतिपदं व्यर्थम्, उक्तार्थत्वात्। आनयेतिपदेनानयनार्थेऽभिहिते सत्यानयेत्यर्थान्वितः स्वार्थो गोपदेनाभिधीयते, तेनानयेति पदस्य

अर्थों में उन पदों से वाक्यार्थविषयक विशिष्ट बोध के लिए एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। (उ.) क्योंकि प्रमाण का इतना ही काम है कि वह प्रमेय के ज्ञान को उत्पन्न करे, उसमें यह सामार्थ्य नहीं है कि प्रमेय में अपने ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति को भी उत्पन्न करे। तस्मात् पदों के अर्थ लिङ्ग बनकर वाक्यार्थ का प्रतिपादन करें या अन्यथानुपपत्ति के द्वारा दोनों ही प्रकार से यह निश्चित है कि (इस पक्ष में) शब्द के द्वारा वाक्यार्थ की उपस्थिति नहीं मानी जा सकती।

(प्र.) (वाक्य में प्रयुक्त) प्रत्येक पद अलग-अलग अपने-अपने अर्थों का प्रतिपादन करते हुए वाक्यार्थ के ज्ञापक हेतु हैं ? अथवा वे पद परस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थविषयक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं ? इस प्रसङ्ग में एक सम्प्रदाय के (अन्विताभिधानवादी) लोगों का कहना है कि व्युत्पत्ति (शक्ति या अभिधावृत्ति) के सहारे ही पदों से अर्थ का प्रतिपादन होता है। यह व्युत्पत्ति 'गामानय, गां बन्धय' इत्यादि स्थलों में वृद्धों के व्यवहार से गृहीत होती देखी जाती है। वृद्ध के इन व्यवहारों से क्रियाओं के साथ अन्वित कारकों में या कारकों के साथ अन्वित क्रियाओं में ही पदों की शक्ति (व्युत्पत्ति) गृहीत होती है, केवल कारकों में या केवल क्रियाओं में नहीं। अतः परस्पर अन्वित अर्थ ही पदों के द्वारा प्रतिपादित होते हैं। (अर्थात् इतरान्वित स्वार्थ में ही पदों की शक्ति है, केवल स्वार्थ में नहीं)।

इस प्रसङ्ग में हम (अभिहितान्वयवादी) लोग यह विचार करते हैं कि यदि 'गामानय' इस वाक्य में प्रयुक्त केवल 'गाम्' यह पद ही आनयन रूप अर्थ में अन्वित गो रूप अपने अर्थ को समझाता है, तो फिर 'आनय' पद के प्रयोग का क्या प्रयोजन ? उसका आनयन रूप अर्थ तो 'गाम्' पद से ही कथित हो जाता है। (प्र.) 'आनय' पद से आनयन रूप अर्थ के कथित होने के बाद ही आनयन रूप अर्थ में अन्वित गो रूप के स्वार्थ का प्रतिपादन 'गो' शब्द से होता है, अतः उक्त वाक्य में 'आनय'

न्यायकन्दली

न वैयर्थ्यमिति चेत् ? तर्ह्यानयेति पदं केवलं स्वार्थमात्रमाचक्षाणमनन्विताभिधायि प्राप्तम् । यथा चेदमनन्वितार्थं तथा पदान्तरमपि स्यादिति दत्तजलाञ्जलिरन्विताभिधानवादः । यदानयेति पदेनापि पूर्वपदाभिहितेनार्थेनान्वितः स्वार्थोऽभिधीयते, तदा यावत् पूर्वपदं स्वार्थं नाभिधत्ते तावदुत्तरपदस्य पूर्वपदार्थान्वितस्वार्थाभिधानं नास्ति । यावच्चोत्तरपदं स्वार्थं नाभिधत्ते, तावत् पूर्वपदस्योत्तरपदार्थान्वितस्वार्थप्रतिपादनं न भवतीत्यन्योन्याश्रयत्वम् । अथ मन्यसे— प्रथमं पदानि केवलं पदार्थं स्मारयन्ति, पश्चादितरेतरस्मारितेनार्थेनान्वितं स्वार्थमभिदधतीति, ततो नेतरेतराश्रयत्वम् । तदप्यसारम्, सर्वदैव हि पदान्यन्वितेन पदार्थेन सह गृहीतसाहचर्याणि नानन्वितं केवलं पदार्थमात्रं स्मारयितुमीशते, यथानुभवं स्मरणस्य प्रवृत्तेः । वृद्धव्यवहारेष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां गो-

पद का प्रयोग व्यर्थ नहीं है । (उ.) तो फिर इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'आनय' पद से (दूसरे अर्थ में अनन्वित) केवल 'आनयन' रूप स्वार्थ का ही बोध होता है । अतः यह कहना सुलभ हो जाएगा कि जिस प्रकार 'आनय' पद से केवल (इतरानन्वित) स्वार्थ का बोध होता है, उसी प्रकार गो प्रभृति अन्य पदों से भी केवल स्वार्थ का बोध हो सकता है, इस प्रकार तो अन्विताभिधान को जलाञ्जलि ही मिल जाएगी । इस पर यदि यह कहें कि (प्र.) पूर्वपद (गाम् इस पद) से अभिहित अर्थ के साथ अन्वित ही आनयन रूप अर्थ का अभिधान आनयन पद से होता है । (उ.) तो यह भी मानना पड़ेगा कि जब तक 'आनय' रूप उत्तर पद से आनयन रूप अर्थ का अभिधान नहीं होता है, तब तक 'गाम्' इस पूर्वपद से उत्तरपद के अर्थ में अन्वित स्वार्थ का बोध नहीं हो सकता । इस प्रकार इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है ।

यदि यह मानते हों कि (प्र.) पहले पदों से उनके केवल (इतरानन्वित) अर्थों का ही स्मरण होता है, उसके बाद स्मरण किये गये अर्थों में से एक-दूसरे के साथ अन्वित अपने अर्थ का प्रतिपादन पद ही करते हैं । अतः उक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं है । (उ.) इस उत्तर में भी कुछ सार नहीं है; क्योंकि (आपके मत से) दूसरे अर्थ के साथ अनन्वित केवल अपने अर्थ का पद से स्मरण हो ही नहीं सकता; क्योंकि दूसरे पदों के अर्थों के साथ अन्वित अपने अर्थों के साथ ही सभी पदों का सामानाधिकरण्य गृहीत है । एवं अनुभव के अनुरूप ही स्मृति की उत्पत्ति होती है । (प्र.) (इतरान्वित अर्थ में शक्ति मानने पर भी) पदों से (इतरानन्वित) केवल अर्थ का स्मरण हो सकता है; क्योंकि वृद्धों के व्यवहारों के द्वारा गो शब्द का ककुदादि से युक्त अर्थों के साथ ही अन्वय और व्यतिरेक गृहीत है, उसके साथ अन्वित होनेवाले आनयनादि क्रियाओं के साथ या दण्डादि करणों के साथ नहीं; क्योंकि ककुदादि से युक्त अर्थ में ही उन क्रियाओं या करणादि के न रहनेपर भी (दूसरी क्रियाओं या करणादि

न्यायकन्दली

शब्दस्य ककुदादिमदर्थे नियमो गृहीतो न क्रियाकरणादिष्विति तेषां प्रत्येकं व्यभिचारेऽपि गोशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् । तेनायं गोशब्दः श्रूयमाणोऽभ्यासपाटवाद-व्यभिचरितसाहचर्यं ककुदादिमदर्थमात्रं स्मारयति, न क्रियाकरणादीनीति चेत्? एवं तर्हि यस्य शब्दस्य यत्रार्थे साहचर्यनियमो गृह्यते तत्रैव तस्याभिधायकत्वं नान्यत्रेत्यनन्विताभिधानेऽपि समानम् । न च स्मरणमनुमानवत् साह-चर्यनियममपेक्ष्य प्रवर्तत इत्यपि सुप्रतीतम्, तद्धि संस्कारमात्रनिबन्धनं प्रति-योगिमात्रदर्शनादपि भवति । तथा हि—धूमदर्शनादग्निरिव रसवत्यादिप्रदेशोऽपि स्मर्यते, तद् यदि गोशब्दः सहभावप्रतीतिमात्रेणैव गोपिण्डं स्मारयति, गोपिण्ड-प्रतियोगिनोऽपि पदार्थान् कदाचित् स्मारयेत् । नियमेन तु गोपिण्डमेव स्मार-यंस्तद्विषयं वाचकत्वमेवावलम्बते, तथासत्येव नियमसम्भवात् । किञ्च यथा वाक्ये पदानामन्विताभिधानं तथा पदेऽपि प्रकृतिप्रत्यययोरन्विताभिधानमिच्छन्ति

के साथ अन्वित होनेवाले) ककुदादि से युक्त अर्थ को समझाने के लिए गो शब्द का प्रयोग देखा जाता है । इस प्रकार सुना गया यह गो शब्द बार-बार प्रयुक्त होने से प्राप्त पटुता के कारण ककुदादि से युक्त जिस अर्थ के साथ उसका व्यभिचार कभी उपलब्ध नहीं होता है, केवल उसी अर्थ का स्मरण करा सकता है, क्रियाओं का या करणादि अर्थों का नहीं; क्योंकि उनके साथ गो शब्द का कभी प्रयोग होता है, कभी नहीं । (उ.) तब तो समान रूप से अनन्विताभिधानवादी की ही तरह यह कहिए कि "जिस अर्थ को समझाने के लिए जिस शब्द का प्रयोग नियम से होता है, केवल उसी अर्थ में उस शब्द की शक्ति है" । दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार अनुमान के द्वारा उसी अर्थ का ग्रहण होता है, जिसका साहचर्य हेतु में नियमतः गृहीत होता है । उस प्रकार स्मृति को साहचर्य नियम की अपेक्षा नहीं होती है; क्योंकि वह तो केवल संस्कार से उत्पन्न होनेवाली वस्तु है, अतः साहचर्य के किसी एक सम्बन्धी को देखने पर भी उत्पन्न हो सकती है । जैसे कि धूम के देखने से वह्नि का स्मरण होता है, उसी तरह वह्नि के आश्रय महानसादि प्रदेशों का भी स्मरण होता है । इस प्रकार गो शब्द से ककुदादि से युक्त गो रूप अर्थ का स्मरण यदि इसलिए मानेंगे कि गो शब्द का सामानाधिकरण्य उक्त गो रूप अर्थ के साथ है, तो फिर गो शब्द से कदाचित् (वह्नि के आश्रयीभूत महानसादि की तरह) गो के आश्रयीभूत गोष्ठादि का भी स्मरण हो सकता है । गो पद से नियमतः गोपिण्ड का ही स्मरण हो, इसके लिए किसी भी दूसरी रीति से गो पिण्ड में गो शब्द की शक्ति को ही हेतु मानना पड़ेगा; क्योंकि उस नियम की उपपत्ति किसी दूसरी रीति से सम्भव नहीं है । दूसरी यह भी बात है कि जिस प्रकार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद की शक्ति दूसरे अर्थ में अन्वित स्वार्थ में ही मानने की इच्छा आप लोगों की है, उसी प्रकार यह भी आप लोगों का अभिप्रेत होगा कि पद के शरीर में प्रयुक्त होनेवाले प्रकृति और प्रत्यय रूप दोनों अंशों में से प्रत्येक

न्यायकन्दली

भवन्तः, ताभ्यां चेत् परस्परान्वितः स्वार्थोऽभिहितः कस्तदन्यः पदार्थो यः पदेन पश्चात् स्मर्यते ? तदेतदास्तां नग्नाटकपक्षपतितं वचः ।

प्रकृतमनुसरामः—अस्त्वेवं पदानामर्थप्रतिपादनम्, इदं तु न सङ्गच्छते परार्थानुमानमिति । लिङ्गं तज्जनितं वा ज्ञानमनुमानम् । न च लिङ्गस्य ज्ञानस्य च परार्थत्वम् । अनुमानवाचकस्य शब्दस्य परार्थत्वादनुमानं परार्थमुच्यते चेत् प्रत्यक्षवाचकस्यापि शब्दस्य परार्थत्वात् प्रत्यक्षमपि परार्थमुच्येत ? तदुक्तम्—

ज्ञानाद् वा ज्ञानहेतोर्वा नान्यस्यास्त्यनुमानता ।
तयोश्च न परार्थत्वं प्रसिद्धं लोकवेदयोः ॥
वचनस्य परार्थत्वादनुमानपरार्थता ।
प्रत्यक्षस्यापि पारार्थ्यं तद्द्वारं किं न कल्प्यते ॥ इति ।

दूसरे अर्थ के साथ अन्वित ही अपने स्वार्थ का अभिधायक होगा । यदि प्रकृति और प्रत्यय ये दोनों ही एक-दूसरे के साथ अन्वित अपने अर्थ का प्रतिपादन कर ही देते हैं, तो फिर कौन-सा विलक्षण अर्थ समझने को अवशिष्ट रहता है, जिसका स्मरण पीछे पद के द्वारा होता है ? व्यर्थ बातों की यह प्रक्रिया अब यहीं तक रहे ।

अब फिर प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं । (प्र.) मान लिया कि पदों से अर्थों का प्रतिपादन उसी (अभिहितान्वयवादियों की) रीति से होता है; किन्तु यह समझ में नहीं आता कि अनुमान 'परार्थ' किस प्रकार है ? क्योंकि हेतु या पञ्चावयववाक्य जनित हेतु का ज्ञान इन दोनो में से ही कोई 'अनुमान' है । इनमें से न लिङ्ग ही परार्थ है, न लिङ्ग का ज्ञान ही । यदि यह कहें कि (उ.) उक्त लिङ्ग या लिङ्ग ज्ञान के वाचक (पञ्चावयव के) शब्द चूँकि परार्थ हैं (अर्थात् दूसरे को समझाने के लिए प्रयुक्त होते हैं), अतः हेतु या हेतुज्ञान रूप अनुमान को भी परार्थ कहा जाता है । (प्र.) तो फिर प्रत्यक्ष के अभिधायक शब्द का भी प्रयोग तो दूसरे को समझाने के लिए ही किया जाता है । अतः प्रत्यक्ष भी 'परार्थ' होगा । जैसा कहा गया है कि—

(१) हेतु का ज्ञान या हेतु इन दोनों से भिन्न कोई अनुमान नहीं हो सकता । इन दोनों की परार्थता न लोक में प्रसिद्ध है, न वेद में ही ।

(२) यदि हेतु के ज्ञापक या हेतु ज्ञान के अभिलापक वाक्य दूसरों को समझाने के लिए प्रयुक्त होते हैं, इस हेतु से लिङ्ग या लिङ्गज्ञान रूप अनुमान परार्थ हैं, तो फिर प्रत्यक्ष प्रमाण के बोधक वाक्य भी तो दूसरों को समझाने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, इस हेतु से (अनुमान की तरह) प्रत्यक्ष को भी परार्थ क्यों नहीं मानते ?

प्रशस्तपादभाष्यम्

अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः ।

ये अवयव १. प्रतिज्ञा, २. अपदेश (हेतु), ३. निदर्शन (उदाहरण), ४. अनुसन्धान (उपनय) और ५. प्रत्याम्नाय (निगमन) भेद से पाँच प्रकार के हैं ।

न्यायकन्दली

अत्र समाधिः—न शब्दस्य परार्थत्वात् तद्द्वारमनुमानपारार्थ्यमिति वदामः, अपि तु यत् परार्थं पञ्चावयवं वाक्यं तल्लिङ्गप्रतीतिद्वारेणानुमितिहेतुत्वादनुमानमिति ब्रूमः । नन्वेवमपि लिङ्गप्रतिपादकस्य प्रत्यक्षस्यानुमानतावतारप्रसङ्गः ? न प्रसङ्गस्तत्र लौकिकशब्दप्रयोगाभावात् ।

पञ्चावयवं वाक्यमित्युक्तम् । के पुनस्ते पञ्चावयवाः ? तत्राह— अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः । **पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारे, तत्र तेषां मध्येऽनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा । एतत् स्वयमेव विवृणोति**—प्रतिपिपादयिषितेत्यादिना । **प्रतिपादयितुमिष्टो यो धर्मस्तेन**

(उ.) इस प्रसङ्ग में हम लोगों का यह समाधान है कि इस युक्ति से हम अनुमान को परार्थ नहीं मानते कि सामान्यतः सभी शब्द दूसरों को समझाने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, अतः अपने उपस्थापक या ज्ञापक पञ्चावयववाक्य रूप शब्द के द्वारा हेतु वा हेतु ज्ञान रूप अनुमान भी परार्थ है; किन्तु (हम लोगों का यह कहना है कि) चूँकि परार्थ (दूसरों को समझाने के लिए प्रयुक्त) जो पञ्चावयव वाक्य वह अपने द्वारा उपस्थित उपयुक्त हेतु के द्वारा या अपने से उत्पन्न हेतु के ज्ञान द्वारा ही अनुमिति का कारण है, अतः अनुमान परार्थ है । (प्र.) इस प्रकार तो जहाँ हेतु का ज्ञान प्रत्यक्ष के ज्ञापक शब्द के द्वारा उत्पन्न होगा, वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण भी (परार्थ) अनुमान होगा ? (उ.) यह आपत्ति नहीं है; क्योंकि ऐसे स्थलों में कहीं भी शब्दों का प्रयोग लोक में नहीं देखा जाता है ।

यह कहा गया है कि परार्थानुमान के उत्पादक महावाक्य के पाँच अवयव हैं; किन्तु वे पाँच अवयव कौन्-कौन हैं ? इस प्रश्न का समाधान 'अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः' इस वाक्य के द्वारा किया गया है । इस वाक्य में 'पुनः' शब्द का प्रयोग केवल वाक्य को अलङ्कृत करने के लिए है । 'तत्र' अर्थात् उन पाँचों अवयवों में प्रतिज्ञा का यह लक्षण किया गया है, 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा' । 'प्रतिपिपादयिषित' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा प्रतिज्ञा के उस (अपने) लक्षण वाक्य की ही

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा । प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा ।

इनमें 'अनुमेय' का अर्थात् अनुमान के लिए अभिप्रेत विषय का प्रतिपादक वह वाक्य ही 'प्रतिज्ञा' है, जिसका और किसी भी प्रमाण से विरोध न रहे । (विशदार्थ यह है कि) जिस धर्म (साध्य) का प्रतिपादन पक्ष में अभिप्रेत हो उस धर्म (साध्य) से युक्त धर्मी (पक्ष) ही अनुमेय है। (साध्य से युक्त उस) धर्मी (पक्ष) में हेतु के सम्बन्ध को दिखलाने के लिए प्रयुक्त (साध्य से युक्त पक्ष का बोधक) वाक्य ही 'प्रतिज्ञा' है ।

न्यायकन्दली

विशिष्टो धर्मी अनुमेयः पक्ष इति कथ्यते । तस्य यदुद्देशमात्रं सङ्कीर्तनमात्रं साधनरहितं सा प्रतिज्ञेति । यथोपदिशन्ति सन्तः —

"वचनस्य प्रतिज्ञात्वं तदर्थस्य च पक्षता" इति ।

यदि हेतुरहितमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा नैव तस्याः साध्यसिद्धिरस्तीति असाधनाङ्गत्वान्न प्रयोगमर्हति । यथा वदन्ति तथागताः —

शक्तस्य सूचकं हेतुर्वचोऽशक्तमपि स्वयम् ।
साध्याभिधानात् पक्षोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम् ॥ इति ।

तत्राह—अपदेशविषयमापादयितुमिति । **अपदेशो हेतुस्तस्य विषयमाश्रयमापादयितुं प्रतिपादयितुं प्रतिज्ञाने**[1] **, (न) खलु यत्र क्वचन साध्यसाधनाय**

व्याख्या भाष्यकार स्वयं करते हैं । जिस धर्म (वस्तु) का प्रतिपादन (पञ्चावयव वाक्य के प्रयोक्ता को) अभिप्रेत हो उस धर्म से युक्त धर्मी ही 'अनुमेय' या 'पक्ष' कहलाता है । उसका जो 'उद्देशमात्र' केवल कथन अर्थात् हेतु वाक्य के सान्निध्य से रहित वाक्य का प्रयोग ही 'प्रतिज्ञा' है । जैसा कि विद्वानों का कहना है कि "उक्त वाक्य ही प्रतिज्ञा है और प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा कथित अर्थ ही पक्ष है" ।

(प्र.) यदि हेतु वाक्य से सर्वथा असम्बद्ध केवल पक्ष का बोधक वाक्य ही प्रतिज्ञा है, तो फिर साध्य-सिद्धि का उपयोगी अङ्ग न होने से उसका प्रयोग ही उचित नहीं है । जैसा कि तथागत के अनुयायियों का कहना है कि–हेतु ही साध्य का ज्ञापक है । (केवल प्रतिज्ञारूप) वचन में साध्य को समझाने का सामर्थ्य नहीं है, अतः परम्परा से साध्य को उपस्थित करने के कारण भी प्रतिज्ञा अनुमान का अङ्ग नहीं है । इसी आक्षेप के समाधान के लिए 'अपदेशविषयमापादयितुम्' यह वाक्य लिखा गया है । 'अपदेश' शब्द का अर्थ है 'हेतु', उसका 'विषय', अर्थात् आश्रय के 'आपादन' के लिए

---

1. मुद्रित पुस्तक में यहाँ न्यायकन्दली का पाठ है–'अपदेशी हेतुः, तस्य विषयमाश्रयमापादयितुं प्रतिज्ञाने यत्र क्वचन साध्यसाधनाय हेतुः प्रयुज्यते तस्य सिद्धत्वात्, अपि च कस्मिंश्चिद्धर्मिणि प्रतिनियते" । इसमें 'यत्र क्वचन' इत्यादि उत्तर वाक्य में

न्यायकन्दली

हेतुः प्रयुज्यते, तस्य सिद्धत्वात्; अपि तु कस्मिंश्चिद्धर्मिणि प्रतिनियते, तस्मिन्ननुपन्यस्यमाने निराश्रयो हेतुर्न प्रवर्तेत । तस्याप्रवृत्तौ न साध्यसिद्धिरतः प्रतिज्ञया धर्मिग्राहकं प्रमाणमुपदर्शयन्त्या हेतोराश्रयो धर्मी सन्निधाप्यते, इत्याश्रयोपदर्शनद्वारेण हेतुं प्रवर्तयन्ती प्रतिज्ञा साध्यसिद्धेरङ्गम् । तथा च न्यायभाष्यम्–"असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्तेरन्" इति । उपनयादेव हेतोराश्रयः प्रतीयत इति चेत्, न, असति प्रतिज्ञावचने तस्याप्यप्रवृत्तेः । उपनयः साधनस्य पक्षधर्मतालक्षणं सामर्थ्यमुपदर्शयति । न प्रत्येतुः प्रथममेव साधनं प्रत्याकाङ्क्षा, किन्तु साध्ये, तस्य प्रधानत्वात् । आकाङ्क्षिते साध्ये

अर्थात् प्रतिपादन के लिए ही प्रतिज्ञा वाक्य का उपयोग है । अभिप्राय यह है कि जिस किसी आश्रय में साध्य के साधन के लिए हेतु का प्रयोग नहीं होता; क्योंकि सामान्यतः किसी स्थान में साध्य तो सिद्ध है ही, अतः किसी विशेष धर्मी में साध्यसिद्धि के लिए ही हेतु का प्रयोग होता है । (जहाँ पहले से साध्य सिद्ध नहीं है और वहाँ साध्य का साधन इष्ट है) वह (विशेष प्रकार का धर्मी) यदि प्रतिपादित न हो तो फिर बिना आश्रय (विषय) के होने के कारण हेतु की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । हेतु की प्रवृत्ति के बिना साध्य की सिद्धि भी न हो सकेगी । अतः प्रतिज्ञा पक्षरूप धर्मी के ज्ञापक प्रमाण को उपस्थित करती हुई हेतु के आश्रयरूप धर्मी को उसके समीप ले आती है । इस आश्रय के प्रदर्शन के द्वारा ही हेतु की प्रवृत्ति में निमित्त होने के कारण प्रतिज्ञा भी साध्य-सिद्धि का उपयोगी अङ्ग है । जैसा कि न्यायभाष्यकार ने कहा है कि 'यदि प्रतिज्ञा न रहे तो फिर हेतु प्रभृति अवयवों की प्रवृत्ति ही न हो सकेगी' (प्र.) उपनय से ही हेतु के उस आश्रय (विषय) की प्रतीति होगी ? (उ.) प्रतिज्ञा के न रहने पर उपनय की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि हेतु के पक्षधर्मता-रूप सामर्थ्य का प्रदर्शन ही उपनय का काम है; किन्तु साध्य के प्रधान होने के कारण ज्ञाता पुरुष को पहले साध्य के प्रसङ्ग में ही जिज्ञासा होती है, साधन के सामर्थ्य के प्रसङ्ग में नहीं ।

एक 'न'-कार का रहना आवश्यक है । एवं पूर्ववाक्य के अन्त में भी 'प्रतिज्ञाया उपयोगः' इस अर्थ को समझाने के लिए भी कोई शब्द चाहिए । प्रकृत ग्रन्थ में जो 'प्रतिज्ञाने' शब्द है, उसका भी कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता है । अतः यह तय करना पड़ा कि 'प्रतिज्ञाने' इस पद में 'ए'कार प्रमाद से लिखा गया है । अवशिष्ट 'प्रतिज्ञान' भी एक शब्द नहीं है; किन्तु 'प्रतिज्ञा' और 'न' ये दो अलग शब्द हैं । जिनमें पहला पहले वाक्य के अन्त में और दूसरा दूसरे वाक्य के आदि में मान लिया गया है । तदनुसार प्रकृत पाठ इस प्रकार निष्पन्न होता है– 'अपदेशो हेतुः, तस्य विषयमाश्रयमापादयितुं प्रतिज्ञा । न खलु यत्र क्वचन साध्यसाधनाय हेतुः प्रयुज्यते, तस्य सिद्धत्वात् । अपि तु कस्मिंश्चिद्धर्मिणि प्रतिनियते" । इसी पाठ के अनुसार अनुवाद किया गया है ।

न्यायकन्दली

तत्सिद्ध्यर्थं पश्चात् साधनमाकाङ्क्षते तदनु साधनसामर्थ्यमिति प्रथमं साध्यवचनमेवोपतिष्ठते, न पुनरग्रत एव साधनसामर्थ्यमुच्यते, तस्य तदानीमनपेक्षितत्वात् ।

प्रतिपिपादयिषितेन धर्मेण विशिष्टो धर्मीति विप्रतिषिद्धमिदम्, अप्रतीतस्याविशेषकत्वादिति चेत् ? सत्यम्, अप्रतीतं विशेषणं न भवति, प्रतीतस्तु साध्यो धर्मः सपक्षे विप्रतिपन्नं प्रति ज्ञापनाय धर्मिविशेषणतया प्रतिज्ञायते । अत एव धर्मिणः पक्षता वास्तवी, तस्य स्वरूपेण सिद्धस्यापि प्रतिपाद्यधर्मविशिष्टत्वेनाप्रसिद्धस्य तेन रूपेण आपाद्यमानत्वसम्भवात् । पक्षधर्मतापि हेतोरित्थमेव, यदि केवलमेवानित्यत्वं साध्यते, भवेच्छब्दधर्मस्य कृतकत्वस्यापक्षधर्मता, शब्द एव त्वनित्ये साध्ये नायं दोषः । यथाहुराचार्याः –

साध्य की आकाङ्क्षा निवृत्त हो जाने पर फिर साध्य की सिद्धि के लिए साधन और उसके प्रसङ्ग में आकाङ्क्षा जागती है, बाद में साधन के (पक्षधर्मतादि) सामर्थ्य के प्रसङ्ग में आकाङ्क्षा उठती है । अतः पहले प्रतिज्ञारूप साध्य वचन की ही उपस्थिति उचित होती है । यह नहीं होता कि पहले (उपनय के द्वारा) साधन के सामर्थ्य का ही प्रदर्शन हो; क्योंकि उस समय उसकी अपेक्षा ही नहीं है ।

(प्र.) धर्मी का यह लक्षण ठीक नहीं मालूम पड़ता कि जिस धर्म का प्रतिपादन इष्ट हो, उस धर्मरूप विशेषण से युक्त ही 'धर्मी' (या पक्ष) है; क्योंकि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं कि एक ही वस्तु प्रतिपादन के लिए अभीष्ट भी हो एवं वही (अप्रतिपादित) वस्तु विशेषण भी हो; क्योंकि विशेषण के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले से ज्ञात हो (पहले से ज्ञात वस्तु कभी प्रतिपाद्य नहीं हो सकती)। (उ.) यह ठीक है कि विशेषण को (स्व से युक्त धर्मी के ज्ञान से) पहले ज्ञात होना ही चाहिए; किन्तु प्रकृत में भी तो साध्यरूप धर्म पहले से सपक्ष (दृष्टान्त) में ज्ञात ही रहता है । सपक्ष में ज्ञात साध्य के प्रसङ्ग में जिस पुरुष को पक्ष में विप्रतिपत्ति है उसे समझाने के लिए ही साध्यरूप विशेषण से युक्त धर्मी का निर्देश प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा किया जाता है । चूँकि (पर्वतत्वादि) अपने स्वरूप से सिद्ध रहने पर भी प्रतिपाद्य (वह्नि प्रभृति) साध्यरूप धर्म से युक्त होकर वह पहले से प्रसिद्ध नहीं है, अतः उस रूप से पक्ष का प्रतिपादन सम्भव है । इसी कारण धर्मी का पक्ष होना (धर्मी की पक्षता) वास्तविक है (काल्पनिक नहीं) । इसी प्रकार हेतु की पक्षधर्मता भी ठीक ही है; क्योंकि ('शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटादिवत् इत्यादि स्थलों में) यदि केवल अनित्यत्व का ही साधन करें तो शब्द में रेहनेवाले कृतकत्व में पक्षधर्मता नहीं रह सकेगी; किन्तु अनित्यत्व से युक्त को ही यदि साध्य मान लेते हैं, तो फिर उक्त (कृतकत्व हेतु में अपक्षधर्मत्वरूप) दोष की आपत्ति नहीं होती है । जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि–

न्यायकन्दली

स एव चोभयात्मायं गम्यो गमक एव च ।
असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धो न बोधकः ॥ इति ।

प्रतिज्ञाया उदाहरणमाह–द्रव्यं वायुरिति । **यो वायुं प्रतिपद्यमानोऽपि तस्य द्रव्यत्वं न प्रतिपद्यते, तं प्रति साधयितुमिष्टेन द्रव्यत्वेन विशिष्टस्य वायोरभिधानं प्रतिज्ञा क्रियते**– द्रव्यं वायुरिति । **अविरोधिग्रहणस्य तात्पर्यं कथयति**–अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्तीति । **वादिना साधयितुमभिप्रेतोऽर्थः साध्य इत्युच्यते । प्रत्यक्षादिविरुद्धोऽपि कदाचिदनेन भ्रमात् साधयितुमिष्यते, तद् यद्यविशेषेणानुमेयोद्देशः प्रतिज्ञेत्येतावन्मात्रमुच्यते, प्रत्यक्षादिविरुद्धमपि वचनं प्रतिज्ञा स्यात् । न चेयं प्रतिज्ञा, तदर्थस्य साधयितुमशक्यत्वात्, अतोऽविरोधिग्रहणं कृतम् । न विद्यते प्रत्यक्षादि-**

धर्मी के दो भेद हैं, पहला है साध्यरूप धर्म से युक्त, जो पक्ष कहलाता है । दूसरा है केवल धर्मी, जो 'धर्मी' ही कहलाता है । इनमें पहला (पहले से सिद्ध न होने के कारण) 'गम्य' है अर्थात् साध्य है । दूसरा 'गमक' अर्थात् (अपने ज्ञान के द्वारा अथवा पक्षधर्मता सम्पादन के द्वारा) 'गमक' अर्थात् साध्य ज्ञान का कारण है । अर्थात् धर्मी के दो स्वरूप हैं, एक साध्य से सम्बद्धवाला, दूसरा केवल अपने स्वरूपवाला, इनमें पहले स्वरूप से वह 'गम्य' अर्थात् साध्य है (क्योंकि उस रूप से पहले वह सिद्ध नहीं है), दूसरे स्वरूप से वह 'गमक' अर्थात् स्वज्ञान के द्वारा अथवा पक्षधर्मता सम्पादन के द्वारा साधक है ।

'द्रव्यं वायुः' इस वाक्य के द्वारा प्रतिज्ञा का उदाहरण कहा गया है । जो व्यक्ति वायु को समझता है; किन्तु उसे द्रव्य नहीं समझता, उसको वायु में द्रव्यत्व को समझाना अभिप्रेत है । उसके लिए द्रव्यत्व से युक्त वायु को समझाने के लिए 'द्रव्यं वायुः' ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है। 'अविरोधिग्रहणात्प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति' इस वाक्य के द्वारा (प्रतिज्ञा के लक्षण वाक्य में) 'अविरोधि' शब्द के प्रयोग का हेतु दिखलाया गया है । वादी को जिस वस्तु का साधन अभिप्रेत होता है, उसे 'साध्य' कहते हैं । ऐसे भी वादी हैं जो भ्रान्ति से वशीभूत होकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित अर्थों के साधन के लिए भी प्रवृत्त हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में यदि सामान्य रूप से 'अनुमेयोद्देशः प्रतिज्ञा' (अर्थात् अनुमेय के बोधक सभी वाक्य प्रतिज्ञा हैं) ऐसा ही प्रतिज्ञा का लक्षण किया जाय, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध ('वह्निरनुष्णः' इत्यादि) वाक्य भी प्रतिज्ञा हो जायेंगे; किन्तु उस प्रकार के वाक्य प्रतिज्ञा नहीं हैं; क्योंकि उनके द्वारा कथित विषय का साधन सम्भव नहीं है । अतः ऐसे वाक्यों में प्रतिज्ञात्व के निराकरण के लिए ही भाष्यकार ने प्रतिज्ञा लक्षण में 'अविरोधि'

प्रशस्तपादभाष्यम्

यथा द्रव्यं वायुरिति । अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्व-शास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति । यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्ष-

जैसे 'द्रव्यं वायुः' इत्यादि वाक्य । (प्रतिज्ञा के लक्षणवाक्य में) 'अविरोधि' पद के देने से १. प्रत्यक्षविरुद्ध, २. अनुमानविरुद्ध, ३.आगमविरुद्ध, ४.स्वशास्त्रविरोधी एवं ५. स्ववचनविरोधी उक्त प्रकार के वाक्यों में प्रतिज्ञा लक्षण की अतिव्याप्ति का निवारण होता है । (इनमें) प्रत्यक्षविरोधी वाक्य का उदाहरण है– 'अनुष्णोऽग्निः' ।

न्यायकन्दली

विरोधो यस्यानुमेयोद्देशस्य असावप्रत्यक्षादिविरोधस्तस्य वचनं प्रतिज्ञा, यस्य तद्विरोधोऽस्ति न सा प्रतिज्ञेत्यर्थः । किमनेनोक्तं भवति ? न वाद्यभिप्रायमात्रेण साध्यता; किन्तु यत् साधनमर्हति तत् साध्यम्, स एव पक्षस्तदितरः पक्षाभास इति ।

प्रत्यक्षादिविरोधोदाहरणं यथा–अनुष्णोऽग्निरिति ।**अनुष्ण इत्युष्णस्पर्शप्रतिषेधोऽयम्,। अवगतं च प्रतिषिध्यते नानवगतम् । न चोष्णत्वस्य वह्नेरन्यत्रोपलम्भसम्भवः, वह्नावपि तस्य प्रतीतिर्नानुमानिकी, प्रत्यक्षाभावे अनुमानस्याप्रवृत्तेः। प्रत्यक्षप्रतीतस्य च प्रतिषेधे**

पद का उपादान किया है । 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा' प्रतिज्ञा के इस लक्षण वाक्य में प्रयुक्त 'अविरोधि' पद का विवरण इस प्रकार है कि 'न विद्यते (प्रत्यक्षादि) विरोधो यस्यानुमेयोद्देशस्यासावप्रत्यक्षादिविरोधी, तस्य वचनं प्रतिज्ञा' । तदनुसार उक्त वाक्य का यह अर्थ है कि जिस 'अनुमेयोद्देश' में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध न रहे उसके बोधक वाक्य ही प्रतिज्ञा हैं । अर्थात् जिस अनुमेयोद्देश में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध रहे उसका बोधक वाक्य प्रतिज्ञा नहीं है । (प्र.) इससे क्या निष्पन्न हुआ ? (उ.) यही कि साधन के लिए वादी के अभिप्रेत होने से ही कोई विषय साध्य नहीं हो जाता । साध्य वही है जिसका साधन करना सम्भव हो, वही साध्य पक्ष भी है, तद्भिन्न को अर्थात् प्रत्यक्षादि विरोध के कारण जिसका साधन सम्भव न हो उसे 'पक्षाभास' कहते हैं ।

'अनुष्णो वह्निः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोधी प्रतिज्ञा-वाक्यों के उदाहरण दिखलाये गये हैं । प्रकृत में 'अनुष्ण' शब्द उष्ण स्पर्श के प्रतिषेध का बोधक है (उष्णस्पर्श विरोधी शीतस्पर्श का नहीं) । ज्ञात वस्तु का ही प्रतिषेध भी किया जाता है, अज्ञात वस्तु का नहीं ।एवं उष्णता की प्रतीति वह्नि को छोड़ और कहीं सम्भव नहीं है । वह्नि में उष्णता की प्रतीति अनुमान से तब तक नहीं हो सकती, जब तक वह्नि में उष्णता को प्रत्यक्षवेद्य न मान लिया जाय; क्योंकि बिना प्रत्यक्ष के अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है । प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होने योग्य वस्तु के प्रतिषेध के

न्यायकन्दली

प्रत्यक्षप्रामाण्याभ्युपगमेन प्रवर्तमानं प्रतिषेधानुमानं तद्विपरीतवृत्ति तेनैव बाध्यते, विषयापहारात् । को विषयस्यापहारः ? तद्विपरीतार्थप्रवेदनम्, तस्मिन् सत्यनुमानस्य किं भवति ? उत्पत्त्यभावः, प्रथमप्रवृत्तेनाबाधितविषयप्रत्यक्षेण वह्नेरुष्णत्वे प्रतिपादिते तत्प्रतीत्यवरुद्धे च तस्यानुष्णत्वप्रतीतिर्न भवति । हेतोरप्ययमेव बाधो यदयमनुष्णत्वप्रतिपादनाय प्रयुक्तः, तत्प्रतीतिं न करोति, प्रत्यक्षविरोधात् । यथोक्तम्—

वैपरीत्यपरिच्छेदे नावकाशः परस्य तु ।
मूले तस्य ह्यनुत्पन्ने पूर्वेण विषयो हृतः ॥ इति ।

बाधाविनाभावयोर्विरोधादविनाभूतस्य बाधानुपपत्तिरिति चेत् ? यदि त्रैरूप्यमविनाभावोऽभिमतः ? तदास्त्येवाविनाभूतस्य बाधः, यथानुष्णोऽग्निः

लिए उस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार कर ही लिया जाता है, अतः उक्त स्वीकृति से प्रवृत्त होनेवाले वह्नि में उष्णता के प्रतिषेध का अनुमान उस प्रत्यक्ष से ही बाधित हो जाता है, जो प्रकृत प्रतिषेध के विरोधी उष्णता का ज्ञापक है; क्योंकि इस प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान के विषयरूपी उष्णता के प्रतिषेध का अपहरण कर लिया जाता है । (प्र.) विषय का यह 'अपहरण' क्या वस्तु है ? (उ.) प्रकृत अनुमान के द्वारा ज्ञाप्य विषय के विरोधी विषय का ज्ञापन ही प्रकृत में विषय का अपहरण है । (प्र.) इस विषयापहरण से अनुमान के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है ? (उ.) यही कि उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो पाती; किन्तु उष्णता के बोधक प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति अनुष्णत्व के अनुमान से पहले होती है, उसका विषय उष्णत्व किसी दूसरे प्रमाण से बाधित भी नहीं है, अतः इस प्रत्यक्ष के द्वारा जब वह्नि में उष्णता की प्रतिपत्ति हो जाती है, उसके बाद उस प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात वह्नि में अनुष्णता की प्रतीति नहीं होती है । हेतु में बाध की प्रतीति का भी यही रहस्य है कि वह्नि में अनुष्णत्व को समझाने के लिए प्रयुक्त होने पर भी इस प्रत्यक्षविरोध के कारण वह्नि में उष्णता की प्रतीति का उत्पादन नहीं कर सकता ।

जैसा कहा गया है कि विपरीत (अभाव) विषयक निश्चय के उत्पन्न हो जाने पर उसके विरोधी के ज्ञान का अवकाश नहीं रह जाता, क्योंकि उसके उत्पन्न होने के पहले ही पहले के प्रमाण से उसके विषय का अपहरण हो जाता है ।

(प्र.) साध्य की व्याप्ति और साध्य का अभाव ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, अतः साध्य का व्याप्य हेतु कभी बाधित नहीं हो सकता । (उ.) व्याप्ति या अविनाभाव को यदि हेतु में (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन) तीनों रूपों का रहना समझें, तो फिर इन तीनों रूपों के रहने पर भी हेतु में 'बाध' रह ही सकता है; क्योंकि 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इस स्थल में कृतकत्व रूप हेतु में उक्त तीनों रूप हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

विरोधी, घनमम्बरमित्यनुमानविरोधी, ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागम-

अनुमानविरोधी प्रतिज्ञावाक्य का उदाहरण है– 'घनमम्बरम्' । 'ब्राह्मणेन सुरा पेया' यह वाक्य आगमप्रमाण से विरुद्ध है; वैशेषिकशास्त्र को मानने-

न्यायकन्दली

कृतकत्वादित्यस्यैव । अथाबाधितविषयत्वे सति त्रैरूप्यमविनाभाव इत्यभिप्रायेणोच्यते– अविनाभूतस्य नास्ति बाधेति, तदोमित्युच्यते: किन्त्वबाधितविषयत्वमेव रूपं कथयितुं प्रत्यक्षाद्यविरोधिग्रहणं कृतम् ।

प्रत्यक्षविरोधः किं पक्षस्य दोषः ? किं वा हेतोः ? न पक्षस्य, धर्मिणस्तादवस्थ्यात् । नापि हेतोः, स्वविषये तस्य सामर्थ्यात्, विषयान्तरे सर्वस्यैवासामर्थ्यात्; किन्तु प्रतिपादयितुरिदं दूषणम्, योऽविषये साधनं प्रयुङ्क्ते । यदि प्रतिज्ञातार्थप्रतीतियोग्यताविरहस्तत्प्रतिपादनम् ? योग्यताविरहश्च दूषणमभिमतम् ? तदा कर्मकरणयोरप्यस्ति दोषः ।

घनमम्बरमित्यनुमानविरोधी । **येन प्रमाणेनाकाशमवगतं तेनैवाकाशस्य नित्यत्वं निरवयवत्वं च प्रतिपादितम्, अतो निबिडावयवमम्बरमिति प्रतिज्ञा धर्मिग्राहकानुमानविरुद्धा ।**

(क्योंकि कृतकत्व वह्नि में है और वायु में भी है एवं आकाश में नहीं है) और अग्निरूप पक्ष में अनुष्णत्वरूप साध्य का अभाव स्वरूप बाध भी है । यदि जो हेतु बाधित न होकर पक्षसत्त्वादि तीनों रूपों से युक्त हो उस हेतु को ही साध्य का व्याप्य या अविनाभूत मानकर यह कहते हों कि व्याप्ति से युक्त हेतु कभी बाधित नहीं हो सकता, तो हम इसके उत्तर में 'हाँ' कहेंगे (अर्थात् इस प्रकार का हेतु कभी बाधित नहीं होता); किन्तु व्याप्ति के लिए जिस अबाधितत्व या अबाधितविषयत्व को आप प्रयोजक मानते हैं, हेतु में उस अबाधितविषयत्व की सत्ता की आवश्यकता को समझाने के लिए ही प्रतिज्ञा-लक्षण में 'अविरोधि' पद का उपादान किया गया है ।

यह 'प्रत्यक्ष विरोध' किसका दोष है ? पक्ष का या हेतु का ? पक्ष का दोष तो वह हो नहीं सकता; क्योंकि पक्ष तो ज्यों का त्यों रहता है । हेतु का भी वह दोष नहीं हो सकता; क्योंकि अपने (व्यापक) साध्य रूप विषय के ज्ञापन की क्षमता तो उसमें है ही ? दूसरे हेतु के साध्य को समझाने की क्षमता तो किसी भी हेतु में नहीं होती । अतः यह प्रत्यक्षादि विरोध रूप दोष वस्तुतः प्रयोग करनेवाले पुरुष का है, जो ऐसे साध्य के ज्ञापन के लिए ऐसे हेतु का प्रयोग करता है, जिस साध्य के ज्ञापन की क्षमता जिस हेतु में नहीं होती है ।

'घनमम्बरमित्यनुमानविरोधी' जिस प्रमाण से आकाश के अस्तित्व का ज्ञान होता है, उसी प्रमाण से उसमें नित्यत्व एवं अवयवशून्यत्व भी निश्चित है, अतः 'आकाश के अवयव घन हैं, अर्थात् परस्पर निबिड़ संयोग से युक्त हैं' यह प्रतिज्ञा आकाशरूप धर्मी के ज्ञापक अनुमान के ही विरुद्ध है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

विरोधी, वैशेषिकस्य सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी, न शब्दोऽर्थ-प्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी ।

वाले यदि 'सत्कार्यम्' इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करें तो वह स्वशास्त्र-विरोधी प्रतिज्ञा होगी । यदि कोई इस प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग करे कि 'शब्दो नार्थप्रत्यायकः', तो यह स्ववचनविरोधी प्रतिज्ञा होगी ।

न्यायकन्दली

ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागमविरोधी । **ब्राह्मणेन सुरा पीता पापसाधनं न भवतीति प्रतिज्ञार्थः । अत्र क्षीरमुदाहरणम्, क्षीरस्य च पापसाधनत्वाभावः श्रुतिस्मृत्यागमैकसम-धिगम्यः । येनैवागमेन क्षीरपानस्य पापसाधनत्वाभावः प्रतिपादितः, तैनैव सुरापानस्य पापसाधनत्वं प्रतिपादितमिति ब्राह्मणेन सुरा पेयेति प्रतिज्ञाया दृष्टान्तग्राहकप्रमाणविरोधः ।**

वैशेषिकस्यापि प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी । **वैशेषिको हि वैशेषिकशास्त्रप्रामाण्याभ्युपगमेन वादादिषु प्रवर्तते । तस्य 'प्रागुत्पादात् सत् कार्यम्' इति ब्रुवतः प्रतिज्ञायाः शास्त्रेण विरोधः, वैशेषिकशास्त्रे 'असदुत्पद्यते' इति प्रतिपादनात् ।**

शब्दो नार्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी । **यदि शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वं नास्ति, तदा 'शब्दो नार्थं प्रतिपादयति' इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनाय शब्दप्रयोगोऽनुपपन्नः ।**

'ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागमविरोधी' । 'ब्राह्मणेन सुरा पेया' इस प्रतिज्ञा वाक्य का यह अर्थ है कि ब्राह्मण के द्वारा पी गयी सुरा (मद्य) पाप का कारण नहीं होती । इसका उदाहरण है– (दूध (अर्थात् जिस प्रकार ब्राह्मण से पान किया गया दूध पाप का कारण नहीं है, उसी प्रकार ब्राह्मण से पान किया गया मद्य भी पाप का कारण नहीं है) । 'दूध स्वपान के द्वारा पाप का साधन नहीं है' यह केवल श्रुति एवं स्मृति रूप 'आगम प्रमाण' से ही समझा जा सकता है । आगम के द्वारा ही 'दूध का पीना पाप का कारण नहीं है' यह कहा गया है एवं आगम (शब्द) प्रमाण से ही यह निश्चित है कि 'सुरापान पाप का साधन है'। इस प्रकार 'ब्राह्मण को सुरापान करना चाहिए' यह प्रतिज्ञा दुग्धपान रूप अपने दृष्टान्त के ज्ञापक प्रमाण का विरोधी है ।

'वैशेषिकस्यापि प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी' वैशेषिकदर्शन के अनुयायी वैशेषिकदर्शनरूप शास्त्र को प्रमाण मानकर ही वादादि कथाओं में प्रवृत्त होते हैं । वे यदि इस प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करें कि 'कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले भी विद्यमान ही रहता है' तो उनकी यह प्रतिज्ञा वैशेषिकदर्शनरूप अपने शास्त्र के ही विरुद्ध होगी; क्योंकि वैशेषिकदर्शन में यह प्रतिपादन किया गया है कि 'पहले से अविद्यमान कार्य की ही उत्पत्ति होती है' ।

'शब्दो नार्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी' शब्द से यदि अर्थ का बोध ही नहीं होता है, तो फिर 'शब्द अर्थबोध का कारण नहीं है' इस अर्थ को समझाने के

न्यायकन्दली

अथैतदर्थः शब्दः प्रयुज्यते ? तदभ्युपगतं शब्दस्यार्थप्रतिपादकत्वमिति प्रतिज्ञायाः स्ववचनविरोधः ।

प्रत्यक्षानुमानावगतवस्तुतत्त्वान्वाख्यानं शास्त्रम् । तद्विरोधः प्रत्यक्षानुमानविरोध एव, तथा तद्भावभावित्वानुमानसमधिगम्यं शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वं प्रतिषेधयतोऽनुमानविरुद्धैव प्रतिज्ञा, कस्मात् स्वशास्त्रवचनविरोधयोः पृथगभिधानम् ? अत्रोच्यते—प्रमाणाभासमूलमपि शास्त्रं भवति शाक्यादीनाम्, अत्र बौद्धस्य 'सर्वमक्षणिकम्' इति प्रतिजानतः स्वशास्त्रविरोध एव, न प्रमाणविरोधः । स्ववचनम् (अपि) कदाचिदप्रमाणमूलमपि स्यात्, अतस्तद्विरोधो न प्रमाणविरोधः, किन्तु स्ववचनविरोध एव ।

लिए 'शब्दो नार्थप्रत्यायकः' इस वाक्य का भी प्रयोग करना उचित नहीं होगा । यदि उक्त अर्थ को समझाने के लिए उक्त वाक्य का प्रयोग वादी करते हैं, तो फिर वादी शब्द को अर्थबोध का कारण स्वयं मान ही लेते हैं । इस प्रकार उक्त प्रतिज्ञा स्ववचन-विरोधी है (क्योंकि वादी अपने अभीष्ट अर्थ को समझाने के लिए शब्दों का प्रयोग भी करें और शब्द को अर्थप्रत्यायक भी न मानें, ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं) ।

(प्र.) प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा निर्णीत तत्त्व का ही 'अन्वाख्यान' अर्थात् पश्चात् कथन तो 'शास्त्र' है, अतः शास्त्र का विरोध वस्तुतः प्रत्यक्ष और अनुमान का ही विरोध है । एवं शब्द में अर्थबोध की कारणता इस अनुमान के द्वारा ही निश्चित होती है कि "चूँकि शब्दप्रयोग के 'भाव' अर्थात् सत्ता के कारण ही अर्थबोध की सत्ता देखी जाती है, अतः 'शब्द ही अर्थ का बोधक है' सुतरां शब्द में अर्थबोध का निषेध करनेवाले पुरुष की 'शब्दो नार्थप्रत्यायकः' यह प्रतिज्ञा भी वस्तुतः अनुमान के ही विरुद्ध है" । (इस प्रकार स्वशास्त्रविरोध और स्ववचन-विरोध ये दोनों ही प्रत्यक्षविरोध या अनुमानविरोध में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं) उनका अलग से परिगणन क्यों ? (उ.) इस आक्षेप के उत्तर में हम लोग कहते हैं कि सभी शास्त्र प्रमाणमूलक ही नहीं होते, ऐसे भी शास्त्र हैं जिनका अनुमोदन प्रमाण से नहीं किया जा सकता, जैसे कि बौद्धों के आगम हैं । अतः बौद्ध यदि 'सभी वस्तुयें अक्षणिक हैं' इस आशय के प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोग करें तो वह प्रतिज्ञा प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के विरुद्ध नहीं होगी; किन्तु उसमें 'स्वशास्त्र-विरोध' ही होगा । इसी प्रकार स्ववचन भी कभी-कभी अप्रमाणमूलक होता है, ऐसे स्थलों की प्रतिज्ञा में प्रमाणविरोध तो होगा नहीं, स्ववचन-विरोध ही होगा (अतः स्वशास्त्रविरोध और स्ववचनविरोध का अलग से उल्लेख किया गया है) ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

लिङ्गवचनमपदेशः । यदनुमेयेन सहचरितं तत्समानजातीये सर्वत्र सामान्येन प्रसिद्धं तद्विपरीते च सर्वस्मिन्नसदेव तल्लिङ्ग-

हेतुबोधक वाक्य ही 'अपदेश' है । (विशदार्थ) जो अनुमेय (पक्ष) में साध्य के साथ रहे एवं सभी तत्सजातीयों में अर्थात् सभी दृष्टान्तों में सामान्य रूप से (साध्य के साथ) ज्ञात हो एवं उसके विपरीत अर्थात् सभी विपक्षों में जो कदापि न रहे, उसे 'लिङ्ग' अर्थात् हेतु कहा गया है,

न्यायकन्दली

लिङ्गवचनमपदेशः । **अस्यार्थं कथयति**–यदनुमेयेनेत्यादिना । **तत्सुगमम् । उदाहरणमाह–क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्चेति । द्रव्यं वायुरिति प्रतिज्ञायाः क्रियावत्त्वादिति क्रियावत्त्वस्य लिङ्गस्य वचनमपदेशः, तस्यामेव प्रतिज्ञायां गुणवत्त्वस्य लिङ्गस्य गुणवत्त्वादिति वचनमपदेशः, तयोरुपन्यासः सपक्षैकदेशवृत्तेः सपक्षव्यापकस्य हेतुत्वप्रदर्शनार्थः । यदुक्तं लिङ्गलक्षणं तत् क्रियावत्त्वस्य गुणवत्त्वस्य चास्तीत्याह**–तथा च तदिति । तद् **गुणवत्त्वमनु**मेयेऽस्ति तत्समानजातीये **सपक्षे द्रव्ये** सर्वस्मिन्नस्ति, असर्वस्मिन् **सपक्षैकदेशे मूर्त्तद्रव्यमात्रे** क्रियावत्त्वमस्ति, उभयमप्येतत् **क्रियावत्त्वं गुणवत्त्वं** चाद्रव्ये **विपक्षे**

'यदनुमेयेन' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'लिङ्गवचनमपदेशः' इस वाक्य का अर्थ स्वयं कहते हैं । इस (स्वपदवर्णनरूप भाष्य) का अर्थ सुगम है । क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च' इस वाक्य के द्वारा 'अपदेश'रूप दूसरे अवयव का उदाहरण दिखलाया गया है । (प्रतिज्ञा ग्रन्थ में उल्लिखित) 'द्रव्यं वायुः' इस प्रतिज्ञा के ही 'क्रियावत्त्व' रूप हेतु का प्रतिपादक 'क्रियावत्त्वात्' इस वाक्य का प्रयोग ही प्रकृत में 'अपदेश' है । उसी प्रतिज्ञा में 'गुणवत्त्वात्' इस वाक्य के द्वारा गुणवत्त्वरूप लिङ्ग का जो निर्देश किया गया है वह वचन भी 'अपदेश' है । इन दोनों हेतुओं का निर्देश इस विशेष को समझाने के लिए किया गया है कि कुछ ही सपक्षों में रहनेवाला भी 'हेतु' है (जैसे कि क्रियावत्त्वरूप हेतु पृथिवी प्रभृति कुछ सपक्षों में ही है सभी सपक्षों में नहीं; क्योंकि आकाशादि सपक्षों में क्रियावत्त्व नहीं है) एवं कुछ ऐसे भी हेतु होते हैं जो सभी सपक्षों में रहते हैं, जैसे कि प्रकृत 'गुणवत्त्व' हेतु (क्योंकि वह सभी द्रव्यों में है) । 'तथा च तदनुमेयेऽस्ति' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कहते हैं कि लिङ्ग के जितने भी लक्षण कहे गये हैं, वे सभी क्रियावत्त्व और गुणवत्त्व रूप दोनों हेतुओं में हैं । 'तत्' अर्थात् गुणवत्त्व और क्रियावत्त्वरूप दोनों हेतु अनुमेय में अर्थात् वायुरूप पक्ष में हैं । इनमें गुणवत्त्व हेतु 'सर्वस्मिन्' अर्थात् द्रव्यरूप सभी सपक्षों में है ।और 'क्रियावत्त्व' रूप हेतु 'असर्वस्मिन्' अर्थात् 'सपक्षैकदेश' में अर्थात् मूर्त्तद्रव्यरूप कुछ ही सपक्षों में है; किन्तु गुणवत्त्व और क्रियावत्त्वरूप दोनों हेतु 'अद्रव्य' अर्थात् विपक्षों में द्रव्य से भिन्न सभी पदार्थों में कभी भी नहीं

प्रशस्तपादभाष्यम्

मुक्तम्, तस्य वचनमपदेशः । यथा क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्चेति, तथा च तदनुमेयेऽस्ति तत्समानजातीये च सर्वस्मिन् गुणवत्त्वमसर्वस्मिन् क्रियावत्त्वम् । उभयमप्येतदद्रव्ये नास्त्येव । तस्मात् तस्य वचनमपदेश इति सिद्धम् ।

एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति ।

इस प्रकार के हेतु का प्रतिपादक वाक्य ही 'अपदेश' है । जैसे कि ('द्रव्यं वायुः' इस प्रतिज्ञा के उपयुक्त) 'क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च' ये वाक्य । इनमें गुणवत्त्व हेतु तो वायुरूप द्रव्य में भी है एवं और सभी द्रव्यों में है । क्रियावत्त्व हेतु वायु में रहने पर भी (एवं सभी द्रव्यों में न रहने पर भी) मूर्त्तद्रव्यों में तो है ही; किन्तु ये दोनों ही विपक्षीभूत सभी अद्रव्य पदार्थों में नहीं हैं, अतः इससे सिद्ध होता है कि चूँकि ये दोनों ही हेतु के उक्त लक्षणों से युक्त हैं, अतः इनके बोधक उक्त वाक्य 'अपदेश' हैं ।

इससे (अर्थात् हेतु के अनुमेयसम्बद्धत्वादि लक्षणों के कहने से) १. असिद्ध, २.विरुद्ध, ३. सन्दिग्ध, ४. अनध्यवसित (हेत्वाभासों में) अनपदेशत्व अर्थात् हेत्वाभासत्व कथित हो जाता है । इनमें १. उभयासिद्ध,

न्यायकन्दली

नास्त्येव, तस्योभयस्य वचनं **क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वादित्येवं** रूपमपदेश इति **हेतुरिति** सिद्धं **व्यवस्थितं निर्दोषत्वात्** ।

एतेन **अपदेशलक्षणकथनेन** अर्थादसिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति । अनुमेयेन सहचरितमि**त्यनेनासिद्धवचनस्यानपदेशत्व-**

हैं । अतः इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों के बोधक 'क्रियावत्त्वात्' और 'गुणवत्त्वात्' इस आकार के दोनों वाक्य 'अपदेश' हैं, अर्थात् हेतुरूप अवयव हैं, क्योंकि इस निर्णय में कोई दोष नहीं है ।

'एतेन' अर्थात् अपदेश के 'अनुमेयेन सहचरितम्' इत्यादि लक्षण के कहने से ही असिद्धवचन, विरुद्धवचन, सन्दिग्धवचन औ र अनध्यवसितवचनों में 'अनपदेशत्व' अर्थात् हेत्वाभासत्व का भी अर्थतः कथन हो जाता है । इस प्रसङ्ग में ऐसा विभाग समझना चाहिए कि हेतु के लक्षण में प्रयुक्त 'अनुमेयेन सहचरितम्' इस पद से 'असिद्धवचन' में हेत्वाभासत्व का आक्षेप होता है । एवं 'तत्समानजातीये च नास्ति' इस वाक्य

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्रासिद्धश्चतुर्विधः— उभयासिद्धः, अन्यतरासिद्धः, तद्भावासिद्धः, अनुमेयासिद्धश्चेति । तत्रोभयासिद्ध उभयोर्वादिप्रतिवादिनोरसिद्धः, यथाऽनित्यः शब्दः, सावयवत्वादिति । अन्यतरासिद्धो यथा—

२. अन्यतरासिद्ध, ३. तद्भावासिद्ध और ४. अनुमेयासिद्ध भेद से 'असिद्ध' चार प्रकार के हैं । इनमें जो हेतुवादी और प्रतिवादी दोनों में से किसी के द्वारा पक्षादि में सिद्ध न हो उसे 'उभयासिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं । जैसे कि शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिए प्रयुक्त 'सावयवत्वात्' इस वाक्य से बोध्य सावयवत्व हेतु (उभयासिद्ध हेत्वाभास) है । शब्द में अनित्यत्व के साधन के लिए ही यदि कार्यत्व हेतु का कोई प्रयोग करे तो वह 'अन्यतरासिद्ध' हेत्वाभास होगा; क्योंकि वादी (वैशेषिक) ही शब्द को कार्य मानते हैं । प्रतिवादी (मीमांसक) उसे कार्य नहीं मानते ।

न्यायकन्दली

मुक्तम् । तत्समानजातीये च प्रसिद्ध**मित्यनेन विरुद्धानध्यवसितवचनयोरनपदेशत्वम्** । तद्विपरीते नास्त्येवे**त्यनेन सन्दिग्धवचनस्यानपदेशत्वमिति विवेकः** ।

एषामसिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितानां मध्ये असिद्धं कथयति— तत्रासिद्धश्चतुर्विध उभयासिद्ध **इत्यादि** ।

तत्रोभयासिद्धः – उभयोर्वादिप्रतिवादिनोरसिद्धः, यथाऽनित्यः शब्दः, सावयवत्वादिति **शब्दे सावयवत्वं न वादिनो नापि प्रतिवादिनः सिद्धमित्युभयासिद्धः** ।

के द्वारा 'विरुद्धवचन' और 'अनध्यवसितवचन' इन दोनों का हेत्वाभास व्यञ्जित होता है । एवं 'तद्विपरीते च नास्त्येव' इस वाक्य के द्वारा 'सन्दिग्धवचन' की हेत्वाभासता ध्वनित होती है ।

'तत्रासिद्धश्चतुर्विधः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इन असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध और अनध्यवसितों में से असिद्ध नाम के हेत्वाभास का विवरण देते हैं । इनमें वादी और प्रतिवादी ये दोनों ही जिस हेतु की सत्ता पक्ष में न मानते हों, वह हेतु 'उभयासिद्ध' नाम का हेत्वाभास है । जैसे कि 'शब्दोऽनित्यः सावयवत्वात्' इस अनुमान का सावयवत्व हेतु उभयासिद्ध हेत्वाभास है । इस अनुमान के प्रयोग करनेवाले (नैयायिकादि) हैं वादी, वे भी शब्द को सावयव नहीं मानते एवं शब्द को नित्य माननेवाले मीमांसक हैं प्रतिवादी, वे भी शब्द को द्रव्य मानते हुए भी सावयव नहीं मानते, अतः उक्त सावयवत्व हेतु 'उभयासिद्ध' हेत्वाभास है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

अनित्यः शब्दः, कार्यत्वादिति । तद्भावासिद्धो यथा—धूमभावेनाग्न्यधिगतौ कर्त्तव्यायामुपन्यस्यमानो वाष्पो धूमभावेनासिद्ध इति । अनुमेयासिद्धो यथा—पार्थिवं द्रव्यं तमः, कृष्णरूपवत्त्वादिति । यो ह्यनुमेयेऽ-

३. जिस रूप (हेतुतावच्छेदक) से युक्त हेतु के द्वारा साध्य की अनुमिति अभिप्रेत हो, हेतु का वह रूप या धर्म जिस हेतु में न रहे वह हेतु तद्भावासिद्ध हेत्वाभास है । जैसे धूमत्व रूप से युक्त (धूम) से वह्नि की अनुमिति के अभिप्राय से यदि कोई वाष्प को धूम समझकर हेतु रूप से उपस्थित करे तो वह वाष्प हेतु धूमभाव से (अर्थात् धूमत्व रूप से) सिद्ध न होने के कारण (अर्थात् वाष्प में धूमत्व के न रहने के कारण) तद्भावासिद्ध हेत्वाभास होगा । ४. जहाँ अनुमेय अर्थात् अभीष्ट पक्ष ही असिद्ध रहे उसके लिए प्रयुक्त हेतु अनुमेयासिद्ध हेत्वाभास होगा । जैसे कि 'तमो द्रव्यं पार्थिवं कृष्णरूपवत्त्वात्' इस अनुमान का कृष्णरूप हेतु अनुमेयासिद्ध हेत्वा-

न्यायकन्दली

अन्यतरासिद्धो यथा कार्यत्वादनित्यः शब्द **इति । यद्यपि शब्दे वस्तुतः कार्यत्वमस्ति, तथापि विप्रतिपन्नस्य मीमांसकस्यासिद्धम् । अन्यतरासिद्धं साध्यं न साधयति यावन्न प्रसाध्यते ।**

तद्भावासिद्धो यथा धूमभावेनाग्न्यधिगतौ कर्त्तव्यायामुपन्यस्यमानो वाष्पो धूमभावेन **धूमस्वरूपेणा**सिद्धस्तद्भावासिद्ध इत्युच्यते ।

अनुमेयासिद्धो यथा पार्थिवं तमः, कृष्णरूपवत्त्वात् । **तमो नाम द्रव्यान्तरं**

'अन्यतरासिद्ध' का उदाहरण है 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्' इस अनुमान का कार्यत्व हेतु । वैशेषिक नैयायिकादि के मत से शब्द में यद्यपि कार्यता सिद्ध है; किन्तु मीमांसक लोग शब्द को कार्य नहीं मानते, नित्य मानते हैं, अतः यह हेतु वादी और प्रतिवादी इन दोनों में से एक के द्वारा असिद्ध होने के कारण 'अन्यतरासिद्ध' नाम का हेत्वाभास है; क्योंकि अन्यतर के द्वारा भी असिद्ध हेतु तब तक साध्य का साधन नहीं कर सकता, जब तक कि वह दूसरे के द्वारा सिद्ध नहीं माना जाता ।

'तद्भावासिद्ध' का उदाहरण वह वाष्प हेतु है, जो धूम समझकर वह्निसाधन के लिए प्रयुक्त होता है; क्योंकि 'तद्भाव' अर्थात् धूम का धूमत्वरूप धर्म वाष्प में सिद्ध नहीं है । अतः उक्त वाष्प हेतु 'तद्भावासिद्ध' हेत्वाभास है ।

'अनुमेयासिद्ध' का उदाहरण है 'पार्थिवं तमः कृष्णरूपवत्त्वात्' इस अनुमान का 'कृष्णरूपवत्त्व' रूप हेतु । तम नाम का कोई द्रव्य ही नहीं है; क्योंकि कृष्णरूप (गुण) का तेज के अभाव में आरोपमात्र होता है (चूँकि पार्थिवत्वविशिष्ट तम रूप अनुमेय ही

न्यायकन्दली

नास्ति, आरोपितस्य कार्ष्ण्यमात्रस्य प्रतीतेः, अतस्तमो द्रव्यं पार्थिवम्, कृष्णरूपवत्त्वादित्यनुमेयासिद्धमाश्रयासिद्धम् । **अनुमेयमसिद्धं यस्येत्यसिद्धानुमेयमिति प्राप्तावाहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः पूर्वनिपातः ।**

यथा हेतुरन्यतरासिद्ध उभयासिद्धो वा भवति, एवमाश्रयासिद्धिरप्युभयथा । यथा च हेतोर्वादिप्रतिवादिनोः प्रत्येकं समुदितयोर्वा अज्ञानात् सन्देहाद् विपर्ययाद् वा असिद्धो भवति, तथाश्रयोऽपि । यथा च हेतुः कश्चिद् वादिनोऽज्ञानादसन्दिग्धः प्रतिवादिनः सन्दिग्धासिद्ध इति । यद्वा वादिनोऽज्ञानासिद्धः, यदि वा प्रतिवादिनो विपर्ययासिद्धः । यद्वा वादिनः सन्देहासिद्धः प्रतिवादिनोऽज्ञानासिद्धः । यद्वा विपर्ययासिद्धो भवति वादिनः,

उक्त स्थल में प्रसिद्ध नहीं है अतः) 'पार्थिवं तमः कृष्णरूपवत्त्वात्' इस अनुमान का 'अनुमेय' अर्थात् आश्रय सिद्ध न होने के कारण इस अनुमान का (कृष्णरूपवत्त्व) हेतु अनुमेयासिद्ध या आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है । यद्यपि 'अनुमेयमसिद्धं यस्य' इस व्युत्पत्ति के द्वारा निष्पन्न होने के कारण 'अनुमेयासिद्ध' न होकर 'असिद्धानुमेय' शब्द का प्रयोग उचित है, तथापि आहिताग्न्यादि गण में पठित होने के कारण 'अनुमेय' शब्द का पूर्वप्रयोग मानकर (असिद्धानुमेय न लिखकर) 'अनुमेयासिद्ध' शब्द लिखा गया है ।

जैसे कि हेतु वादी और प्रतिवादी दोनों से असिद्ध होने के कारण 'उभयासिद्ध' और उन दोनों में से केवल एक से असिद्ध होने के कारण 'अन्यतरासिद्ध' कहलाता है, अर्थात् हेतु की सिद्धि दो प्रकार की होने से 'असिद्ध' हेत्वाभास भी दो प्रकार का होता है, उसी प्रकार अनुमेयरूप आश्रय जहाँ वादी और प्रतिवादी दोनों के द्वारा असिद्ध होगा, वहाँ अनुमेयासिद्ध या आश्रयासिद्ध भी उभयासिद्ध रूप होगा । एवं जहाँ अनुमेय केवल वादी या प्रतिवादी किसी एक ही के द्वारा असिद्ध होगा, वहाँ अनुमेयासिद्ध भी अन्यतरासिद्ध नाम का आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होगा । कहने का अभिप्राय है कि वादी और प्रतिवादी दोनों में से किसी एक के हेतुविषयक अज्ञान या हेतुविषयक सन्देह या हेतुविषयक विपर्यय के कारण 'असिद्ध' नाम का हेत्वाभास होता है, उसी प्रकार 'आश्रयासिद्ध' नाम के हेत्वाभास के प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए कि साध्यविशिष्ट पक्षरूप आश्रय या अनुमेयविषयक वादी और प्रतिवादी दोनों के अज्ञान या सन्देह या विपर्यय एवं वादी और प्रतिवादी दोनों में से एक के उक्त अनुमेय या आश्रय के अज्ञान या सन्देह या विपर्यय के कारण ही आश्रयासिद्ध या अनुमेयासिद्ध नाम का हेत्वाभास भी होता है । (अन्यतरासिद्ध के प्रसङ्ग में यह विशेष) योजना या अतिदेश आश्रयासिद्ध के प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए । जैसे कि कोई हेतु वादी के द्वारा अज्ञात होने के कारण असन्दिग्ध होने पर भी प्रतिवादी के लिए सन्दिग्धासिद्ध होता है, वैसे ही आश्रयासिद्ध के प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए । अथवा कोई हेतु वादी के लिए सन्दिग्धासिद्ध होने पर भी प्रतिवादी के लिए विपर्ययासिद्ध होता है । अथवा जिस प्रकार कोई हेतु वादी के लिए सन्दिग्धा-सिद्ध है; किन्तु प्रतिवादी के लिए अज्ञानासिद्ध होता है, वैसे ही आश्रयासिद्ध

प्रशस्तपादभाष्यम्

विद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति, तद्विपरीते चास्ति, स विपरीत-साधनाद् विरुद्धः, यथा यस्माद् विषाणी तस्मादश्व इति ।

भास है (क्योंकि तम यदि द्रव्य होगा तभी वह पार्थिव हो सकता है; किन्तु तम में द्रव्यत्व ही सिद्ध नहीं है, चूँकि वह अभावरूप है, अतः द्रव्यत्वविशिष्ट तमरूप अनुमेय असिद्ध होने के कारण उसमें पार्थिवत्व के साधन के लिए प्रयुक्त कृष्णरूपवत्त्व हेतु अनुमेयासिद्ध है) ।

२. जो हेतु अनुमेय अर्थात् साध्य में एवं उसके सजातीयों में भी न रहे एवं अनुमेय के विपरीत वस्तुओं में रहे, वह हेतु साध्य के विपरीत वस्तु का साधक होने के कारण 'विरुद्ध' नाम का हेत्वाभास है । जैसे गो में (अभेद सम्बन्ध से) अश्व के साधन के लिए प्रयुक्त विषाण (सींग) हेतु (विरुद्ध नाम का हेत्वाभास है); क्योंकि अश्वरूप अनुमेय में विषाण हेतु

न्यायकन्दली

प्रतिवादिनः सन्देहासिद्धः । एवमाश्रयोऽपीति योजनीयम् । विशेषणासिद्धादयः, अन्य-तरासिद्ध उभयासिद्धेष्वेवान्तर्भवन्तीति पृथङ् नोक्ताः ।

विरुद्धं हेत्वाभासं कथयति—यो ह्यनुमेय इति । **यदा कश्चिद् वनान्तरिते गोपिण्डे विषाणमुपलभ्य 'अयं पिण्डोऽश्वो विषाणित्वात्' इति साधयति, तदा विषाणित्वमश्वजातीये पिण्डान्तरेऽविद्यमानमश्वविपरीते गवि महिष्यादौ च विपक्षे विद्यमानं व्याप्तिबलेनाश्वत्वविरुद्धमनश्वत्वं साधयदभिमतसाध्यविपरीतसाधनाद्**

के प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए । अथवा जिस तरह कोई हेतु वादी के लिए ही विपर्ययासिद्ध और प्रतिवादी के लिए ही सन्दिग्धासिद्ध होता है, वैसे ही आश्रयासिद्ध के प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए । 'विशेषणासिद्ध' प्रभृति हेत्वाभास कथित अन्यतरासिद्ध और उभयासिद्धों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, अतः उनका अलग से उल्लेख नहीं किया गया ।

'यो ह्यनुमेये' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'विरुद्ध' नाम के हेत्वाभास का निरूपण करते हैं । जिस समय कोई पुरुष वन में छिपे हुए गो रूप अवयवी के केवल सींग को देखकर इस अनुमान-वाक्य का प्रयोग करता है कि 'यह दीखनेवाला पिण्ड घोड़ा है, क्योंकि इसे सींग है' उस समय यह 'विषाणित्व' हेतु विरुद्ध नाम का हेत्वाभास होता है; क्योंकि अश्वरूप पक्ष के सजातीय सजातीय गदहे प्रभृति में विषाणित्व हेतु नहीं है एवं अश्व के विपरीत गो-महिषादि विपक्षों में विषाणित्व हेतु विद्यमान है । इस व्याप्ति के कारण विषाणित्व हेतु वन में दीखनेवाले उक्त पिण्ड में अश्वत्व के विरुद्ध अश्वभिन्नत्व का ही साधक होने का कारण 'विरुद्ध' कहलाता है । यह उदाहण कुछ ही विपक्षों में

प्रशस्तपादभाष्यम्

यस्तु सन्ननुमेये तत्समानासमानजातीययोः साधारणः सन्नेव स सन्देहजनकत्वात् सन्दिग्धः, यथा—यस्माद् विषाणी तस्माद् गौरिति । एक-

नहीं है एवं अश्व के सजातीय रासभादि में भी वह नहीं है; किन्तु अश्व के विपरीत महिषादि में विषाण हेतु है, अतः गो में अश्व के विपरीत अश्वभेद का ही वह साधक है ।

३. जो हेतु अनुमेय में (साध्य में) एवं उसके सजातीय और विरुद्ध-जातीय दोनों प्रकार की वस्तुओं में समान रूप से सम्बद्ध रहे, वह (पक्ष में साध्य के) सन्देह का कारण होने से 'सन्दिग्ध' नाम का हेत्वाभास है ।

न्यायकन्दली

विरुद्धमित्युच्यते । इदं विपक्षैकदेशवृत्तेर्विरुद्धस्योदाहणम्, विषाणित्वस्य सर्वत्राश्वे स्तम्भादावसम्भवात् । समस्तविपक्षव्यापकस्य विरुद्धस्योदाहरणम्—नित्यः शब्दः कृतकत्वा-दिति द्रष्टव्यम् ।

यस्तु सन्ननुमेये धर्मिणि, तत्समानासमानजातीययोः सपक्षविपक्षयोः, साधारणः स सन्देहजनकत्वात् सन्दिग्धः । यथा यस्माद् विषाणी, तस्माद् गौरिति । **यदायं पिण्डो गौर्वि-षाणित्वादिति साध्यते, तदा विषाणित्वं गवि महिषे च दर्शनात् सन्देहमापादयन् सन्दिग्धो हेत्वाभासः स्यात् । अयं सपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिरनैकान्तिकः ।**

रहने वाले विरुद्ध (हेत्वाभास) का है (सभी विपक्षों में रहनेवाले विरुद्ध का नहीं); क्योंकि प्रकृत अनुमान के विपक्षीभूत स्तम्भादि द्रव्यों में विषाणित्व हेतु नहीं है । सभी विपक्षों में व्यापक रूप से रहनेवाले विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण 'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्' इस अनुमान में प्रयुक्त 'कृतकत्व' को समझना चाहिए (क्योंकि नित्यत्वरूप साध्य के अनाश्रयीभूत सभी वस्तुओं में कृतकत्व हेतु अवश्य है) ।

'यस्तु सन्ननुमेये' (इस वाक्य में प्रयुक्त 'अनुमेये' शब्द का अर्थ है) 'धर्मी में' अर्थात् जो हेतु पक्ष में रहते हुए 'तत्समानासमानजातीययोः' अर्थात् सपक्ष और विपक्ष दोनों में भी समान रूप से रहे, वह हेतु 'सन्देहजनक' होने के कारण 'सन्दिग्ध' नाम का हेत्वाभास है । 'यस्माद् विषाणी तस्माद् गौः' अर्थात् जिस समय वन में छिपे हुए कथित पिण्ड में ही केवल विषाण के देखने से कोई इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग करे कि 'यह गो है क्योंकि इसे सींग है', उस समय यह विषाणरूप हेतु गोरूप पक्ष और महिषरूप विपक्ष दोनों में समान रूप से रहने के कारण इस सन्देह को उत्पन्न करता है कि 'यह गो है या महिष' । इस सन्देह को उत्पन्न करने के कारण ही उक्त विषाण हेतु 'सन्दिग्ध' नाम का हेत्वाभास होता है । (भाष्योक्त सन्दिग्ध हेत्वाभास का यह उदाहरण) (१) सपक्ष का व्यापक और कुछ ही विपक्षों में रहनेवाले 'सन्दिग्ध' नाम के हेत्वाभास का है (क्योंकि विषाणरूप हेतु विषाणित्वरूप से निश्चित सभी गोरूप सपक्षे में है; किन्तु

प्रशस्तपादभाष्यम्

स्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्यथोक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशय-दर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित् । यथा—मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वं प्रति मनसः
जैसे कि किसी वस्तु में केवल विषाण के देखने से गो के अनुमान का विषाण हेतु (सन्दिग्ध नाम का हेत्वाभास है); क्योंकि विषाण रूप हेतु दर्शन का विषय किसी पक्षीभूत वस्तु में एवं उसके समानजातीयों में एवं विजातीय महिषादि में साधारण रूप से रहने के कारण पक्षीभूत वस्तु में यह 'गो' है या 'महिष' इस सन्देह का उत्पादक है । (पूर्वपक्ष) कोई कहते हैं कि उक्त रीति से ही यदि समान बल के एवं परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं के साधक दो हेतुओं का समावेश जहाँ एक धर्मी में होता है, वहाँ वह हेतु उस धर्मी में उक्त परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं के सन्देह का हेतु होने के कारण एक और ही प्रकार का सन्दिग्ध नाम का हेत्वाभास है ।

न्यायकन्दली

सपक्षविपक्षयोर्व्यापको नित्यः शब्दः, प्रमेयत्वादिति । सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः, नित्यमाकाशममूर्त्तत्वादिति । सपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको द्रव्यं शब्दो निरवयवत्वादिति । समानासमानजातीययोः साधारण इति यत् साधारणपदं तस्य विवरणं सन्नेवेति ।

गो से भिन्न महिष एवं अश्व प्रभृति जो सभी उसके विपक्ष हैं, उनमें से महिषादि में ही विषाणरूप हेतु है, अश्वादि में नहीं) । (२) सभी सपक्षों और सभी विपक्षों में व्यापक रूप से रहनेवाले सन्दिग्ध हेत्वाभास का उदाहरण 'नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' इस अनुमान का 'प्रमेयत्व' हेतु है (क्योंकि प्रमेयत्व सभी वस्तुओं में रहने के कारण नित्यरूप सभी सपक्षों में और अनित्यरूप सभी विपक्षों में विद्यमान है) । (३) कुछ ही विपक्षों में एवं कुछ ही सपक्षों में रहनेवाले सन्दिग्ध हेत्वाभास का दृष्टान्त है 'नित्यमाकाशममूर्त्तत्वात्' इस अनुमान का 'अमूर्त्तत्व' हेतु है (क्योंकि आत्मा प्रभृति कुछ ही सपक्षों में अमूर्त्तत्व है एवं अनित्य पृथिवी प्रभृति कुछ ही सपक्षों में अमूर्त्तत्व है । (४) सभी विपक्षों में एवं कुछ ही सपक्षों में रहनेवाले सन्दिग्ध हेत्वाभास का उदाहरण है 'द्रव्यं शब्दो निरवयवत्वात्' इस अनुमान का 'निरवयवत्व' हेतु है; क्योंकि द्रव्यत्वशून्य सभी वस्तुओं में निरवयवत्व है एवं सपक्षीभूत कुछ ही द्रव्यों में निरवयवत्व है।[1] । समानासमानजातीययोः साधारणः' इस वाक्य में जो 'साधारण' पद है, उसी की व्याख्या 'सन्नेव' इस वाक्य के द्वारा की गई है ।

---

1. अर्थात् यह 'सन्दिग्ध' हेत्वाभास चार प्रकार का है– (१) सपक्षव्यापक और विपक्षैकदेशवृत्ति, (२) सपक्ष और विपक्ष दोनों का व्यापक, (३) सपक्षैकदेशवृत्ति एवं विपक्षैकदेशवृत्ति, (४) विपक्षव्यापक और सपक्षैकदेशवृत्ति । मुद्रित न्यायकन्दली

न्यायकन्दली

अथैको धर्मः सपक्षविपक्षयोर्दर्शनाद् धर्मिणि सन्देहं कुर्वन् सन्दिग्धो हेत्वाभासः स्यात्, एवमेकस्मिन् धर्मिणि द्वयोर्हेत्वोस्तुल्यबलयोर्विरुद्धार्थप्रसाधकयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनादयं विरुद्धद्वयसन्निपातोऽन्यः सन्दिग्धो हेत्वाभास इति केश्चिदुक्तम्, तद् दूषयितुमुपन्यस्यति–एकस्मिंश्चेति । **तस्योदाहरणमाह–**यथा मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोरिति । **मूर्त्तं मनः क्रियावत्त्वाच्छरावादिवत्, अमूर्त्तं मनोऽस्पर्शवत्त्वादाकाशादिवदिति विरुद्धार्थप्रसाधकयोः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोर्हेत्वोः सन्निपाते मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वं प्रति संशयः, न ह्यत्रोभयोरपि साधकत्वम्, वस्तुनो द्वयात्मकत्वासम्भवात् । नापि परस्परविरोधादुभयोरप्यसाधकत्वम्, मूर्त्तामूर्त्तत्वव्यतिरेकेण प्रकारान्तराभावात् । न**

किसी सम्प्रदाय के लोग कहते हैं कि जिस प्रकार सपक्ष और विपक्ष दोनों में यदि एक ही धर्म (हेतु) देखा जाय तो वह धर्मी (पक्ष) में साध्य के सन्देह को उत्पन्न करने के कारण 'सन्दिग्ध' नाम का हेत्वाभास होगा, उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध दो साध्यों के साधक एवं समान बल के दो हेतु यदि एक धर्मी में देखे जाँय तो भी उस धर्मी में उक्त दोनों विरुद्ध साध्यों का संशय होगा। अतः यह 'विरुद्ध-द्वयसन्निपात'मूलक एक अलग ही 'सन्दिग्ध' नाम का हेत्वाभास है । इस पक्ष का खण्डन करने का ही उपक्रम 'एकस्मिंश्च' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है । इसी (विशेष प्रकार के) सन्दिग्ध का उदाहरण 'यथा मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्त्वा-स्पर्शवत्त्वयोः' इस वाक्य के द्वारा प्रदर्शित हुआ है । अभिप्राय यह है कि 'जिस प्रकार घट शरावादि क्रिया से युक्त होने के कारण मूर्त्त है, उसी प्रकार मन भी मूर्त्त है; क्योंकि वह भी क्रियाशील है' एवं 'जिस प्रकार आकाश स्पर्श से रहित होने के कारण मूर्त्त नहीं है, उसी प्रकार मन भी स्पर्श से विहीन होने के कारण अमूर्त्त है' इस रीति से मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्वरूप दो विरुद्ध साध्य को सिद्ध करनेवाले क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व रूप दोनों हेतुओं का एक ही मनरूप धर्मी में यदि सम्मिलन होता है, तो मनरूप धर्मी में यह संशय होता है कि 'मन मूर्त्त है ? अथवा अमूर्त्त ?' चूँकि एक वस्तु एक ही प्रकार की हो सकती है, परस्पर विरोधी दो प्रकार की नहीं (सुतरां मन मूर्त्त ही होगा या अमूर्त ही), अतः वे दोनों हेतु मन-रूप अपने एक ही पक्ष में अपने-अपने साध्य (अर्थात् मूर्त्तत्व एवं अमूर्त्तत्व के) निश्चय का उत्पादन नहीं कर सकते । यह कहना भी सम्भव नहीं है कि (प्र.) चूँकि मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व दोनों परस्पर विरोधी हैं, अतः मनरूप एक ही धर्मी में उक्त दोनों साध्यों के साधन करने का सामर्थ्य उन दोनों हेतुओं में से किसी में भी नहीं है । (उ.) क्योंकि मन को मूर्त्त या अमूर्त्त इन दोनों से भिन्न किसी तीसरे प्रकार का होना सम्भव नहीं है (अतः उन दोनों में से एक हेतु मन में अपने साध्य का साधक

पुस्तक के इस सन्दर्भ में जो 'अयं सपक्षविपक्षयोर्व्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिरनैकान्तिकः' यह पाठ है' उसमें 'विपक्षयोः' यह प्रमाद से लिखा गया जान पड़ता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोरिति । नन्वयमसाधारण एवाचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात् । ततश्चानध्यवसित इति

जैसे कि मन में मूर्त्तत्व के साधक क्रियावत्त्व और अमूर्त्तत्व के साधक अस्पर्शवत्त्व ये दोनों ही हेतु विद्यमान हैं, अतः संशय होता है कि मन क्रियाशील होने के कारण मूर्त्त है या अस्पर्शयुक्त (द्रव्य) होने के कारण (आकाशादि की तरह) अमूर्त्त है ? मन में उक्त सन्देह का कारण होने से उक्त दोनों ही हेतु सन्दिग्ध नाम के हेत्वाभास हैं । (अवान्तर उत्तर- पक्ष) जिस प्रकार अचाक्षुषत्व (चक्षु से गृहीत न होना) एवं प्रत्यक्षत्व (इन्द्रिय से गृहीत होना) इन दोनों में से एक-एक गुण से भिन्न दूसरी जगह पृथक् रूप से रहने पर भी मिलित होकर केवल गुण में ही रहने के

न्यायकन्दली

चान्यतरस्य हेतोर्विशेषोऽवगम्यते येनैकपक्षावधारणं स्यात् । अतः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वाभ्यां मनसि संशयो भवति, किं मूर्त्तं किं वामूर्त्तमिति । अयमेव च विरुद्धाव्यभिचारिणः प्रकरणसमाद् भेदो यदयं संशयं करोति, प्रकरणसमस्तु सन्दिग्धेऽर्थे प्रयुज्यमानः संशयं न निवर्तयतीति ।

नन्वयमसाधारण एव, अचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवादिति । क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वे प्रत्येकं न तावत् संशयं जनयतः, निर्णयहेतुत्वात् । सन्निपातश्च तयोरयमसाधारण एव, संहतयोस्तयोर्मनोव्यतिरेकेणान्य-

अवश्य है) । इन दोनों हेतुओं में से किसी एक हेतु में 'विशेष' बल का भी निश्चय नहीं है कि उन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष का अवधारण हो जाय । अतः कथित क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व इन दोनों हेतुओं से मन में यह संशय उत्पन्न होता है कि 'मन मूर्त्त है या अमूर्त्त' ? विरुद्धाव्यभिचारी (प्रस्तुत विलक्षण सन्दिग्ध) हेत्वाभास में प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) हेत्वाभास से यही अन्तर है कि विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास पक्ष में प्रकृत साध्य के संशय का उत्पादन करता है; किन्तु प्रकरणसम उस साध्य में प्रवृत्त होता है जो सन्दिग्ध है, जिससे कि वह पक्ष में साध्य के सन्देह को दूर नहीं कर पाता ।

'नन्वयमसाधारण एव, अचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात्' इस (पूर्वपक्ष भाष्य) का अभिप्राय है कि यह (विरुद्धाव्यभिचारी या सन्दिग्धविशेष) असाधारण हेत्वाभास ही है; क्योंकि कथित क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व इन दोनों में कोई एक हेतु संशय को उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि प्रत्येकशः वे दोनों निश्चय के ही उत्पादक हैं । दोनों हेतुओं का सम्मिलन (जिससे संशय हो सकता है) असाधारण ही है; क्योंकि क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व इन दोनों का सम्मिलन तो केवल मनरूप पक्ष में ही सम्भव है, मन को छोड़कर उन दोनों का सम्मिलन

न्यायकन्दली

तरपक्षे सपक्षे विपक्षे यथाऽचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्वयोः प्रत्येकं गुणव्यभिचारेऽपि समुदितयोर्गुण-व्यतिरेकेणान्यत्रासम्भवः। यद्यपि विरुद्धाव्यभिचारिधर्मद्वयोपनिपातोऽसाधारणो धर्मः, तथापि संशयहेतुत्वमेव। व्यतिरेकिणो हि विपक्षादेवैकस्माद् व्यावृत्तिर्नियता, तेन पक्षे निर्णय-हेतुत्वम्। असाधारणस्य तु व्यावृत्तिरनैकान्तिकी, विपक्षादिव सपक्षादपि तस्याः सम्भवात्। तत्र यदि गन्धवत्त्वमनित्यव्यावृत्तत्वान्नित्यत्वं साधयति, नित्यादपि गगनाद् व्यावृत्तेरनित्यत्वमपि साधयेत्? न चास्त्युभयोः सिद्धिः, वस्तुनो द्वैरूप्याभावात्। नाप्युभयोरसिद्धिः, प्रकारान्तराभावात्। अतो गन्धवत्त्वात् पृथिव्यां संशयो भवति किमियं नित्या? किं वानित्या? इति। यदाहुर्भट्टमिश्राः —

यत्रासाधारणो धर्मस्तदभावमुखेन तु।
द्वयासत्त्वविरोधाच्च मतः संशयकारणम्॥

किसी भी सपक्ष में या किसी भी विपक्ष में सम्भव नहीं है। जैसे कि अचाक्षुषत्व (आँखों से न देखे जाने योग्य) और प्रत्यक्षत्व इन दोनों में से अलग-अलग प्रत्येक का गुण में व्यभिचार (गुण से भिन्न पदार्थ में विद्यमानत्व) है (क्योंकि गुण से भिन्न आकाशादि द्रव्य चक्षु से नहीं देखे जाते एवं गुण से भिन्न होने पर भी घटादि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है); किन्तु अचाक्षुषत्व और प्रत्यक्षत्व दोनों मिलकर केवल गुण में ही हैं (क्योंकि गन्धादि गुणों का चक्षु से ग्रहण न होने पर भी प्रत्यक्ष होता है)। यद्यपि विरुद्धाव्यभिचारी दो धर्मों का एक आश्रय में रहना असाधारण धर्म है, फिर भी वह संशय का ही उत्पादक है (निर्णय का नहीं)। (अन्वय) व्यतिरेकी हेतु में केवल विपक्ष में न रहना (विपक्षव्यावृत्ति) ही केवल निश्चित है (सपक्षव्यावृत्ति नहीं), अतः वह हेतु पक्ष में साध्य के निश्चय का उत्पादन कर सकता है। असाधारण हेतु में सपक्ष या विपक्ष इन दोनों में से किसी एक की भी व्यावृत्ति नियमित नहीं है; क्योंकि विपक्ष की तरह सपक्ष में भी उसका न रहना निर्णीत ही है। अतः गन्धवत्त्वरूप असाधारण हेतु सभी अनित्यों में न रहने के कारण पृथिवी में नित्यत्व का अगर साधन कर सकता है, तो फिर गगनादि नित्य पदार्थों में न रहने के कारण पृथिवी में अनित्यत्व का भी वह साधन कर ही सकता है; किन्तु एक ही पृथिवी व्यक्ति में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि एक वस्तु एक ही प्रकार की हो सकती है, दो प्रकार की नहीं। (वस्तुओं का किसी एक ही प्रकार का होना निश्चित होने के कारण ही) नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों की असिद्धि भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि किसी एक वस्तु का नित्यत्व और अनित्यत्व से भिन्न कोई तीसरा प्रकार हो ही नहीं सकता। अतः पृथिवी में गन्ध के रहने के कारण यह संशय होता है कि 'यह नित्य है अथवा अनित्य'? जैसा कि भट्टमिश्र (कुमारिलभट्ट) ने कहा

प्रशस्तपादभाष्यम्

वक्ष्यामः । ननु शास्त्रे तत्र तत्रोभयथा दर्शनं संशयकारणमपदिश्यत

कारण असाधारण होते हैं, इसी प्रकार क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व ये दोनों स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग मन से भिन्न वस्तुओं में रहते हुए भी मिलित होकर केवल मनरूप पक्ष में ही हैं, अतः क्रियावत्त्व से युक्त अस्पर्शवत्त्व असाधारण ही है, सन्दिग्ध नहीं । (सिद्धान्तपक्ष) हम आगे कहेंगे कि कथित स्थिति में अचाक्षुषत्व विशिष्ट प्रत्यक्षत्व या क्रियावत्त्व-विशिष्ट अस्पर्शवत्त्व 'अनध्यवसित' होगा, सन्दिग्ध नहीं ।

(पूर्वपक्ष) शास्त्र (वैशेषिक सूत्रों आ.२, आ.२, सू.१८ तथा १९) में एक धर्मी में विरुद्ध दो धर्मों के ज्ञान को संशय का कारण कई स्थानों में कहा गया है । अतः उक्त कथन शास्त्र के विरुद्ध है ।

न्यायकन्दली

यच्चाह न्यायवार्त्तिककारः – विभागजत्वं विभागजविभागासमवायिकारणकत्वं नर्ते शब्दात् सम्भवतीति सर्वतो व्यावृत्तेः संशयहेतुरिति ।

अत्राह–ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्याम इति । **विरुद्धयोः सन्निपातोऽसाधारणोऽसाधारणत्वाच्चानध्यवसितोऽयमिति वक्ष्यामः । किमुक्तं स्यात् ? असाधारणो धर्मोऽध्यवसायं न करोतीति वक्ष्याम इत्यर्थः ।**

है कि (गन्धवत्त्वादि) असाधारण धर्म भी (पृथिवी में नित्यत्व एवं अनित्यत्व के) संशय का कारण है । (उसकी रीति यह है कि) उक्त असधारण धर्म किसी सपक्ष में एवं किसी भी विपक्ष में न रहने के कारण पृथिवी में नित्यत्व का अभाव अनित्यत्व और अनित्यत्व का अभाव नित्यत्व इन दोनों का साधन कर सकता है; क्योंकि दो विरुद्ध धर्मों की सत्ता एक धर्मी में सम्भव नहीं है, अतः पृथिव्यादि में गन्धवत्त्वादिरूप असाधारण धर्मों से नित्यत्वादि का संशय ही होता है ।

जैसा कि न्यायवार्त्तिककार (उद्योतकर) ने भी कहा है कि–विभागजत्व अर्थात् विभागज विभागरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होना शब्द से भिन्न किसी दूसरी वस्तु में सम्भव नहीं है, अतः सपक्ष और विपक्ष इन दोनों में से किसी में भी न रहने के कारण उक्त विभागजत्वरूप असाधारण धर्म शब्द में संशय का कारण है ।

इसी आक्षेप का समाधान 'ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्यामः' इस वाक्य के द्वारा किया गया है ।(अर्थात्) चूँकि विरुद्ध दो धर्मों का एक आश्रय में समावेश ही असाधारण है, अतः इसी असाधारण्यके कारण वह 'अनध्यवसित' नाम का हेत्वाभास है, यह

प्रशस्तपादभाष्यम्

इति, न, संशयो विषयद्वैतदर्शनात् । संशयोत्पत्तौ विषयद्वैतदर्शनं कारणम्, तुल्यबलत्वे च तयोः परस्परविरोधान्निर्णयानुत्पादकत्वं

(सिद्धान्त) नहीं, यहाँ कोई भी शास्त्रविरोध नहीं है; क्योंकि एक ही विषय के दो विरुद्ध प्रकार के ज्ञान से संशय होता है. (एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों के ज्ञान से नहीं)। अर्थात् विषय के द्वैतदर्शन (दो प्रकारों से देखने) से ही संशय की उत्पत्ति होती है। उन (क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व) दोनों

न्यायकन्दली

विरुद्धाव्यभिचारिणः संशयहेत्वभावे प्रतिपादिते शास्त्रविरोधं चोदयति– नन्विति । उभयथा दर्शनमिति । **उभाभ्यां विरुद्धधर्माभ्यां सहैकस्य धर्मिणो दर्शनं संशयकारणमिति शास्त्रे तत्र तत्र स्थाने कथितम् – 'दृष्टं च दृष्टवद् दृष्ट्वा' संशयो भवति (वै.अ.२,आ.२, सू.१८) । अमूर्त्तत्वेन सहात्मनि दृष्टमस्पर्शवत्त्वं यथा मनसि दृश्यते, तथा मूर्त्तत्वेन सह परमाणौ दृष्टं क्रियावत्त्वमपि दृश्यते, अतोऽमूर्त्तत्वेन सह दृष्टमस्पर्शवत्त्वमिव मूर्त्तत्वेन सह दृष्टं क्रियावत्त्वमपि दृष्ट्वा संशयो भवति किं मनो मूर्त्तम् ? किमुतामूर्त्तम् ? इति । 'यथादृष्टमयथादृष्टमुभयथादृष्टत्वात् संशयः' (अ. २, आ. २, सू. १९) । यथा**

हम आगे कहेंगे । (प्र.) इससे क्या अभिप्राय निकला ? (उ.) यही कि हम आगे कहेंगे कि 'असाधारण धर्म' (हेतु) 'अध्यवसाय' (निश्चय) को उत्पन्न नहीं करता ।

'विरुद्धाव्यभिचारी' हेतु (असाधारण धर्म) संशय का कारण नहीं है । कथित इस पक्ष के ऊपर 'ननु' इत्यादि ग्रन्थ से (वैशेषिक सूत्र रूप) शास्त्र के विरोध का उद्भावन किया गया है । 'उभयथा दर्शनम्' इत्यादि सन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि 'उभाभ्याम्' अर्थात् 'विरुद्ध दो धर्मों के साथ' एक धर्मी का ज्ञान संशय का कारण है । यह जो शास्त्र (वैशेषिक सूत्र) में उन सब स्थानों में कहा गया है उसका विरोध होगा ।

जैसे कि 'दृष्टं च दृष्टवत्' (वै.सू.अ.२, आ.२, सू.१८) इस सूत्र के द्वारा कहा गया है कि 'दृष्ट्वा संशयो भवति' (अभिप्राय यह है कि) मन में अमूर्त्तत्व के साथ आत्मा में रहनेवाला अस्पर्शवत्त्व भी है एवं परमाणु में मूर्त्तत्व के साथ रहनेवाला क्रियावत्त्व भी मन में है, अतः यह संशय होता है कि 'मन मूर्त्त है या अमूर्त्त' ? 'यथादृष्टमयथादृष्टमुभयथादृष्टत्वात् संशयः' (वै.सू.अ.२, आ.२, सू.१९) के द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि 'यथादृष्ट' और 'अयथादृष्ट' इन दोनों प्रकार से ज्ञात धर्म के द्वारा संशय होता है । कहने का तात्पर्य है कि 'यथा' अर्थात् जिस प्रकार मूर्त्तत्व की व्याप्ति से युक्त क्रियावत्त्व के साथ मन की उपलब्धि होती है एवं 'अयथादृष्ट' अर्थात् उसी प्रकार इससे विरुद्ध अमूर्त्तत्व के साथ अवश्य रहनेवाले क्रियावत्त्व के साथ भी मन की उपलब्धि होती है, अतः 'उभयथादृष्ट' अर्थात्

न्यायकन्दली

येन धर्मेण मूर्त्तत्वाव्यभिचारिणा क्रियावत्त्वेन समं 'दृष्टम्' मनस्तस्मात् 'अयथादृष्टम्' अमूर्त्तत्वाव्यभिचारिणा स्पर्शवत्त्वेन समं दृष्टम्, अतः 'उभयथादृष्टत्वात्' संशयः किं क्रियावत्त्वान्मूर्त्तं मनः ? उतास्पर्शवत्त्वादमूर्त्तम् ? इति सूत्रार्थः । तेन विरुद्धाव्यभिचारिणः संशयहेतुत्वं निराकुर्वतः शास्त्रविरोधः ।

एतत् परिहरति—न संशयः , विषयद्वैतदर्शनादिति । **यत् त्वयोक्तं शास्त्रविरोध इति, तत्र, यस्मात् संशयो विषयद्वैतदर्शनाद् भवति । एतदेव विवृणोति**—संशयोत्पत्तौ विषयद्वैतदर्शनं कारणमिति । **यादृशे धर्मिण्यूर्ध्वस्वभावे संशयो जायते, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति, तादृशस्य विषयस्य पूर्वं द्वैतदर्शनमुभयथादर्शनं स्थाणुत्वपुरुषत्वाभ्यां सह दर्शनं संशयकारणम्, न त्वेकस्य धर्मिणो विरुद्धधर्मद्वयसन्निपातस्तस्य कारणम्, तस्मान्नायं सूत्रार्थो यद्विरुद्धाव्यभिचारिधर्मद्वयोपनिपातात् संशय इत्यभिप्रायः ।**

तथा च दृष्टं च दृष्टवद्दृष्ट्वेत्यस्यायमर्थः— पूर्वमेव 'दृष्टम्' पदार्थं स्थाणुं वा पुरुषं वा, 'दृष्टवद्' दृष्टाभ्यां स्थाणुपुरुषान्तराभ्यां तुल्यं वर्त्तमानं दृष्टम्, स्थाणुपुरुषान्तरसमानमिति यावत्, देशान्तरे कालान्तरे वा पुनर्दृष्ट्वा

मन की उक्त दोनों प्रकार से उपलब्धि होने के कारण यह संशय होता है कि 'यतः मन क्रियाशील है, अतः मूर्त्त है' ? अथवा 'मन में स्पर्श नहीं है, अतः मन अमूर्त्त है' ? यही उक्त दोनों वैशेषिक सूत्रों के अर्थ हैं । जो कोई विरुद्धाव्यभिचारी (असाधारण) धर्म को संशय का कारण नहीं मानते, उन्हें उक्त दोनों सूत्ररूप शास्त्रों के विरोध का सामना करना पड़ेगा ।

'न, विषयद्वैतदर्शनात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा सिद्धान्ती इस विरोध का परिहार करते हैं । अर्थात् आप (पूर्वपक्षी) ने जो यह कहा है कि 'शास्त्र-विरोध है' सो नहीं है; क्योंकि उक्त दोनों सूत्रों से यही कहा गया है कि विषय दो प्रकार से जानने के कारण 'विषयद्वैतदर्शन' से संशय उत्पन्न होता है । 'संशयो विषयद्वैतदर्शनाद् भवति' अपने इस वाक्य का ही 'संशयोत्पत्तौ विषयद्वैतदर्शनं कारणम्' इस वाक्य के द्वारा विवरण देते हैं । अभिप्राय यह है कि 'स्थाणुर्वा पुरुषः' में ऊँचाई वाले जिस धर्मी में 'स्थाणुर्वा पुरुषः' इस आकार का संशय होता है, उस संशय के प्रति पहले 'विषय' का 'द्वैतदर्शन' अर्थात् 'उभयथा दर्शन' फलतः पुरुष और स्थाणु दोनों में समान रूप से ऊँचाई का देखना ही कारण है । उस संशय के प्रति एक धर्मी में विरुद्धाव्यभिचारी दो धर्मों का सम्मिलन कारण नहीं है । अतः उक्त सूत्र का यह अभिप्राय नहीं है कि विरुद्धाव्यभिचारी दो धर्मों का एक धर्मी में समावेश संशय का कारण है ।

तदनुसार 'दृष्टञ्च दृष्टवद् दृष्ट्वा' इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि पूर्वकाल मे 'दृष्ट' स्थाणु या पुरुष को ही 'दृष्टवत्' अर्थात् वर्तमानकाल में दूसरे स्थाणु या दूसरे पुरुष के 'तुल्य' देखकर अर्थात् दूसरे काल या दूसरे देश में दूसरे पुरुष को दूसरे स्थाणु के समान फिर से देखकर, किसी कारणवश उन दोनों के स्थाणुत्व और पुरुषत्व

न्यायकन्दली

कुतश्चिन्निमित्ताद्विशेषानुपलम्भे सति संशयो भवति । दृष्टं चेति चशब्देन पूर्वमदृष्टमपि पदार्थं दृष्टवद् दृष्टाभ्यां स्थाणुपुरुषान्तराभ्यां समानं दृष्ट्वा संशय इत्यर्थः ।

सूत्रान्तरं च यथादृष्टमयथादृष्टमुभयथादृष्टमित्येकधर्मिविशेषानुस्मरणकृतं संशयं दर्शयति । पूर्वदृष्टमेव पुरुषं 'यथादृष्टम्' येन येनावस्थाविशेषेण दृष्टं मुण्डं जटिलं वा, तस्मादयथादृष्टमन्येनान्येनावस्थाभेदेन दृष्टम्, कालान्तरे दृष्ट्वा, अवस्थाविशेषमपश्यतः स्मरतश्चैवं तस्यैव प्राक्तनीमवस्थितामुभयीमवस्थां किमयमिदानीं मुण्डः किं वा जटिल इति संशयः स्यादिति सूत्रार्थः ।

न तु विरुद्धाव्यभिचारी संशयहेतुः, प्रयोगाभावात् । यदि तावदाद्यस्य हेतोर्यथोक्तलक्षणत्वमवगतं तदा तस्माद्योऽर्थोऽवधारितः स तथैवेति न द्वितीयस्य प्रयोगः, प्रतिपत्तिबाधितत्वात् । अथायं यथोक्तलक्षणो न भवति, तदानीमयमेव दोषो वाच्यः, किं प्रत्यनुमानेन ? विरुद्धं प्रत्यनुमानं न व्यभिचरति, नातिवर्तत इति विरुद्धाव्यभिचारी प्रथमो हेतुस्तस्यायमेव दोषो यद्विपरीतानु-

रूप असाधारण धर्म को न समझने के कारण संशय उत्पन्न होता है । 'दृष्टञ्च' इस वाक्य के 'च' शब्द से भी यही अर्थ व्यक्त होता है कि जो पदार्थ (स्थाणु या पुरुष में) पहले से ज्ञात नहीं है, अगर उसका भी दूसरे स्थाणु वा दूसरे पुरुष की तरह ज्ञान होता है, तो उस ज्ञान के बाद भी संशय की उत्पत्ति होती है ।

'यथादृष्टमयथादृष्टमुभयथादृष्टम्' इस दूसरे सूत्र के द्वारा वह संशय दिखलाया गया है कि जिसकी उत्पत्ति एक धर्मी में (अनेक धर्मों की) स्मृति से होती है । पहले देखा हुआ पुरुष ही अगर 'यथादृष्ट' हो, अर्थात् जिन-जिन विशेष अवस्थाओं से–जटी अथवा मुण्डी प्रभृति अवस्थाओं से–युक्त होकर जो पूर्व में देखा गया हो, वही पुरुष अगर उससे 'अयथादृष्ट' अर्थात् (उन पूर्वदृष्ट अवस्थाओं से) दूसरी-दूसरी अवस्थाओं से युक्त रूप में दूसरे समय देखा जाता है एवं (उसकी वर्त्तमान) विशेष प्रकार की अवस्था की उपलब्धि नहीं होती है एवं पूर्व की जटी और मुण्डी दोनों अवस्थाओं का स्मरण होता है, तो इस स्थिति में इसी संशय की उत्पत्ति होती है कि यह 'जटाधारी है मुण्डित-मस्तक' ?

('विरुद्धाव्यभिचारी' हेतु में संशय की कारणता सूत्रों से नहीं कही गयी है इतनी ही नहीं वस्तुतः) विरुद्धाव्यभिचारी हेतु संशय का कारण हो ही नहीं सकता; क्योंकि उसका प्रयोग ही सम्भव नहीं है । ('मूर्त्तं मनः अस्पर्शवत्त्वात्', 'अमूर्त्तं मनः क्रियावत्त्वात्' इत्यादि स्थलों में) साध्य के ज्ञापकत्व के प्रयोजक जितने जिन प्रकार के (सपक्षसत्त्वादि) धर्म हैं– पहले हेतु में उन सबों का ज्ञान है, तो फिर इस हेतु से जो निश्चित होगा, वह उसी प्रकार का होगा । अतः (उस विरुद्ध साध्य के साधन के लिए) दूसरे हेतु का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह प्रथम हेतुजनित प्रथम साध्य की अनुमिति (प्रतिपत्ति) से बाधित है । ऐसी स्थिति में अगर प्रथम हेतु में साध्य ज्ञान के प्रयोजक (सपक्षसत्त्वादि)

प्रशस्तपादभाष्यम्

स्यान्न तु संशयहेतुत्वम्, न च तयोस्तुल्यबलवत्त्वमस्ति, अन्यतरस्यानुमेयोद्देशस्यागमबाधितत्वादयं तु विरुद्धभेद एव ।

के ज्ञान समान बल के हैं, इससे इतना ही होगा कि दोनों में से कोई भी निश्चय का उत्पादन न कर सकेगा । इससे (निश्चय की इस अनुत्पादकता) से उनमें संशय की कारणता नहीं आ सकती । वस्तुतः मूर्त्तत्व का साधक क्रियावत्त्व और अमूर्त्तत्व का साधक अस्पर्शवत्त्व ये दोनों हेतु समान बल के हैं भी नहीं; क्योंकि इन दोनों में से एक (अस्पर्शवत्त्व) का साध्य (अमूर्त्तत्त्व) मन में 'तद्भावादणु मनः' (अ.६। आ.१ । सू.२३) इस वैशेषिक सूत्ररूप आगम से बाधित है । अतः (जिसे पूर्वपक्षी दूसरे प्रकार का सन्दिग्ध हेत्वाभास कहते हैं) वह विरुद्ध हेत्वाभास का ही एक प्रभेद है ।

न्यायकन्दली

मानसम्भवः । द्वितीयेन प्रतिपक्षे उपस्थाप्यमाने प्रथमस्य साध्यसाधकत्वाभावादिति चेत् ? यदि द्वितीयवत् प्रथममप्यनुमानलक्षणोपपन्नम्, न प्रथमस्यासाधकत्वम् । तदसाधकत्वेऽन्यत्राप्यनुमाने क आश्वासः ? वस्तुनो द्वैरूप्याभावादसाधकत्वमिति चेत् ? वस्तु द्विरूपं न भवतीति केनैतदुक्तम् ? यथा हि प्रमाणमर्थं गमयति, तदेव हि तस्य तत्त्वम् ।

धर्मों का ज्ञान ही नहीं है, तो फिर उस धर्मविहीनता के प्रयोजक हेत्वाभास का ही उद्भावन करना चाहिए, (उस हेतु को दूषित करने के लिए) प्रथमानुमान (के विरोधी अनुमान) के प्रयोग से क्या प्रयोजन ? (प्र.) 'विरुद्धं न व्यभिचरति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विरुद्धाव्यभिचारी' शब्द का यह अर्थ है कि जो हेतु अपने विरोधी अनुमान की उत्पत्ति को न रोक सके, वही हेतु 'विरुद्धाव्यभिचारी' है । तदनुसार पूर्व में प्रयुक्त हेतु ही 'विरुद्धाव्यभिचारी' है । इस हेतु में यही 'दोष' है कि इसके रहते भी दूसरे हेतु से विपरीत अनुमिति की उत्पत्ति होती है; क्योंकि द्वितीय (प्रति) हेतु के द्वारा जब विरोधी पक्ष की उपस्थिति हो जाती है, तो अपने साध्य के साधन करने की क्षमता पहले हेतु से जाती रहती है । (उ.) अगर दूसरे हेतु की तरह पहले हेतु में अनुमान के उत्पादक (सपक्षसत्त्वादि) सभी लक्षण हैं, तो फिर पहला हेतु अपने साध्य के साधन में अक्षम ही नहीं है; क्योंकि सपक्षसत्त्वादि रूपी बलों के रहते हुए भी यदि प्रथम हेतु में साध्य के साधन का सामर्थ्य न माना जाय, तो और अनुमान प्रमाणों में ही कैसे विश्वास किया जा सकेगा कि वह अपने साध्य का साधन करेगा ही ? अगर यह कहें कि (प्र.) चूँकि कोई भी वस्तु (विरुद्ध) दो प्रकार की नहीं हो सकती, अतः एक (पहले) हेतु को असाधक मान लेते हैं । (उ.) यह किसने कहा कि एक वस्तु (विरुद्ध) दो प्रकार की नहीं हो सकती ? प्रमाण से जिस प्रकार की वस्तु की सिद्धि होगी, वही प्रकार उस

न्यायकन्दली

अथैकं वस्तूभयात्मकं न भवतीति सुदृढप्रमाणावसितोऽयमर्थो न शक्यतेऽन्यथा कर्तुम्, तर्हि तयोस्तुल्यबलत्वं नास्त्येव, एकस्य यथार्थत्वादिति, कुतः संशयः ? यद्यपि वस्तुवृत्त्या द्वयोर्यथार्थता नास्ति, तथाप्यन्यतरस्य विशेषानुपलम्भेन भवेत् तुल्यबलत्वाभिमान इति चेदस्त्वेवम्, तथापि तुल्यबलत्वाद्यथोत्तरेणाद्यं प्रतिबध्यते, तथाद्येनाप्युत्तरं प्रतिबध्यत इति परस्परं स्वसाध्यसाधकत्वं न स्यात्, न तु संशयकर्तृत्वम्, विशेषानुपलम्भमात्रेण विरुद्धोभयविशेषोपस्थापनाभावादित्याह–तुल्यबलत्वे चेति ।

ननु यद्वस्तु तन्मूर्त्तं भवत्यमूर्त्तं वा, न मूर्त्तामूर्त्ताभ्यां प्रकारान्तरमुपलब्धम्, अतो मनसि मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वयोरनुपलम्भेऽपि द्वयोरभावं द्वयोरपि

वस्तु का 'तत्त्व' होगा (यथार्थ रूप होगा) । अगर सुदृढ़ प्रमाण के द्वारा यह निश्चित है कि वस्तु दो प्रकार की नहीं हो सकती, अतः उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, तो फिर दोनों हेतु समान बल के हैं ही नहीं; क्योंकि उनमें एक यथार्थ (अनुमिति का साधक) है । अतः संशय किस प्रकार होगा ? (प्र.) यद्यपि वस्तुस्थिति यही है कि (परस्पर विरोधी साध्यों के साधक) दोनों हेतु यथार्थ (ज्ञान) के साधक नहीं हो सकते, फिर भी दोनों पक्षों में से किसी एक में (यथार्थ के प्रयोजक) विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं होती है, अतः दोनों हेतुओं में समान बल होने का अभिमान होता है । (उ.) अगर दोनों हेतुओं को समान बल का मान भी लें, तो भी जैसे कि पहला हेतु दूसरे हेतु को प्रतिरुद्ध करता है, वैसे ही (उसी के समान बल होने के कारण) दूसरा हेतु भी पहले हेतु को प्रतिरुद्ध कर सकता है । इस प्रकार दोनों परस्पर एक-दूसरे से प्रतिरुद्ध होने के कारण केवल अपने-अपने साध्य का साधन भर न कर सकेंगे । इससे यह सम्भव नहीं है कि दोनों मिलकर संशय का उत्पादन करें; क्योंकि 'दोनों के विशेष (असाधारण) धर्म उपलब्ध नहीं हैं' केवल इतने से ही दोनों हेतुओं से परस्पर विरुद्ध दो साध्यों की उपस्थिति नहीं हो सकती । यही बात 'तुल्यबलत्वे च' इत्यादि भाष्य के द्वारा कही गयी है । (प्र.) जो कोई भी वस्तु वह या तो मूर्त्त ही होगी या फिर अमूर्त्त ही होगी; क्योंकि (परस्पर विरोधी) दो प्रकारों में से किसी एक ही प्रकार की होगी, दोनों से भिन्न किसी तीसरे प्रकार की नहीं; (जैसे कि कोई भी वस्तु द्रव्य ही होगी वा अद्रव्य ही, द्रव्य भी न हो, और अद्रव्य भी न हो ऐसे किसी तीसरे प्रकार की वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है), अतः मूर्त्त या अमूर्त्त इन दोनों को छोड़कर वस्तुओं का कोई तीसरा प्रकार उपलब्ध नहीं है । अतः मन में मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व इन दोनों में से किसी एक के निश्चित न होने पर भी जिस पुरुष के मन में मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व दोनों की सम्भावना या दोनों के अभाव की भी सम्भावना नहीं है, उस पुरुष को मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व इन दोनों में से एक पक्ष का यह संशय होता है कि 'मन मूर्त्त है या अमूर्त्त ?' (उ.) यह ठीक है कि उस पुरुष को उक्त प्रकार का संशय होता है; किन्तु वह इस कारण नहीं होता कि मनरूप धर्मी में

न्यायकन्दली

भावमसम्भावयतो भवत्येवान्यतरपक्षे स संशयः । सत्यं भवत्येव, न तु विरुद्धाव्यभिचारिधर्मद्वयसन्निपातात्, किन्तु वस्तुत्वात् । यन्मूर्त्तत्वामूर्त्तत्वाभ्यां दृष्टसाहचर्यं मनसि प्रतीयमानं स्मृतिद्वारेण तयोरुपस्थापनं करोति ।

तुल्यबलत्वमभ्युपगम्य विरुद्धाव्यभिचारिणः संशयहेतुत्वं निरस्तम्, न त्वनयोस्तुल्यबलत्वमस्ति, अन्यतरस्यानुमेयोद्देशस्य 'अमूर्त्तं मनः' इत्यस्यागमेन 'तदभावादणु मनः' (अ.७,आ..१,सू.२३) इति सूत्रेण बाधितत्वात् । अथेदं सूत्रमप्रमाणम् ? व्यापकमेव मनः, तदा मनःसद्भावे न किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्यमूर्त्तं मनः, अस्पर्शत्वादिति हेतुराश्रयासिद्धः । अथ युगपज्ज्ञानानुत्पत्त्या सिद्धं मनस्तदा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितो युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेर्मनसोऽणु-

विरुद्धाव्यभिचारी मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व रूप दोनों धर्मों का सन्निवेश है । वह तो इस वस्तुस्थिति के कारण होता है कि क्रियावत्त्व और अस्पर्शवत्त्व रूप जो दोनों धर्म मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व के साथ क्रमशः घटादि और आकाशादि में ज्ञात हो चुके हैं, उन दोनों की जब मन में प्रतीति होती है, तो वे मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व इन दोनों को मनरूप धर्मी में उपस्थित कर देते हैं ।

विरुद्धाव्यभिचारी दोनों हेतुओं को समान बल का मानकर उनमें संशय की हेतुता का खण्डन किया गया है; किन्तु यथार्थ में वे दोनों समान बल के हैं ही नहीं; क्योंकि उन दोनों में से पहला 'अनुमेयोद्देश' अर्थात् 'अमूर्त्तं मनः' यह प्रतिज्ञावाक्य 'तदभावादणु मनः' इस सूत्ररूप आगमन से बाधित होने के कारण 'आगमविरोधी' है । अगर उक्त सूत्र को प्रमाण न मानें, तो फिर मन (आकाशादि की तरह) व्यापक द्रव्य ही होगा, ऐसी स्थिति में मन की सत्ता में कोई प्रमाण न रहने के कारण (अमूर्त्तं मनः, अस्पर्शवत्त्वात्) यह हेतु आश्रयासिद्ध होगा । अगर एक ही समय दो ज्ञानों की उत्पत्ति न होने के कारण मन की सिद्धि मान लें, तो मन का अमूर्त्तत्वरूप साध्य मनरूप धर्मी के ज्ञापक 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति' रूप प्रमाण से ही बाधित होगा; क्योंकि, 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति' अर्थात् एक ही समय दो ज्ञानों की अनुत्पत्ति तभी उपपन्न हो सकती है जब कि मन अणु (मूर्त्त) हो; क्योंकि मन अगर व्यापक होगा तो एक ही समय सभी इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध हो सकेगा, जिससे एक ही क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति सम्भव हो जाएगी । 'अनुमेयोद्देश' अर्थात् ज्ञान में आगम के विरोध से कौन सा दोष होगा ? इसी प्रश्न का समाधान 'अयं तु विरुद्धभेद इति' इस भाष्य वाक्य से किया गया है । अर्थात् 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा' इस प्रतिज्ञा-लक्षण में 'अविरोधि' पद के उपादान से जिन प्रत्यक्षादि विरुद्ध प्रतिज्ञाभासों का निराकरण किया गया है, उन्हीं (निराकृत प्रतिज्ञाभासों) में से ही 'अमूर्त्तं मनः' यह आगमविरोधी प्रतिज्ञा भी है । अतः यहाँ प्रतिज्ञाभास ही दोष है, सन्दिग्ध रूप हेत्वाभास नहीं । प्रकृत भाष्य वाक्य में प्रयुक्त 'तु' शब्द के द्वारा यह व्यक्त किया

प्रशस्तपादभाष्यम्

यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानासमानजातीययोरसन्नेव सोऽन्यतरासिद्धोऽनध्यवसायहेतुत्वादनध्यवसितः, यथा सत्कार्यमुत्पत्तेरिति ।

४. कथित अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास ही यदि अनुमेय (पक्ष) में रहे; किन्तु सपक्ष और विपक्ष में न रहे, तो वही 'अनध्यवसाय' रूप ज्ञान का हेतु होने से 'अनध्यवसित' नाम का हेत्वाभास कहा जाता है । जैसे कि ('कार्यं सद् उत्पत्तिमत्त्वात्' इस अनुमान का उत्पत्तिमत्त्व) हेतु

न्यायकन्दली

परिमाणत्वे सति सम्भवात्, व्यापकत्वे मनसो युगपत्समस्तेन्द्रियसम्बन्धाद्युगपदेव ज्ञानानि प्रसज्यन्ते ।

अनुमेयोद्देशस्यागमविरोधः किं दूषणमत आह—अयं तु विरुद्धभेद **इति । अयमागमविरुद्धोऽनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञेत्यविरोधिग्रहणेन निवर्त्तितानां प्रत्यक्षादिविरुद्ध नां प्रतिज्ञाभासानां प्रभेद एव, नायं सन्दिग्धो हेत्वाभासः; किन्तु विरुद्धप्रभेद एवेति तु शब्दार्थः ।**

अनध्यवसित **इत्यसाधारणो हेत्वाभासः कथ्यते । तं व्युत्पादयति**— यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानासमानजातीययोरित्यादि । **सर्वं कार्यमुत्पादात् पूर्वमपि सदिति साध्यते, उत्पत्तेरिति हेतुः सांख्यानाम् । सति सपक्षे व्योमादावसति विपक्षे गगनकुसुमादावभावान्नैकतरपक्षाध्यवसायं करोति । विशिष्टार्थ-**

गया है कि अमूर्त्तत्व का साधक (अस्पर्शवत्त्व हेय) विरुद्ध हेत्वाभास का ही एक प्रभेद है (सन्दिग्ध नहीं) ।

'असाधारण' नाम का हेत्वाभास ही (इस शास्त्र में) 'अनध्यवसित' शब्द से कहा गया है । 'यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानजातीययोः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उसी (असाधारण) को समझाते हैं । 'सभी कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले भी 'सत्' अर्थात् विद्यमान ही हैं' इसको सिद्ध करने के लिए सांख्याचार्यगण 'उत्पत्तेः' इस हेतुवाक्य का प्रयोग करते हैं । इस वाक्य के द्वारा उपस्थापित यह 'उत्पत्ति' रूप हेतु 'असाधारण' (या अनध्यवसित) नाम का हेत्वाभास है; क्योंकि (सदा से विद्यमान) आकाशरूप सपक्ष में भी यह हेतु नहीं है एवं (सर्वदा असत्) आकाशकुसुमादि में भी यह 'उत्पत्ति' रूप हेतु नहीं है (क्योंकि आकाश और आकाशकुसुम इन दोनों से किसी की उत्पत्ति नहीं होती), अतः यह हेतु (कार्यों की उत्पत्ति से पूर्व सत्त्व और असत्त्व) इन दोनों में से किसी भी पक्ष का साधन नहीं कर सकता । गगनादि नित्य पदार्थों की तरह घटादि अनित्य पदार्थ भी अगर पहले से ही हैं, तो फिर 'उत्पत्ति' रूप हेतु कहाँ रहेगा ? कहीं पर निश्चित न रहने के कारण सांख्याचार्यों के इस

प्रशस्तपादभष्यम्

अयमप्रसिद्धोऽनपदेश इति वचनादवरुद्धः । ननु चायं विशेषः संशय-हेतुरभिहितः शास्त्रे तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा

अनध्यवसित नाम का हेत्वाभास है । सूत्रकार ने इसे 'अप्रसिद्धोऽन-पदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः' (अ.३,आ.१,सू.१५) इस सूत्र के द्वारा संग्रह किया है ।

(प्र.) (सपक्ष और विपक्ष में न रहनेवाले एवं केवल पक्ष में ही रहनेवाले) हेतु को 'तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथादृष्टत्वात्' (अ.२,आ.२,सू.२२) इस वैशेषिक सूत्रमें संशय का कारण कहा गया है,

न्यायकन्दली

क्रियाजननयोग्येन रूपेण पूर्वमनभिव्यक्तस्य पश्चादभिव्यक्तिरेवोत्पत्तिरिति सांख्याः, तेन तेषामुत्पत्तेरिति हेतोर्न स्वतोऽसिद्धता ।

अयमनध्यवसितो हेत्वाभासः केन वचनेन सूत्रकृता संगृहीत इत्याह—अयमप्रसिद्धोऽ-ऽनपदेश **(अ.३, आ.१,सू.१५) इति । अनैकान्तिकवदसाधारणो धर्मः संशयं करोति, तेनास्य 'सन्दिग्धश्चानपदेशः' इत्यनेन संग्रहो युक्तो न पुनरप्रसिद्धवचनेनेत्यभिप्रायेणाह—**ननु चेति । **तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेष्विति पञ्चम्यर्थे सप्तमी । पदार्थानां विशेषस्तुल्यजाती-येभ्यो भवति, अर्थान्तरभूतेभ्यश्च भवति । यथा पृथिव्यां गन्धवत्त्वं विशेषो द्रव्या-न्तरेभ्योऽपि स्याद् गुणकर्मभ्यश्च भवति । शब्दे च श्रावणत्वं विशेषो दृश्यते । तत् किं**

उत्पत्तिरूप हेतु में असत्कार्यवादियों को स्वतः असिद्धता का आक्षेप करना उचित नहीं है; क्योंकि (जल-हरणादि) विशेष कार्यों के उपयोगी रूप से अनभिव्यक्त (किन्तु सर्वदा विद्यमान घटादि) कार्यों की अभिव्यक्ति ही सांख्याचार्यों के मत से कार्यों की 'उत्पत्ति' है ।

इस 'अनध्यवसित' हेत्वाभास का संग्रह सूत्रकार ने किस सूत्र (वचन) से किया है ? इसी प्रश्न का समाधान 'अयमप्रसिद्धोऽनपदेशः' भाष्य के इस वाक्य के द्वारा किया गया है । अनैकान्तिक (सव्यभिचार) हेत्वाभास की तरह यह असाधारण (अनध्यवसित) हेत्वाभास भी (साध्य) संशय को उत्पन्न करता है, अतः इसका संग्रह 'सन्दिग्धश्चानपदेशः' सूत्र के इस अंश के द्वारा ही होना उचित है, 'अप्रसिद्धवचन' अर्थात् 'अप्रसिद्धोऽनपदेशः' इस अंश के द्वारा नहीं । 'तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु' इस वाक्य के दोनों पदों में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में किया गया है । (अभिप्राय यह है कि) पदार्थों का अपने सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के पदार्थों की अपेक्षा 'विशेष' अर्थात् असाधारण धर्म होता है । जैसे कि पृथिवी का गन्धवत्त्व रूप 'विशेष' उक्त दोनों ही प्रकार से पृथ्वी का विशेष है; क्योंकि गन्धवत्त्व पृथिवी के (द्रव्यत्व रूप से) सजातीय जलादि द्रव्यों में भी नहीं है; और उसके विजातीय गुणादि पदार्थों में भी नहीं है । इसी प्रकार शब्द में भी श्रावणत्व (श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होना) रूप 'विशेष' है । उसके प्रसङ्ग

प्रशस्तपादभाष्यम्

दृष्टत्वादिति (अ.२, आ. २, सू. ७) नान्यार्थत्वाच्छब्दे विशेषदर्शनात्। संशयानुत्पत्तिरित्युक्ते नायं द्रव्यादीनामन्यतमस्य विशेषः स्याच्छ्रावणत्वं

अतः कथित अनध्यवसित हेत्वाभास असाधारण के उक्त लक्षण से युक्त होने के कारण संशय रूप ज्ञान का ही कारण होगा, अनध्यवसाय रूप ज्ञान का नहीं; क्योंकि वस्तुओं के विशेष (व्यक्तिगत) धर्म ही उनके सजातीयों और विजातीयों की अपेक्षा 'असाधारण' समझे जाते हैं ।

(उ.) यह आक्षेप युक्त नहीं है; क्योंकि उस सूत्र का कुछ दूसरा ही अर्थ है । किसी ने आक्षेप किया था कि शब्द में श्रावणत्व (कान से सुनना) रूप उसका

न्यायकन्दली

शब्दस्य रूपादिभ्यः समानजातीयेभ्योऽयं विशेषः ? किं वा विजातीयेभ्यः ? यदि शब्दो गुणस्तदा रूपादिभ्यः सजातीयेभ्यो विशेषोऽयम्, अथ द्रव्यं कर्म वा ? तदा विजातीयेभ्य इति शब्दे श्रावणत्वाद् द्रव्यं गुणः कर्मेति संशय इति पूर्वपक्षवादिना सूत्रविरोधे दर्शिते सत्याह–नान्यार्थत्वादिति। **नायं सूत्रार्थो यदसाधारणो धर्मः संशयहेतुरिति; किन्त्वस्यान्य एवार्थः । तमेवार्थं दर्शयति–**शब्दे विशेषदर्शनादित्यादिना । **श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्द इति प्रतिपाद्य तस्मिन् द्रव्यं गुणः कर्मेति संशय इत्यभिहितं सूत्रकारेण । तस्यायमर्थः–तस्मिन्**

में यह वितर्क उपस्थित होता है कि शब्द में क्या उसके सजातीय रूपादि गुणों की अपेक्षा यह 'श्रावणत्व' रूप विशेष है, अथवा द्रव्यकर्मादि विजातीय पदार्थों की अपेक्षा यह 'विशेष' है ? शब्द अगर गुण है तो फिर रूपादि उसके सजातीयों की अपेक्षा श्रावणत्व ही उसका विशेष है । शब्द अगर द्रव्य या कर्म है ? तो फिर विजातीय की अपेक्षा यह श्रावणत्व रूप विशेष शब्द में है । इस रीति से श्रावणत्व रूप असाधारण धर्म के द्वारा शब्द में 'यह द्रव्य है ? या गुण है ? अथवा कर्म है' ? इस प्रकार के संशय की आपत्ति के द्वारा सूत्रविरोध का प्रसङ्ग पूर्वपक्षवादियों के उठाने पर उसके समाधान के लिए ही भाष्यकार ने 'न, अन्यार्थत्वात्' यह वाक्य लिखा है । अर्थात् उक्त सूत्र का यह अभिप्राय नहीं है कि 'असाधारण धर्म संशय का कारण है', उस सूत्र का कोई दूसरा ही अर्थ है । 'शब्दे विशेषदर्शनात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा वही दूसरा अर्थ प्रतिपादित हुआ है । 'जो वस्तु श्रवणेन्द्रिय के द्वारा गृहीत हो वही शब्द है' यह प्रतिपादन करने के बाद सूत्रकार ने कहा कि (श्रोत्रग्राह्य) उस वस्तु में यह संशय होता है कि 'यह द्रव्य है ? या गुण है ? अथवा कर्म है ?' इस पर पूर्वपक्षवादी ने कहा कि श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले शब्दरूप अर्थ में जिन संशयों का तुमने उल्लेख किया है उनसे 'श्रोत्रग्राह्यत्व' रूप असाधारण धर्म में ही उक्त संशयों की कारणता व्यक्त होती है; किन्तु सो ठीक नहीं है; क्योंकि

प्रशस्तपादभाष्यम्

किन्तु सामान्यमेव सम्पद्यते, कस्मात् ? तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु द्रव्यादिभेदानामेकैकशो विशेषस्योभयथादृष्टत्वादित्युक्तम्, न संशय-

असाधारण (विशेष) धर्म देखा जाता है, अतः कान से सुने जानेवाले एवं सत्ता जाति से सम्बद्ध शब्द में 'यह द्रव्य है ? या गुण है ? अथवा कर्म है ?' इस प्रकार का संशय नहीं होगा । इसी आक्षेप के समाधान में उक्त सूत्र के द्वारा कहा गया है कि श्रावणत्व द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में से किसी का 'विशेष' अर्थात् असाधारण धर्म नहीं है । उनका वह साधारण धर्म ही प्रतीत होता है; क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में से प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक गुण एवं प्रत्येक कर्म के असाधारण धर्म अपने सजातीयों के (अर्थात् अपने में और अपने सजातीयों में समान रूप से रहनेवाले) सामान्य धर्म के साथ ही देखा

न्यायकन्दली

श्रोत्रग्रहणेऽर्थे संशयः किं द्रव्यं किं वा गुणः किमुत कर्मेति । अत्र परेणोक्तम्–श्रोत्रग्रहणे शब्दे संशयं वदता त्वया श्रोत्रग्राह्यत्वमेव संशयकारणत्वमुक्तम् । श्रोत्रग्राह्यत्वं च विशेषः, तस्य दर्शनात् संशयानुपपत्तिः । विरुद्धोभयस्मृतिपूर्वको हि संशयः, स्मृतिश्च नासाधारण-धर्मदर्शनाद्भवति, तस्य केनचिद्विशेषेण सहानुपलम्भादिति परेणोक्ते सति सूत्रकारेण प्रतिविहितमेतत्, नायं द्रव्यादीनामन्यतमस्य विशेषः श्रावणत्वम्, **द्रव्यगुणकर्मणां मध्येऽन्यतमस्य द्रव्यस्य गुणस्य कर्मणो वा श्रावणत्वं विशेषो न भवति;** किन्तु तेषां सामान्यमेवेदं सम्पद्यते, कस्मात् ? तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु च द्रव्यादिभेदानामेकैकशो विशेषस्योभयथा दृष्टत्वादित्युक्तम् । भिद्यन्त इति **भेदाः, द्रव्यादय एव भेदा**

श्रोत्रग्राह्यत्व शब्द का 'विशेष' अर्थात् असाधारण धर्म है, अतः उसके ज्ञान से संशय नहीं हो सकता । चूँकि विरुद्ध दो कोटियों की उपस्थिति स्मृति का कारण है, यह स्मृति असाधारण धर्म के ज्ञान से सम्भव नहीं है; क्योंकि किसी भी विशेष धर्म के साथ उसकी उपलब्धि नहीं होती है । पूर्वपक्षवादियों के द्वारा यह आक्षेप किये जाने पर महर्षि कणाद ने यह समाधान किया है कि जिस श्रावणत्व धर्म का उल्लेख किया गया है, वह द्रव्यादि में से किसी एक का 'विशेष' नहीं है, अर्थात् द्रव्य या गुण अथवा कर्म इन तीनों में से श्रावणत्व किसी एक का 'विशेष' नहीं है; किन्तु उन तीनों का वह सामान्य ही प्रतिपन्न होता है । अपने इस उत्तर क प्रसङ्ग में 'कस्मात्' अर्थात् किस हेतु से आप यह बात कहते हैं ? यह पूछे जाने पर सूत्रकार ने "तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु द्रव्यादिभेदानामनेकैकशो विशेषस्योभयथादृष्टत्वात्" इत्यादि सूत्र के द्वारा इसका

न्यायकन्दली

द्रव्यादिभेदा द्रव्यगुणकर्माणि, तेषां मध्य एकैकस्य द्रव्यस्य गुणस्य कर्मणो वा तुल्यजातीयेभ्योऽर्थान्तरभूतेभ्यो विशेष 'उभयथादृष्टः' । पृथिव्याः स्वसमानजातीयेभ्यो विशेषः पृथिवीत्वं द्रव्यत्वेन सह दृष्टम् ? रूपस्य विशेषो रूपत्वं गुणत्वेन सह दृष्टम्, उत्क्षेपणस्य विशेष उत्क्षेपणत्वं कर्मत्वेन सह दृष्टम् । शब्दस्यापि श्रावणत्वं विशेषो गुणत्वेन, तस्मादेतदपि विशेषत्वेन रूपेण द्रव्यादीनां सामान्यमेव । ततश्चास्य तेन रूपेण संशयहेतुत्वं युक्तम् । यत् पुनरसाधारणं रूपं न तत् संशयकारणम्, विशेषस्मारकत्वाभावादित्याह—न संशयकारणमिति । **तुल्यजातीयेभ्योऽर्थान्तरभूतेभ्यश्चेति वक्तव्ये सूत्रे सप्तम्यभिधानादेषोऽप्यर्थो गम्यते । शब्दे श्रावणत्वविशेषदर्शनाद् द्रव्यं गुणः कर्मेति संशयः । द्रव्यादिभेदानामेकैकशो विशेषस्य तुल्यजातीयेषु सपक्षेष्वर्थान्तरभूतेषु विपक्षेषु दर्शनादिति । किमुक्तं स्यात् ? विशेषो द्रव्ये गुणे**

उत्तर दिया है । 'भिद्यन्त इति भेदाः, द्रव्यादय एव भेदा द्रव्यादिभेदाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'द्रव्यादिभेद' शब्द से द्रव्य, गुण और कर्म, ये तीनों ही अभिप्रेत हैं । उन तीनों में से एक-एक का अर्थात् द्रव्य या गुण अथवा कर्म का इनमें से सभी में 'तुल्यजातीयों' से अर्थात् समानजातीयों एवं 'अर्थान्तरभूत वस्तुओं' से अर्थात् भिन्नजातीयों से, दोनों प्रकार की वस्तुओं से 'विशेष' अर्थात् व्यावृत्ति देखी जाती है । दोनों प्रकार से व्यावृत्ति या विशेष का यह देखा जाना ही सूत्र के 'उभयथादृष्ट' शब्द से अभिप्रेत है । पृथिवी का 'विशेष' है पृथिवीत्व , जो (उसके समानजातीय जलादि द्रव्यों में रहनेवाले) द्रव्यत्व के साथ ही पृथिवी में है । रूप का 'विशेष' है रूपत्व, जो रूप में गुणत्व के साथ ही देखा जाता है । एवं उत्क्षेपणरूप क्रिया का विशेष है उत्क्षेपणत्व, जो कर्मत्व के साथ ही देखा जाता है । इसी तरह शब्दों का श्रावणत्वरूप विशेष भी गुणत्व के साथ ही रहेगा । अतः यह श्रावणत्वरूप धर्म गन्धवत्त्वादि अन्य सभी विशेषों के समान होने के कारण 'सामान्य' ही है (साधारण धर्म ही है), 'विशेष' अर्थात् असाधारण धर्म नहीं, अतः श्रावणत्व शब्द में द्रव्यत्वादि संशय का अवश्य ही कारण है; किन्तु असाधारण धर्म होने के नाते नहीं; किन्तु साधारण धर्म होने के नाते ही । असाधारण धर्म कभी संशय का कारण होता ही नहीं; क्योंकि वह किसी व्यावृत्ति का (अभाव का) स्मारक नहीं है । यही बात भाष्यकार ने 'न संशयकारणम्' इस वाक्य से कही है । 'तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु' इत्यादि सूत्र में साधारण रीति से प्राप्त पञ्चमी विभक्ति से युक्त 'तुल्यजातीयेभ्योऽर्थान्तरभूतेभ्यः' इस प्रकार के पदों का प्रयोग न कर उक्त सप्तमी विभक्ति से युक्त पदों के प्रयोग से भी यही मालूम होता है कि शब्द में श्रावणत्वरूप विशेष के ज्ञान से यह संशय होता है कि 'शब्द द्रव्य है ? अथवा गुण है ? किं वा कर्म है ?' क्योंकि 'द्रव्यादि भेदों' के अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म में से प्रत्येक के 'विशेष' से अपने आश्रय के तुल्यजातीयों से अर्थात् सपक्षों से और

प्रशस्तपादभाष्यम्

कारणम् । अन्यथा षट्स्वपि पदार्थेषु संशयप्रसङ्गात् । तस्मात् सामान्यप्रत्ययादेव संशय इति ।

द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण च । तत्रानुमेयसामान्येन लिङ्गसामान्यस्यानुविधानदर्शनं साधर्म्यनिदर्शनम् । तद्यथा

जाता है । उक्त सूत्र के द्वारा यह नहीं कहा गया है कि विशेष (असाधारण) धर्म संशय का कारण है । अगर ऐसी बात न हो तो (शब्द में गुणत्व के संशय की तरह) छः पदार्थों में भी अविराम संशय की आपत्ति होगी । अतः सामान्य (साधारण) धर्म के ज्ञान से ही संशय होता है (असाधारण धर्म के ज्ञान से नहीं) ।

साधर्म्य (अन्वय) एवं वैधर्म्य (व्यतिरेक) भेद से निदर्शन (उदाहरण) भी १. साधर्म्योदाहरण और २. वैधर्म्योदाहरण भेद से दो प्रकार का है । इनमें अनुमेय (साध्य) सामान्य के साथ लिङ्ग (हेतु) सामान्य

न्यायकन्दली

कर्मणि च दृष्टः । शब्दे च श्रावणत्वं विशेषो दृश्यते, तस्माद्विशेषत्वाद् द्रव्यादिविषयः संशयः । यदि चासाधारणमपि रूपं संशयकारणम्, तदा षट्स्वपि पदार्थेषु संशयप्रसङ्गः ? सर्वेषामेव तेषामसाधारणधर्मयोगित्वात्, ततश्च संशयस्याविरामप्रसङ्ग इत्याह—अन्यथेति । **उपसंहरति**—तस्मादिति । **साधारणो धर्मो विरुद्धविशेषाभ्यां सह दृष्टसाहचर्यः, तयोः स्मरणं शक्नोति कारयितुमतस्तद्दर्शनादेव संशयो भवति, नासाधारणधर्मदर्शनादित्युपसंहारार्थः ।**

निदर्शनस्वरूपनिरूपणार्थमाह—द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण चेति । **साध्यसाधनयोरनुगमो निदर्श्यते येन वचनेन तद्वचनं साधर्म्य-**

विपक्षों से अर्थात् भिन्नजातीयों से, दोनों से व्यावृत्तिबुद्धि का उत्पादन देखा जाता है । इसका फलितार्थ क्या हुआ ? यही कि द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में ही 'विशेष' देखे जाते हैं एवं शब्द में भी श्रावणत्वरूप विशेष देखा जाता है, अतः संशय होता है कि 'शब्द द्रव्य है ? अथवा गुण है ? किं वा कर्म है ?' अगर असाधारण धर्म भी संशय का कारण हो तो फिर छः पदार्थों में ही संशय की आपत्ति होगी; क्योंकि वे सभी असाधारण धर्म से युक्त हैं । जिससे संशय की अनन्त धारा की आपत्ति होगी । यही बात 'अन्यथा' इत्यादि ग्रन्थ से आचार्य ने कही है । 'तस्मात्' इत्यादि से इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं । इस उपसंहार ग्रन्थ का आशय है कि परस्पर विरुद्ध दो विशेष धर्मों के साथ दृष्ट होने के कारण साधारण धर्म ही उन परस्पर विरुद्ध दोनों धर्मों की स्मृति को उत्पन्न कर सकता है । अतः साधारण धर्म के ज्ञान से ही संशय होता है, असाधारण धर्म के ज्ञान से नहीं ।

'द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण च' भाष्य का यह वाक्य 'निदर्शन' के स्वरूप को समझाने के लिए लिखा गया है । 'साध्य और हेतु का एक जगह रहना

प्रशस्तपादभाष्यम्

यत् क्रियावत् तद् द्रव्यं दृष्टं यथा शर इति । अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम्, तद्यथा यदद्रव्यं तत् क्रियावन्न भवति यथा सत्तेति । अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति ।

की अनुगति जहाँ देखी जाय, वह 'साधर्म्य निदर्शन' है । जैसे कि जिसमें क्रिया देखी जाती है, वह द्रव्य ही होता है, जैसे कि तीर (में क्रिया देखी जाती है और वह द्रव्य है) ।

अनुमेय (साध्य) के अभाव के साथ लिङ्ग (हेतु) के अभाव का आनुगत्य जहाँ देखा जाय, वह 'वैधर्म्य निदर्शन' है । जैसे कि क्रियायुक्त किसी वस्तु को देखकर उसमें द्रव्यत्व के अनुमान के लिए प्रयुक्त (जो द्रव्य नहीं है, उसमें क्रिया भी नहीं रहती है, जैसे कि) सत्ता (जाति द्रव्य नहीं है, अतः उसमें क्रिया भी नहीं है) । अतः उक्त अनुमान में सत्ता 'वैधर्म्य निदर्शन' है । निदर्शनों के इन लक्षणों से (जो वस्तुतः निदर्शन नहीं हैं; किन्तु अज्ञ के द्वारा निदर्शन रूप से प्रयुक्त होने के कारण निदर्शन की तरह प्रतीत होते हैं, उन) निदर्शनाभासों में निदर्शनत्व खण्डित हो जाता है ।

न्यायकन्दली

निदर्शनम्, साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिर्येन वचनेन निदर्श्यते तद्वैधर्म्यनिदर्शनमिति भेदः । तत्र **तयोर्मध्ये साधर्म्यनिदर्शनं कथयति**–तत्रानुमेयेत्यादिना । **तद्व्यक्तमेव । वैधर्म्यनिदर्शनं कथयति**–अनुमेयविपर्यय **इत्यादिना । तदपि व्यक्तमेव ।**

जिस वाक्य से 'निदर्शित' हो, उसे 'साधर्म्यनिदर्शन' कहते हैं । एवं जिस वाक्य से साध्य के अभाव के द्वारा हेतु का अभाव निर्दिष्ट हो, उसे 'वैधर्म्यनिदर्शन' कहते हैं, यही दोनों (निदर्शनों) में अन्तर है । 'तत्र' अर्थात् उन दोनों में 'तत्रानुमेय-सामान्येन' इत्यादि वाक्य के द्वारा 'साधर्म्यनिदर्शन' का उपपादन हुआ है । इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट है । 'अनुमेयविपर्यय' इत्यादि वाक्य के द्वारा 'वैधर्म्यनिदर्शन' का उपपादन हुआ है, इस वाक्य का भी अर्थ स्पष्ट ही है । 'अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति' जो वस्तुतः 'निदर्शन' नहीं हैं, वे भी निदर्शन के किसी सादृश्य के कारण निदर्शन की तरह प्रतीत होते हैं, इस प्रकार जो निदर्शनाभास अर्थात् निदर्शन न होने पर भी निदर्शन के समान हैं, वे 'अनेन' अर्थात् निदर्शन के इस प्रकार के लक्षण के निर्देश से निदर्शन की श्रेणी से अलग हो जाते हैं; क्योंकि उन निदर्शनाभासों में निदर्शन का यह लक्षण नहीं है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तद्यथा—नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यम्, यथा परमाणुर्यथा कर्म, यथा स्थाली, यथा तमोऽम्बरवदिति, यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः ।

अगर कोई शब्द में नित्यत्व के साधन के लिए अमूर्त्तत्व हेतु को उपस्थित कर (शब्दो नित्यः, अमूर्त्तत्वात्) १. परमाणु, २. क्रिया, ३. वर्त्तन, ४. अन्धकार, ५. आकाश जैसी वस्तुओं को (साधर्म्य) निदर्शन के लिए उपस्थित करे तो (उक्त अनुमान के लिए) ये सभी (साधर्म्य) 'निदर्शनाभास' होंगे । एवं आकाशादि निष्क्रिय द्रव्यों में केवल द्रव्यत्व हेतु से अगर कोई क्रियावत्त्व के अनुमान के लिए ६. तीर प्रभृति सक्रिय द्रव्य को उपस्थित करे, तो वह भी साधर्म्य निदर्शनाभास ही होगा । कथित ये (छः) वस्तु कथित अनुमान के लिए प्रयुक्त होने पर साधर्म्य निदर्शन के निम्नलिखित छः दोषों में से क्रमशः एक से युक्त होने के कारण 'साधर्म्यनिदर्शनाभास' ही होंगे, इन दोषों के १. लिङ्गासिद्धि, २. अनुमेयासिद्धि, ३. उभयासिद्धि, ४. आश्रयासिद्धि, ५. अननुगत और ६. विपरीतानुगत (ये छः नाम हैं) ।

न्यायकन्दली

अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति । **अनिदर्शनान्यपि केनचित् साधर्म्येण निदर्शनवदाभासन्त इति निदर्शनसदृशाः**, अनेन **निदर्शनलक्षणेनार्था**न्निरस्ता भवन्ति, **तल्लक्षणरहितत्वात् । यावन्निदर्शनाभासानां स्वरूपं न ज्ञायते, तावत् तेषां स्ववाक्ये वर्जनं परवाक्ये चोपालम्भो न शक्यते कर्तुम्, अतस्तेषां स्वरूपं कथयति—**यथा नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, यदमूर्त्तं तन्नित्यं दृष्टम्, यथा परमाणुः, यथा कर्म, यथा स्थाली, यथा तमोऽम्बरवद्

निदर्शनाभासों का स्वरूप जब तक ज्ञात न हो जाय, तब तक न तो अपने द्वारा किये जानेवाले प्रयोगों में उनसे बचा जा सकता है और न दूसरे यदि उनका प्रयोग करें तो उन वाक्यों में (निदर्शनाभास रूप) दोष का दिखाना ही सम्भव हो सकता है, अतः 'तद्यथा' इत्यादि वाक्यों से उनके उदाहरण और अन्त में उनके भेद दिखलाये गये हैं । अर्थात् (१) लिङ्गासिद्ध, (२) अनुमेयासिद्ध, (३) उभयासिद्ध, (४) आश्रयासिद्ध, (५) अननुगत और (६) विपरीतानुगत ये छः भेद 'निदर्शनाभास' के हैं ।

(१) 'नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, यथा परमाणुः' अर्थात् शब्द में अमूर्त्तत्व हेतु से निरवयवत्व के साधन के लिए कोई अगर 'यदमूर्त्तं तन्नित्यम्, यथा परमाणुः' इस प्रकार के निदर्शन वाक्य का प्रयोग करे तो वह 'लिङ्गासिद्ध' निदर्शनाभास होगा; क्योंकि परमाणु

न्यायकन्दली

यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयाभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः । नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, यथा परमाणुरिति लिङ्गासिद्धो **निदर्शनाभासः परमाणोरमूर्त्तत्वाभावात् । यथा** कर्मेत्यनुमेयासिद्धः, **कर्मणो नित्यत्वाभावात् । यथा स्थालीत्यु**भयासिद्धः, **न स्थाल्यां साध्यं नित्यत्वमस्ति, नापि साधनममूर्त्तत्वम् । यथा तम** इत्याश्रयासिद्धः । **परमार्थतस्तमो नाम न किञ्चिदस्ति, क्व साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः कथ्यते ? अम्बरव**दित्यननुगतोऽयं निदर्शनाभासः । **यद्यप्यम्बरे नित्यत्वममूर्त्तत्वमुभयमप्यस्ति, तथापि यदमूर्त्तं तन्नित्यमेवं न ब्रूते; किन्त्वम्बरवदित्येतावन्मात्रमाह । न चैतस्माद् वचनादप्रतिपन्नसाध्यसाधनयोरम्बरे सद्भावप्रतीतिरस्ति, तस्मादननु-**

के मूर्त्त होने के कारण उसमें अमूर्त्तत्व नाम का हेतु ही सिद्ध नहीं है । (निदर्शन में साध्य की तरह हेतु का निश्चित रहना भी आवश्यक है ।)

(२) 'नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्' इसी अनुमान में अगर कोई 'यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यम्, यथा कर्म' इस निदर्शन-वाक्य का प्रयोग करे तो वह 'अनुमेयासिद्ध' निदर्शनाभास होगा; क्योंकि क्रिया में नित्यत्व रूप अनुमेय अर्थात् साध्य ही सिद्ध नहीं है ।

(३) उसी अनुमान में 'यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यम्, यथा स्थाली' इस प्रकार के निदर्शन-वाक्य का अगर कोई प्रयोग करे, तो वह 'उभयासिद्ध' नाम का निदर्शनाभास होगा; क्योंकि स्थाली (बटलोही) में नित्यत्व रूप अनुमेय और अमूर्त्तत्व रूप लिङ्ग दोनों ही सिद्ध नहीं हैं ।

(४) उसी अनुमान में कोई अगर 'यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यम्, यथा तमः' इस प्रकार से निदर्शन-वाक्य का प्रयोग करे, तो वह 'आश्रयासिद्ध' नाम का निदर्शनाभास होगा; क्योंकि तम नाम का कोई (भाव) पदार्थ वस्तुतः है ही नहीं, साध्य और हेतु की व्याप्ति का प्रदर्शन कहाँ होगा ? (क्योंकि निदर्शन का यही प्रयोजन है कि वहाँ साध्य और हेतु की व्याप्ति निश्चित रहे, जिससे कि प्रकृत पक्ष में साध्य की सिद्धि के लिए उसका प्रयोग किया जा सके ।)

(५) 'शब्दो नित्यः, अमूर्त्तत्वात्' इसी स्थल में अगर उदाहरण को दिखाने के लिए 'अम्बरवत्' केवल इतने ही अंश का कोई प्रयोग करे 'यदमूर्त्तं तन्नित्यम्' इस अंश का प्रयोग न करे तो वह 'अननुगत' नाम का निदर्शनाभास होगा । यद्यपि आकाश में नित्यत्व और अमूर्त्तत्व ये दोनों ही हैं, फिर भी 'यदमूर्त्तं तन्नित्यम्' इस अंश का प्रयोग नहीं किया गया है; किन्तु केवल 'अम्बरवत्' इतना ही कहा गया है, केवल इसी त्रुटि से यह 'अननुगत' नाम का हेत्वाभास होगा; क्योंकि इस वाक्य के बिना पहले से अज्ञात साध्य और हेतु इन दोनों की सत्ता का ज्ञान आकाश में नहीं हो सकेगा, अतः यह (साध्य और हेतु आकाशरूप अधिकरण में अनुगत रूप से ज्ञापक न होने के कारण) 'अननुगत' नाम का निदर्शनाभास है ।

Departmental Library
Deptt. of Philosophy & Religion
Acc. No. 25633 Date 07.08.10
Banaras Hindu University

न्यायकन्दली

गतोऽयं निदर्शनाभासः । यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति विपरीतानुगतः, **द्रव्यं वायुः क्रियावत्त्वादित्यत्रापि व्याप्यं क्रियावत्त्वं व्यापकं च द्रव्यत्वम् । यच्च व्याप्यं तदेकनियता व्याप्तिर्न संयोगवदुभयत्र व्यासज्यते, व्यापकस्य व्याप्यव्यभिचारात् । यत्रापि समव्याप्तिके कृतकत्वानित्यत्वादौ व्याप्यस्यापि व्यापकत्वमस्ति, तत्रापि व्याप्यत्वरूपं समाश्रित्यैव व्याप्तिर्न व्यापकत्वरूपाश्रयत्वात्, व्यभिचारिण्यपि तद्रूपस्यापि सम्भवात् । यथोपदिशन्ति गुरवः —**

व्यापकत्वगृहीतस्तु व्याप्यो यद्यपि वस्तुतः ।
आधिक्येऽप्यविरुद्धत्वाद् व्याप्यं न प्रतिपादयेत् ॥ इति ।

(६) 'द्रव्यं वायुः क्रियावत्त्वात्' इस अनुमान के लिए अगर कोई 'यद्द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टम्' इस प्रकार ('यत् क्रियावत् तत् द्रव्यं दृष्टम्' इस प्रकार से निदर्शन वाक्य प्रयोग न करके) उसके विपरीत वाक्य का कोई प्रयोग करे, तो वह निदर्शन न होकर 'विपरीतानुगत' नाम का निदर्शनाभास होगा; क्योंकि इस अनुमान में 'क्रियावत्त्व' हेतु है, अतः वही व्याप्य है एवं साध्य होने के कारण द्रव्यत्व ही व्यापक है । अनुमान की उपयोगी व्याप्ति केवल व्याप्य (हेतु) में ही रहती है, व्यापक (साध्य) में नहीं । एक ही व्याप्ति संयोग की तरह व्यापक और व्याप्य अपने दोनों सम्बन्धियों में व्याप्त होकर रहनेवाली वस्तु नहीं है; क्योंकि (साध्य) व्यापक में व्याप्य (हेतु) की व्याप्ति नहीं (भी) रहती है; क्योंकि साध्य हेतु के बिना भी देखा जाता है । जिन समव्याप्तिक (जिस अनुमान के साध्य और हेतु दोनों समान आश्रयों में हों, साध्य का आश्रय हेतु के आश्रय से अधिक न हो) स्थलों में जैसे कि 'घटोऽनित्यः कृतकत्वात्' इत्यादि अनुमान के कृतकत्व हेतु में व्याप्यत्व की तरह साध्य का व्यापकत्व भी है, फिर भी कृतकत्व हेतु में जो अनित्यत्व रूप साध्य की व्याप्ति है, वह इसी कारण है कि वह साध्य का व्याप्य है । इसलिए कृतकत्व हेतु में अनित्यत्व रूप साध्य की व्याप्ति नहीं है कि कृतकत्व रूप हेतु अनित्यत्व रूप साध्य का व्यापक है । अगर साध्य के व्यापक होने के कारण ही साध्य की व्याप्ति हेतु में मानें तो ('धूमवान् वह्नेः' इत्यादि) व्याभिचारी स्थलों के हेतुओं में भी साध्य की व्याप्ति माननी होगी; क्योंकि व्याप्ति के प्रयोजक साध्य का व्यापकत्व तो वहाँ भी है ही (वह्नि धूम का व्यापक है ही) । जैसा कि गुरुचरणों का उपदेश है कि–(किसी) व्याप्य (हेतु) में भी साध्य की व्यापकता वस्तुतः रहने पर भी, वह हेतु व्यापक होने के कारण व्याप्य का (अपने से व्याप्य साध्य का केवल उसके व्याप्य होने के कारण ज्ञापन नहीं कर सकता; क्योंकि साध्य की व्यापकता (केवल समव्याप्त हेतु में ही नहीं, किन्तु) साध्य से अधिक स्थानों में रहनेवाले (व्यभिचारी) हेतु में भी है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

यदनित्यं तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथा कर्म यथा परमाणुर्यथाकाशं यथा तमः, घटवत्, यन्निष्क्रियं तदद्रव्यञ्चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्त-विपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति ।

(रूपादि अनित्य गुणों में यदि कोई अनित्यत्व हेतु से मूर्त्तत्व के साधन के लिए प्रस्तुत होकर वैधर्म्यनिदर्शन के लिए १. क्रिया, २. परमाणु, ३. आकाश, ४. अन्धकार और ५. घट जैसी वस्तुओं को उपस्थित करे तो ये सभी वस्तुयें (उक्त अनुमान के लिए प्रयुक्त होने पर) 'वैधर्म्यनिदर्शनाभास' होंगे । एवं (आकाशादि निष्क्रिय द्रव्यों में द्रव्यत्व हेतु से क्रियावत्त्व के अनुमान के लिए प्रयुक्त सत्ता जाति भी) जिसमें क्रिया नहीं है, वह द्रव्य भी नहीं है, जैसे कि ६. 'सत्ता' इस प्रकार से प्रयुक्त होने पर 'वैधर्म्यनिदर्शनाभास' ही होगा । (वैधर्म्यनिदर्शनाभास रूप दोषों के ये छः नाम हैं–१. लिङ्गाव्यावृत्त २. अनुमेयाव्यावृत्त, ३. उभयाव्यावृत्त, ४. आश्रयासिद्ध, ५. अव्यावृत्त और ६. विपरीत व्यावृत्त (तदनुसार वैधर्म्यनिदर्शनाभास रूप दुष्ट निदर्शन भी छः हैं) ।

न्यायकन्दली

अतो व्याप्तिर्व्याप्यगतत्वेन दर्शनीया 'यत् क्रियावत् तद् द्रव्यमि'ति । न व्यापक-गतत्वेन तत्र तस्या अभावात्, अतो विपरीतानुगतोऽयम् । लिङ्गं चानुमेयं चोभयं चाश्रयश्च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयाः, तेऽसिद्धा येषां ते लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाः, लिङ्गानुमेयो-भयाश्रयासिद्धाश्चाननुगताश्च विपरीतानुगताश्चेति योजना ।

वैधर्म्यनिदर्शनाभासान् कथयति–यदनित्यमित्यादिना । **नित्यः शब्दोऽ-मूर्त्तत्वाद् यदनित्यं तन्मूर्त्तं यथा कर्मेति** लिङ्गाव्यावृत्तो **वैधर्म्यनिदर्शना-**

अतः व्याप्य (हेतु) में ही व्याप्ति की वर्तमानता दिखानी चाहिए, जैसे कि 'यत् क्रियावत् तद् द्रव्यम्' इस प्रकार के वाक्यों से होता है । व्यापक में व्याप्ति को नहीं दिखाना चाहिए; क्योंकि व्यापकीभूत वस्तु में रहनेवाली व्याप्ति (अनुमिति की उपयोगी) नहीं है । अतः 'यद् द्रव्यं तत् क्रियावत्' इत्यादि प्रकार के निदर्शन-वाक्य 'विपरीतानुगत' निदर्शनाभास ही हैं । 'लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धा-ननुगतविपरीतानुगताः' इस समस्तवाक्य का विग्रह 'लिङ्गञ्चानुमेयञ्चोभयञ्चाश्रयश्च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयाः, ते असिद्धा येषां ते लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाः, लिङ्गा-नुमेयोभयाश्रयासिद्धाश्चाननुताश्च विपरीतानुगताश्च' इस प्रकार समझना चाहिए ।

'यदनित्यम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा वैधर्म्य निदर्शनाभासों का उपपादन करते हैं । वैधर्म्य निदर्शनाभास भी छः प्रकार के हैं– (१) लिङ्गाव्यावृत्त, (२) अनुमेया-

न्यायकन्दली

भासः, कर्मणो मूर्त्यभावात् । यथा परमाणुरित्यनुमेयाव्यावृत्तः, **अनुमेयं नित्यत्वं परमाणोरव्यावृत्तम् । यथाकाश**मित्युभयव्यावृत्तः, **नाकाशादमूर्त्तत्वं नापि नित्यत्वं व्यावृत्तम् । यथा तम इत्याश्रयासिद्धः । परमार्थतस्तु तम एव नास्ति, किमाश्रया साध्यसाधनयोर्व्यावृत्तिः स्यात् । घटवदित्यव्यावृत्तः । यद्यपि घटे साध्यसाधनयोररस्ति व्यावृत्तिः, तथापि यदनित्यं तन्मूर्त्तमित्येवं न**

व्यावृत्त (३) उभयाव्यावृत्त (४) आश्रयासिद्ध, (५) अव्यावृत्त और (६) विपरीतव्यावृत्त ।

(१) 'नित्यः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्' रूप में इस अनुमान के लिए कोई यदि 'यदनित्यं तन्मूर्त्तम्, यथा कर्म' इस प्रकार से कर्म को वैधर्म्यनिदर्शन न उपस्थित करे तो वहाँ कर्म 'लिङ्गाव्यावृत्त' नाम का वैधर्म्यनिदर्शनाभास होगा; क्योंकि क्रिया रूप विपक्ष में अमूर्त्तत्व रूप लिङ्ग की अव्यावृत्ति अर्थात् अभाव नहीं है । क्रिया में नित्यत्व रूप साध्य तो नहीं है; किन्तु अमूर्त्तत्व रूप हेतु है ।

(२) 'नित्यः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्' इसी अनुमान में यदि कोई 'यदनित्यं तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथा परमाणुः' इस प्रकार से परमाणु को वैधर्म्य-निदर्शन के लिए उपस्थित करे तो वह 'अनुमेयाव्यावृत्त निदर्शनाभास' होगा; क्योंकि परमाणु में नित्यत्व रूप अनुमेय अर्थात् साध्य की व्यावृत्ति (अभाव) नहीं है ।

(३) उसी अनुमान में यदि कोई 'यदनित्यं तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथाकाशम्' इस प्रकार से आकाश को वैधर्म्य निदर्शनाभास के लिए उपस्थित करे तो वह 'उभयाव्यावृत्त' निदर्शनाभास होगा; क्योंकि आकाश में नित्यत्व रूप साध्य का अभाव और अमूर्त्तत्व रूप हेतु का अभाव, अर्थात् अनित्यत्व और मूर्त्तत्व इन दोनों में से कोई भी नहीं है, अतः आकाश में साध्याभाव और हेत्वभाव दोनों की ही व्यावृत्ति (अभाव) न रहने के कारण प्रकृत में आकाश 'उभयाव्यावृत्त' निदर्शनाभास है ।

(४) उसी अनुमान में 'यथा तमः' इस प्रकार से तम (अन्धकार को यदि वैधर्म्यदृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जाय तो वह 'आश्रयासिद्ध' नाम का निदर्शनाभास होगा; क्योंकि तम नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, फिर साध्यव्यावृत्ति (साध्य का अभाव) और हेतुव्यावृत्ति (हेतु का अभाव) इन दोनों का किसमें प्रदर्शन होगा ?

(५) 'नित्यः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्' इसी अनुमान में वैधर्म्यनिदर्शन को दिखलाने के लिए यदि 'घटवत्' केवल इसी वाक्य का प्रयोग करे ('यदनित्यं तन्मूर्त्तम्' इस अंश का प्रयोग 'घटवत्' इस वाक्य के पहले न करे) तो वह 'अव्यावृत्त नाम का निदर्शनाभास होगा। यद्यपि घट में साध्य की व्यावृत्ति (अर्थात् अनित्यत्व) और हेतु की व्यावृत्ति (मूर्त्तत्व) यो दोनों ही हैं, फिर भी 'यदनित्यं तन्मूर्त्तम्' (जो अनित्य होता है वह अवश्य ही मूर्त्त होता है) इस अंश का प्रयोग न करने के कारण इस प्रसङ्ग में विरुद्ध मत

न्यायकन्दली

वदति, न च तथानभिधाने साध्यसाधनयोर्व्यावृत्तिप्रतिपत्तिर्विप्रतिपन्नस्य भवति, अतोऽयमव्यावृत्तः । यन्निष्क्रियं तदद्रव्यमिति विपरीतव्यावृत्तः । यथा साध्यं व्यापकं साधनं व्याप्यम्, तथा साध्याभावो व्याप्यः साधनाभावश्च व्यापकः ।

यथोक्तम्—

नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशे मते ।
विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयोः ॥ इति ।

तत्र द्रव्यं वायुः क्रियावत्त्वादित्यत्र विपर्ययव्याप्तिप्रदर्शनार्थं यदद्रव्यं तदक्रियमिति वाच्यम्, अयं तु न तथा ब्रूते; किन्त्वेवमाह—यन्निष्क्रियं तदद्रव्य-

रखनेवाले पुरुष को साध्य के अभाव और हेतु के अभाव की (उपयुक्त) प्रतीति नहीं हो पाती है, अतः उक्त स्थल में घट 'अव्यावृत्त' नाम का निदर्शनाभास समझना चाहिए ।

(६) 'द्रव्यं वायुः क्रियावत्त्वात्' इस अनुमान के लिए यदि कोई 'यन्निष्क्रियं तदद्रव्यम्' इस प्रकार से वैधर्म्य-निदर्शन का प्रयोग करना चाहे, तो वह 'विपरीतव्यावृत्ति' नाम का (वैधर्म्य) निदर्शनाभास होगा; क्योंकि 'यद् द्रव्यं न भवति' इत्यादि प्रकार से साध्याभाव के बोधक वाक्य का प्रयोग पहले न कर उसके 'विपरीत' अर्थात् उल्टा पहले हेतु के अभाव का बोधक 'यन्निष्क्रियम्' इस वाक्य का ही प्रयोग पहले किया गया है । जैसे कि साध्य व्यापक है और साधन व्याप्य है (अतः साधर्म्य-निदर्शन वाक्य में पहले हेतुबोधक पद का प्रयोग होता है, बाद में साध्यबोधक पद का, उसी प्रकार) साध्याभाव व्याप्य है और हेत्वभाव व्यापक, अतः वैधर्म्य-निदर्शन वाक्य में पहले साध्याभाव के बोधक वाक्य का ही प्रयोग होना चाहिए, बाद में हेत्वभाव के बोधक वाक्य का, अर्थात् दोनों ही प्रकार के निदर्शन वाक्यों में व्याप्य के बोधक वाक्य का पहले प्रयोग चाहिए, बाद में व्यापक के बोधक वाक्य का, प्रकृत में इसके विपरीत हुआ है । अतः 'विपरीतव्यावृत्त' नाम का निदर्शनाभास है ।

जैसे कि (अनुमिति के लिए) साध्य का हेतु से व्यापक होना और हेतु का साध्य से व्याप्य होना सहायक है, उसी प्रकार (अन्वयव्यतिरेकी और केवलव्यतिरेकी हेतु का अनुमानों में) हेतु के अभाव से साध्य के अभाव का व्यापक होना और साध्य के अभाव का हेतु के अभाव से व्याप्य होना भी सहायक है । जैसा कहा गया है कि जिस प्रकार के हेतु में नियन्तृत्व (व्याप्यत्व) एवं जिस प्रकार के साध्य में नियम्यत्व (व्यापकत्व) रहता है, उसके विपरीत उन दोनों के अभावों में हेतु का अभाव ही व्यापक और साध्य का अभाव ही व्याप्य होता है । इस स्थिति में 'द्रव्यं वायुः क्रियावत्त्वात्' इस अनुमान में यदि विपर्यय (व्यतिरेक) व्याप्ति का दिखाना आवश्यक हो तो 'यदद्रव्यं तदक्रियम्' इस प्रकार से निदर्शन वाक्य का प्रयोग करना चाहिए । प्रकृत में वह पुरुष (जो निदर्शनाभास का प्रयोग करता है) इस प्रकार न कहकर, उसका उल्टा (विपरीत) ऐसा कहता है कि 'यन्निष्क्रियं तदद्रव्यम्' अर्थात्

प्रशस्तपादभाष्यम्

निदर्शनेऽनुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य लिङ्गसामान्यमनुमेयेऽन्वानयनमनुसन्धानम् । अनुमेयधर्ममात्रत्वेनाभिहितं लिङ्गसामान्य-

निदर्शन (उदाहरण) में साध्यसामान्य के साथ ज्ञात हुए लिङ्ग (हेतु) सामान्य की सत्ता का पक्ष में बोध करानेवाला वाक्य ही साधर्म्यानुसन्धान' (साधर्म्योपनय) है । (विशदार्थ यह है कि) 'लिङ्गसामान्य पक्ष (अनुमेय) में है' इस प्रकार केवल पक्षमात्रवृत्तित्व रूप से कथित हेतु

न्यायकन्दली

मिति । एवं च न व्याप्तिरस्ति, आकाशस्य क्रियारहितत्वेऽपि द्रव्यत्वात् । तस्माद् विपरीतव्यावृत्तोऽयं वैधर्म्यनिदर्शनाभासः । लिङ्गं चानुमेयं चोभयं च लिङ्गानुमेयोभयानि तान्यव्यावृत्तानि येषां ते तथोक्ताः । आश्रयोऽसिद्धो यस्य स आश्रयासिद्धः, लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्तश्चाश्रयासिद्धश्च अव्यावृत्तश्च विपरीतव्यावृत्तश्चेति व्याख्या ।

निदर्शनेऽनुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य लिङ्गसामान्यस्यानुमेयेऽन्वानयनमनुसन्धानम् । **निदर्श्यते निश्चिता साध्यसाधनयोर्व्याप्तिरस्मिन्निति** निदर्शनं **दृष्टान्तः, तस्मिन्ननुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य प्रतीतस्य लिङ्गसामान्यस्यानुमेये साध्यधर्मिण्यन्वानयनं सद्भावोपदर्शनं येन वचनेन क्रियते तदनुसन्धानम् ।**

जिसमें क्रिया नहीं है,वह द्रव्य ही नहीं है; किन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं है; क्योंकि आकाशादि द्रव्य तो हैं; किन्तु उनमें क्रियावत्त्व नहीं है । अतः प्रकृत अनुमान में 'यन्निष्क्रियं तदद्रव्यम्' यह वाक्य 'विपरीतव्यावृत्त' नाम का वैधर्म्य निदर्शनाभास होगा । 'लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ति' शब्द 'लिङ्गञ्चानुमेयं चोभयं च लिङ्गानुमेयोभयानि. तान्यव्यावृत्तानि येषाम्' इस व्युत्पत्ति से बना है और 'आश्रयोऽसिद्धो यस्य' इस व्युत्पत्ति से प्रकृत 'आश्रयासिद्ध' शब्द बना है । (इस प्रकार दोनों शब्दों के निष्पन्न होने के बाद) 'लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्तश्चाश्रयासिद्धश्चाव्यावृत्तश्च विपरीतव्यावृत्तश्च' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्याख्या करनी चाहिए ।

'निदर्शनेऽनुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य लिङ्गसामान्यस्यानुमेयेऽन्वानयनमनुसन्धानम्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'निदर्शन' शब्द का 'निर्दिश्यते निश्चिता साध्यसाधनयोर्व्याप्तिरस्मिन्निति निदर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पर्यायवाची 'दृष्टान्त' शब्द है । तदनुसार दृष्टान्त में साध्यसामान्य के साथ दृष्ट अर्थात् ज्ञात लिङ्ग (हेतु) सामान्य का अनुमेय में अर्थात् साध्य के धर्मी में (पक्ष में) 'अन्वानयन' अर्थात् सत्ता का प्रदर्शन जिस वाक्य के द्वारा किया जाय, वही 'अनुसन्धान' है । 'अनुसन्धीयते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दृष्टान्त में साध्य की व्याप्ति से युक्त एवं उसी रूप में देखे हुए हेतु

न्यायकन्दली

दृष्टान्ते साध्याविनाभूतत्वेन दर्शितं लिङ्गं पक्षेऽनुसन्धीयते प्रतिपाद्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या। एतदेव स्वोक्तं विवृणोति–अनुमेयधर्ममात्रत्वेनाभिहितं **लिङ्गसामान्यमिति। प्रतिज्ञानन्तरं हेतुवचनेन लिङ्गं वस्तुव्यावृत्त्यानुमेयेऽस्तीत्येतावन्मात्रतया हेतुत्वेनाभिहितम्, न तु धर्मिणि तस्य सद्भावः कथित इत्यभिप्रायः। लिङ्गस्य साध्यप्रतिपादने शक्तिरन्वयव्यतिरेकौ पक्षधर्मता च, सा पूर्वं प्रतिज्ञाहेतुवचनाभ्यां तस्य नावगतेत्यनुपलब्धिशक्तिकं निदर्शने साध्यधर्मसामान्येन सह दृष्टमनुमेये येन वचनेनानुसन्धीयते तदनुसन्धानमिति।**

अयमत्राभिसन्धिः–परार्थः शब्दो यथा यथा परस्य जिज्ञासोदयते तथा तथा प्रयुज्यते, प्रत्येतुश्च साध्येऽभिहिते साधने भवत्याकाङ्क्षा–कुत इदं सिद्ध्यति? न तु साधनस्य सामर्थ्यम्, स्वरूपावगतिपूर्वकत्वात् सामर्थ्यजिज्ञासायाः। साधने चाकाङ्क्षिते प्रयुज्यमानं हेतुवचनं हेतुस्वरूपमात्रं कथयति, न तस्य पक्षधर्मताम्, एकस्य शब्दस्योभयार्थवाचकत्वाभावात्। विज्ञाते हेतौ कथमस्य हेतुत्वमिति सामर्थ्यजिज्ञासायां साध्यप्रतीतेरविनाभावप्रतीतिनान्तरीयकत्वाद् व्याप्तिवचनेना-

का पक्ष (रूप अनुमेय) में सत्ता का प्रदर्शन जिस वाक्य के द्वारा हो वही 'अनुसन्धान' है, वही बात 'निदर्शने' इत्यादि से भाष्यकार ने स्वयं कही है, जिसकी व्याख्या 'अनुमेयमात्रत्वेनाभिहितं लिङ्गसामान्यम्' इत्यादि से भाष्यकार स्वयं करते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रतिज्ञावाक्य के प्रयोग के बाद प्रयुक्त हेतुवाक्य के विपक्षव्यावृत्ति के आक्षेप द्वारा सामान्य रूप से ही यह समझा जाता है कि 'यह हेतु अनुमेय (पक्ष) में है'। इससे हेतु केवल हेतुत्वरूप से ही प्रतिपादित होता है। इससे पक्षरूप धर्मी में हेतु की सत्ता प्रतिपादित नहीं होती है। हेतु में साध्य का अन्वय और व्यतिरेक एवं पक्ष में हेतु का रहना (पक्षधर्मता) ये दोनों ही वस्तुतः हेतु में रहनेवाली साध्य के ज्ञापन की शक्ति है। (यह शक्ति हेतु में ज्ञात होकर ही साध्यज्ञानरूप अनुमिति को उत्पन्न करती है) यह शक्ति (निदर्शन वाक्य के प्रयोग के) पहले प्रतिज्ञा वाक्य और हेतु वाक्य इन दोनों के द्वारा ज्ञात नहीं हो पाती। इस प्रकार अज्ञात शक्ति से युक्त हेतुसामान्य ही साध्यसामान्य के साथ निदर्शन (उदाहरण) में देखा जाता है। इस रूप से देखे हुए हेतु का अनुमेय (पक्ष) में अनुसन्धान (प्रतिपादन) जिस वाक्य के द्वारा हो वही प्रकृत में 'अनुसन्धान' है।

गूढ़ अभिप्राय यह है कि जिस क्रम से बोद्धा पुरुष की जिज्ञासा उठती है, उसी क्रम से दूसरे के लिए (परार्थ) शब्द का प्रयोग होता है। तदनुसार (वक्ता के द्वारा प्रयुक्त प्रतिज्ञा वाक्य से) साध्य के प्रतिपादित हो जाने पर बोद्धा को हेतु के प्रसङ्ग में यही जिज्ञासा स्वभाविक रूप से होनी है कि 'इस साध्य की सिद्धि किस हेतु से होती है?' (प्रतिज्ञा वाक्य के प्रयोग के बाद हेतुविषयक इस जिज्ञासा से पहले) हेतु की शक्ति के प्रसङ्ग में जिज्ञासा नहीं होती है; क्योंकि हेतु के स्वरूप का ज्ञान हेतुगत सामर्थ्य की

न्यायकन्दली

विनाभावे कथिते सत्यवधारितसामर्थ्यस्य हेतोः पश्चात् सम्भवो जिज्ञास्यत इत्युदाहरणानन्तरं पक्षधर्मतावगमार्थमुपगन्तव्य उपनयः, हेतुत्वाभिधानसामर्थ्यादिव पक्षधर्मत्वं प्रतीयते, व्यधिकरणस्यासाधकत्वादिति चेत् ? तदभिधानसामर्थ्याद् व्याप्तिरपि तु लप्स्यते, अनन्वितस्य हेतुत्वाभावादित्युदाहरणमपि न वाच्यम् । असाधारणस्यापि भ्रान्त्या हेतुत्वाभिधानोपपत्तेर्न तस्मादेकान्तेनान्वयप्रतीतिरस्तीत्युदाहरणेन व्याप्तिरुपदर्श्यत इति चेत् ? धर्मिण्यविद्यमानस्यापि भ्रमेण हेतुत्वाभिधानोपलम्भान्न ततः पक्षधर्मतासिद्धिरस्तीत्युदाहरणस्थस्य लिङ्गस्य पक्षेऽस्तित्वनिश्चयार्थमुपनयो वाच्यः । असिद्धस्य भ्रमादुपनयोऽपि

जिज्ञासा का कारण है (प्रतिज्ञा वाक्य से साध्यावगति के बाद) केवल हेतु की आकाङ्क्षा से जिस हेतु वाक्य का प्रयोग होता है, उससे केवल हेतु के स्वरूप का ही बोध होता है, हेतु के पक्षधर्मतारूप सामर्थ्य का नहीं; क्योंकि एक बार प्रयुक्त शब्द एक ही अर्थ को समझा सकता है दो अर्थों को नहीं । साधारण रूप से हेतु का ज्ञान हो जाने पर स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि "इससे साध्य का ज्ञान किस रीति से उत्पन्न होता है ?" बोद्धा की इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर ही व्याप्तिवचन (उदाहरण) का प्रयोग किया जाता है, जिस हेतु में साध्य की जो व्याप्ति है, उसका प्रदर्शन हो सके; क्योंकि हेतु में साध्य की व्याप्ति के ज्ञात होने पर ही साध्य की अनुमिति होती है । इस क्रम से हेतु में साध्य के अविनाभाव का निश्चय हो जाने पर स्वाभाविक क्रम से पक्ष में साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु के रहने की जिज्ञासा उठती है, जिसको मिटाने के लिए ही उदाहरणवाक्य के बाद 'उपनय' वाक्य का प्रयोग करना पड़ता है । (प्र.) (साध्य के साथ एक आश्रय में रहनेवाले हेतु से ही साध्य का बोध होता है) साध्य के आश्रय से भिन्न आश्रय में रहनेवाले हेतु से नहीं, इस रीति से हेतु वाक्य के द्वारा हेतुत्व का जो प्रतिपादन होता है, उसी से हेतु में पक्षधर्मता का भी बोध हो ही जाएगा । अतः पक्षधर्मता के लिए उपनयवाक्य का प्रयोग व्यर्थ है । (उ.) इस प्रकार तो हेतु वाक्य के द्वारा हेतुत्व के अभिधान से ही व्याप्ति का लाभ भी सम्भव है; क्योंकि व्याप्ति के बिना भी हेतु में हेतुता सम्भावित नहीं है, अतः हेतु वाक्य से ही व्याप्ति का भी लाभ हो जायेगा । यतः साध्य की व्याप्ति (अन्वय) के बिना किसी में हेतुता नहीं आ सकती, अतः उदाहरण वाक्य का प्रयोग करना आवश्यक होता है । यदि यह कहें कि भ्रान्तिवश असाधारण हेतु (केवल पक्ष में ही रहनेवाला हेतु जो वस्तुतः हेत्वाभास है) भी हेतु वाक्य के द्वारा अभिहित हो सकता है । हेतु वाक्य से ही व्याप्ति का भी लाभ हो जाएगा; क्योंकि साध्य की व्याप्ति के बिना किसी में हेतुता नहीं आ सकती, अतः उदाहरण वाक्य का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए । (प्र.) यदि यह कहें कि भ्रान्तिवश असाधारण हेतु (केवल पक्ष में ही रहनेवाले हेत्वाभास) का भी हेतु वाक्य के द्वारा अभिधान किया जा सकता है । अतः हेतु वाक्य के द्वारा हेतु में व्याप्ति की निश्चित प्रतीति नहीं हो सकती,

न्यायकन्दली

दृश्यते कथं तस्मादपि पक्षधर्मतासिद्धिरिति चेत् ? असिद्धाविनाभावस्यापि भ्रान्त्या व्याप्ति-वचनं दृश्यते कथं तस्मादन्वयसिद्धिः ? उदाहरणे व्याप्तिग्राहकप्रमाणानुसारेणान्वयनिश्चयो न वचनमात्रेण, तस्य सर्वत्राविशेषादिति चेत् ? उपनयेऽपि पक्षधर्मताग्राहकप्रमाणानुसारादेव तद्धर्मतानिश्चयो न वचनमात्रत्वात् । हेत्वभिधानान्यथानुपपत्त्यैव पक्षधर्मताग्राहिप्रमाणानु-सारो भवतीति चेत् ? तदन्यथानुपपत्त्यैव व्याप्तिग्राहकप्रमाणानुसारो भविष्यति । हेतुवचन-स्यान्यार्थत्वान्न तदुपनयनसामर्थ्यमस्तीति तदुपस्थापनमुदाहरणेन क्रियत इति चेत् ? इहापि सैव रीतिरनुगम्यताम्, अलमन्यथा सम्भावितेन ।

अतः उदाहरण के द्वारा व्याप्ति का प्रदर्शन किया जाता है । (उ.) तो फिर उपनय के प्रसङ्ग में भी इसी प्रकार यह कह सकते हैं कि पक्ष में न रहनेवाली (अपक्षधर्म) वस्तु में भी भ्रान्तिवश हेतुवाक्य के द्वारा हेतुत्व का प्रतिपादन हो सकता है, अतः उदाहरण में निश्चित रूप से विद्यमान हेतु को पक्ष में निश्चित रूप से समझाने के लिए उपनय का प्रयोग भी आवश्यक है । (प्र.) पक्ष में अनिश्चित हेतु के बोधक उपनय वाक्य का भ्रान्ति से भी प्रयोग होता है, अतः उपनय से पक्षधर्मता की सिद्धि कैसे होगी ? (उ.) जिस हेतु में व्याप्ति निश्चित नहीं है, भ्रान्तिवश उसमें व्याप्ति को समझाने के लिए भी 'व्याप्तिवचन' अर्थात् उदाहरण वाक्य का प्रयोग होता है, फिर उदाहरण से ही व्याप्ति की सिद्धि किस प्रकार होगी ? (प्र.) उदाहरण वाक्य केवल वाक्य होने के कारण ही व्याप्ति का बोधक नहीं है; क्योंकि वाक्यत्व तो सभी वाक्यों में समान रूप से है; किन्तु उदाहरण वाक्य में यतः व्याप्ति के बोधक प्रमाणरूप शब्दों का प्रयोग होता है, अतः उदाहरण वाक्य से व्याप्ति का बोध होता है । (उ.) उपनय के प्रसङ्ग में भी इसी प्रकार कहा जा सकता है कि उपनयवाक्य केवल वाक्य होने के कारण ही पक्षधर्मता का बोधक नहीं है; क्योंकि वाक्यत्व तो सभी वाक्यों में समान रूप से है; किन्तु उपनयवाक्य में जिस लिए कि हेतु में पक्षधर्मता के बोधक प्रमाणरूप शब्दों का प्रयोग होता है, इसीलिए उपनयवाक्य से पक्षधर्मता का बोध होता है । (प्र.) हेतु वाक्य से (उपयुक्त) हेतुत्व का बोध तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि उसे हेतु में पक्षधर्मता का बोधक प्रमाण न मान लिया जाय, अतः हेतु वाक्य से ही पक्षधर्मत्व का बोध हो जाएगा (उसके लिए उपनयवाक्य के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है) । (उ.) यही बात व्याप्ति के प्रसङ्ग में भी कही जा सकती है कि हेतु में उपयुक्त हेतुत्व का बोध तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हेतुवाक्य को व्याप्ति का भी बोधक प्रमाण न मान लिया जाय, ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि व्याप्ति के बोध के लिए उदाहरण वाक्य की आवश्यकता नहीं है (हेतुवाक्य से ही व्याप्ति का भी बोध हो जाएगा) । यदि यह कहें कि (प्र.) हेतु वाक्य (हेतु रूप) दूसरे अर्थ का बोधक है, अतः उसमें व्याप्ति को समझाने का सामर्थ्य नहीं है, अतः व्याप्ति को समझाने के लिए उपनयवाक्य की अलग से आवश्यकता होती है । (उ.)

प्रशस्तपादभाष्यम्

मनुपलब्धशक्तिकं निदर्शने साध्यधर्मसामान्येन सह दृष्टमनुमेये येन वचने-नानुसन्धीयते तदनुसन्धानम् । तथा च वायुः क्रियावानिति । अनुमेयाभावे च तस्यासत्त्वमुपलभ्य न च तथा वायुर्निष्क्रिय इति ।

सामान्य में साध्यसामान्य को साधन करने का सामर्थ्य उपलब्ध नहीं होता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि उदाहरण में साध्यसामान्य के साथ वृत्तित्व रूप से ज्ञात हेतुसामान्य का (केवल हेतुसामान्य का नहीं) पक्ष में सत्ता का ज्ञापन हो। यह ज्ञापन जिस वाक्य से होता है, वही 'साधर्म्यानु-सन्धान' है। (वायु में क्रियावत्त्व हेतु से द्रव्यत्व के अनुमान के लिए यदि तीर को निदर्शनरूप से उपस्थित किया जाय एवं उसके बाद तीररूप निदर्शन में द्रव्यत्व के साथ ज्ञात क्रियावत्त्व का वायुरूप पक्ष में सत्ता दिखाने के लिए) 'वायु में (भी) क्रिया है' इस वाक्य का प्रयोग किया जाय तो (उक्त अनुमान के लिए) यह वाक्य 'साधर्म्यानुसन्धान' होगा।

(वैधर्म्यनिदर्शन या विपक्ष में) अनुमेय अर्थात् साध्य के अभाव के साथ ज्ञात हेतु के अभाव का पक्ष में जिस वाक्य से असत्ता प्रतिपादित हो, वही वाक्य 'वैधर्म्यानुसन्धान' है। जैसे कि (कोई वायु में क्रियावत्त्व हेतु से द्रव्यत्व के अनुमान के लिए ही इस वैधर्म्य-निदर्शन वाक्य का प्रयोग करे कि 'जो द्रव्य नहीं है उसमें क्रिया भी नहीं है जैसे कि सत्ता, सत्ता में द्रव्यत्व नहीं है तो क्रिया भी नहीं है' इस रीति से उक्त वाक्य से सत्ता में द्रव्यत्वाभाव के साथ ज्ञात) क्रियावत्त्व के अभाव का वायु में असत्ता का प्रतिपादन करनेवाले सत्ता की तरह 'वायु क्रियाशून्य नहीं है' इत्यादि वाक्य 'वैधर्म्यानुसन्धान' हैं।

न्यायकन्दली

अस्तु तर्ह्युपनयः, व्यर्थं हेतुवचनम् ? न, असति हेतुवचने साधनस्वरूपानवबोधात् तत्सामर्थ्यजिज्ञासाया अनुपपत्तौ उदाहरणादिवचनानां प्रवृत्त्यभावात् । तथा च न्याय-भाष्यम्—'असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्यते' इति ।

तो फिर उपनय के प्रसङ्ग में भी वही रीति अपनाइए ? उसके लिए अलग रीति अपनाना व्यर्थ है।

(प्र.) ऐसी स्थिति में उपनय को ही मान लीजिए, हेतुवाक्य को ही छोड़ दीजिए ? (उ.) सो सम्भव नहीं है; क्योंकि यदि हेतुवाक्य न रहे, तो हेतु के स्वरूप का बोध कैसे होगा ? हेतु के स्वरूप का बोध न होने पर हेतु के सामर्थ्य के प्रसङ्ग में कोई जिज्ञासा ही न उठ सकेगी, जिससे उदाहरणादि वाक्यों की प्रवृत्तियाँ ही अनुपपन्न

प्रशस्तपादभाष्यम्

अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः । प्रतिपाद्यत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां हेत्वादिभिरवयवैराहितशक्तीनां परिसमाप्तेन

(प्रथमतः प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा) अनुमेयरूप से कथित होने पर भी (समर्थ हेतु सम्बन्ध के प्रतिपादन के बिना) अनिश्चित साध्य को दूसरों को निश्चितरूप से समझाने के लिए फिर से प्रयुक्त (उपयुक्त हेतु के सम्बन्ध से युक्त साध्य के बोधक) प्रतिज्ञा वाक्य ही 'प्रत्याम्नाय' (निगमन) है। (विशदार्थ यह है कि सर्वप्रथम प्रयुक्त) केवल प्रतिज्ञावाक्य से साध्य अनुमेयत्वरूप से निर्दिष्ट होने पर भी बोद्धा पुरुष के लिए

न्यायकन्दली

अनुसन्धानस्योदाहरणमाह—तथा चेति । **वैधर्म्यानुसन्धानं दर्शयति**—अनुमेयाभावे चेति ।

प्रत्याम्नायं व्याचष्टे—अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे इति । **प्रतिज्ञावचनेन पक्षे अनुमेयत्वेन प्रतिपाद्यत्वेनोद्दिष्टे साध्यधर्मेऽनिश्चिते तस्यैव धर्मिणि प्रत्याम्नायः प्रत्यावृत्त्याभिधानं येन वचनेन क्रियते तत्प्रत्याम्नायः ।अभिहितस्य पुनरभिधानं किमर्थमत आह—परेषां** निश्चयापादनार्थमिति । **प्रथमं साध्यमभिहितं न तु तन्निश्चितम्, प्रतिज्ञामात्रेण साध्यसिद्धेरभावात् । तस्योपदर्शिते हेतौ, कथिते च हेतोः सामर्थ्ये, निश्चयः प्रत्याम्नायेन क्रियत इत्यस्य साफल्यम् । एतदेव दर्शयति**—प्रतिपाद्यत्वेनोद्दिष्ट **इत्यादिना । प्रथमं वचनमात्रेण परेषां**

हो जायेंगी । जैसा न्यायभाषा में कहा गया है कि 'हेतु के न रहने पर किसका (साध्यबोधक जनक) सामर्थ्य (उदाहरणादि वाक्यों से) दिखलाया जायगा' ?

'तथा च' इत्यादि वाक्य के द्वारा अनुसन्धान (उपनय) का उदाहरण कहा गया है । 'अनुमेयाभावे' इस सन्दर्भ से 'वैधर्म्यानुसन्धान' का उदाहरण दिखलाया गया है ।

'अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे' इत्यादि वाक्य के द्वारा 'प्रत्याम्नाय' (निगमन) की व्याख्या करते हैं । प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा 'उद्दिष्ट' अर्थात् कहने के लिए अभीष्ट जो 'अनिश्चित' साध्यरूप धर्म, उसी साध्यरूप धर्म का उसी पक्ष में जो 'प्रत्याम्नाय' अर्थात् दूसरी बार कहना, जिस वाक्य के द्वारा हो उसी को 'प्रत्याम्नाय' कहते हैं । (प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा) कहे हुए साध्यरूप धर्म को ही फिर से क्यों कहते हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर 'परेषां निश्चयापादनार्थम्' इस वाक्य से दिया गया है । पहले (प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा) केवल साध्य कहा जाता है; किन्तु उससे साध्य का निश्चय नहीं हो पाता; क्योंकि

प्रशस्तपादभाष्यम्

वाक्येन निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः, तस्माद् द्रव्यमेवेति । न ह्येतस्मिन्नसति परेषामवयवानां समस्तानां

अनिश्चित (सन्दिग्ध) ही रहता है । (क्योंकि हेतु में पक्षधर्मता और व्याप्ति के निश्चय के बिना) पक्ष में उसके निश्चयात्मक ज्ञान को अपनी आत्मा में उत्पादन का सामर्थ्य बोद्धा पुरुष को नहीं रहता है । हेतु प्रभृति अवयव जब समझानेवाले पुरुष से प्रयुक्त होते हैं, तब समझनेवाले पुरुष में साध्य को पक्ष में निश्चित रूप से समझने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है । इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न पुरुष को पक्ष में साध्य को निश्चित रूप से समझाने के लिए प्रयुक्त प्रतिज्ञावाक्य ही 'प्रत्याम्नाय' (निगमन) है । जैसे कि (क्रियावत्त्व हेतु से वायु में द्रव्यत्व की अनुमिति के लिए प्रयुक्त न्यायवाक्यों का) 'तस्मात् वायु द्रव्य ही है' यह वाक्य (प्रत्याम्नाय है) । इस (प्रत्याम्नाय) के न रहने पर शेष चार अवयव वाक्य परस्पर

न्यायकन्दली

साध्यनिश्चयो न भूतः, तेषां हेतूदाहरणोपनयैरवयवैर्हेतोस्त्रैरूप्ये दर्शिते सञ्जातानुमेयप्रतिपत्तिसामर्थ्यानां प्रत्याम्नाये कृते 'परिसमाप्तेन' **परिपूर्णेन** 'वाक्येन' **निश्चयो जायत इत्येतदर्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः प्रवर्त्तते ।**

तस्योदाहरणम्—तस्माद् द्रव्यमेवेति । **हेत्वादिभिरवयवैरेव साध्यं निश्चीयते किं**

केवल प्रतिज्ञा वाक्य से साध्य का निश्चय (सिद्धि) नहीं होता है । जब हेतु वाक्य के द्वारा हेतु का प्रदर्शन हो जाता है एवं (उदाहरण और उपनय के द्वारा) हेतु का (व्याप्ति और पक्षधर्मतारूप) सामर्थ्य कथित हो जाता है, तब प्रत्याम्नाय के द्वारा साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार प्रत्याम्नाय की सार्थकता स्पष्ट है । यही बात 'प्रतिपाद्यत्वेनोद्दिष्टे' इत्यादि से कही गई है । अभिप्राय यह है कि बोद्धा को पहले केवल (प्रतिज्ञा) वचन के द्वारा साध्य का निश्चय नहीं हो पाता; किन्तु हेतु, उदाहरण और उपनय इन तीन अवयवों के द्वारा (अनुमान के प्रयोजक) हेतु के (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन) तीनों रूपों का ज्ञान जब बोद्धा पुरुष को हो जाता है, तब उसी पुरुष को अर्थात् कथित रीति से अनुमेय के ज्ञान के सामर्थ्य से युक्त हेतु के ज्ञान से युक्त पुरुष को प्रत्याम्नाय वाक्य के प्रयुक्त होने पर 'परिसमाप्त' अर्थात् सम्पूर्ण वाक्य से निश्चयात्मक ज्ञान होता है । इसी निश्चयात्मक ज्ञान के लिए प्रतिज्ञा वाक्य का पुनः प्रयोगरूप प्रत्याम्नाय प्रवृत्त होता है ।

'तस्माद् द्रव्यमेव' इस वाक्य के द्वारा प्रत्याम्नाय का उदाहरण दिखलाया गया है । हेतु प्रभृति अवयवों से ही साध्य की सिद्धि हो जाएगी, अतः प्रत्याम्नाय का

प्रशस्तपादभाष्यम्

व्यस्तानां वा तदर्थवाचकत्वमस्ति, गम्यमानार्थत्वादिति चेत्, न, अति-

मिलित होकर या स्वतन्त्र रूप से भी प्रत्याम्नाय के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते (अतः उन चारों के रहते हुए भी प्रत्याम्नाय का असाधारण प्रयोजन है । सुतराम् इसके वैयर्थ्य की आशंका अयुक्त है) ।

(प्र.) (यदि प्रतिज्ञावाक्य को फिर से दुहराना ही प्रत्याम्नाय है तो फिर) ज्ञात अर्थ के ही ज्ञापक होने के कारण (प्रत्याम्नाय की कोई आवश्यकता नहीं है) ? (उ.) ऐसी बात नहीं है, यदि ऐसी बात हो तो

न्यायकन्दली

प्रत्याम्नायेन ? इत्यत आह—न ह्येतस्मिन्नसतीति । **प्रतिज्ञादयोऽवयवाः प्रत्येकं स्वार्थमात्रेण पर्यवसायिनोऽसति प्रत्याम्नाये नैकमर्थं प्रत्याययितुमीशते, स्वतन्त्रत्वात् । सति त्वेतस्मिन्नाकाङ्क्षोपगृहीता अङ्गाङ्गिभावमुपगच्छन्तः शक्नुवन्तीति युक्तः प्रत्याम्नायः ।**

पुनश्चोदयति — गम्यमानार्थत्वादिति । **अयमभिप्रायः — स्वार्थानुमाने यैव प्रतिपत्तिसामग्री, सैव परार्थानुमानेऽपि । इयांस्तु विशेषः, स्वप्रतीतावियं स्वयमनुसन्धीयते, परप्रतीतौ च परेण बोध्यते । स्वयं च लिङ्गसामर्थ्यादर्थोऽवगम्यते, परस्यापि तदेव गमकम् । वाक्यं तु लिङ्गोपक्षेपमात्रे चरितार्थम् । प्रतिपादितं च**

कोई प्रयोजन नहीं है, इसी आक्षेप का समाधान 'न तु तस्मिन्नसति' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा किया गया है । अभिप्राय यह है कि प्रतिज्ञादि चारों अवयव अलग-अलग स्वतन्त्ररूप से केवल अपने-अपने अर्थों का ही प्रतिपादन कर सकते हैं, स्वतन्त्र होने के कारण प्रत्याम्नाय के बिना किसी एक विशिष्ट अर्थ को उनमें से कोई भी एक अवयव नहीं समझा सकता । प्रत्याम्नाय वाक्य के प्रयोग से ही प्रतिज्ञादि अवयव परस्पराकाङ्क्षा के द्वारा एक-दूसरे से अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त कर एक विशिष्ट अर्थविषयक बोध का सम्पादन कर सकते हैं, अतः प्रत्याम्नाय का प्रयोग आवश्यक है ।

'गम्यमानार्थत्वात्' इस वाक्य के द्वारा फिर से आक्षेप करते हैं । आक्षेप करनेवाले का अभिप्राय है कि कारणों के जिस समुदाय से स्वार्थानुमान की उत्पत्ति होती है, परार्थानुमान भी उसी कारण समुदाय से उत्पन्न होता है । अन्तर इतना ही है कि स्वार्थानुमान वाले पुरुष को स्वयं ही उस कारण समूह का अनुसन्धान करना पड़ता है और परार्थानुमान स्थल में उस समूह का अनुसन्धान दूसरे के द्वारा कराया जाता है । जिस प्रकार स्वार्थानुमान स्थल में हेतु के पक्षसत्त्वादि सामर्थ्यों के द्वारा 'अर्थावगम' अर्थात् अनुमिति होती है, उसी प्रकार परार्थानुमान स्थल में भी हेतु के उन सामर्थ्यों से ही अनुमिति होती है । (अवयव) वाक्यों का तो अनुमिति में इतना ही उपयोग है कि वे (उक्त सामर्थ्य से युक्त) हेतु को उपस्थित कर देवें । अन्वय और व्यतिरेक

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रसङ्गात् । तथा हि प्रतिज्ञानन्तरं हेतुमात्राभिधानं कर्त्तव्यम्, विदुषामन्वयव्यतिरेकस्मरणात् तदर्थावगतिर्भविष्यतीति, तस्मादत्रैवार्थपरिसमाप्तिः ।

फिर उक्त पक्ष में (केवल प्रतिज्ञा और हेतु वाक्य को छोड़कर निदर्शन और अनुसन्धान इन दोनों के भी वैयर्थ्य की आपत्ति होगी); क्योंकि (पूर्वपक्षवादी की रीति के अनुसार) प्रतिज्ञावाक्य के बाद केवल हेतु-वाक्य के प्रयोग से ही प्रकृत प्रयोजन की निष्पत्ति हो जाएगी; क्योंकि (व्याप्ति से) अभिज्ञ पुरुष को (व्याप्ति के कारणीभूत) अन्वय और व्यतिरेक का स्मरण यों ही (बिना निदर्शनवाक्य और अनुसन्धानवाक्य के सुने ही) हो जाएगा । (प्रतिज्ञावाक्य के प्रयोग के बाद हेतुवाक्य का प्रयोग होने के बाद ही) अभीष्ट अर्थ का बोध सम्पन्न हो जाएगा । अतः (प्रतिज्ञादि चार अवयवों के प्रयोग को पूर्वपक्षी जिस दृष्टि से आवश्यक मानते हैं, उसी दृष्टि से उन्हें मानना होगा कि) प्रत्याम्नाय पर्यन्त पाँच अवयववाक्यों के प्रयोग से ही अभीष्ट अर्थ के ज्ञान की समाप्ति हो सकती है ।

न्यायकन्दली

हेत्वादिभिरवयवैः पक्षधर्मतान्वयव्यतिरेकोपपन्नं लिङ्गम् । तावतैव च तस्मादर्थावगतिसम्भवात् कृतं निगमनेनेति । समाधत्ते—नातिप्रसङ्गादिति । **वाक्यं लिङ्गसामर्थ्यमेव बोधयति न साध्यम्; किन्तु न तस्य सामर्थ्यं बहिर्व्याप्तिपक्षधर्मतामात्रम्, सत्यपि तस्मिन् प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टयोरसाधकत्वात्, अपि त्वबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमपि सामर्थ्यम् । तत्सद्भावो यावत्प्रमाणेन न प्रतिपाद्यते, तावत्प्रतिपक्षसम्भवाशङ्काया अनिवर्तनात् । धर्मिण्युपसंहृतेऽपि साधने साध्यप्रतीतेरयोग इति विपरीतप्रमाणाभावग्राहकं**

(व्याप्ति) एवं पक्षधर्मता इन दोनों से युक्त हेतु की उपस्थिति तो हेतु उदाहरण और उपनय इन्हीं अवयवों से सम्पन्न हो जाती है, फिर कौन-सी आवश्यकता अवशिष्ट रह जाती है, जिसके लिए निगमनवाक्य का प्रयोग आवश्यक होता है ? "न, अतिप्रसङ्गात्" इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इस आक्षेप का समाधान करते हैं । (उदाहरणादि अवयव) वाक्यों से लिङ्ग के (व्याप्ति और पक्षधर्मतारूप) सामर्थ्य का ही बोध होता है, साध्य का नहीं; किन्तु केवल व्याप्ति और पक्षधर्मता ये ही दोनों हेतु के सामर्थ्य नहीं हैं; क्योंकि उक्त सामर्थ्य के रहने पर भी प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्षित) और कालात्ययाप दिष्ट (बाधित) हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं होती । अतः हेतु में साध्यसिद्धि के उपयुक्त समार्थ्य के लिए यह भी आवश्यक है कि पक्ष में उसके साध्य का बाध न हो, एवं पक्ष में उसके साध्य के अभाव का साधक कोई दूसरा हेतु न रहें, फलतः अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व यो दोनों भी हेतु के सामर्थ्य हैं । प्रमाण के द्वारा जब तक

न्यायकन्दली

प्रमाणमुपदर्श्यते। तदभावे प्रतिपादिते, प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टत्वाभावे निश्चिते, प्रख्यापितसामर्थ्यं साधनं साध्यं समर्थयतीति प्रत्याम्नायोपयोगः। तत्र यद्यनुक्तमपि सामर्थ्यमर्थाद् गम्यत इत्यस्य प्रतिक्षेपः क्रियते, तदोदाहरणादिकमपि प्रतिक्षेप्तव्यम्। प्रतिज्ञानन्तरं हेत्वभिधाने कृते विदुषां स्वयमेवान्वयव्यतिरेकस्मरणादर्थावगतिसम्भवात्।

एतदुक्तं भवति। न प्रतिपन्नं प्रति परार्थानुमानम्, वैयर्थ्यात्। न च प्रतिपाद्यस्य कियत्यङ्गे प्रतिपत्तिरस्ति, कियति नास्तीति शक्यमवगन्तुम्, परचित्तवृत्तेर्दुरुन्नेयत्वात्। नापि तच्छक्त्यनुरोधाद् वाक्यकल्पना युक्ता, प्रतिपत्तृणां विचित्रशक्तिमत्त्वात्। तस्मात् परं बोधयता यावता हेतोः साधकत्वं

इन दोनों सामर्थ्यों का प्रतिपादन नहीं होगा, तब तक प्रतिपक्ष की सम्भावना बनी ही रहेगी। इस प्रकार (व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु का पक्ष में उपसंहार होने पर भी) साध्य की (प्रमा) प्रतीति नहीं हो पाती है। अतः साध्य के विपरीत अर्थात् साध्याभाव के साधक प्रमाणों के अभाव के ग्राहक प्रमाण का भी प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार विपरीत अर्थात् उक्त प्रमाणाभाव की उपपत्ति से ही हेतु में प्रकरणसमत्वाभाव (असत्प्रतिपक्षितत्व) और कालात्ययापदिष्टत्वाभाव (अबाधितत्व) इन दोनों का भी होता है। इसी रीति से हेतु में साध्य के साधक उक्त सभी सामर्थ्यों के ज्ञान से ही हेतु साध्य का साधन करता है, अतः प्रत्याम्नाय (निगमन) का प्रयोग आवश्यक है। ऐसी स्थिति में यदि प्रत्याम्नाय वाक्य के बिना कहे हुए भी हेतु के उक्त प्रकरणसमत्वाभाव और कालात्ययापदिष्टत्वाभावरूप सामर्थ्य का आक्षेप से बोध मानकर प्रत्याम्नाय (निगमन) वाक्य खण्डन करें, तो फिर (व्याप्ति और पक्षधर्मता के बोधक) उदाहरणादि वाक्यों का भी खण्डन करना होगा; क्योंकि प्रतिज्ञा वाक्य के बाद हेतु वाक्य का प्रयोग कर देने से ही बोद्धा को स्वयं हेतु का साध्य के साथ जो अन्वय और व्यतिरेक है, उसका स्मरण हो जाएगा, जिससे साध्य की अनुमिति हो जाएगी।

सिद्धान्तियों के इस सन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि सर्वथा व्युत्पन्न पुरुष के लिए परार्थानुमान का प्रयोग व्यर्थ होने के कारण अपेक्षित ही नहीं है। यतः दूसरे की चित्तवृत्ति को यथार्थ रूप से समझना भी बहुत कठिन है। अतः 'बोद्धा को 'अनुमिति' के उत्पादक कितने अङ्गों का ज्ञान है एवं कितने अङ्गों का नहीं' यह समझना भी असम्भव-सा ही है। यह भी सम्भव नहीं है कि बोद्धा के सामर्थ्य के अनुसार अवयव वाक्यों का प्रयोग हो; क्योंकि बोद्धाओं के प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग प्रकार की शक्ति होती है। अतः वस्तुस्थिति के अनुसार हेतु की जितनी शक्तियों से साध्य का प्रतिपादन सम्भव है, उन सभी को समझाने के लिए जितने वाक्यों की आवश्यकता जान पड़े, उन सभी वाक्यों का प्रयोग सभी परार्थानुमानों में कर देना चाहिए। यह नहीं कि जहाँ जिस बोद्धा

न्यायकन्दली

वस्तुवृत्त्योपपद्यते तावानर्थो वचनेन प्रतिपादनीयः, न प्रतिपत्तृविशेषानुरोधेन वर्तितव्यम् । यथोक्तम्—

वस्तु प्रत्यभिधातव्यं सिद्धार्थो न परान् प्रति ।
को हि विप्रतिपन्नायास्तद्बुद्धेरनुधावति ॥

उपसंहरति—तस्मादत्रैवार्थपरिसमाप्तिरिति । **यस्मान्निगमने सति हेतोः समग्रं सामर्थ्यं प्रतीयते तस्मादत्रैव निगमने** अर्थस्य **साध्यस्य** परिसमाप्तिः **प्रतीतिपर्यवसानम्** ।

यद्वैवं योजना, यस्मान्निगमनमन्तरेण विपरीतप्रमाणाभावो नावगम्यते, तस्मादेतस्मिन्नेववार्थस्य **सम्यग् हेतुसामर्थ्यस्य** परिसमाप्तिः **पर्यवसानमिति** ।

प्रत्येकमुक्तमेवावयवानां रूपमेकत्र संहृत्य प्रश्नपूर्वकं कथयति—कथमित्यादिना । **किं शब्दो नित्यः, किं वा अनित्य इत्यन्यतरधर्मजिज्ञासायां प्रतिज्ञावचनेनानिश्चितेनानित्यत्वमात्रेण विशिष्टः शब्दः कथ्यते 'अनित्यः'**

की जितनी शक्ति है, उसके अनुसार उन-उन जगहों में अलग-अलग संख्या के वाक्यों का प्रयोग किया जाय । जैसा कहा गया है कि "दूसरों को किसी वस्तु को समझाने के लिए 'सिद्धार्थवाक्य' का (अर्थात् जितने वाक्यों से उस अर्थ की सिद्धि की सम्भावना हो उन सभी वाक्यों का) प्रयोग करना चाहिए । (समझनेवाले पुरुष की बुद्धि के अनुसार वाक्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि) बोद्धा की विविध बुद्धियों का अनुगमन कौन कर सकता है ?"

'तस्मादत्रैवार्थपरिसमाप्तिः' इस वाक्य से इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं । यतः निगमन वाक्य के प्रयोग के होने पर ही हेतु के पूर्णसामर्थ्य की प्रतीति होती है । 'तस्मादत्रैव' अर्थात् अतः 'यहीं' निगमनवाक्य में ही 'अर्थ' की अर्थात् साध्य की 'परिसमाप्ति' अर्थात् प्रतीति की अन्तिम परिणति होती है । अथवा 'तस्मात्' इत्यादि उपसंहार वाक्य को इस प्रकार लगाना चाहिए कि यतः निगमन के बिना विपरीत प्रमाण की असत्ता की प्रतीति नहीं होती है, 'तस्मात्' निगमनवाक्य में ही 'अर्थ' की अर्थात् सद्धेतु के सामर्थ्य की 'परिसमाप्ति' अर्थात् पर्यवसान (अन्तिम परिणति) होता है ।

अलग-अलग कहे गए प्रत्येक अवयव के स्वरूप को एक स्थान में संग्रह कर प्रश्नोत्तर रूप से 'कथम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा कहते हैं । शब्द के प्रसङ्ग में नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों में से 'यह नित्य है ? अथवा अनित्य ?' इस प्रकार की एक ही आकाङ्क्षा उठती है । उसी के शमन के लिए 'अनित्यः शब्दः' इस आकार का प्रतिज्ञा-वाक्य प्रयुक्त होता है, जिससे 'शब्द उस अनित्यत्वरूप धर्म से युक्त है, जो अनिश्चित है' इस आकार का बोध होता है । 'शब्द अनित्य ही है' इसमें क्या हेतु है ?

प्रशस्तपादभाष्यम्

कथम् ? अनित्यः शब्द इत्यनेनानिश्चितानित्यत्वमात्रविशिष्टः शब्दः कथ्यते । प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यनेनानित्यत्वसाधनधर्ममात्रमभिधीयते । "इह यत् प्रयत्नानन्तरीयकं तदनित्यं दृष्टम्, यथा घटः" इत्यनेन साध्यसामान्येन साधनसामान्यस्यानुगममात्रमुच्यते । नित्यम-

(प्र.) (प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों की आवश्यकता) किस प्रकार गिहै ? (उ.) 'अनित्यः शब्दः' (शब्द अनित्य है) इस प्रतिज्ञावाक्य से अनिश्चित अनित्यत्व से युक्त शब्द का ही बोध होता है । प्रतिज्ञावाक्य के बाद प्रयुक्त 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' (यतः प्रयत्न के बाद ही शब्द की सत्ता उपलब्ध होती है) इस हेतुवाक्य से 'शब्द में अनित्यत्व का

न्यायकन्दली

इति । तत्र को हेतुरित्यपेक्षायां प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् **पूर्वमसतः प्रयत्नानन्तरमुपलभ्यमानत्वादिति हेतुवचनेनानित्यत्वसाधनधर्ममात्रमभिधीयते । मात्रग्रहणेन पक्षधर्मताया अन्वयव्यतिरेकयोश्चानभिधानं दर्शयति । अवगतसाधनस्य कथमिदं साध्यं गमयतीति साधनसामर्थ्यापेक्षायाम् 'इह जगति यत् प्रयत्नानन्तरीयकं** तदनित्यं दृष्टम्' **इत्युदाहरणेन** साध्यसामान्येन साधनसामान्यस्यानुगममात्रं करोति **न तु स्वरूपान्तरमिति मात्रशब्दार्थः ।** नित्यमप्रयत्नानन्तरीयकमिति वैधर्म्य**निदर्शनेन साध्याभावे साधनाभावः प्रदर्श्यते—**यत् प्रयत्नानन्तरीयकं तदनित्य-

इस प्रकार की आकाङ्क्षा के उठने पर उसके शमन के लिए 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इस हेतुवाक्य का प्रयोग किया जाता है । प्रयत्न के बाद ही पहले से अविद्यमान वस्तु की उपलब्धि होती है । इस हेतुवाक्य के द्वारा शब्द में अनित्यत्व का साधक 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' ही केवल उपस्थित किया जाता है । इस वाक्य में 'मात्र' शब्द का प्रयोग यह समझाने के लिए किया गया है कि इस वाक्य से हेतु का अन्वय और व्यतिरेक अर्थात् व्याप्ति और पक्षधर्मता का प्रतिपादन नहीं होता है (केवल हेतु का ही अभिधान होता है) । बोद्धा को जब हेतु का ज्ञान हो जाता है, तब उसे जिज्ञासा होती है कि 'किस रीति से यह हेतु इस साध्य की अनुमिति का उत्पादन कर सकता है ?' हेतु के सामर्थ्य के प्रसङ्ग की इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए ही (उक्त स्थल में) 'इह' इत्यादि उदाहरण वाक्य का प्रयोग किया जाता है । जिनका अभिप्राय है कि 'इह' अर्थात् संसार में प्रयत्न के बाद ही जिसकी उपलब्धि होती है, वह अर्थ अनित्य ही देखा जाता है । उदाहरण वाक्य से सभी साधनों में सभी साध्यों की केवल अनुगति अर्थात् व्याप्ति ही दिखलायी जाती है, पक्षधर्मता नहीं । यही बात उक्त सन्दर्भ में 'मात्र' शब्द के प्रयोग से दिखलायी गई है । 'नित्यमप्रयत्नानन्तरीयकम्' इस वैधर्म्यनिदर्शन वाक्य के द्वारा साध्य के अभाव में हेतु के अभाव

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टम्, यथाकाशमित्यनेन साध्याभावेन साधनस्यासत्त्वं प्रदर्श्यते । तथा च प्रत्नानन्तरीयकः शब्दो दृष्टो न च तथाकाशवदप्रयत्नानन्तरीयकः शब्द इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टसामर्थ्यस्य साधनसामान्यस्य शब्देऽनुसन्धानं गम्यते । तस्मादनित्यः

साधक प्रयत्नानन्तरीयकत्व की सत्ता है' केवल इतना ही बोध होता है । (इसके बाद प्रयुक्त) 'प्रयत्न के बाद जो सत्ता लाभ करते हैं, वे सभी अनित्य ही देखे जाते हैं, जैसे कि घटादि' इस (साधर्म्य) निदर्शन वाक्य से सभी साध्यों के साथ सभी हेतुओं के केवल अन्वय का बोध होता है । 'जितने भी नित्य पदार्थ उपलब्ध हैं, उन सभी की सत्ता बिना प्रयत्न के ही देखी जाती है, जैसे कि आकाश की' इस (वैधर्म्य) निदर्शन वाक्य से साध्य के अभाव के साथ हेतु के अभाव की नियमित सत्तारूप व्यतिरेक ही प्रतिपादित होता है । 'शब्द घटादि की तरह प्रयत्न के बाद ही सत्ता लाभ करते दीखते हैं' एवं 'आकाशादि की तरह बिना प्रयत्न के ही सत्ता लाभ करते नहीं दीखते' इस अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा (प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप) हेतु में अनित्यत्वरूप साध्य के साधन का व्याप्तिरूप सामर्थ्य ज्ञात होता है । (इस प्रकार) ज्ञान के सामर्थ्य (व्याप्ति) से युक्त हेतु सामान्य का शब्दरूप पक्ष में अनुसन्धान ही अनुसन्धान-वाक्य से किया जाता है ।

न्यायकन्दली

मिति । **दृष्टमेतत्, किन्तु शब्दे तदस्ति न वेति जिज्ञासायाम्**—तथा च प्रयत्नानन्तरीयकः शब्द **इति । यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकः, तथा शब्दोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकः** । न चाकाशवदप्रयत्नानन्तरीयक **इत्यनुसन्धानेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां** दृष्टसामर्थ्यस्य **दृष्टाविनाभावस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य** शब्दे **धर्मिण्यनुसन्धानमुपस्थापनं गम्यते । यथा यत् कृतकं तदनुष्णं दृष्टम्, यथा घट इति सत्यपि**

की व्याप्ति दिखलायी गयी है । 'यत् प्रयत्नानन्तरीयकम्, तदनित्यम्' इस साधर्म्य निदर्शन वाक्य से "यह तो समझा कि प्रयत्न की सत्ता के अधीन जिनकी सत्ता होती है, वे सभी अनित्य होते हैं, किन्तु शब्द में यह प्रयत्नानन्तरीयकत्व है कि नहीं" ? यह जानने की इच्छा तब भी बनी ही रहती है,इसी इच्छा की निवृत्ति के लिये "तथा च प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः" इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है । अर्थात् जिस प्रकार घट में प्रयत्नानन्तरीयकत्व है, उसी प्रकार शब्द में भी प्रयत्नानन्तरीयकत्व है । एवं आकाश की तरह शब्द प्रयत्नानन्तरीयक नहीं है । इस प्रकार दोनों अनुसन्धान वाक्यों से अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा 'दृष्टसामर्थ्य' अर्थात् जिस प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु की व्याप्ति ज्ञात हो गयी है, उसी प्रयत्नानन्तरीयकत्व का 'शब्द' में अर्थात् पक्ष में 'अनुसन्धान' अर्थात् उपस्थापन होता है । जिस प्रकार "जो कृति से उत्पन्न होता है, वह अनुष्ण होता है" इस प्रकार की बाह्य व्याप्ति की सम्भावना इससे मिट जाती है

प्रशस्तपादभाषयम्

शब्द इत्यनेनानित्य एव शब्द इति प्रतिपिपादयिषितार्थपरिसमाप्तिर्गम्यते ।

(अर्थात् निदर्शन के द्वारा ज्ञात व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष के साथ सम्बन्धरूप पक्षधर्मता ही अनुसन्धान वाक्य से प्रतिपादित होती है) इसके बाद 'अनित्यः शब्दः' इस प्रत्याम्नाय वाक्य से 'शब्द अनित्य ही है' इस प्रकार प्रतिपादन के लिए इच्छित अर्थ की परिसमाप्ति होती है।

न्यायकन्दली

बहिर्व्याप्तिसम्भवे कृतकस्तेजोऽवयवी अनुष्णो न भवति, प्रमाणविरोधात् । तथा यत् प्रयत्नानन्तरीयकं तदनित्यमिति बहिर्व्याप्तिसम्भवे कदाचित् प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दोऽनित्यो न भवेदिति विपक्षाशङ्कायां हेतोरसाधकत्वे तस्मादनित्यः शब्द इति प्रत्याम्नायः, यस्मान्नित्यत्वप्रतिपादकं प्रमाणं नास्ति तस्माच्छब्दो नित्यो न भवतीत्यर्थः। अनेनान्यव्यावृत्तिवाचिना विपरीतप्रमाणाभावग्राहकं प्रमाणमुपस्थाप्यते, उपस्थापिते च तदभावे प्रतिपादिते विपरीतशङ्कानिवृत्तौ दर्शिताविनाभावाद्धेतोर्धर्मिण्युपसंहृताद् व्याप्तिग्राहकप्रमाणबलेन निर्विचिकित्सः साध्यं प्रत्येति, नापरं किञ्चिदपेक्ष्यत इत्यनेन प्रत्याम्नायेनानित्य एव शब्द इति प्रतिपिपादयिषितस्यार्थस्य परिसमाप्तिर्निश्चयो गम्यते ।

कि तेज के अवयव कृतिजन्य होते हुए भी अनुष्ण नहीं होते; क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध होगा । उसी प्रकार 'जो प्रयत्नानन्तरीयक है वह अनित्य है' इस बाह्य व्याप्ति की सम्भावना में भी यह आपत्ति की जा सकती है कि 'शब्द यद्यपि प्रयत्नानन्तरीयक है, फिर भी अनित्य नहीं भी हो सकता है' इस प्रकार शब्द में अनित्यत्व के साधक 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' में असाधकत्व (साध्य को साधन करने की अक्षमता) की जो आपत्ति उपस्थित होती है, उसी को मिटाने के लिए 'तस्मादनित्यः शब्दः' इस प्रत्याम्नाय वाक्य का प्रयोग किया जाता है । इसका यह अभिप्राय है कि यतः शब्द में नित्यत्व का साधक कोई प्रमाण नहीं है, अतः शब्द नित्य नहीं हो सकता । अन्यव्यावृत्ति के बोधक इस प्रत्याम्नाय वाक्य के द्वारा प्रकृत अनित्यत्वरूप साध्य के विपरीत अर्थात् नित्यत्व के साधक प्रमाण का अभाव उपस्थित किया जाता है । उसकी उपस्थिति हो जाने पर प्रकृत साध्य के विपरीत साध्य की शङ्का मिट जाती है, जिससे कथित व्याप्ति से युक्त हेतु के प्रकृत पक्ष में उपसंहार के द्वारा व्याप्ति के बोधक प्रमाण की निर्बाध उपस्थिति होती है । विपरीतप्रमाणाभाव की इस उपस्थिति से साध्य के विपरीत अर्थात् साध्याभाव की शङ्का भी मिट जाती है । इससे पूर्व में कथित व्याप्ति से युक्त हेतु का पक्ष में उपसंहार के कारण उस व्याप्तिरूप ज्ञापक प्रमाण से साध्य का निःशङ्क ज्ञान हो जाता है । फिर साध्यज्ञान के लिए और किसी की अपेक्षा नहीं रह जाती । इस प्रकार प्रत्याम्नाय के द्वारा 'शब्द अनित्य ही है' इस प्रतिपाद्य अर्थ की 'परिसमाप्ति' अर्थात् अन्तिम ज्ञान होता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तस्मात् पञ्चावयवेनैव वाक्येन परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं क्रियत इत्येतत्परार्थानुमानं सिद्धमिति ।

अतः पाँच अवयव वाक्यों से ही कोई समझानेवाला अपने निश्चित अर्थ को दूसरे को समझा सकता है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पाँच अवयव वाक्य ही 'परार्थानुमान' हैं ।

न्यायकन्दली

साध्यवाक्यार्थवादिनस्तु—निगमनस्येत्थमर्थवत्त्वं समर्थयन्ति—अन्यदेव घटस्य कृतकत्वमन्यच्छब्दस्य, तत्र यदि नाम घटस्य कृतकत्वमनित्यत्वेन व्याप्तं किमेतावता शब्दगतेनापि तथा भवितव्यम् ? इति व्यामुह्यतो दर्शितयोरपि लिङ्गस्य पक्षधर्मत्वाविनाभावयोः साध्यप्रतीत्यभावे सति निगमनेन तस्मादिति सर्वनाम्ना सामान्येन प्रवृत्तव्याप्तिग्राहकं प्रमाणमनुस्मार्य शब्दे अनित्यत्वं प्रतिपाद्यते, यस्माद् यत् कृतकं तदनित्यमिति सामान्येन प्रतीतं न विशेषतः, तस्मात् कृतकत्वेनानित्यः शब्द इति । एतस्मिन् पक्षे च प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टत्वाभावः पक्षवचनेनैवोपदर्श्यते, असत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वयोः पक्षलक्षणत्वात् ।

साध्यवाक्यार्थवादिगण (निगमन को साध्य का ज्ञापक माननेवाले) निगमन की सार्थकता की पुष्टि इस प्रकार करते हैं कि (दृष्टान्तभूत) घट में रहनेवाला कृतकत्व और शब्द में रहनेवाला कृतकत्व दोनों भिन्न हैं । अतः कथित व्याप्ति और पक्षधर्मता को समझनेवाले पुरुष को भी यह भ्रान्ति हो सकती है कि घट में रहनेवाले कृतकत्व में अनित्यत्व की व्याप्ति के रहने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शब्द में रहनेवाले कृतकत्व में भी अनित्यत्व की व्याप्ति है ही । इस प्रकार के पुरुष को (घट में रहनेवाले अनित्यत्व में कृतकत्व की व्याप्ति का ज्ञान रहने पर भी) शब्द में अनित्यत्व रूप साध्य की अनुमिति नहीं हो सकती । इसी के लिए 'तस्मात्' इत्यादि सर्वनामघटित निगमनवाक्य के द्वारा कृतकत्व सामान्य में अनित्यत्व सामान्य की व्याप्ति का स्मरण कराया जाता है, जिससे उसे भी शब्द में अनित्यत्व का ज्ञान हो । अभिप्राय यह है कि उक्त उदाहरण वाक्य से सामान्य रूप से ही यह प्रतीति होती है कि जितनी भी वस्तुयें कृति से उत्पन्न होती हैं, वे सभी अनित्य होती हैं । उदाहरण वाक्य का यह विशेष अभिप्राय ही नहीं है कि 'घट कृति से उत्पन्न होता है, अतः वही अनित्य है' । तस्मात् शब्द भी कृतिजन्य है, वह भी अनित्य है । इस मत में अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व हेतु के ये दोनों ही सामर्थ्य पक्षवचन (प्रतिज्ञावाक्य) से ही प्रदर्शित होते हैं; क्योंकि ये दोनों वस्तु पक्ष के स्वरूप के ही अन्तर्गत हैं ।

न्यायकन्दली

अपरे तु तस्मादिति त्रैरूप्यमेव परामृशन्ति 'यस्माद् यत् कृतकं तदनित्यं दृष्टम्, यस्मात् कृतकः शब्दः, यस्माच्च प्रतिपक्षबाधयोरसम्भवस्तस्मात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः' इति ।

उपसंहरति—तस्मादिति । **यस्मात् पञ्चस्वेवावयवेषु समग्रस्य साधनसामर्थ्यस्य प्रतीतौ साध्यप्रतीतिः पर्यवस्यति, नापरं किञ्चिदपेक्षते, तस्मात् पञ्चावयवेनैवान्यूनाधिकेन वाक्येन स्वनिश्चितस्यार्थस्य प्रतिपादनं क्रियत इति कृत्वा एतत्पञ्चावयवं वाक्यं परार्थानुमानमिति सिद्धं व्यवस्थितम् ।**

ये तु प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिच्छन्तो नानुमानं प्रमाणमिति वदन्ति, त इदं प्रष्टव्याः, किमेकमेव प्रत्यक्षं स्वलक्षणं प्रमाणं यत्स्वरूपं प्रतीयते ? किं वा सर्वमेव ? न तावदेकमेव प्रमाणम्, अपरस्य तत्तुल्यसामग्रीकस्याप्रामाण्य-

दूसरे सम्प्रदाय के लोग निगमन वाक्य के 'तस्मात्' इस (सर्वनाम पद) से हेतु की व्याप्तिपक्षधर्मता और अबाधितत्व असत्प्रतिपक्षितत्व इन तीनों रूपों का ही ग्रहण करते हैं, तदनुसार 'तस्मादनित्यः शब्दः' इस निगमन वाक्य का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि 'यस्मात्' अर्थात् जिस लिए कि जितनी भी कृति से उत्पन्न वस्तुयें हैं, वे सभी अनित्य ही देखी जाती हैं, एवं 'यस्मात्' अर्थात् यतः शब्द भी कृतिजन्य वस्तु है, एवं 'यस्मात्' अर्थात् उक्त स्थल में बाध और सत्प्रतिपक्ष की सम्भावना नहीं है, 'तस्मात्' अर्थात् कृतिजन्य होने से शब्द भी अनित्य है ।

'तस्मात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा भाष्यकार इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं । (इस उपसंहार वाक्य का अभिप्राय यह है कि) 'यस्मात्' अर्थात् जिस कारण कथित पाँच अवयववाक्यों से ही हेतु के सभी सामर्थ्यों की प्रतीति होती है और उसके बाद ही साध्य की अनुमितिरूप प्रतीति उपपन्न हो जाती है, और किसी की अपेक्षा उसे नहीं रह जाती, अतः 'पञ्चावयवेनैव' अर्थात् न उन पाँच अवयव-वाक्यों से अधिक वाक्य की अपेक्षा रहती है और न उनसे एक की भी कमी से काम ही चलता है, फलतः उन्हीं पञ्चावयव वाक्यों से वक्ता अपने पूर्व निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करता है, इस रीति से यह 'सिद्ध' हुआ अर्थात् व्यवस्थित हुआ कि ये पाँच अवयव वाक्य ही 'परार्थानुमान' हैं ।

जो सम्प्रदाय एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के अभिप्राय से कहते हैं कि 'अनुमान प्रमाण नहीं है' उनसे पूछना चाहिए कि 'केवल स्ववृत्ति एक वही प्रत्यक्ष व्यक्ति प्रमाण है ? जिससे कि उसके विषय के स्वरूप का बोध होता है, (अर्थात् वर्त्तमान विषय को ग्रहण करनेवाला स्वगत ज्ञान ही प्रत्यक्ष है) अथवा जितने भी (वर्त्तमान, भूत और भविष्य) विषयों के ज्ञान होते हैं, वे सभी प्रमाण हैं ? ऐसा कहना तो सम्भव नहीं है कि एक (वर्त्तमान विषय का ग्राहक) ही प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष है; क्योंकि समान कारणों से उत्पन्न ज्ञानों में से एक को ही प्रमाण मानकर और

न्यायकन्दली

कारणाभावात् । अथातीतमनागतं च पुरुषान्तरवर्त्ति सर्वमेव प्रत्यक्षं स्वलक्षणं प्रमाणम् ? कथमिदं निश्चीयते ? प्रतीयमानप्रमाणव्यक्तिसजातीयत्वादिति चेत् ? अङ्गीकृतं स्वभावानुमानस्य प्रामाण्यम् ।

एवमनुमानप्रमाणत्वमपि विकल्प्य वाच्यम् । कश्च प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रतिपाद्यते ? न तावत् स्वात्मैव, प्रतिपादकत्वात् । परश्चेत् ? स किं प्रतिपन्नः प्रतिपाद्यते ? विप्रतिपन्नो वा ? न प्रतिपन्नः, प्रतिपन्नस्य प्रतिपादनवैयर्थ्यात् । विप्रतिपन्नश्चेत् ? पुरुषान्तरगता विप्रतिपत्तिश्च न प्रत्यक्षेण गम्यते । वचनलिङ्गेनानुमीयते चेत् ? सिद्धं कार्यानुमानस्य प्रामाण्यम् ।

(न) अनुमानं प्रमाणमिति केन प्रमाणेन साध्यते ? प्रत्यक्षं विधिविषयम्, न कस्यचित् प्रतिषेधे प्रभवति । अनुपलब्ध्या गम्यते चेत् ? तर्ह्यनुपलब्धिलिङ्गकमनुमानं स्यात्। तथा चोक्तं सौगतैः—

सभी को अप्रमाण मानने का कोई हेतु नहीं है । यदि भूत और भविष्यविषयक प्रत्यक्ष अथवा दूसरे पुरुष में रहनेवाले प्रत्यक्ष ये सभी प्रमाण हैं, तो फिर यह पूछना है कि यह कैसे निश्चय करते हैं कि 'वे सब भी प्रमाण हैं' ? यदि यह कहें कि (प्र.) अपने द्वारा ज्ञात प्रत्यक्षप्रमाण का सादृश्य उन ज्ञानों में देखा जाता है, अतः उन्हें भी प्रत्यक्ष प्रमाण समझते हैं । (उ.) तो फिर आप भी स्वभावलिङ्गक अनुमान को मान ही लेते हैं ।

इसी प्रकार अनुमान प्रमाण के प्रसङ्ग में भी इस प्रकार के विकल्पों के उपस्थित कर पूछना चाहिए कि (जिन अनुमानों को आप प्रत्यक्ष मानते हैं) उन प्रत्यक्षों के द्वारा किसे समझाना है ? प्रतिपादन करनेवाला अपने को तो समझा नहीं सकता; क्योंकि वह स्वयं ही प्रतिपादक है । (प्रतिपाद्य और प्रतिपादक कभी एक नहीं हो सकता) यदि दूसरे को समझाना है तो इस प्रसङ्ग में यह पूछना है कि वह समझनेवाला प्रमाज्ञान से युक्त है ? अथवा भ्रमात्मकज्ञान से युक्त है ? प्रमाज्ञान से युक्त पुरुष को समझाना ही व्यर्थ है; क्योंकि वह स्वयं प्रतिपाद्य विषय को अच्छी तरह जानता है । अतः उसे समझाने का प्रयास ही व्यर्थ है । यदि उसे भ्रमात्मक ज्ञान से युक्त मानते हैं, तो फिर इस प्रसङ्ग में यह पूछना है कि उस पुरुष में रहनेवाले भ्रम को आपने कैसे जाना ? क्योंकि दूसरे पुरुष में रहनेवाले भ्रम का तो प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है । यदि उस पुरुष के वचन से उसके भ्रम को समझते हैं ? तो फिर कार्यहेतुक अनुमान का प्रामाण्य ही सिद्ध हो जाता है ।

'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह आप किस प्रमाण से सिद्ध करना चाहते हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो केवल भावविषयक है, उससे किसी का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता । यदि अनुपलब्धि के द्वारा अनुमान के प्रामाण्य का प्रतिषेध करते हैं, तो फिर अनुपलब्धिलिङ्गक अनुमान को मानना ही पड़ेगा । जैसा कि 'प्रमाणेतर' इत्यादि वार्त्तिक के द्वारा बौद्धों ने कहा है—

प्रशस्तपादभाष्यम्

विशेषदर्शनजमवधारणज्ञानं संशयविरोधी निर्णयः । एतदेव प्रत्यक्षमनुमानं वा । यद् विशेषदर्शनात् संशयविरोध्युत्पद्यते ।

विशेषविषयक ज्ञान से उत्पन्न एवं संशय का विरोधी 'अवधारण' रूप ज्ञान ही 'निर्णय' है । प्रत्यक्ष और अनुमिति दोनों निर्णय रूप ही

न्यायकन्दली

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥ इति ।

प्रमाणतदभावसामान्यव्यवस्थापनात्, परबुद्धेरधिगमात्, कस्यचिदर्थस्य प्रतिषेधाच्च प्रत्यक्षात् प्रमाणान्तरस्य स्वभावकार्यानुपलब्धिलिङ्गस्यानुमानस्य सद्भाव इति वार्त्तिकार्थ इति ।

निर्णयं केचित् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणान्तरमिच्छन्ति, तान् प्रत्याह—विशेषदर्शनजमित्यादि । **यत्र विशेषानुपलम्भात् संशयः सञ्जातः, तत्र विशेषदर्शनाज्जायमानमवधारणज्ञानं निर्णयः । स च संशयविरोधी, तस्मिन्नुपजायमाने संशयस्योच्छेदात् । यथाह मण्डनो विभ्रमविवेके—**

निश्चिते न खलु स्थाणावूर्ध्वत्वेन विशेरते ॥ इति ।

संशेरत इत्यर्थः । यद्यपि सर्वमेव निश्चयात्मकं ज्ञानं निर्णयः, तथापि संशयोत्तरकालभावित्वेन प्रसिद्धिप्राबल्यात् संशयविरोधीत्युक्तम्—स्योक्तं

'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि नहीं' इस प्रकार प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की सत्ता से एवं अनुमानादि के प्रामाण्य की असत्ता से, दूसरे पुरुष में रहनेवाली बुद्धियों को समझने से एवं घटादि किसी भी विषय के प्रतिषेध से यह समझते हैं कि 'प्रत्यक्ष से भिन्न और भी प्रमाण हैं' ।

उक्त वार्त्तिक का अभिप्राय है कि प्रमाण और प्रमाणाभाव की व्यवस्था से, दूसरे पुरुष की बुद्धि को समझने से एवं किसी वस्तु के प्रतिषेध से समझते हैं कि प्रत्यक्ष से भिन्न कोई दूसरा प्रमाण अर्थात् स्वभावलिङ्गक, कार्यलिङ्गक एवं अनुपलब्धिलिङ्गक अनुमान प्रमाण भी अवश्य है ।

किसी सम्प्रदाय के लोग प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न एक 'निर्णय' नाम का अलग प्रमाण मानने की अभिलाषा रखते हैं । उन्हीं लोगों के मत का खण्डन करने के लिए 'विशेषदर्शनजम्' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । जहाँ असाधारण धर्म की अनुपलब्धि से संशय हो चुका है, वहाँ विशेषधर्म (असाधारण धर्म) की उपलब्धि से उत्पन्न होनेवाला अवधारणात्मक ज्ञान ही 'निर्णय' है । यह संशय का प्रतिबन्धक है; क्योंकि इसके उत्पन्न होते ही संशय छूट जाता है । जैसा कि आचार्य मण्डन ने अपने विभ्रमविवेक नामक ग्रन्थ में कहा है कि—(पुरोवर्त्ति पदार्थ का) ज़ब 'यह स्थाणु है' इस आकार से निश्चय हो जाता है, तब फिर उसकी उँचाई (साधारण धर्म) के ज्ञान से "यह स्थाणु है ? या पुरुष ?" इस आकार का संशय किसी को भी नहीं होता । (उक्त आधे श्लोक में

प्रशस्तपादभाष्यम्

स प्रत्यक्षनिर्णयः । यथा स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वतामात्रसादृश्यालोचनाद् विशेषेष्व-प्रत्यक्षेषूभयविशेषानुस्मरणात्, किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयोत्पत्तौ शिरःपाण्यादिदर्शनात् पुरुष एवायमित्यवधारणज्ञानं प्रत्यक्षनिर्णयः । विषाणमात्रदर्शनाद् गौर्गवयो वेति संशयोत्पत्तौ सास्नामात्रदर्शनाद् गौरेवाय-मित्यवधारणज्ञानमनुमाननिर्णय इति ।

होते हैं। अतः १. प्रत्यक्षनिर्णय और २. अनुमाननिर्णय भेद से निर्णय दो प्रकार का है । १. (धर्मी के असाधारण धर्मरूप) विशेष के प्रत्यक्ष से जो संशय का विरोधी ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'प्रत्यक्षनिर्णय' कहते हैं । जैसे कि स्थाणु और पुरुष दोनों में साधारणरूप से रहनेवाली उच्चता (उँचाई) रूप सादृश्य के आलोचन (साधारण) ज्ञान से एवं स्थाणु और पुरुष दोनों के असाधारण धर्मों के ज्ञात न रहने के कारण केवल उन दोनों के असाधारण धर्मरूप विशेषों के स्मरण से, यह स्थाणु है? या पुरुष?' इस आकार के संशय की उत्पत्ति होती है । इसके बाद (केवल पुरुष में ही रहनेवाले शिर, पैर प्रभृति) पुरुष के असाधारण धर्मों के देखने से 'यह पुरुष ही है' इस आकार का जो निश्चयरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'प्रत्यक्षनिर्णय' है । २. केवल सींग के देखने के कारण यह संशय होता है कि 'यह गो है या गवय?' (इसके बाद केवल गाय में ही रहनेवाली) सास्ना के देखने से जो 'यह गाय ही है' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'अनुमाननिर्णय' है ।

न्यायकन्दली

सङ्ग्रहवाक्यं विवृण्वन्निर्णयस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावं दर्शयति–एतदेवेत्यादि । **प्रत्यक्षविषये यदवधारणात्मकं ज्ञानं स प्रत्यक्षनिर्णयः । यच्चानुमानविषयेऽवधारणज्ञानं सोऽनुमाननिर्णय इति उपरितनेन ग्रन्थसन्दर्भेण कथयति ।**

प्रयुक्त) 'विशेरते' इस पद का अर्थ है 'संशेरते' अर्थात् संशय का होना । यद्यपि सभी प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान निर्णय हैं, फिर भी संशय के बाद होनेवाले निश्चयात्मक ज्ञान में ही 'निर्णय' शब्द का अधिकतर प्रयोग होता है, अतः निर्णय के लक्षणवाक्य में 'संशयविरोधि' पद का प्रयोग किया गया है । 'एतदेव' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अपने ही संक्षिप्त लक्षणवाक्य की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने 'निर्णय' का प्रत्यक्ष और अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया है। ऊपर कहे हुए सन्दर्भ का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होनेवाले विषयों का अवधारणात्मक ज्ञान 'प्रत्यक्षनिर्णय' है एवं अनुमान के द्वारा ज्ञात होनेवाले विषयों का जो अवधारणात्मक ज्ञान वह 'अनुमाननिर्णय' है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषात् पट्वाभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु

लिङ्ग (हेतु) के दर्शन एवं इच्छा, स्मृति प्रभृति (उद्बोधकों) से साहाय्य-प्राप्त आत्मा और मन के विशेष प्रकार के संयोग और संस्कार इन दोनों से उत्पन्न ज्ञान ही स्मृति है । यह प्रत्यक्ष, अनुमिति एवं शाब्द-बोध के द्वारा ज्ञात विषयों की होती है, अतः स्मृति अतीतविषयक ही

न्यायकन्दली

स्मृतिलक्षणां विद्यामाचष्टे—लिङ्गदर्शनेच्छेत्यादिना । **लिङ्गदर्शनं चेच्छानुस्मरणं च । आदिशब्देन न्यायसूत्रोक्तानि प्रणिधानादीनि संगृह्यन्ते, तान्यपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगविशेषादिति स्मृतिकारणकथनम् । आत्ममनःसंयोगस्य च लिङ्गदर्शनादिसहकारितैव विशेषः, केवलादस्मात् स्मरणानुत्पत्तेः । लिङ्गदर्शनवत् संस्कारोऽपि स्मृतेर्निमित्तकारणमित्याह**—पट्वाभ्यासादरप्रत्ययजनितात् संस्काराज्जायते पटुप्रत्ययः **स्फुटतरप्रत्ययस्तस्मात् संस्कारो जायते । तेन गच्छत्तृणसंस्पर्शज्ञानात् क्वचित् पटुप्रत्ययोत्पादेऽपि ग्रहणयोग्यः संस्कारो न भवति । यथा साक्षात् पठितेऽनुवाके । तेन गृहीतस्यावृत्या पुनःपुनर्ग्रहणलक्षणोऽभ्यासः संस्कारकारणम्, तस्मिन् सत्यनुवाकस्य ग्रहणदर्शनात् ।**

'लिङ्गदर्शनेच्छा' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'स्मृति' रूप विद्या (प्रमा) का निरूपण करते हैं । (उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरण' शब्द से) 'लिङ्गदर्शनञ्च, इच्छा च, अनुस्मरणञ्च' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, लिङ्गज्ञान, इच्छा और बार-बार स्मरण को एवं उक्त वाक्य में ही प्रयुक्त 'आदि' शब्द से न्यायसूत्र (अ. ३, आ. २, सू. ४४) में कथित स्मृति के प्रणिधानादि कारणों को संगृहीत समझना चाहिए । 'तान्यपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगविशेषात्' इस पूर्वानुवृत्तिवाक्य से स्मृति का कारण प्रदर्शित हुआ है।आत्मा और मन के संयोग को स्मृति के उत्पादन में जो कथित 'प्रणिधानादि' सहायकों की अपेक्षा होती है, वही उस संयोग का 'विशेष' है (जो प्रकृत वाक्य में प्रयुक्त 'संयोगविशेष' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है); क्योंकि (प्रणिधानादि के न रहने पर) केवल आत्मा और मन के संयोग से स्मृति की उत्पत्ति नहीं होती है । 'पट्वाभ्यासादरप्रत्ययजनितात् संस्कारात्' इस वाक्य के द्वारा लिङ्गदर्शन की तरह संस्कार में भी स्मृति की निमित्तकारणता कही गयी है । 'पटुप्रत्यय' शब्द का अर्थ है स्फुटतर (उपेक्षान्य) प्रत्यय, उससे ही संस्कार की उत्पत्ति होती है । 'पटुप्रत्यय' शब्द का स्फुटतर प्रत्यय रूप अर्थ इसलिए कर दिया गया है कि राह चलते हुए पुरुष को किसी तृण के स्पर्श का यद्यपि पटुप्रत्यय होता है, फिर भी उससे स्मृति के उत्पादन में क्षम

प्रशस्तपादभाष्यम्

शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ।

होती है । (स्मृतिजनक) उक्त संस्कार अत्यन्त स्फुटज्ञान, अभ्यास और आदर से उत्पन्न होता है । वह (स्मृतिरूप ज्ञान) अनुमिति, इच्छा, स्मृति और द्वेष का (उत्पादक) कारण है ।

न्यायकन्दली

क्वचिच्चात्यन्ताश्चर्यतरे वस्तुनि सकृदुपलब्धे कालान्तरे स्मृतिदर्शनादादरग्रहणमपि संस्कार-निमित्तम् । दृष्टश्रुतानुभूतेष्विति विषयसङ्कीर्तनं कृतम् ।

दृष्टेष्विति **प्रत्यक्षीकृतेषु,** श्रुतेष्विति **शब्दावगतेषु,** अनुभूतेष्व**नुमितेष्वित्यर्थः** ।शेषानुव्य-वसायेच्छास्मरणद्वेषहेतु**रिति कार्यनिरूपणम्। शिष्यते परिशिष्यते इति 'शेषः'। 'अनु' पश्चा-द्व्यवसितिः व्यवसायः ।शेषश्चासावनुव्यवसायश्चेति शेषानुव्यवसायः, प्रथमोपजातलिङ्गज्ञाना-पेक्षया तदनन्तर्भाव्यनुमेयज्ञानम्,तस्य हेतुर्व्याप्तिस्मरणम्। सुखसाधनत्वस्मृतिरिच्छाहेतुः । प्रथम-**

संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है । जैसे कि पढ़े हुए भी अनुवाक के अध्ययन से स्मृतिक्षम संस्कार की उत्पत्ति होती है । इसकी पट्प्रत्यय की 'आवृत्ति' अर्थात् बारबार ग्रहणरूप 'अभ्यास' भी संस्कार का कारण है; क्योंकि अभ्यास के रहने पर ही अनुवाक का स्मरण होता है । किसी अत्यन्त अद्भुत वस्तु को एक बार देखने पर बहुत समय बाद भी उसकी स्मृति होती है, अतः 'आदरपूर्वक ग्रहण' भी संस्कार का कारण है । किन प्रकार की वस्तुओं की स्मृति होती है ? इस प्रश्न का उत्तर 'दृष्टानुभूतेषु' इस वाक्य के द्वारा दिया गया है । 'दृष्टेषु' अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात वस्तुओं की, 'श्रुतेषु' अर्थात् शब्द प्रमार्ण के द्वारा ज्ञात विषयों की, 'अनुभूतेषु' अर्थात् अनुमान प्रमाण के द्वारा ज्ञात विषयों की, स्मृति उत्पन्न होती है । 'शेषानुव्यवसायेच्छास्मरणद्वेषहेतुः' इस वाक्य के द्वारा स्मृति से होनेवाले कार्य दिखलाये गये हैं । प्रकृत 'शेष' शब्द 'शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा निष्पन्न है । एवं प्रकृत 'अनुव्यवसाय' शब्द 'अनु पश्चाद् व्यवसितिरनुव्यवसायः' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न है । एवं 'शेषानुव्यवसाय' शब्द 'शेषश्चानुव्यवसायश्च' इस (कर्म-धारय) समास से बना है । फलतः प्रकृत में 'शेष' और 'अनुव्यवसाय' ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं । (वह अर्थ है) अनुमेय का ज्ञान (अनुमिति); क्योंकि (अनुमिति के लिए प्रथम लिङ्गदर्शन से जो ज्ञानों की परम्परा है उसमें) उक्त प्रथम लिङ्ग की अपेक्षा अनुमेय ज्ञान अर्थात् साध्य का ज्ञान ही 'शेष' है अर्थात् अन्तिम है, एवं वह 'अनुव्यवसाय' भी है; क्योंकि लिङ्गज्ञान-रूप व्यवसाय के बाद उत्पन्न होता है । इस प्रकार शेषानुव्यवसाय भी अर्थात् अनुमिति भी स्मृति का कार्य है; क्योंकि उक्त शेषानुव्यवसाय की उत्पत्ति व्याप्ति की स्मृति से होती है । किसी भी वस्तु में 'इससे सुख होगा' इस प्रकार की स्मृति के रहने पर उस विषय की इच्छा उत्पन्न होती है, अतः स्मृति इच्छा का भी कारण है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

आम्नायविधातॄणामृषीणाम्　　अतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु

वेदों की रचना करनेवाले महर्षियों को उनके विशेष प्रकार के पुण्य से आगमग्रन्थों में कहे हुए या उनमें न कहे हुए भूत, भविष्य

न्यायकन्दली

पदस्मृतिर्द्वितीयपदानुस्मरणहेतुः । दुःखसाधकस्मरणं द्वेषहेतुः । तदित्येव स्मृतेराकारः, तत्र चार्थस्यातीतत्वं पूर्वानुभूतत्वं प्रतीयत इत्यतीतविषया स्मृतिः । अत एव न प्रमाणम्, तस्याः पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनेनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात् । अनुमानज्ञानं तूत्पत्तौ परापेक्षम्, स्वविषये स्वतन्त्रमेव, स्मृतिरिव । तस्मात् पूर्वानुभवानुसन्धानेनार्थप्रतीत्यभावात् । यथाहुस्तन्त्रटीकायां सर्वोत्तरबुद्धयो गुरवः –

पूर्वविज्ञानविषयं　विज्ञानं　स्मृतिरिष्यते ।
पूर्वज्ञानाद् विना तस्याः प्रामाण्यं नावगम्यते ॥ इति ।

यथा चेदमाहुः कारिकायाम्–

तत्र यत् पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते ।
तदुपस्थानमात्रेण　स्मृतेश्च　चरितार्थता ॥ इति ।

एक वाक्य में प्रयुक्त एक पद की स्मृति से उसी वाक्य में प्रयुक्त दूसरे पद की 'पश्चात्स्मृति' की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार स्मृति 'अनुस्मरण' का भी कारण है । दुःख देनेवाली किसी वस्तु का स्मरण उस वस्तु में 'द्वेष' का भी कारण है । 'वह था' स्मृति का यही आकार होता है । इस आकार से स्मृति के विषय का अतीत होना और पहले से अनुभूत होना लक्षित होता है, अतः भाष्यकार ने स्मृति को 'अतीतविषया' कहा है । यही कारण है कि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाता; क्योंकि वह पूर्व में अनुभूत विषय को ही पुनः निश्चित करती है, अतः स्मृति अपने विषय को निश्चित करने में अपने कारण पूर्वानुभव के अधीन है । यद्यपि अनुमिति भी अपनी उत्पत्ति के लिए परामर्शादि दूसरे ज्ञानों के अधीन है; किन्तु साध्यरूप अपने असाधारण विषय के ज्ञापन में उसे किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है (अतः अनुमान उत्पत्ति में परापेक्ष होने पर भी ज्ञप्ति में परापेक्ष नहीं है, अतः वह प्रमाण है); क्योंकि अनुमिति से साध्य की प्रतीति में स्मृति की तरह किसी (स्वविषयविषयक) पूर्वानुभव की अपेक्षा नहीं है । जैसा कि तन्त्रटीका में लोकोत्तर बुद्धिमान् गुरु ने कहा है कि–

जिस विज्ञान में पूर्वानुभव का विषय ही विषय हो उसी विज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं, उस पहले ज्ञान के प्रामाण्य के बिना स्मृति प्रमाण नहीं होती । उन्होंने ही (श्लोकवार्तिक में इस प्रसङ्ग में) कहा है कि 'कारणीभूत पूर्वानुभव में जो प्रामाण्य है, उसी का व्यवहार स्मृति से होता है, स्मृति का इतना ही काम है कि अपने कारणीभूत पूर्व विज्ञान के विषय को उपस्थित कर दे ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते । तत् तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम्, कदाचिदेव लौकिकानाम्, यथा कन्यका ब्रवीति 'श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयति' इति ।

और वर्त्तमान (तीनों कालों में से किसी में भी रहनेवाले) अतीन्द्रिय धर्मादिविषयक एवं उनके स्वरूप का परिचायक जो 'प्रातिभ' ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'आर्ष' कहते हैं। यह प्रायः देवताओं और महर्षियों को ही होता है । कदाचित् ही साधारण जन को यह ज्ञान होता है । जैसे कि बालिका कहती है कि, 'मेरा मन कहता है कि कल मेरे भाई आयेंगे' ।

न्यायकन्दली

ये त्वनर्थजत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः, तेषामतीतानागतविषयस्यानुमानस्याप्रामाण्यं स्यादिति दूषणम् ।

आर्षं व्याचष्टे—आम्नायविधातॄणामिति । **आम्नायो वेदस्तस्य विधातारः कर्तारो ये ऋषयस्तेषामतीतेष्वनागतेषु वर्तमानेष्वतीन्द्रियेषु धर्माधर्मदिक्कालप्रभृतिषु** ग्रन्थोपनिबद्धेष्वागम**प्रतिपादितेष्व**नुपनिबद्धेष्वा**गमाप्रतिपादितेषु चात्ममनसोः संयोगाद्यत्** प्रातिभं **ज्ञानं** यथार्थनिवेदनं **यथास्वरूपसंवेदनं संशयविपर्ययरहितं ज्ञानमुत्पद्यते** तदार्षमित्या**चक्षते विद्वांसः । इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थप्रतिभानं सा प्रतिभा, प्रतिभैव प्रातिभमित्युच्यते तत्रभवद्भिः ।**

जो सम्प्रदाय स्मृति को इस हेतु से अप्रमाण मानते हैं कि वह अर्थजनित नहीं है (अर्थात् उसके अव्यवहित पूर्वक्षण में विषय की सत्ता नहीं रहती है, अतः वह प्रमाण नहीं है) उनके मत में भूत और भविष्यविषयक अनुमान में अप्रामाण्य रूप दोष होगा ।

'आम्नायविधातॄणाम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'आर्ष' विद्या की व्याख्या करते हैं । वेदों को 'आम्नाय' कहते हैं । उसके जो 'विधातागण' अर्थात् रचना करनेवाले ऋषि लोग, उन्हें अतीत, अनागत और वर्त्तमान काल की 'अतीन्द्रिय' वस्तुओं का अर्थात् धर्म, अधर्म एवं दिशा और काल प्रभृति पदार्थों का, एवं 'ग्रन्थोपनिबद्ध' अर्थात् आगमों के द्वारा कथित, एवं 'ग्रन्थानुपनिबद्ध' अर्थात् आगम के द्वारा अप्रतिपादित अर्थों का जो आत्मा और मन के संयोग से 'प्रातिभ' 'यथार्थनिवेदन' रूप अर्थात् संशय और विपर्यय से भिन्न विषयानुरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे विद्वान् लोग 'आर्ष' कहते हैं । इन्द्रिय एवं हेतु प्रभृति यथार्थज्ञान के साधनों के न रहते हुए भी जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'प्रतिभा' कहते हैं । इस 'प्रतिभा' को ही आदरणीय विद्वद्गण 'प्रातिभ'

प्रशस्तपादभाष्यम्

सिद्धदर्शनं न ज्ञानान्तरम्, कस्मात् ? प्रयत्नपूर्वकमञ्जन-पादलेपखड्गगुलिकादिसिद्धानां दृश्यद्रष्टॄणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टे-ष्वर्थेषु यद् दर्शनं तत् प्रत्यक्षमेव । अथ दिव्यान्तरिक्षभौमानां प्राणिनां

(सिद्धजनों के अस्मदादि से विलक्षण ज्ञानरूप) 'सिद्धदर्शन' नाम का कोई (प्रत्यक्ष और अनुमिति से) भिन्न ज्ञान नहीं है; क्योंकि यत्नपूर्वक (विशेष प्रकार के) अञ्जन, पैर में विशेष प्रकार के लेप, खड्ग, गुलिका (आदि पद से मण्डूकवसाञ्जन) से (विशेषदर्शन का सामर्थ्यरूप) सिद्धि से युक्त पुरुषों को सूक्ष्म, व्यवहित एवं अत्यन्त दूर की वस्तुओं का जो (अस्मदादिविलक्षण) ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष ही है । दिव्यलोक,

न्यायकन्दली

तस्योत्पत्तिरनुपपन्ना कारणाभावादित्यनु(प)योगे सति इदमुक्तम्—धर्मविशेषादिति । **विशिष्यत इति विशेषः, धर्म एव विशेषो धर्मविशेषः, विद्यातपःसमाधिजः प्रकृष्टो धर्मस्तस्मात् प्रतिभोदयः** । तत्तु प्रस्तारेण **बाहुल्येन देवर्षीणां भवति, कदाचिदेव लौकिकानामपि । यथा कन्यका ब्रवीति—श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति । न चेदं संशयः, उभयकोटिसंस्पर्शाभावात् । न च विपर्ययः, संवादादतः प्रमाणमेव ।**

सिद्धदर्शनमपि विद्यान्तरमिति केचिदिच्छन्ति तन्निवृत्त्यर्थमाह—सिद्ध-दर्शनं न ज्ञानान्तरम् । **एतदेवोपपादयति**—कस्मादित्यादिना । प्रयत्नपूर्वक-

कहते हैं । इस प्रसङ्ग में कोई आक्षेप कर सकता है कि (यदि इन्द्रिय या लिङ्ग उसका कारण नहीं है तो फिर) कारण के न रहने से उसकी आपत्ति ही सम्भव नहीं है ? इसी आक्षेप का समाधान 'धर्मविशेषात्' इस वाक्य के द्वारा दिया गया है । 'विशिष्यत इति विशेषः, धर्म एव विशेषः धर्मविशेषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विद्या, तपस्या और समाधि से उत्पन्न प्रकृष्टधर्म ही उक्त 'धर्मविशेष' शब्द का अर्थ है । इस प्रकृष्टधर्म से ही प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति होती है । 'तत्तु प्रस्तारेण' अर्थात् यह प्रातिभ ज्ञान 'प्रस्तार' से अर्थात् अधिकतर देवर्षियों को ही होता है । लौकिक व्यक्तियों (साधारण मनुष्यों) को कदाचित् ही होता है । जैसे कि कभी कोई बालिका कहती है कि 'मेरा मन कहता है, कल मेरे भैया आयेंगे' यह ज्ञान संशयरूप नहीं है; क्योंकि इसमें उभय कोटि का सम्बन्ध नहीं है । यह विपर्यय भी नहीं है; क्योंकि इस ज्ञान के अनुसार काम देखा जाता है ।

किसी सम्प्रदाय के लोग 'सिद्धदर्शन' नाम का एक अलग प्रमाज्ञान मानते हैं, उन लोगों के मत का खण्डन ही 'सिद्धदर्शनं न ज्ञानान्तरम्' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है । 'कस्मात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इसी का विवरण देते हैं । 'प्रयत्न-

प्रशस्तपादभाष्यम्

ग्रहनक्षत्रसञ्चारादिनिमित्तं धर्माधर्मविपाकदर्शनमिष्टम्, तदप्यनुमानमेव । अथ लिङ्गानपेक्षं धर्मादिषु दर्शनमिष्टं तदपि प्रत्यक्षार्षयोरन्यतरस्मिन्नन्तर्भूतमित्येवं बुद्धिरिति ।

अनुग्रहलक्षणं सुखम् । स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सतीष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् धर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगाद-

अन्तरिक्षलोक तथा भूलोक में रहनेवाले प्राणियों को ग्रहों और नक्षत्रों की विशेष प्रकार की गति देखकर जो धर्म, अधर्म और उनके परिणामों का (अस्मदादि से विलक्षण) ज्ञान होता है, उसे भी यदि सिद्धदर्शन कहना इष्ट हो तो वह भी वस्तुतः अनुमान ही है । यदि हेतु की अपेक्षा के बिना ही धर्म (अधर्म एवं इनके परिणामों) का ज्ञान मानें (तो वे यह अनुमान नहीं होंगे), फिर भी प्रत्यक्ष या आर्षज्ञान में अन्तर्भूत हो जायेंगे । इस प्रकार विद्यारूप बुद्धि (मूलतः चार प्रकार की ही) है ।

जिसका अनुभव अनुकूल जान पड़े वही 'सुख' है । (विशदार्थ यह है कि) माला प्रभृति अभिप्रेत विषयों का सान्निध्य होने पर (मालादि उन)

न्यायकन्दली

मञ्जनपादलेपादिसिद्धानां **दृश्यानां दर्शनयोग्यानां स्वरूपवतां पदार्थानां द्रष्टारो ये ते 'सिद्धाः' उच्यन्ते । तेषां दृश्यद्रष्टॄणामञ्जनादिसिद्धानां सूक्ष्मेषु व्यवहितेषु विप्रकृष्टेषु यद् दर्शनमिन्द्रियाधीनानुभवस्तत् प्रत्यक्षमेव । अथ** दिव्यान्तरिक्षभौमानां प्राणिनां ग्रहनक्षत्रसञ्चारनिमित्तं धर्माधर्मविपाकदर्शनं **सिद्धज्ञानमिष्टं तदप्यनुमानमेव, ग्रहसञ्चारादीनां लिङ्गत्वात्** । अथ लिङ्गानपेक्षं धर्मादिषु दर्शनमिष्टं तत् प्रत्यक्षार्षयोरन्यतरस्मिन्नन्तर्भूतम् । यदि **धर्मादिदर्शन-**

पूर्वकमञ्जनपादलेपादिसिद्धानाम्' इत्यादि सन्दर्भ में प्रयुक्त 'दृश्यद्रष्टॄणाम्' इस पद की यह व्युत्पत्ति है कि 'दृश्यानां ये द्रष्टारः, तेषां दृश्यद्रष्टॄणाम्' । इस व्युत्पत्ति के अनुसार देखने योग्य (घटादि स्थूल) वस्तुओं के देखनेवाले पुरुष ही उक्त 'दृश्यद्रष्टृ' शब्द से अभिप्रेत हैं । वे ही जब प्रयत्नपूर्वक (मण्डूकवसाञ्जन, पादलेपादि के द्वारा) विशेष सामर्थ्यरूप 'सिद्धि' को प्राप्त करते हैं, तो वे 'सिद्ध' कहलाते हैं । उन्हें भी जो अत्यन्त सूक्ष्म या दीवाल प्रभृति से घिरे हुए या अतिदूर की वस्तुओं का इन्द्रियों से अनुभव होता है, वह तो 'प्रत्यक्ष' ही है, यदि 'सिद्धदर्शन' शब्द से धर्म, अधर्म और उनके विपाकों के वे ज्ञान ही अभीष्ट हों, जो दिव्यलोक में, अन्तरिक्षलोक में या भूमि में रहनेवाले सिद्धों को ग्रहसञ्चारादि को समझकर होता है, तो फिर ये सिद्धदर्शनरूप सभी ज्ञान अनुमान ही हैं; क्योंकि इनकी उत्पत्ति ग्रहसञ्चारादि लिङ्गों से

प्रशस्तपादभष्यम्

नुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत् सुखम् । अतीतेषु विषयेषु स्मृतिजम् । अनागतेषु सङ्कल्पजम् । यत्तु विदुषामसत्सु

इष्ट विषयों का ज्ञान , उन विषयों के साथ (त्वक्, घ्राणादि) इन्द्रियों के सन्निकर्ष, एवं धर्म से साहाय्य प्राप्त आत्मा और मन के संयोग इन सबों से सुख की उत्पत्ति होती है। यह (सुख स्वविषयक ज्ञान रूप) अनुग्रह, अनुराग एवं नयन (मुख) प्रभृति की विमलता इन सबों का कारण है। बीते हुए विषयों का सुख उन विषयों की स्मृति से उत्पन्न होता है एवं होनेवाले

न्यायकन्दली

मिन्द्रियजं तदा प्रत्यक्षम् । अथेन्द्रियानपेक्षं तदार्षमित्यर्थः । उपसंहरति– एवं बुद्धिरिति । **एवमनन्तरोक्तेन क्रमेण । बुद्धिरिति बुद्धिर्व्याख्यातेत्यर्थः । इतिशब्दः परिसमाप्तिं सूचयति ।**

बुद्धिकार्यत्वात् सुखं बुद्ध्यनन्तरं व्याचष्टे– अनुग्रहलक्षणं सुखमिति । **अनुगृह्यतेऽनेनेत्यनुग्रहः, अनुग्रहलक्षणमनुग्रहस्वभावमित्यर्थः । सुखं ह्यनुकूल-स्वभावतया स्वविषयमनुभवं कुर्वन् पुरुषान्तरमनुगृह्णाति । एतदेव व्याचष्टे–** स्रगादीति । **स्रक्चन्दनवनितादयो येऽभिप्रेता विषयास्तेषां सान्निध्ये सति**

होती है । (अतः धर्मादि के उक्त ज्ञान अनुमान में अन्तर्भूत हो जाते हैं) । 'अर्थलिङ्गानपेक्षं धर्मादिषु दर्शनमिष्टं तत्प्रत्यक्षार्षयोरन्यतरस्मिन्नन्तर्भूतम्' अर्थात् यदि धर्माधर्मादि के उक्त ज्ञान इन्द्रियों से होते हैं, तो वे प्रत्यक्ष ही हैं। यदि उन ज्ञानों को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है,तो फिर वे 'आर्षज्ञान' ही हैं । 'एवं बुद्धिः' इस वाक्य के द्वारा बुद्धि-निरूपण का उपसंहार करते हैं । 'एवम्' अर्थात् कथित क्रम से 'बुद्धिः' अर्थात् बुद्धि की व्याख्या की गयी है । उक्त वाक्य का 'इति' शब्द प्रकरण-समाप्ति का सूचक है ।

सुख यतः बुद्धि से उत्पन्न होता है, अतः बुद्धि-निरूपण के बाद 'अनुग्रहलक्षणं सुखम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा सुख का निरूपण करते हैं । (प्रकृत) सन्दर्भ का 'अनुग्रह' पद 'अनुगृह्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न है । तदनुसार 'अनुग्रहलक्षण' शब्द का अर्थ है 'अनुग्रहस्वभाव' । सुख स्वभावतः (जीव को प्रिय होने के कारण उसके) अनुकूल है । अतः सुख अपने अनुभव के द्वारा पुरुष को अनुगृहीत करता है। 'स्रगादि' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा इसी की व्याख्या करते हैं । माला, चन्दन, स्त्री प्रभृति जितने भी प्रिय विषय हैं, उनका सान्निध्य रहने पर अर्थात् उनका सम्बन्ध रहने पर, उन अभिप्रेत विषयों की उपलब्धि एवं इन्द्रियों का उन अर्थों के साथ सम्बन्ध प्रभृति कारणों के द्वारा धर्म के साहाय्य से जिसकी उत्पत्ति होती है वही 'सुख' है। विषय अभिप्रेत भी हो उसका सन्निध्य भी हो; किन्तु भोक्ता का चित्त यदि दूसरे विषय

प्रशस्तपादभाष्यम्

विषयानुस्मरणेच्छासङ्कल्पेभ्याविर्भवति तद् विद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तमिति।

विषयों से यह उन विषयों के संकल्प से उत्पन्न होता है । आत्म-तत्त्वज्ञानियों को जो सुख बिना विषयों के, विषयों के स्मरण के न रहने पर भी बिना इच्छा और बिना संकल्प के ही उत्पन्न होता है, उस पुरुष का आत्मतत्त्वज्ञान, शम, सन्तोष एवं विशेष प्रकार के धर्म उस सुख के कारण हैं ।

न्यायकन्दली

सन्निकर्षे सतीष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् धर्माद्यपेक्षादि यदुत्पद्यते तत्सुखम् । सन्नि-हितेऽप्यभिमतेऽर्थे विषयान्तरव्यासक्तस्य सुखानुत्पादादिष्टोपलब्धेः कारणत्वं गम्यते । वियुक्तस्य सुखाभावाद् विषयसन्निकर्षस्यापि कारणत्वावगमः। धर्मादीत्यादिपदेन स्वस्थता-दिपरिग्रहः। अनुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रसादजनकमिति **कार्योपवर्णनम् ।** अनुग्रहः **सुखविषयं संवेदनम् ।** अभिष्वङ्गोऽ **नुरागः, नयनादिप्रसादो वैमल्यम् ।आदिशब्दाद् मुखप्रसादस्य ग्रहणम् । एतेषां सुखं जनकम् । सुखेनोत्पन्नेन स्वानुभवो जन्यते, स एवात्मनोऽनुग्रहः, सुखे चोपजाते मुखादीनां प्रसन्नता स्यात् ।** सुखसाधनेष्वनुरागः **सुखाद् भवति ।** अतीतेषु स्मृतिजम् **अतीतेषु सुखसाधनेष्वनुभूतेषु सुखं पूर्वानुस्मरणाद् भवति ।** अनागतेष्विदं **मे भविष्यतीति-**

में लगा रहे तो उसे विषय से उत्पन्न होनेवाला सुख नहीं मिलता, अतः सुख के प्रति इष्ट विषय की उपलब्धि को भी कारण माना गया है । और सभी कारणों के रहने पर भी यदि स्रगादि विषयों के साथ पुरुष का सम्बन्ध नहीं है, तो फिर विषय से वियुक्त उस पुरुष को सुख नहीं मिलता,अतः सुख के प्रति भोक्ता और विषय के सन्निकर्ष को भी कारण मानना पड़ेगा । कथित 'धर्मादि' पद में प्रयुक्त 'आदि' पद से स्वास्थ्य प्रभृति सहायकों को समझना चाहिए । 'अनुग्रहाभिष्वङ्ग-नयनादिप्रसादजनकम्' इस वाक्य के द्वारा सुख से होने वाले कार्यों का वर्णन किया गाया है । सुख का प्रत्यक्ष ही प्रकृत 'अनुग्रह' शब्द का अर्थ है । 'अभिष्वङ्ग' शब्द से अनुराग अभिप्रेत है । 'नयनादिप्रसाद' शब्द से आँखों की विमलता को समझना चाहिए । 'नयनादिप्रसाद' शब्द में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से मुँह की प्रसन्नता प्रभृति को समझना चाहिए । इन सबों का कारण सुख है । सुख उत्पन्न होकर अपने आश्रयीभूत आत्मा में जो अपने अनुभव का उत्पादन करता है, वही आत्मा के साथ सुख का अनुग्रह है । सुख के उत्पन्न होने पर मुख पर प्रसन्नता छा जाती है । सुख के कारणों में जो अनुराग उत्पन्न होता है, उसका कारण भी सुख ही है । 'अतीतेषु स्मृतिजम्' अर्थात् पूर्व में

प्रशस्तपादभाष्यम्

उपघातलक्षणं दुःखम् । विषाद्यनभिप्रेतविषयसान्निध्ये सत्यनिष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षादधर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगाद् यदमर्षोपघातदैन्यनिमित्तमुत्पद्यते तद् दुःखम् । अतीतेषु सर्पव्याघ्रचौरादिषु स्मृतिजम् । अनागतेषु सङ्कल्पजमिति ।

उपघातस्वभाव अर्थात् प्रतिकूलवेदनीय ही दुःख है । वह विष प्रभृति अनभिप्रेत विषयों के सामीप्य, उनके साथ इन्द्रियों का संयोग एवं अधर्मसहकृत आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है । वह असहिष्णुता, दुःख का अनुभव एवं दीनता का कारण है । अतीत सर्प, व्याघ्र एवं चोर इत्यादि से जो दुःख उत्पन्न होता है, उसका कारण उनकी स्मृतियाँ हैं । एवं भविष्य में आनेवाले विषयों से जो दुःख उत्पन्न होता है, उसका कारण उन (अनभिप्रेत) विषयों का सङ्कल्प है ।

न्यायकन्दली

सङ्कल्पाज्जायते । यत्तु विदुषामात्मज्ञानवतामसत्सु विषयानुस्मरणसङ्कल्पेष्व**सति विषयेऽसति चानुस्मरणे असति च सङ्कल्पे चाविर्भवति** तद्विद्याशमसन्तोषधर्म विशेषनिमित्तमिति । **विद्या आत्मज्ञानम्, शमो जितेन्द्रियत्वम्, सन्तोषो देहस्थितिहेतुमात्रातिरिक्तानभिकाङ्क्षितत्वम्,** धर्मविशेषः **प्रकृष्टो धर्मो निवर्तकलक्षणः, एतच्चतुष्टयनिमित्तम् ।**

ये तु दुःखाभावमेव सुखमाहुस्तेषामानन्दात्मनानुभवविरोधः, हितमाप्स्यामि, अहितं हास्यामीति प्रवृत्तिद्वैविध्यानुपपत्तिश्च ।

सुखप्रत्यनीकतया तदनन्तरं दुःखं व्याचष्टे—उपघातलक्षणं दुःखम् ।

अनुभूत अतीत के साधनों में सुख की स्मृति से अनुराग उत्पन्न होता है । 'यह मुझे मिलेगा' इस आकार के संकल्प से सुख के भविष्य साधनों में अनुराग उत्पन्न होता है । 'विदुषाम्' अर्थात् आत्मज्ञानी विद्वानों में 'असद्विषयानुस्मरणसङ्कल्पेषु' अर्थात् विषयों के न रहने पर, अनुस्मरण के न रहने पर एवं सङ्कल्प के न रहने पर भी जो दिव्य सुख का आविर्भाव होता है, वह 'विद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तम्' अर्थात् विद्या, शम, सन्तोष और प्रकृष्ट धर्म ये सब उसके कारण हैं । 'विद्या' है तत्त्वज्ञान, 'शम' है इन्द्रियों का जय करना, जितने धन से शरीरयात्रा चले उससे अधिक धन की आकाङ्क्षा न करना ही 'सन्तोष' है । 'धर्मविशेष' शब्द से निवृत्तिरूप प्रकृष्टधर्म अभीष्ट है । इन चारों कारणों से आत्मज्ञानियों में उक्त सुख की उत्पत्ति होती है ।

जो सम्प्रदाय दुःखाभाव को ही सुख मानते हैं, उनके मत में इन दोषों की आपत्ति होगी । एक तो आनन्द का सभी जनों को जो अनुभव होता है, वह विरुद्ध होगा । एवं 'मैं हित को प्राप्त करूँ एवं अहित को छोड़ूँ' ये दो प्रकार की जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे अनुपपन्न हो जायेंगी ।

दुःख सुख का विरोधी है, अतः सुख के निरूपण के बाद 'उपघातलक्षणं दुःखम्'

प्रशस्तपादभाष्यम्

स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा । सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वोत्पद्यते । प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः ।

अपने लिए या दूसरों के लिए अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना ही 'इच्छा' है । यह (इच्छा) सुख अथवा स्मृति से साहाय्यप्राप्त आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होती है । वह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का कारण है ।

न्यायकन्दली

उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातः, उपघातलक्षणम् **उपघातस्वभावम् । दुःखमुपजातं प्रतिकूलस्वभावतया स्वात्मविषयमनुभवं कुर्वदात्मानमुपहन्ति । एतद् विवृणोति**--अनिष्टोपलब्धीत्यादिना **। अमर्षोऽसहिष्णुता द्वेष इति यावत् । उपघातो दुःखानुभवः, दैन्यं विच्छायता, तेषां निमित्तम् । दुःखे सति तदनुभवलक्षण आत्मोपघातः स्यात् । अतीतेषु सर्पादिषु स्मृतिजम्, अनागतेषु सङ्कल्पजमिति पूर्ववद् व्याख्यानम् ।**

स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा । **अप्राप्तस्य वस्तुनः स्वार्थं प्रति या प्रार्थना इदं मे भूयादिति, परार्थं वा प्रार्थना अस्येदं भवत्विति** सेच्छा । सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वोत्पद्यते । **अनागते**

इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा दुःख की व्याख्या करते हैं । प्रकृत में 'उपघात' शब्द 'उपहन्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के द्वारा सिद्ध है । 'उपघातलक्षण' अर्थात् दुःख उपघातस्वभाव का है । दुःख की उत्पत्ति ही अपने आश्रयीभूत आत्मा की इच्छा के प्रतिकूल होती है, अतः वह अपनी उत्पत्ति के द्वारा आत्मा का 'उपहनन' करती है । 'अनिष्टोपलब्धि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उसी का विवरण देते हैं । 'अमर्ष' शब्द का अर्थ है असहिष्णुता, फलतः द्वेष । 'उपघात' शब्द का अर्थ है दुःख का अनुभव । दैन्य शब्द का अर्थ है दीनता । दुःख इन सबों का कारण है । दुःख के रहने पर आत्मा का दुःखानुभवरूप उपघात होता है । अतीत साँप प्रभृति वस्तुओं से उनकी स्मृति के द्वारा दुःख उत्पन्न होता है । अनागत अनिष्ट वस्तुओं के संकल्प से दुःख उत्पन्न होता है । इस प्रकार सुख प्रकरण में कथित रीति से यहाँ भी व्याख्या करनी चाहिए ।

'स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा' अर्थात् अपने लिए या दूसरों के लिए किसी अप्राप्त वस्तु की जो 'प्रार्थना' अर्थात् 'यह मुझे मिले' या 'यह इस व्यक्ति को मिले' इस प्रकार की जो प्रार्थना वही 'इच्छा' है ।'सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद्वोत्पद्यते' सुख के साधनीभूत भविष्य वस्तु की इच्छा होती है, अतः उस विषय से होनेवाला सुख

प्रशस्तपादभाष्यम्

कामोऽभिलाषः, रागः सङ्कल्पः, कारुण्यम्, वैराग्यमुपधा–भाव इत्येवमादय इच्छाभेदाः । मैथुनेच्छा कामः । अभ्यवहारेच्छाऽभिलाषः । पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः । अनासन्नक्रियेच्छा सङ्कल्पः । स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम् । दोषदर्शनाद्

काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, वैराग्य, उपधा एवं भाव प्रभृति इच्छा के ही भेद हैं । (जैसे कि) मैथुन की इच्छा ही 'काम' है । भोजन करने की इच्छा ही 'अभिलाषा' है । बार-बार विषयों को भोगने की इच्छा ही 'राग' है । शीघ्र किसी काम को करने की इच्छा ही 'संकल्प' है । अपने कुछ स्वार्थ के बिना दूसरों के दुःख को छुड़ाने की इच्छा ही 'कारुण्य' है । दोष के ज्ञान से विषय को छोड़ने की इच्छा ही 'वैराग्य' है । दूसरे

न्यायकन्दली

सुखसाधने वस्तुनीच्छा उपजायते, तदुत्पत्तौ च तद्विषयसाध्यं सुखमनागतमपि बुद्धिसिद्धत्वान्निमित्तकारणम् । यदाह न्यायवार्त्तिककारः--"फलस्य प्रयोजकत्वात्" इति । अतिक्रान्ते सुखहेताविच्छोत्पत्तेः स्मृतिः कारणम् । प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः । **उपादानेच्छातस्तदनुगुणः प्रयत्नो भवति, स्मरणेच्छातः स्मरणम्, विहितेषु ज्योतिष्टोमादिषु फलेच्छया प्रवृत्तस्य धर्मो जायते । प्रतिषिद्धेषु रागात् प्रवृत्तस्याधर्मः । कामादयोऽपि सन्ति ते कस्मान्नोक्ताः ? अत आह--**काम इत्यादि ।

कामादय इच्छाप्रभेदाः, न तत्त्वान्तरमिति यदुक्तं तदेव दर्शयति--

भी अनागत ही रहता है (वर्त्तमान नहीं), फिर भी वह भविष्य सुख भी बुद्धि के द्वारा सिद्ध होने के कारण इच्छा का निमित्तकारण होता है । जैसा कि न्यायवार्त्तिककार ने 'फलस्य प्रयोजकत्वात्' इत्यादि ग्रन्थ से कहा है कि सुख के कारणीभूत विषयों के नष्ट हो जाने पर भी जो उन विषयों की इच्छा होती है, उस इच्छा के प्रति उन विषयों की स्मृति कारण है । 'प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः' विषयीभूत वस्तु की इच्छा से उसे प्राप्त करने या त्याग करने के उपयुक्त प्रयत्न की उत्पत्ति होती है (इस प्रकार इच्छा प्रयत्न की भी कारण है) । स्मरण की इच्छा से भी स्मृति होती है । स्वर्गादि के लिए वेदों से निर्दिष्ट ज्योतिष्टोमादि यागों में स्वर्गादि फलों की इच्छा से जो प्रवृत्ति होती है, उस इच्छा से धर्म होता है । एवं राग से जो प्रतिषिद्ध हिंसादि में किसी की प्रवृत्ति होती है, उससे अधर्म की उत्पत्ति होती है, उस अधर्म के प्रति उक्त रागरूप इच्छा कारण है (इस प्रकार इच्छा प्रयत्नादि का हेतु है) ।

काम प्रभृति गुण भी तो हैं, वे क्यों नहीं कहे गए ? इसी प्रश्न का उत्तर 'कामः' इत्यादि सन्दर्भ से दिया गया है । यह जो कहा है कि "कामादि इच्छा के ही

प्रशस्तपादभाष्यम्

विषयत्यागेच्छा वैराग्यम् । परवञ्चनेच्छा उपधा । अन्तर्निगूढेच्छा भावः । चिकीर्षाजिहीर्षेत्यादिक्रियाभेदादिच्छाभेदा भवन्ति ।

को ठगने की इच्छा ही 'उपधा' है । भीतर छिपी हुई इच्छा ही 'भाव' है । (इसी प्रकार) चिकीर्षा (कुछ करने की इच्छा), जिहीर्षा (छोड़ने की इच्छा) इत्यादि भी (अपने अन्तर्गत) क्रियाओं के भेद के रहने पर भी (वस्तुतः) इच्छा के ही प्रभेद हैं ।

न्यायकन्दली

मैथुनेच्छा काम **इति । निरुपपदः कामशब्दो मैथुनेच्छायामेव प्रवर्तते, अन्यत्र तस्य पदान्तरसमभिव्याहारात् प्रवृत्तिः, यथा स्वर्गकामो यजेत इति ।** अभ्यवहारेच्छा अभिलाषः । **अभ्यवहारो भोजनम्, तत्रेच्छा अभिलाषः ।** पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः । **पुनर्विषयाणां भोगेच्छा राग इत्यर्थः ।** अनासन्नक्रियेच्छा सङ्कल्पः । **अनागतस्यार्थस्य करणेच्छा सङ्कल्पः ।** स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम् । **स्वार्थप्रयोजनं किमप्यनभिसन्धाय या परदुःखप्रहाणे अपनयने इच्छा सा कारुण्यम् ।** दोषदर्शनाद् **दुःखहेतुत्वावगमे विषयाणां परित्यागे इच्छा वैराग्यम् ।** परवञ्चनेच्छा **परप्रतारणेच्छा** उपधा । अन्तर्निगूढेच्छा **लिङ्गैराविर्भाविता येच्छा सा** भावः । चिकीर्षा जिहीर्षा इत्यादिक्रियाभेदादिच्छाभेदा भवन्ति । **करणेच्छा** चिकीर्षा, **हरणेच्छा** जिहीर्षा **गमनेच्छा** जिगमिषे**त्येवमादय इच्छाभेदाः क्रियाभेदाद् भवन्ति ।**

प्रभेद हैं, स्वतन्त्र गुण नहीं", उसी का उपपादन "मैथुनेच्छा कामः" इत्यादि सन्दर्भ से करते हैं । बिना विशेषण का केवल 'काम' शब्द मैथुन की इच्छा में ही प्रयुक्त होता है, दूसरी तरह की इच्छाओं में 'काम' शब्द की प्रवृत्ति दूसरे पदों के साथ रहने से ही होती है । जैसे कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि । 'अभ्यवहारेच्छा अभिलाषः' इस वाक्य के 'अभ्यवहार' शब्द का अर्थ है भोजन, उसकी इच्छा ही 'अभिलाष' शब्द से कही जाती है । 'पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः' अर्थात् विषयों को बार-बार भोगने की इच्छा ही 'राग' है । 'अनासन्नक्रियेच्छा सङ्कल्पः' अर्थात् भविष्य काम को करने की इच्छा ही 'संकल्प' है । 'स्वार्थमनपेक्ष्य दुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम्' अपने किसी प्रयोजन के साधन की अभिसन्धि के बिना जो दूसरों को दुःख से छुड़ाने की इच्छा, उसे ही 'कारुण्य' कहते हैं । 'दोषदर्शनात्' अर्थात् दुःख के कारणों को अनिष्ट समझने पर विषयों को छोड़ने की इच्छा ही 'वैराग्य' है । 'परवञ्चनेच्छा' दूसरों को ठगने की इच्छा को ही 'उपधा' कहते हैं । 'अन्तर्निगूढेच्छा' अर्थात् लिङ्गों से ही ज्ञात होनेवाली इच्छा को 'भाव' कहते हैं । 'चिकीर्षा', 'जिहीर्षा' इत्यादि 'क्रियाभेदादिच्छाभेदा भवन्ति' । काम करने की इच्छा को ही 'चिकीर्षा' कहते हैं । किसी की वस्तु का अपहरण करने की इच्छा को ही 'जिहीर्षा' कहते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रज्वलनात्मको द्वेषः । यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः । स चात्ममनसोः संयोगाद् दुःखापेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वोत्पद्यते । यत्नस्मृतिधर्माधर्मस्मृतिहेतुः । क्रोधो द्रोहो मन्युरक्षमाऽमर्ष इति द्वेषभेदाः ।

द्वेष प्रज्वलन रूप है । (अर्थात्) जिसके रहते हुए प्राणी अपने को जलता हुआ सा अनुभव करे, वही 'द्वेष' है । दुःख या स्मृति से सापेक्ष आत्मा और मन के संयोग से यह उत्पन्न होता है । प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का यह कारण है । क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष ये (पाँच) द्वेष के प्रभेद हैं ।

न्यायकन्दली

प्रज्वलनात्मको द्वेषः । **एतद् विवृणोति**—यस्मिन् सतीत्यादिना । **तद् व्यक्तम्** । स चात्ममनसोः संयोगाद् दुःखापेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वोत्पद्यते । **अतीते दुःखहेतौ तज्जदुःखस्मृतिजो द्वेषः** । प्रयत्नधर्माधर्मस्मृतिहेतुः । **एनमहं हन्मीति प्रयत्नो द्वेषात्, वेदार्थविप्लवकारिषु द्वेषाद् धर्मः, तदर्थपरिपालनपरेषु द्वेषादधर्मः । स्मृतिरपि द्वेषादुपजायते, यो यं द्वेष्टि स तं सततं स्मरति** । क्रोधो द्रोहो मन्युरक्षमाऽमर्ष इति द्वेषभेदाः । **शरीरेन्द्रियादिविकारहेतुः क्षणमात्रभावी द्वेषः क्रोधः । अलक्षितविकारश्चिरानुबद्धापकारावसानो द्वेषो द्रोहः ।**

जाने की इच्छा ही 'जिगमिषा' है । क्रियाओं की इस विभिन्नता से ही ये इच्छायें विभिन्न होती हैं ।

'प्रज्वलनात्मको द्वेषः' इस लक्षणवाक्य की ही व्याख्या 'यस्मिन् सति' इत्यादि से की गयी है । 'स चात्ममनसोः संयोगाद् दुःखापेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद्वा उत्पद्यते' । जहाँ दुःख के कारणों का नाश हो गया रहता है, ऐसे स्थलों में उन कारणों से उत्पन्न दुःख की स्मृति से ही उन कारणों में द्वेष उत्पन्न होता है । 'प्रयत्नधर्माधर्मस्मृतिहेतुः' 'मैं इसे मारता हूँ' इस प्रकार का प्रयत्न द्वेष से उत्पन्न होता है । वेदों से प्रतिपादित अर्थों को विपरीत दिशा में ले जानेवाले के ऊपर किये गये द्वेष से धर्म उत्पन्न होता है । वेदों की आज्ञा पालनेवाले के ऊपर द्वेष करने से अधर्म उत्पन्न होता है । द्वेष से स्मृति भी उत्पन्न होती है; क्योंकि जिसके ऊपर जिसे द्वेष रहता है, उसे उसका सदा स्मरण होता रहता है । "क्रोधो द्रोहो मन्युरक्षमामर्ष इति द्वेषभेदाः" एक क्षण मात्र रहनेवाले 'द्वेष' का नाम ही 'क्रोध' है, जिससे शरीर एवं इन्द्रियादि अपने स्वरूप से च्युत दीख पड़ते हैं । जिससे शरीरादि में विकार परिलक्षित न हो; किन्तु जिसका बहुत दिनों के बाद अपकार में पर्यवसान हो, उस द्वेष को ही 'द्रोह' कहते हैं । 'मन्यु' उस 'द्वेष'

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः । स द्विविधः—जीवनपूर्वकः, इच्छा-द्वेषपूर्वकश्च । तत्र जीवनपूर्वकः सुप्तस्य प्राणापानसन्तानप्रेरकः, प्रबोधकाले चान्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुः । अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्माधर्मापेक्षादुत्पत्तिः । इतरस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थस्य व्यापारस्य हेतुः शरीरविधारकश्च। स चात्ममनसोः संयोगादिच्छापेक्षाद् द्वेषापेक्षाद् वोत्पद्यते ।

प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं । यह (प्रयत्न) १. जीवनपूर्वक (जीवनयोनि) और २. इच्छाद्वेषपूर्वक भेद से दो प्रकार का है । प्राणियों की सुप्तावस्था में प्राणवायु, अपानवायु प्रभृति (शरीरान्तर्वर्ती) वायु समूह को (उचित रूप से) प्रेरित करनेवाला एवं अन्तःकरण (मन) को दूसरी इन्द्रियों से सम्बद्ध करनेवाला प्रयत्न ही जीवनपूर्वक प्रयत्न है । धर्म और अधर्म से साहाय्यप्राप्त आत्मा और मन के संयोग से इस (जीवनपूर्वक प्रयत्न) की उत्पत्ति होती है । दूसरा (इच्छा-द्वेषमूलक) प्रयत्न हितों की प्राप्ति एवं अहितों का परिहार इन दोनों की उपयुक्त क्रिया एवं शरीर की स्थिति इन दोनों का कारण है । यह (इच्छाद्वेषमूलक प्रयत्न) इच्छा या द्वेष से साहाय्य प्राप्त आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है ।

न्यायकन्दली

अपकृतस्य प्रत्यपकारासमर्थस्यान्तर्निगूढो द्वेषो मन्युः । परगुणद्वेषोऽक्षमा । स्वगुणपरिभव-समुत्थो द्वेषोऽमर्षः ।

प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः । स द्विविधो जीवनपूर्वक इत्यादि । **सदेहस्यात्मनो विपच्यमानकर्माशयसहितस्य मनसा सह संयोगः सम्बन्धो जीवनम्, तत्पूर्वकः प्रयत्नः कामर्थक्रियां करोति ? इत्यत आह**—तत्र

का नाम है, जो प्रतीकार करने में असमर्थ व्यक्ति में अत्यन्त गूढ़ रूप से रहता है । दूसरे के गुण के प्रति द्वेष को ही 'अक्षमा' कहते हैं । अपने गुण के पराजय से जो द्वेष उत्पन्न होता है, उसे 'अमर्ष' कहते हैं ।

'प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः, स द्विविधो जीवनपूर्वक इत्यादि' देहसम्बद्ध आत्मा का मन के साथ उस अवस्था का संयोग अर्थात् सम्बन्ध ही 'जीवन' है, जिस अवस्था में वर्त्तमानकालिक विपाक से युक्त कर्माशय की सत्ता उसमें रहे । जीवनपूर्वक प्रयत्न से कौन-सा विशेष कार्य होता है ? इसी प्रश्न का समाधान 'तत्र जीवनपूर्वकः' इत्यादि से किया गया है । (जीवनपूर्वक प्रयत्न का साधक यह अनुमान है कि) सोते

न्यायकन्दली

जीवनपूर्वक **इति । सुप्तस्य प्राणापानक्रिया प्रयत्नकार्या क्रियात्वात् । न च तदानी-मिच्छाद्वेषौ प्रयत्नहेतू सम्भवतः, तस्माज्जीवनपूर्वक एव प्रयत्नः प्राणापानप्रेरको गम्यते । न केवलं जीवनपूर्वक एव प्रयत्नः प्राणापानप्रेरकः; किन्तु प्रबोधकालेऽन्तःकरण-स्येन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुश्च। विषयोपलम्भानुमितान्तःकरणेन्द्रियसंयोगः प्रयत्नपूर्वकान्तःकरण-क्रियाजन्यः, अन्तःकरणेन्द्रियसंयोगत्वात्, जागरान्तःकरणेन्द्रियसंयोगवदिति। प्रयत्न-पूर्वकतासिद्धिः । अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्माधर्मापेक्षादुत्पत्तिः, धर्माधर्मापेक्ष आत्ममनसोः संयोगो जीवनम्, तस्मादस्योत्पत्तिरित्यर्थः ।**

इतरस्तु **इच्छाद्वेषपूर्वकश्च** हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थस्य **व्यायामस्य** व्यापारस्य हेतुः शरीरविधारकश्च । **गुरुत्वे सत्यपततः शरीरस्येच्छापूर्वकः प्रयत्नो विधारकः ।** स चात्ममनसोः संयोगा**दिच्छाद्वेषापेक्षादुत्पद्यते । हितसाधनोपादानेषु प्रयत्न इच्छापूर्वकः, दुःखसाधनपरित्यागे प्रयत्नो द्वेषपूर्वकः ।**

हुए पुरुष की प्राणक्रिया और अपानक्रिया भी यतः क्रिया हैं, अतः वे भी प्रयत्न से ही उत्पन्न होती हैं । सोते समय की उन क्रियाओं की उत्पत्ति इच्छा और द्वेष से नहीं हो सकती, अतः यह सिद्ध होता है कि जीवनपूर्वक यत्न ही उन क्रियाओं का कारण है । जीवनपूर्वक प्रयत्न से केवल उक्त प्राणापानादि को प्रेरणा देनेवाली क्रियायें ही नहीं होती हैं; किन्तु उससे सोकर उठते समय मन का और इन्द्रिय का संयोग भी उत्पन्न होता है । विषय की उपलब्धि से अन्तःकरण का अन्य इन्द्रियों के साथ संयोग का अनुमान होता है । यह अन्तःकरण एवं अन्य इन्द्रियों का अनुमित संयोग भी जाग्रत् अवस्था के अन्तःकरण एवं इन्द्रियसंयोग की तरह अन्तःकरण और इन्द्रिय का संयोग ही है । अतः इसकी उत्पत्ति भी प्रयत्न से उत्पन्न अन्तःकरण की क्रिया से ही होती है । अतः प्रबोधकालिक अन्तःकरण और इन्द्रियों के प्रबोधकालिक संयोग का भी प्रयत्न से उत्पन्न होना सिद्ध होता है । 'अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्माधर्मापेक्षादुत्पत्तिः' अर्थात् धर्म और अधर्म से उत्पन्न आत्मा और मन का संयोग ही जीवन है । इस जीवन से ही उक्त प्रयत्न की उत्पत्ति होती है ।

'इतरस्तु' अर्थात् (जीवनयोनि यत्न से भिन्न) इच्छा और द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न 'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थस्य व्यापारस्य हेतुः, शरीरविधारकश्च' । शरीर में (पतन के कारण) गुरुत्व के रहने पर भी जो शरीर का पतन नहीं होता है, उसमें इच्छाजनित प्रयत्न ही कारण है (इस प्रकार इच्छापूर्वक प्रयत्न विधारक है) । 'स चात्ममनसोः संयोगादिच्छाद्वेषापेक्षादुत्पद्यते' इनमें हित को साधन करनेवाली वस्तुओं के ग्रहण का इच्छा-जनित प्रयत्न कारण है एवं दुःख के कारणों को हटाने में द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न कारण है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम् । अप्रत्यक्षं पतनकर्मानुमेयं संयोग-प्रयत्नसंस्कारविरोधि । अस्य चाबादिपरमाणुरूपादिवन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः ।

जिससे पृथिवी और जल में पतनक्रिया की उत्पत्ति हो, वही गुरुत्व है । पतन क्रिया रूप हेतु से इसका अनुमान ही होता है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता । यह संयोग, प्रयत्न और संस्कार का प्रतिरोधक है । जलादि के परमाणु और जलादि कार्यद्रव्य में रहनेवाले रूपादि के नित्यत्व और अनित्यत्व की तरह गुरुत्व के नित्यत्व और अनित्यत्व की स्थिति समझनी चाहिए ।

न्यायकन्दली

गुरुत्वं जलभूम्यो**रित्याश्रयकथनम्** । पतनकर्मकारणमिति **तस्य कार्यनिरूपणम्** । अप्रत्यक्षमिति **स्वभावोपवर्णनम्, न केनचिदिन्द्रियेण गुरुत्वं गृह्यत इत्यर्थः ।**

ये तु त्वगिन्द्रियग्राह्यं गुरुत्वमाहुः, तेषामधःस्थितस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलम्भवद् गुरुत्वोपलम्भ-प्रसङ्गः, त्वगिन्द्रियस्यार्थोपलम्भे स्वसन्निकर्षव्यतिरेकेणान्यापेक्षासम्भवात् । यत्तूपरिस्थितस्य गुरुत्वं प्रतीयते, तद्धस्तादीनामधोगमनानुमानात् । अतीन्द्रियं चेत् कथमस्य प्रतीतिः ? इत्यत आह–पतनकर्मानुमेयमिति ।**यदवयविद्रव्यस्य पतनं तेन यदेकार्थसमवेतासमवायिकारणं तदेव**

'गुरुत्वं जलभूम्योः' इस वाक्य में प्रयुक्त 'जलभूम्योः' इस पद से गुरुत्व के आश्रय दिखलाये गये हैं । 'पतनकर्मकारणम्' इस वाक्य से गुरुत्व के द्वारा होनेवाले कार्यों को दिखलाया गया है । 'अप्रत्यक्षम्' इस पद से गुरुत्व का (अतीन्द्रियत्व रूप) स्वभाव दिखलाया गया है । अर्थात् गुरुत्व का ग्रहण किसी भी इन्द्रिय से नहीं होता ।

जिस सम्प्रदाय के लोग त्वगिन्द्रिय से गुरुत्व का प्रत्यक्ष मानते हैं, उनके मत में जिस प्रकार नीचे रक्खे हुए द्रव्य के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार उस द्रव्य के गुरुत्वविषयक स्पार्शन प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी; क्योंकि त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष के लिए उसके त्वगिन्द्रिय के साथ सम्बन्ध को छोड़कर और किसी के साहाय्य की अपेक्षा माननां सम्भव नहीं है । (तब रहा यह प्रश्न कि उसी द्रव्य को ऊपर उठाने पर गुरुत्व की उपलब्धि किस प्रमाण से होती है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि) द्रव्य उठानेवाले हाथ प्रभृति द्रव्यों का (उस अवस्था में) नीचे की तरफ जाने से उस द्रव्य के गुरुत्व का अनुमान होता है । जिस अवयवी रूप द्रव्य का पतन होता है, उस पतन के साथ एक अर्थ (उसी अवयवी द्रव्य) में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले (पतन का) असमवायिकारण ही 'गुरुत्व' है । किसी सम्प्रदाय के लोग अवयवी में गुरुत्व नहीं मानते हैं;

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् । त्रिद्रव्यवृत्ति । तत्तु द्विविधम् –
जिस गुण से स्यन्दन (अर्थात् फैलने की) क्रिया उत्पन्न हो, वही 'द्रवत्व' है । यह १. सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और २. नैमित्तिक

न्यायकन्दली

हि नो गुरुत्वम् । एतेनैतत् प्रत्युक्तं यदुक्तमपरैः–"अवयविगुरुत्वकार्यस्य ग्नतिविशेषस्यानुपलम्भादवयविनि गुरुत्वाभावः" इति, अवयविनः पतनाभावप्रसङ्गात्। अथावयवानां गुरुत्वादेव तस्य पतनम् ? तदावयवानामपि स्वावयवागुरुत्वात् पतनमिति सर्वत्र कार्ये तदुच्छेदः । अथ व्यधिकरणेभ्यः स्वावयवगुरुत्वेभ्योऽवयवानां पतनासम्भवात् तेषु गुरुत्वं कल्प्यते, तदा अवयविन्यपि कल्पनीयम्, न्यायस्य समानत्वात् । यत् पुनरवयविगुरुत्वस्य कार्यातिरेको न गृह्यते, तदवयवावयविगुरुत्वभेदस्याल्पान्तरत्वात् । यथा महति द्रव्ये उन्मीयमाने तत्पतितसूक्ष्मद्रव्यान्तरगुरुत्वकार्याग्रहणम् ।

क्योंकि अवयवों के गुरुत्व से जितनी अवनति होती है, उन अवयवों से बने अवयवी के द्वारा उससे अधिक अवनति नहीं देखी जाती है, अतः अवयवों में ही गुरुत्व है, अवयवी में नहीं । गुरुत्व के उक्त लक्षण से उनके उक्त मत का भी खण्डन हो जाता है (क्योंकि उस लक्षण में गुरुत्व को अवयवी में रहना मान लिया गया है); क्योंकि अवयवी में गुरुत्व यदि न मानें तो अवयवी का पतन न हो सकेगा । यदि अवयवों के गुरुत्व से ही अवयवी का पतन मानें, तो फिर उन अवयवों का पतन भी उनके अवयवों से ही होगा । उनमें भी गुरुत्व का मानना व्यर्थ होगा । फलतः किसी भी कार्य द्रव्य में गुरुत्व का मानना सम्भव न होगा । यदि यह कहें कि एक अधिकरण में रहनेवाले गुरुत्व से उससे भिन्न द्रव्य में पतन का होना सम्भव नहीं है, अतः अवयवों में गुरुत्व मानते हैं (क्योंकि अवयवों से उसके अवयव भिन्न हैं), तो फिर इसी युक्ति से अवयवी में भी गुरुत्व का मानना अनिवार्य है; क्योंकि अवयवों के अवयव भी तो अपने अवयवी से भिन्न हैं, अतः अवयवों में रहनेवाला गुरुत्व अवयवों से भिन्न अवयवी में पतन का उत्पादन कैसे कर सकता है ? यह जो आक्षेप किया गया है कि अवयवों के गुरुत्व कार्य अवनति-विशेष से अवयवी के कार्य अवनतिविशेष में कोई अन्तर उपलब्ध नहीं होता (अतः अवयवों में ही गुरुत्व है अवयवी में नहीं), इस आक्षेप के उत्तर में कहना है कि अवयवी के गुरुत्व से अवयवों के गुरुत्व में अत्यन्त अल्प अन्तर है, अतः दोनों से होनेवाले कार्यों का अन्तर गृहीत नहीं हो पाता । जैसे किसी भारी द्रव्य को दूसरी बार तौलने पर उससे कुछ कणों के झड़ जाने के बाद भी उसके गुरुत्व के कार्य अवनतियों में कोई अन्तर उपलब्ध नहीं होता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

सांसिद्धिकम्, नैमित्तिकं च । सांसिद्धिकमपां विशेषगुणः । नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्यगुणः । सांसिद्धिकस्य गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्व-निष्पत्तयः । सङ्घातदर्शनात् सांसिद्धिकमयुक्तमिति चेत्, न, दिव्येन तेजसा संयुक्तानामाप्यानां परमाणूनां परस्परं संयोगो द्रव्यारम्भकः सङ्घा-

भेद से दो प्रकार का है । इनमें सांसिद्धिक द्रवत्व जल का विशेषगुण है और नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और तेज का सामान्यगुण है । द्रवत्व के नित्यत्व और अनित्यत्व का निर्णय गुरुत्व की तरह समझना चाहिए । (प्र.) (जल में भी) सङ्घात अर्थात् काठिन्य देखा जाता है, अतः यह कहना अयुक्त है कि जल का द्रवत्व सांसिद्धिक है ।

न्यायकन्दली

संयोगप्रयत्नसंस्कारविरोधि । **गुरुत्वस्य संयोगेन प्रयत्नेन वेगाख्येन च संस्कारेण सह विरोधो विद्यते, तैः प्रतिबद्धस्य स्वकार्याकरणात् । तथा च दोलारूढस्य संयोगेन प्रतिबन्धादपतनम्, प्रयत्नेन प्रतिबन्धादपतनं च शरीरस्य, वेगेन प्रतिबन्धादपतनं बहिः-क्षिप्तस्य शरशलाकादेः ।**

अस्य चाबादिपरमाणुरूपादिवन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । **यथाप्यपरमाणुरूपादयो नित्या-स्तथा पार्थिवाप्यपरमाणुष्वपि गुरुत्वम् । यथा चाबादिकार्यद्रव्ये कारणगुणपूर्वकप्रक्रमेण रूपादयो जायन्ते, आश्रयविनाशाच्च विनश्यन्ति, तथा गुरुत्वमपि ।**

'संयोगप्रयत्नसंस्कारविरोधी' । गुरुत्व का विरोध (अर्थात् अपने आश्रय के अधःपतन रूप कार्य में अक्षमता) संयोग, प्रयत्न और वेगाख्य संस्कार इन तीन गुणों से होता है; क्योंकि इनमें से किसी के साथ भी सम्बन्ध रहने पर गुरुत्व से पतन की उत्पत्ति नहीं होती है । संयोग से प्रतिरुद्ध होने के कारण ही पालकी पर चढ़े हुए मनुष्य का पतन नहीं होता है । प्रयत्नरूप प्रतिबन्धक से ही शरीर का पतन नहीं होता है । केवल वेग के ही कारण बाहर फेंका हुआ तीर (कुछ देर तक) रुका रहता है ।

'अस्य चाबादिपरमाणुरूपादिवन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः' अर्थात् जिस प्रकार जलीय परमाणुवों के रूपादि नित्य होते हैं, उसी प्रकार पार्थिव परमाणु और जलीय परमाणु का गुरुत्व भी नित्य है । जैसे कार्यरूप जल में कारणगुणक्रम से रूपादि की उत्पत्ति होती है एवं आश्रय के विनाश से उनका विनाश होता है, उसी प्रकार कार्यरूप पार्थिव द्रव्य और जलीय द्रव्य इन दोनों के गुरुत्व भी कारणगुणक्रम से ही उत्पन्न होते हैं और आश्रय के विनाश से ही विनष्ट होते हैं ।

न्यायकन्दली

द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् । **यत् स्यन्दनकर्मकारणं तद् द्रवत्वमित्यर्थः । त्रिद्रव्यवृत्ति** पृथिव्युदकज्वलनवृत्तीत्यर्थः । तत्तु द्विविधमिति । **गुरुत्वमेकविधं द्रवत्वं तु द्विविधमिति तुशब्दार्थः** । नैमित्तिकं सांसिद्धिकं च । **निमित्तं च वह्निसंयोगः, तस्येदं कार्यमिति नैमित्तिकम् । सांसिद्धिकं च स्वभावसिद्धम्, वह्निसंयोगानपेक्षमिति यावत् । सांसिद्धिकमपां विशेषगुणः, अन्यत्राभावात् । नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्यगुणः, साधारणत्वात् ।** सांसिद्धिकस्य **द्रवत्वस्य** गुरुत्ववन्नित्या- नित्यत्वनिष्पत्तयः । **यथा नित्यद्रव्यसमवेतं गुरुत्वं नित्यम्, अनित्यद्रव्यसमवेतं च कार्यकारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशाद् विनश्यतीति तथा सांसिद्धिकं द्रवत्वमपि ।**

अत्र चोदयति–सङ्घातदर्शनात् सांसिद्धिकद्रवत्वमयुक्तमिति चेद् **आप्यस्य हिमकरकादेर्द्रव्यस्य** सङ्घातदर्शनात् **काठिन्यदर्शनादपां स्वभावसिद्धं द्रवत्व-**

'द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्' अर्थात् प्रसरण क्रिया का जो कारण वही 'द्रवत्व' है । 'त्रिद्रव्यवृत्ति' अर्थात् पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में द्रवत्व रहता है । 'तत्तु द्विविधम्' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तु' शब्द से यह सूचित किया गया है कि गुरुत्व तो एक ही प्रकार का है; किन्तु द्रवत्व दो प्रकार का है । 'नैमित्तिकं सांसिद्धिकञ्च' इस वाक्य में प्रयुक्त 'नैमित्तिक' शब्द 'निमित्तस्येदं कार्यं नैमित्तिकम्' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न है एवं इस 'निमित्त' शब्द का अर्थ है वह्नि का संयोग । (फलतः वह्नि प्रभृति तैजस द्रव्य के संयोग रूप निमित्त से उत्पन्न द्रवत्व ही नैमित्तिक द्रवत्व है) स्वाभाविक द्रवत्व को सांसिद्धिक द्रवत्व कहते हैं । फलतः वह्नि प्रभृति तैजस पदार्थों के संयोग के बिना ही जो द्रवत्व उत्पन्न हो उसे सांसिद्धिक द्रवत्व कहते हैं । 'सांसिद्धिकोऽयं विशेषगुणः' सांसिद्धिक द्रवत्व जल का विशेष गुण है; क्योंकि वह अन्य द्रव्यों में नहीं है । 'नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्यगुणः' नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और तेज का सामान्य ही गुण है; क्योंकि वह दो द्रव्यों में समानरूप से रहता है । 'सांसिद्धिकस्य' अर्थात् सांसिद्धिक द्रवत्व का 'गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः' अर्थात् जिस प्रकार नित्य द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला गुरुत्व नित्य ही होता है और अनित्य द्रव्य में समवाय सम्बन्ध सें रहनेवाला गुरुत्व कारणगुणक्रम से उत्पन्न होनेवाला कार्य होता है एवं आश्रय के विनाश से विनाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार द्रवत्व में भी समझना चाहिए । (अर्थात् नित्य द्रव्य में रहनेवाला द्रवत्व भी नित्य है एवं कार्य द्रव्य में रहनेवाले द्रवत्व की उत्पत्ति कारणगुणक्रम से होती है एवं विनाश आश्रय के विनाश से होता है) ।

'संघातदर्शनात् सांसिद्धिकद्रवत्वमयुक्तम्' इस सन्दर्भ के द्वारा आक्षेप किया गया है कि हिम, करका प्रभृति जलीय द्रव्यों में 'संघात' अर्थात् काठिन्य देखा जाता है, अतः जल में रहनेवाले द्रवत्व को स्वाभाविक मानना ठीक नहीं है । 'दिव्येन' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं । सभी जलों में स्वाभाविक द्रवत्व की

प्रशस्तपादभाष्यम्

ताख्यः, तेन परमाणुद्रवत्वप्रतिबन्धात् कार्ये हिमकरकादौ द्रवत्वानुत्पत्तिः ।

नैमित्तिकं च पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजम् । कथम् ? सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टादीनां कारणेषु परमाणुष्वग्निसंयोगाद् वेगापेक्षात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यो विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशात् कार्यद्रव्यनिवृत्तावग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् स्वतन्त्रेषु परमाणुषु द्रवत्वमुत्पद्यते,

(उ.) यह बात नहीं है; क्योंकि दिव्यतेज के साथ संयुक्त परमाणुवों में द्रव्य का उत्पादक संयोग ही सङ्घात रूप होता है (अर्थात् उक्त परमाणुवों का ही संयोग कठिन होता है) । इसी से जल का स्वाभाविक द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो जाता है, जिससे जल से उत्पन्न होनेवाले पाला और बरफ में सांसिद्धिक द्रवत्व की उत्पत्ति नहीं हो पाती ।

अग्नि के संयोग से पृथिवी और तेज (इन दोनों ही) में नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । (प्र.) किस प्रकार ? (इनमें नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति होती है ?) (उ.) घृत, लाह, मोम (मधूच्छिष्ट) प्रभृति द्रव्यों के उत्पादक परमाणुवों में वेग की सहायता से अग्निसंयोग के द्वारा क्रिया की उत्पत्ति होती है । उस क्रिया से परमाणुवों में विभाग उत्पन्न होते हैं । इस विभाग से उक्त परमाणुवों में रहनेवाले (द्व्यणुक के) उत्पादक संयोग का विनाश होता है । इस (संयोगविनाश) से घृतादि कार्य द्रव्यों के नाश हो जाने के बाद उष्णता की सहायता से अग्निसंयोग के द्वारा स्वतन्त्र(परस्परासम्बद्ध) परमाणुवों में द्रवत्व की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

मित्युक्तम् । समाधत्ते—दिव्येनेति । **सर्वत्रोदके स्वभावसिद्धस्य द्रवत्वस्योपलम्भादपां स्वभावसिद्धमेव द्रवत्वं तावन्निश्चितम् । यत्र तु हिमकरकादौ कार्ये द्रवत्वानुत्पत्तिस्तत्र दिव्येन तेजसा सम्बद्धानामाप्यपरमाणूनां परस्परसंयोगो**

उपलब्धि होती है, इससे समझते हैं कि जल का द्रवत्व स्वाभाविक ही है । हिमकरकादि जलीय द्रव्यों में द्रवत्व की जो उत्पत्ति नहीं होती है, उसका हेतु यह है कि दिव्य तेज के साथ उन द्रव्यों के उत्पादक परमाणु सम्बद्ध रहते हैं, अतः उन परमाणुवों के द्रव्योत्पादक संयोग संघातात्मक होते हैं, जिससे हिमकरकादि के सांसिद्धिक द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो जाते हैं । (प्र.) 'तेज के संयोग से सांसिद्धिक द्रवत्व का प्रतिरोध होता है' यह किस प्रमाण से समझते हैं ? (उ.) अनुमान के द्वारा समझते हैं; क्योंकि हिमकरकादि से भिन्न

प्रशस्तपादभाष्यम्

ततस्तेषु भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यः संयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तस्मिंश्च रूपाद्युत्पत्तिसमकालं कारण-गुणप्रक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यत इति ।

स्नेहोऽपां विशेषगुणः । संग्रहमृजादिहेतुः । अस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्व-निष्पत्तयः ।

इसके बाद भोग करनेवाले जीवों के अदृष्ट की सहायता से आत्मा और मन के संयोग से(उन स्वतन्त्र परमाणुवों में) क्रिया की उत्पत्ति होती है । इस क्रिया से (द्रवत्व से युक्त परमाणुवों में द्रव्योत्पादक) संयोग की उत्पत्ति होती है । इस संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होती है । इस कार्यद्रव्य में जिस समय रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है, उसी समय द्रवत्व की भी उत्पत्ति होती है ।

केवल जल में ही रहनेवाला विशेषगुण 'स्नेह' है । वह संग्रह सत्तू प्रभृति चूर्ण द्रव्यों को गोले का आकार बनाने का एवं मर्दन प्रभृति क्रिया का हेतु है । उसके नित्यत्व और अनित्यत्व की व्यवस्था गुरुत्व की तरह जाननी चाहिए ।

न्यायकन्दली

द्रव्यारम्भकः सङ्घाताख्यः, तेन हिमकरकारम्भकाणां परमाणूनां द्रवत्वप्रतिबन्धात् । तेजः-संयोगेन परमाणूनां द्रवत्वं प्रतिबद्धमित्यन्यत्राप्यद्रव्यस्य लवणस्य वह्निसंयोगेन द्रवत्वप्रति-बन्धदर्शनादनुमितम् । लवणस्याप्यत्वमपि हिमकरकादिवत् कालान्तरेण द्रवीभावदर्शना-दवगतम् । विलयनं तु हिमकरकादेर्भौमाग्निसंयोगाद् यद् विलयनं कठिनद्रव्यस्य, तद् वह्निसंयोगादवगतम्, यथा सुवर्णादीनाम् । हिमकरकादिविलयनमपि विलयनमेव । तस्मादिहापि दृष्टसामर्थ्यो वह्निसंयोग एव निमित्तमाश्रीयते ।

लवणरूप द्रव्य में वह्नि के संयोग से (सांसिद्धिक) द्रवत्व का प्रतिरोध देखा जाता है, अतः लवणरूप दृष्टान्त से तेज के संयोग में सांसिद्धिक द्रवत्व के प्रतिरोध की जनकता का अनुमान करते हैं । हिमकरकादि की तरह कुछ समय के बाद लवण को पिघलते देखा जाता है, अतः समझते हैं कि लवण भी जलीय द्रव्य है । वह्नि संयोग से कठिन द्रव्य का पिघलना सुवर्णादि द्रव्यों में प्रत्यक्ष देखा जाता है । हिम-करकादि का पिघलना भी कठिन द्रव्य का पिघलना ही है, अतः समझते हैं कि वह वह्नि के संयोग से ही पिघलता है । तस्मात् पिघलने की कारणता जिसमें प्रत्यक्ष के द्वारा निश्चित है, उसी वह्निसंयोग में हिमकरकादि के पिघलने की भी कारणता स्वीकार कर लेते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

संस्कारस्त्रिविधः— वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च । तत्र वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चसु द्रव्येषु निमित्तविशेषापेक्षात्

१. वेग, २. भावना और ३. स्थितिस्थापक भेद से संस्कार तीन प्रकार का है । इनमें वेग मूर्त्तद्रव्यों में ही विशेष प्रकार के निमित्तकारणों की सहायता से क्रिया के द्वारा उत्पन्न होता है । वह (वेग) किसी

न्यायकन्दली

सांसिद्धिकं द्रवत्वं व्याख्याय नैमित्तिकं व्याचष्टे—नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजमिति । **कथमित्यज्ञेन पृष्टः सन्नुपपादयति**—सर्पिरित्यादिना । **सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानां पार्थिवानां कारणेषु** परमाणुष्वग्निसंयोगात् क्रियोत्पत्तौ **सत्यां कर्मजेभ्यो विभागेभ्यः सर्पिराद्यारम्भकसंयोगविनाशात् सर्पिरादिद्रव्यनिवृत्तौ सत्यां** स्वतन्त्रेषु परमाणुषु **वह्निसंयोगाद्** द्रवत्वमुत्पद्यते । **तदनन्तरमुत्पन्नद्रवत्वेषु परमाणुषु भोगिनामदृष्टापेक्षादात्मपरमाणुसंयोगात् क्रियोत्पत्तौ सत्यां कर्मजेभ्यः परमाणूनां परस्परसंयोगेभ्यो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्ये जाते रूपाद्युत्पत्तिकाल एव कारणद्रवत्वेभ्यो द्रवत्वमुत्पद्यते । हिमकरकादिविलयनेऽप्येवमेव न्यायः ।**

स्नेहोऽपां विशेषगुणः संग्रहमृजादिहेतुः । संग्रहः **परस्परमयुक्तानां**

सांसिद्धिक द्रवत्व की व्याख्या करने के बाद 'नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अब क्रमप्राप्त नैमित्तिक द्रवत्व की व्याख्या करते हैं । 'कथम्' अर्थात् नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, किसी अज्ञ के द्वारा यह पूछे जाने पर 'सर्पिः' इत्यादि से उस प्रश्न का उत्तर देते हैं । घृत, लाह एवं मोम प्रभृति (नैमित्तिक द्रवत्व वाले पार्थिव अवयवी द्रव्यों के) कारणीभूत परमाणुवों में अग्नि के संयोग से क्रिया उत्पन्न होती है, क्रियाओं से परमाणुवों में विभाग उत्पन्न होते हैं । कर्मजनित इन विभागों से परमाणुवों में रहनेवाले (द्व्यणुकों के) उत्पादक पूर्वसंयोगों का नाश होता है । इन संयोगों के विनाश से घृतादि अवयवी द्रव्यों का परमाणुपर्यन्त विनाश हो जाता है । इस प्रकार उन परमाणुवों के स्वतन्त्र हो जाने पर इन स्वतन्त्र परमाणुवों में वह्नि के संयोग से द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । भोगजनक अदृष्ट की सहायता से आत्मा और परमाणु के संयोग से (द्रवत्वयुक्त) परमाणुवों में क्रिया की उत्पत्ति होती है । फिर परमाणुवों के कर्मजनित इन संयोगों से द्व्यणुकादि क्रम से कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, फिर आगे के क्षण में रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है, उसी क्षण में समवायिकारणों में रहनेवाले द्रवत्वों से कार्यद्रव्यों में द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । हिमकरकादि में द्रवत्वविलय के प्रसङ्ग में भी इसी रीति का अनुसरण करना चाहिए ।

'स्नेहोऽपां विशेषगुणः संग्रहमृजादिहेतुः' । 'संग्रह' उस विशेष प्रकार के संयोग का नाम है, जिससे परस्पर असंयुक्त सत्तू प्रभृति द्रव्यों का गोला बन जाता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्मणो जायते नियतदिक्क्रियाप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविशेषविरोधी क्वचित् कारणगुणपूर्वक्रमेणोत्पद्यते ।

भावनासंज्ञकस्त्वात्मगुणो दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानहेतुर्भवति ज्ञानमददुःखादिविरोधी । पट्वभ्यासादरप्रत्ययजः ।

नियमित देश में ही क्रियासमूह का कारण है । स्पर्श से युक्त द्रव्यों का विशेष प्रकार का संयोग उसका विनाशक है । कहीं वह अपने आश्रय के समवायिकारण में रहनेवाले वेग से भी उत्पन्न होता है ।

पहले देखे हुए, सुने हुए एवं अनुमान के द्वारा ज्ञात अर्थों की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का कारणीभूत संस्कार ही 'भावना' है । ज्ञान, मद एवं दुःखादि से उसका नाश होता है । पटु, अभ्यास, आदर और

न्यायकन्दली

सक्त्वादीनां पिण्डीभावप्राप्तिहेतुः संयोगविशेषः । मृजा **कायस्योद्वर्तनादिकृता शुद्धिः** । **आदिशब्दान्मृदुत्वं च, तेषां हेतुः । स्नेहस्यापि** गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः । **गुरुत्वं च परमाणुषु नित्यम्, कार्ये च कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशाद् विनाशि, तथा स्नेहोऽपीति ।**

संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति । तत्र वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चद्रव्येषु निमित्तविशेषापेक्षात् कर्मणो जायते । **पञ्चसु द्रव्येषु पृथिव्यप्तेजोवायुमनस्सु कर्म वेगं करोति नान्यत्र, स्वयमभावात् । नोदनाभिघातादि-**

'मृजा' शब्द से शरीर की वह शुद्धि अभिप्रेत है, जो शरीर में (उबटन प्रभृति के) मर्दन से प्राप्त होती है । आदि शब्द से मृदुत्वादि को समझना चाहिए । 'स्नेह' इन सबों का कारण है । 'स्नेहस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः' अर्थात् गुरुत्व जिस प्रकार परमाणुवों में नित्य है, उसी प्रकार स्नेह भी परमाणुवों में नित्य है । जिस प्रकार कार्यद्रव्य में 'गुरुत्व' कारणगुणक्रम से उत्पन्न होता है एवं आश्रय के विनाश से विनाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कार्यद्रव्य में स्नेह भी कारणगुणक्रम से उत्पन्न होता है एवं आश्रय के विनाश से विनाश को प्राप्त होता है ।

"संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति, तत्र वेगो मूर्त्तिमत्सु पञ्चद्रव्येषु निमित्तविशेषापेक्षात् कर्मणो जायते" । पाँच द्रव्यों में अर्थात् पृथिवी, जल तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में क्रिया से वेग की उत्पत्ति होती है, और किसी वस्तु में नहीं, क्योंकि इन पाँच द्रव्यों को छोड़कर क्रिया स्वयं अन्यत्र कहीं नहीं है । क्रिया को वेग के उत्पादन में नोदन या अभिघात प्रभृति कारणों का साहाय्य आवश्यक है, वह स्वतन्त्र होकर केवल अपन ही बल से वेग का उत्पादन नहीं कर सकती; क्योंकि मन्दगति–

प्रशस्तपादभाष्यम्

पटुप्रत्ययापेक्षादात्ममनसोः संयोगादाश्चर्येऽर्थे पटुः संस्कारातिशयो जायते । यथा दाक्षिणात्यस्योष्ट्रदर्शनादिति । विद्याशिल्पव्यायामादिष्वभ्यस्यमानेषु तस्मिन्नेवार्थे पूर्वपूर्वसंस्कारमपेक्षमाणादुत्तरोत्तरस्मात् प्रत्ययादात्ममनसोः संयोगात् संस्कारातिशयो जायते ।

ज्ञान से इसकी उत्पत्ति होती है । पटु (अनुपेक्षात्मक) ज्ञान एवं आत्मा और मन के संयोग से अद्‌भुत विषयों में 'पटु' नाम के विशेष प्रकार के संस्कार की उत्पत्ति होती है । जैसे कि दक्षिण देश के रहनेवाले को ऊँट के देखने से (ऊँट का पटु संस्कार होता है) । विद्या, शिल्प एवं व्यायाम प्रभृति वस्तुओं का बार-बार अभ्यास करते रहने से उन्हीं विषयों के पूर्व-पूर्व संस्कारों से उत्पन्न प्रतीतियों (स्मृतियों) के कारण आत्मा और मन के संयोग से एक विशेष प्रकार के संस्कार की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

निमित्तविशेषापेक्षं न केवलम्, मन्दगतौ वेगाभावात् । नियतदिक्क्रियाप्रबन्धहेतुः । **यद्दिगाभिमुख्येन क्रियया वेगो जन्यते तद्दिगभिमुखतयैव क्रियासन्तानस्य हेतुरित्यर्थः** । स्पर्शवदिति । **विशिष्टेन स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगेनात्यन्तनिबिडावयववृत्तिना वेगो विनाश्यते, यः स्वयं विशिष्टः । मन्दस्तु वेगः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगमात्रेण विनश्यति, यथातिदूरं गतस्येषोस्स्तमितवायुप्रतिबद्धस्य** । क्वचिदिति । **बाहुल्येन तावद्वेगः कर्मजः, क्वचिद् वेगवदवयवारब्धे जलावयविनि कारणवेगेभ्योऽपि जायते ।**

भावनेत्यादि । भावनासंज्ञकस्तु संस्कार आत्मगुणः । दृष्टश्रुतानुभूते-

रूप क्रिया के रहने पर भी वेग की उत्पत्ति नहीं होती है । 'नियतदिक्क्रिया-प्रबन्धहेतुः' वेग नियत दिशा में ही क्रियासमूह का उत्पादक है । अर्थात् जिस दिशा की तरफ क्रिया से वेग उत्पन्न होता है, उसी दिशा की तरफ क्रियासमूह को वेग उत्पन्न करता है । 'स्पर्शवदिति' स्पर्श से युक्त द्रव्य के विशेष प्रकार के एवं निबिड़ अवयव के द्रव्य में रहनेवाले संयोग से तीव्र वेग का विनाश होता है । मन्द वेग का विनाश तो स्पर्श से युक्त किसी भी द्रव्य के संयोग से हो जाता है, जैसा कि अन्यत्र दूर गये हुए बाण के वेग का विनाश मन्द गति के वायु से भी हो जाता है । 'क्वचिदिति' अर्थात् अधिकांश वेगों की उत्पत्ति तो क्रिया से ही होती है; किन्तु कुछ वेगों की उत्पत्ति आश्रयीभूत द्रव्य के अवयवों में रहनेवाले वेग से भी होती है, जैसे कि जल में कारणगुणक्रम से भी वेग की उत्पत्ति होती है ।

'भावनेत्यादि' अर्थात् भावना नाम का जो संस्कार वह आत्मा का गुण है । 'दृष्टानुभूतेषु' इस वाक्य के द्वारा इस संस्कार से उत्पन्न होनेवाले कार्यों को दिखलाया

न्यायकन्दली

ष्विति दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु स्मृतेः प्रत्यभिज्ञानस्य च हेतुरिति तस्य कार्यकथनम् । दृष्टश्रुतानुभूतेष्विति विपर्ययावगतोऽप्यर्थो बोद्धव्यः, तत्रापि स्मृतिदर्शनात् । ज्ञानेति । **प्रतिपक्षज्ञानेन संस्कारो विनाश्यते । द्यूतादिव्यसनापन्नस्य पूर्वाधीतविस्मरणात्। मदेनापि संस्कारस्य विनाशः, सुरामत्तस्य पूर्वस्मृतिलोपात् । मरणादिदुःखादपि संस्कारो विनश्यति, जन्मान्तरानुभूतस्मरणाभावात् । आदिशब्देन सुखादिपरिग्रहः, भोगासक्तस्य कुपितस्य वा पूर्ववृत्तस्मृत्यभावात्** । पट्वभ्यासेति । **पटुप्रत्ययादभ्यासप्रत्ययादादरप्रत्ययाच्च संस्कारो जायते । पटुप्रत्ययापेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषादाश्चर्येऽर्थे पटुः संस्कारो जायते ।**

यथेति । **उष्ट्रो दाक्षिणात्यस्यात्यन्ताननुभूताकारत्वादाश्चर्यभूतोऽर्थः । तद्दर्शनात् तस्य पटुः संस्कारो जायते, कालान्तरेऽप्युष्ट्रानुभवस्मृतिजननात् । अभ्यास-प्रत्ययजं संस्कारं दर्शयति** – विद्याशिल्पेत्यादि । **विद्या शास्त्रागमादिका, शिल्पं पत्रभङ्गादिक्रिया, व्यायाम आयुधादिश्रमः, तेष्वभ्यस्यमानेषु तस्मिन्नेवार्थे**

गया है कि इससे प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा ज्ञात अर्थ की स्मृति और प्रत्यभिज्ञान नाम का विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है । 'दृष्टानुभूतेषु' इस पद से (केवल प्रत्यक्षप्रमा और अनुमानप्रमा के द्वारा ज्ञात अर्थ ही नहीं, किन्तु) विपर्यय के द्वारा ज्ञात अर्थों का भी ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि उनके विषयों की भी स्मृति होती है । 'ज्ञानेति' विरोधी ज्ञान से संस्कार का विनाश होता है; क्योंकि जूआ प्रभृति (द्यूतादि) व्यसनों में लगे हुए व्यक्ति को पहले के अधीत विषयों का विस्मरण हो जाता है । मद से भी संस्कार का विनाश होता है; क्योंकि सुरापान से मत्त व्यक्ति की पूर्वस्मृति का लोप देखा जाता है । मरणादि दुःखों से भी संस्कार का नाश होता है; क्योंकि दूसरे जन्म की बातों का स्मरण नहीं होता । ('ज्ञानमददुःखादि' पद में प्रयुक्त) 'आदि' पद से सुखादि का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि भोग में आसक्त पुरुषों को या अत्यन्त क्रुद्ध पुरुषों को पहले की बातों की विस्मृति हो जाती है । 'पट्वभ्यासेति' पटुप्रत्यय से, अभ्यासप्रत्यय से एवं आदर-प्रत्यय से संस्कार की उत्पत्ति होती है । 'पटुप्रत्ययादात्ममनसोः संयोगविशेषादाश्चर्येऽर्थे पटुः संस्कारो जायते यथेति'।

(दक्षिण देश में ऊँट नहीं होता, अतः) दाक्षिणात्यों को ऊँट का कभी अनुभव रहता, अतः कभी देखने पर अत्यन्त आश्चर्य होता है, जिससे ऊँट को एक बार देखने पर भी उसे ऊँटविषयक 'पटुसंस्कार' ही उत्पन्न होता है । अतः बहुत दिनों के बाद भी ऊँट की. उन्हें स्मृति होती है । विद्याशिल्पेत्यादि' इस सन्दर्भ के द्वारा अभ्यासप्रत्यय से उत्पन्न संस्कार का निरूपण किया गया है । इस सन्दर्भ के 'विद्या' शब्द से शास्त्र एवं आगम प्रभृति अभिप्रेत हैं । 'शिल्प' शब्द से 'पत्रभङ्गादि' क्रियाओं को समझना चाहिए । 'व्यायाम' शब्द से अस्त्रशस्त्रादि चलाने का श्रम लेना चाहिए । इन सबों का अभ्यास करने पर. 'तस्मिन्नेवार्थे' अर्थात् पहले अनुभूत उसी अर्थ में (संस्कार की उत्पत्ति होती है) । 'पूर्वपूर्वेत्यादि' यतः वह संस्कार बहुत दिनों

न्यायकन्दली

पूर्वगृहीते । पूर्वेत्यादि । **यतः सुचिरमनुवर्तते, स्फुटतरं च स्मरणं करोति । न ह्याद्यानुभव एव संस्कारविशेषमाधत्ते, प्रथमं तदर्थस्मरणाभावात् । नाप्युत्तर एव हेतुः, पूर्वाभ्यास-वैयर्थ्यात् । तस्मात् पूर्वसंस्कारापेक्षोत्तरोत्तरानुभवाहिताधिकाधिकसंस्कारोत्पत्तिक्रमेणोपान्त्य-संस्कारापेक्षादन्त्यानुभवात् तदुत्पत्तिः ।**

इदं त्विह निरूप्यते । विद्यायामभ्यस्यमानायां किं तदर्थो वाक्येन प्रतिपाद्यते ? किं वा स्फोटेन ? कुतः संशयः ? विप्रतिपत्तेः । एके वदन्ति स्फोटोऽर्थं प्रतिपादयतीति । अपरे त्वाहुर्वाक्यं प्रत्यायकमिति । अतो युक्तः संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति । यदि हि वर्णानतिरिक्तं पदम्, पदानतिरिक्तं च वाक्यम्, तदार्थप्रत्यय एव न स्यादिति । तथा हि न वर्णाः प्रत्येकमर्थविषयां धियमाविर्भावयन्ति, शेषवर्णवैयर्थ्यात् । समुदायश्च तेषां न सम्भवति, अन्त्यवर्णग्रहणसमये पूर्वेषामसम्भवात् । नित्यत्वाद् वर्णानामस्ति समुदाय इति चेत् ? तथापि न तेषां प्रतीतिरनुवर्तते, अप्रतीयमानानां च प्रत्यायकत्वे सर्वदार्थप्रतीतिप्रसङ्गः । न हि प्रतीत्य अप्रतीयमानानां सर्वथा अप्रतीयमानानां च कश्चिद् विशेषः । पूर्वावगता वर्णाः स्मृत्यारूढाः प्रतीतिहेतव

तक रहता है एवं अत्यन्त स्पष्ट स्मृति का उत्पादन करता है । पहले बार के ही अनुभव से विशिष्ट संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि उस संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति नहीं होती है । केवल आगे के अनुभव ही संस्कार के उत्पादक नहीं हैं; क्योंकि (ऐसा मानने पर) पहले के सभी अभ्यास व्यर्थ हो जायेंगे । 'तस्मात्' पूर्व संस्कार से युक्त आत्मा में आगे के अनुभवों से संस्कारों की उत्पत्ति की धारा चलती है, इस प्रकार उपान्त्य (अर्थात् अन्तिम संस्कार से अव्यवहितपूर्व वृत्ति) संस्कार की सहायता से अन्तिम अनुभव के द्वारा विशिष्ट संस्कार को उत्पत्ति होती है ।

इस प्रसङ्ग में इस विषय का विचार उठाता हूँ कि शास्त्र या आगमरूप कथित विद्या के अभ्यास से जो उनके अर्थों का प्रतिपादन होता है, वह वाक्य से उत्पन्न होता है ? या स्फोट से उत्पन्न होता है ? (प्र) यह संशय ही उपस्थित क्यों हुआ ? (उ.) परस्पर विरोधी मतों के कारण संशय उपस्थित होता है । किसी सम्प्रदाय के लोग कहते हैं कि स्फोट से अर्थ की प्रतीति होती है । दूसरे सम्प्रदाय के लोग कहते हैं कि वाक्य से ही अर्थ का बोध होता है । तो फिर इस प्रसङ्ग में क्या होना उचित है ? (प्र.) स्फोट से ही अर्थ की प्रतीति उचित है; क्योंकि पदों का समूह ही वाक्य है; एवं वर्णों का समूह ही पद है, इस वस्तुस्थिति के अनुसार वाक्य के अर्थबोध का होना सम्भव नहीं है । (विशदार्थ यह है कि वाक्य के) हर एक वर्ण अर्थविषयक बोध के उत्पादक नहीं हैं; क्योंकि ऐसा मानने पर उनमें से किसी एक ही वर्ण से अर्थ-विषयक बोध का सम्पादन हो जाएगा, फिर अवशिष्ट वर्णों का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा । वर्णों का एक समुदाय होना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि अन्तिम वर्ण के

न्यायकन्दली

इति चेत् ? यदि हि स्मृतिरपि क्रमभाविनी ? तदा नास्ति वर्णसाहित्यम्, तृतीयवर्ण-ग्रहणकाले प्रथमवर्णस्मृतिविलोपात्, युगपदुत्पादस्तु स्मृतीनामनाशङ्कनीय एव, ज्ञानयौग-पद्यप्रतिषेधात् ।

अथ प्रथममाद्यवर्णज्ञानम्, तदनु संस्कारः, तदनु तृतीयवर्णज्ञानम्, तेन प्राक्तनेन संस्का-रेणान्त्यो विशिष्टः संस्कारो जन्यत इत्यनेन क्रमेणान्ते निखिलवर्णविषयः संस्कारो जातो निखिलवर्णविषयामेकामेव स्मृति युगपत् करोतीत्याश्रीयते, तदा क्रमो हीयते । क्रमो हि पौर्वाप-र्यम्, तच्च देशनिबन्धनं कालनिबन्धनं वा स्यात्, उभयमपि तद्वर्णेषु नावकाशं लभते, तेषां सर्व-

प्रत्यक्ष के समय पूर्व के सभी वर्णों का रहना सम्भव नहीं है । (प्र.) वर्ण तो नित्य हैं, अतः सभी समयों में उनकी सत्ता सम्भावित है सुतरां वर्णों का समुदाय असम्भव नहीं है । (उ.) फिर भी किसी एक समय में सभी वर्णों का ग्रहण सम्भव नहीं है । वर्ण गृहीत होकर ही अर्थप्रत्यय के कारण हैं । यदि वर्ण स्वरूपतः अर्थप्रत्यय के कारण हों, तो फिर उनसे सर्वदा अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए; क्योंकि एक बार ज्ञात वर्ण के अज्ञान में और वर्णों के सर्वथा अज्ञान में कोई अन्तर नहीं है । अतः इस प्रकार भी वर्णसमूह से सर्वप्रत्यय का उपपादन नहीं किया जा सकता ।

(प्र.) पद या वाक्य के जितने वर्ण पहले ज्ञात हैं, वे सभी पुनः स्मृतिपथ में आकर अर्थबोध का उत्पादन करते हैं । (उ.) (इस प्रसङ्ग में पूछना है कि पद या वाक्य के प्रत्येक वर्ण की अलग-अलग स्मृति होती है ? या सभी वर्णों का एक ही स्मरण होता है ?) इनमें यदि यह प्रथमपक्ष मानें कि पद या वाक्य के प्रत्येक वर्ण की स्मृति क्रमशः होती है, तो फिर स्मृति में भी वर्णों का एकत्र होना सम्भव नहीं है; क्योंकि तीसरे वर्ण की स्मृति के समय प्रथम वर्ण की स्मृति अवश्य ही विनष्ट हो जाएगी । प्रत्येक वर्णविषयक सभी स्मृतियों का एक ही समय उत्पन्न होना तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि एक समय अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि इस प्रकार की कल्पना करें कि (प्र.) पहले प्रथम वर्ण का ज्ञान होता है, उसके बाद उस वर्णविषयक संस्कार की उत्पत्ति होती है, उसके बाद तृतीय वर्ण का ज्ञान, इसके बाद उसी क्रम से पहले-पहले के संस्कारों से अन्तिम वर्णविषयक विशेष प्रकार के संस्कार की उत्पत्ति होती है । अन्त में सभी वर्णों के इस एक ही संस्कार से एक ही समय सभी वर्णविषयक एक ही स्मृति की उत्पत्ति होती है । (उ.) तो फिर वर्णों में क्रम ही नहीं रह जाएगा; क्योंकि पूर्वापरीभाव (एक के बाद दूसरा) को ही क्रम कहते हैं । यह क्रम दो प्रकारों से सम्भव है– (१) देशमूलक और (२) कालमूलक । वर्णों में इन दोनों में से एक भी प्रकार के क्रम की सम्भावना नहीं है; क्योंकि वर्ण व्यापक हैं, इसलिए दैशिक पूर्वापरीभाव-रूप क्रम सम्भव नहीं है । वर्ण नित्य (अविनाशी) हैं, इसीलिए कालिक पूर्वापरीभाव की सम्भावना भी नहीं है । अतः वर्णों में क्रम की उपपत्ति का एक ही मार्ग बच

न्यायकन्दली

गतत्वान्नित्यत्वाच्च । बुद्धिक्रमनिबन्धनस्तु वर्णानां क्रमो भवेत्, स चैकस्यां स्मृतिबुद्धौ परिवर्तमानानां प्रत्यस्तमित इत्यक्रमाणामेव प्रतिपादकत्वम् । अतश्च सरो रसो वनं नवं नदी दीनेत्यादिष्वर्थभेदप्रत्ययो न स्यात्, वर्णानामभेदात्, क्रमस्य प्रतीत्यनङ्गत्वाच्च । अस्ति चायं प्रतीतिभेदः सवर्णेष्वनुपपद्यमानः ? तद्व्यतिरिक्तं निमित्तान्तरमाक्षिपतीति स्फोटसिद्धिः ।

ननु स्फोटोऽपि नानभिव्यक्तोऽर्थं प्रतिपादयति, सर्वदार्थोपलब्धिप्रसङ्गात् । अभिव्यक्तिश्च न तस्य वर्णेभ्यः सम्भवति, उक्तेन न्यायेन तेषामेकैकतः समुदितानां चासामर्थ्यात्, तस्मात् स्फोटादपि दुर्लभा अर्थप्रतीतिः ।

अत्र वदन्ति । प्रयत्नभेदानुपातिनो वायवीया ध्वनयः प्रत्येकमेव तद्वर्णात्मकतया स्फोटमस्फुटमभिव्यञ्जयन्तः पूर्वं विषयसंस्कारसाचिव्यलाभादन्ते स्फोटमाभासयन्ते । तथा चान्ते प्रत्यस्तमितनिखिलवर्णविभागोल्लेखक्रमम-

जाता है कि बुद्धिक्रम के अनुसार वर्णों का क्रम मानें; किन्तु सभी वर्णों का एक ही संस्कार मान लेने से वह मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है । अतः इस पक्ष में यह आपत्ति आ खड़ी होती है कि 'बिना क्रम के ही वर्णों से अर्थ का बोध होता है' । जिससे 'सर' शब्द से और 'रस' शब्द से, एवं 'वन' शब्द से और 'नव' शब्द से अथवा 'नदी' शब्द से और 'दीन' शब्द से समानविषयक बोधों की आपत्ति होगी; क्योंकि दोनों शब्दों के वर्ण समान ही हैं, क्रम को बोध का करण मान नहीं सकते; किन्तु उन दोनों शब्दों के समुदायों में से प्रत्येक पद के द्वारा विभिन्न बोध ही होता है । अतः समान वर्ण के उक्त पदों से विभिन्न प्रकार की उक्त प्रतीति की उपपत्ति स्फोट के बिना नहीं हो सकती, अतः 'स्फोट' का मानना आवश्यक है ।

(प्र.) स्फोट भी तो ज्ञात होकर ही अर्थविषयक बोध का उत्पादन कर सकता है, यदि ऐसा न मानें, स्वरूपतः ही स्फोट को अर्थबोध का कारण मानें तो सर्वदा अर्थविषयक बोध की आपत्ति होगी । (अब यह देखना है कि स्फोट की अभिव्यक्ति किससे होती है ?) वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि पद या वाक्य के प्रत्येक वर्ण से यदि स्फोट की अभिव्यक्ति मानेंगे, तो अवशिष्ट वर्ण ही व्यर्थ हो जायेंगे । यदि वर्णसमुदाय से स्फोट की अभिव्यक्ति मानें, तो सो भी सम्भव नहीं है; क्योंकि सभी वर्णों में दैशिक या कालिक साहित्य सम्भव ही नहीं है । तस्मात् स्फोट से भी अर्थ का बोध सम्भव नहीं है ।

इस आक्षेप के प्रसङ्ग में स्फोट से अर्थबोध माननेवालों का कहना है कि स्फोट पहले से ही रहते हैं; किन्तु अनभिव्यक्त रहते हैं; किन्तु तत्तद्वर्णों के उच्चारण के उक्त प्रयत्न से निष्पन्न (कौष्ठ्य) वायु की ध्वनियाँ उक्त अनभिव्यक्त स्फोट को ही पहले तत्तद्वर्ण स्वरूप से अस्फुट रूप में अभिव्यक्त करती हुई पश्चात् अर्थविषयक संस्कार की सहायता से अतिस्फुट रूप से भी अभिव्यक्त करती हैं । यही कारण है कि अन्त में वर्णों के अलग-अलग स्वरूप नहीं रह जाते एवं वर्णों का अलग-अलग उल्लेख भी नहीं रह जाता, इन सबों से अलग

न्यायकन्दली

नवयवमेकं विस्पष्टमर्थतत्त्वमनुभूयते । यदि हि वर्णा एव पदम् ? न तदेकबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति अनालम्बना बुद्धिः पर्यवस्यति । 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति च व्यपदेशो न घटते । तस्माद् वर्णव्यतिरिक्तः कोऽपि सम्भवत्येको यस्मादर्थः स्फुटीभवतीति ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते । गुणरत्नाभरणः कायस्थकुलतिलकः पाण्डुदासइत्यादिषु पदेषूच्चार्यमाणेषु क्रमभाविनो वर्णाः परं प्रतीयन्ते न त्वन्ते वर्णव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदर्थस्य संवेदनमस्ति । यदि हि तस्य पूर्वं वर्णात्मकतया संविदितस्यान्ते स्वरूपसंवेदनम्, पूर्वज्ञानस्य मिथ्यात्वमवसीयते रजतज्ञानस्येव शुक्तिकासंवित्तौ । न चैवं प्रतिपत्तिरस्ति 'नायं वर्णः, किन्तु स्फोटः' इति । या चेयमेकार्थावमर्शिनी बुद्धिः, सापि नार्थान्तरमवभासयति किन्तु वन-

एक सम्पूर्ण और अत्यन्त स्पष्ट अर्थतत्त्व का बोध होता है । यदि वर्णों का समुदाय ही पद हो (वर्णों का कोई एक स्फोट न हो) तो फिर पद में एकत्व की प्रतीति न हो सकेगी, अतः 'एकं पदम्' इत्यादि बुद्धियाँ निर्विषयक हो जायेंगी । एवं 'शब्दाद् अर्थं प्रतिपद्यामहे' (एक अखण्ड शब्द से अर्थ को हम समझते हैं) यह व्यवहार न हो सकेगा (किन्तु 'बहुत से शब्दों से हम अर्थ को समझते हैं' इस प्रकार का व्यवहार होगा) । अतः वर्णों से भिन्न कोई एक वस्तु है, जिससे अर्थ 'प्रस्फुटित' होता है (उसी की अन्वर्थसंज्ञा 'स्फोट' है) ।

इन सब युक्तियों से स्फोट की सत्ता की सम्भावना उपस्थित होने पर सिद्धान्तियों का कहना है कि 'गुणरत्नाभरणः कायस्थकुलतिलकः पाण्डुदासः' (अर्थात् पाण्डुदास कायस्थ कुल के तिलकरूप हैं एवं गुणरूपी रत्न ही उनके भूषण हैं) इन सब वाक्यों के उच्चारण करने पर क्रमशः उत्पन्न होनेवाले वर्णों की ही प्रतीति होती है; किन्तु उच्चारण के अन्त में इन वर्णों से भिन्न किसी (स्फोट रूप) अर्थ का भान नहीं होता है । यदि ऐसा कहें कि (प्र.) प्रथमतः वर्ण का जो भान होता है, वह वस्तुतः स्फोट का ही वर्णरूप से भान होता है और अन्त में स्फोट का स्फोटत्वरूप से भान होता है । (उ.) तो फिर जैसे कि शुक्तिका में रजत ज्ञान को मिथ्या मानना पड़ता है, वैसे ही स्फोट में वर्णत्वविषयक प्रथम ज्ञान को मिथ्या ही मानना पड़ेगा । (किन्तु आगे) यह बाधज्ञान भी नहीं होता कि 'ज्ञात होनेवाला यह वर्ण नहीं है, किन्तु स्फोट है' । वर्णों के समुदाय में जो एकत्व की प्रतीति होती है, उस प्रतीति का भी विषय उन वर्णों के समुदाय से भिन्न कुछ भी नहीं है, जैसे कि 'यह वन है' इस प्रतीति का विषय वृक्षसमुदाय से भिन्न स्वतन्त्र वन नाम की कोई वस्तु नहीं है । 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' यह पञ्चमी एकवचन से युक्त वाक्य का प्रयोग भी उन वर्णों के समुदाय को ही एक वस्तु मानकर किया जाता है ।

प्रत्यक्ष के द्वारा जिसका सर्वथा ज्ञान होना ही असम्भव है, उस (स्फोट) का अन्य प्रमाणों के द्वारा निरूपण सम्भव नहीं है; क्योंकि उसके ज्ञान का कोई दूसरा उपाय

न्यायकन्दली

प्रत्ययवद् वर्णसमुदायमात्रमवलम्बते । 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति वर्णसमुदायमेवोररीकृत्य लोकः प्रयुङ्क्ते ।

न च प्रत्यक्षेणाप्रतीयमानः प्रमाणान्तरतः शक्यो निरूपयितुम्, उपायाभावात् । अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिस्तदुपाय इति चेत् ? किमप्रतीयमानः स्फोटोऽर्थाधिगमे हेतुः समर्थितो भवद्भिः ? प्रतीयमानो वा ? अप्रतीयमानस्य हेतुत्वे सर्वदार्थप्रतीतिप्रसङ्गः । प्रतीतिश्च तस्य नास्तीत्युक्तम्, अर्थप्रत्ययो वर्णानामेव तद्भावभावितामनुगच्छति, तेनैषामेव वरं व्युत्पत्त्यनुसारेणार्थप्रतिपादने कश्चिदुपाय आश्रीयताम्, न पुनरप्रतीयमानस्य गगनकुसुमस्येव कल्पना युक्ता । न चेदं वाच्यं वर्णानां प्रतिपादकत्वे क्रमभेदे कर्तृभेदे व्यवधाने च प्रतीतिप्रसङ्ग इति । न हि ते विपरीतक्रमाः कर्तृभेदानुपातिनो देशकालव्यवहितास्तदर्थधियः कारणम्, कार्योन्नेया हि शक्तयो भावानाम्, यथा तेभ्यः कार्यं दृश्यते, तथैव तेषां शक्तयः कल्प्यन्ते । यथोपदिशन्ति सन्तः –

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥ इति ।

ही नहीं है । अर्थ की प्रतीति से वर्णों में ही उसके अन्वय और व्यतिरेक का आक्षेप होता है, अतः वर्णों से ही अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए कोई उपाय ढूँढ़ निकालना ही युक्त है । यह अनुचित है कि इसके लिए आकाश-कुसुम की तरह सर्वथा अप्रतीत होनेवाले किसी (स्फोट रूप) अर्थ की कल्पना की जाय । (वर्णों से ही अर्थ का बोध मानने के पक्ष में) इन दोषों का उद्भावन करना अयुक्त है कि (प्र.) (वर्णों से ही यदि अर्थ की प्रतीति हो तो) (१) विभिन्न क्रम से पठित शब्दों से अर्थात् रस सर, वन नव, नदी दीन प्रभृति शब्दयुगलों से समान अर्थविषयक बोध की आपत्ति होगी; क्योंकि दोनों में समान ही वर्ण हैं । (२) एवं विभिन्न कर्त्ताओं से उच्चरित विभिन्न वर्णों से (अर्थात् देवदत्त से उच्चरित 'घ' और यज्ञदत्त से उच्चरित 'ट' शब्द से घटविषयक) बोध की आपत्ति होगी । एवं (३) व्यवहित वर्णों से (अर्थात् 'घ' के उच्चारण के बाद ककारादि वर्णों का उच्चारण और उसके बाद उच्चरित 'ट' वर्ण से) घटविषयक बोध की आपत्ति होगी । (उ.) ये आपत्तियाँ इसलिए नहीं हैं कि उक्त विभिन्न क्रमों से पठित या विभिन्न कर्त्ताओं से पठित या व्यवहित होकर पठित वर्णों को समान अर्थविषयक बोध का कारण ही नहीं मानते; क्योंकि किस प्रकार की वस्तुओं में किसकी कारणता है ? यह केवल कार्य से ही अनुमान किया जा सकता है । जिन वस्तुओं से जिन प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति देखी जाती है, उन वस्तुओं को ही उन कार्यों का कारण माना जाता है । जैसा कि विद्वानों का उपदेश है कि "जितने एवं जिन वर्णों के जिस प्रकार के विन्यास में जिन अर्थों के बोध का सामर्थ्य (कार्य से) निश्चित है,

न्यायकन्दली

सर्वगतत्वान्नित्यत्वाच्च वर्णानां क्रमभावः । अत एव नदीदीनेत्यादिष्वर्थभेदः, क्रमभेदात् । वर्णेषु क्रमो नास्ति स कथमेषामङ्गं स्यादिति चेत्, न, तेषामुत्पत्तिभाजामव्याप्यवृत्तीनां देशकालकृतस्य पौर्वापर्यस्य सम्भवात् । यच्चेदमुक्तम्— प्रत्येकशः समुदितानां च न सामर्थ्यमिति, तदपि न परस्य मतमालोचितम् । यद्यपि वर्णा अनवस्थायिनस्तथापि तद्विषयाः क्रमभाविनः संस्काराः सम्भूय पदार्थधियमातन्वते । यद्वा पूर्ववर्ण-

वे ही वर्ण उसी विन्यास-क्रम से उस अर्थ के बोधक हैं ।"

अत एव इसी क्रमभेद के कारण नदी शब्द से और दीन शब्द से विभिन्न विषयक बोध होते हैं । (प्र.) वर्ण नित्य और व्यापक हैं, अतः उनका क्रम ही सम्भव नहीं है, फिर शब्दों का क्रम शब्दबोध का अङ्ग कैसे होगा ? (उ.) [1] नहीं, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि वर्ण उत्पत्तिशील हैं और अव्याप्यवृत्ति हैं (अर्थात् अपने आश्रयीभूत आकाश में कहीं किसी प्रदेश में रहते हैं और किसी प्रदेश में नहीं) अतः उनमें कालिक और दैशिक दोनों ही प्रकार के क्रम हो सकते हैं । यह जो कहा गया था कि (प्र.) पद या वाक्यघटक प्रत्येक वर्ण में अर्थबोध की हेतुता मानने से अवशिष्ट वर्णों का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा एवं वर्णों के समुदाय में अर्थबोध की जनकता सम्भव नहीं है; क्योंकि सभी वर्णों की कहीं एकत्र स्थिति ही सम्भव नहीं है फिर उनका समुदाय ही कैसा ? इस प्रकार वर्ण न प्रत्येकशः ही अर्थबोध के कारण हो सकते हैं, न समूहापन्न होकर ही (अतः स्फोट ही अर्थबोध

---

1. यहाँ मुद्रित न्यायकन्दली पुस्तक का पाठ कुछ अशुद्ध और व्यत्यस्त मालूम पड़ता है । 'एवं प्राप्तेऽभिधीयते' इत्यादि वाक्यों से स्फोट का खण्डन और 'वाक्य से ही अर्थबोध की उत्पत्ति का सिद्धान्त' उपपादित हुआ है, जिसका उपसंहार 'यावन्तो यादृशाः' इत्यादि श्लोकवार्त्तिक के श्लोक को उद्धृत कर किया गया है । इसके बाद 'सर्वगतत्वान्नित्यत्वाच्च वर्णानां क्रमभावः' ऐसी पङ्क्ति है । यहीं कुछ त्रुटि मालूम होती है; क्योंकि वर्णों का सर्वगतत्व उनके क्रमभाव का बाधक है, जिसका अनुपद ही 'क्रमो हि पौर्वापर्यम्' इत्यादि से उपपादन किया गया है । तदनुसार वर्णों का असर्वगतत्व और अनित्यत्व ये ही वर्णों के क्रमभाव के ज्ञापक होंगे । अतः उक्त पङ्क्ति को यदि सिद्धान्तपक्षीय मानें तो 'सर्वगतत्वात्' इत्यादि पाठ के स्थान पर उसके विरुद्ध 'अनित्यत्वादसर्वगतत्वाच्च वर्णानां क्रमभावः' ऐसा पाठ मानना पड़ेगा । दूसरा उपाय वह है कि उक्त पङ्क्ति को सिद्धान्तपक्षीय न मानकर पूर्वपक्षीय ही मान लें और उस वाक्य के 'क्रमभावः' इस पद को 'क्रमाभावः' में परिवर्तित कर दें । तदनुसार "सर्वगतत्वान्नित्यत्वाच्च वर्णानां क्रमाभावः अत एव" इतने अंश को 'वर्णेषु क्रमो नास्ति' इस पूर्वपक्षवाक्य के पहले पाठ करें एवं 'यावन्तो यादृशा ये च' इस श्लोक के नीचे सिद्धान्त पक्ष का 'नदीदीनेत्यादिष्वर्थभेदः क्रमात्' इतना ही रक्खें । इनमें द्वितीय पक्ष के अनुसार ही मैंने अनुवाद किया है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रयत्नेन मनश्चक्षुषि स्थापयित्वाऽपूर्वमर्थं दिदृक्षमाणस्य विद्युत्स-

प्रयत्न के द्वारा मन को चक्षु में सम्बद्ध कर विशेष प्रकार की वस्तु को देखने

न्यायकन्दली

संस्कारस्मरणयोरन्यतरसापेक्षोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः, यथा चानेकसंस्काराः सम्भूय स्मरणं जनयन्ति तथोपपादितं द्वित्वे । अथ मन्यसे वर्णविषयात् संस्कारादर्थप्रतीतिरयुक्ता, संस्कारा हि यद्विषयोपलम्भसम्भावितजन्मानस्तद्विषयामेव स्मृतिमाधातुमीशते न कार्यान्तरम् । यथाह मण्डनः स्फोटसिद्धौ—

संस्काराः खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याविभाविताः ।
फलं तत्रैव जनयन्त्यतोऽर्थे धीर्न कल्प्यते ॥ इति ।

तदप्यसमीचीनम् । यतः पदार्थप्रतीत्यनुगुणतया प्रत्येकमनुभवैराधीयमाना वर्णविषयाः संस्काराः स्मृतिहेतुसंस्कारविलक्षणशक्तय एवाधीयन्ते,

के कारण हैं, वर्ण नहीं) । (उ.) यह कहना भी वर्ण को ही अर्थबोध का कारण माननेवाले प्रतिपक्षी के मत की आलोचना किये बिना ही मालूम होता है । यह ठीक है कि वर्ण चिरस्थायी नहीं हैं (क्षणिक हैं), फिर क्रमशः उत्पन्न उनके सभी संस्कार मिलकर पदार्थविषयक बोध को उत्पन्न करेंगे । अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि पहले-पहले वर्ण के संस्कार अथवा पहले-पहले वर्ण की स्मृति इन दोनों में से किसी एक के साहाय्य से केवल अन्तिम वर्ण से भी अर्थ का बोध मान सकते हैं । अनेक संस्कार मिलकर एक ही स्मरण का जिस रीति से सम्पादन करते हैं, वह रीति द्वित्वनिरूपण के प्रसङ्ग में लिख आये हैं । यदि यह कहना चाहते हों कि (प्र.) जिस विषयक अनुभव से जिस संस्कार की उत्पत्ति होगी, वह संस्कार उसी विषयक स्मृति को उत्पन्न कर सकता है, जिससे एक विषयक संस्कार से अपर विषयक स्मृतिरूप भी दूसरा कार्य नहीं हो सकता । अतः वर्णविषयक संस्कार से अर्थविषयक बोधरूप दूसरे कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? (क्योंकि वर्णविषयक संस्कार से तो वर्णविषयक स्मृतिरूप कार्य ही उत्पन्न हो सकता है) । जैसा कि आचार्य मण्डन ने अपने 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ में कहा है कि 'संस्कार जिन विषयों की 'प्रख्या' अर्थात् अनुभव से उत्पन्न होंगे, उन्हीं विषयों में वे स्मृति को उत्पन्न कर सकते हैं, अतः वर्णविषयक संस्कारों से अर्थविषयक **'धी'** अर्थात् बोध उत्पन्न नहीं हो सकता । (उ.) किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं **है**; **क्योंकि** (अन्यत्र स्मृति और संस्कार के कार्यकारणभाव में समानविषयत्व का नियम यद्यपि ठीक है; तथापि) पदों में या वाक्यों में प्रयुक्त होनेवाले वर्णों के हर एक अनुभव से आत्मा में जिस संस्कार का आधान होता है, वह संस्कार स्मृति के कारणीभूत संस्कारों से कुछ विलक्षण प्रकार का होता है, जिस संस्कार में पद के अर्थविषयक अनुभव कराने की शक्ति होती है, उस संस्कार के कार्य

प्रशस्तपादभाष्यम्

म्पातदर्शनवदादरप्रत्ययः, तमपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगात् संस्कारातिशयो जायते । यथा देवह्रदे राजतसौवर्णपद्मदर्शनादिति ।

की इच्छावाले पुरुष को विद्युत् सम्पात के देखने की तरह (उक्त विशेष वस्तु में) आदरबुद्धि उत्पन्न होती है। इस आदरबुद्धि एवं आत्मा और मन के संयोग, इन दोनों से विशेष प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है । जैसे देवताओं के सरोवर में चाँदी और सोने के कमलफूल देखने से (विशेष प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है) ।

न्यायकन्दली

तथाभूतानामेव तेषां कार्येणाधिगमात् । सन्तु वा भावनारूपाः संस्कारास्तथापि तेषामर्थप्रतिपादनसामर्थ्यमुपपद्यते, तद्भावभावित्वात् । यो हि स्फोटं कल्पयति, तेन स्फोटस्यार्थप्रतिपादनशक्तिरपि कल्पनीयेति कल्पनागौरवम् । उभयसिद्धस्य संस्कारस्य सामर्थ्यमात्रकल्पनायां लाघवमस्तीत्येतदेव कल्पयितुमुचितम् । यथोक्तं न्यायवादिभिः –

यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम् ।
कार्यान्तरेऽपि सामर्थ्यं न तस्य प्रतिहन्यते ॥ इति ।

तदेवं वर्णेभ्य एव संस्कारद्वारेणार्थप्रत्ययसम्भवादयुक्ता स्फोटकल्पनेति ।

से ऐसा ही निश्चय करना पड़ता है । मान लिया कि वह भावनाख्य संस्कार है (जिससे सामान्य नियम के अनुसार समानविषयक स्मृति ही हो सकती है), तथापि पदार्थबोध के साथ उसके अन्वय (और व्यतिरेक) से इस संस्कार में अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति की कल्पना अयुक्त नहीं कही जा सकती । जो कोई स्फोट नाम की अतिरिक्त वस्तु की कल्पना करते हैं, उन्हें उस वस्तु की कल्पना और स्फोट नाम की उस वस्तु में अर्थबोध के सामर्थ्य की कल्पना, ये दो कल्पनायें करनी पड़ती हैं । स्फोट न माननेवाले को वर्णविषयक संस्कार में अर्थविषयक बोध के सामर्थ्यरूप धर्म की कल्पना करनी पड़ती है; क्योंकि वर्णविषयक संस्काररूप धर्मी को तो दोनों पक्षों को मानना ही है । अतः लाघव की दृष्टि से भी वर्णों से ही अर्थविषयक बोध का मानना उचित है । जैसा कि न्यायवादियों ने (भट्टकुमारिल ने) कहा है कि "यद्यपि यह निर्णीत है कि संस्कार स्मृति का कारण है, फिर भी उसमें दूसरे कार्य की शक्ति का निराकरण नहीं किया जा सकता" । तस्मात् वर्णों से ही उनके संस्काररूप व्यापार के द्वारा अर्थबोध हो सकता है, अतः स्फोट की कल्पना अयुक्त है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

म्पातदर्शनवदादरप्रत्ययः, तमपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगात् संस्कारातिशयो जायते । यथा देवहृदे राजतसौवर्णपद्मदर्शनादिति ।

की इच्छावाले पुरुष को विद्युत् सम्पात के देखने की तरह (उक्त विशेष वस्तु में) आदरबुद्धि उत्पन्न होती है। इस आदरबुद्धि एवं आत्मा और मन के संयोग, इन दोनों से विशेष प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है । जैसे देवताओं के सरोवर में चाँदी और सोने के कमलफूल देखने से (विशेष प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है) ।

न्यायकन्दली

तथाभूतानामेव तेषां कार्येणाधिगमात् । सन्तु वा भावनारूपाः संस्कारास्तथापि तेषामर्थ-प्रतिपादनसामर्थ्यमुपपद्यते, तद्भावभावित्वात् । यो हि स्फोटं कल्पयति, तेन स्फोटस्यार्थ-प्रतिपादनशक्तिरपि कल्पनीयेति कल्पनागौरवम् । उभयसिद्धस्य संस्कारस्य सामर्थ्यमात्र-कल्पनायां लाघवमस्तीत्येतदेव कल्पयितुमुचितम् । यथोक्तं न्यायवादिभिः —

यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम् ।
कार्यान्तरेऽपि सामर्थ्यं न तस्य प्रतिहन्यते ॥ इति ।

तदेवं वर्णेभ्य एव संस्कारद्वारेणार्थप्रत्ययसम्भवादयुक्ता स्फोटकल्पनेति ।

से ऐसा ही निश्चय करना पड़ता है । मान लिया कि वह भावनाख्य संस्कार है (जिससे सामान्य नियम के अनुसार समानविषयक स्मृति ही हो सकती है), तथापि पदार्थबोध के साथ उसके अन्वय (और व्यतिरेक) से इस संस्कार में अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति की कल्पना अयुक्त नहीं कही जा सकती । जो कोई स्फोट नाम की अतिरिक्त वस्तु की कल्पना करते हैं, उन्हें उस वस्तु की कल्पना और स्फोट नाम की उस वस्तु में अर्थबोध के सामर्थ्य की कल्पना, ये दो कल्पनायें करनी पड़ती हैं । स्फोट न माननेवाले को वर्णविषयक संस्कार में अर्थविषयक बोध के सामर्थ्यरूप धर्म की कल्पना करनी पड़ती है; क्योंकि वर्णविषयक संस्काररूप धर्मी को तो दोनों पक्षों को मानना ही है । अतः लाघव की दृष्टि से भी वर्णों से ही अर्थविषयक बोध का मानना उचित है । जैसा कि न्यायवादियों ने (भट्टकुमारिल ने) कहा है कि "यद्यपि यह निर्णीत है कि संस्कार स्मृति का कारण है, फिर भी उसमें दूसरे कार्य की शक्ति का निराकरण नहीं किया जा सकता" । तस्मात् वर्णों से ही उनके संस्काररूप व्यापार के द्वारा अर्थबोध हो सकता है, अतः स्फोट की कल्पना अयुक्त है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

भुग्नसंवर्तितेषु स्थितिस्थापकस्य कार्यं संलक्ष्यते । नित्यानित्यत्व-निष्पत्तयोऽस्यापि गुरुत्ववत् ।

कार्यरूप धनुष, शाखा, शृङ्ग, दाँत, अस्थि, सूत्र एवं वस्त्र प्रभृति वस्तुओं को सीधा होने पर लक्षित होता है । गुरुत्व के सदृश ही इसके नित्यत्व और अनित्यत्व के प्रसङ्ग में भी जानना चाहिए ।

न्यायकन्दली

माख्यातुं तुशब्दः । ये घना निविडा अवयवसन्निवेशास्तैर्विशिष्टेषु स्पर्शवत्सु द्रव्येषु वर्तमानः स्थितिस्थापकः स्वाश्रयमन्यथाकृत**मवनामितं** यथावत् स्थापयति **पूर्ववदृजुं करोति । ये प्रत्यक्षतोऽनुपलम्भात् स्थितिस्थापकस्याभावमिच्छन्ति तान् प्रति तस्य कार्येण सद्भावं दर्शयन्नाह–**स्थावरजङ्गमविकारेष्विति । **भुग्नाः कुब्जीकृताः संवर्तिताः पूर्वावस्थां प्रापिताः, भुग्नाश्च ते संवर्तिताश्चेति भुग्नसंवर्तिताः, तेषु स्थितिस्थापकस्य कार्यं लक्ष्यते । किमुक्तं स्यात् ? धनुःशाखादिष्ववनामितविमुक्तेषु यत् पूर्वावस्थाप्राप्तिहेतोराद्यस्य कर्मण एकार्थसमवेतमसमवायिकारणं स स्थितिस्थापकः संस्कारः, अन्यस्यासम्भवात् । अन्ये तु भुग्नसंवर्तितेष्विति सूत्रवस्त्रादिष्विति अस्येदं विशेषणमिति मन्यमाना भुग्नानि**

संस्कार स्पर्श से युक्त द्रव्यों का गुण है, आश्रयों के (अस्पर्शवत्त्व और स्पर्शवत्त्व) इन दोनों अन्तर के द्वारा दोनों संस्कारों में अन्तर दिखलाने के लिए प्रकृत सन्दर्भ में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है । अवयवों के 'घन' अर्थात् कठिन संनिवेशयुक्त स्पर्शवाले द्रव्य में विद्यमान 'स्थितिस्थापक' संस्कार 'अन्यथाकृत' अर्थात् नमाये हुए अपने आश्रयभूत द्रव्य को 'यथावत्स्थापन' अर्थात् पहले की तरह सीधा कर देता है । जो समुदाय प्रत्यक्ष न होने के कारण 'स्थितिस्थापक' संस्कार को मानना ही नहीं चाहते, उन्हें कार्यहेतुक अनुमान के द्वारा स्थितिस्थापक संस्कार की सत्ता को समझाने के लिए ही 'स्थावरजङ्गमविकारेषु' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । 'भुग्न' शब्द का अर्थ है टेढ़ा किया हुआ (तिर्य्यक्कृत) और 'संवर्त्तित' शब्द का अर्थ है पहली अवस्था को प्राप्त । प्रकृत सन्दर्भ का 'भुग्न-संवर्त्तितेषु' पद 'भुग्नाश्च ते संवर्त्तिताश्च भुग्नसंवर्त्तिताः, तेषु' इस प्रकार के समास से निष्पन्न है । इस शब्द के द्वारा स्थितिस्थापक संस्कार से उत्पन्न कार्य दिखलाये गये हैं । इससे फलितार्थ क्या निकला ? यही कि धनुष या वृक्ष की डाल प्रभृति जब अवनमित होकर फिर जिन क्रियाओं के द्वारा पहली अवस्था को प्राप्त होते हैं, उन क्रियाओं में से पहली क्रिया का असमवायिकारण एवं उस क्रिया के साथ (उसके आश्रयरूप) एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला संस्कार ही 'स्थितिस्थापक संस्कार' है; क्योंकि अवनमित शाखादि की पुनः पूर्वावस्था की प्राप्ति का कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता । कुछ अन्य लोग इस सन्दर्भ के 'भुग्नसंवर्त्तितेषु' इस पद को इसी सन्दर्भ के 'सूत्रवस्त्रादिषु' का विशेषण

प्रशस्तपादभाष्यम्

धर्मः पुरुषगुणः । कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः, अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञान-विरोधी पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसन्धिजः, वर्णाश्रमिणां प्रतिनियत-साधननिमित्तः । तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणां सामान्य-विशेषभावेनावस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि ।

धर्म पुरुष (जीवात्मा) का गुण है । वह अपने उत्पादक जीव के प्रिय, हित और मोक्ष का कारण है एवं अतीन्द्रिय है । अन्तिम सुख और तत्त्वज्ञान इन दोनों से इसका नाश होता है । पुरुष और अन्तःकरण (मन) के संयोग और संकल्प इन दोनों से इसकी उत्पत्ति होती है । वर्णों और आश्रमियों के लिए विहित कर्म (भी) उसके साधन हैं । वेद एवं धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों में वर्णों और आश्रमियों के साधारण धर्मों और विशेष धर्मों के साधन के लिए कहे गये द्रव्य, गुण और कर्म भी इसके कारण हैं ।

न्यायकन्दली

यानि सूत्रादीनि संवर्तितानि तेष्विति व्याचक्षते । तस्य नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयो गुरुत्ववत् । **यथा गुरुत्वं परमाणुषु नित्यं कार्येष्वनित्यं कारणगुणपूर्वकं च, तथा स्थितिस्थापकोऽपीत्यर्थः ।**

धर्मः पुरुषेति । **यो धर्मः, स पुरुषस्य गुणो न कर्मसामर्थ्यमित्यर्थः ।** कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः । **प्रियं सुखम्, हितं सुखसाधनम्, मोक्षो नवानामात्म-विशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदस्तेषां हेतुः । कर्तुः प्रियादीनामेव यो हेतुः स धर्म**

मानते हैं, (तदनुसार इस वाक्य का ऐसा अर्थ करते हैं) कि संवर्तित जो सूत्रादि, उनमें रहनेवाला संस्कार ही 'स्थितिस्थापक संस्कार' है । 'तस्य नित्यानित्यत्व-निष्पत्तयो गुरुत्ववत्' अर्थात् जैसे कि परमाणुवों में रहनेवाला गुरुत्व नित्य है एवं कार्यद्रव्यों में रहनेवाला गुरुत्व अनित्य है, उसी प्रकार 'स्थितिस्थापक संस्कार' को भी समझना चाहिए । (अर्थात् परमाणुवों में रहनेवाला स्थितिस्थापक संस्कार नित्य है एवं कार्यद्रव्यों में रहनेवाला अनित्य) ।

'धर्मः पुरुषेति' । अर्थात् धर्म (नाम का) जो गुण है, वह 'पुरुष' का अर्थात् जीव का ही गुण है, (ज्योतिष्टोमादि) क्रियाओं का शक्तिरूप नहीं है 'कर्त्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः' (इस वाक्य में प्रयुक्त) प्रिय शब्द का अर्थ है सुख, 'हित' शब्द सुख के साधनों को समझने के लिए लिखा गया है एवं 'मोक्ष' शब्द जीव के बुद्धि प्रभृति नौ विशेष गुणों का अत्यन्त विनाशरूप अर्थ का बोधक है । इन सबों का हेतु (ही 'धर्म' है) । 'कर्त्तुः

न्यायकन्दली

इति व्याख्येयम् । न तु कर्त्तुरेव यः प्रियादिहेतुः स धर्म इति व्याख्या, पुत्रेण कृतस्य श्राद्धस्य पितृगामितृप्तिफलश्रवणात् । वृष्टिकामेन कारीर्यां कृतायां तदन्यस्यापि समीपदेशवर्त्तिनो वृष्टिफलसम्बन्धदर्शनात् ।

स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्ये यागेन स्वर्गं कुर्यादिति कर्मणः श्रेयःसाधनत्वं श्रूयते । यश्च निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्ति स धर्मः, तस्माद् यागादिकमेव धर्मः, न पुरुषगुणः । तथा हि, यो यागमनुतिष्ठति तं धार्मिकमित्याचक्षते । एतदयुक्तम् । क्षणिकस्य कर्मणः कालान्तरभाविफलसाधनत्वासम्बन्धात् । अथोच्यते । क्षणिकं कर्म, कालान्तरभावि च स्वर्गफलम्, विनष्टाच्च कारणात् कार्यस्यानुत्पत्तिः, श्रुतं च यागादेः कारणत्वम्, तदेतदन्यथानुपपत्त्या फलोत्पत्त्यनुगुणं किमपि कालान्तरावस्थायि कर्मसामर्थ्यं कल्प्यते, यद्द्वारेण कर्मणां श्रुता फलसाधनता निर्वहति । तच्च प्रमाणान्तरागोचरत्वादपूर्वमिति व्यपदिश्यते ।

प्रियहितमोक्षहेतुः' इस वाक्य की व्याख्या इस रीति से करनी चाहिए कि (धर्मजनक क्रियाओं के) कर्त्ता के 'प्रियादि' का जो हेतु वही 'धर्म' है । इस प्रकार की व्याख्या नहीं करनी चाहिए; क्योंकि पुत्र के द्वारा अनुष्ठित श्राद्धरूप क्रिया से पिता में ही प्रीतिरूप फल का होना शास्त्रों में उपलब्ध होता है । एवं वृष्टि की कामना से 'कारीरी' नाम के याग के अनुष्ठान से जो वृष्टिरूप फल उत्पन्न होता है, उससे याग करनेवाले और उनके समीप के और लोग भी प्रीति का लाभ करते हैं ।

(प्र.) 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों से 'याग के द्वारा स्वर्ग का सम्पादन करना चाहिए' इस प्रकार यागादि श्रेय कर्म ही स्वर्गादि इष्टों के साधक के रूप में सुने जाते हैं । 'धर्म' उसी का नाम है जो पुरुष को श्रेयस् के साथ सम्बद्ध करे । तस्मात् यागादि कर्म ही धर्म हैं, धर्म जीव का गुण नहीं है । एवं जो यागादि कर्मों का अनुष्ठान करता है उसे ही लोग 'धार्मिक' कहते भी हैं ।

(उ.) किन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म क्षण भर ही रहते हैं, उनसे बहुत काल बाद होनेवाले स्वर्गादि का सम्पादन सम्भव नहीं है । यदि यह कहें कि (प्र.) यागादि क्रियायें क्षणिक हैं । उनके स्वर्गादि फल उनसे बहुत समय बाद होते हैं । यह भी निर्णीत है कि विनाश को प्राप्त हुए कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । फिर भी यागादि क्रियाओं में स्वर्गादि फलों की हेतुता वेदों से श्रुत है; किन्तु यह हेतुता तब तक उपपन्न नहीं हो सकती, जब तक कि यागादि के बाद और स्वर्गादि की उत्पत्ति से पहले तक रहनेवाले किसी व्यापार की कल्पना न कर लें, जिससे यागादि में वेदों के द्वारा श्रुत स्वर्गादिजनकता का निर्वाह हो सके । वही व्यापार और किसी प्रमाण के द्वारा गम्य न होने के कारण 'अपूर्व' कहलाता है ।

न्यायकन्दली

यथोक्तम्–

फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने ।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येतदपूर्वमपि कल्प्यते ॥

अत्रोच्यते । न कर्मसामर्थ्यं क्षणिके कर्मणि समवैति, शक्तिमति विनष्टे निराश्रयस्य सामर्थ्यस्यावस्थानासम्भवात् । स्वर्गादिकं च फलं तदानीमनागतमेव, न शक्तेराश्रयो भवितुमर्हति । यदि त्वनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गो भवति ? अपूर्वकल्पनावैयर्थ्यम्, तदुपभोगश्च दुर्निवारः । विशिष्टशरीरेन्द्रियादिविरहादननुभवश्चेत् ? तर्ह्ययं तदानीमनुपजात एव स्वर्गस्योपभोग्यैकस्वभावत्वात् । अनुपभोग्यमपि सुखस्वरूपमस्तीति अदृष्टकल्पनेयम् । तस्मान्न फलाश्रयमपूर्वम् । न चाकाशादिसमवेतादपूर्वादात्मगामिफलसम्भवः । वस्तुभूतं च कार्यमनाधारं नोपपद्यते, तस्मादात्मसमवेतस्यैव तस्योत्पत्तिरभ्यनुज्ञेया । तथा सति न तत्कर्मसामर्थ्यं स्यात्, अन्यसामर्थ्यस्यान्यत्रासमवायात् । अथान्यस्याप्यन्यसमवेता शक्तिरिष्यते, तस्याः कार्यानुमेयत्वादिति चेत् ?

जैसा कहा गया है कि 'बहुत दिनों बाद होनेवाले स्वर्गादि फलों के लिए जो क्षण मात्र रहनेवाले यागादि का विधान किया गया है, वह विधान तब तक उपपन्न नहीं हो सकता, जब तक कि 'अपूर्व' की कल्पना न कर ली जाय । अतः 'अपूर्व' की कल्पना करते हैं ।

(उ.) इस प्रसङ्ग में हम लोगों का कहना है कि यह कर्म का सामर्थ्यरूप अपूर्व (जिसे स्वर्गसाधन पर्यन्त रहना है) यागादि क्रियाओं में तो रह नहीं सकता; क्योंकि वे क्षणिक हैं । अतः उनके नाश हो जाने पर बिना आश्रय के अपूर्व (स्वर्गोत्पादन पर्यन्त) की अवस्थिति ही सम्भव नहीं है । स्वर्गादि फल भी अपूर्व के आश्रय नहीं हो सकते; क्योंकि अपूर्व की उत्पत्ति के समय स्वर्गादि भविष्य के गर्भ में ही रहते हैं । यदि यागादि के अनुष्ठान के तुरन्त बाद ही स्वर्गादि की उत्पत्ति (आश्रय को उपपन्न करने के लिए) मानें, तो उनका उपयोग भी (उसी समय) मानना पड़ेगा । यदि ऐसा कहें कि उस समय (यागादि के अनुष्ठान के तुरन्त बाद) स्वर्गादि भोगों के उपयुक्त शरीर या इन्द्रियाँ नहीं हैं, इसी से स्वर्ग की उत्पत्ति नहीं होती है, तो फिर यही मानना पड़ेगा कि स्वर्गादि उस समय उत्पन्न ही नहीं होते, क्योंकि स्वर्गादि उपभोगस्वभाव के ही हैं । यह कल्पना अभूतपूर्व होगी कि स्वर्ग की सत्ता तो उस समय भी है, किन्तु वह स्वर्ग उपभोग्य नहीं है । यह भी सम्भव नहीं है कि (पुरुष से भिन्न) आकाशादि कोई भी वस्तु उसके आश्रय हों; क्योंकि आकाशादि में रहनेवाले अपूर्व से आत्मा में स्वर्ग की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यह भी सम्भव नहीं है कि अपूर्व रूप कार्य की उत्पत्ति बिना आश्रय के ही हो; क्योंकि वह भावरूप कार्य है । अतः अपूर्व को यदि मानना है, तो उसकी उत्पत्ति आत्मा में ही माननी पड़ेगी । यदि ऐसा कहें कि (प्र.) हम यह भी मान लेंगे कि एक वस्तु की ऐसी भी शक्ति हो सकती है, जो समवाय सम्बन्ध से दूसरी वस्तु में रहे; क्योंकि शक्ति की सत्ता तो उससे उत्पन्न कार्यरूप

न्यायकन्दली

यथोक्तम्–

शक्तिः कार्यानुमेया हि यद्गतैवोपलभ्यते ।
तद्गतैवाभ्युपेतव्या स्वाश्रयान्याश्रयापि च ॥ इति ।

तदयुक्तम् । विनष्टे शक्तिमति तन्निरपेक्षस्य शक्तिमात्रस्य कार्यजनकत्वानुपलम्भादेव । तेनैतदपि प्रत्युक्तम् । यदुक्तं मण्डनेन विधिविवेके–"तदाहितत्वात् तस्य शक्तिरिति" यागेनाहितत्वादपूर्वं यागस्य कार्यं स्यान्न तु शक्तिः, अपूर्वोपकृतात् कर्मणः फलानुत्पत्तेः, तस्माच्चिरनिवृत्ते कर्मणि देशकालावस्थादिसहकारिणोऽपूर्वादेव फलस्योत्पत्तेरपूर्वमेव श्रेयःसाधनम् । कारणत्वश्रुतिस्तु यागादरपूर्वजननद्वारेण न साक्षादिति प्रमाणानुरोधादाश्रयणीयम् । तथा सति युक्तं धर्मः पुरुषगुण इति । योऽपि यागादौ धर्मव्यपदेशः, सोऽप्यपूर्वसाधनतया प्रीतिसाधन इव स्वर्गशब्दप्रयोगः। स्वर्गसाधने हि चोदितस्य ज्योतिष्टोमस्य निरन्तरं प्रीतिसाधनतयार्थवादेन स्तुतेश्चन्दनादौ च प्रीतियोगे सति प्रयोगात्, तदभावे चाप्रयोगात्, प्रीतिनिबन्धनः स्वर्गशब्दः,

लिङ्ग के द्वारा ही अनुमित हो सकती है । जैसा कहा गया है कि "कार्यरूप हेतु से अनुमित होनेवाली शक्ति जहाँ जिस आश्रय में उपलब्ध होगी, उसी में उसकी सत्ता माननी पड़ेगी" अतः उस कारण की शक्ति उसी कारण में ही रहेगी, कभी उससे भिन्न आश्रय में नहीं रह सकती । (उ.) किन्तु यह भी अयुक्त ही है; क्योंकि शक्ति के आश्रय का विनाश हो जाने पर उस आश्रय से सर्वथा निरपेक्ष केवल शक्ति से कार्य की उत्पत्ति की उपलब्धि नहीं होती है । आगे कहे हुए इस समाधान से आचार्य मण्डन मिश्र की विधिविवेक ग्रन्थ की यह उक्ति भी खण्डित हो जाती है कि "उससे (याग से) जिस लिए कि 'उसका' अपूर्व का आधान होता है; अतः 'अपूर्व' याग की शक्ति कहलाता है ।" क्योंकि याग से 'आहित' अर्थात् उत्पन्न होने के कारण अपूर्व याग से उत्पन्न हुआ कार्य है । अपूर्व याग की शक्ति नहीं है, क्योंकि ऐसी बात नहीं है कि याग से ही स्वर्ग की उत्पत्ति होती है और इस उत्पादन कार्य में अपूर्व याग का साहाय्य करता है (क्योंकि स्वर्ग की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में याग की सत्ता ही नहीं है, फिर अपूर्व किसका साहाय्य करेगा?) । तस्मात् यही कहना पड़ेगा कि यागादि कर्मों के नाश हो जाने के बहुत पीछे उनसे उत्पन्न अपूर्व से ही स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति होती है, जिसमें उसे उपयुक्त देश-कालादि का भी सहयोग प्राप्त होता है । अतः प्रमाण के द्वारा इसी पक्ष का अवलम्बन करना पड़ेगा कि अपूर्व ही स्वर्गादि श्रेयों का साक्षात् कारण है । यागादि क्रियाओं में जो स्वर्गादि फलों के हेतुत्व की चर्चा श्रुतियों में है,वह हेतुता 'अपूर्व' का उत्पादक होने से परम्परया यागादि भी स्वर्गादि के साधन हैं, इसी अभिप्राय से समझना चाहिए । तस्मात् भाष्य की यह उक्ति ठीक है कि 'धर्म पुरुष का ही गुण है' । यागादि क्रियाओं में जो 'धर्म' शब्द का व्यवहार होता है, उसे अपूर्व या धर्म के साधनरूप अर्थ में लाक्षणिक समझना चाहिए । जैसे कि प्रीति के चन्दन-

न्यायकन्दली

यस्य यथालक्षणया प्रीतिसाधने प्रयोगः प्रीतिमात्राभिधानेऽपि, तस्मात् प्रीतिसाधन-प्रतीत्युत्पत्तेरुभयाभिधानशक्तिकल्पनावैयर्थ्यात् । एवं धर्मशब्दस्यापि लक्षणया तत्साधने प्रयोगः, एकाभिधानादेवोभयप्रतीतिसिद्धेरुभयाभिधानशक्तिकल्पनानवकाशादिति तार्किकाणां प्रक्रिया ।

अतीन्द्रियः **केनचिदिन्द्रियेणायोगिभिर्न गृह्यत इत्यतीन्द्रियो धर्मः।** अन्त्यसुख-संविज्ञानविरोधी । **धर्मस्तावत् कार्यत्वादवश्यं विनाशी, न च निर्हेतुको विनाशः कस्यचिद् विद्यते । अन्यतस्ततो विनाशे चास्य नियमेन फलोत्पत्तिकालं यावदवस्थानं न स्यात् । फलं च धर्मस्य कस्यचिदनेकसंवत्सरसहस्रोपभोग्यम्, तस्य यदि प्रथमोपभोगादपि नाशः, कालान्तरे फलानुत्पादः । न चैकस्य निर्भागस्य भागशो नाशः सम्भाव्यते, तस्मादन्त्यस्यैव । सम्यग्विज्ञानेन धर्मो विनाश्यते । ये तु**

वनितादि साधनों में 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग किया जाता है । स्वर्ग के साधनीभूत अपूर्व के लिए विहित ज्योतिष्टोमादि क्रियाओं का जो धर्मशब्द से नियमित व्यवहार होता है, वह उसका स्तुति रूप अर्थवाद है । एवं चन्दनादि साधनों में जब प्रीति का सम्बन्ध रहता है, तभी 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग होता है, जब जिसे उन साधनों से सुख नहीं मिलता है, तब उससे चन्दनादि में स्वर्गशब्द का प्रयोग नहीं होता । अतः यही समझना चाहिए कि प्रीति के साधनों में स्वर्गशब्द लाक्षणिक है और प्रीति में ही उसकी अभिधा शक्ति है; क्योंकि प्रीति और उसके साधन इन दोनों में स्वर्गशब्द की अभिधा की कल्पना व्यर्थ है । इसी प्रकार धर्म के ज्योतिष्टोमादि साधनों में धर्मशब्द का प्रयोग लक्षणा के द्वारा ही होता है; क्योंकि धर्म को अपूर्वरूप एक ही अर्थ में अभिधा मान लेने से ही अपूर्वरूप उसके मुख्यार्थ और ज्योतिष्टोमादि रूप लक्ष्यार्थ दोनों के बोध की उत्पत्ति हो जाएगी । अपूर्व में और अपूर्व के कारण ज्योतिष्टोमादि, दोनों में धर्म शब्द की अभिधा शक्ति की कल्पना व्यर्थ है । यही तार्किक लोगों की रीति है ।

'अतीन्द्रियः' अर्थात् योगियों से भिन्न कोई भी साधारण पुरुष धर्म को किसी भी इन्द्रिय से नहीं देख सकता, अतः 'धर्म अतीन्द्रिय' है । 'अन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी' धर्म यतः उत्पत्तिशील वस्तु है, अतः वह विनाशशील भी है; किन्तु कोई भी विनाश बिना किसी कारण के नहीं होता । यदि अन्त्यसुख और संविज्ञान इन दोनों से भिन्न किसी से धर्म का विनाश मानें तो नियमपूर्वक स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति से पहले तक उसकी सत्ता नहीं रह सकेगी । (यदि किसी भी उपभोग से धर्म का विनाश मानें तो) किसी-किसी धर्म के फल का उपभोग हजारों साल चलता है, अतः उनमें पहले उपभोग से ही उसका विनाश हो जाएगा, आगे उससे उपभोग ही रुक जाएगा । यह भी सम्भव नहीं है कि एक अखण्ड वस्तु में उसके किसी एक भाग का विनाश हो (और अवशिष्ट भाग बचा रहे), तस्मात् अन्तिम सुख ही धर्म का नाशक

न्यायकन्दली

नित्यं धर्ममाहुस्तेषां प्रायेणानुपपत्तिः, धर्माधर्मक्षयाभावात् । पुरुषान्तःकरणेति । **आत्मविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्** । विशुद्धेति । **विशुद्धोऽभिसन्धिः दम्भादिरहितः सङ्कल्पविशेषः, तस्माद्धर्मो जायते** । वर्णाश्रमिणामिति । **वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः** । आश्रमिणो **ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतयः । तेषां धर्मः प्रतिवर्णं प्रत्याश्रमं चाधिकृत्य विहितैः साधनैर्जन्यत इत्यर्थः । अतीन्द्रियस्य धर्मस्य साधनानि कुतः प्रत्येतव्यानि, तत्राह—** तस्य त्विति । **विशिष्टेनानुष्ठानेनाचार्यमुखाच्छ्रूयत एव न लिखित्वा गृह्यत इति श्रुतिर्वेदः, स्मृतिर्मन्वादिवाक्यम्, ताभ्यां विहितानि प्रतिपादितानि वर्णाश्रमिणां सामान्यविशेषभावेनावस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यानि धर्मसाधनानि । तत्र सर्वेषां वर्णाश्रमिणां च सामान्यरूपतया धर्मसाधनानि कथ्यन्ते** । धर्मे श्रद्धा **धर्मे मनःप्रसादः** । अहिंसा **भूतानामनभिद्रोहसंकल्पः । प्रतिषिद्धस्याभिद्रोहस्य निवृत्तेरधर्मो न भवति, न धर्मो जायते । अनभि-**

है (अवान्तर सुख नहीं) । संविज्ञान अर्थात् सम्यग् विज्ञान (तत्त्वज्ञान) से भी धर्म का नाश होता है । जो कोई धर्म को नित्य मानते हैं, उनके मत में मोक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी; क्योंकि उसके लिए धर्म और अधर्म दोनों ही का विनाश आवश्यक है, जो धर्म को नित्य मानने से सम्भव नहीं है । 'पुरुषान्तःकरणेति' (धर्म पुरुष और अन्तःकरण के संयोग से उत्पन्न होता है क्योंकि) वह भी सुखादि की तरह आत्मा का विशेष गुण है । 'विशुद्धेति' विशुद्ध जो अभिसन्धि अर्थात् दम्भादि से रहित जो विशेष प्रकार का संकल्प, उससे धर्म की उत्पत्ति होती है । 'वर्णाश्रमिणामिति' 'वर्ण' शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अभिप्रेत हैं । 'आश्रमी'— ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी चार हैं । अर्थात् इन सबों के तथ्यतः प्रत्येक वर्ण के मनुष्यों के लिए एवं प्रत्येक आश्रम के मनुष्यों के लिए शास्त्रों में विहित जो साधन हैं, उनसे धर्म की उत्पत्ति होती है । धर्म तो अतीन्द्रिय है, फिर उसके कारणों का ज्ञान कैसे होगा ? इसी प्रश्न का उत्तर 'तस्य तु' इत्यादि से दिया गया है । विहित विशेष प्रकार के अनुष्ठान से आचार्य के मुख से जिसे सुना ही जाता है, अर्थात् जिसका लिप्यादि से ज्ञान नहीं होता, वही है 'श्रुति' अर्थात् वेद । 'स्मृति' शब्द से मन्वादि ऋषियों के वाक्य अभिप्रेत हैं । श्रुति और स्मृति इन दोनों से 'विहित' अर्थात् प्रतिपादित जो सभी वर्णों और सभी आश्रम वाले पुरुषों के लिए सामान्यभाव और विशेषभाव से स्थित द्रव्य, गुण और क्रिया, वे सभी धर्म के सामान्य साधन हैं । इनमें सभी वर्णों और सभी आश्रमियों के लिए समान रूप से जो धर्म के साधन हैं, उनका निरूपण 'धर्मे श्रद्धा' इत्यादि से करते हैं । धर्म के प्रसङ्ग में चित्त की प्रसन्नता ही धर्म में श्रद्धा है । सभी प्राणियों के प्रति द्रोह न करने का संकल्प अहिंसा है । जो द्रोह निषिद्ध है, उस द्रोह के न करने से इतना ही होता है कि 'अधर्म' नहीं होता; किन्तु उससे धर्म की उत्पत्ति नहीं होती ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्र सामान्यानि—धर्मे श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्वम्, सत्यवचनम्, अस्तेयम्, ब्रह्मचर्यम्, अनुपधा, क्रोधवर्जनमभिषेचनम्, शुचिद्रव्यसेवनम्, विशिष्टदेवताभक्तिरुपवासोऽप्रमादश्च ।

उन (सामान्य धर्मों के और विशेष धर्मों के साधनों) में धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणियों का उपकार, सत्यवचन, अस्तेय (दूसरे की वस्तु को विना उसकी आज्ञा के न लेना), ब्रह्मचर्य, दूसरे को ठगने की अनिच्छा (अनुपधा), अक्रोध, स्नान, पवित्र वस्तुओं का सेवन, इष्ट देवता में भक्ति, उपवास और अप्रमाद ये (१३) सभी वर्णों और सभी आश्रमियों के लिए समान रूप से धर्म के साधन हैं ।

न्यायकन्दली

द्रोहसङ्कल्पस्य विहितत्वात् स्यादेव धर्मसाधनम् । भूतहितत्वं **भूतानामनुग्रहः** । सत्यवचनं **यथार्थवचनम्** । अस्तेयमशास्त्रपूर्वकं **परस्वग्रहणं मया न कर्तव्यमिति सङ्कल्पः, न तु परस्वादाननिवृत्तिमात्रमभावरूपम्** । ब्रह्मचर्यम् **स्त्रीसेवापरिवर्जनम् । एतदपि संकल्परूपम्** । अनुपधा **भावशुद्धिः, विशुद्धेनाभिप्रायेण कृतानां कर्मणां धर्मसाधनत्वात् । क्रोधवर्जनं क्रोधपरित्यागः, सोऽपि सङ्कल्पात्मक एव** । अभिषेचनं **स्नानम्** । शुचिद्रव्यसेवनं **शुचीनां तिलादिद्रव्याणां क्वचित् पर्वणि नियमेन सेवनं धर्मसाधनम्** । विशिष्टदेवताभक्तिः **त्रयीसम्मतायां देवतायां भक्तिरित्यर्थः** । उपवास **एकादश्यादिभोजननिवृत्तिसङ्कल्पः** । अप्रमादो **नित्यनैमित्तिकानां कर्मणामवश्यम्भावेन करणम् । एतानि सर्वेषामेव समानानि**

द्रोह न करने का कथित जो संकल्प है, उससे अवश्य ही धर्म उत्पन्न होगा; क्योंकि उसका विधान किया गया है । 'भूतहितत्व' शब्द से प्राणियों के प्रति अनुग्रह अभीष्ट है । 'सत्यवचन' शब्द का अर्थ है सच बोलना । 'दूसरे व्यक्ति के जिस धन का लेना शास्त्र में विहित नहीं है, वह धन मुझे नहीं लेना चाहिए' इस प्रकार का संकल्प ही 'अस्तेय' है । अस्तेय शब्द से 'दूसरे के धन का न लेना' केवल यह अभावरूप अर्थ नहीं है । 'ब्रह्मचर्य्य' शब्द का अर्थ है, 'स्त्री से उपभोगसम्बन्ध का परित्याग' यह भी संकल्प रूप ही है । 'अनुपधा' शब्द से 'अभिप्रायशुद्धि' अभीष्ट है, यतः विशुद्ध बुद्धि के द्वारा अनुष्ठित कर्म ही धर्म के कारण है । 'क्रोधवर्जन' है क्रोध का परित्याग, यह भी संकल्परूप ही है । 'अभिषेचन' है स्नान । 'शुचिद्रव्य का सेवन' अर्थात् किसी विशेष पर्व में तिल प्रभृति पवित्र द्रव्यों का सेवन धर्म का कारण है । 'विशिष्टदेवता में भक्ति' अर्थात् तीनों वेदों के द्वारा प्रतिपादित किसी देवता में भक्ति । 'उपवास' शब्द से एकादशी प्रभृति विशेष तिथियों में भोजन न करने का संकल्प अभिप्रेत है । 'अप्रमाद' शब्द का अर्थ है, 'नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का अवश्य अनुष्ठान करना' । ये सभी वर्णों और सभी आश्रमों के व्यक्तियों के लिए धर्म के साधन हैं । 'इज्या' शब्द

प्रशस्तपादभाष्यम्

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामिज्याध्ययनदानानि ।

ब्राह्मणस्य विशिष्टानि प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानि, स्ववर्णविहिताश्च संस्काराः ।

यज्ञ, वेदों का अध्ययन और दान ये तीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (द्विजों) इन तीनों वर्णों के लिए समान रूप से धर्म के साधन हैं ।

प्रतिग्रह, अध्यापन (वेदों का पढ़ना), यज्ञ कराना (याजन) अपने वर्ण (ब्राह्मण) के लिए विहित संस्कार, ये सभी ब्राह्मणों के लिए विशेष धर्म के साधन हैं ।

न्यायकन्दली

धर्मसाधनानि । इज्या **यागहोमानुष्ठानम्** । अध्ययनं **वेदपाठः** । दानं **स्वद्रव्यस्य परस्वत्वापत्तिसङ्कल्पविशेषः । शूद्रस्यापि दानमस्त्येव, तेन यज्ञादिषु यद्दानं तदभिप्रायेणेदं त्रैवर्णिकानां विशिष्टं धर्मसाधनमुक्तम् ।**

ब्राह्मणस्य विशिष्टान्य**साधारणानि धर्मसाधनानि प्रतिपादयति**–प्रतिग्रहाध्यापन-याजनानि । **प्रतिग्रहो विशिष्टाद् द्रव्यग्रहणम्** । अध्यापनं **तु प्रसिद्धमेव** । याजन**मार्त्वि-ज्यम् । एतानि ब्राह्मणस्य धर्मसाधनानि, तस्यामीभिरेवोपायैरर्जितानां द्रव्याणां धर्माधि-कारात्** । स्ववर्णविहिताश्चाष्टचत्वारिंशत् संस्कारा **वैदिककर्मानुष्ठानयोग्यतापादनद्वारेण ब्राह्मणस्य धर्मसाधनम्** ।।

से याग एवं होम का अनुष्ठान समझना चाहिए । 'अध्ययन' शब्द का अर्थ है वेदों का पाठ । 'दान' शब्द से वह विशेष प्रकार का संकल्प अभीष्ट है, जिससे अपने स्वत्ववाले धन में दूसरे के स्वत्व की उत्पत्ति हो सके । यज्ञादि में जो दान किये जाते हैं, यहाँ उन्हीं दानों को समझना चाहिए, यदि ऐसी बात न हो; किन्तु दान शब्द से सामान्यतः सभी दान अभीष्ट हों (तो फिर) त्रैवर्णिकों के लिए निर्दिष्ट विशेष धर्मों में इसकी गणना असङ्गत हो जाएगी; क्योंकि केवल दान तो शूद्रों के लिए भी धर्म का साधन है ही ।

ब्राह्मणों के 'विशिष्ट' अर्थात् असाधारण धर्म के जो साधन हैं (अर्थात् जो साधन केवल ब्राह्मणों में ही धर्म का उत्पादन कर सकते हैं) उनका प्रतिपादन 'प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानि' इत्यादि सन्दर्भ से किया गया है । विहित एवं विशेष व्यक्ति से दान का ग्रहण ही 'प्रतिग्रह' शब्द से लेना चाहिए । 'अध्यापन' शब्द का अर्थ प्रसिद्ध ही है । 'याजन' शब्द का अर्थ है– ऋत्विक् का कार्य करना । 'एतानि ब्राह्मणस्य धर्मसाधनानि' ब्राह्मणों को इन्हीं उपायों से प्राप्त धन के द्वारा धर्म सम्पादन का अधिकार है । 'स्ववर्णविहिताश्च संस्काराः' अर्थात् ब्राह्मणों के लिए विहित अड़तालिस प्रकार के संस्कार भी उनमें वेदों से निर्दिष्ट अनुष्ठान करने की योग्यता सम्पादन के द्वारा धर्म के साधन हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

क्षत्रियस्य सम्यक् प्रजापालनमसाधुनिग्रहो युद्धेष्वनिवर्त्तनं स्वकीयाश्च संस्काराः ।

वैश्यस्य क्रयविक्रयकृषिपशुपालनानि स्वकीयाश्च संस्काराः ।

अच्छी तरह प्रजा का पालन करना, दुष्टों का दमन, युद्ध से न लौटना (अनिवृत्ति) और अपने (क्षत्रियों) के लिए शास्त्रों में विहित संस्कार ये सभी क्षत्रियों के लिए विशेष धर्म के साधन हैं ।

खरीद, बिक्री, खेती करना, पशुओं का पालन, अपने (वैश्यों के) लिए शास्त्रों के द्वारा विहित संस्कार ये सभी वैश्यों के लिए विशेष धर्म के साधन हैं ।

न्यायकन्दली

क्षत्रियस्य **विशिष्टानि धर्मसाधनानि** । सम्यक् प्रजापालनं **न्यायवृत्तीनां प्रजानां परिरक्षणम्** । असाधुनिग्रहः, **दुष्टानां यथाशास्त्रं शासनम्** । युद्धेष्वनिवर्त्तनं **युद्धेषु विजयावधिः प्राणावधिर्वा आयुधव्यापारः । स्वकीयाश्च संस्काराः ।**

वैश्यस्य क्रयविक्रयकृषिपशुपालनानि । **मूल्यं दत्त्वा परस्माद् द्रव्यग्रहणं** क्रयः, **मूल्यमादाय परस्य स्वद्रव्यदानं विक्रयः** । कृषिः **परिकर्षितायां भूमौ बीजस्य वपनं रोपणं च,** पशुपालनं **गोऽजाविकादिपरिरक्षणम् । एतानि वैश्यस्य धर्मसाधनानि, तस्यामीभिरेवोपायैरर्जितानां धनानां धर्माङ्गत्वात् ।**

शूद्रस्य पूर्वेषु वर्णेषु पारतन्त्र्यममन्त्रिकाश्च क्रिया धर्मसाधनम् ।

'क्षत्रियस्य विशिष्टानि धर्मसाधनानि' । 'सम्यक् प्रजापालन' अर्थात् उचित न्याय की रीति से चलनेवाली प्रजाओं का पालन करना, 'असाधुनिग्रह' अर्थात् शास्त्रों में कही गयी रीति के अनुसार दुष्टों को दण्ड देना, 'युद्धेष्वनिवर्त्तनम्' अर्थात् जब तक विजय प्राप्त न हो जाय या जब तक प्राण रहें तब तक अस्त्र-शस्त्रों को चलाते रहना एवं क्षत्रियों के लिए विहित संस्कार, ये सभी क्षत्रियों के लिए धर्म के साधन हैं ।

'वैश्यस्य क्रयविक्रयकृषिपशुपालनानि' । मूल्य देकर दूसरों से द्रव्य लेना 'क्रय' कहलाता है । मूल्य लेकर दूसरे को अपना द्रव्य देना ही 'विक्रय' है । जोती हुई भूमि में बीजों को बोना या रोपना ही 'कृषि' है । गाय, बकरी प्रभृति को पालना ही 'पशुपालन' है । ये सभी और वैश्यों के लिए कहे गये संस्कार, ये ही वैश्यों के लिए ही धर्म के साधन हैं । इन्हीं उपायों से प्राप्त धन वैश्यो के धर्म के साधक हैं ।

'शूद्रस्य पूर्ववर्णेषु पारतन्त्र्यममन्त्रिकाश्च क्रियाः' अर्थात् पहले कहे हुए ब्राह्मणादि वर्णों की अधीनता, बिना मन्त्र के ही विवाहादि क्रियाओं के अनुष्ठान प्रभृति ही शूद्रों के धर्म के साधन हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

शूद्रस्य पूर्ववर्णपारतन्त्र्यममन्त्रिकाश्च क्रियाः ।

आश्रमिणां तु ब्रह्मचारिणो गुरुकुलनिवासिनः स्वशास्त्रविहितानि गुरुशुश्रूषाग्नीन्धनभैक्ष्याचरणानि मधुमांसदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनादिवर्जनं च ।

कथित तीनों वर्णों की पराधीनता एवं बिना मन्त्र की क्रिया, ये शूद्रों के विशेष धर्म के साधन हैं ।

आश्रमियों में गुरुकुलनिवासी ब्रह्मचारियों के लिए शास्त्रों में विहित गुरु और अग्नि की सेवा, (होम के लिए) लकड़ी लाना, भिक्षा माँगना एवं मधु, मांस, दिन की निद्रा, अञ्जन और अभ्यङ्ग (मालिश), इन सबों को छोड़ना (ये सभी) उनके विशेष (असाधारण) धर्म के साधन हैं ।

न्यायकन्दली

आश्रमिणां तु धर्मसाधनमुच्यते । ब्रह्मचारिणो गुरुकुलनिवासिन **इति । उपनीय यः शिष्यं साङ्गं सरहस्यं च वेदमध्यापयति स गुरुः, तस्य** कुले **गृहे वसनशीलस्य** ब्रह्मचारिणः स्वशास्त्रविहितानि **ब्रह्मचारिणमधिकृत्य शास्त्रेण विहितानि ।** गुरुशुश्रूषा **गुरोः परिचर्या, गुरुशुश्रूषा च अग्निश्चेन्धनं च भैक्ष्यं च तेषामाचरणानि । गुरुशुश्रूषाभैक्ष्ययोः करणमेवाचरणम् ।** अग्नेराचरणम्, **प्रत्यहमग्नौ होमः, इन्धनस्याचरणमग्न्यर्थं वनादिन्धनस्याहरणमिति विवेकः ।**

गृहस्थस्य धर्मसाधनं कथयति–विद्याव्रतस्नातकस्येति । **यो वेदा-**

'ब्रह्मचारिणो गुरुकुलनिवासिनः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अब आश्रमियों के धर्म का साधन कहते हैं । यहाँ 'गुरु' शब्द से उस विशिष्ट पुरुष को समझना चाहिए जो शिष्य का उपनयन संस्कार कराकर अङ्गों सहित वेदों के रहस्य को समझावे । ऐसे 'गुरु' के गृह में सम्पूर्ण अध्ययनकाल तक नियमतः निवास कर अध्ययन करनेवाले 'ब्रह्मचारी' के लिए 'स्वशास्त्रविहितानि' अर्थात् विशेषकर ब्रह्मचारी के लिए ही शास्त्रों में विहित (जो 'गुरुशुश्रूषादि' उनका) आचरण करना चाहिए । 'गुरुशुश्रूषाग्नीन्धनभैक्ष्याचरणानि' यह वाक्य 'गुरुशुश्रूषा च अग्निश्चेन्धनञ्च भैक्ष्यं च तेषामाचरणानि' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से सिद्ध है । गुरु की शुश्रूषा (सेवा) करना ही गुरुशुश्रूषा का आचरण है। भिक्षा माँगना ही भिक्षाचरण है । प्रतिदिन अग्नि में होम करना ही अग्नि का आचरण है । होम के लिए वन से लकड़ी लाना ही इन्धनाचरण है । इस प्रकार का विभाग प्रकृत में जानना चाहिए ।

'विद्याव्रतस्नातकस्य' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा गृहस्थाश्रमी के लिए जो धर्म के साधन हैं, वे कहे गये हैं । 'विद्याव्रतस्नातक' शब्द से वे पुरुष अभिप्रेत हैं, जिन्होंने

प्रशस्तपादभाष्यम्

विद्याव्रतस्नातकस्य कृतदारस्य गृहस्थस्य शालीनयायावरवृत्त्युपार्जितैरर्थै-र्भूतमनुष्यदेवपितृब्रह्माख्यानां पञ्चानां महायज्ञानां सायम्प्रातरनुष्ठानम्, एकाग्नि-विधानेन पाकयज्ञसंस्थानां च नित्यानां शक्तौ विद्यमानायामग्न्याधेयादीनां च हविर्यज्ञसंस्थानामग्निष्टोमादीनां सोमयज्ञसंस्थानां च । ऋत्वन्तरेषु ब्रह्मचर्य-मपत्योत्पादनं च ।

शालीनवृत्ति एवं यायावरवृत्ति के द्वारा उपार्जित धन से प्रातःकाल और सायंकाल भूतयज्ञ (काकादि प्राणियों के लिए अन्न उत्सर्ग करना), मनुष्ययज्ञ (अतिथिसेवा), देवयज्ञ (होम), पितृयज्ञ (नित्यश्राद्ध), ब्रह्मयज्ञ (वेदपाठ) एवं सामर्थ्य के रहने पर एकाग्निविधान (विवाह के समय गृहीत अग्नि) से पाकयज्ञसंस्थाओं (अष्टका, पार्वणी, चैत्र्य, आश्वयुज्य प्रभृति) का अनुष्ठान, अग्निहोत्र एवं विशेष प्रकार के हविर्यज्ञ संस्था के (दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य एवं आग्रायण प्रभृति) इष्टियों का, सोमयज्ञ संस्था के (अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम) यज्ञों का अनुष्ठान एवं (पत्नी के) ऋतुकाल से भिन्न समय में ब्रह्मचर्य का पालन एवं पुत्र का उत्पादन, ये सभी विद्याव्रतस्नातक (वेदाध्ययन के लिए स्वीकार किये गये व्रतों को अध्ययन के समाप्त हो जाने के कारण छोड़ देनेवाले) विवाहित गृहस्थों के विशेष धर्म के साधन हैं ।

न्यायकन्दली

ध्ययनार्थं गृहीतं व्रतमधीते वेदे विसर्जितवान् स विद्याव्रतस्नातकः, **तस्य** कृतदारस्य **कृतपत्नीपरिग्रहस्य** गृहस्थस्य शालीनयायावरवृत्त्युपार्जितैरर्थैर्भूतमनुष्यदेवपितृब्रह्मा-ख्यानां पञ्चानां महायज्ञानां सायं प्रातरनुष्ठानम् । **यावता धान्येन कुशूलपात्रं कुम्भीपात्रं वा परिपूर्यते, त्र्यहमेकाहं वा वर्तनं भवति, तावन्मात्रस्य परेण स्वयमानीयमानस्य श्रद्धया दीयमानस्य यः परिग्रहः सा** शालीना वृत्तिः । **परस्मादप्रतिग्रहगतश्चक्रमादाय यत् प्रत्यङ्गनं भिक्षाटनं सा** यायावरवृत्तिः । **ताभ्यामुपार्जितैरर्थैः** पञ्चानां महायज्ञानां **सायं प्रातरपराह्णे चानुष्ठानं**

वेदाध्ययन का व्रत लिया हो एवं वेदाध्ययन के सम्पन्न हो जाने पर ही उसकी समाप्ति की हो । वे ही जब 'कृतदार' हो जाँय अर्थात् विवाह कर लें, ऐसे गृहस्थों के लिए ही जो धर्म के साधन हैं, वे 'शालीनयायावर' इत्यादि सन्दर्भ से गिनाये गये हैं । जितने अन्न से एक कुशूलपात्र (कच्ची मिट्टी की कोठी) या एक घड़ा भर जाय, अथवा तीन दिनों तक या एक ही दिन का भोजन चल सके, उतने ही अन्न को स्वयं ले आने पर या श्रद्धापूर्वक दूसरों के देने पर जो ग्रहण किया जाता है, उस वृत्ति को 'शालीना वृत्ति' कहते हैं ।

न्यायकन्दली

गृहस्थस्य धर्मसाधनम् । **भूतेभ्यो बलिप्रदानं** भूतयज्ञः । **अतिथिपूजनं** मनुष्ययज्ञः । **होमो** देवयज्ञः । **श्राद्धं** पितृयज्ञः । ब्रह्मयज्ञो **वेदपाठः** । एकाग्निविधानेन पाकयज्ञ-संस्थानामिति । **अनुष्ठानम्** । एकाग्निरिति **औपासनिकः** । **तस्य विधानं विवाहकाले परिग्रहः** । **तेन** पाकयज्ञसंस्थानां **पाकयज्ञविशेषाणामष्टकापार्वणीचैत्र्याश्वयुज्यादीनां नित्यानामवश्यकरणीयानां सति सामर्थ्येऽनुष्ठानम्** । अग्न्याधेयादीनामिति । **अनुष्ठानं धर्मसाधनम्, अग्न्याधेयशब्देनाग्न्याधानस्याभिधानम्, यद् ब्राह्मणेन वसन्ते क्रियते** । हविर्यज्ञसंस्था **हविर्यज्ञविशेषा दार्शपौर्णमासचातुर्मास्याग्रायणादिका इष्टयः कथ्यन्ते** । अग्निष्टोमादीति **अग्निष्टोमोक्थ्यषोडशीवाजपेयातिरात्राप्तोर्यामाः सप्तसोमयज्ञविशेषाः** सोमयज्ञसंस्था **उच्यन्ते** । ऋत्वन्तरेष्विति । **ऋतुकालादन्यकालेषु** ब्रह्मचर्यं **व्रतरूपेण स्त्री-सेवापरिवर्जनं धर्मसाधनम्** । अपत्योत्पादनमपि **धर्मसाधनम्, पुत्रेण लोकाञ्जयतीति श्रुतेः** ।

दूसरों से प्रतिग्रह न लेकर बारी-बारी से प्रत्येक आँगन में भिक्षा माँगने को 'यायावरवृत्ति' कहते हैं । इन दोनों वृत्तियों से ही उपार्जित धन के द्वारा सायङ्काल, प्रातःकाल और अपराह्णकाल में पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान गृहस्थों के लिए धर्म का साधन है । काकादि प्राणियों के लिए बलि देने को 'भूतयज्ञ' कहते हैं । अतिथियों की पूजा को ही 'मनुष्ययज्ञ' कहते हैं । होम ही 'देवयज्ञ' है । श्राद्ध को 'पितृयज्ञ' कहते हैं । वेदों का पाठ ही 'ब्रह्मयज्ञ' है । 'एकाग्निविधानेन पाकयज्ञसंस्थानाम्' अर्थात् इनके अनुष्ठान भी गृहस्थों के धर्म के साधन हैं । 'एकाग्नि' शब्द से औपासनिक अग्नि को समझना चाहिए, जिसका ग्रहण विवाह के समय किया जाता है । उस अग्नि के द्वारा 'पाकयज्ञसंस्था' के होमों का अर्थात् अष्टका, पार्वणी, चैत्र्य एवं आश्वयुंज्य प्रभृति नित्यकर्मों का अर्थात् अवश्य-करणीय कर्मों का सामर्थ्य रहने पर जो अनुष्ठान (वे भी धर्म के साधन हैं), 'अग्न्याधेयादीनाम्' अर्थात् अग्न्याधेयादि के अनुष्ठान भी गृहस्थों के धर्म के साधन हैं । 'अग्न्याधेय' शब्द से अग्नि का आधान समझना चाहिए, जो वसन्त के समय ब्राह्मणों के द्वारा अनुष्ठित होता है । 'हविर्यज्ञसंस्था' शब्द से विशेष प्रकार के दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रायण प्रभृति इष्टियाँ कही जाती हैं । 'अग्नि ष्टोमादीति' अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम ये विशेष प्रकार के सात सोमयज्ञ ही 'सोमयज्ञसंस्था' कहलाते हैं । 'ऋत्वन्तरेषु' स्त्री के ऋतुकाल से भिन्न समय में व्रतरूप से 'ब्रह्मचर्य' का अर्थात् स्त्रीसङ्ग का त्याग भी धर्म का साधन है । पुत्र को उत्पन्न करना भी धर्म का साधन है; क्योंकि 'पुत्रेण लोकान् जयति' यह श्रुति है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य वा ग्रामान्निर्गतस्य वनवासो वल्कलाजिनकेशश्मश्रु-नखरोमधारणं च, वन्यहुतातिथिशेषभोजनानि वानप्रस्थस्य ।

त्रयाणामन्यतमस्य श्रद्धावतः सर्वभूतेभ्यो नित्यमभयं दत्त्वा, संन्यस्य स्वानि कर्माणि, यमनियमेष्वप्रमत्तस्य षट्पदार्थप्रसंख्यानाद् योगप्रसाधनं प्रव्रजितस्येति । दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्यैतानि साधनानि भावप्रसादं चापेक्ष्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्मोत्पत्तिरिति ।

ग्रामों को छोड़कर वनों में रहना, वल्कल, अजिन, केश, दाढ़ी-मूँछ, नख और रोम इन सबों को धारण करना (कभी त्याग न करना) एवं वनों के कन्द-मूल फलों एवं होम से और अतिथियों से अवशिष्ट अन्नों का भोजन करना, ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम दोनों में से किसी भी आश्रम से वानप्रस्थ लिए हुए सभी जनों के लिए विशेष धर्म के साधन हैं ।

ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम इन तीनों में से किसी भी आश्रम से कोई भी श्रद्धाशील पुरुष (जब) सभी प्राणियों को सदा के लिए अपनी ओर से अभय देकर अपने (और) सभी कर्मों से छूट जाते हैं, फिर भी यमनियमादि का बिना प्रमाद के पालन करते रहते हैं, (वे ही) परिव्राजक (कहलाते हैं) उनके लिए (इस शास्त्र में वर्णित) षट् पदार्थों के तत्त्वज्ञान के द्वारा योग का अनुष्ठान ही विशेष धर्म का साधन है । धर्म के ये साधन (लाभ-पूजादि) दृष्ट प्रयोजनों के बिना अनुष्ठित होने के बाद विशुद्ध अभिप्राय की सहायता से आत्मा और मन के संयोग के द्वारा धर्म को उत्पन्न करते हैं ।

न्यायकन्दली

वानप्रस्थस्य धर्मसाधनं कथयति—ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य वेति । **"यदहरेवास्य श्रद्धा भवति तदहरेवायं प्रव्रजेत्" इति श्रवणात् सति श्रद्धोपनये ब्रह्मचारिणो वनवासो भवति । गृहस्थस्य वा तस्य वानप्रस्थव्रतमाचरतो** वल्कलाजिनकेशश्मश्रुनखरोमधारणम्, **वन्यस्य फलमूलस्य भोजनं हुतशेषभोजनम्,**

'ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य वा' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा वानप्रस्थाश्रमियों के धर्म के साधन कहे गये हैं । 'यदहरेवास्य श्रद्धा भवति तदहरेवायं प्रव्रजेत्' ऐसी श्रुति है, तदनुसार उपयुक्त श्रद्धा के उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्याश्रम से भी सीधे वानप्रस्थाश्रम में जा सकता है, इसी अभिप्राय से 'ब्रह्मचरिणः' ऐसा कहा गया है । 'गृहस्थस्य वा' अर्थात् यदि गृहस्थ वानप्रस्थाश्रमी हो जाय तो 'वल्कलाजिनकेशश्मश्रुनखरोमधारणम्' अर्थात् वल्कल और अजिन का परिधान एवं केश और दाढ़ी-मूछों का रखना ये सभी गृहस्थ-वानप्रस्थाश्रमियों के धर्म के समान हैं । एवं 'वन्य' जो फल-मूल उसका भोजन, होम से बचे हुए हवि का भोजन एवं अतिथि को देकर उससे बचे हुए अन्न का भोजन (वान-

न्यायकन्दली

अतिथिशेषभोजनं च धर्मसाधनम्। यः प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य सर्वस्वं दक्षिणां दत्त्वात्मन्यग्निं समाधाय पुत्रे भार्यां निक्षिप्य प्रव्रजितः, न तस्य होमो न तस्यातिथिपरिग्रहः। यस्तु सह पत्न्या सहैवाग्निना वनं प्रस्थितः, तस्य हुतशेषभोजनमतिथिशेषभोजनं च धर्मसाधनम्।

यतिधर्मं निरूपयति—त्रयाणामिति। **यत्याश्रमपरिग्रहेऽपि नियमो नास्ति, श्रद्धोपगमे सति ब्रह्मचार्येव यतिर्भवति, गृहस्थो वा भवति, वानप्रस्थो वेत्यनेनाभिप्रायेणोक्तं** त्रयाणामन्यतमस्येति। श्रद्धावतः **चित्तप्रसादवतः** सर्वभूतेभ्यो नित्यमभयं दत्त्वा **भूतानि मया न जातु हिंसितव्यानीति अद्रोहसङ्कल्पं गृहीत्वा,** स्वानि कर्माणि **काम्यानि** संन्यस्य **परित्यज्य** यमनियमेष्वप्रमत्तस्य। **अहिंसा-सत्यादयो यमाः। यथाह भगवान् पतञ्जलिः— "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" इति। तपःशौचादयस्तु नियमाः। यथाह स एव भगवान्—"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इति। न्यायभाष्यकारस्तु प्रत्याश्रमं विशिष्टं धर्मसाधननियममाह।** तेष्वप्रमत्तस्य **ताननतिक्रमतः**। षट्पदार्थ-

प्रस्थियों के) धर्म के साधन हैं। जो गृहस्थ प्राजापत्य नाम की इष्टि करके अपने सर्वस्व को दक्षिणा रूप में देकर एवं पत्नी का भार पुत्र को सौंप कर वानप्रस्थ को ग्रहण करते हैं, उनके लिए होम और अतिथि की सेवा निर्दिष्ट नहीं है (अतः उनके लिए ये दोनों धर्म के साधन नहीं हैं)। जो पत्नी और अग्नि को साथ लेकर ही वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण करते हैं, उनके लिए ही होम से बचे हुए हवि का भोजन और अतिथि से बचे हुए अन्न का भोजन ये दोनों धर्म के साधन हैं।

'त्रयाणाम्' इत्यादि ग्रन्थ से यतियों (संन्यासियों) के धर्म का निरूपण करते हैं। संन्यासाश्रम ग्रहण करने का भी कोई नियम नहीं है (कि किस आश्रम से संन्यास ग्रहण करे); क्योंकि उपयुक्त श्रद्धा के रहने पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ ये दोनों ही संन्यास ले सकते हैं। वानप्रस्थाश्रमी तो ले ही सकते हैं, इसी नियम को दृष्टि में रखकर लिखा गया है कि 'त्रयाणामन्यतमस्य'। 'श्रद्धावतः' चित्त प्रसाद से युक्त पुरुष के लिए 'सर्वभूतेभ्यो नित्यमभयं दत्त्वा' अर्थात् 'मुझसे किसी प्राणी की हिंसा न हो' इस प्रकार से अद्रोह का संकल्प करके 'स्वानि कर्माणि' अर्थात् अपने काम्य कर्मों को 'संन्यस्य' अर्थात् छोड़कर 'यमनियमेष्वप्रमत्तस्य' इनमें अहिंसा, सत्य प्रभृति 'यम' कहलाते हैं। जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (ये पाँच) 'यम' हैं। प्रकृत में 'नियम' शब्द से तपस्या, शौच प्रभृति इष्ट हैं। जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने ही कहा है कि—शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर का प्रणिधान (ये पाँच) 'नियम' हैं। न्यायभाष्यकार ने प्रत्येक आश्रम के लिए निर्दिष्ट धर्म के नियमित अनुष्ठान को ही नियम बतलाया है। 'तेष्वप्रमत्तस्य' अर्थात् यम और नियम के विरुद्ध आचरण न करनेवाले

न्यायकन्दली

प्रसंख्यानात् **षण्णां पदार्थानां तत्त्वज्ञानाद् योगस्यात्मज्ञानोत्पादनसमर्थस्य समाधिविशेषस्य प्रसाधनमुत्पादनं** प्रव्रजितस्य **धर्मसाधनम्** । **यथैतानि धर्मं साधयन्ति, तथा कथयति**—दृष्टं चेति । **लाभपूजादिप्रयोजनमनुद्दिश्यानभिसन्धाय यदैतानि साधनानि क्रियन्ते, तदैतानि साधनानि** भावप्रसादं **चाभिप्रायविशुद्धिं चापेक्ष्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्मोत्पत्तिरिति** ।

प्रत्यहं दुःखैरभिहन्यमानस्य तत्त्वतो विज्ञातेषु दुःखैकनिदानेषु विषयेषु विरक्तस्यात्यन्तिकं दुःखवियोगमिच्छतः "आत्मख्यातिरविप्लवा हानोपायः", "तस्याश्च समाधिविशेषो निबन्धनम्" इति श्रुतवतः "संन्यस्य सर्वकाम्यकर्माणि समाधिमनुतिष्ठामः" तत्रत्यनीकभूयिष्ठं ग्रामं परित्यज्य वनमाश्रितस्य यमनियमाभ्यां कृतात्मसंस्कारस्य समाध्यभ्यासान्निवर्त्तको धर्मो जायते । तस्मादस्य प्रकृष्टः समाधिस्ततोऽन्यः प्रकृष्टतरो धर्मः, तस्मादप्यन्यः प्रकृष्टतमः समाधिरित्यनेन क्रमेणान्त्ये जन्मनि स तादृशः समाधिविशेषः

पुरुषों के लिए ये आचरण धर्म के साधन हैं । 'षट्पदार्थप्रसंख्यानात्' द्रव्यादि छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान के द्वारा योग का अर्थात् आत्मज्ञान में पूर्ण क्षम विशेष प्रकार के समाधि का जो उत्पादन वह 'प्रव्रजितों' के लिए धर्म का साधन है । 'दृष्टञ्च' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा यह उपपादन करते हैं कि ये साधन किस प्रकार धर्म का सम्पादन करते हैं । अर्थात् 'दृष्ट' लाभ पूजादि प्रयोजनों का उद्देश्य न रखकर जब यम-नियमादि साधनों का अनुष्ठान किया जाता है, उस समय ये साधन 'भावशुद्धि' अर्थात् अभिप्राय की विशुद्धि के साहाय्य से आत्मा और मन के संयोग के द्वारा धर्म का उत्पादन करते हैं ।

जिस पुरुष का चित्त दुःखों से प्रतिदिन अभिहत होता रहता है, उसे यदि दुःखों के कारणीभूत विषय यथार्थ रूप से ज्ञात हो जाते हैं, तो फिर उन विषयों से उसे वैराग्य हो जाता है । ऐसा पुरुष दुःखों से सदा के लिए छूटने की इच्छा करता है । (अन्वेषण करने पर) उसे यह ज्ञात होता है कि 'आत्मा का तत्त्वज्ञान ही दुःख के आत्यन्तिक निवृत्ति का अव्यर्थ साधन है एवं वह तत्त्वज्ञान विशेष प्रकार की 'समाधि' से ही प्राप्त हो सकता है । तो फिर सभी काम्य कर्मों का त्याग कर 'मैं समाधि का ही अनुष्ठान करूँ' वह ऐसा संकल्प करता है । फिर समाधि के अधिकतर विघ्नों से युक्त होने के कारण वह ग्राम को छोड़ देता है और वन का आश्रय ले लेता है । ऐसा पुरुष यम और नियम से आत्मा को सुसंस्कृत कर लेता है । ऐसी स्थिति में जब वह समाधि का अभ्यास करता है, तो उससे (संसार को निवृत्त करनेवाले) निवर्त्तक धर्म की उत्पत्ति होती है । इस निवर्त्तक धर्म के द्वारा पहले की समाधि से उत्कृष्ट समाधि की उत्पत्ति होती है । इस उत्कृष्ट समाधि से उत्पन्न निवर्त्तक धर्म से उत्कृष्टतर निवर्त्तक धर्म की उत्पत्ति होती है । इस उत्कृष्ट निवर्त्तक धर्म से उत्कृष्टतम समाधि की उत्पत्ति होती है, इस

न्यायकन्दली

परिणमति, यो द्वन्द्वेनाप्यभिभवितुं न शक्यते । दृष्टो हि किञ्चिदभिमतं विषयमादरेणानुचिन्तयतस्तदेकाग्रीभूतचित्तस्य सन्निहितेषु प्रबलेष्वपि विषयेषु सम्बाधः, यथेषुकार इषौ लब्धलक्ष्याभ्यासो गच्छन्तमपि राजानं न बुद्ध्यते । तथा च भगवान् पतञ्जलिः — 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति । एवं परिणते समाधावात्मस्वरूपसाक्षात्कारिविज्ञानमुदेति । यथाहुः कापिलाः —

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ इति ।

अत आत्मज्ञानार्थिना यतिना योगसाधनमनुष्ठीयते । ज्ञानं ज्ञेयादिप्राप्तिमात्रफलम्, श्रौतात्मज्ञानेनाप्यात्मस्वरूपं प्राप्यते; किमस्य ध्यानाभ्यासात् प्रत्यक्षीकरणेनेति चेत् ? न, परोक्षस्य प्रत्यक्षसाधने सामर्थ्याभावात् । स्वरूपतस्तावदात्मा न कर्त्ता, न भोक्ता, किन्तूदासीन एव । तत्र देहे-

प्रकार अन्तिम जन्म में वह समाधि इतनी उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेती है कि वह पुरुष (शीतोष्ण रूप) द्वन्द्व से भी अभिभूत नहीं होता । यह तो सांसारिक इष्ट विषय को आदर के साथ चिन्तन करते हुए पुरुषों में भी देखा जाता है कि अत्यन्त समीप के प्रबल विषयों को भी वे नहीं देख पाते हैं । जैसे कि तीर का अभ्यास करता हुआ पुरुष आगे से जाते हुए राजा को भी नहीं देख पाता है । जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने कहा है कि 'अभ्यास और वैराग्य इन दोनों से चित्तनिवृत्तिरूप योग निष्पन्न होता है ।' इस प्रकार जब समाधि का परिपाक हो जाता है, तब उससे आत्मा का साक्षात्काररूप विज्ञान उदित होता है । जैसा कि सांख्य शास्त्र के आचार्यों ने कहा है कि–

"इस तत्त्व के अभ्यास से 'ये विषय मेरे नहीं हैं, मैं इन विषयों से सम्बद्ध नहीं हूँ' इस आकार का विपर्ययरहित केवल (प्राकृत विषयों से असम्बद्ध) आत्मा का ज्ञान होता है ।" यही कारण है कि आत्मज्ञान की इच्छा से यति लोग योग का अभ्यास करते हैं । (प्र.) ज्ञान का तो एकमात्र यही फल है कि उससे ज्ञेय विषय की प्राप्ति हो । श्रुति के द्वारा जो आत्मा का ज्ञान होता है, उससे भी उसके विषय आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति तो होगी ही, फिर ध्यान और अभ्यास के द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष करने की क्या आवश्यकता है ? (उ.) यतः प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से ही सांसारिक विषयों का प्रत्यक्षरूप मिथ्याज्ञान निवृत्त हो सकता है । श्रुति से उत्पन्न आत्मा का ज्ञान परोक्ष है, अतः आत्मा के प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है; जिसके लिए ध्यान और अभ्यास की पूरी आवश्यकता है । आत्मा तो स्वयं उदासीन है, न वह कर्त्ता है, न भोक्ता । उसमें जब शरीर, इन्द्रिय प्रभृति विषयों का सम्बन्ध होता है, तभी उसे 'अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता' इत्यादि ज्ञान होने लगते हैं, वे 'जो जहाँ नहीं है वहीं तद्विशेषणक' होने के कारण मिथ्याज्ञान होते हैं । इस मिथ्याज्ञान से ही अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूल विषयों में द्वेष उत्पन्न होता है । राग और द्वेष इन दोनों से ही क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती है ।

न्यायकन्दली

न्द्रियसम्बन्धाद्युपाधिकृतोऽहं ममेति—कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रत्ययो मिथ्याऽतस्मिंस्तदिति भावात् । एतत्कृतश्चानुकूलेषु रागः प्रतिकूलेषु द्वेषः, ताभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्ती, ततो धर्माधर्मौ, ततश्च संसारः । यथोक्तं सौगतैः —

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे भावाः प्रजायन्ते ॥

अनादिवासनावासित इति प्रबलो निसर्गबद्धः सर्वः सांव्यवहारिकः प्रत्यक्षेणैवैष प्रत्ययः । श्रौतमात्मतत्त्वज्ञानं क्षणिकमनुपलब्धसंवादं परोक्षं च । न च दृढतरः प्रत्यक्षावभासः परोक्षावभासेन शक्यते निषेद्धुम् । न हि शतशोऽपि प्रमाणान्तरावगते गुडस्य माधुर्ये दुष्टेन्द्रियजः तिक्तप्रतिभासस्तत्कृतश्च दुःखावगमो निवर्तते, तस्मात् प्रत्यक्षज्ञानार्थं समाधिरुपासितव्यः । प्रचिते समाधौ तत्सामर्थ्यात् कर्तृत्वभोक्तृत्वपरिपन्थिन्यात्मतत्त्वे स्फुटीभूते समाने विषये विद्याविद्ययोर्विरोधादहङ्कारममकारवासनोच्छेदे सन्नपि प्रपञ्चो नात्मानं स्पृशति । तथा च कापिलैरुक्तम्—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तौ ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥

विहित विषयों में प्रवृत्ति से धर्म और निषिद्ध विषयों में प्रवृत्ति से अधर्म एवं विहित विषयों की निवृत्ति से अधर्म और निषिद्ध विषयों की निवृत्ति से धर्म की उत्पत्ति होती है । धर्म और अधर्म इन्हीं दोनों से संसार की उत्पत्ति होती है । जैसा बौद्धों ने भी कहा है कि–

आत्मा को सत्ता मान लेने पर ही 'पर' इस नाम का व्यवहार होता है । 'स्व' और 'पर' का जो यह व्यवहार है, उसी से राग और द्वेष उत्पन्न होता है । धर्माधर्मादि सभी भाव राग और द्वेष इन्हीं दोनों के साथ सम्बद्ध हैं ।

अनादि वासना से वासित होने के कारण ये सभी स्वाभाविक मिथ्याप्रत्यय संवृति (अविद्या) से उत्पन्न होते हैं एवं वे प्रत्यक्षात्मक हैं । श्रुति से जो आत्मा का क्षणिक ज्ञान होता है, उसका प्रमात्व निर्णीत नहीं है एवं वह परोक्ष भी है । अतः उससे दृढ़तर एवं प्रत्यक्षात्मक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती । जिस पुरुष की जिह्वा में दोष आ गया है, उसे यदि सैकड़ों प्रमाणों से गुड़ की मधुरता को समझावें, उससे उसे जो गुड़ में तिक्तता का भान है एवं इस भान से जो दुःख होता है, इन दोनों से वह छूट नहीं सकता । तस्मात् आत्मा के प्रत्यक्ष के लिए समाधि की पूरी आवश्यकता है । इस प्रकार समाधि की वृद्धि हो जाने पर, उसके सामर्थ्य से (बन्धन के प्रयोजक) कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व के विरोधी आत्मतत्त्व का स्फुट प्रतिभास होता है । तद्विषयक मिथ्या-ज्ञान (अविद्या) और तद्विषयक यथार्थज्ञान (विद्या) ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, अतः आत्मविषयक तत्त्वज्ञानरूप विद्या की उत्पत्ति हो जाने पर आत्मा के कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि रूप से जितने भी मिथ्याज्ञान एवं तज्जनित वासनायें रहतीं हैं, वे सभी नष्ट हो जाती हैं, जिससे प्रपञ्च की (किसी प्रकार की) सत्ता

प्रशस्तपादभाष्यम्

अधर्मोऽप्यात्मगुणः । कर्त्तुरहितप्रत्यवायहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी । तस्य तु साधनानि शास्त्रे प्रतिषिद्धानि

अधर्म भी आत्मा का ही गुण है । वह (अधर्माचरण करनेवाले) कर्त्ता के दुःख और दुःख के साधनों का कारण है । वह अतीन्द्रिय है । एवं अन्तिम दुःख और तत्त्वज्ञान इन दोनों से उसका नाश होता है । शास्त्रों में निषिद्ध

न्यायकन्दली

तेन तत्त्वज्ञानेन सता निवृत्तप्रसवां निवृत्तोपभोगजननसामर्थ्याज् ज्ञानधर्मवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्येभ्यः सप्तरूपेभ्यो विनिवृत्तां प्रकृतिं पुरुषः प्रेक्षकवदुदासीनः स्वस्थो रजस्तमोवृत्तिकलुषतया बुद्ध्या असम्भिन्नः पश्यतीत्यर्थः । यद्यप्यनादिरियं मोहवासना आदिमांश्च तत्त्वसाक्षात्कारः, तथाप्यनेन सा निरुद्ध्यते, तत्त्वावग्रहो हि धियां परमं बलम् ।

अधर्मोऽप्यात्मगुणः । **न केवलं धर्मोऽधर्मोऽप्यात्मगुणः** । कर्त्तुरिति । **कर्त्तुरहितं दुःखसाधनम्, प्रत्यवायो दुःखम्, तयोरधर्मो हेतुः** । अन्त्यदुःखसंविज्ञानेति । **अन्त्यस्य दुःखस्य सम्यग् विज्ञानं तेन विनाश्यते** । तस्य साधनानि शास्त्रे प्रतिषिद्धानि धर्मसाधनविपरीतानि हिंसानृतस्तेयादीनि । हिंसा **परा-**

रहने पर भी आत्मा को वे छू नहीं सकते । जैसा सांख्यशास्त्र के आचार्यों ने 'तेन निवृत्तप्रसवाम्' इत्यादि आर्या के द्वारा कहा है कि–'तेन' अर्थात् उस तत्त्वज्ञान से 'निवृत्तप्रसवाम्' उपभोग के सामर्थ्य से रहित प्रकृति 'अर्थवशात्' पुरुष के अपवर्ग रूप प्रयोजन से वशीभूत होकर 'सप्तरूप विनिवृत्ति' को प्राप्त होती है, अर्थात् ज्ञान, अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य्य इन अष्टविध भावों में से ज्ञान को छोड़कर सृष्टिजनक अज्ञानादि सातों प्रकार के भावों से निवृत्त हो जाती है । इसी प्रकार की प्रकृति को 'पुरुष' प्रेक्षक की तरह अर्थात् उदासीन की तरह 'स्वस्थ' होकर अर्थात् रजोगुण और तमोगुण की कलुषित वृत्तियों से सर्वथा असम्बद्ध रहकर देखता है । यद्यपि यह ठीक-सा लगता है कि मिथ्याज्ञानरूप मोहरूप वासना अनादि है और तत्त्वज्ञान उत्पत्तिशील है (अतः वासना ही बलवती है), फिर भी सादि भी तत्त्वज्ञान से अनादि मिथ्याज्ञान का नाश होता है; क्योंकि तत्त्व का ग्रहण करना ही ज्ञानों का सबसे बड़ा बल है ।

'अधर्मोऽप्यात्मगुणः' अर्थात् केवल धर्म ही आत्मा का गुण नहीं है, किन्तु अधर्म भी आत्मा का गुण है (इसी अर्थ की अभिव्यक्ति प्रकृत वाक्य के 'अपि' शब्द से हुई है) । 'कर्त्तुरिति' कर्त्ता का जो 'अहित' अर्थात् दुःख का साधन एवं प्रत्यवाय अर्थात् दुःख, अधर्म इन दोनों का 'हेतु' है । 'अन्त्यदुःखसंविज्ञानेति' अन्त्य अर्थात् अन्तिम दुःख और 'संविज्ञान' अर्थात् सम्यग्विज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान इन दोनों से अधर्म का विनाश होता है । 'तस्य तु साधनानि शास्त्रे प्रतिषिद्धानि धर्मसाधनविपरीतानि हिंसानृतस्तेयादीनि' दूसरों के

प्रशस्तपादभाष्यम्

धर्मसाधनविपरीतानि हिंसानृतस्तेयादीनि । विहिताकरणं प्रमादश्चैतानि दुष्टाभिसन्धिं चापेक्ष्यात्ममनसोः संयोगादधर्मस्योत्पत्तिः ।

अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्त्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाधर्मसहिताद् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेष्वाशयानुरूपैरिष्टशरीरेन्द्रियविषयसुखादिभिर्योगो भवति । तथा प्रकृष्टादधर्मात् स्वल्पधर्म-

एवं धर्म साधन के विरोधी हिंसा, असत्य प्रभृति इसके साधन हैं । शास्त्रों में अनुष्ठान के लिए निर्दिष्ट कामों को न करना एवं प्रमाद ये दोनों भी अधर्म के हेतु हैं । (अधर्म के) ये सभी हेतु एवं कर्त्ता के दुष्ट अभिप्राय इन सबों की सहायता से आत्मा और मन के संयोग के द्वारा अधर्म की उत्पत्ति होती है ।

प्रवृत्तिजनक उत्कृष्ट धर्म के द्वारा थोड़े से अधर्म की सहायता से ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, पितृलोक एवं मनुष्यलोक में उपयुक्त भोग के अनुरूप इन्द्रिय, विषय एवं सुखादि के साथ तत्त्वज्ञान से रहित एवं राग और द्वेष से युक्त पुरुष का सम्बन्ध होता है । इसी प्रकार थोड़े से

न्यायकन्दली

भिद्रोहः । अनृतं **मिथ्यावचनम्** । **स्तेयमशास्त्रपूर्वं परस्वग्रहणम्** । **एवमादीनि** धर्मसाधनविपरीतानि **शास्त्रे** प्रतिषिद्धानि **यानि, तान्यधर्मसाधनानि** । विहिताकरणं **विहितस्यावश्यंकरणीयस्याकर्त्तव्यता। प्रमादोऽबुद्धिपूर्वकोऽतिक्रमः, एतदपि द्वयमधर्मसाधनम् । यथैतेभ्यो धर्मस्योत्पत्तिस्तद् दर्शयति**—एतानीति । **यत्र कामनापूर्वकमधर्मसाधनानुष्ठानं तत्र दुष्टोऽभिसन्धिरधर्मकारणम् । अकामकृते तु प्रमादेनास्य हेतुत्वम् ।**

साथ अभिद्रोह करना ही 'हिंसा' है । मिथ्याभाषण ही 'अनृत' शब्द का अर्थ है । शास्त्रों में कहे हुए उपायों से विपरीत उपायों के द्वारा दूसरे के धन का ग्रहण करना ही 'स्तेय' है । धर्म के साधनों के विरुद्ध एवं शास्त्रों से निषिद्ध जो हिंसादि उपाय हैं, वे ही अधर्म के साधन हैं । शास्त्रों के द्वारा अवश्य करने के लिए निर्दिष्ट कर्मों का न करना ही 'विहिताकरण' है । अनजान में शास्त्रीय मर्यादा के अतिक्रम को ही 'प्रमाद' कहते हैं । (विहिताकरण और प्रमाद) ये दोनों भी अधर्म के साधन हैं । 'एतानि' इस वाक्य के द्वारा इन साधनों के द्वारा किस रीति से अधर्म की उत्पत्ति होती है ? वह दिखलायी गयी हैं । जहाँ किसी कामना के वशीभूत होकर अधर्म के साधनों का अनुष्ठान किया जाता है, वहाँ 'दुष्टाभिसन्धि' अधर्म का कारण है । जहाँ अधर्म के साधनों का अनुष्ठान अनजाने होता है, वहाँ प्रमाद के द्वारा उन साधनों में हेतुता आती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

सहितात् प्रेततिर्यग्योनिस्थानेष्वनिष्टशरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभिर्योगो भवति। एवं प्रवृत्तिलक्षणाद् धर्मादधर्मसहिताद् देवमनुष्यतिर्यङ्नारकेषु पुनः पुनः संसारबन्धो भवति ।

धर्म से युक्त बड़े अधर्म से प्रेत, तिर्यग्योनि में भोग के उपयुक्त शरीर, इन्द्रिय, विषय और दुःख के साथ (उक्त पुरुष का) सम्बन्ध होता है । इसी प्रकार थोड़े से अधर्म से युक्त प्रवृत्तिस्वरूप धर्म के द्वारा देव, तिर्यग्योनि एवं नारकीय शरीरों के सम्बन्ध से जीव को बार-बार संसार रूप बन्धन मिलता है ।

न्यायकन्दली

एवमधर्मस्य साधनमभिधाय सम्प्रति साध्यं कथयति—अविदुष **इत्यादिना । यः कर्त्ता भोक्तास्तीत्यात्मानमभिमन्यते, परमार्थतो दुःखसाधनं च बाह्याध्यात्मिकविषयं सुखसाधनमित्यभिमन्यते** सोऽविद्वान् ।**स च स्वोपभोगतृष्णापरिप्लुतः सुखसाधन-वारोपिते विषये रज्यते, तदुपरोधिनि च द्विष्टो भवति । तस्य प्रवर्त्तकाद् धर्माद् देवो वा स्यां गन्धर्वो वा स्यामिति पुनर्भवप्रार्थनया कृताद् धर्मात् प्रकृष्टात्** फलातिशयहेतोराशयानुरूपैः **कर्मानुरूपैरिष्टशरीरादिभिः सम्बन्धो भवति, ब्रह्मेन्द्रादिस्थानेऽपि मात्रया दुःखसम्भेदोऽस्ति । न चाधर्मादन्यद् दुःखसंवेदोऽस्ति । न चाधर्मादन्यद् दुःखस्य कारणमतः स्वल्पाधर्मसहितादित्युक्तम् । यस्य प्रकृष्टो धर्मस्तस्य प्रकृष्टानि शरीरादीनि भवन्ति, यस्य प्रकृष्टतरो धर्मः, तस्य प्रकृष्टतराणि भवन्ति,**

उक्त सन्दर्भ के द्वारा अधर्म के साधनों को कहने के बाद 'अविदुष' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अधर्म से होनेवाले कार्यों का निरूपण करते हैं । 'अविद्वान्' उस (मूढ़) पुरुष को कहते हैं, जो अपने को ही कर्त्ता और भोक्ता समझता है एवं दुःखों के बाह्य एवं आन्तरिक साधनों को सुखों का साधन समझता है । वह (अविद्वान् पुरुष) अपनी उपभोग की तृष्णा के वशीभूत होकर दुःख के जिन साधनों को सुख का साधन समझता है, उन विषयों में अनुरक्त हो जाता है और उसके विरोधी विषयों के साथ द्वेष रखने लगता है । 'प्रवर्त्तकाद्धर्मात्' अर्थात् 'मैं देव हो जाऊँ, मैं गन्धर्व हो जाऊँ' इस प्रकार की हेतुभूत पुनर्जन्म की वासना से किये गये प्रवर्त्तक एवं उत्कृष्ट फलों के हेतु उत्कृष्ट धर्म के द्वारा (कुछ अधर्म की सहायता से) आशय के अनुरूप अर्थात् पहले किए हुए कर्म के अनुरूप अभीष्ट शरीरादि के साथ वह जीव सम्बद्ध होता है । ब्रह्मा प्रभृति के शरीर धारण करने पर भी थोड़ा-सा दुःख का सम्बन्ध रहता ही है । बिना अधर्म के दुःख का अनुभव नहीं होता एवं अधर्म को छोड़कर दुःख का भी कोई दूसरा (असाधारण) कारण नहीं है, अतः 'स्वल्पाधर्मसहितात्' यह वाक्य जोड़ा गया है । 'आशयानुरूपैः' यह वाक्य इस तारतम्य को समझाने के लिए लिखा गया है कि जिसका धर्म उत्कृष्ट रहता है, उसे उत्कृष्ट शरीर मिलता है, जिसका धर्म उससे उत्कृष्टतर

प्रशस्तपादभाष्यम्

ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसङ्कल्पितफलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दुःखविगमोपायजिज्ञासोराचार्यमुपसङ्गम्योत्पन्नषट्पदार्थतत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पत्तौ

ज्ञानपूर्वक किये हुए निष्काम कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा उत्पन्न धर्म से जीव विशुद्ध कुल में जन्म लेता है । इससे पुरुष को दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है । इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर वह आचार्य के चरणों में बैठकर उनसे षट् पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान का लाभ करता है । जिससे अज्ञान निवृत्ति के द्वारा उसे वैराग्य

न्यायकन्दली

यस्य प्रकृष्टतमो धर्मस्तस्य प्रकृष्टतमानीति प्रतिपादयितुमाशयानुरूपैरित्युक्तम् । **इष्टशब्दः प्रत्येकं शरीरादिषु सम्बद्ध्यते, द्वन्द्वानन्तरं प्रयोगात् । तथा प्रकृष्टादधर्मात् प्रेतयोनीनां तिर्यग्योनीनां च स्थानेष्वनिष्टैः शरीरादिभिर्योगो भवति । प्रेतादिस्थानेऽपि मनाक् सुख-मस्ति, तच्च धर्मस्य कार्यम्, अतः** स्वल्पधर्मसहितादित्युक्तम् । **उपसंहरति**—एवमिति ।

एवं धर्मात् संसारं प्रतिपाद्यापवर्गं प्रतिपादयति—ज्ञानपूर्वकात्त्विति । **"स्वरूप-तश्चाहमुदासीनो बाह्याध्यात्मिकाश्च विषयाः सर्व एवैते दुःखसाधनम्" इति यस्य ज्ञानमभूत्, स दृष्टानुश्रविकविषयसुखवितृष्णः "एवमहं भूयासमिति मे भूयासुः"**

होता है, उसे उस शरीर से भी अच्छा शरीर मिलता है एवं जिसका धर्म इन दोनों प्रकार के धर्मों से उत्कृष्टतम रहता है, उसे तदनुरूप ही शरीर भी उत्कृष्टतम मिलता है । प्रकृत वाक्य का 'इष्ट' शब्द द्वन्द्वसमास के अन्त में प्रयुक्त है, अतः उसके पहले के ' शरीरादि' प्रत्येक शब्द के साथ उसका अन्वय है । इसी प्रकार प्रकृष्ट अधर्म से प्रेत-तिर्यग् योनि के अनिष्ट शरीरादि के साथ आत्मा सम्बद्ध होता है । प्रेतलोक प्रभृति में भी थोड़ा-सा सुख का सम्बन्ध है एवं सुख धर्म से ही उत्पन्न होता है, अतः 'स्वल्पधर्मसहितात्' ऐसा लिखा गया है । 'एवम्' इत्यादि से इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं ।

इस प्रकार धर्म से संसार की उत्पत्ति का वर्णन कर 'ज्ञानपूर्वकात्तु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा धर्म से मोक्ष की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं । "मैं वस्तुतः अपने यथार्थरूप में उदासीन हूँ एवं बाह्य और आभ्यन्तर जितने भी विषय हैं, वे सभी दुःख के ही साधन हैं" इस प्रकार का ज्ञान जिस पुरुष को हो जाता है वह 'दृष्ट' चन्दनवनितादि जनित सुखों से एवं 'आनुश्रविक' स्वर्गादि सुखों की तृष्णा से निवृत्त

न्यायकन्दली

इति फलाकाङ्क्षया विना निवृत्तसाधनतया विहितमपरं चावश्यकरणीयं कर्म करोति । तस्मात् कर्मणो ज्ञानपूर्वकात् कृतादस्य विशुद्धे कुले जन्म भवति । अकुलीनस्य श्रद्धा न भवति । न चाश्रद्दधानस्य जिज्ञासा सम्पद्यते । न चाजिज्ञासोस्तत्त्वज्ञानम् । तद्विकलस्य च नास्ति मोक्षप्राप्तिः । अतो मोक्षानुगुणमसङ्कल्पितफलं कर्म विशुद्धे कुले जन्म ग्राहयति, विशुद्धे कुले जातस्य प्रत्यहं दुःखैरभिहन्यमानस्य दुःखविगमोपाये जिज्ञासा सम्पद्यते "कुतो नु खल्वयं मम दुःखोपरमः स्यात्" इति । स चैवमाविर्भूतजिज्ञास आचार्यमुपगच्छति, तस्य चाचार्योपदेशात् षण्णां पदार्थानां श्रौतं तत्त्वज्ञानं जायते । तदनु श्रवणमनन-निदिध्यासनादिक्रमेण प्रत्यक्षं भवति । उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तौ सवासनविपर्यय-ज्ञाननिवृत्तौ विरक्तस्य **विच्छिन्नरागद्वेषसंस्कारस्य** रागद्वेषयोरभावात् तज्जयोर्धर्मा-धर्मयोरनुत्पादः । **क्लेशवासनोपनिबद्धा हि प्रवृत्तयस्तुषावनद्धा इव तण्डुलाः प्ररोहन्ति । क्षीणेषु क्लेशेषु निस्तुषा इव तण्डुलाः कार्यं न प्रतिसन्दधते । यथाह भगवान् पतञ्जलिः —**

हो जाता है । फिर भी 'अहं भूयासम्', 'मे भूयासुः' (मैं बराबर रहूँ और मेरे इष्ट विषय बराबर मुझे प्राप्त होते रहें) इस प्रकार की भावना बनी ही रहती है । फला-काङ्क्षा की इस भावना से प्रेरित होकर वह नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करता ही रहता है; क्योंकि उनको छोड़ने का कोई हेतु तब तक उपस्थित नहीं रहता । ये ही कर्म जब उक्त पुरुष के द्वारा ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं, तो उस पुरुष को विशुद्ध कुल में जन्म प्राप्त होता है; क्योंकि अकुलीन पुरुष में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती एवं बिना श्रद्धा के जिज्ञासा नहीं होती । जिसे जिज्ञासा नहीं, उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होना असम्भव है । बिना तत्त्वज्ञान के मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है । अतः निष्काम कर्म मोक्ष का सहायक है । तस्मात् वह पुरुष विशुद्ध कुल में जन्म लेता है । विशुद्ध कुल में उत्पन्न वह पुरुष जब प्रतिदिन के दुःख से पीड़ित होने लगता है, तो उसे दुःखनाश के कारणों के प्रसङ्ग में यह जिज्ञासा उठती है कि 'किन साधनों से इन दुःखों की निवृत्ति होगी' ? जब पुरुष में इस प्रकार की जिज्ञासा उठती है तो वह आचार्य के पास जाता है । आचार्य के उपदेश से उसे वेदवाक्योंके द्वारा आत्मतत्त्व का (परोक्ष) ज्ञान होता है । फिर श्रवण के बाद मनन और मनन के बाद निदिध्यासन, इस रीति से उसे आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है । प्रत्यक्षात्मक इस आत्मतत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर संसार के निदानभूत विपर्यय (मिथ्याज्ञान) का जड़मूल से विनाश हो जाता है । जिससे विषयों से वैराग्य उत्पन्न होता है । विरक्त पुरुष के राग और द्वेष के संस्कार भी छूट जाते हैं । राग और द्वेष के छूट जाने पर

प्रशस्तपादभाष्यम्

पूर्वसञ्चितयोश्चोपभोगान्निरोधे सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा निवर्त्तते। तदा निरोधाद् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादि-निवृत्तिः, पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति।

होता है। विरक्त पुरुष में राग और द्वेष की सम्भावना न रहने के कारण राग और द्वेष से होनेवाले धर्म और अधर्म की आगे उत्पत्ति रुक जाती है। पहले से सञ्चित धर्म और अधर्म का उपभोग से नाश हो जाने के बाद सन्तोषात्मक सुख एवं शरीरपरिच्छेद (शरीर के प्रति घृणा) इन दोनों की उत्पत्ति होती है। इनसे रागादि की निवृत्ति होती है। इसके बाद निवृत्तिजनक केवल (अधर्म से सर्वथा असम्बद्ध) धर्म आत्मतत्त्वज्ञान की सहायता से (परम) सुख को उत्पन्न कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। निवृत्तिलक्षण उस धर्म की निवृत्ति से उस समय आत्मा संसार के बीज (धर्माधर्मादि) से रहित हो जाता है, अतः उसके उपभोग के पूर्व-आयतन (वर्त्तमान शरीर) की निवृत्ति हो जाती है, एवं आगे शरीर की उत्पत्ति रुक जाती है। लकड़ी के जल जाने के कारण अग्नि की निवृत्ति की तरह उस समय शरीर का फिर से उत्पन्न न होना ही मोक्ष है।

न्यायकन्दली

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति। **यथाह भगवानक्षपादः – "न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य"** इति। **पूर्वसञ्चितयोश्च धर्माधर्मयोर्निरोध उपभोगात्, निवृत्तिफलहेतोश्च कर्मान्तरात्। सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य** रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं

इन दोनों से उत्पन्न होनेवाले धर्म और अधर्म की उत्पत्ति भी रुक जाती है। जिस प्रकार छिलके से युक्त धान से ही अङ्कुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार क्लेश और वासना से युक्त प्रवृत्ति से ही जन्मरूप कार्य की उत्पत्ति होती है। प्रवृत्तियों से जब वासना और क्लेश का सम्बन्ध छूट जाता है, तब उससे आगे जन्म का कार्य उसी प्रकार रुक जाता है, जिस प्रकार छिलके के न रहने से धान के द्वारा अङ्कुर का होना रुक जाता है। जैसा कि 'न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य' इस सूत्र के द्वारा भगवान् अक्षपाद ने भी कहा है।

पूर्वसञ्चितों का अर्थात् पूर्वसञ्चित धर्म और अधर्म का 'निरोध' उपभोग से होता है। संसारनिवृत्तिरूप फल के कारणीभूत (निवृत्तिरूप) धर्म का विनाश दूसरे धर्म से होता है। 'सन्तोषसुखम्' इत्यादि वाक्य में प्रयुक्त 'निवृत्ति' शब्द

न्यायकन्दली

कृत्वा निवर्त्तते । **निवर्त्यते संसारोऽनयेति निवृत्तिः, निवृत्तिर्लक्षणं यस्यासौ निवृत्तिलक्षणो निवृत्तिस्वभावो धर्मो रागादिनिवृत्तौ भूतायां केवलो व्यवस्थितः सन्तोषसुखं शरीरपरिच्छेदं चोत्पाद्य** परमार्थदर्शनज**मात्मदर्शनजं सुखं करोति,** तत्कृत्वा निवर्त्तते । **आभिमानिककार्यविनिरोधात् तदा निर्बीजस्यात्मनः** शरीरादिनिवृत्तौ **पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः । यदा परमार्थदर्शनं कृत्वा निवृत्तो धर्मः, तदा** निर्बीजस्यात्मनः **शरीरादिबीजधर्माधर्मरहितस्यात्मन उत्पन्नानां शरीरादीनां कर्मक्षयान्निवृत्तौ भूतायामनागतानां कारणाभावादनुत्पत्तौ यथा दग्धेन्धनस्यानलस्योपशमः पुनरनुत्पादः, एवं पुनः शरीरानुत्पादो मोक्षः ।**

इदं निरूप्यते । किं ज्ञानमात्रान्मुक्तिः ? उत ज्ञानकर्मसमुच्चयात् ? ज्ञानकर्मसमुच्चयादिति वदामः । निवृत्तेतराभिलाषस्य काम्यकर्मभ्यो निवृत्तस्यापि नित्यनैमित्तिककर्माधिकारो न निवर्त्तते, तानि ह्युपनीतं ब्राह्मणमात्रमधिकृत्य विहितानि । मुमुक्षुरपि ब्राह्मण एव, जातेरनुच्छेदात् । स यद्यधिका-

'निवर्त्यते संसारोऽनया' इस व्युत्पत्ति के द्वारा निष्पन्न है (जिसका अर्थ है कि संसार की निवृत्ति जिससे हो) । इस प्रकार से निष्पन्न निवृत्ति शब्द के साथ 'लक्षण' शब्द का 'निवृत्तिर्लक्षणं यस्य असौ निवृत्तिलक्षणः' इस प्रकार का समास है, अर्थात् निवृत्तिस्वभाव का जो धर्म वह रागादि की निवृत्ति होने पर 'केवल' अर्थात् व्यवस्थित हो जाता है । वह (केवल धर्म) सन्तोषसुख और शरीरसञ्चालन इन दोनों का उत्पादन कर 'परमार्थदर्शनजम्' अर्थात् आत्मज्ञानजनित सुख को उत्पन्न कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है; क्योंकि आभिमानिक सभी कार्यों का वह विरोधी है । 'तदा' इत्यादि सन्दर्भ से कहते हैं कि यह निवृत्तिस्वभाव का धर्म जब आत्मज्ञानजनित धर्म को उत्पन्न कर स्वयं निवृत्त हो जाता है, 'तदा निर्बीजस्य' अर्थात् तब शरीरादि के उत्पादन के बीज प्रवृत्तिलक्षण धर्माधर्मादि से रहित आत्मा के शरीरादि का कर्मक्षय से नाश हो जाता है और कारणों के न रहने से आगे होनेवाले शरीरादि की उत्पत्ति रुक जाती है । जिस प्रकार लकड़ी के जल जाने के बाद अग्नि का भी नाश हो जाता है और पुनः उत्पत्ति भी नहीं होती है, उसी प्रकार शरीर का पुनः उत्पन्न न होना ही 'मुक्ति' है ।

अब इस विषय का विचार करते हैं कि केवल ज्ञान से ही मुक्ति होती है ? अथवा ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर मोक्ष का सम्पादन करते हैं ? हम लोग तो कहते हैं कि ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर ही मोक्ष का सम्पादन करते हैं; क्योंकि जिन्हें सांसारिक विषयों की अभिलाषा नहीं है, वे यद्यपि काम्य कर्म से निवृत्त हो जाते हैं, फिर भी वे अपने नित्य और नैमित्तिक कर्मों की अवश्यकर्तव्यता से मुक्त नहीं हो सकते; क्योंकि नित्य और नैमित्तिक कर्मों का विधान उपनीत सभी ब्राह्मणों के लिए किया गया है । मोक्ष के इच्छुक भी ब्राह्मण ही हैं; क्योंकि जाति का कभी नाश नहीं

न्यायकन्दली

रित्वे सत्यवश्यकरणीयान्यतिक्रमेत् प्रत्यवायोऽस्य प्रत्यहमुपचीयेत, तदुपचयाच्च बद्धो न मुच्यते । यथोक्तम्–

यानि काम्यानि कर्माणि प्रतिषिद्धानि यान्यपि ।
तानि बध्नन्त्यकुर्वन्तं नित्यनैमित्तिकान्यपि ॥ इति ।

विहिताकरणमभावः, न चाभावो भावस्य हेतुरपि, अतो नास्मात् प्रत्यवायोत्पत्तिरिति चेत् ? न, विहिताकरणेऽन्यकरणात् प्रत्यवायस्य सम्भवात् । अभावस्य हि स्वातन्त्र्येण हेतुत्वं नेष्यते, न तु भावोपसर्जनतया । न च शरीरी सन्ध्यादिकाले कायेन वाचा मनसा वा किञ्चिन्न करोति, शरीरधारणादीनामपि करणात् । यथोक्तम्–

कर्मणां प्रागभावो यो विहिताकरणादिषु ।
न चानर्थकरत्वेन वस्तुत्वान्नापनीयते ॥
स्वकाले यदकुर्वंस्तत् करोत्यन्यदचेतनः ।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते ॥ इति ।

अभावेन केवलेन नासौ जन्यत इत्यर्थः । प्रतिषिद्धाचरणात् प्रत्यवायः,

होता । यदि अधिकार रहने पर भी अपने अवश्यकर्त्तव्य (नित्य-नैमित्तिक) कर्मों का अनुष्ठान वे नहीं करते, फिर उनका प्रत्यवाय बढ़ता ही जाएगा ! प्रत्यवाय की इस वृद्धि के कारण बद्ध पुरुष कभी मुक्त नहीं होगा । जैसा आचार्यों ने कहा है कि–

जितने भी काम्य, निषिद्ध, नित्य और नैमित्तिक कर्म हैं, सभी अनुष्ठान न करनेवाले अधिकारी को संसार में बाँधते हैं ।

(प्र.) विहित कर्मों का न करना अभाव पदार्थ है, अभाव किसी का कारण नहीं हो सकता, अतः विहित कर्मों के न करने से प्रत्यवाय की उत्पत्ति नहीं हो सकती । (उ.) यह कोई बात नहीं है, जिस समय अधिकारी विहित कर्म का अनुष्ठान नहीं करेगा, उस समय कोई दूसरा कर्म तो करेगा ही, इस दूसरे कर्म (रूप भाव पदार्थ) से ही प्रत्यवाय की उत्पत्ति होगी । अभाव स्वतन्त्र होकर ही किसी का कारण नहीं होता; किन्तु भाव पदार्थ रूप कारण का उपसर्जन तो होता ही है । जितने भी शरीरी हैं, वे सन्ध्यावन्दनादि के समय (उसके न करने पर भी) शरीर से, वचन से या मन से कोई न कोई काम अवश्य ही करते हैं; क्योंकि शरीर को धारण करना भी तो कर्म ही है, जैसा कि आचार्यों ने कहा है–

विहित कर्म का न करना यतः कर्मों का प्रागभाव है, अतः भाव पदार्थ न होने के कारण वह प्रत्यवाय के उत्पादन से सर्वथा विरत नहीं हो सकता; क्योंकि मूढ़ भी विहित कर्म के काल में उसे न करने पर भी अन्य कोई कर्म अवश्य ही करता है, उस दूसरे कर्म से प्रत्यवाय की उत्पत्ति होती है, विहिताकरणरूप प्रागभाव से ही नहीं ।

अर्थात् केवल उक्त प्रागभाव से प्रत्यवाय की उत्पत्ति नहीं होती है । (प्र.) निषिद्ध कर्मों के आचरण से प्रत्यवाय होता है, शरीर धारणरूप कर्म तो निषिद्ध नहीं है,

न्यायकन्दली

शरीरधारणादिकं च न प्रतिषिद्धम् । तत्कुर्वन्नपि यदि सन्ध्यया योगमभ्यस्यति को दोष इति चेत् ? न, तत्काले विहितस्यावश्यकर्त्तव्यताविधेरर्थात् केवलस्य शरीरधारणादेः करणं प्रतिषिद्धमिति । तदाचरतो भवत्येव प्रतिषिद्धाचरणनिमित्तः प्रत्यवायः । अथोच्यते । दीर्घकालादरनैरन्तर्यसेवितभावनाहितविशदभावमात्मज्ञानमेव रागद्वेषौ मोहं च समूलकाषं कषद्विहिताकरणनिमित्तं प्रत्यवायमपि कषतीति चेत् ? तदयुक्तम् । यत्र ह्यभ्यासः प्रसीदति, तत्र तत्त्वग्रहो जातः संशयविपर्ययौ व्युदस्यति, न त्वस्य वस्त्वन्तरनिर्वहणे सामर्थ्यं दृष्टपूर्वम् । यदि पुनरात्मज्ञानं कर्माणि निरुणद्धि उपारूढफलभोगमपि कर्म निरुन्ध्यात्, ततः सुदूरं गता जीवन्मुक्तिः ? तत्त्वदर्शनानन्तरमेव विलीनाखिलकर्मणो देहपातात् । अस्ति चायं परमार्थदृष्टिनिरुद्धाखिलाविद्योऽपि चित्रलिखितमिवाभासमात्रेण सर्वं जगत् पश्यन्नेकत्राप्यनारूढाभिनिवेशः प्रारब्धफलं कर्मविशेषमुपभुञ्जानः कुलाल-व्यापारविगमे चक्रभ्रान्तिवत् संस्कारवशादनुवर्त्तमानस्य देहपातमुदीक्षमाणः । तथा च श्रुतिः-

फिर विहिताकरण के समय शरीर धारण से प्रत्यवाय की उत्पत्ति क्यों कर होगी ? शरीरधारण करते हुए यदि सन्ध्या-वन्दन के समय कोई योग का ही अभ्यास करता है,तो उसे प्रत्यवाय क्यों होगा ? (प्र.) 'सन्ध्या-वन्दन अवश्य करें' यह विधान है, इस विधान से ही इस प्रतिषेध का भी आक्षेप होता है कि उस समय केवल-शरीर का धारण न करे (सन्धया-वन्दन से युक्त शरीर का ही धारण करे), अतः उस समय केवल-शरीर का धारण प्रतिषिद्ध है । सुतराम् उससे प्रत्यवाय होना उचित है । यदि यह कहें कि (प्र.) दीर्घकाल से आदरपूर्वक किये गये अभ्यास के कारण आत्मा का विशद तत्त्वज्ञान जिस प्रकार राग, द्वेष, मोह प्रभृति को मूल सहित विनष्ट कर देता है, उसी प्रकार वही आत्मतत्त्वज्ञान विहित सन्ध्यावन्दनादि के न करने से होनेवाले प्रत्यवाय को भी विनष्ट कर देगा । (उ.) तो उक्त कथन भी सङ्गत नहीं होगा; क्योंकि उपयुक्त अभ्यास केवल विषयों के तत्त्व को ही पूर्ण रूप में समझा सकता है, जिससे उसमें जो संशय या विपर्यय रहता है, उसका विनाश हो जाय । अभ्यासजनित तत्त्वग्रह में यह सामर्थ्य कहीं उपलब्ध नहीं है कि किसी दूसरी वस्तु को भी वह उत्पन्न करे । यदि यह मान भी लें कि आत्मज्ञान से कर्मों का नाश होता है, तो फिर उससे सारे प्रारब्ध कर्मों का भी नाश हो जाएगा, जिससे जीवन्मुक्ति की बात ही छोड़ देनी पड़ेगी; क्योंकि तत्त्वज्ञान के बाद ही प्रारब्धसहित सभी कर्मों का नाश हो जाएगा, जिससे कि आत्मज्ञानवाले पुरुष के शरीर का भी नाश हो जाएगा; किन्तु ऐसे महापुरुषों की सत्ता अवश्य है, जिनकी सभी अविद्यायें आत्मतत्त्वज्ञान से नष्ट हो चुकी हैं, जो सम्पूर्ण विश्व को चित्रलिखित आभासमात्र की तरह देखते हैं, किसी भी एक विषय में अभिनिवेश न रखकर, अपने प्रारब्ध को भोगते हुए संस्कार के कारण कुम्हार के चाक के भ्रमण की तरह देहपात की प्रतीक्षा करते हैं । जैसा श्रुति

न्यायकन्दली

"जीवन्नेव हि विद्वान् संहर्षायासाभ्यां विप्रमुच्यते" इति । तथा चाहुः कापिलाः –

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ॥ इति ।

धर्मादीनामकारणप्राप्ताविति **तत्त्वज्ञानेनोच्छिन्नेषु सवासनक्लेशेषु धर्मादीनां सहकारिकारणप्राप्त्यभावे सतीत्यर्थः । अलब्धवृत्तीनि कर्माणि तत्त्वज्ञानाद् विलीयन्त इति चेत् ? न, तेषामपि कर्मत्वादारब्धफलकर्मवज् ज्ञानेन विनाशाभावात् । योऽपि 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्युपदेशः, तस्याप्ययमर्थः–ज्ञाने सति अनागतानि कर्माणि न क्रियन्त इति ।न पुनरयमस्यार्थः–उत्पन्नानि कर्माणि ज्ञानेन विनाश्यन्त इति । तथा चागमान्तरम् 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादि । ज्ञानं यदि न क्षिणोति कर्माणि ? अनेकजन्मसहस्रसञ्चितानां कर्मणां कुतः परिक्षयः ? भोगात् कर्मभिश्च । तदर्थं**

कहती है कि "आत्मज्ञानी पुरुष शरीर को धारण करते हुए भी हर्ष और शोक से विमुक्त रहते हैं" । इसी प्रसङ्ग में सांख्यदर्शन के आचार्य ने भी कहा है कि–

'सम्यग्ज्ञान (आत्मतत्त्व ज्ञान) की प्राप्ति से धर्मादि से संसार के उत्पादक सहकारी (वासनादि) नष्ट हो जाते हैं, फिर भी संस्कार के कारण कुम्हार के चाक के भ्रमण की तरह तत्त्वज्ञानी शरीर को धारण किये ही रहते हैं ।

उक्त आर्या में प्रयुक्त 'धर्मादीनामकारणप्राप्तौ' इस वाक्य का अर्थ है कि 'तत्त्वज्ञान से जब वासनासहित सभी क्लेशों का नाश हो जाता है, जब संस्कार के कारणीभूत धर्मादि भावों के सहकारी नष्ट हो जाते हैं, उस समय' । (प्र.) तत्त्वज्ञान के द्वारा प्रारब्ध से भिन्न सभी कर्मों का विनाश हो जाता है । (उ.) यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रारब्ध कर्म की तरह वे भी कर्म ही हैं, अतः तत्त्वज्ञान से उनका भी नाश नहीं हो सकता । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादि वाक्य का जो यह उपदेश है कि "आत्मतत्त्वज्ञान के हो जाने पर उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं," उसका इतना ही अभिप्राय है कि ज्ञान हो जाने के बाद कर्म की धारा रुक जाती है । फिर भविष्य में कर्म अनुष्ठित नहीं होते । उसका यह अर्थ नहीं है कि जो कर्म उत्पन्न हो गये हैं, तत्त्वज्ञान से उनका भी विनाश होता है । जैसा कि दूसरे आगम के द्वारा कहा गया है कि बिना भोग के कर्मों का नाश नहीं होता है, चाहे सौ करोड़ कल्प ही क्यों न बीत जाय । (प्र.) ज्ञान से यदि कर्मों का नाश नहीं होता है, तो फिर कई हजार वर्षों से सञ्चित कर्मों का नाश किससे होता है ? (उ.) भोग से और नाशक दूसरे कर्मों से ही (उन सञ्चित कर्मों का) नाश होता है । (प्र.) कर्मनाश के लिए विहित कर्मों से अनन्त जन्मों से सञ्चित कर्मों का एक ही जन्म में विनाश किस प्रकार होगा ? (उ.) ऐसी कोई बात नहीं है, कर्मक्षय के लिए काल का कोई नियम नहीं है । जिस

न्यायकन्दली

चोदितैरनन्तानां कथमेकस्मिन् जन्मनि परिक्षय इति चेत् ? न, कालानियमात् । यथैव तावत् प्रतिजन्म कर्माणि चीयन्ते, तथैव भोगात् क्षीयन्ते च । यानि त्वपरिक्षीणानि तान्यात्मज्ञेनापूर्वं सञ्चिन्वता च क्रमेणोपभोगात् कर्मभिश्च नाश्यन्ते । यथोक्तम्–

कुर्वन्नात्मस्वरूपज्ञो भोगात् कर्मपरिक्षयम् ।
युगकोटिसहस्रेण कश्चिदेको विमुच्यते ॥ इति ।

तदेवं विहितमकुर्वतः प्रत्यवायोत्पत्तेस्तस्य च बन्धहेतुत्वादन्यतो विरामाभावात्, प्रत्यवायनिरोधार्थं मुक्तिमिच्छता योगाभ्यासाविरोधेन भिक्षाभोजनादिवद् यथाकालं विहितान्यनुष्ठेयानि, यावदस्यात्मतत्त्वं न स्फुटीभवति । स्फुटीकृतात्मतत्त्वस्यापि जीवन्मुक्तस्य तावत्कर्माणि भवन्ति, यावद्यात्रानुवर्तते । आत्मैकप्रतिष्ठस्य त्वभ्यर्णमोक्षस्य परिक्षीणप्रायकर्मणस्तानि नश्यन्त्येव, बहिः संवित्तिविरहात् । परिणतसमाधिसामर्थ्यविशदीकृतमुपचितवैराग्याहितपरिपाकपर्यन्तमापादितविषयाद्वैतमुन्मूलितनिखिलविपर्ययवासनमेकाग्रीकृतान्तःकरणकारणमात्मतत्त्वज्ञानमेव केवलं तदानीं सञ्जायते, न बहिःसंवेदनम्,

प्रकार प्रत्येक जन्म में कर्म का सञ्चय होता है, उसी प्रकार भोग से उनका विनाश भी होता रहता है । उनमें जितने कर्म भोग से बच जाते हैं, उन कर्मों को आगे आत्मज्ञ पुरुष अपूर्व कर्मों का सञ्चय करते हुए ही भोग से और (प्रतिरोधक) कर्म से क्रमशः नष्ट कर देते हैं । जैसा कहा गया है कि–

आत्मज्ञान से भोग के द्वारा कर्मों का नाश करते हुये हजारों कोटियुगों में कोई एक पुरुष मुक्त होता है ।

इन सब कारणों से यह मानना पड़ता है कि यतः विहित कर्मों को न करने से प्रत्यवाय होता है एवं प्रत्यवाय बन्ध का कारण है, इस प्रत्यवाय की निवृत्ति विहित कर्मों के अनुष्ठान के बिना सम्भव नहीं है, अतः जिन्हें मुक्ति पाने की अभिलाषा हो, उन्हें योगाभ्यास को क्षति पहुँचाये बिना विहित कर्मों का अनुष्ठान तब तक करते रहना चाहिए, जब तक आत्मतत्त्व पूर्ण रूप से अवगत न हो जाय । जैसे कि ज्ञान न हो जाने तक भिक्षा, भोजन प्रभृति कर्मों का अनुष्ठान अन्त तक करना पड़ता है । आत्मा का परिस्फुट ज्ञान हो जाने पर भी यदि वे जीवन्मुक्त हैं, तो जब तक यह शरीर है, तब तक नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान उन्हें भी करना पड़ेगा । जिस महापुरुष को केवल आत्मा का ही ज्ञान रह जाता है और इस कारण जो परममुक्ति के समीप पहुँच जाते हैं, उनसे कर्म स्वयं छूट जाते हैं; क्योंकि उन्हें बाह्य विषयों का ज्ञान ही नहीं रह जाता । उन्हें तो केवल आत्मा का ही विशिष्ट ज्ञान रह जाता है । परिणत समाधि के द्वारा उत्पन्न होने के कारण जिस आत्मज्ञान में पूरी स्वच्छता आ गयी है, तीव्र वैराग्य से जिसमें पूरी परिपक्वता आ गयी है । एवं जिस आत्मज्ञान में दूसरे सभी विषयों का सम्बन्ध पूर्णतः समाप्त हो गया है । जिससे सभी विपर्ययरूप मिथ्या ज्ञान का

न्यायकन्दली

बाह्येन्द्रियव्यापारोपरमात् । तत्र कः सम्भवः कर्मणाम् ? तथा च श्रुतिः–"न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवतीत्यादि" । तदा चाकरणनिमित्तः प्रत्यवायोऽपि नास्ति सन्ध्येयमुपस्थितेत्यादिकमजानतो ब्राह्मणोऽस्मीति प्रतीतिरहितस्य कर्माधिकारपरिभ्रंशात् । यथोक्तम्–

ब्राह्मणत्वानहंमानी कथं कर्माणि संसृजेत् ॥ इति ।

न चास्योपरतसमस्तव्यापारस्य काष्ठवदवस्थितस्यापि प्राणिहिंसापि संम्भवति । यत् पुनरस्य दृष्टद्रष्टव्यस्य क्षीणक्षेतव्यस्य वशीकृतमनसो विषयावबोधस्मरणसङ्कल्पसुखदुःख-बहिष्कृतस्य ब्रह्मलग्नसमाधेरपि शरीरं कियन्तञ्चित् (कालमनुवर्तते) तच्छरीरस्थितिमात्र-हेतोरायुर्विपाकस्य कर्मग्रन्थेरनुच्छेदात् । यदा तु यावन्तं कालमायुर्विपाकेन कर्मणा शरीरं धारयितव्यं तावत्कालप्राप्तिरभूत्, तदा स्वकार्यकरणात् कर्मसमुच्छेदे तत्कार्यस्य शरीरस्य निवृत्तिः ।

विनाश हो गया है । जिस आत्मज्ञान की उत्पत्ति एकाग्र अन्तःकरण से होती है, ऐसे आत्मज्ञानवाले पुरुष को केवल आत्मा का ही ज्ञान उस समय होता है । बाह्य किसी विषय का भान उन्हें नहीं रह जाता; क्योंकि बाह्य विषयों के साथ उनकी इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं रह जाता है । ऐसी स्थिति में उनसे कर्म सम्पादन की कौन-सी आशा की जा सकती है ? इसी स्थिति को श्रुति ने 'न शृणोतीत्या-हुरेकीभवति' इत्यादि वाक्यों से कहा है । उस समय उनसे विहित कर्मों का अनुष्ठान न होने पर भी उन्हें प्रत्यवाय नहीं होता; क्योंकि जिन्हें कर्माधिकार का सूचक 'अभी सन्ध्या उपस्थित हो गयी, मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि ज्ञान नहीं है, उनका कर्म करने का अधिकार भी छूट जाता है । जैसा कहा गया है कि–

'मैं ब्राह्मण हूँ' जिनको इस प्रकार का अहङ्कार नहीं है, वे ब्राह्मणोचित कर्म के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकते हैं ?

इस प्रकार सभी कर्म छूट जाने के कारण जो काठ की तरह हो गये हैं, उनसे किसी भी प्राणी की हिंसा सम्भव नहीं है । जिन्होंने जानने योग्य सभी विषयों को जान लिया है, छोड़ने योग्य सभी विषयों को छोड़ दिया है । जिन्होंने मन को वशीभूत कर विषयों के अनुभव, स्मरण, संकल्प, सुख एवं दुःख सभी से छुटकारा पा लिया है, वे यदि ब्रह्म के ध्यान में समाधिस्थ भी हैं, तथापि उनकी शरीर की अनुवृत्ति जो थोड़े समय के लिए भी चलती है, उसका कारण वह कर्मग्रन्थिरूप विपाक है जो केवल शरीर स्थिति का ही कारण है । जितने समय के आयु तक उक्त कर्मविपाक से शरीर की स्थिति आवश्यक है, वह समय जब समाप्त हो जाता है, तब अपना कर्त्तव्य होने के कारण कर्म भी समाप्त हो जाता है । कर्म की समाप्ति से शरीर की समाप्ति और शरीर की समाप्ति से तत्त्वज्ञान की भी समाप्ति हो जाती है, जिससे आत्मा को कैवल्य प्राप्त होता है ।

न्यायकन्दली

तन्निवृत्तौ तत्कार्यस्य तत्त्वज्ञानस्यापि विनाशादात्मा कैवल्यमापद्यते । तत्रात्मतत्त्वज्ञानस्य विहितानां च कर्मणां बन्धहेतुकर्मप्रतिबन्धव्यापारादस्ति सम्भूयकारिता । शरीरादिविविक्तमात्मानं जानतश्च तदुपकारापकारावात्मन्यप्रतिसन्दधानस्याहङ्कारममकारयोरु- परमे सत्युपकारिण्यपकारिणि च रागद्वेषयोरभावादुदासीनस्याप्रवृत्तावनागतयोः कुशलेतरकर्मणोरसञ्चयात्, सञ्चितयोश्चोपभोगेन कर्मभिश्च परिक्षयाद् विहिताकरणनिमित्तस्य प्रत्यवायस्य च विहितानुष्ठानेनैव प्रतिबन्धात् । क्षीणे कर्मण्यैहिकस्य देहस्य निवृत्तौ कारणान्तराभावादामुष्मिकस्य देहस्य पुनरुत्पत्त्यभावे सत्यात्मनः स्वरूपेणावस्थानम् । यथोक्तम्–

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः ॥ इति ।

तथा परैरप्ययं गृहीतो मार्गः–

कर्मणा सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानेनात्मविनिश्चयः ।
भवेद् विमुक्तिरभ्यासात् तयोरेव समुच्चयात् ॥ इति ।

इस प्रकार आत्मतत्त्वज्ञान और विहित कर्मों का अनुष्ठान ये दोनों मिलकर (ज्ञानकर्मसमुच्चय) ही बन्ध के कारणीभूत कर्मों का प्रतिरोध करने की क्षमता रखते हैं । जिस पुरुष को 'शरीरादि से आत्मा भिन्न है' इस प्रकार का ज्ञान और शरीरादि में किये गये उपकार और अपकार को आत्मा का उपकार और अपकार न समझने की बुद्धि है, उस पुरुष के अहङ्कार और ममकार का विलोप हो जाता है । फिर उपकारी के प्रति राग और अपकारी के प्रति द्वेष ये दोनों भी स्वतः निवृत्त हो जाते हैं । जिससे आत्मा की प्रवृत्ति रुक जाती है और वह उदासीन हो जाता है । जिससे आगे पाप और पुण्य का प्रवाह रुक जाता है और पहले किये गये (सञ्चित) पाप-पुण्य का भोग और दूसरे कर्मों से विनाश हो जाता है । एवं विहित कर्मों के न करने से जो प्रत्यवाय होगा, उसका प्रतिरोध विहित कर्मों के अनुष्ठान से ही हो जाएगा । इस प्रकार सभी कर्मों का विनाश हो जाने पर इहलोक का शरीर तो नष्ट हो ही जायेगा और कारणों के न रहने पर पारलौकिक शरीर भी उत्पन्न नहीं होगा । ऐसी स्थिति में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगा । जैसा कहा गया है कि–

नित्य और नैमित्तिक कर्म के अनुष्ठान से सभी पापों को नष्ट करते हुए ज्ञान को स्वच्छ कर लेना चाहिए । इसके बाद अभ्यास के द्वारा उक्त स्वच्छ ज्ञान को परिपक्व कर लेना चाहिए । इस प्रकार अभ्यास से परिपक्व ज्ञान वाले पुरुष को ही कैवल्य प्राप्त होता है ।

अन्य सम्प्रदाय के लोगों ने भी इस मार्ग को अपनाया है, जैसा कि इस श्लोक से स्पष्ट है–

कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और ज्ञान से आत्मा का (साक्षात्कारात्मक) विनिश्चय होता है । इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों के ही अभ्यास से मुक्ति प्राप्त होती है ।

न्यायकन्दली

किं पुनरात्मनः स्वरूपं येनावस्थितिर्मुक्तिरुच्यते? आनन्दात्मतेति केचित् । तदयुक्तम् । विकल्पासहत्वात् । स किमानन्दो मुक्तावनुभूयते वा ? न वा ? यदि नानुभूयते ? स्थितोऽप्यस्थितान्न विशिष्यते, अनुपभोग्यत्वात् । अनभूयते चेत्? अनुभवस्य कारणं वाच्यम् । न च कायकरणादिविगमे तदुत्पत्तिकारणतां पश्यामः । अन्तःकरणसंयोगः कारणमिति चेत् ? न, धर्माधर्मोपगृहीतस्य हि मनसः सहायत्वात्, तदखिल-शुभाशुभबीजनाशोपगतं नात्मानुकूल्येन वर्त्तते । योगजधर्मानुग्रहादात्मानमनुकूलयति चेत्? योगजोऽपि धर्मः कृतकत्वादवश्यं विनाशीति तत्क्षये मनसः कोऽनुग्रहीता? अथ मतम्– अचेतनस्यात्मनो मुक्तस्यापि पाषाणादविशेषः, सोऽपि हि न सुखायते न दुःखायते । मुक्तोऽपि यदि तथैव, कोऽनयोर्विशेषः? तस्मादस्त्यात्मनः स्वाभाविकी चितिः, सा यदेन्द्रियैर्बहिराकृष्यते, तदा बहिर्मुखीभवति । यदा त्विन्द्रियाण्युपरतानि भवन्ति, तदा स्वात्मन्येवानन्दस्वभावे निमज्जति ।

आत्मा का वह कौन-सा स्वरूप है जिस स्वरूप से आत्मा की स्थिति मुक्ति कहलाती है? (इस प्रश्न का उत्तर) कुछ लोग इस प्रकार देते हैं कि वह स्थिति आत्मा की आनन्दस्वरूपता ही है; किन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस पक्ष के सम्भावित कोई भी विकल्प युक्त नहीं ठहरते । (पहला विकल्प यह है कि) मुक्तावस्था में इस आनन्द का अनुभव होता है? अथवा नहीं? यदि अनुभव नहीं होता है, तो फिर उस आनन्द का रहना और न रहना दोनों बराबर हैं; क्योंकि उस आनन्द का उपभोग नहीं किया जा सकता । यदि कहें कि उस आनन्द का अनु-भव होता है? तो फिर उस अनुभव का कारण कौन है– यह कहना पड़ेगा । शरीर एवं इन्द्रियादि के नष्ट हो जाने पर और किसी को उस अनुभव का कारण मानना सम्भव नहीं है । (प्र.) अन्तःकरण (मन) का संयोग उसका कारण होगा? (उ.) सो भी सम्भव नहीं है; क्योंकि धर्म और अधर्म से प्रेरित मन ही अनुभव का सहायक है । जिसके सभी धर्म और अधर्म नष्ट हो चुके हैं, उसके मन से आत्मा को दुःख का अनुभव नहीं हो सकता । (प्र.) योगज धर्म के साहाय्य से वह मन आत्मा के अनुकूल होता है (अर्थात् आत्मा के सुखानुभव का उत्पादन करता है) । (उ.) किन्तु योगज धर्म भी तो उत्पत्तिशील ही है, अतः उसका भी अवश्य नाश होगा, फिर उसके नष्ट हो जाने पर मन का सहायक कौन होगा? यदि यह कहें कि (प्र.) मुक्त भी हो यदि उसमें चैतन्य न रहे, तो फिर पत्थर के समान ही होगा; क्योंकि पत्थर में भी सुख-दुःख की चेतनायें नहीं होतीं । यदि मुक्त पुरुष को भी सुख और दुःख की चेतनाओं से रहित मान लिया जाय, तो पत्थर और मुक्त आत्मा में क्या अन्तर रहेगा? अतः यह मानना पड़ेगा कि आत्मा में एक स्वाभाविक चैतन्य होता है । वह चैतन्य जब इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों की तरफ खींचा जाता है, तब वह चैतन्य बहिर्मुख होता है (अर्थात् बाह्यविषयक ज्ञान में परिणत होता है) । जब इन्द्रियाँ

न्यायकन्दली

अयं हि चितेरात्मा यदि यं कञ्चिदवभासयति, यदि पुनरियं मुक्तावस्थायामुदास्ते, तर्हि स्थितोऽप्यस्थित एव । वरमात्मा जड एव कल्प्यतामिति चेत्? अत्रोच्यते—किं चितेरानन्दात्मता स्वाभाविकी? कारणान्तरजन्या वा? न तावदवभासकारणं मुक्तावस्ति, कायकरणादीनां तत्कारणानां विलयादित्युक्तम् । स्वाभाविकी चेत्? संसारावस्थायामप्यानन्दोऽनुभूयेत, चितिचैत्ययोरुभयोरपि सम्भवात् । अविद्याप्रतिबन्धादननुभव इति चेत्? न, नित्यायाश्चितेरानन्दानुभवस्वभावायाः स्वरूपस्याप्रच्युतेः कः प्रतिबन्धार्थः? प्रच्युतौ वा स्वरूपस्य का नित्यता? तस्मान्नित्य आनन्दो नित्यया चित्या चेत्यमानो द्वयोरप्यवस्थयोरविशेषेण चेत्यते । न चैवमस्ति संसारावस्थायामुत्पन्नापवर्गिणो विषयेन्द्रियाधीनज्ञानस्य सुखस्यानुभवात् । अतो नास्त्यात्मनो नित्यं

अपने व्यापार से निवृत्त हो जाती हैं, उस समय वह (चैतन्य) अपने आनन्द स्वभाव में ही निमग्न रहता है । चित्स्वरूप इस आत्मा का यह स्वभाव है कि किसी को भासित करे । यदि मुक्तावस्था में वह इस काम से उदासीन हो जाता है, तो फिर उस समय चैतन्य का उसमें रहना और न रहना बराबर है । इससे अच्छा है कि आत्मा को जड़ ही मान लिया जाय । इस प्रसङ्ग में हम लोगों (सिद्धान्तियों) का कहना है कि आत्मा में जो आनन्द की अभिन्नता है वह स्वाभाविक है? या किसी दूसरे कारण से उत्पन्न होती है? (यदि कारणान्तरजन्य मानें तो) मुक्तावस्था में वे कारण नहीं हैं; क्योंकि कह चुके हैं कि अवभास के कारण शरीर इन्द्रियादि का उस समय विलय हो जाता है । यदि उसको स्वाभाविक मानें तो फिर संसारावस्था में भी उसका अवभास होना चाहिए; क्योंकि उस समय भी अवभास्य और अवभासक दोनों विद्यमान हैं । (प्र.) संसारावस्था में अविद्यारूप प्रतिबन्धक के कारण उस आनन्द का भान नहीं होता है । (उ.) यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि चिति नित्य है एवं आनन्द उसका स्वरूप है, अतः चिति अपने उस आनन्द स्वरूप से विच्युत हो ही नहीं सकती । फिर उक्त प्रतिबन्ध के लिए कोई अवसर ही नहीं रह जाता । यदि चिति कभी (संसारावस्था में) अपनी आनन्दस्वरूपता से प्रच्युत हो सकती है, तो फिर वह नित्य ही नहीं रह जाएगी । तस्मात् यही कहना पड़ेगा कि आनन्द भी नित्य है एवं नित्य चिति के द्वारा ही उसका अनुभव होता है । यदि ऐसी बात है, तो फिर संसार और अपवर्ग दोनों ही अवस्थाओं में समान रूप से नित्य आनन्द का अनुभव होना चाहिए; किन्तु सो नहीं होता; क्योंकि संसारावस्था में जब तक अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती, तब तक विषय एवं इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान और सुख का ही अनुभव होता है । तस्मात् आत्मा का नित्य सुख नाम का कोई गुण ही अनुभव में नहीं आता । अतः आत्मा का नित्य सुख नाम का कोई गुण नहीं है । सुतरां नित्य सुख के अनुभव की अवस्था मुक्ति नहीं है । आत्मा के सभी विशेष

प्रशस्तपादभाष्यम्

शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः, क्षणिकः, कार्यकारणोभय-विरोधी, संयोगविभागशब्दजः, प्रदेशवृत्तिः, समानासमानजातीय-

आकाश का गुण ही शब्द है । उसका प्रत्यक्ष श्रोत्र से होता है । वह क्षणिक है एवं उसके कार्य और उसके कारण दोनों ही उसके विनाशक हैं ।

न्यायकन्दली

सुखं तदभावान्न तदनुभवो मोक्षावस्था; किन्तु समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव । यथा चायं पुरुषार्थस्तथोपपादितम् ।

शब्दोऽम्बरगुणः **आकाशगुणः । ननु संख्यादयोऽप्याकाशगुणाः सन्ति, कथमिदं शब्दस्य लक्षणं स्यादत आह**–श्रोत्रग्राह्य इति । **श्रोत्रग्राह्यत्वे सत्यम्बरगुणो यः स शब्द इत्यर्थः । परस्य विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह**–क्षणिक इति । **आशुतरविनाशी शब्दो न तु नित्यः, उच्चारणादूर्ध्वमनुपलम्भात् । सद्भावे प्रमाणाभावेन व्यञ्जकत्यकल्पनानव-काशात् । प्रत्यभिज्ञानस्य ज्वालादिवत् सामान्यविषयत्वेनोपपत्तेस्तीव्रमन्दतादिभेदस्य च व्यक्तिभेदप्रसाधकत्वात्** । कार्यकारणोभयविरोधी **आद्यः शब्दः स्वकार्येण विरुध्यते । अन्त्यः स्वकारणेनोपान्त्यशब्देन विरुध्यते, अन्त्यस्य विनाशकारणस्याभावात् । मध्य-**

गुणों के आत्यन्तिक विनाश से युक्त आत्मा की स्वरूपस्थिति ही 'मोक्ष' है । यह अवस्था पुरुष के लिए काम्य क्यों है? इसका उपपादन (मङ्गलश्लोक की व्याख्या में) कर चुके हैं ।

'शब्दोऽम्बरगुणः' अर्थात् आकाश का गुण ही शब्द है । संख्यादि भी तो आकाश के गुण हैं, फिर आकाश का गुण होना शब्द का लक्षण कैसे हो सकता हैं? इसी आक्षेप के समाधान के लिए 'श्रोत्रग्राह्य' पद का उपादान किया गया है । अर्थात् जो श्रोत्र के द्वारा ग्रहण के योग्य हो और आकाश का गुण भी हो, वही 'शब्द' है । शब्द में नित्यत्व पक्ष के निराकरण के लिए ही 'क्षणिकः' यह पद प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् उत्पत्ति के बाद शब्द अतिशीघ्र विनष्ट हो जाता है, अतः वह नित्य नहीं है; क्योंकि उच्चारण के बाद फिर उसकी उपलब्धि नहीं होती है । (प्र.) उच्चारण के बाद शब्द की अभिव्यक्ति का कोई साधन नहीं रहता, अतः शब्द की उपलब्धि नहीं होती; किन्तु उस समय भी शब्द है ही । (उ.) उच्चारण के बाद शब्द की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, अतः शब्द के व्यञ्जक की कल्पना करने का कोई अवकाश नहीं है । 'सोऽयं गकारः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा को सादृश्यमूलक मान लेने से भी काम चल सकता है । एवं शब्दों में एक-दूसरे में तीव्र और मन्द का व्यवहार होता है (वह भी नित्यत्व पक्ष में उपपन्न नहीं होता) । इससे अनेक शब्दों की कल्पना आवश्यक होती है । 'कार्यकारणो-भयविरोधी' अर्थात् प्रथम शब्द अपने द्वारा उत्पन्न द्वितीय शब्द से विनष्ट होता है,

प्रशस्तपादभाष्यम्

कारणः । स द्विविधो वर्णलक्षणो ध्वनिलक्षणश्च । तत्र अकारादिर्वर्णलक्षणः, शङ्खादिनिमित्तो ध्वनिलक्षणश्च । तत्र वर्ण-

संयोग, विभाग और शब्द (इन तीनों में से किसी) से उसकी उत्पत्ति होती है । वह अपने आश्रयद्रव्य के किसी एकदेश में ही रहता है । वह अपने समानजातीय (शब्द) और विजातीय (संयोग और विभाग इन दोनों) से उत्पन्न होता है। यह १. वर्ण और २. ध्वनि भेद से दो प्रकार का है। उनमें अकारादि शब्द वर्णरूप हैं और शङ्खादि से उत्पन्न शब्द ध्वनिरूप हैं ।

न्यायकन्दली

वर्तिनस्तूभयथा विरुध्यन्ते । संयोगविभागशब्दजः । **आद्यः शब्दः संयोगाद् विभागाच्च जायते, तत्पूर्वकस्तु शब्दादिति विवेकः ।**

प्रदेशवृत्तिः **अव्याप्यवृत्तिरित्यर्थः । एतच्चोपपादितम्** । समानासमानजातीयेति । **शब्दजः शब्दः समानजातीयकारणः । संयोगजविभागजश्च असमानजातीयकारणः** । स द्विविधो वर्णलक्षणः, ध्वनिलक्षणश्च । **अकारादिर्वर्णलक्षणः, शङ्खादिनिमित्तो ध्वनिलक्षणः** । तत्र **तयोर्मध्ये,** वर्णलक्षणस्योत्पत्तिरुच्यते । आत्ममनसोः संयोगात् **पूर्वानुभूतवर्ण**स्मृत्यपेक्षात् **तत्सदृशवर्णोच्चारणे कर्तव्ये इच्छा भवति । ततः** प्रयत्नस्तं **प्रयत्नं निमित्तकारणमपेक्षमाणा**दात्मवायुसंयोगा**दसमवायिकारणात् कौष्ठ्य**वायौ कर्म जायते । **स च वायु**रूर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति **हृत्कण्ठताल्वादीन् प्रदेशानभिहन्ति । ततोऽ-**

एवं अन्तिम शब्द अपने कारणीभूत अपने से अव्यवहितपूर्व के शब्द से विनष्ट होता है; क्योंकि अन्तिम शब्द के विनाश का कोई और कारण नहीं हो सकता । बीच के जो शब्द हैं, कार्यशब्द और कारणीभूत शब्द दोनों ही उनके विरोधी हैं । 'संयोगविभागशब्दजः' अर्थात् प्रथम शब्द (कभी संयोग से और कभी) विभाग से उत्पन्न होता है, अतः उनके दोनों ही कारण हैं । मध्य के सभी शब्द शब्द से ही जन्म लेते हैं । 'प्रदेशवृत्तिः' अर्थात् शब्द अव्याप्यवृत्ति है (अपने आश्रय के सभी देशों में नहीं रहता) । 'शब्द किस प्रकार अव्याप्यवृत्ति है' इसका उपपादन (शब्द के साधर्म्यप्रकरण में) कर चुके हैं । 'समानासमानजातीयेति' शब्द से जिस शब्द की उत्पत्ति होती है, वह समानजातीयकारणक है । संयोग और विभाग से जिन शब्दों की उत्पत्ति होती है, उनके कारण शब्द के असमानजातीय हैं ।

'स द्विविधो वर्णलक्षणो ध्वनिलक्षणश्च' अकारादि वर्णलक्षण शब्द हैं एवं शङ्ख प्रभृति से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, वे ध्वनिलक्षण शब्द हैं । 'तत्र' अर्थात् उन दोनों प्रकार के शब्दों में वर्णलक्षण शब्द की उत्पत्ति (की रीति) कहते हैं । अनुभूत वर्ण की स्मृति के साहाय्य से आत्मा और मन के संयोग के द्वारा सर्वप्रथम उस वर्ण के

प्रशस्तपादभाष्यम्

लक्षणस्योत्पत्तिरात्ममनसोः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद् वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद् वायौ कर्म जायते।

वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि स्मृतिसहकृत आत्मा और मन के संयोग के द्वारा वर्ण के उच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है। इसके बाद तदनुकूल प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। इस प्रयत्न के द्वारा आत्मा एवं वायु के संयोग से वायु में क्रिया उत्पन्न होती है।

न्यायकन्दली

भिघातानन्तरं स्थानस्य कण्ठादेः कौष्ठ्यवायुना सह यः संयोगस्तन्निमित्तकारणभूतमपेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् **समवायिकारणाद्** वर्णोत्पत्तिः।

अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसंयोगाद् दण्डगतं वेगमपेक्षमाणाद् भेर्याकाशसंयोगादुपजायते। भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणम्, भेरीदण्डसंयोगो दण्डगतश्च वेगो निमित्तकारणम्। वेणुपर्वविभागाद् वेण्वाकाशविभागाच्च **शब्दो जायते। शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिं कथयति—**शब्दात् संयोगविभागनिष्पन्नाद् वीचीसंतानवच्छब्दसन्तानः, **यथा जलवीच्या तदव्यवहिते देशे वीच्यन्तरमुपजायते, ततोऽप्यन्यत्, ततोऽप्यन्यदित्यनेन क्रमेण वीचीसन्तानो भवति, तथा शब्दादुत्पन्नात् तदव्यवहिते देशे**

समान वर्ण के उच्चारण की इच्छा होती है। इसके बाद 'प्रयत्न' अर्थात् समान वर्ण के उच्चारण के अनुकूल प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। उस प्रयत्नरूप निमित्तकारण के साहाय्य से आत्मा और वायु के संयोगरूप असमवायिकारण के द्वारा पुरुष के कोष्ठगत वायु में क्रिया उत्पन्न होती है। वह सक्रिय वायु ऊपर की तरफ आते हुए कण्ठादि स्थानों में आघात उत्पन्न करता है, अर्थात् हृदय, कण्ठ, तालु प्रभृति वर्णों के जो उच्चारणस्थान हैं, वहाँ आघात करता है। इस अभिघात के बाद कौष्ठ्य वायु के साथ कण्ठादि स्थानों का जो संयोग होता है, उस संयोग रूप निमित्तकारण के साहाय्य से कण्ठादि स्थान और आकाश इन दोनों के संयोगरूप असमवायिकारण के द्वारा वर्णरूप शब्द की उत्पत्ति होती है।

अवर्णरूप शब्द (ध्वनि) भी दण्ड में उत्पन्न वेग के साहाय्य से भेरी और आकाश के संयोग के द्वारा उत्पन्न होता है। (अर्थात् इस ध्वनिरूप शब्द के प्रति) भेरी और आकाश का संयोग असमवायिकारण है एवं भेरी और दण्ड का संयोग और दण्ड में रहनेवाला वेग, ये दोनों निमित्तकारण हैं। बाँस और उसके गाँठ इन दोनों के विभाग एवं बाँस और आकाश के विभाग, इन दोनों से भी शब्द की उत्पत्ति होती है।

"शब्दात् संयोगविभागनिष्पन्नाद्वीचीसन्तानवच्छब्दसन्तानः' इस सन्दर्भ से शब्दजनित शब्द का निरूपण करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार जल के एक तरङ्ग से उसके अतिनिकट के जल प्रदेश में दूसरा तरङ्ग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार (संयोग और

प्रशस्तपादभाष्यम्

स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगाद् वर्णोत्पत्तिः ।

अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसंयोगापेक्षाद् भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते । वेणुपर्वविभागाद् वेण्वाकाशविभागाच्च शब्दाच्च संयोगविभागनिष्पन्नाद् वीचीसन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य

यह सक्रिय वायु ऊपर की तरफ जाते समय कण्ठ में अभिघात को उत्पन्न करता है । इसके बाद (कण्ठादि) स्थान और वायु का संयोग एवं (कण्ठादि) स्थान और आकाश के संयोग इन दोनों संयोगों से वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है ।

भेरी (प्रभृति) और दण्ड (प्रभृति) का संयोग एवं भेरी (प्रभृति) और आकाश का संयोग, इन दोनों संयोगों से अवर्ण (ध्वनि) रूप शब्द की उत्पत्ति होती है । बाँस और उसकी सन्धि (गाँठ) के विभाग एवं बाँस और आकाश का विभाग इन दोनों विभागों से शब्द की उत्पत्ति होती है । संयोग और विभाग से निष्पन्न जलतरङ्गों के समूह की तरह शब्द से भी शब्द के तरङ्गों के समूहों की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार शब्द के

न्यायकन्दली

शब्दान्तरम्, ततोऽप्यनयोर्गमनागमनाभावात् प्राप्तस्यैवोपलब्धिरिति, ततोऽप्यन्यत्, ततोऽप्यन्यदित्यनेन क्रमेण शब्दसन्तानो भवति । एवं सन्तानेन श्रोत्रदेशे समागतस्यान्त्यशब्दस्य ग्रहणम् ।

नन्वेषा कल्पना कुतः सिद्ध्यतीत्यत आह– श्रोत्रशब्दयोरिति । **न श्रोत्रं शब्ददेशमुपगच्छति, नापि शब्दः श्रोत्रदेशम्, तयोर्निष्क्रियत्वात् । अप्राप्तस्य ग्रहणं नास्ति, इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वात् । प्रकारान्तरेण चोपलब्धिर्न घटते । दृष्टा च वीचीसन्ताने स्वोत्पत्तिदेशे विनश्यतामपि स्वप्रत्यासत्तिमपेक्ष्य तदव्यवहिते देशे सदृशकार्यारम्भपरम्परया देशान्तरप्राप्तिः, तेन शब्दसन्तानः कल्प्यते । न चानवस्था, यावद्दूरं निमित्तकारणभूतः कौष्ठ्यवायुरनुवर्त्तते, तावद्दूरं शब्दसन्तानानुवृत्तिः । अत एव प्रतिवातं शब्दानुपलम्भः, कौष्ठ्य-**

विभाग से उत्पन्न) शब्द के द्वारा उसके अतिसमीप के आकाश प्रदेश में दूसरे तत्सदृश शब्द की उत्पत्ति होती है । (यह इसलिए मानना पड़ता है कि) श्रोत्र और शब्द दोनों ही (यतः द्रव्य नहीं हैं अतः) अन्यत्र नहीं जा सकते एवं जब तक इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक विषय का ग्रहण सम्भव नहीं है । अतः दूसरे शब्द से तीसरे शब्द की उत्पत्ति, तीसरे शब्द से चौथे शब्द की उत्पत्ति, इस प्रकार शब्दसन्तान (समूह) की उत्पत्ति होती है । इस सन्तान का अन्तिम शब्द श्रोत्र प्रदेश में जब उत्पन्न होता है, तब उस सन्तान के उसी अन्तिम शब्द का ग्रहण होता है । इस प्रकार के शब्दसन्तान की कल्पना क्यों आवश्यक होती है ? इसी प्रश्न का समाधान 'श्रोत्रशब्दयोः'

प्रशस्तपादभाष्यम्

ग्रहणम् । श्रोत्रशब्दयोर्गमनागमनाभावादप्राप्तस्य ग्रहणं नास्ति, परिशेषात् सन्तानसिद्धिरिति ।

॥ इति प्रशस्तपादभाष्ये गुणपदार्थः समाप्तः ॥

(उक्त समूहों के द्वारा) श्रोत्रप्रदेश में पहुँचने के बाद श्रोत्र के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है । यतः श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द इन दोनों में से कोई भी गतिशील नहीं है और श्रोत्र से असम्बद्ध शब्द का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, अतः परिशेषानुमान से (शब्दजनित) शब्दसन्तान (समूह) की सिद्धि होती है ।

॥ प्रशस्तपादभाष्य में गुणों का निरूपण समाप्त हुआ ॥

न्यायकन्दली

वायुप्रतिघातात् । अतीवायं मार्गस्तार्किकैः क्षुण्णस्तेनास्माभिरिह भाष्यतात्पर्यमात्रं व्याख्यातम्, नापरा युक्तिरुक्ता ।

गुणोपबद्धसिद्धान्तो युक्तिशुक्तिप्रभावितः ।
मुक्ताहार इव स्वच्छो हृदि विन्यस्यतामयम् ॥

॥ इति भट्टश्रीश्रीधरकृतायां पदार्थप्रवेशन्यायकन्दलीटीकायां गुणपदार्थः समाप्तः ॥

इत्यादि से किया गया है । अर्थात् न शब्द ही श्रोत्र प्रदेश में जा सकता है और न श्रोत्र ही शब्द प्रदेश में आ सकता है; क्योंकि दोनों ही क्रिया से सर्वथा रहित हैं । यतः इन्द्रियाँ विषय के साथ सम्बद्ध होकर ही विषय को ग्रहण करती हैं (यही इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व है) । अतः शब्दसन्तान की कल्पना के बिना शब्द की उपलब्धि उपपन्न नहीं हो सकती । जल के तरङ्ग अपनी उत्पत्ति के प्रदेश में विनाश-प्राप्त होने पर भी उससे अव्यवहित उत्तर प्रदेश में अपने सदृश ही दूसरे तरङ्ग व्यक्ति को उत्पन्न करते हुए देखे जाते हैं । इसी दृष्टान्त के बल से शब्दसन्तान की कल्पना करते हैं । इसमें अनवस्था दोष भी नहीं है; क्योंकि शब्द के निमित्तकारण कोष्ठ सम्बन्धी वायु की अनुवृत्ति जितनी दूर तक रहेगी, उतनी ही दूर तक शब्दसन्तान की अनुवृत्ति की कल्पना करेंगे । यही कारण है कि प्रतिकूल वायु के रहने पर शब्द की उपलब्धि नहीं होती है; क्योंकि कोष्ठ सम्बन्धी वायु उससे प्रतिहत हो जाता है । इस मार्ग को तार्किकों ने अनेक प्रकार से रौंद डाला है, अतः हम लोगों ने भाष्य का तात्पर्य मात्र ही लिखा, कोई दूसरी युक्ति नहीं दिखलायी ।

मोती के माला की तरह (गुणनिरूपण रूप) यह स्वच्छ हार विद्वान् लोग हृदय में धारण करें । यह हार युक्तिस्वरूप शुक्तिका में उत्पन्न मोतियों से बना है एवं सिद्धान्त सिद्धगुण (डोरी) में गुँथा हुआ है ।

॥ भट्ट श्री श्रीधर के द्वारा रची गयी एवं पदार्थों को समझानेवाली न्यायकन्दली टीका का गुणपदार्थों का विवेचन समाप्त हुआ ॥

●

अथ कर्मपदार्थनिरूपणम्

प्रशस्तपादभाष्यम्

उत्क्षेपणादीनां पञ्चानामपि कर्मत्वसम्बन्धः । एकद्रव्यवत्त्वं क्षणिकत्वं मूर्तद्रव्यवृत्तित्वमगुणवत्त्वं गुरुत्व-द्रवत्वप्रयत्नसंयोगवत्त्वं स्वकार्यसंयोगविरोधित्वं संयोगविभागनिरपेक्ष-

१. कर्मत्व जाति के साथ सम्बन्ध, २. एक समय एक ही द्रव्य में रहना, ३. क्षणिकत्व, ४. मूर्त द्रव्यों में ही रहना, ५. गुणरहितत्व, ६. गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न और संयोग इन चार गुणों से उत्पन्न होना, ७. अपने द्वारा उत्पन्न संयोग से नष्ट होना, ८. किसी और के साहाय्य के बिना संयोग और विभाग को उत्पन्न करना, ९. असमवायिकारणत्व, १०. अपने आश्रयरूप द्रव्य एवं उससे भिन्न द्रव्य इन दोनों में

न्यायकन्दली

जगदङ्कुरबीजाय संसारार्णवसेतवे ।
नमो ज्ञानामृतस्यन्दिचन्द्रायार्धेन्दुमौलये ॥

उत्क्षेपणादीनां च परस्परं साधर्म्यमितरपदार्थवैधर्म्यं च प्रतिपादयन्नाह— उत्क्षेपणादीनामिति । कर्मत्वं **नाम सामान्यम्, तेन सह सम्बन्ध उत्क्षेपणादीनामेव ।** एकद्रव्यवत्त्वम् **एकदा एकस्मिन् द्रव्ये एकमेव कर्म वर्तते, एकं कर्म एकत्रैव द्रव्ये वर्त्तत इत्येकद्रव्यवत्त्वम् । यद्येकस्मिन् द्रव्ये युगपद् विरुद्धोभयकर्म-समवायः स्यात्, तदा तयोः परस्परप्रतिबन्धाद् दिग्विशेषसंयोगविभागानुत्पत्तौ संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति लक्षणहानिः स्यात् । अथाविरुद्धकर्मद्वयसमा-**

उन अर्द्धचन्द्रशेखर शिव जी को मैं नमस्कार करता हूँ, जो जगत् रूप अङ्कुर के बीज, संसार समुद्र से पार उतरने के सेतु एवं ऐसे चन्द्रमा के स्वरूप हैं जिनसे ज्ञानरूप अमृत अनवरत स्रवित होता रहता है ।

उत्क्षेपणादि कर्मों के परस्पर साधर्म्य और द्रव्यादि पदार्थों के वैधर्म्य का प्रतिपादन करते हुए 'उत्क्षेपणादीनाम्' यह वाक्य लिखा गया है । अर्थात् कर्मत्व नाम की जो जाति है, उसके साथ उत्क्षेपणादि सभी कर्मों का सम्बन्ध है । 'एकद्रव्यवत्त्व' शब्द से यह अभिप्रेत है कि एक समय तक द्रव्य में एक ही क्रिया रहती है एवं एक क्रिया एक ही द्रव्य में रहती है (इसलिए एकद्रव्यवत्त्व सभी कर्मों का साधर्म्य है) एक ही समय यदि विरुद्ध दो कर्मों की सत्ता एक द्रव्य में मानें, तो 'संयोग और विभाग का इतर निरपेक्ष कारण ही कर्म है' कर्म का यह लक्षण न हो सकेगा; क्योंकि (दो क्रियाओं के परस्पर प्रतिरोध के कारण) किसी विशेष दिशा के साथ उस क्रियाश्रय द्रव्य का संयोग नहीं हो सकता । यदि (विरुद्ध दो क्रियायें न मानकर) अविरुद्ध दो क्रियाओं की सत्ता एक ही समय एक द्रव्य में मानें, तो उनमें से एक ही क्रिया से अभिमत देश के साथ क्रियाश्रय द्रव्य का संयोग या विभाग उत्पन्न हो ही जाएगा,

प्रशस्तपादभाष्यम्

कारणत्वमसमवायिकारणत्वं स्वपराश्रयसमवेतकार्यारम्भकत्वं समानजातीयानारम्भकत्वं द्रव्यानारम्भकत्वं च प्रतिनियतजातियोगित्वम् । दिग्विशिष्टकार्यारम्भकत्वं च विशेषः ।

समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले (संयोग और विभाग) वस्तुओं को उत्पन्न करना, ११.अपने समानजातीय वस्तु को उत्पन्न न करना, १२. (प्रत्येक क्रिया में) नियमित उत्क्षेपणत्वादि जातियों का सम्बन्ध एवं १३. दिग्विशिष्ट कार्य का कर्त्तृत्व ये तेरह उत्क्षेपणादि पाँचों कर्मों के असाधारण धर्म हैं ।

न्यायकन्दली

वेशः, तदैकस्मादेव तद्देशद्रव्यसंयोगविभागयोरुपपत्तेः द्वितीयकल्पनावैयर्थ्यम् । एवमेकं कर्म नानेकत्र वर्त्तते, एकस्य चलने तस्मात् कर्मणोऽन्यस्य चलनानुपलम्भात् । क्षणिकत्वमाशुतरविनाशित्वम् । मूर्तद्रव्यवृत्तित्वम् **अवच्छिन्नपरिमाणद्रव्यवृत्तित्वम् ।** अगुणवत्त्वं **गुणवत्त्वरहितत्वम् ।** गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नसंयोगजत्वम् । स्वकार्येति । **स्वकार्येण संयोगेन विनाश्यत्वं न विभागविनाश्यत्वम्, उत्तरसंयोगाभावप्रसङ्गात् ।**

संयोगविभागेति । **यथा वेगारम्भे नोदनाभिघातविशेषापेक्षत्वं नैवं संयोगविभागारम्भे नोदनाद्यपेक्षत्वमित्यर्थः ।** असमवायिकारणत्वम्, **यथा गुणानां निमित्तकारणत्वमपि नैवं कर्मणाम्, किन्त्वसमवायिकारणत्वमेवेत्यर्थः ।** स्वपराश्रयेति । **स्वाश्रये पराश्रये च व्यासज्य समवेतं यत् कार्यं संयोगविभागलक्षणं**

दूसरी क्रिया की कल्पना व्यर्थ होगी । एक ही कर्म अनेक आश्रयों में भी नहीं रहता है; क्योंकि जिस क्रिया से आश्रयीभूत एक द्रव्य का चालन होता है, उसी क्रिया से दूसरे द्रव्य का चालन कहीं नहीं देखा जाता । उत्पत्ति के बाद अतिशीघ्र विनष्ट होना ही 'क्षणिकत्व' है । किसी अल्पपरिमाणवाले द्रव्य में रहना ही 'मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्व' है । गुणवत्त्व का अभाव (फलतः गुणों का न रहना ही) 'अगुणवत्त्व' है । यह गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न और संयोग इनमें से किसी से उत्पन्न होता है । 'स्वकार्येति' यह संयोगरूप अपने कार्य से ही विनष्ट होता है, विभागरूप अपने कार्य से नहीं । यदि ऐसा मानेंगे तो क्रियाश्रय द्रव्य का उत्तरदेश के साथ संयोग न हो सकेगा । 'संयोगविभागेति' अर्थात् क्रिया को वेग के उत्पादन में जिस प्रकार विशेष प्रकार के नोदनसंयोग या अभिघातसंयोग की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार संयोग और विभाग के उत्पादन में उसे नोदनादि किसी और वस्तु की अपेक्षा नहीं होती है । 'असमवायिकारणत्वम्' अर्थात् गुण असमवायिकारण होने के साथ-साथ निमित्तकारण भी हो सकता है, क्रिया में यह बात नहीं है, वह केवल असमवायिकारण ही होती है । 'स्वपराश्रयेति' क्रिया अपने आश्रयीभूत द्रव्य और उससे भिन्न द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले एक ही

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्रोत्क्षेपणं शरीरावयवेषु तत्सम्बद्धेषु च यदूर्ध्वभाग्भिः प्रदेशैः संयोग-कारणमधोभाग्भिश्च प्रदेशैर्विभागकारणं कर्मोत्पद्यते गुरुत्वप्रयत्नसंयोगेभ्यस्त-दुत्क्षेपणम् ।

इनमें उत्क्षेपण (कहते हैं, जो कर्म) शरीर के अवयव एवं उनसे संयुक्त और द्रव्यों का ऊपर के देश के साथ संयोग का कारण हो एवं नीचे के प्रदेशों के साथ उन्हीं के विभाग का भी कारण हो एवं गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग से उत्पन्न हो, उसी कर्म को 'उत्क्षेपण' कहते हैं ।

न्यायकन्दली

तदारम्भकत्वम् । समानेति । **कर्मणः कर्मान्तरारम्भे गच्छतो गतिविनाशो न स्यात् । इच्छाप्रयत्नादिविरामादन्ते गतिविराम इति चेत् ? तर्हीच्छाप्रयत्नादिकमेवोत्तरोत्तरकर्मणामपि कारणम्, न तु कर्म । विवादाध्यासितं कर्म कर्मकारणं न भवति, कर्मत्वाद् अन्त्यकर्म-वत् । अथवा विवादाध्यासितं कर्म कर्मसाध्यं न भवति, कर्मत्वादाद्यकर्मवत्** । द्रव्येति । **उत्तरसंयोगान्निवृत्ते कर्मणि द्रव्यस्योत्पादनम्** । प्रतिनियतेति । **उत्क्षेपणादिषु प्रत्येक-मुत्क्षेपणत्वादियोग इत्यर्थः । एतत् सर्वमपि पञ्चानां साधर्म्यम् ।**

दिग्विशिष्टकार्यकर्तृत्वमेव कथयति—तत्रेति ।

कार्य अर्थात् व्यासज्यवृत्ति संयोग और विभागरूप कार्य का कारण है । 'समानेति' अर्थात् क्रिया यदि दूसरी क्रिया को उत्पन्न करे, तो फिर एक बार जो चल पड़ेगा वह बराबर चलता ही जाएगा, उसकी क्रिया कभी रुकेगी ही नहीं; क्योंकि उसकी गति का कभी विनाश नहीं होगा । (प्र.) चलने की इच्छा या तदनुकूल प्रयत्न इन सबों के विराम से गति का विराम होगा ? (उ.) तो फिर वह इच्छा या प्रयत्न ही उस दूसरी क्रिया का भी कारण होगा, कर्म नहीं । तदनुकूल यह अनुमान भी है कि जैसे अन्तिम क्रिया किसी भी क्रिया का कारण नहीं होती है, उसी प्रकार कोई भी क्रिया केवल क्रिया होने के नाते ही दूसरी क्रिया को उत्पन्न नहीं करती । अथवा यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जैसे क्रिया से पहले क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही कोई क्रिया केवल क्रिया होने से ही किसी क्रिया को उत्पन्न नहीं कर सकती है । 'द्रव्येति' उत्तरदेश के साथ संयोग के उत्पन्न होने पर जब क्रिया का नाश हो जाता है, तभी द्रव्य की उत्पत्ति होती है । 'प्रतिनियतेति' उत्क्षेपणादि प्रत्येक क्रिया में उत्क्षेपणत्वादि जाति का सम्बन्ध (भी) कर्म का साधर्म्य है । ये सभी पाँचों कर्मों के साधर्म्य हैं ।

'दिग्विशिष्टेति' । 'तत्रोत्क्षेपणम्' इत्यादि से दिग्विशिष्ट कार्यों के कर्त्तव्य का विवरण देते

प्रशस्तपादभाष्यम्

तद्विपरीतसंयोगविभागकारणं कर्मापक्षेपणम् ।

ऋजुनो द्रव्यस्याग्रावयवानां तद्देशैर्विभागः संयोगश्च, मूलप्रदेशैर्येन कर्मणावयवी कुटिलः सञ्जायते तदाकुञ्चनम् ।

तद्विपर्ययेण संयोगविभागोत्पत्तौ येन कर्मणावयवी ऋजुः सम्पद्यते तत् प्रसारणम् ।

यदनियतदिक्प्रदेशसंयोगविभागकारणं तद् गमनमिति ।

संयोग और विभाग के (अन्यानपेक्ष) कारणीभूत (एवं उत्क्षेपण के) विपरीत क्रिया को ही 'अपक्षेपण' कहते हैं ।

कोमल द्रव्य के आगे के अवयवों का उनके आश्रय प्रदेश के साथ विभाग और मूल प्रदेशों के साथ संयोग जिस क्रिया से हो (अर्थात्) जिस क्रिया से अवयवी टेढ़ा हो जाय, उसी को 'आकुञ्चन' कहते हैं ।

जिस क्रिया से उक्त संयोग के विपरीत संयोग और उक्त विभाग के विपरीत विभाग की उत्पत्ति होने पर (कुटिल) अवयवी सीधा हो जाय, उसी क्रिया को 'प्रसारण' कहते हैं ।

जो क्रिया अनियमित रूप से जिस किसी दिक् प्रदेश के साथ संयोग और विभाग को उत्पन्न करे, उस क्रिया को गमन कहते हैं ।

न्यायकन्दली

शरीरावयवेषु हस्तादिषु तत्सम्बद्धेषु मुसलादिषु च यदूर्ध्वभाग्भिः प्रदेशैः संयोगकारणम्, अधोभाग्भिश्च विभागकारणं गुरुत्वसंयोगप्रयत्नेभ्यो जायते तदुत्क्षेपणम् ।

दद्विपरीतेति । **अधोदेशसंयोगकारणमूर्ध्वदेशविभागकारणं कर्मापक्षेपणमित्यर्थः ।**

ऋजुन इति । **तद्देशैरग्रावयवसम्बद्धैराकाशादिदेशैः सञ्जायत इति, येन कर्मणेति सम्बन्धः ।**

अग्रावयवानां मूलप्रदेशविभागादुत्तरदेशसंयोगोत्पत्तौ सत्यामित्यर्थः ।

हैं । उत्क्षेपण उसे कहते हैं जिससे शरीर के हाथ प्रभृति अवयवों में एवं हाथ से युक्त मुसल प्रभृति द्रव्यों में ऊपर के देशों के साथ संयोग की उत्पत्ति हो और वह स्वयं गुरुत्व, संयोग और प्रयत्न से उत्पन्न हो ।

'तद्विपरीतेति' अर्थात् नीचे के देशों के साथ संयोग का कारण और ऊपर के देशों से विभाग का कारण कर्म ही 'अपक्षेपण' है ।

'ऋजुन इति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तद्देशैः' इस शब्द के द्वारा "आगे के अवयवों से सम्बद्ध आकाशादि देशों के साथ संयोग उत्पन्न होता है जिस क्रिया से" ऐसा अन्वय

प्रशस्तपादभाष्यम्

एतत् पञ्चविधमपि कर्म शरीरावयवेषु तत्सम्बद्धेषु च सत्प्रत्ययमसत्प्रत्ययं च । यदन्यत् तदप्रत्ययमेव तेष्वन्येषु च, तद् गमनमिति । कर्मणां जातिपञ्चकत्वमयुक्तम्, गमनाविशेषात् । सर्वं हि क्षणिकं कर्म गमनमात्रमुत्पन्नं स्वाश्रयस्योर्ध्वमधस्तिर्यग्वाप्यणुमात्रैः प्रदेशैः संयोगविभागान् करोति, सर्वत्र गमनप्रत्ययोऽ-

ये पाँचों ही प्रकार के कर्म शरीर के अवयवों में एवं उनसे सम्बद्ध दूसरे द्रव्यों में भी प्रयत्न (सत्प्रत्यय) से और बिना प्रयत्न (असत्प्रत्यय) के भी उत्पन्न होते हैं । इन दोनों से भिन्न सभी प्रकार के कर्म 'अप्रत्यय' कर्म हैं । (अर्थात्) शरीर के अवयवों या उनसे भिन्न द्रव्यों में रहनेवाले ये सभी अप्रत्यय-कर्म गमनरूप ही हैं ।

(प्र.) यतः सभी क्रियाओं में गमनत्व की प्रतीति समान रूप से होती है, अतः क्रियाओं में उत्क्षेपणत्वादि पाँच जातियों का सम्बन्ध मानना अयुक्त है । (अर्थात्) क्रियायें सभी क्षणिक हैं, वे प्रथमतः गमनरूप ही उत्पन्न होती हैं । उत्पन्न होने के बाद अपने आश्रयद्रव्यों के ऊपर के प्रदेश, नीचे के प्रदेश या पार्श्वप्रदेश के साथ संयोगों और विभागों को उत्पन्न करती हैं; किन्तु सभी कर्मों में 'यह गमन है' इस प्रकार की प्रतीति समान रूप से होती है । अतः सभी क्रियायें गमनरूप ही हैं ।

न्यायकन्दली

सत्प्रत्ययमिति । **प्रयत्नपूर्वकमप्रयत्नपूर्वकं च भवतीत्यर्थः** । यदन्यदिति । **एतेषु शरीरावयवेषु मुसलादिष्वन्येषु वा द्रव्येषु यत् तदप्रत्ययजं कर्म जायते सत्प्रत्ययादन्यत् तद् गमनमेव । चोदयति**—कर्मणामिति । **उत्क्षेपणादीनां कर्मणां जातिपञ्चकत्वमयुक्तम्**, गमनात् **सर्वेषाम**विशेषाद**भेदादिति चोदनार्थः । सर्वेषां गमनादविशेषमेव कथयति**—सर्वं हीत्यादिना । **उत्क्षेपणादि-**

समझना चाहिए । अर्थात् आगे के अवयवों का मूल प्रदेश के साथ विभाग से जिस स्थिति में उत्तर देश संयोग की उत्पत्ति होती है उस स्थिति में ।

'सत्प्रत्ययमिति' अर्थात् (कर्म दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं) एक तो प्रयत्न से उत्पन्न होता है, दूसरा बिना प्रयत्न के ही उत्पन्न होता है । 'यदन्यत्' अर्थात् शरीर के अवयवों में एवं मूसल प्रभृति द्रव्यों में अथवा अन्य ही द्रव्यों में प्रयत्नजनित क्रिया से भिन्न जिस क्रिया की उत्पत्ति होती है, वह क्रिया गमनरूप ही है ।

'कर्मणाम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा आक्षेप करते हैं । आक्षेप ग्रन्थ का यह आशय है कि उत्क्षेपणादि में रहनेवाली उत्क्षेपणत्वादि पाँच जातियों का जो उल्लेख

प्रशस्तपादभाष्यम्

विशिष्टस्तस्माद् गमनमेव सर्वमिति । न, वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात् । इहोत्क्षेपणं परत्रापक्षेपणमित्येवमादि सर्वत्र वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती दृष्टे, तद्धेतुः सामान्यविशेषभेदोऽवगम्यते । तेषामुदाद्युपसर्गविशेषात् प्रतिनियतदिग्विशिष्टकार्यारम्भत्वादुपलक्षण-

(उ) ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उत्क्षेपणादि सभी क्रिया के समूहों में विभिन्न प्रकार की अनुवृत्तिप्रतीतियाँ (समानजातीय प्रतीति) एवं व्यावृत्तिप्रतीतियाँ होती हैं । (विशदार्थ यह है कि) 'यहाँ उत्क्षेपण क्रिया है' और 'दूसरी जगह अपक्षेपण क्रिया है' इस प्रकार प्रत्येक क्रिया में भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुवृत्तिप्रतीति और व्यावृत्तिप्रतीति उपलब्ध होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि उन विभिन्न प्रतीतियों के सामान्य और विशेष के भेद ही कारण हैं, अर्थात् गमनत्वरूप सामान्य जातियों और उत्क्षेपणत्वादिरूप विशेष जातियों की विभिन्नता ही कारण है । उत्क्षेपणादि शब्दों के 'उद्'

न्यायकन्दली

पूर्ध्वं गच्छति, अधो गच्छतीति प्रत्ययदर्शनात् सर्वमेवेदमुत्क्षेपणादिकं गमनमेव । समाधत्ते— नेति । **यत् त्वयोक्तं तन्न, उत्क्षेपणादिषु** वर्गशः **प्रतिवर्गं** प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्त्यो**र्दर्शनात् । गोवर्गे अश्वादिवर्गव्यावृत्त्या प्रत्ययानुगमदर्शनाद् गोत्वं कल्प्यते यथा, तथोत्क्षेपणादिषु प्रतिवर्गमितरवर्गव्यावृत्त्या प्रत्ययानुगमदर्शनादुत्क्षेपणत्वादिसामान्यकल्पनेत्यभिप्रायः । अस्य विवरणं सुगमम् ।**

तेषामिति । **उपलक्षणभेदोऽपीत्यपिशब्दः कार्यारम्भादित्यस्मात् परो द्रष्टव्यः । उपलक्ष्यतेऽन्यविलक्षणतया प्रतिपाद्यते व्यक्तिरनयेत्युपलक्षणं**

किया गया है, वह अयुक्त है; क्योंकि 'गमन' रूप क्रिया से उत्क्षेपणादि शेष चार क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है । 'सर्वं हि' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उत्क्षेपणादि क्रियाओं में गमन का जो अभेद कहा गया है, उसका समर्थन करते हैं । अर्थात् 'ऊपर की तरफ जाता है, नीचे की तरफ आता है' इसी प्रकार की ही प्रतीतियाँ उत्क्षेपणादि की भी होती हैं, इससे समझते हैं कि उत्क्षेपणादि सभी क्रियायें वस्तुतः गमनरूप ही हैं । 'न' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उसका समाधान करते हैं । अर्थात् तुमने जो उत्क्षेपणादि क्रियाओं को गमनरूप क्रिया से अभिन्न कहा है, वह ठीक नही है; क्योंकि 'वर्गशः' अर्थात् उत्क्षेपणादि प्रत्येक वर्ग की क्रियाओं में समान आकार की प्रतीतियाँ (अनुवृत्तिप्रत्यय) होती हैं । एवं उक्त वर्ग की उत्क्षेपणादि प्रत्येक व्यक्ति में अपक्षेपणादि अपर वर्ग की क्रिया से भिन्नत्व की प्रतीतिरूप व्यावृत्तिबुद्धि भी होती है । जैसे कि गो वर्ग की प्रत्येक व्यक्ति में 'अयं गौः' इस आकार की समानाकारक प्रतीति होती है एवं अश्वादि वर्ग के प्रत्येक

प्रशस्तपादभाष्यम्

भेदोऽपि सिद्धः । एवमपि पञ्चैवेत्यवधारणानुपपत्तिः । निष्क्रमणप्रवेशनादिष्वपि वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनात् । यद्युत्क्षेपणादिषु

एवं 'अप' प्रभृति उपसर्ग एवं उन क्रियाओं के द्वारा किसी विशेष प्रदेश में ही नियम से किसी विशेष प्रकार के कार्यों का उत्पादन करना भी 'उपलक्षणभेद' अर्थात् उत्क्षेपणत्वादि विभिन्न जातियों के साधक हैं ।

(प्र.) तब फिर 'कर्म पाँच ही हैं' यह नियम भी ठीक नहीं होगा; क्योंकि निष्क्रमण एवं प्रवेशन प्रभृति क्रियाओं में भी विभिन्न प्रकार की अनुवृत्तिप्रतीतियाँ और व्यावृत्तिप्रतीतियाँ होती हैं । यदि उत्क्षेपणादि प्रत्येक क्रियासमूह में विभिन्न प्रकार की अनुवृत्तिप्रतीति और व्यावृत्तिप्रतीति से उत्क्षेपणत्वादि विभिन्न जातियों की कल्पना करते हैं, तो फिर

न्यायकन्दली

जातिः । तदयमत्रार्थः—न केवलमनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययदर्शनादुत्क्षेपणादीनां जातिभेदः सिद्धः, उदाद्युपसर्गभेदात् प्रतिनियतदिग्विशिष्टकार्यारम्भादपि **सिद्धः । अपरे तु तेषामुत्क्षेपणादीनामुदाद्युपसर्गविशेषाद् दिगृविशिष्टकार्यारम्भा** दुपलक्षणभेदोऽपि **प्रतिपत्तिभेदोऽपि सिद्ध इति । अभेदे हि यथोत्क्षेपणमूर्ध्वसंयोगविभागहेतुरेवमपक्षेपणादिकमपि स्यात् । पुनश्चोदयति—**एवमपीति । **यदि प्रतिवर्गं प्रत्ययानुवृ त्तिव्यावृत्तिदर्शनादुत्क्षेपणादिषु सामान्यमभ्युपेयते, तदा निष्क्रमणादिष्वपि प्रतिवर्गं प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनान्निष्क्रमणत्वादिकमभ्युपेयम्, ततश्च**

व्यक्ति से भिन्नत्व की प्रतीति भी होती है, इन्हीं दोनों प्रतीतियों से 'गोत्व' जाति की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार उत्क्षेपणत्वादि जातियों की भी कल्पना करते हैं । इस भाष्य ग्रन्थ की व्याख्या सुबोध है । 'तेषाम्' इत्यादि सन्दर्भ के 'उपलक्षणभेदोऽपि' इस वाक्य में जो 'अपि' शब्द है, उसका पाठ 'कार्यारम्भात्' इस वाक्य के बाद ही समझना चाहिए (अर्थात् कार्यारम्भादप्युपलक्षणभेदः—वाक्य का ऐसा स्वरूप समझना चाहिए) । 'उपलक्ष्यते अन्यविलक्षणतया प्रतिपाद्यते व्यक्तिरनया' (अर्थात् 'उपलक्षित हो' अर्थात् व्यक्ति दूसरों से भिन्न रूप में समझी जाय जिससे') इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'उपलक्षण' शब्द से यहाँ 'जाति' ही विवक्षित है । केवल अनुवृत्तिप्रत्यय (अर्थात् सभी उत्क्षेपण क्रियाओं में 'यह उत्क्षेपण है' इत्यादि एक आकार की प्रतीति) एवं व्यावृत्तिप्रत्यय (अर्थात् उत्क्षेपणादि प्रत्येक व्यक्ति में उससे भिन्न अपक्षेपणादि क्रियाओं से भिन्नत्व की बुद्धि) ही उत्क्षेपणत्वादि विभिन्न जातियों के साधक नहीं हैं । उद्, अप प्रभृति उपसर्ग के भेद एवं विभिन्न नियत देशों में ही कार्यों को उत्पन्न करना भी उत्क्षेपणत्वादि विभिन्न जातियों के साधक हैं । किसी सम्प्रदाय के लोग 'तेषामुदाद्युपसर्गविशेषात्' इत्यादि सन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'तेषाम्' अर्थात्

प्रशस्तपादभाष्यम्

सर्वत्र वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिदर्शनाज् जातिभेद इष्यते, एवं च निष्क्रमणप्रवेशनादिष्वपि कार्यभेदात् तेषु प्रत्ययानुवृत्ति-व्यावृत्ती इति चेत् ? न, उत्क्षेपणादिष्वपि कार्यभेदादेव प्रत्ययानुवृत्तिव्या-वृत्तिप्रसङ्गः । अथ समाने वर्गशः प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तिसद्भावे उत्क्षेपणादीनामेव जातिभेदो न निष्क्रमणादीनामित्यत्र विशेषहेतु-

उसी युक्ति से निष्क्रमण और प्रवेशनादि क्रियाओं में भी विभिन्न जातियों की कल्पना करनी होगी । यदि (ऊपर के देश के साथ संयोगादिरूप) कार्य की विभिन्नता से (उनमें विभिन्न) अनुवृत्तिप्रतीतियाँ और व्यावृत्तिप्रतीतियाँ होती हैं, तो फिर कार्य की विभिन्नता ही उन प्रतीतियों का कारण होगी (जाति की विभिन्नता नहीं) । उत्क्षेपणादि समान क्रियाओं के समूहों में अनुवृत्ति और व्यावृत्ति के कारण उत्क्षेपणत्वादि विभिन्न जातियों की कल्पना की जाय और निष्क्रमण, प्रवेशनादि क्रियाओं में ठीक वही युक्ति रहने पर भी विभिन्न जातियों की कल्पना न की जाय, इसमें कोई विशेष युक्ति नहीं है ।

(उ.) ऐसी बात नहीं है (अर्थात् उत्क्षेपणत्वादि जातियाँ मानी जायँ और निष्क्रमणत्वादि जातियाँ नहीं, इसमें विशष युक्ति है), यदि

न्यायकन्दली

पञ्चैवेत्यवधारणानुपपत्तिः । अथ निष्क्रमणादिषु कार्यभेदात् प्रत्ययभेदो न जातिभेदात्, तदोत्क्षेपणादिष्वपि तथा स्यादित्याह—कार्यभेदात् तेष्विति । **समाधत्ते**— नेति । **यदि निष्क्रमणत्वादिजातय इष्यन्ते, तदा जातिसङ्करप्रसङ्गः ।**

उत्क्षेपणादि का 'उद्' 'अप' प्रभृति विभिन्न उपसर्गों के कारण एवं विशेष दिशाओं में कार्योत्पादक होने के कारण 'उपलक्षणभेदोऽपि' अर्थात् प्रतिपत्ति (प्रतीति) का भेद भी सिद्ध होता है (एवं प्रतिपत्ति के भेद से वस्तुओं का भेद सुतरां सिद्ध है) । उत्क्षेपणादि सभी कर्म यदि अभिन्न हों तो फिर जिस प्रकार उत्क्षेपण क्रिया ऊर्ध्वदेश में ही संयोग और विभाग को उत्पन्न करती है, वैसे ही अपक्षेपणादि क्रियायें भी ऊर्ध्वदेश में ही संयोगादि को उत्पन्न करतीं । 'एवमपि' इत्यादि से पुनः आक्षेप करते हैं । आक्षेप करनेवालों का यह अभिप्राय है कि यदि उत्क्षेपणादि प्रत्येक वर्ग में अलग-अलग अनुवृत्तिप्रत्यय और व्यावृत्तिप्रत्यय के कारण उत्क्षेपणादि अलग-अलग जातियों की कल्पना करें, तो फिर निष्क्रमण (जाना) और प्रवेशन (आना) प्रभृति प्रत्येक वर्ग के भी उक्त अनुवृत्तिप्रत्यय और व्यावृत्तिप्रत्यय विभिन्न प्रकार के हैं ही । अतः उनमें भी अलग-अलग जाति का मानना आवश्यक होगा । जिससे 'पञ्चैव कर्माणि' यह अवधारण असङ्गत हो जाएगा । 'कार्यभेदात् तेषु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इस प्रसङ्ग में उपपत्ति देते हैं कि यदि निष्क्रमण, प्रवेशन प्रभृति की प्रतीतियों की विभिन्नता जातिभेदमूलक न

प्रशस्तपादभाष्यम्

रस्तीति । न, जातिसङ्करप्रसङ्गात् । निष्क्रमणादीनां जातिभेदात् प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्तौ जातिसङ्करः प्रसज्यते । कथम् ? द्वयोर्द्रष्ट्रोरेकस्मादपवरकादपवरकान्तरं गच्छतो युगपन्निष्क्रमणप्रवेशनप्रत्ययौ

उत्क्षेपणत्वादि की तरह निष्क्रमणत्वादि जातियाँ मानी जायँ तो इसमें साङ्कर्य दोष होगा । (विशदार्थ यह है कि) निष्क्रमणादि क्रियाओं में यदि विभिन्न जातियों के कारण अनुवृत्ति की प्रतीति और व्यावृत्ति की प्रतीति मानें तो इसमें साङ्कर्य दोष होगा । (प्र.) किस प्रकार ? (साङ्कर्य दोष होगा ?) (उ.) दो द्वारों को पार करते हुए किसी एक व्यक्ति के एक ही गमन कर्म को देखनेवाले दो पुरुषों में से एक को एक ही समय उसी गमन कर्म में निष्क्रमण की प्रतीति और दूसरे को प्रवेशन की प्रतीति होती है । जैसे कि एक ही द्वार में जाते

न्यायकन्दली

एकस्यां व्यक्तौ विरुद्धानेकजातिसमवायः प्रसज्यत इत्यर्थः ।

कथमिति पृष्टः सन्नाह—द्वयोर्द्रष्ट्रोरिति । द्वयोर्द्रष्ट्रोरेकस्मादपवरकादपवरकान्तरं गच्छतः **पुरुषस्य यौ द्रष्टारौ तयोरेकस्यां व्यक्तौ** निष्क्रमणप्रवेशनप्रत्ययौ दृष्टौ । **यतोऽपवरकात् पुरुषो निर्गच्छति तत्र स्थितस्य निर्गच्छतीति प्रत्ययः,**

मानकर कार्यभेदमूलक मानें, तो फिर विभिन्न उत्क्षेपणादिविषयक प्रतीतियों की उपपत्ति भी उन प्रतीतियों को कार्यभेदमूलक मानकर की जा सकती है ।

'न' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं । अभिप्राय यह है कि (उत्क्षेपणत्वादि की तरह यदि) निष्क्रमणत्वादि जातियाँ भी मानी जायँ तो 'जातिसङ्करप्रसङ्ग' होगा, अर्थात् एक ही व्यक्ति में विरुद्ध अनेक जातियों का समवाय मानना पड़ेगा । 'कथम्' इस पद के द्वारा पूछे जाने पर (अर्थात् यह साङ्कर्य क्यों कर होगा ?) 'द्वयोर्द्रष्ट्रोः' इस सन्दर्भ के द्वारा उक्त साङ्कर्य दोष का उपपादन करते हैं । 'द्वयोर्द्रष्ट्रोः' अर्थात् एक प्रकोष्ठ से दूसरे प्रकोष्ठ में जाते हुए पुरुष को जो दो देखनेवाले पुरुष हैं, उन दोनों में से एक पुरुष को उक्त गमनरूप क्रिया में 'निष्क्रमणत्व' की और दूसरे पुरुष को 'प्रवेशनत्व' की प्रतीति होती है । इस प्रकार एक ही क्रिया में दोनों की प्रतीति होती है, अर्थात् जिस प्रकोष्ठ से वह पुरुष जाता है, उस प्रकोष्ठ में रहनेवाले पुरुष को उससे जानेवाले पुरुष में 'निष्क्रामति' इस आकार की प्रतीति होती है एवं जिस प्रकोष्ठ में वह पुरुष जाता है, उस प्रकोष्ठ में रहनेवाले को

प्रशस्तपादभाष्यम्

दृष्टौ, तथा द्वारप्रदेशे प्रविशति निष्क्रामतीति च । यदा तु प्रतिसीराद्यपनीतं भवति, तदा न प्रवेशनप्रत्ययो नापि निष्क्रमणप्रत्ययः; किन्तु गमनप्रत्यय एव भवति । तथा नालिकायां वंशपत्रादौ पतति बहूनां द्रष्टॄणां युगपद् भ्रमणपतनप्रवेशनप्रत्यया दृष्टा इति जातिसङ्कर-

हुए एक ही व्यक्ति में (विरुद्ध दिशाओं में खड़े हुए दो व्यक्तियों को) क्रमशः 'यह प्रवेश करता है' एवं 'यह निकलता है' इन दोनों प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं, (जब जाते हुए व्यक्ति के बीच की) प्रतिसीरा (पर्दा) उठा दी जाती है, तब उन्हीं दोनों व्यक्तियों को न निष्क्रमण की प्रतीति होती है और न प्रवेशन की प्रतीति, केवल गमन की ही प्रतीति होती है । इसी प्रकार बहती हुई नाली में जब बाँस प्रभृति के पत्ते गिरते हैं, तब उन पत्तों में एक ही समय बहुत से देखनेवालों में से किसी को भ्रमण की प्रतीति होती है और किसी को प्रवेशन की प्रतीति होती है। अतः निष्क्रमणत्वादि जातियों के मानने पर जातिसङ्कर दोष होगा । उत्क्षेपणादि क्रियाओं में इस प्रकार का साङ्कर्य नहीं देखा जाता । अतः उत्क्षेपणादि क्रियाओं में अनुवृत्ति की प्रतीति और व्यावृत्ति की प्रतीति उत्क्षेपणत्वादि जातियों के भेद से होती है; किन्तु निष्क्रमणादि क्रियाओं में उक्त दोनों प्रतीतियाँ कार्यों की विभिन्नता

न्यायकन्दली

यत्र प्रविशति तत्र स्थितस्य प्रविशतीति प्रत्ययः । यदि जातिकृताविमौ प्रत्ययौ दृष्टौ तदैकस्यां व्यक्तौ परस्परविरुद्धनिष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वजातिद्वयसमावेशो दूषणं स्यात् । तथा द्वारप्रदेशे प्रविशति निष्क्रामतीति **यथैकस्मिन्नेव बहुप्रकोष्ठके गृहे प्रकोष्ठात् प्रकोष्ठान्तरं गच्छति पुरुषे पूर्वापरप्रकोष्ठस्थितयोर्द्रष्ट्रोर्द्वारप्रदेशे निर्गच्छति प्रविशतीति प्रत्ययौ भवतः।**यदा तु प्रतिसीराद्यपनीतं **मध्यस्थितं जवनिकाद्यपनीतं भवति** तदा न प्रवेशनप्रत्ययो नापि निष्क्रमणप्रत्ययः,

उसी पुरुष में 'प्रविशति' यह प्रतीति होती है । यदि निष्क्रमण और प्रवेशन क्रियाओं की प्रतीतियाँ निष्क्रमणत्वादि जातिमूलक हों, तो फिर एक ही व्यक्ति में परस्पर विरुद्ध निष्क्रमणत्व और प्रवेशनत्वादि जातियों के समावेशरूप साङ्कर्य दोष की आपत्ति होगी । 'तथा द्वारदेशे प्रविशति निष्क्रामतीति' उक्त भाष्य सन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि जैसे बहुत-सी कोठरियों वाले भवन में यदि एक पुरुष एक कोठरी में जाता है, तो जिस कोठरी से वह जाता है उस कोठरी में रहनेवाले दूसरे पुरुष को उस जानेवाले पुरुष में 'यह निकलता है' इस प्रकार की प्रतीति होती है और जिस कोठरी में वह जाता है, उस कोठरी में रहनेवाले दूसरे पुरुष को उसी पुरुष में 'यह आता है' इस प्रकार की प्रतीति होती है । 'यदा तु प्रतिसीराद्यपनीतम्' अर्थात् जब बीच का पर्दा (या दीवाल जिससे कोठरियाँ बनती हैं) हटा दिया जाता है, उस समय उसी पुरुष में न 'निकलने' की और न 'आने' की प्रतीति होती है, केवल 'चलने' की ही प्रतीति होती है । अतः वह 'गमन' रूप क्रिया ही है, उसी में उपाधि भेद से

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रसङ्गः । न चैवमुत्क्षेपणादिषु प्रत्ययसङ्करो दृष्टः । तस्मादुत्क्षेपणादीनामेव जातिभेदात् प्रत्ययानुवृत्तिव्यावृत्ती, निष्क्रमणादीनां तु कार्यभेदादिति । कथं युगपत् प्रत्ययभेद इति चेत् ? अथ मतं यथा जातिसङ्करो नास्ति, एवमनेककर्मसमावेशोऽपि नास्तीत्येकस्मिन् कर्मणि युगपद् द्रष्टॄणां भ्रमणपतनप्रवेशनप्रत्ययाः कथं भवन्तीति ? अत्र ब्रूमः — न, अवयवावयविनोर्दिग्विशिष्टसंयोगविभागानां भेदात् । यो

से होती हैं ।(प्र.) एक ही समय (एक ही क्रिया में) उक्त विभिन्न प्रतीतियाँ कैसे होती हैं ?(विशदार्थ यह है कि) जिस प्रकार (उत्क्षेपणत्वादि जातियों के मानने में) जातिसङ्कररूप दोष सम्भव नहीं है, (उसी प्रकार) एक ही समय एक ही वस्तु में (निष्क्रमण, प्रवेशनादि) अनेक कर्मों का रहना भी सम्भव नहीं है, फिर एक ही समय एक ही द्रव्य में अनेक देखनेवाले को (भी) भ्रमण, पतन और प्रवेशन विषयक प्रतीतियाँ कैसे हो सकती हैं ? (उ.)इस प्रश्न के समाधान में हम लोगों का कहना है कि नहीं (अर्थात् उक्त प्रतीतियाँ असम्भव नहीं हैं); क्योंकि एक ही वस्तु में एक ही समय भ्रमणादि की उक्त प्रतीतियाँ नाली में गिरे पत्ते प्रभृति अवयवी और उनके अवयवों की विभिन्न दिशाओं में उत्पन्न हुए संयोग-विभागादि कार्यों की विभिन्नता से होती हैं । देखनेवालों में से जो व्यक्ति पार्श्व से क्रमशः प्रदेश के अवयवों के दिक्प्रदेशों के साथ संयोगो और विभागों को

न्यायकन्दली

किन्तु गमनप्रत्यय एव भवति । **तस्माद् गमनमेव, तत्रोपाधिकृतश्च प्रत्ययभेद इत्यभिप्रायः ।**

उदाहरणान्तरमाह—तथा नालिकायामिति । नालिकेति **गर्त्तस्याभिधानम् । स्वपक्षे विशेषमाह**—न चैवमिति । **उपसंहरति**—तस्मादिति । **एकदैकस्मिन् द्रव्ये तावदेकमेव कर्म भवति, तत्र कथं युगपदनेककर्मप्रत्यय**

'निष्क्रमण' प्रत्यय और 'प्रवेशन' प्रत्यय प्रभृति विभिन्न प्रत्यय होते हैं । 'तथा नालिकायाम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इसी प्रसङ्ग में दूसरा दृष्टान्त दिखलाया गया है । 'नालिका' गड्ढे को कहते हैं ।

'न चैवम्' इत्यादि से पूर्वपक्ष की अपेक्षा अपने सिद्धान्तपक्ष में अन्तर दिखलाते हैं । 'तस्मात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं । 'कथम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा यह आक्षेप करते हैं कि यदि एक समय एक द्रव्य में एक ही क्रिया हो सकती है, तो फिर एक ही समय अनेक कर्मों की प्रतीति कैसे होगी ? 'अथ मतम्'

प्रशस्तपादभाष्यम्

हि द्रष्टा अवयवानां पार्श्वतः पर्यायेण दिक्प्रदेशैः संयोगविभागान् पश्यति तस्य भ्रमणप्रत्ययो भवति, यो ह्यवयविन ऊर्ध्वप्रदेशैर्विभागमधःसंयोगं चावेक्षते तस्य पतनप्रत्ययो भवति । यः पुनर्नालिकान्तर्देशे संयोगं बहिर्देशे च विभागं पश्यति, तस्य प्रवेशनप्रत्ययो भवतीति सिद्धः कार्यभेदान्निष्क्रमणादीनां प्रत्ययभेद इति । भवतूत्क्षेपणादीनां जातिभेदात् प्रत्ययभेदः, निष्क्रमणादीनां तु कार्य-भेदादिति ।

देखता है, उसे उनमें भ्रमण की प्रतीति होती है । जो पुरुष अवयवी का ऊपर के देशों के साथ विभाग और नीचे के प्रदेश के साथ संयोग इन दोनों को देखता है, उसे उनमें पतन क्रिया की प्रतीति होती है । जो पुरुष उस अवयवी का नाली के भीतर के प्रदेश के साथ संयोग एवं ऊपर के देश के साथ विभाग को देखता है, उसे उसी अवयवी में प्रवेशन की प्रतीति होती है । इस प्रकार कार्यों के भेद से विभिन्न प्रकार की अनुवृत्ति की प्रतीतियाँ और व्यावृत्ति की प्रतीतियाँ होती हैं । अतः उत्क्षेपणादि क्रियाओं में उत्क्षेपणत्वादि जातियों की विभिन्नता से ही विभिन्न प्रकार की अनुवृत्तिप्रतीतियों और व्यावृत्तिप्रतीतियों के होने पर भी निष्क्रमणादि क्रियाओं में कार्यों की विभिन्नता से ही अनुवृति की प्रतीतियाँ और व्यावृत्ति की प्रतीतियाँ होती हैं ।

न्यायकन्दली

इत्याह–कथमिति । **तद् विवृणोति**–अथ मतमित्यादिना । अत्र ब्रूम **इति सिद्धन्तोपक्रमः । यत् त्वयोक्तं तत्र, अवयवानामवयविनश्च** दिग्देशविशिष्टानां संयोगविभागानां भेदात् । **अस्य सुगमं विवरणम् । अवयवकर्मसु पार्श्वतः संयोगविभागकारणेषु भ्रमणप्रत्ययः, अवयविक्रियायां कार्यभेदात् पतनप्रवेशनप्रत्ययावित्यर्थः ।**

इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इसी 'आक्षेपग्रन्थ' का विवरण देते हैं । 'अत्र ब्रूमः' इत्यादि ग्रन्थ से इस प्रसङ्ग में अपना सिद्धान्त कहने का उपक्रम करते हैं । अर्थात् तुमने जो आक्षेप किया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि विभिन्न दिग्देशों में विद्यमान अवयवों और अवयवियों के संयोग और विभाग भी विभिन्न ही होते हैं । इस भाष्यग्रन्थ की व्याख्या सुलभ है । अभिप्राय यह है कि अवयवों के संयोग और विभाग इन दोनों की कारणीभूत क्रियायें जब पार्श्व में होती हैं, तो उनमें 'भ्रमण' का व्यवहार होता है । एवं अवयवी की क्रिया से होनेवाले विभिन्न कार्यों से उसी में 'पतन-प्रवेशनादि' की प्रतीतियाँ भी होती हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

अथ गमनत्वं किं कर्मत्वपर्यायः ? आहोस्विदपरं सामान्यमिति ? कुतस्ते संशयः ? समस्तेषूत्क्षेपणादिषु कर्मप्रत्ययवद् गमनप्रत्ययाविशेषात् कर्मत्वपर्याय इति गम्यते । यतस्तूत्क्षेपणादिवद् विशेषसंज्ञयाभिहितं तस्मादपरं सामान्यं स्यादिति ।

(प्र.) गमनत्व शब्द और कर्मत्व शब्द ये दोनों क्या एक ही अर्थ के वाचक हैं ? या गमनत्व नाम की (कर्मत्व व्याप्य) अलग स्वतन्त्र जाति है ? (उ.) तुम्हें यह संशय ही क्यों कर हुआ ? (प्र.) यतः उत्क्षेपणादि सभी क्रियाओं में 'यह कर्म है' इस आकार की प्रतीति की तरह सभी क्रियाओं में समान रूप से गमनत्व की भी प्रतीति होती है, इससे ऐसा आभास होता है कि कर्मत्व और गमनत्व ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं । एवं यतः उत्क्षेपणादि की तरह 'गमन' नाम की भी एक अलग क्रिया कही गयी है, अतः यह भी अनुभव होता है कि उत्क्षेपणत्वादि की तरह गमनत्व नाम की भी कर्मत्व व्याप्य एक स्वतन्त्र जाति ही है ।

न्यायकन्दली

भवतूत्क्षेपणादीनां जातिभेदात् प्रत्ययभेदः । अथ गमनत्वं किं कर्मत्वपर्यायः, आहोस्विदपरं सामान्यमिति । **सिद्धान्ती पृच्छति–**कुतस्ते संशयः ? **संशयोऽत्रानुपपन्न इत्यभिप्रायः । परः संशयमुपपादयति–**समस्तेष्विति । उत्क्षेपणादिषु **सर्वेषु** यथा कर्मप्रत्ययश्**चलनात्मकताप्रत्ययस्तथा तेषु गमनप्रत्ययः, ऊर्ध्वं गच्छत्यधो गच्छति मूलप्रदेशं गच्छत्यग्रदेशं गच्छतीति प्रत्ययो भवतीति । तेन गमनत्वं कर्मत्वपर्याय इति गम्यते, समस्तभेदव्यापकत्वात् । यतस्तूत्क्षेपणादिवद् गमनमपि पृथगभिहितं विशेषसंज्ञया, तस्माद् गमनत्वमपरं सामान्यं स्यात्,**

पूर्वपक्षवादी 'अथ गमनत्वम्' इत्यादि सन्दर्भ से पूछते हैं कि मान लिया कि उत्क्षेपणादि कर्मों की विभिन्न प्रतीतियाँ उत्क्षेपणत्वादि विभिन्न जातियों के कारण ही होती हैं; किन्तु यह 'गमनत्व' कौन-सी वस्तु है ? क्या यह कर्मत्व जाति का ही दूसरा नाम है ? अथवा कर्मत्व जाति से भिन्न यह कोई अलग ही जाति है ? 'कुतस्ते संशयः ?' इस वाक्य के द्वारा सिद्धान्ती पूर्वपक्षवादी से पूछते हैं कि तुम्हें यह संशय ही क्यों कर हुआ ? अर्थात् यह संशय यहाँ युक्त नहीं है । 'समस्तेषु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा पूर्वपक्षवादी अपने संशय का उपपादन करते हैं । अभिप्राय यह है कि उत्क्षेपणादि सभी क्रियाओं में जैसे कि 'कर्मप्रत्यय' अर्थात् चलनस्वरूपता की प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'गमनप्रत्यय' अर्थात् ऊपर की ओर जाता है, नीचे की ओर जाता है, मूलप्रदेश में जाता है, अग्रप्रदेश में जाता है, इत्यादि गमनविषयक प्रतीतियाँ भी होती हैं, अतः

प्रशस्तपादभाष्यम्

न, कर्मत्वपर्यायत्वात् । आत्मत्वपुरुषत्ववत् कर्मत्वपर्याय एव गमनत्वमिति । अथ विशेषसंज्ञया किमर्थं गमनग्रहणं कृतमिति ? न, भ्रमणाद्यवरोधार्थत्वात् । उत्क्षेपणादिशब्दैरनवरुद्धानां भ्रमणपतनस्पन्दनादी-

(उ.) नहीं (अर्थात् उक्त संशय का यहाँ कोई हेतु नहीं है); क्योंकि गमनत्व और कर्मत्व दोनों ही शब्द एक ही जाति के वाचक हैं । जैसे कि आत्मत्व और पुरुषत्व ये दोनों ही शब्द एक ही जाति के वाचक हैं, उसी प्रकार गमनत्व शब्द और कर्मत्व शब्द दोनों एक ही जातिरूप अर्थ के वाचक हैं ।

(प्र.) फिर (उत्क्षेपणादि की तरह 'गमन' रूप) विशेष नाम के द्वारा गमन का उपादान क्यों किया गया है ? (उ.) नहीं, (अर्थात् गमन शब्द से गमनरूप क्रिया का अभिधान गमनत्व को कर्मत्वव्याप्य अतिरिक्त जातिरूप समझाने के लिए नहीं है, किन्तु) भ्रमणादि क्रियाओं के संग्रह के लिए है ।(विशदार्थ यह है कि) उत्क्षेपणादि नामों के द्वारा संगृहीत

न्यायकन्दली

अवान्तरभेदनिरूपणावसरे तस्य सङ्कीर्तनात् । एवमुपपादिते परेण संशये सति मुनिः प्राह—नेति । **न कर्तव्यः संशयः, कुतः ? गमनत्वस्य** कर्मत्वपर्यायत्वात् । **एतद्विवृणोति**—आत्मत्वपुरुषत्ववत् कर्मत्वपर्याय एव गमनत्वमिति । **यथात्मत्वस्य पर्यायः पुरुषत्वं समस्तभेदव्यापकत्वात्, तथा गमनत्वं कर्मत्वस्य पर्यायः । अथ किमर्थं विशेषसंज्ञया पृथग् गमनग्रहणं कृतम् ? इति चोदयति**—अथेति ।

समझते हैं कि कर्मत्व का ही दूसरा नाम गमनत्व है । अर्थात् गमनत्व और कर्मत्व एक ही वस्तु हैं; क्योंकि क्रियाओं के जितने भी प्रकार हैं, उन सबों में गमनत्व की प्रतीति होती है, अतः गमनत्व और कर्मत्व एक ही वस्तु हैं । 'गमनत्व और कर्मत्व दोनों विभिन्न जातियाँ हैं' इस प्रसङ्ग में यह युक्ति है कि उत्क्षेपणादि विभिन्न क्रियाओं की पङ्क्ति में ही 'विशेष' नाम के द्वारा गमनरूप क्रिया का भी अलग से उल्लेख किया गया है, अतः समझते हैं गमनत्व नाम की कोई कर्मत्वव्याप्य अलग ही जाति है (अतः उक्त संशय होता है); क्योंकि क्रियाओं के अवान्तर भेदों का जहाँ निरूपण किया गया है, वहीं गमन का भी उल्लेख है ।

इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा संशय का उपपादन किये जाने पर 'न' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा (प्रशस्तदेव) मुनि ने अपना उत्कृष्ट उत्तर कहा है कि उक्त प्रकार से संशय करना युक्त नहीं है, यतः गमनत्व और कर्मत्व ये दोनों ही एक ही जाति के विभिन्न नाम हैं । 'आत्मत्वपुरुषत्ववत् कर्मत्वपर्याय एव गमनत्वम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इसी का विवरण देते हैं । अर्थात् जिस प्रकार पुरुष के जितने भी भेद हैं, उन सबों में आत्मत्व का व्यवहार होने के कारण आत्मत्व और पुरुषत्व एक ही जाति के दो नाम हैं, उसी प्रकार गमनत्व और कर्मत्व भी एक ही जाति के दो नाम हैं ।'अथ' इत्यादि

प्रशस्तपादभाष्यम्

नामवरोधार्थं गमनग्रहणं कृतमिति । अन्यथा हि यान्येव चत्वारि विशेषसंज्ञयोक्तानि तान्येव सामान्यविशेषसंज्ञाविषयाणि प्रसज्येरन्निति ।

अथवा अस्त्वपरं सामान्यं गमनत्वम्, अनियतदिग्देश-

न होनेवाले भ्रमण, पतन, स्पन्दनादि क्रियाओं के संग्रह के लिए ही 'गमन' शब्द का उपादान किया गया है । यदि ऐसी बात न होती–भ्रमणादि क्रियाओं के संग्रह के लिए 'गमन' शब्द का उपादान न किया जाता–तो जो भी चार कर्म उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन और प्रसारण इन चार नामों से कहे गये हैं, उतने ही कर्म समझे जाते (फलतः उत्क्षेपणादि चार क्रियाओं से भिन्न भ्रमणादि क्रियाओं का अभाव ही समझा जाता) । अथवा (कर्मत्व से भिन्न) गमनत्व नाम का अलग सामान्य ही मान लें, जो अनियमित दिशाओं और अनियत देशों में संयोगों और विभागों के उत्पादक

न्यायकन्दली

उत्तरमाह–नेति । उत्क्षेपणादिशब्दैरनवरुद्धा न संगृहीता भ्रमणादयः । यदि गमनग्रहणं न क्रियेत, तदा तेषां कर्मत्वेन सङ्ग्रहो न स्यात्; किन्तु विशेषसंज्ञयोद्दिष्टानामुत्क्षेपणादीनामेव परं कर्मत्वसंज्ञाविषयत्वं भवेत् । भ्रमणादयोऽपि च कर्मत्वेन लोकप्रसिद्धाः, अतस्तेषां परिग्रहार्थं पृथग् गमनग्रहणं कृतमिति ग्रन्थार्थः ।

अथवा अस्त्वपरं सामान्यं गमनत्वम्, **तत् केषु वर्त्तते, तत्राह**–अनियतेति ।

पङ्क्ति से पूर्वपक्षी यह आक्षेप करते हैं कि (उत्क्षेपणादि की तरह) विशेष नाम के द्वारा गमन का उल्लेख क्यों किया गया है ? 'न' इत्यादि से इसी आक्षेप का उत्तर दिया है । अर्थात् यदि गमन शब्द का उल्लेख (उत्क्षेपणादि शब्दों की पङ्क्ति में) न किया जाता तो जिन भ्रमणादि क्रियाओं का अवरोध (संग्रह) उत्क्षेपणादि शब्दों के द्वारा सम्भव नहीं है, उस सबों का कर्म में संग्रह न हो सकता । (गमनशब्दघटित उक्त वाक्य से केवल) उत्क्षेपणादि क्रियाओं का ही संग्रह होता; किन्तु उत्क्षेपणादि से भिन्न भ्रमणादि क्रियाओं में भी कर्मत्व का व्यवहार लोक में होता है । अतः उन सबों के संग्रह के लिए ही 'गमन' शब्द का उल्लेख किया गया है । यही उक्त (सिद्धान्त भाष्य) ग्रन्थ का अभिप्राय है ।

'अथवा अस्त्वपरं सामान्यं गमनत्वम्' (अर्थात् गमनत्व को भी उत्क्षेपणादि की तरह कर्मत्व का अवान्तर सामान्य ही मान लें, तब भी कोई क्षति नहीं है) । यह गमनत्व (कर्मत्वव्याप्य) जाति किन कर्मों में रहती है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'अनियत' इत्यादि सन्दर्भ से दिया गया है । तो फिर उत्क्षेपणादि कर्मों में गमन की प्रतीति

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगविभागकारणेषु भ्रमणादिष्वेव वर्तते, गमनशब्दश्चोत्क्षेपणादिषु भाक्तो द्रष्टव्यः, स्वाश्रयसंयोगविभागकर्तृत्वसामान्यादिति ।

भ्रमणादि क्रियाओं में ही नियमित रूप से रहता है । भ्रमणादि क्रियाओं में अभिधावृत्ति के द्वारा प्रयुक्त होनेवाले 'गमन' शब्द का जो उत्क्षेपणादि क्रियाओं में भी प्रयोग होता है, उसका कारण है दोनों क्रियाओं में समान रूप से संयोग और विभाग को उत्पन्न करने की स्वतन्त्र क्षमता, इसी क्षमता या कर्तृत्वरूप सादृश्य के कारण ही उत्क्षेपणादि में भी गमन शब्द का प्रयोग होता है । अतः उत्क्षेपणादि क्रियाओं में गमन शब्द का प्रयोग गौण है ।

न्यायकन्दली

कुतस्तर्ह्युत्क्षेपणादिषु [गमनप्रत्ययः ? अत आह–गमनशब्दश्चेति । **गमनशब्दग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वाद् गमनप्रत्यय उत्क्षेपणादिषु भाक्तो द्रष्टव्यः । उपचारस्य बीजमाह–**स्वाश्रयसंयोगविभागकर्तृत्वसामान्यादिति । **गमनं स्वाश्रयस्य संयोगविभागौ करोति, उत्क्षेपणादयोऽपि कुर्वन्ति, एतावता साधर्म्येणोत्क्षेपणादिषु गमनव्यवहारः । अनेन साधर्म्येण गमने कस्मादुत्क्षेपणादिव्यवहारो न भवति ? पैङ्गयपाटलत्वादिसाधर्म्येण वह्नावपि माणवकव्यवहारः**

क्यों कर होती है ? इस प्रश्न का समाधान 'गमनशब्दस्तु' इत्यादि से किया गया है । अर्थात् उत्क्षेपणादि कर्मों में प्रयुक्त गमन शब्द उपलक्षणार्थक है, अतः उत्क्षेपणादि के प्रत्ययों के लिए गमन शब्द के प्रयोग को गौण (लाक्षणिक) ही समझना चाहिए । 'स्वाश्रयसंयोगविभागकर्तृत्वसामान्यात्' इस वाक्य के द्वारा प्रकृत में लक्षणा का प्रयोजक धर्म (लक्ष्यतावच्छेदक) दिखलाया गया है । अर्थात् जिस प्रकार गमन अपने आश्रयीभूत द्रव्य में संयोग और विभाग को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार उत्क्षेपणादि क्रियायें भी अपने आश्रयीभूत द्रव्यों में संयोगों और विभागों को उत्पन्न करती हैं, इस सादृश्य के कारण ही उत्क्षेपणादि क्रियाओं में भी गमन शब्द का गौण प्रयोग होता है ।

(प्र.) तो फिर इसी साधर्म्य के कारण गमन में उत्क्षेपणादि शब्दों का भी गौण प्रयोग क्यों नहीं होता ? (उ.) 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि प्रयोग के द्वारा जिस प्रकार माणवक में अग्नि पद का गौण व्यवहार तेजस्वित्वादि धर्मों के कारण होता है, उसी प्रकार पिङ्गलवर्ण और रक्तवर्ण रूप सादृश्य के कारण अग्नि में माणवक का गौण व्यवहार भी क्यों नहीं होता ? यदि इसका यह परिहार उपस्थित करें कि केवल हेतु है, अतः उपचार की कल्पना नहीं की जाती; किन्तु उपचार या व्यवहार होने पर ही कारण की कल्पना की जाती है (अतः लोक में अग्नि में माणवक शब्द का व्यवहार न होने के

प्रशस्तपादभाष्यम्

सत्प्रत्ययकर्मविधिः । कथम् ? चिकीर्षितेषु यज्ञाध्ययनदानकृष्यादिषु यथा हस्तमुत्क्षेप्तुमिच्छत्यपक्षेप्तुं वा, तदा हस्तवत्यात्मप्रदेशे प्रयत्नः सञ्जायते । तं प्रयत्नं गुरुत्वं चापेक्षमाणादात्महस्तसंयोगाद्धस्ते कर्म भवति, हस्तवत् सर्वशरीरावयवेषु पादादिषु शरीरे चेति ।

सत्प्रत्यय अर्थात् प्रयत्न से उत्पन्न क्रिया की उत्पत्ति की विधि कहते हैं । (प्र.) कैसे ? अर्थात् यह सत्प्रत्यय रूप कर्म किस प्रकार उत्पन्न होता है ? (उ.) यज्ञ, अध्ययन, दान अथवा कृषि प्रभृति कर्म के उत्पादन की इच्छा होने पर हाथ को नीचे या ऊपर करने के लिए आत्मा के हाथवाले प्रदेश में प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार इस प्रयत्न, गुरुत्व एवं आत्मा और हाथ के संयोग इन तीनों कारणों से हाथ में क्रिया की उत्पत्ति होती है । हाथ की तरह शरीर के पैर प्रभृति अवयवों में एवं शरीररूप अवयवी में भी क्रिया की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

कस्मान्न भवति ? अथोच्यते । न कारणसद्भावे सत्युपचारकल्पना; किन्तु स्थिते व्यवहारे कारणकल्पनेति । एवं चेदत्रापि स एव परिहारः ।

सत्प्रत्ययकर्मविधिः –**प्रयत्नपूर्वककर्मप्रकारः कथ्यत इत्यर्थः । कथमिति पृष्टः सन्नाह**–चिकीर्षितेष्वति । **यज्ञादिषु कर्तुमभिप्रेतेषु सत्सु यदा पुरुषो हस्तमुत्क्षेप्तुमिच्छति, तदा हस्तवत्यात्मप्रदेशे प्रयत्नो जायते । तं प्रयत्नं निमित्त-कारण**भूतमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगादसमवायिकारणाद्धस्ते कर्म भवति ।

कारण उक्त प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता) । (उ.) तो फिर प्रकृत में मेरे लिए भी यही परिहार है । अर्थात् लोक में उत्क्षेपणादि क्रियाओं में गमन का व्यवहार होता है, अतः उस व्यवहार के लिए हेतु की कल्पना करते हैं । गमन में उत्क्षेपणादि का व्यवहार लोक में नहीं होता है, अतः उसके लिए किसी चर्चा की आवश्यकता नहीं है ।

'सत्प्रत्ययकर्मविधिः' अर्थात् प्रयत्न के द्वारा उत्पन्न कर्म की उत्पत्ति की रीति कहते हैं । 'किस प्रकार ?' यह पूछे जाने पर 'चिकीर्षितेषु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा उसका उपपादन करते हैं । यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान पुरुष को अभिप्रेत रहने पर उसके लिए वह जिस समय हाथ को ऊपर की ओर उठाता है, उस समय आत्मा के हाथवाले प्रदेश में प्रयत्न उत्पन्न होता है । इस प्रयत्नरूप निमित्तकारण से हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है, जिसका असमवायिकारण आत्मा और हाथ का संयोग है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

तत्सम्बद्धेष्वपि कथम् ? यदा हस्तेन मुसलं गृहीत्वेच्छां करोति 'उत्क्षिपामि हस्तेन मुसलम्' इति, तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणा-

(प्र.) शरीर और उनके अवयवों से संयुक्त द्रव्यों में कैसे ? (क्रिया उत्पन्न होती है ?) (उ.) जब मूसल को हाथ में लेकर कोई यह इच्छा करता है कि 'मैं हाथ से मूसल को ऊपर की ओर उछालूँ' उसके बाद प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । इस प्रयत्न और हाथ एवं आत्मा के संयोग इन दोनों से उसी

न्यायकन्दली

सत्यपि प्रयत्ने गुरुत्वरहितस्य उत्क्षेपणा पक्षेपणयोरशक्यकरणत्वाद् गुरुत्वस्यापि कारणत्वम् । हस्तवत्सर्वशरीरावयवेषु पादादिषु शरीरे चेति । **पादे कर्मोत्पत्तौ पादवत्यात्मप्रदेशे प्रयत्नो निमित्तकारणम्, पादात्मसंयोगोऽ- समवायिकारणम् । एवं सर्वत्र शरीरावयवक्रियोत्पत्तौ द्रष्टव्यम् । शरीरक्रियोत्पत्तावपि शरीरात्मसंयोगोऽसमवायिकारणम्, शरीरवदात्मप्रदेशे प्रयत्नो निमित्तकारणम् ।**

तत्सम्बद्धेषु **शरीरसम्बद्धेषु, शरीरावयवसम्बद्धेष्वपि** कथं **कर्मोत्पत्तिरिति प्रश्नार्थः** । यदा हस्तेन मुसलं गृहीत्वेच्छां करोति 'उत्क्षिपामि हस्तेन मुसलम्' इति, तदनन्तरं **तस्या इच्छाया अनन्तरम्**, प्रयत्नः **हस्तेन मुसलमूर्ध्वमुत्क्षिपामीति हस्तमुसलयोर्युगपदुत्क्षेपणेच्छातः प्रयत्नो जायमानस्तयोर्युगपदुत्क्षेपण-**

प्रयत्न के रहते हुए भी गुरुत्व से सर्वथा रहित द्रव्य का ऊपर उठना या नीचे गिरना नहीं होता, अतः गुरुत्व भी उसका कारण है । 'हस्तवत् सर्वशरीरावयवेषु पादादिषु शरीरे चेति' अर्थात् पैर में जो क्रिया की उत्पत्ति होगी, उसमें आत्मा के पादवाले प्रदेश में उत्पन्न प्रयत्न निमित्तकारण होगा एवं पैर और आत्मा का संयोग असमवायिकारण होगा । इसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि शरीर (रूप अवयवी) में जो क्रिया की उत्पत्ति होगी, उसका असमवायिकारण शरीर और आत्मा का संयोग ही होगा और आत्मा के शरीरवाले प्रदेश में उत्पन्न प्रयत्न उसका निमित्तकारण होगा ।

'तत्सम्बद्धेषु' इत्यादि प्रश्नवाक्य का अभिप्राय यह है कि शरीर के साथ और उसके अवयवों के साथ सम्बद्ध अन्य द्रव्यों में क्रिया की उत्पत्ति किस क्रम से होती है ? 'यदा हस्तेन मुसलं गृहीत्वेच्छां करोति--उत्क्षिपामि हस्तेन मुसलमिति' अर्थात् जिस समय हाथ में मूसल को लेकर पुरुष यह इच्छा करता है कि 'मैं मूसल को ऊपर की तरफ उछालूँ' 'तदनन्तरम्' अर्थात् उसके बाद 'प्रयत्नः' अर्थात् 'हाथ से मूसल को लेकर मैं ऊपर की तरफ उछालूँ' हाथ और मूसल को एक ही समय ऊपर की तरफ उछालने की इस आकार की इच्छा से उत्पन्न होनेवाला प्रयत्न, हाथ और मूसल को एक

प्रशस्तपादभाष्यम्

दात्महस्तसंयोगाद् यस्मिन्नेव काले हस्ते उत्क्षेपणकर्मोत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले तमेव प्रयत्नमपेक्षमाणाद्धस्तमुसलसंयोगान्मुसलेऽपि कर्मेति ।

ततो दूरमुत्क्षिप्ते मुसले तदर्थेच्छा निवर्तते । पुनरप्यपक्षेपणेच्छोत्पद्यते । तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणाद् यथोक्तात् संयोगाद्धस्तमुसलयोर्युगपदपक्षेपणकर्मणी भवतः, ततोऽन्त्येन मुसलकर्मणोलूखल-

समय हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है । एवं उसी समय प्रयत्न और हाथ एवं मूसल के संयोग इन दोनों से मूसल में भी क्रिया उत्पन्न होती है । इसके बाद उस मूसल के दूर फेंके जाने पर उस मूसल विषयक इच्छा का नाश हो जाता है । फिर उसी के अपक्षेपण (नीचे ले आने) की इच्छा उत्पन्न होती है । इसके बाद प्रयत्न एवं उक्त (आत्मा और हाथ के) संयोग इन दोनों से एक ही समय हाथ और मूसल दोनों में ही अपक्षेपण-रूप क्रिया उत्पन्न होती है । मूसल की इस अन्तिम क्रिया से ऊखल में मूसल का अभिघात नाम का संयोग उत्पन्न होता है । उस कर्म और

न्यायकन्दली

समर्थो विशिष्ट एव जायते । तं प्रयत्नं विशिष्टं निमित्तमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगात् समवायिकारणाद् यस्मिन्नेव काले हस्ते उत्क्षेपणकर्मोत्पद्यते, तस्मिन्नेव काले तमेव प्रयत्नमुभयार्थमुत्पन्नमपेक्षमाणाद्धस्तमुसलसंयोगादसमवायिकारणान्मुसलेऽपि कर्म भवति, कारणयौगपद्यात् । ततो दूरमुत्क्षिप्ते मुसले तदर्थेच्छा निवर्तते **उत्क्षेपणेच्छा निवर्तते ।** पुनरप्यपक्षेपणेच्छोत्पद्यते **हस्तेन मुसलस्यापक्षेपणेच्छोपजायत इत्यर्थः ।** तदनन्तरं प्रयत्नः **सोऽपि जायमान उत्क्षेपणप्रयत्नवद् विशिष्ट एव जायते । तं च** प्रयत्नमपेक्षमाणाद् **यथोक्तात् संयोगद्वया-**

ही समय ऊपर की ओर उछालने के सामर्थ्य से युक्त ही उत्पन्न होता है । उस प्रयत्न-रूप विशेष प्रकार के निमित्तकारण से जिस समय आत्मा और हाथ के संयोगरूप असमवायिकारण के द्वारा हाथ में उत्क्षेपण कर्म की उत्पत्ति होती है, उसी समय हाथ और मूसल दोनों की क्रिया के लिए उत्पन्न उक्त प्रयत्नरूप निमित्तकारण से ही हाथ और मूसल के संयोगरूप असमवायिकारण के द्वारा मूसल में भी कर्म की उत्पत्ति होती है; क्योंकि एक ही समय हाथ और मूसल दोनों में ही क्रियोत्पत्ति के सभी कारण वर्त्तमान हैं । 'ततो दूरमुत्क्षिप्ते मुसले तदर्थेच्छा निवर्तते' अर्थात् उत्क्षेपण की इच्छा नहीं रह जाती । 'पुनरप्यपक्षेपणेच्छोत्पद्यते' अर्थात् हाथ से मूसल को नीचे की ओर ले आने की इच्छा उत्पन्न होती है । 'तदनन्तरं प्रयत्नः' यह अपक्षेपण का प्रयत्न भी उत्क्षेपण के उक्त प्रयत्न की तरह (एक ही समय हाथ और मूसल को नीचे की ओर ले आने के सामर्थ्य से) युक्त ही उत्पन्न होता है । उक्त विशिष्ट

प्रशस्तपादभाष्यम्

मुसलयोरभिघाताख्यः संयोगः क्रियते, स संयोगो मुसलगतवेगमपेक्षमाणोऽप्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म करोति । तत्कर्माभिघातापेक्षं मुसले संस्कारमारभते । तमपेक्ष्य मुसलहस्तसंयोगोऽप्रत्ययं हस्तेऽप्युत्पतनकर्म

अभिघात इन दोनों से मूसल में संस्कार की उत्पत्ति होती है । इस संस्कार के साहाय्य से मूसल और हाथ में 'अप्रत्यय' अर्थात् बिना प्रयत्न के ही उत्क्षेपण क्रिया की उत्पत्ति होती है । यद्यपि पहले का संस्कार नष्ट हो गया रहता है, फिर भी मूसल और उलूखल का संयोग पटु (संस्कारजनक) कर्म को उत्पन्न करता है । वह संयोग ही अपनी विशिष्टता के कारण

न्यायकन्दली

दात्महस्तसंयोगाद्धस्तमुसल संयोगाद्धस्तमुसलयोर्युगपदपक्षेपणकर्मणी भवतः । ततोऽन्येन मुसलकर्मणोलूखलमुसलयोरभिघाताख्यः संयोगः क्रियते । **अपक्षिप्तस्य मुसलस्यान्येन कर्मणा उलूखलमुसलसमवेतो मुसलस्योत्पतनहेतुः संयोगः क्रियत इत्यर्थः** । स संयोगो मुसलगतवेगमपेक्षमाणोऽप्रत्ययम**प्रयत्नपूर्वकं** मुसले उत्पतनकर्म करोति । **वेगो निमित्तकारणम्, मुसलं समवायिकारणम्** । तत्कर्माभिघातापेक्षं मुसले संस्कारमारभते **उत्पतनकर्म स्वकारणाभिघाताख्यं संयोगमपेक्षमाणं मुसले वेगमारभते । तं संस्कार**मपेक्ष्य हस्तमुसल-

प्रयत्नरूप निमित्तकारण के साहाय्य से कथित दोनों संयोगरूप असमवायिकारण के द्वारा अर्थात् आत्मा और हाथ के संयोग एवं हाथ और मूसल के संयोग इन दोनों संयोगों से एक ही समय दो अपक्षेपण क्रियायें (अर्थात् हाथ और मूसल दोनों को नीचे की ओर ले आने की दो क्रियायें) उत्पन्न होती हैं । "ततोऽन्येन मुसलकर्मणा उलूखलमुसलयोरभिघाताख्यः संयोगः क्रियते" अर्थात् अपक्षेपण क्रिया से युक्त मूसल की अन्तिम क्रिया से उलूखल और मूसल इन दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले उस संयोग की उत्पत्ति होती है, जिससे मूसल का उत्पतन होता है । वह संयोग मूसल में रहनेवाले वेग के साहाय्य से 'अप्रत्यय' अर्थात् बिना प्रयत्न के ही उस उत्पतन क्रिया को उत्पन्न करता है, जो मूसल में रहती है । इस (अप्रत्ययक्रिया का) वेग निमित्तकारण है और मूसल समवायिकारण है । 'तत्कर्माभिघातापेक्षं मुसले संस्कारमारभते' अर्थात् वह उत्पतनरूपा क्रिया अपने कारणीभूत उक्त अभिघात नाम के संयोग के द्वारा मूसल में वेग को उत्पन्न करती है । इसी (वेगाख्य) संस्कार के साहाय्य से हाथ और मूसल का संयोगरूप असमवायिकारण हाथ में भी 'अप्रत्यय' अर्थात् प्रयत्न से निरपेक्ष क्रिया को उत्पन्न करता है । (प्र.) मूसल में पहले की अपक्षेपण क्रिया से उत्पन्न वेग नाम का संस्कार

प्रशस्तपादभाष्यम्

करोति । यद्यपि प्राक्तनः संस्कारो विनष्टस्तथापि मुसलोलूखलयोः संयोगः पटुकर्मोत्पादकः संयोगविशेषभावात् तस्य संस्कारारम्भे साचिव्यसमर्थो भवति । अथवा प्राक्तन एव पटुः संस्कारोऽभिघाताद-

संस्कार के उत्पादन का मुख्य अधिष्ठाता है । अथवा पहले का ही विशेष कार्यक्षम संस्कार अभिघात नाम के संयोग से नष्ट न होने के कारण

न्यायकन्दली

संयोगो **ऽसमवायिकारणभूतोऽ**प्रत्ययम**प्रयत्नपूर्वकं** हस्तेऽप्युत्पतनकर्म करोति । **योऽसौ प्राक्तनोऽपक्षेपणसंस्कारो मुसलगतः सोऽप्यभिघाताद् विनष्टः, तदभावे कथं मुसलेऽ-प्रत्ययमुत्पतनकर्मोत्पतनसंस्कारमारभते ? अपेक्षाकारणाभावादत आह—**यद्यपि प्राक्तनः संस्कारो विनष्टः, तथापि मुसलोलूखलसंयोगः पटुकर्मोत्पादकः **संस्कारजनककर्मो-त्पादकः । कुतः ?** संयोगविशेषभावात् **संयोगविशेषत्वात् । किमतो यद्येवम् ? तत्राह-- तस्य कर्मणः** संस्कारारम्भे **कर्तव्ये** साचिव्यसमर्थो भवति, **साहाय्ये समर्थो भवति । अस्मिन् पक्षे हस्तमुसलयोरुत्पतनकर्मणी क्रमेण भवतः । आशुभावाच्च यौगपद्यग्रहणम् ।**

प्रकारान्तरमाह—अथवा प्राक्तन एव पटुः, संस्कारोऽभिघातादविश्यन्न-वस्थित **इति विशिष्टकारणजत्वादतिप्रबलः संस्कारः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगेनापि**

अभिघातसंयोग के द्वारा विनष्ट हो चुका है । उस संस्कार के न रहने पर मूसल की वह प्रयत्ननिरपेक्ष क्रिया मूसल में उत्पतनक्रिया से उत्पन्न होनेवाले संस्कार को कैसे उत्पन्न कर सकती है ? क्योंकि (प्राक्तन संस्काररूप) आवश्यक कारण वहाँ नहीं है । इसी प्रश्न का समाधान 'यद्यपि प्राक्तनः संस्कारो विनष्टः' इत्यादि से दिया गया है । इस सन्दर्भ के 'पटुकर्मोत्पादकः' इस वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि (मूसल और उलूखल का संयोग) ऐसे कर्म का उत्पादक है कि जिसमें (वेगाख्य) संस्कार को उत्पन्न करने की शक्ति है । कुतः ? अर्थात् संयोग में ही संस्कार की कारणता क्यों है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'संयोगविशेषभावात्' इस वाक्य से दिया गया है । अर्थात् यतः वह संयोग अन्य संयोगों से विशेष प्रकार का है (अतः उससे संस्कार की उत्पत्ति होती है) । उक्त संयोग में यदि विशिष्टता है भी तो इसका प्रकृत में क्या उपयोग है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'तस्य संस्कारारम्भे' इत्यादि से दिया गया है । अर्थात् उस संयोग में यही विशिष्टता है कि उसमें कर्म के द्वारा वेग (संस्कार) के उत्पादन में साहाय्य करने का सामर्थ्य है । इस पक्ष में हाथ में और मूसल में उत्पतन क्रियायें क्रमशः उत्पन्न होती हैं (युगपत् नहीं) । 'हस्तमुसलयोर्युगपद-पक्षेपणकर्मणी' इत्यादि वाक्य में जो यौगपद्य का ग्रहण किया गया है, उसका अर्थ केवल शीघ्रता है (अर्थात् दोनों में अतिशीघ्र उत्पतन कर्म की उत्पत्ति होती है ।

'अथवा प्राक्तन एव पटुः संस्कारोऽभिघातादविनश्यन्नवस्थित इति' इस सन्दर्भ के द्वारा उक्त प्रश्न का ही दूसरे प्रकार से समाधान किया गया है । अभिप्राय

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनश्यन्नवस्थित इति । अतः संस्कारवति पुनः संस्कारारम्भो नास्त्यतो यस्मिन् काले संस्कारापेक्षादभिघातादप्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म, तस्मिन्नेव काले तमेव संस्कारमपेक्षमाणान्मुसलहस्तसंयोगादप्रत्ययं हस्तेऽप्युत्पतनकर्मेति ।

पाणिमुक्तेषु गमनविधिः, कथम् ? यदा तोमरं हस्तेन गृहीत्वोत्क्षेप्तुमिच्छोत्पद्यते, तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणाद् यथोक्तात्

तब तक विद्यमान रहता है । अतः एक संस्कार से युक्त वस्तु में पुनः दूसरे संस्कार की उत्पत्ति की सम्भावना न रहने पर भी जिस समय संस्कार और अभिघात (संयोग) इन दोनों से बिना प्रयत्न के मूसल में उत्पतन (उत्क्षेपण) क्रिया उत्पन्न होती है, उसी समय उसी संस्कार और मूसल एवं हाथ के संयोग इन दोनों से अप्रत्यय (प्रयत्नाजन्य) उत्पतन (उत्क्षेपण) क्रिया उत्पन्न होती है ।

(प्र.) हाथ से फेंकी हुई वस्तुओं में गमन क्रिया किस प्रकार उत्पन्न होती है ? (उ.) जिस समय तोमर को हाथ में लेकर उसे उछालने की इच्छा (पुरुष को) होती है, उसके बाद प्रयत्न उत्पन्न होता है । आत्मा और हाथ के संयोग एवं हाथ और तोमर के संयोग इन दोनों संयोगों के द्वारा उक्त प्रयत्न के साहाय्य से तोमर और हाथ में एक ही समय दो आकर्षणात्मक

न्यायकन्दली

न विनश्यति । अतः संस्कारवति संस्कारान्तरारम्भो नास्ति, **यतः प्राक्तनापक्षेपणसंस्कारो न विनष्टः, अतः प्राक्तनसंस्कारवति मुसले संस्कारान्तरारम्भो नास्तीति प्रतीयते ।** यस्मिन् काले संस्कारापेक्षादभिघातादप्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म, तस्मिन्नेव काले तमेव संस्कारमपेक्षमाणाद्धस्तमुसलसंयोगादप्रत्ययं

यह है कि वेगाख्य संस्कार (अन्य वेगाख्य संस्कारों के कारणों से) विशेष प्रकार के कारणों से उत्पन्न होता है । अतः अत्यन्त बलवान् होने के कारण (अन्य संस्कारों के विनाशक) स्पर्श से युक्त द्रव्य के संयोग से भी वह विनष्ट नहीं होता । यही कारण है कि उससे दूसरे संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि पहले अपक्षेपण क्रियाजनित संस्कार का विनाश नहीं हुआ है । इससे यह समझते हैं कि पहले के संस्कार से युक्त मूसल में दूसरे संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है । "यस्मिन् काले संस्कारापेक्षादभिघातादप्रत्ययं मुसले उत्पतनकर्म, तस्मिन्नेव काले तमेव संस्कारमपेक्षमाणाद्धस्तमुसलसंयोगादप्रत्ययं हस्तेऽप्युत्पतनकर्मेति" इस पक्ष में हाथ और मूसल दोनों

प्रशस्तपादभाष्यम्

संयोगद्वयात् तोमरहस्तयोर्युगपदाकर्षणकर्मणी भवतः । प्रसारिते च हस्ते तदाकर्षणार्थः प्रयत्नो निवर्तते । तदनन्तरं तिर्यगूर्ध्वं दूरमासन्नं वा क्षिपामीतीच्छा सञ्जायते । तदनन्तरं तदनुरूपः प्रयत्नस्तमपेक्षमाणस्तोमरहस्तसंयोगो नोदनाख्यः । तस्मात् तोमरे कर्मोत्पन्नं नोदनापेक्षं तस्मिन् संस्कारमारभते । ततः संस्कारनोदनाभ्यां तावत्

क्रियायें उत्पन्न होती हैं । हाथ को पसार लेने पर आकर्षण का कारण वह प्रयत्न नष्ट हो जाता है । इसके बाद 'इसको किसी पाश्र्व में या ऊपर बहुत दूर या निकट में ही फेंक दूँ' यह इच्छा उत्पन्न होती है । फिर (इच्छाविषयीभूत) उस क्रिया के अनुकूल प्रयत्न उत्पन्न होता है । इसके बाद इस प्रयत्न के साहाय्य से तोमर और हाथ में नोदन नाम के संयोग की उत्पत्ति होती है ।नोदन नाम के संयोग से तोमर में उत्पन्न क्रिया उस नोदन की

न्यायकन्दली

हस्तेऽप्युत्पतनकर्मेति । **अस्मिन् पक्षे हस्तमुसलोत्पतनकर्मणोर्वास्तवमेव यौगपद्यम् ।**

पाणिमुक्तेषु गमनविधिः कथम् ? पाणिमुक्तेषु **द्रव्येषु** गमनविधिः गमनप्रकारः **कथमुत्पद्यत इति प्रश्ने कृते सत्याह**—यदा तोमरमिति । युगपदाकर्षणेति, **अनाकृष्योत्क्षेप्तुमशक्यत्वात् ।** प्रयत्नो निवर्तत इति **तयोर्हस्ततोमरयोराकर्षणप्रयोजनप्रयत्नो निवर्तते, तद्विरोधिप्रसारणप्रयत्नोत्पादादित्यर्थः । तदनन्तरमिति । प्रसारणानन्तरम् ।** तिर्यगूर्ध्वं वा दूरमासन्नं वा क्षिपामीतीच्छोत्पद्यते ।तदनन्तरं तदनुरूपः प्रयत्नः, **तिर्यक्क्षेपणेच्छायां तिर्यक्क्षेपणप्रयत्नो**

में ही उत्पन्न कर्म वास्तव में एक ही समय उत्पन्न होते हैं (पहले पक्ष की तरह यहाँ यौगपद्य का शीघ्रतामूलक गौण प्रयोग नहीं है) ।

'पाणिमुक्तेषु गमनविधिः कथम्' हाथ से फेंके हुए द्रव्यों की 'गमनविधि' गमन की रीति अर्थात् गमनक्रिया की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यह प्रश्न किये जाने पर 'यदा तोमरम्' इत्यादि से समाधान किया गया है । 'युगपदाकर्षणेति' क्योंकि बिना आकर्षण के फेंकना सम्भव नहीं है । 'प्रयत्नो निवर्तत इति' अर्थात् हाथ और तोमर इन दोनों के आकर्षणरूप प्रयोजन का सम्पादन कर प्रयत्न निवृत्त हो जाता है; क्योंकि आकर्षण का विरोधी और प्रसारण का हेतुभूत प्रयत्न उत्पन्न हो गया रहता है । 'तदनन्तरम्' अर्थात् प्रसारण के बाद, टेढ़ा करके फेंके या ऊपर की ओर अथवा दूर फेंके अथवा समीप में फेंके, इस प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं । 'तदनन्तरं तदनुरूपः प्रयत्नः' इसमें प्रयुक्त 'अनुरूप' शब्द के द्वारा यह अर्थ व्यक्त होता है कि

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्माणि भवन्ति यावद्धस्ततोमरविभाग इति । ततो विभागान्नोदने निवृत्ते संस्कारादूर्ध्वं तिर्यग् दूरमासन्नं वा प्रयत्नानुरूपाणि कर्माणि भवन्त्यापतनादिति ।

तथा यन्त्रमुक्तेषु गमनविधिः कथम् ? यो बलवान् कृतव्यायामो वामेन करेण धनुर्विष्टभ्य दक्षिणेन शरं सन्धाय

सहायता से तोमर में संस्कार को उत्पन्न करती है । इसके बाद संस्कार और नोदन से तोमर में तब तक क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं, जब तक हाथ और तोमर का विभाग उत्पन्न नहीं हो जाता । इसके बाद विभाग से जब नोदन नाम के संयोग का नाश हो जाता है, तब उस संस्कार (वेग) से पतन के समय तक पार्श्व में, दूर में या समीप में फेंकी जाने की क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं ।

इसी प्रकार यन्त्र (धनुषादि) के द्वारा फेंकी हुई (शरादि) वस्तुओं में भी गमन क्रिया की रीति जाननी चाहिए । (प्र.) कैसे ? (उ.)

न्यायकन्दली

जायत इति । ऊर्ध्वक्षेपणेच्छायामूर्ध्वक्षेपणप्रयत्नो जायते । दूरक्षेपणेच्छायां महान् प्रयत्नः, आसन्नक्षेपणेच्छायां च शिथिलः प्रयत्नो जायत इति तदनुरूपशब्दार्थः । तमपेक्षमाणस्तोमरहस्तसंयोगो नोदनाख्यो **नोद्यस्य तोमरस्य नोदकस्य च हस्तस्य सहगमनहेतुत्वात् ।** तस्मान्नो**दनाख्याद् यथोक्तादिच्छानुरूपप्रयत्नापेक्षात्** तोमरे कर्मोत्पन्नम् । **तत् कर्म** नोदनापेक्षम्, तस्मिन् **तोमरे** संस्कारमारभते । ततः संस्कारेति । **तोमरस्य पतनं यावत् संस्कारात्** तदनुरूपाणि कर्माणि भवन्तीत्यर्थः ।

कृतव्यायामः **कृतायुधाभ्यासो** वामेन करेण धनुर्विष्टभ्य **गाढं गृहीत्वा** दक्षिणेन शरं सन्धाय **ज्यायां शरं संयोज्य** सशरां ज्यां **शरेण सह वर्तमानां**

टेढ़ा कर फेंकने की इच्छा के होने पर प्रयत्न भी तदनुकूल ही उत्पन्न होता है । एवं ऊपर की ओर फेंकने की इच्छा होने पर ऊपर फेंकने के अनुकूल ही प्रयत्न भी उत्पन्न होता है । दूर फेंकने की इच्छा होने पर बहुत बड़ा प्रयत्न उत्पन्न होता है । समीप में फेंकने की इच्छा होने पर शिथिल प्रयत्न उत्पन्न होता है । 'तमपेक्षमाणस्तोमरहस्तसंयोगो नोदनाख्यः' क्योंकि नोद्य जो तोमर एवं नोदक जो हाथ, इन दोनों के साथ-साथ ही वह गमन का भी कारण है । 'तस्मात्' अर्थात् कथित उस नोदन नाम के संयोग के द्वारा उक्त इच्छानुरूप प्रयत्न के साहाय्य से तोमर में क्रिया की उत्पत्ति होती है । यही क्रिया नोदन संयोग की सहायता से तोमर में संस्कार (वेग को) उत्पन्न करती है । 'ततः संस्कारेति' अर्थात् जब तक तोमर का पतन नहीं हो जाता, तब तक वेग से उसमें नोदन के अनुरूप क्रियाओं की उत्पत्ति होती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

सशरां ज्यां मुष्टिना गृहीत्वा आकर्षणेच्छां करोति, सज्येष्वाकर्षयाम्येतद् धनुरिति । तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगादाकर्षणकर्म हस्ते यदैवोत्पद्यते तदैव तमेव प्रयत्नमपेक्षमाणाद्धस्तज्याशरसंयोगाद् ज्यायां शरे च कर्म, प्रयत्नविशिष्टहस्तज्याशरसंयोगमपेक्षमाणाभ्यां ज्याकोटिसंयोगाभ्यां कर्मणी भवतो धनुष्कोट्योरित्येतत्

धनुषादि चालन में निपुण व्यक्ति जिस समय बायें हाथ से धनुषादि को जोर से पकड़कर दाहिने हाथ से उसमें तीर को लगाता है और तीर सहित धनुष की डोरी को मुट्ठी से पकड़कर उसे खींचने की इस प्रकार की इच्छा करता है कि 'मैं शर और डोरी सहित धनुष को खीचूँ' उसके बाद प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । आत्मा और हाथ के संयोग एवं उक्त प्रयत्न इन दोनों से जिस समय आकर्षणात्मक क्रिया की उत्पत्ति होती है, उसी समय उस प्रयत्न और हाथ का डोरी से संयोग और डोरी का तीर के साथ संयोग इन दोनों संयोग प्रभृति कारणों से डोरी और तीर दोनों में ही क्रियायें उत्पन्न होती हैं । धनुष के दोनों कोणों के साथ डोरी के दोनों संयोगों से धनुष के दोनों कोणों में दो क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । इन दोनों क्रियाओं की उत्पत्ति में प्रयत्न से युक्त हाथ के साथ डोरी और तीर के

न्यायकन्दली

ज्यां मुष्टिना गृहीत्वा **इच्छां** करोति सज्येष्वाकर्षयाम्येतद् धनुरिति । **ज्येति धनुर्गुणस्याख्या, इषुरिति शरस्याभिधानम् । ज्या च इषुश्च ज्येषू, सह ज्येषुभ्यां वर्तत इति सज्येषु** धनुरेतदाकर्षयामीतीच्छाया **आकारो दर्शितः** । तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगादाकर्षणकर्म हस्ते यदैवोत्पद्यते, तदैव तं प्रयत्नमपेक्षमाणाद्धस्तज्याशरसंयोगाज्ज्यायां शरे च कर्म **हस्तशरसंयोगात्** । प्रयत्नविशिष्टज्याहस्तसंयोगमपेक्षमाणाभ्यां ज्याकोटिसंयोगाभ्यां

जो पुरुष अस्त्र चलाने का अभ्यास किया हो वही पुरुष 'कृतव्यायामः' शब्द से अभिप्रेत है । 'वामेन करेण धनुर्विष्टभ्य' अर्थात् वह जब बायें हाथ से धनुष को दृढ़तापूर्वक पकड़कर 'दक्षिणेन शरं सन्धाय' अर्थात् धनुष की डोरी में तीर को लगाकर, 'सशरां ज्याम्' अर्थात् तीर में लगी हुई डोरी को, 'मुष्टिना गृहीत्वा' अर्थात् मुट्ठी से पकड़कर इच्छा करता है कि 'सज्येष्वाकर्षयाम्येतद्धनुरिति' धनुष की डोरी का नाम 'ज्या' है । 'इषु' शब्द शर (तीर) का वाचक है । 'सज्येषुधनुः' यह शब्द 'ज्या च इषुश्च ज्येषू, सह ज्येषुभ्यां वर्तत इति सज्येषु धनुः' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से निष्पन्न है । 'एतदाकर्षयामि' इस वाक्य के द्वारा प्रकृत इच्छा का आकार दिखलाया गया है । 'तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्महस्तसंयोगादाकर्षणकर्म हस्तशरसंयोगात्, प्रयत्नविशिष्टज्याहस्तसंयोगमपेक्षमाणाभ्यां ज्याकोटिसंयोगाभ्या कर्मणी धनुष्कोट्योरित्येतत् सर्वं

प्रशस्तपादभाष्यम्

सर्वं युगपत् । एवमाकर्णादाकृष्टे धनुषि नातः परमनेन गन्तव्यमिति यज्ज्ञानं ततस्तदाकर्षणार्थस्य प्रयत्नस्य विनाशस्ततः पुनर्मोक्षणेच्छा सञ्जायते, तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्माङ्गुलिसंयोगादङ्गुलिकर्म, तस्माज्ज्याङ्गुलिविभागः, ततो विभागात् संयोगविनाशः, तस्मिन् विनष्टे प्रतिबन्धकाभावाद् यदा धनुषि वर्तमानः स्थितिस्थापकः संस्कारो मण्डलीभूतं धनुर्यथावस्थितं स्थापयति, तदा

संयोग भी सहायक हैं । ये सभी काम एक ही समय होते हैं । इस प्रकार कान तक धनुष के खींचे जाने पर 'इसको इससे आगे नहीं जाना चाहिए' इस आकार का (संकल्पात्मक) ज्ञान (उत्पन्न होता है) । इस ज्ञान से आकर्षण के कारणीभूत प्रयत्न का विनाश हो जाता है । फिर उसे छोड़ने की इच्छा उत्पन्न होती है । इसके बाद तदनुकूल प्रयत्न की उत्पत्ति होती है । आत्मा और अङ्गुलि के संयोग से अङ्गुलि में क्रिया की उत्पत्ति होती है, जिसमें उक्त प्रयत्न का साहाय्य भी अपेक्षित होता है । अङ्गुलि की इस क्रिया से डोरी और अङ्गुलि में विभाग उत्पन्न होता है । इस विभाग से (डोरी और अङ्गुलि के) संयोग का विनाश होता है। उस संयोग के नष्ट हो जाने पर किसी प्रतिबन्धक के न रहने के कारण धनुष

न्यायकन्दली

कर्मणी धनुष्कोट्योरित्येतत् सर्वं युगपत्, **कारणयौगपद्यात्** । एवमाकर्णादाकृष्टे धनुषि नातः परमनेन हस्तेन गन्तव्यमिति यद् ज्ञानं **तस्मात्** । तदाकर्षणार्थस्येति **धनुराकर्षणार्थस्य** प्रयत्नस्य विनाश इति ।

ततः शरस्य गुणस्य च मोक्षणेच्छा **च** । **तदनन्तरं** प्रयत्नो **मोक्षणार्थः**, तमपेक्षमाणादात्माङ्गुलिसंयोगादङ्गुलिकर्म । तस्माद् ज्याङ्गुलिविभागः, **शरगुणाभ्याम्** ।

युगपत्' क्योंकि सब की सामग्री एक ही समय उपस्थित है । 'एवमाकर्णादाकृष्टे धनुषि नातः परमनेन हस्तेन गन्तव्यमिति यज्ज्ञानम्' अर्थात् उसी ज्ञान से 'तदाकर्षणार्थस्य' धनुष को अपनी ओर खींचने के लिए जो प्रयत्न था, उसका विनाश होता है ।

इसके बाद तीर और डोरी को छोड़ देने की इच्छा होती है, उसके बाद छोड़ने के अनुकूल प्रयत्न की उत्पत्ति होती है 'तमपेक्षमाणादात्माङ्गुलिसंयोगादङ्गुलिकर्म, तस्माज्ज्याङ्गुलिविभागः' अर्थात् डोरी का शर से और अङ्गुलि का डोरी से विभाग उत्पन्न होता है । इस विभाग से शर का और डोरी का संयोग और डोरी के

प्रशस्तपादभाष्यम्

तमेव संस्कारमपेक्षमाणाद् धनुर्ज्यासंयोगाद् ज्यायां शरे च कर्मोत्पद्यते। तत् स्वकारणापेक्षं ज्यायां संस्कारं करोति। तमपेक्षमाण इषुज्यासंयोगो नोदनम्, तस्मादिषावाद्यं कर्म नोदनापेक्षमिषौ संस्कारमारभते। तस्मात् संस्कारान्नोदनसहायात् तावत् कर्माणि भवन्ति यावदिषुज्याविभागः, विभागान्निवृत्ते नोदने कर्माण्युत्तरोत्तराणीषु-

में रहनेवाला (स्थितिस्थापक) संस्कार नमे हुये उस धनुष को पहली अवस्था में ले आता है। उसी समय इस स्थितिस्थापक संस्कार एवं धनुष और डोरी के संयोग इन दोनों से तीर में क्रिया उत्पन्न होती है। यह क्रिया अपने कारणीभूत (धनुष और डोरी के संयोग) के साहाय्य से डोरी में (वेगाख्य) संस्कार को उत्पन्न करती है। इस संस्कार के द्वारा तीर एवं डोरी इन दोनों में 'नोदन' नाम के संयोग की उत्पत्ति होती है। इस नोदन संयोग के साहाय्य से तीर की पहली क्रिया तीर में (वेगाख्य) संस्कार को उत्पन्न करती है। यह संस्कार उक्त नोदनसंयोग की सहायता से तब तक क्रियाओं को उत्पन्न करता है, जब तक डोरी और तीर का

न्यायकन्दली

ततो विभागाच्छर**गुणाङ्गुलि**संयोगविनाशस्तस्मिन् **संयोगे** विनष्टे प्रतिबन्धकाभावाद् यदा धनुषि वर्तमानः स्थितिस्थापकः संस्कारो मण्डलीभूतं धनुर्यथावस्थितं स्थापयति। तं संस्कारमपेक्षमाणाद् धनुर्ज्यासंयोगाद् ज्यायां शरे च **कर्मोत्पद्यते**। तत् कर्म स्वकारणापेक्षं **धनुर्ज्यासंयोगापेक्षं ज्यायां** संस्कारं **वेगाख्यं** करोति, **तं च संस्कारमपेक्षमाण** इषुज्यासंयोगो नोदनम्, **नोद्यस्येषोर्नोदकस्य गुणस्य सहगमनहेतुत्वात्**। तस्माद् नोदनादिषावाद्यं कर्म **संस्कारमारभते**। तस्मात् संस्काराद् नोदनसहायात् तावत् कर्माणि भवन्ति यावदिषुज्याविभागः।

साथ अङ्गुलि का संयोग इन दोनों संयोगों का विनाश हो जाता है। इन संयोगों के विनष्ट होने पर जिस समय धनुष में रहनेवाला स्थितिस्थापक संस्कार किसी प्रतिबन्धक के न रहने के कारण नमे हुये धनुष को अपनी पहली अवस्था में ले आता है, (उसी समय) इस स्थितिस्थापक संस्कार के साहाय्य से ही धनुष और डोरी के संयोग के द्वारा डोरी में और शर में क्रिया उत्पन्न होती है। 'तत्' अर्थात् वह कर्म 'स्वकारणापेक्षम्' अर्थात् धनुष और डोरी के संयोग का साहाय्य पाकर डोरी में संस्कार को अर्थात् वेग नाम के संस्कार को उत्पन्न करता है। उसी वेग से तीर और डोरी का 'नोदन' संयोग उत्पन्न होता है, (वह संयोग नोदनरूप इसलिए है कि) नोद्य (प्रेर्य) जो तीर और नोदक (प्रेरक) जो डोरी इन दोनों में साथ-साथ गमन क्रिया के उत्पादन का हेतु है। इस नोदन संयोग के साहाय्य से पहली क्रिया तीर में संस्कार को उत्पन्न करती है।

प्रशस्तपादभाष्यम्

संस्कारादेवापतनादिति । बहूनि कर्माणि क्रमशः कस्मात् ? संयोगबहुत्वात् । एकस्तु संस्कारः, अन्तराले कर्मणोऽपेक्षाकारणाभावादिति ।

विभाग उत्पन्न नहीं हो जाता । विभाग से नोदन नाम के संयोग के विनष्ट हो जाने पर तीर के वेग नाम के संस्कार से ही आगे की क्रियायें तीर के गिरने तक होती रहती हैं । (प्र.) बहुत सी क्रियायें क्रमशः क्यों उत्पन्न होती हैं ? (उ.) यतः संयोग बहुत से हैं । किन्तु संस्कार उसमें एक ही रहता है, क्योंकि बीच में (संस्कार के उत्पादक प्रथम) कर्म को अपेक्षित अन्य कारणों का (सहयोग प्राप्त) नहीं है ।

न्यायकन्दली

विभागान्निवृत्ते नोदने कर्माणि उत्तराणि संस्कारादेव **वेगाख्याद् भवन्ति यावत् पतनम्, इषोरेतस्य च पातो गुरुत्वप्रतिबन्धकसंस्कारक्षयात् ।**

अत्र चोदयति—बहूनि कर्माणि क्रमशः कस्मादिति । **ज्याविभक्तस्येषोरन्तराले क्रमशो बहूनि कर्माणि भवन्तीति कस्मात् कल्प्यते ? एकमेव कर्म कुतो न कल्पितमित्यभिप्रायः । समाधत्ते—संयोगबहुत्वादिति । उत्तरसंयोगान्तं कर्मेत्यवस्थितम् । क्षिप्तस्येषोरन्तराले बहवः संयोगा दृश्यन्ते । तेन बहूनि कर्माणि भवन्तीत्याश्रीयते । एकस्तु संस्कारः, अन्तराले कर्मणोऽपेक्षाकारणाभावात् । नोदनाभिघातयोरन्यतरापेक्षं कर्म संस्कारमारभते न कर्ममात्रम्, वेगाभावात् ।**

नोदन से साहाय्यप्राप्त उस संस्कार से ही तब तक क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं, जब तक कि तीर और डोरी का विभाग उत्पन्न नहीं हो जाता । इस विभाग से जब उक्त नोदन संयोग का नाश हो जाता है, तब 'संस्कार' से ही अर्थात् वेग नाम के संस्कार से ही तब तक क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं जब तक कि तीर का पतन नहीं हो जाता । यह पतन गुरुत्व के प्रतिबन्धक संस्कार के नाश से उत्पन्न होता है ।

'बहूनि कर्माणि क्रमशः कस्मात्' इस वाक्य के द्वारा फिर आक्षेप करते हैं । उक्त आक्षेपभाष्य का यह अभिप्राय है कि डोरी से विभक्त तीर में मध्यवर्ती अनेक क्रियाओं की कल्पना किस हेतु से की जाती है ? एक ही कर्म की कल्पना क्यों नहीं की जाती ? 'संयोगबहुत्वात्' इत्यादि से उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं । यह निश्चित है कि क्रिया की सत्ता उत्तरदेश संयोग तक रहती है । एवं फेके हुए तीर के बीच में बहुत से संयोग देखे जाते हैं । अतः यह कल्पना करते हैं कि कर्म भी बहुत से उत्पन्न होते हैं । 'एकस्तु संस्कारोऽन्तराले कर्मणोऽपेक्षाकारणाभावात्' नोदनसंयोग हो या अभिघातसंयोग हो, इन दोनों में से किसी एक का साहाय्य पाकर ही कर्म संस्कार को उत्पन्न करता है, केवल कर्म से वेगाख्य संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती । बीच में न नोदनसंयोग की

प्रशस्तपादभाष्यम्

एवमात्माधिष्ठितेषु सत्प्रत्ययमसत्प्रत्ययं च कर्मोक्तम् । अनधिष्ठितेषु बाह्येषु चतुर्षु महाभूतेष्वप्रत्ययं कर्म गमनमेव नोदनादिभ्यो भवति । तत्र नोदनं गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नान् समस्त-

इस प्रकार आत्मा से अधिष्ठित द्रव्यों के प्रयत्नजनित और अप्रयत्न-जनित दोनों ही प्रकार के कर्म कहे गये हैं । आत्मा की अध्यक्षता के बिना बाह्य चारों महाभूतों में बिना प्रयत्न के केवल नोदनादि से गमन-रूप क्रिया की ही उत्पत्ति होती है (उत्क्षेपणादि क्रियाओं की नहीं) । यहाँ (कथित) 'नोदन' उस संयोग विशेष का नाम है जो कभी गुरुत्व, द्रवत्व, वेग और प्रयत्न सम्मिलित इन चार गुणों से, कभी इनमें से एक, दो या तीन गुणों से उत्पन्न होता है । यह विभाग को उत्पन्न न

न्यायकन्दली

न चान्तराले नोदनं नाप्यभिघातः, तस्मादेक एव शरज्यासंयोगापेक्षेण शरकर्मणा कृतो विशिष्टः संस्कारो यावत् पतनमनुवर्तते । यथा यथा चास्य कार्यकरणाच्छक्तिः क्षीयते, तथा तथा कार्यं मन्दतरतमादिभेदभिन्नमुपजायते । यथा तरोस्तरुणस्य फलं प्रकृष्यतेऽपकृष्यते च जीर्णस्य ।

उपसंहरति– एवमिति । अनधिष्ठितेषु बाह्येषु चतुर्षु महाभूतेष्वप्रत्ययं गमनमेव नोदनादिभ्यो भवति । **आत्मना असाधारणेन सम्बन्धिनानधिष्ठितेषु बाह्येष्वप्रयत्नपूर्वकं गमनाख्यमेव कर्म भवति, नोत्क्षेपणापक्षेपणादिकमित्यर्थः । महाभूतेषु नोदनादिभ्यः कर्म भवतीत्युक्तम् । अथ किं नोदनमत आह–**

उत्पत्ति होती है, न अभिघातसंयोग की । अतः तीर और डोरी के एक ही संयोग के साहाय्य से तीर की क्रिया के द्वारा जिस विशेष प्रकार के वेगाख्य संस्कार की उत्पत्ति होती है, वही तीर के पतन होने तक बराबर बना रहता है । जैसे-जैसे उससे कार्य होते जाते हैं, उसकी शक्ति क्षीण होती है, एवं कार्य भी (शक्ति की क्षीणता से) क्रमशः मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते जाते हैं । जैसे कि तरुणवृक्ष का फल बढ़िया होता है और जीर्ण वृक्ष का फल घटिया ।

'एवम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं । "अनधिष्ठितेषु बाह्येषु चतुर्षु महाभूतेष्वप्रत्ययं गमनमेव नोदनादिभ्यो भवति" । अर्थात् आत्मारूप असाधारण आश्रय से असम्बद्ध पृथिव्यादि बाह्य चारों द्रव्यों में बिना प्रयत्न (अप्रयत्नपूर्वकम्) के (नोदनादि संयोगों के द्वारा) गमन नाम का कर्म ही उत्पन्न होता है, उत्क्षेपण या अपक्षेपण प्रभृति कर्म नहीं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

व्यस्तानपेक्षमाणो यः संयोगविशेषः । नोदनमविभागहेतोरेकस्य कर्मणः कारणम्, तस्माच्चतुर्ष्वपि महाभूतेषु कर्म भवति । यथा पङ्काख्यायां पृथिव्याम् ।

करनेवाले कर्म का ही कारण है । इस (संयोग) से चारों महाभूतों में क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । जैसे कि पङ्क नाम की पृथ्वी में (नोदन संयोग से क्रिया की उत्पत्ति होती है) ।

न्यायकन्दली

तत्र नोदनं गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नवेगान् समस्तव्यस्तानपेक्षमाणो यः संयोगविशेषः । **कथं संयोगविशेषो नोदनमुच्यते, तत्राह**–नोदनमविभागहेतोः कर्मणः कारणमिति । **नोद्यनोदकयोः परस्परविभागं न करोति यत् कर्म तस्य कारणं नोदनम् ।**

किमुक्तं स्यात् ? अनेन संयोगेन सह नोदको नोद्यं नोदयति नान्यथा, तेनायं नोदनमुच्यते । नोदनं तु क्व कर्मकारणमत्राह–यथा पङ्काख्यायां पृथिव्यामिति । **यदा पङ्कस्योपरि मन्दव्यवस्थापिता प्रस्तरगुटिका क्रमशः पङ्केन सममधो गच्छति । तदा गुरुत्वापेक्षः प्रस्तरपङ्कसंयोगो नोदनम् । यदा** प्रयत्नेन दूरमुत्थाप्य प्रस्तरेणाभिहन्यते पङ्कस्तदा गुरुत्वप्रयत्नवेगापेक्षः संयोगो नोदनम्, यदा जलेनाहन्यते तदा समस्तापेक्षः संयोगो नोदनमिति यथासम्भवमूह्यमिति ।

अभी कहा है कि पृथिव्यादि महाभूतों में नोदनादि से क्रिया की उत्पत्ति होती है, अतः प्रश्न उठता है कि यह 'नोदन' कौन-सी वस्तु है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'तत्र नोदनं गुरुत्वद्रवत्वप्रयत्नवेगान् समस्तव्यस्तानपेक्षमाणो यः संयोगविशेषः' इस वाक्य से दिया गया है । उक्त विशेष प्रकार के संयोग को ही नोदन क्यों कहते हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर 'नोदनमविभागहेतोः कर्मणः कारणम्' इस वाक्य से दिया गया है । नोद्य और नोदक इन दो द्रव्यों में जिस क्रिया से विभाग की उत्पत्ति नहीं होती है, नोदन ही उस क्रिया का हेतु है । इससे क्या निष्कर्ष निकला ? यही कि नोदनरूप संयोग के साथ ही नोदक अपने नोद्य का नोदन करता है, अन्यथा नहीं । इसी कारण यह संयोग 'नोदन' कहलाता है । नोदनसंयोग से क्रिया की उत्पत्ति कहाँ होती है ? इसी प्रश्न का उत्तर 'यथा पङ्काख्यायां पृथिव्याम्' इस वाक्य के द्वारा दिया गया है । जिस समय पङ्क के ऊपर धीरे से रक्खा हुआ पत्थर का टुकड़ा क्रमशः पङ्क के साथ नीचे की ओर जाता है, वहाँ पत्थर और पङ्क का संयोगरूप नोदन केवल गुरुत्व से उत्पन्न होता है । जिस समय प्रयत्न के द्वारा पत्थर को दूर उछाल कर पङ्क को आघात पहुँचाया जाता है, वहाँ जिस नोदन संयोग की उत्पत्ति होती है, उसका गुरुत्व, प्रयत्न और वेग ये तीनों कारण हैं । जिस समय वही पङ्क जल के द्वारा आहत किया जाता है, वहाँ का नोदन उन सभी कारणों से उत्पन्न होता है । इसी प्रकार जहाँ जिस प्रकार की सम्भावना हो उसके अनुसार कल्पना करनी चाहिए ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

वेगापेक्षो यः संयोगविशेषो विभागहेतोरेकस्य कर्मणः कारणं सोऽभिघातः । तस्मादपि चतुर्षु महाभूतेषु कर्म भवति, यथा पाषाणादिषु निष्ठुरे वस्तुन्यभिपतितेषु, तथा पादादिभिर्नुद्यमानायामभिहन्यमानायां वा । पङ्काख्यायां पृथिव्यां यः संयोगो नोदनाभिघातयोरन्यतरापेक्ष उभयापेक्षो वा स संयुक्तसंयोगः, तस्मादपि पृथिव्यादिषु कर्म भवति । ये च प्रदेशा न नुद्यन्ते नाप्यभिहन्यन्ते तेष्वपि कर्म जायते ।

'अभिघात' उस विशेष प्रकार के संयोग का नाम है जो वेग की सहायता से विभाग को उत्पन्न करनेवाले कर्म का कारण हो । अभिघात नाम के संयोग से भी चारों महाभूतों में क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । जैसे कि पत्थर प्रभृति कठिन द्रव्यों पर गिरे हुए द्रव्यों में (क्रिया की उत्पत्ति होती है) एवं पैर प्रभृति से केवल छुये जाने पर या अभिहत होने पर पङ्क नाम की पृथिवी में (कथित) नोदन और अभिघात नाम के दोनों संयोगों से या दोनों में से किसी एक संयोग से जिस संयोग की उत्पत्ति होती है, उसे 'संयुक्तसंयोग' कहते हैं । इस संयुक्तसंयोग से भी पृथिव्यादि भूतों में क्रिया की उत्पत्ति होती है ।

न्यायकन्दली

वेगापेक्षो यः संयोग एकस्य विभागकृतः कर्मणः कारणं सोऽभिघातः, **अभिघात्याभिघातकयोः परस्परविभागो यतः कर्मणो जायते तस्यैवैकस्य हेतुर्यः संयोगविशेषः सोऽभिघातः** । तस्मादपि चतुर्षु महाभूतेषु कर्म भवति । **यथा पाषाणादिषु निष्ठुरे वस्तुन्यभिपतितेषु । नोदनं परस्पराविभागहेतोरेवैकस्य कर्मणः कारणं न परस्परविभागहेतोः, एवमभिघातोऽपि परस्परविभागहेतोरेवैकस्य कर्मणः कारणं न परस्पराविभागहेतोरिदमुक्तमेकस्य** कर्मणः कारणम् ।

"वेगापेक्षो यः संयोग एकस्य विभागकृतः कर्मणः कारणं सोऽभिघातः" अर्थात् अभिघात्य और अभिघातक इन दोनों में परस्पर विभाग की उत्पत्ति जिस एक क्रिया से हो, उस क्रिया का कारणीभूत विशेष प्रकार का संयोग ही 'अभिघात' है । 'तस्मादपि चतुर्षु महाभूतेषु कर्म भवति, यथा पाषाणादिषु निष्ठुरे वस्तुन्यभिपतितेषु' (जिस प्रकार) परस्पर विभाग के अकारणीभूत एक क्रिया का ही कारण 'नोदन' है, परस्पर विभाग के कारणीभूत एक क्रिया का कारण नोदन नहीं है । उसी प्रकार (ठीक उससे विपरीत) अभिघात भी परस्पर विभाग के हेतुभूत एक क्रिया का ही कारण है, वह परस्पर विभाग के अहेतुभूत एक क्रिया का कारण नहीं है।

प्रशस्तपादभाष्यम्

पृथिव्युदकयोर्गुरुत्वविधारकसंयोगप्रयत्नवेगाभावे सति गुरुत्वाद् यदधोगमनं तत् पतनम् । यथा मुसलशरीरादिषूक्तम् । तत्राद्यं गुरुत्वात्, द्वितीयादीनि तु गुरुत्वसंस्काराभ्याम् ।

जो प्रदेश किसी से छुये नहीं जाते या अभिहत नहीं होते, उनमें भी क्रिया की उत्पत्ति होती है ।

गुरुत्व के विरोधी संयोग, प्रयत्न और वेग इन सबों के न रहने पर भी पृथिव्यादि द्रव्य केवल गुरुत्व के द्वारा जो नीचे की तरफ गिरते हैं, उस क्रिया को ही 'पतन' कहते हैं । जैसा कि मुसल और तीर प्रभृति द्रव्यों में कह आये हैं । उनमें पहली क्रिया गुरुत्व से उत्पन्न होती है और दूसरी क्रियायें गुरुत्व और वेग दोनों से उत्पन्न होती हैं ।

न्यायकन्दली

संयुक्तसंयोगं व्याचष्टे—पादादिभिर्नुद्यमानायामिति । **एकत्र पृथिव्यां पादेन नुद्यमानायामभिहन्यमानायां वा** ये प्रदेशा न नुद्यन्ते नाप्यभिहन्यन्ते तेष्वपि कर्म दृश्यते । **तत्र चलतां प्रदेशान्तराणां नुद्यमानाभिहन्यमानभूप्रदेशैः सह संयुक्तप्रदेशसंयोगः कारणम् । यत्राभिघातकं द्रव्यं भूप्रदेशमभिहत्य किञ्चिदधो नीत्वोत्पतति, तत्र प्रदेशान्तरक्रियायामुभयापेक्षः संयुक्तसंयोगो हेतुः ।**

गुरुत्वस्य कर्मकारणत्वमाह—पृथिव्युदकयोर्गुरुत्वविधारकसंयोगप्रयत्नवेगाभावे गुरुत्वाद् यदधोगमनं तत् पतनम् । यथा मुसलशरीरादिषूक्तम् । **गुरुत्वप्रतिबन्धकस्य हस्तसंयोगस्याभावे मुसलस्य यदधोगमनं तत् पतनं गुरुत्वाद् भवति । एवं गुरुत्वविधारकप्रयत्नाभावे शरीरस्य पतनम्, क्षिप्तस्येषोरन्तराले**

'पादादिभिर्नुद्यमानायाम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा 'संयुक्तसंयोग' की व्याख्या करते हैं । पृथिवी का एकदेश पैर के द्वारा छुये जाने पर या अभिहत होने पर (उस देश से सम्बद्ध) पृथिवी के अन्य प्रदेशों में भी–जो पैर से न छुवे गये हैं और न अभिहत ही हुए हैं–क्रिया देखी जाती है । उस क्रिया का कारण वह संयुक्तसंयोग है, जो क्रिया से युक्त भूप्रदेश के साथ पैर से छुए हुए या अभिहत हुए दूसरे भूप्रदेश का है । जहाँ अभिघात करनेवाला द्रव्य भूप्रदेश में अभिघात को उत्पन्न कर थोड़ा-सा नीचे जाकर ऊपर की ओर उठता है । वहाँ जो दूसरे भूप्रदेश में क्रिया की उत्पत्ति होती है, उसका कारण (वेग और संयोग) इन दोनों से साहाय्यप्राप्त संयुक्तसंयोग ही है ।

'पृथिव्युदकयोः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा गुरुत्व से कर्म की उत्पत्ति कही गयी है । मूसल में हाथ का जो संयोग है, वह गुरुत्व का प्रतिबन्धक है । उसके न रहने पर ही मूसल नीचे की ओर जाता है, मूसल की वह पतन क्रिया गुरुत्व से उत्पन्न होती है । गुरुत्व एवं शरीरधारण के उपयुक्त प्रयत्न का अभाव, इन दोनों के रहने पर जो शरीर का पतन होता है, उसका कारण भी गुरुत्व ही है । इसी प्रकार फेंके हुए तीर में वेग के

प्रशस्तपादभाष्यम्

स्रोतोभूतानामपां स्थलान्निम्नाभिसर्पणं यत् तद् द्रवत्वात् स्यन्दनम् । कथम् ? समन्ताद् रोधःसंयोगेनावयविद्रवत्वं प्रतिबद्धम्, अवयवद्रवत्वमप्येकार्थसमवेतं तेनैव प्रतिबद्धम्, उत्तरोत्तरावयवद्रवत्वानि संयुक्तसंयोगैः प्रतिबद्धानि । यदा तु मात्रया सेतुभेदः

धारारूपी जल का अपने आश्रयरूप स्थल से नीचे की ओर फैलना ही 'स्यन्दन' नाम की क्रिया है, जो द्रवत्व से उत्पन्न होती है । (प्र.) किस प्रकार ? (उ.) नदी के जल किनारों के सभी अवयवों के साथ पूर्ण रूप से संयुक्त रहने के कारण अवयवी (रूप जल) का द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो जाता है । उस अवयवी के सभी अवयवों के द्रवत्व भी उस अवयवी में एकार्थ-समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण किनारों के उसी संयोग से प्रतिरुद्ध रहते हैं । उन अवयवों के आगे-आगे के अवयवों के द्रवत्व भी उक्त संयुक्त-संयोगों से प्रतिरुद्ध रहते हैं । जब थोड़ा-सा भी बाँध काट दिया

न्यायकन्दली

वेगाभावात् पतनं गुरुत्वात् । तत्राद्यं **कर्म** गुरुत्वात्, द्वितीयादीनि तु गुरुत्व-संस्काराभ्याम् । **तेषु मुसलादिष्वाद्यं कर्म गुरुत्वाद् भवति तेन कर्मणा संस्कारः क्रियते, तदनन्तरमुत्तरकर्माणि गुरुत्वसंस्काराभ्यां जायन्ते, द्वयोरपि प्रत्येकमन्यत्र सामर्थ्याव-धारणात्** ।

द्रवत्वस्य कारणत्वं कथयति—स्रोतोभूतानामपां स्थलान्निम्नाभिसर्पणं यत् तद् द्रवत्वात् स्यन्दनम् । **अपां यत्र स्थलान्निम्नाभिसर्पणं तत् स्यन्दनं द्रवत्वा-दुपजायत इत्यर्थः** । कथमिति **प्रश्नः** । समन्ता**दित्युत्तरम्** ।

न रहने पर बीच में ही जो पतन हो जाता है, उसका कारण भी गुरुत्व ही है । इनमें पहला कर्म गुरुत्व से उत्पन्न होता है और बाद के कर्म गुरुत्व और वेगाख्य संस्कार इन दोनों से उत्पन्न होते हैं । इनमें मूसल की पहली क्रिया उसके गुरुत्व से उत्पन्न होती है । उस क्रिया से मूसल में वेग उत्पन्न होता है । इसके बाद की मूसल की क्रियायें गुरुत्व और वेग इन दोनों से ही होती है; क्योंकि इन दोनों में से प्रत्येक में क्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य अन्यत्र निश्चित हो चुका है ।

'स्रोतोभूतानामपाम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा द्रवत्व से स्यन्दनरूप क्रिया की उत्पत्ति की रीति कही गयी है । किसी ऊँची जगह से जल जो नीचे की ओर फैलता है, उसे 'स्यन्दन' कहते हैं, यह स्यन्दनरूप क्रिया द्रवत्व से उत्पन्न होती है । 'कथम्' यह पद प्रश्न का बोधक है और 'समन्तात्' इत्यादि से इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

कृतो भवति, तदा समन्तात् प्रतिबद्धत्वादवयविद्रवत्वस्य कार्यारम्भो नास्ति । सेतुसमीपस्थस्यावयवद्रवत्वस्योत्तरेषामवयवद्रवत्वानां प्रतिबन्धकाभावाद् वृत्तिलाभः । ततः क्रमशः संयुक्ताना-

जाता है, उस समय सभी किनारों के साथ संयुक्त रहने के कारण अवयवी के द्रवत्व प्रतिरुद्ध रहते हैं, अतः अपना (स्यन्दन) क्रियारूप काम नहीं कर सकते । अतः कोई प्रतिबन्ध न रहने के कारण बाँध के समीप में रहनेवाले जलावयवों के द्रवत्व ही अपने कार्य करने को उन्मुख रहते हैं। उसके बाद बाँध से संयुक्त जलावयवों में ही 'अपसर्पण' (नीचे की तरफ फैलने की) क्रियाओं की उत्पत्ति होती है । इसके बाद पहले द्रव्य का

न्यायकन्दली

समन्तात् **सर्वतो** रोधःसंयोगे **कूलसंयोगे सति अवयविनो द्रवत्वं प्रतिबद्धं स्यन्दनं वा न करोति** । अवयवद्रवत्वमप्येकार्थसमवेतं तेनैव प्रतिबद्धम्, **यस्मिन्नवयवे साक्षाद् रोधःसंयोगोऽस्ति तदवयवगतद्रवत्वं तेनैव रोधःसंयोगेन प्रतिबद्धम्,** उत्तरोत्तराणि त्ववयवद्रवत्वानि संयुक्तसंयोगैः प्रतिबद्धानि, **रोधःसंयुक्तेनावयवेन सह संयोगादवयवान्तरस्य द्रवत्वं प्रतिबद्धमिति । तत्संयोगादपरस्य प्रतिबद्धमित्यनेनैव न्यायेनोत्तरोत्तरद्रवत्वानि प्रतिबद्धानि** । यदा तु मात्रया सेतुभेदः कृतो भवति, तदा समन्तात् प्रतिबद्धस्यावयविद्रवत्वस्य कार्यारम्भो नास्ति, **दीर्घतरेण सेतुना समन्तात् प्रतिबद्धस्यावयविनो महापरिमाणस्यैकदेशकृतेनाल्पीयसा मार्गेण निर्गमाभावात्** । सेतुसमीपस्थस्य

'समन्तात्' अर्थात् सभी कूल के अवयवों में 'रोधःसंयोगेन' दोनों किनारे के साथ जल का संयोग उसके द्रवत्व को प्रतिरुद्ध कर देता है । 'अवयवद्रवत्वमप्येकार्थसमवेतं तेनैव प्रतिबद्धम्' जिस अवयव का किनारे के साथ साक्षात् संयोग है, उस अवयव में रहनेवाला द्रवत्व भी अवयव और किनारे के संयोग से ही प्रतिरुद्ध हो जाता है । 'उत्तरोत्तराणि त्ववयवद्रवत्वानि संयुक्तसंयोगैः प्रतिबद्धानि' अर्थात् किनारे से संयुक्त अवयव के साथ संयोग के कारण ही अन्य अवयवों का द्रवत्व भी प्रतिरुद्ध होता है । उस अन्य अवयव के संयोग से तीसरे अवयव का द्रवत्व प्रतिरुद्ध होता है । इसी रीति से अन्य अवयवों के द्रवत्व भी प्रतिरुद्ध होते हैं । 'यदा मात्रया सेतुभेदः कृतो भवति तदा समन्तात् प्रतिबद्धस्यावयविद्रवत्वस्य कार्या- रम्भो नास्ति' क्योंकि बहुत बड़े बाँध से घिरे हुए उस महत् परिमाणवाले अवयवी रूप जल का किसी एक ओर बनाये गये छोटे मार्ग से निकलना सम्भव नहीं है; किन्तु उस बाँध के समीप में जो थोड़े से जल के अवयव हैं, उनका उस छोटे से मार्ग से निकलना सम्भव है । इस प्रकार जल के कुछ अवयवों

प्रशस्तपादभाष्यम्

मेवाभिसर्पणम् । ततः पूर्वद्रव्यविनाशे सति प्रबन्धेनावस्थितैरवयवैर्दीर्घं द्रव्यमारभ्यते । तत्र च कारणगुणपूर्वक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यते । तत्र च कारणानां संयुक्तानां प्रबन्धेन गमने यदवयविनि कर्मोत्पद्यते तत् स्यन्दनाख्यमिति ।

विनाश हो जाने पर संयुक्त रूप से अवस्थित जलावयवों से ही बड़े द्रव्य की उत्पत्ति होती है । इस बड़े द्रव्य में कारणगुणक्रम से द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । वहाँ पर किनारों के साथ सम्बद्ध अवयवों का संयुक्त रूप से गमन होने पर जो अवयवी में क्रिया उत्पन्न होती है, उसी का नाम 'स्यन्दन' है ।

न्यायकन्दली

त्ववयवद्रवत्वस्य **वृत्तिलाभो भवति, अल्पस्यावयवस्य तेन मार्गेण निर्गतिसम्भवात् । तस्य वृत्तिलाभे चोत्तरेषामवयवद्रवत्वानामपि प्रतिबन्धकाभावाद्** वृत्तिलाभः **स्वकार्यकर्तृत्वं स्यात्** । ततः क्रमशः संयुक्तानामेवाभिसर्पणम् । **सेतुसमीपस्थोऽवयवः प्रथममभिसर्पति, तदनु तत्समीपस्थस्ततस्तत्समीपस्थ इत्यनेन क्रमेण सर्वेऽवयवा अभिसर्पन्ति । ते चाभिसर्पन्तो न परस्परभिन्नदेशा अभिसर्पन्ति; किन्तु तथाभिसर्पन्ति यथा परस्परसंयुक्ता भवन्तीत्येतदवद्योतनार्थमुक्तं** संयुक्तानामेवाभिसर्पणम् । **न पुनरस्यायमर्थोऽप्रच्युतप्राच्यसंयोगानामेवाभिसर्पणमिति, संस्थानान्तरोपलम्भात्** । ततः **प्राक्तनसंयोगविनाशे** पूर्वद्रव्यविनाशे प्रबन्धेनावस्थितैरवयवैः **संयुक्तीभावेनावस्थितैरवयवैर्दीर्घं द्रव्यमारभ्यते** । तत्र च कारणगुणपूर्वक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यते । **अवयवद्रवत्वेभ्यो दीर्घतरेऽ-**

के द्रवत्व से कार्य करना सम्भव होने पर 'उत्तरेषामवयवद्रवत्वानामपि प्रतिबन्धकाभावाद् वृत्तिलाभः' अर्थात् अपने-अपने कार्य करने में वे समर्थ होंगे । "ततः क्रमशः संयुक्तानामेवाभिसर्पणम्" अर्थात् पहले बाँध के समीप का अवयव निकलता है । उसके बाद उस अवयव के साथ संयुक्त दूसरा अवयव निकलता है । उनके बाद उस दूसरे अवयव के साथ सम्बद्ध तीसरा अवयव निकलता है । इसी क्रम से जल के सभी अवयव निकल जाते हैं । जल के वे अवयव ऐसे नहीं निकलते कि एक-दूसरे से बिलकुल अलग होकर भिन्न देशों में चले जाँय; किन्तु इस प्रकार निकलते हैं कि जिससे परस्पर संयुक्त होकर ही निकलें । इसी वस्तुस्थिति को सूचित करने के लिए 'संयुक्तानामेवाभिसर्पणम्' यह वाक्य लिखा गया है । उक्त वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि पहले के अविनष्ट संयोग से युक्त अवयवों का ही निःसरण होता है; क्योंकि निःसरण के बाद दूसरे प्रकार के अवयव- संयोगों से युक्त अवयवियों की उपलब्धि होती है । 'ततः' अर्थात् पहले के संयोग के विनष्ट हो जाने पर 'पूर्वद्रव्यविनाशे प्रबन्धेनावस्थितैरवयवैः' अर्थात् परस्पर संयुक्त होकर अवस्थित अवयवों से "दीर्घं द्रव्यमारभ्यते, तत्र च कारणगुणपूर्वक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यते" अर्थात् अवयवों में रहनेवाले द्रवत्वों से बड़े अवयवी

प्रशस्तपादभाष्यम्

संस्कारात् कर्म इष्वादिषूक्तम् । तथा चक्रादिष्ववयवानां पार्श्वतः प्रतिनियतदिग्देशसंयोगविभागोत्पत्तौ यदवयविनः संस्कारद-

तीर प्रभृति में संस्कार के द्वारा कर्म की उत्पत्ति कह चुके हैं । उसी प्रकार चक्र (मिट्टी के बर्त्तन बनाने की चक्की) प्रभृति में उनके

न्यायकन्दली

वयविनि द्रवत्वमुत्पद्यते । तत्र च कारणानां संयुक्तानां प्रबन्धेन गमने यदवयविनि कर्मोत्पद्यते **द्रवत्वात्** तत् स्यन्दनम् । तत्र **तस्मिन् द्रवत्वे उत्पन्ने सति** कारणाना**मवयवानां** प्रबन्धेन **गमने पङ्क्तीभावेनाभिन्नदेशतया गमने** यदवयविनि द्रवत्वात् कर्मोत्पद्यते तत् स्यन्दनाख्यम् ।

संस्कारात् कर्मेष्वादिषूक्तम्, तथा चक्रादिषु । **तथाशब्दो यथाशब्दमपेक्षते, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । यथा इष्वादिषु संस्कारात् कर्म कथितम्, तथा चक्रादिष्वपि भवतीत्यर्थः । एतदेव दर्शयति**—अवयवानां पार्श्वतः प्रतिनियतदिग्देशसंयोगविभागोत्पत्तौ यदवयविनः संस्कारादनियतदिग्देशसंयोगविभागनिमित्तं कर्म तद् भ्रमणम् । **पार्श्वतः प्रतिनियता ये दिग्देशास्तैः सहावयवानां संयोगविभागयोरुत्पत्तौ सत्यां यदवयविनः संस्कारादनियतदिग्देशैः सर्वतो दिक्कैर्विभागसंयोगनिमित्तं कर्म जायते तद् भ्रमणम् । प्रथमं चक्रावयविनि दण्डसंयोगात् कर्मोत्पद्यते । उत्तरोत्तराणि कर्माणि**

द्रव्य में द्रवत्व की उत्पत्ति होती है । "तत्र च कारणानां प्रबन्धे गमने यदवयविनि कर्मोत्पद्यते द्रवत्वात् तत् स्यन्दनम्" वहाँ बड़े द्रव्य में द्रवत्व के उत्पन्न होने पर 'कारणों का' अर्थात् उसके अवयवों का 'प्रबन्ध से' अर्थात् पङ्क्तिबद्ध होकर एक देश में गमन होने पर द्रवत्व से अवयवी में जो कर्म उत्पन्न होता है, उसी कर्म का नाम 'स्यन्दन' है ।

"संस्कारात् कर्मेष्वादिषूक्तम्, तथा चक्रादिषु" । 'तथा' शब्द 'यथा' शब्द की अपेक्षा रखता है; क्योंकि 'यत्' शब्द और 'तत्' शब्द परस्पर नित्यसाकाङ्क्ष हैं । तदनुसार उक्त भाष्यग्रन्थ का यह आशय है कि जिस प्रकार तीर प्रभृति में वेगाख्य संस्कार के द्वारा कर्म की उत्पत्ति कही गयी है, उसी प्रकार चक्रादि में भी (वेग से ही संस्कार की उत्पत्ति) होती है । "अवयवानां पार्श्वतः प्रतिनियतदिग्देशसंयोगविभागनिमित्तं कर्म तद् भ्रमणम्" इस भाष्यसन्दर्भ के द्वारा इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है । (इस सन्दर्भ का अक्षरार्थ यह है कि) अवयवी के चारों ओर नियत जो दिग्देश हैं, उन देशों के साथ उनके अवयवों के संयोग और विभाग उत्पन्न होते हैं, उनके उत्पन्न होने पर अवयवी में रहनेवाले वेगाख्य संस्कार से अनियमित दिग्देशों के साथ अर्थात् सभी दिशाओं के साथ संयोग और विभाग की उत्पत्ति होती है, इस संयोग या विभाग से जिस कर्म की उत्पत्ति

प्रशस्तपादभाष्यम्

नियतदिग्देशसंयोगविभागनिमित्तं कर्म तद् भ्रमणमिति । एवमादयो गमन-विशेषाः ।

प्राणाख्ये तु वायौ कर्म आत्मवायुसंयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षाज्जाग्रत इच्छानुविधानदर्शनात्, सुप्तस्य तु जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् ।

अवयवों का अनियत दिशाओं के साथ संयोग और विभागों की जनक क्रियाओं की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार की क्रियाओं को 'भ्रमण' कहते हैं । ये सभी (स्यन्दन, भ्रमणादि) कर्म विशेष प्रकार के गमनरूप ही हैं ।

जागते हुए व्यक्ति के प्राण नाम के वायु में आत्मा और वायु के संयोग से क्रिया उत्पन्न होती है, जिसमें (उक्त संयोग को) इच्छा या द्वेष से उत्पन्न होनेवाले प्रयत्न के साहाय्य की भी आवश्यकता होती है; क्योंकि जगे हुए व्यक्ति की सभी क्रियाओं में इच्छा (या द्वेष) का अन्वय और व्यतिरेक देखा जाता है । सोये हुए व्यक्ति के प्राणवायु की क्रिया (यद्यपि आत्मा और वायु के संयोग से ही होती है, किन्तु उसे) जीवनयोनियत्न का ही साहाय्य अपेक्षित होता है (इच्छापूर्वक या द्वेष-पूर्वक प्रयत्न का नहीं) ।

न्यायकन्दली

नोदनादभिघातात् कर्मजात् संस्कराच्च भवन्ति । एवं वेगाद् दण्डसंयुक्ते चक्रावयवे आद्यं कर्म दण्डसंयोगात्, अवयवान्तरेषु च संयुक्तसंयोगात्, दण्डसंयुक्तस्यावयवस्योत्त-रोत्तरकर्माणि संस्कारान्नोदनाच्च । अपरेषां संस्कारात्, संयुक्तसंयोगाच्च । दण्डविगमे तु चक्रे तदवयवेषु च संस्कारादेव केवलात् । उपसंहरति–एवमादयो गमनविशेषा इति ।

होती है, वही 'भ्रमण है । पहले चक्ररूप अवयवी में दण्ड के संयोग से क्रिया की उत्पत्ति होती है । आगे-आगे की क्रियायें कर्मजनित अभिघात या नोदन से और संस्कार से उत्पन्न होती हैं । इसी प्रकार वेग के कारण दण्ड से संयुक्त चक्र के अवयवों में पहली क्रिया की उत्पत्ति दण्ड के संयोग से होती है । अन्य अवयवों में पहली क्रिया संयुक्तसंयोग से होती है । दण्ड के साथ संयुक्त चक्र के अवयव की आगे-आगे की क्रियायें संस्कार और नोदन से होती हैं । इससे भिन्न अवयवों की पहली क्रिया संस्कार से और संयुक्तसंयोग से होती है । दण्ड के हटा लेने पर चक्र में और उसके अवयवों में जो क्रियायें होती रहती हैं, उनका कारण केवल संस्कार ही है । 'एवमादयो गमनविशेषाः' इस सन्दर्भ से गमनरूप क्रिया के प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

आकाशकालदिगात्मनां सत्यपि द्रव्यभावे निष्क्रियत्वं सामान्यादिवदमूर्त्तत्वात् । मूर्तिरसर्वगतद्रव्यपरिमाणम्, तदनुविधायिनी

आकाश, काल, दिशा और आत्मा ये सभी द्रव्य होने पर भी क्रिया से रहित हैं; क्योंकि ये सभी सामान्यादि पदार्थों की तरह अमूर्त्त हैं । सभी द्रव्यों के साथ असंयुक्त (कुछ ही द्रव्यों के साथ सयुंक्त) द्रव्य के

न्यायकन्दली

प्राणाख्ये वायौ कर्म आत्मवायुसंयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षाद् **भवतीति । कथमिदं जातमत आह**—इच्छानुविधानदर्शनात् । **रेचकपूरकादिप्रयोगेष्विच्छानुविधायिनी प्राणक्रियोपलभ्यते । नासारन्ध्रप्रविष्टे रजसि तन्निरासार्थं प्राणक्रिया द्वेषादपि भवति, अतः प्रयत्नपूर्विकेत्यवगम्यते ।** सुप्तस्य जीवनपूर्वक**प्रयत्नापेक्षादात्मवायुसंयोगात् । सुप्तस्य प्राणक्रिया प्रयत्नकार्या प्राणक्रियात्वात्, जाग्रतः प्राणक्रियावत् । स चेच्छाद्वेषपूर्वको न भवति, सुप्तस्येच्छाद्वेषयोरभावात् । तस्माज्जीवनपूर्वक एव निश्चीयते, प्राणधारणस्य तत्पूर्वकत्वात् ।**

चतुर्षु महाभूतेष्विवाकाशादिषु कस्मात् क्रियोत्पत्तिर्न चिन्तितेत्याह— आकाशकालदिगात्मनामिति । **क्रियावत्त्वं मूर्त्तत्वेन व्याप्तं मूर्त्तत्वं चाकाशादिषु**

"प्राणाख्ये वायौ कर्म आत्मवायुसंयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षाद् भवतीति" प्राणवायु में उक्त प्रकार से क्रिया की उत्पत्ति कैसे होती है? इसी प्रश्न का उत्तर 'इच्छानुविधानदर्शनात्' इस वाक्य से दिया गया है । अर्थात् रेचक, पूरक प्रभृति प्राणायाम में प्राणवायु की क्रियायें इच्छा के अनुरूप देखी जाती हैं । इसी प्रकार नाक के छिद्र में जब धूल चली जाती है, तो उसे निकालने के लिए द्वेष से भी प्राणवायु में क्रिया देखी जाती है । अतः यह समझते हैं कि प्राणवायु की क्रिया का प्रयत्न कारण है । सुप्त पुरुष के प्राणवायु की क्रिया आत्मा और वायु के संयोग से उत्पन्न होती है, जिसमें उस संयोग को जीवनयोनियत्न का साहाय्य भी अपेक्षित होता है । इस प्रसङ्ग में यह अनुमान भी है कि जिस प्रकार जाग्रत् पुरुष के प्राणवायु की क्रिया केवल प्राण की क्रिया होने के कारण ही प्रयत्न से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सुषुप्त पुरुष के प्राणवायु की क्रिया भी प्रयत्न से उत्पन्न होती है; क्योंकि वह भी प्राण की ही क्रिया है । सुषुप्त पुरुष के प्राणवायु में क्रिया का उत्पादक-प्रयत्न, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि सुषुप्त पुरुष में इच्छा और द्वेष का रहना सम्भव नहीं है । अतः सुषुप्त पुरुष के प्राणवायु में क्रिया का उत्पादक जीवनपूर्वक प्रयत्न ही है; क्योंकि प्राण का धारण उसी प्रयत्न से होता है ।

'आकाशकालदिगात्मनाम्' इत्यादि सन्दर्भ से इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि जिस प्रकार पृथिवी प्रभृति चार द्रव्यों में क्रिया की उत्पत्ति का विचार किया है, उसी

प्रशस्तपादभाष्यम्

च क्रिया, सा चाकाशादिषु नास्ति । तस्मान्न तेषां क्रियासम्बन्धोऽस्तीति ।

सविग्रहे मनसीन्द्रियान्तरसम्बन्धार्थं जाग्रतः कर्म आत्ममनः-संयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षात्, अन्वभिप्रायमिन्द्रियान्तरेण विषया-

परिमाण को 'मूर्त्ति' कहते हैं । यह 'मूर्त्ति' जहाँ रहती है, क्रिया वहीं होती है । यह (मूर्त्ति) आकाशादि द्रव्यों में नहीं है, अतः उनमें क्रिया का सम्बन्ध भी नहीं है ।

शरीर के सम्बन्ध से युक्त जागते हुए व्यक्ति के मन की क्रिया आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होती है, जिसमें उसे इच्छा या द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न के साहाय्य की भी आवश्यकता होती है; क्योंकि

न्यायकन्दली

नास्ति, अतः क्रियावत्त्वमपि न विद्यत इत्यर्थः । एतदेव विवृणोति– मूर्त्तिरित्यादिना । **तद् व्यक्तम् ।**

मनसि कर्मकारणमाह–सविग्रह इति । जाग्रतः **पुरुषस्य** सविग्रहे मनसि **सशरीरे मनसी-**न्द्रियान्तरसम्बन्धार्थं कर्म आत्ममनःसंयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षाद् भवति । **इच्छाद्वेष-पूर्वकः प्रयत्नो जाग्रतो मनसि क्रियाहेतुरिति । कथमेतदवगतं तत्राह–** अन्वभिप्रायमिन्द्रिया-न्तरेण विषयोपलब्धिदर्शनात् । **जागरावस्थायामभिप्रायानतिक्रमेणेन्द्रियान्तरेण चक्षुरादिना विषयोपलब्धिर्दृश्यते । यदा रूपं जिघृक्षते पुरुषस्तदा रूपं पश्यति, यदा रसं जिघृक्षते तदा रसं रसयति । न चान्तःकरणसम्बन्धमन्तरेण बाह्येन्द्रियस्य विषयग्राहकत्व-**

प्रकार आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन चार महान् द्रव्यों में भी क्रिया की उत्पत्ति का विचार क्यों नहीं किया गया? इस प्रश्न के उत्तरग्रन्थ का अभिप्राय है कि यह व्याप्ति है कि क्रिया मूर्त्त द्रव्यों में ही रहे । आकाशादि कथित चारों द्रव्य मूर्त्त नहीं हैं, अतः उनमें क्रिया भी नहीं है । 'मूर्तिः' इत्यादि सन्दर्भ से इसी का विवरण दिया गया है । इस भाष्य-ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट है ।

'सविग्रहे' इत्यादि सन्दर्भ से मन में जो कर्म उत्पन्न होता है, उसका कारण दिख-लाया गया है । जागते हुए पुरुष के 'सविग्रहे मनसि' अर्थात् शरीर सम्बन्ध से युक्त मन में "इन्द्रियान्तरसम्बन्धार्थं कर्म, आत्ममनःसंयोगादिच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नापेक्षात्" अर्थात् इच्छा या द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न ही जागते हुए पुरुष के मन में क्रिया का कारण है । यह कैसे समझा? इसी प्रश्न का उत्तर "अन्वभिप्रायमिन्द्रियान्तरेण विषयोपलब्धिदर्श-नात्" इस वाक्य से दिया गया है । अर्थात् जाग्रत् अवस्था में इच्छा के अनुसार ही 'इन्द्रियान्तरेण' अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों से विषयों की उपलब्धि देखी

प्रशस्तपादभाष्यम्

न्तरोपलब्धिदर्शनात् । सुप्तस्य प्रबोधकाले जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षात् ।

अपसर्पणकर्मोपसर्पणकर्म चात्ममनःसंयोगाददृष्टापेक्षात् । कथम् ? यदा जीवनसहकारिणोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात् प्रक्षयोऽन्योन्याभिभवो

इच्छा के बाद ही इन्द्रियों से विषयों की उपलब्धि होती है । (किन्तु) सोते हुए व्यक्ति के जागने के समय (उसके मन की क्रिया यद्यपि) आत्मा और मन के संयोग से ही उत्पन्न होती है; किन्तु उसमें जीवनयोनियत्न का साहाय्य भी अपेक्षित होता है (इच्छा-द्वेष या जनित प्रयत्न का नहीं) ।

मन की 'उपसर्पण' और 'अपसर्पण' नाम की दोनों क्रियायें आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होती हैं । जिसमें अदृष्ट का साहाय्य भी अपेक्षित होता है । (प्र.) किस प्रकार? (उ.) जिस समय भोग से जीवन के सहकारी धर्म और अधर्म का विनाश हो जाता है अथवा परस्पर एक-दूसरे से ही दोनों की कार्योत्पादन शक्ति अवरुद्ध हो जाती है, उस समय जीवन के दोनों सहायकों के अभाव के कारण उनसे उत्पन्न होनेवाले प्रयत्न का भी विनाश हो जाता है । प्रयत्न के इस अभाव से ही प्राण का नाश होता है । इसके बाद अपने कार्य के उत्पादन में उन्मुख दूसरे धर्म और अधर्म से उस अपसर्पण नाम की क्रिया की उत्पत्ति होती है, जिससे (ऐहिक

न्यायकन्दली

मस्ति । तस्मादिच्छाद्वेषपूर्वकात् प्रयत्नान्मनसि क्रिया भूतेति गम्यते । सुप्तस्येति । **सुप्तस्य पुरुषस्येन्द्रियान्तरसम्बन्धार्थं प्रबोधकाले मनसि क्रिया जीवनपूर्वकप्रयत्नापेक्षादात्ममनसोः संयोगात् ।**

अपसर्पणेति । **एतदपि कथमित्यादिना प्रश्नपूर्वकं कथयति । विशिष्टात्म-मनःसंयोगो** जीवनम्, **तस्य स्वकार्यकरणे धर्माधर्मौ सहकारिणौ । यदा**

जाती है । पुरुष जिस समय रूप को देखना चाहता है, उस समय रूप को ही देखता है । एवं जिस समय रस का आस्वादन करना चाहता है, उस समय रस का ही आस्वादन करता है । अन्तःकरण (मन) के सम्बन्ध के बिना बाह्य इन्द्रियों में विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं है । अतः समझते हैं कि इच्छा या द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न से ही मन में क्रिया उत्पन्न होती है । 'सुप्तस्येति' अर्थात् सोते हुए पुरुष के मन में दूसरी इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध के लिए जागते समय जो क्रिया उत्पन्न होती है, वह आत्मा और मन के संयोग से होती है, जिसे जीवनयोनियत्न के साहाय्य की भी अपेक्षा रहती है ।

'अपसर्पणेति' मन में यह अपसर्पणादि क्रियायें किस प्रकार होती हैं? यह प्रश्न कर उसका उत्तर देते हैं । आत्मा और मन का एक विशेष प्रकार

प्रशस्तपादभाष्यम्

वा तदा जीवनसहाययोर्वैकल्यात् तत्पूर्वकप्रयत्नवैकल्यात् प्राणनिरोधे सत्यन्याभ्यां लब्धवृत्तिभ्यां धर्माधर्माभ्यामात्म-मनःसंयोगसहायाभ्यां मृतशरीराद् विभागकारणमपसर्पणकर्मोत्पद्यते ।

मृत) शरीर से मन का विभाग उत्पन्न होता है । इस विभाग के उत्पादन में उन्हें आत्मा और मन के संयोग के साहाय्य की भी अपेक्षा होती है । इस विभाग से ही मन में 'अपसर्पण' नाम की क्रिया उत्पन्न होती है । उस

न्यायकन्दली

तयोरुपभोगात् प्रक्षयो **विनाशोऽ**न्योन्याभिभवो वा **परस्परप्रतिबन्धात् स्वकार्याकरणं वा, ततो** जीवनसहाययोः **धर्माधर्मयो**र्वैकल्येऽभावे **सति** तत्पूर्वकप्रयत्नवैकल्याद् **जीवन-पूर्वकस्य प्रयत्नस्य** वैकल्याद**भावात्** प्राणवायोर्निरोधे सति **पतितेऽस्मिन् शरीरे याभ्यां धर्माधर्माभ्यां देहान्तरे फलं भोजयितव्यं तौ लब्धवृत्तिकौ भूतावैहिकशरीरोपभोग्यधर्माधर्म-प्रतिबद्धत्वाद् देहान्तरभोग्याभ्यां धर्माधर्माभ्यां कार्यं न कृतम् । यदा त्वैहिकशरीरोपभोग्यौ धर्माधर्मौ प्रक्षीणौ तदा देहान्तरोपभोग्यधर्माधर्मयोर्वृत्तिलाभः प्रतिबन्धाभावाज्जातः । ताभ्यां** लब्धवृत्तिभ्या**मैहिकदेहोपभोग्यात् कर्मणोऽन्या**भ्यामात्ममनःसंयोगसहायाभ्यां मृतशरीरा-न्मनसो विभागकारणमपसर्पणकर्मोत्पद्यते ।

का संयोग ही 'जीवन' है । इस जीवन से जो कार्य उत्पन्न होंगे, धर्म और अधर्म उनके सहकारिकारण हैं । जिस समय उपभोग से उनका 'प्रक्षय' अर्थात् विनाश हो जाएगा या 'अन्योन्याभिभव' अर्थात् परस्पर एक-दूसरे के प्रतिरोध के कारण दोनों अपने काम में अक्षय हो जाते हैं, उस समय जीवन (उक्त आत्ममनःसंयोग) के सहायक धर्म और अधर्म के 'वैकल्य' से अर्थात् अभाव के कारण 'तत्पूर्वकप्रयत्नवैकल्यात्' अर्थात् जीवन से उत्पन्न होने वाले प्रयत्न के अभाव से प्राणवायु का निरोध हो जाता है । जिससे इस शरीर का पतन हो जाता है । इस शरीर के पतन के बाद जिन धर्मों और अधर्मों से दूसरे शरीर के द्वारा उपभोग करना है, उन धर्मों और अधर्मों में कार्य करने की क्षमता आ जाती है । वर्तमान शरीर के द्वारा उपभोग के कारणीभूत धर्म और अधर्म से प्रतिरुद्ध होने के कारण ही वे धर्म और अधर्म अपने उन उपभोगरूप कार्यों से विरत रहते हैं, जिनका सम्पादन दूसरे शरीर से होना है । जिस समय ऐहिक शरीर के धर्म और अधर्म नष्ट हो जाते हैं या असमर्थ हो जाते हैं, उस समय दूसरे शरीर के द्वारा उपभुक्त होनेवाले धर्म और अधर्म अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं; क्योंकि उनका कोई प्रतिबन्धक नहीं रह जाता । ऐहिक शरीर से उपभोग्य इन धर्म और अधर्म से भिन्न एवं जीवनरूप आत्ममनःसंयोग के सहायक अथ च कार्यक्षम इन दूसरे धर्म और अधर्म से मन में अपसर्पण क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे मृत शरीर से मन का विभाग उत्पन्न होता है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

ततः शरीराद् बहिरपगतं ताभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां समुत्पन्नेनातिवाहिकशरीरेण सम्बध्यते, तत्संक्रान्तं च स्वर्गं नरकं वा गत्वा आशयानुरूपेण शरीरेण सम्बद्ध्यते, तत्संयोगार्थं कर्मोपसर्पणमिति ।

शरीर से निकला हुआ मन उन्हीं धर्मों और अधर्मों से उत्पन्न आतिवाहिक शरीर के साथ सम्बद्ध होता है । उस शरीर के साथ सम्बद्ध होकर ही मन स्वर्ग या नरक को जाता है और वहाँ जाकर स्वर्ग या नरक के भोगजनक धर्म और अधर्म के अनुरूप दूसरे शरीर के साथ सम्बद्ध

न्यायकन्दली

अपसर्पणकर्मोत्पत्तावात्ममनःसंयोगोऽसमवायिकारणम्, मनः समवायिकारणम्, लब्ध-वृत्ती धर्माधर्मौ निमित्तकारणम् । ततस्तदनन्तरं **तन्मनो मृतशरीराद्** बहिर्निर्गतं ताभ्यामेव **लब्धवृत्तिभ्यां धर्माधर्माभ्यां सकाशादु**त्पन्नेनातिवाहिकशरीरेण सम्बद्ध्यते । तत्संक्रान्तं **तदातिवाहिकशरीरसंक्रान्तं मनः** स्वर्गं नरकं वा **गच्छति । तत्र गत्वा** आशयानुरूपेण **कर्मानुरूपेण** शरीरेण सम्बद्ध्यते । **स्वर्गे नरके वा यदुपजातं शरीरं तत्र तावन्मनःसम्बन्धेन भवितव्यम्, अन्यथा तस्मिन् देशे भोगासम्भवात् । न चात्मवदगत्वैव मनसो देहान्तरसम्बन्धोऽस्ति, अव्यापकत्वात् । गमनं च तस्यैतावद् दूरं केवलस्य न सम्भवति, महाप्रलयानन्तरावस्थाव्यतिरेकेणाशरीरस्य मनसः कर्माभावात् । तस्मान्मृत-शरीरप्रत्यासन्नमदृष्टवशादुपजातक्रियैरणुभिर्द्व्यणुकादिप्रक्रमेणारब्धमतिसूक्ष्ममनुपलब्धियोग्यं**

आत्मा और मन का संयोग मन की इस अपसर्पण क्रिया का असमवायिकारण है एवं मन समवायिकारण है तथा कार्यक्षम धर्म और अधर्म उसके निमित्तकारण हैं । 'ततः' अर्थात् इसके बाद मृत शरीर से निकला हुआ वही मन अपने कार्य के उत्पादन में पूर्णक्षम उन्हीं धर्म और अधर्म से उत्पन्न आतिवाहिक शरीर के साथ सम्बद्ध होता है । 'तत्संक्रान्तम्' अर्थात् आतिवाहिक शरीर के साथ सम्बद्ध मन स्वर्ग या नरक में चला जाता है । वहाँ जाकर आशय के अनुरूप अर्थात् अपने कर्मों के अनुसार फल-भोग के अनुरूप शरीर के साथ सम्बद्ध हो जाता है । शरीर की उत्पत्ति स्वर्ग में हो या नरक में, उसमें मन का सम्बन्ध रहना आवश्यक है, उसके बिना स्वर्गादि देशों में भी भोग नहीं हो सकता । जिस प्रकार विभु होने के कारण आत्मा स्वर्गादि देशों में न जाकर भी उन देशों में उत्पन्न शरीरों के साथ सम्बद्ध हो जाता है, उसी प्रकार से मन के बिना वहाँ गये, उन दूसरे शरीरों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता; क्योंकि मन विभु नहीं है । इतनी दूर (शरीर से असम्बद्ध) केवल मन का जाना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि महाप्रलय को

प्रशस्तपादभाष्यम्

योगिनां च बहिरुद्रेचितस्य मनसोऽभिप्रेतदेशगमनं प्रत्यागमनं च, तथा सर्गकाले प्रत्यग्रेण शरीरेण सम्बन्धार्थं कर्मादृष्टकारितम् । एवमन्यदपि महाभूतेषु यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनुपलभ्यमानकारण-

होता है । इस शरीर के साथ मन के संयोग को उत्पन्न करनेवाली मन की क्रिया का नाम 'अपसर्पण' क्रिया है ।

एवं बाहर (विषय ग्रहण के लिए) निकला हुआ योगियों का मन जो उनके अभिप्रेत देश में ही जाता है और वहीं से लौट आता है, मन की वह क्रिया अदृष्ट से उत्पन्न होती है । इसी प्रकार सृष्टि के आदि में शरीर के साथ मन का संयोग जिस क्रिया से होता है, उसका कारण

न्यायकन्दली

शरीरं परिकल्प्यते । तच्च मृतशरीरमतिक्रम्य मनसः स्वर्गनरकादिदेशातिवाहनधर्मकत्वादातिवाहिकमित्युच्यते । मरणजन्मनोरन्तराले मनसः कर्म शरीरोपगृहीतस्यैवोपपद्यते, महाप्रलयानन्तरावस्थाभाविमनःकर्मव्यतिरिक्तत्वे सति मनःकर्मत्वाद् दृश्यमानशरीरवृत्तिमनःकर्मवत् । आगमश्चात्र संवादको दृश्यत इति । तत्संयोगार्थं च कर्मोपसर्पणमिति । तेन स्वर्गे नरके वा प्रत्यग्रजातेन शरीरेण मनःसंयोगार्थं कर्मोपसपर्णमिति ।

छोड़कर और किसी भी समय शरीर से असम्बद्ध मन में क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है । अतः स्थूल मृत शरीर के ही समीप में एक अतिसूक्ष्म, उपलब्धि के सर्वथा अयोग्य, आतिवाहिक शरीर की कल्पना करते हैं, जिसकी उत्पत्ति सक्रिय परिमाणुवों के द्वारा द्व्यणुकादि क्रम से होती है । उन परमाणुवों में क्रिया की उत्पत्ति अदृष्ट से होती है । उस सूक्ष्म शरीर का 'आतिवाहिक शरीर' यह अन्वर्थ नाम इसलिए है कि मन को इस मृतशरीर से छुड़ाकर स्वर्गादि देशों तक 'अतिवहन' कर ले जाता है । इस वस्तुस्थिति के उपयुक्त यह अनुमान है कि शरीर से सम्बद्ध मन में ही वर्त्तमान में क्रिया देखी जाती है (महाप्रलयरूप एक ही ऐसा समय है, जिस समय शरीर से असम्बद्ध मन में क्रिया रहती है), अतः अनुमान करते हैं कि मृत्यु के बाद और पुनः जन्म लेने से पहले इस बीच मन में जो क्रिया उत्पन्न होती है, उस समय भी मन का किसी शरीर के साथ सम्बन्ध अवश्य रहता है; क्योंकि मन की यह क्रिया भी महाप्रलयकालिक क्रिया से भिन्न मन की ही क्रिया है । इस सिद्धान्त को शास्त्ररूप शब्दप्रमाण का समर्थन भी प्राप्त है । "तत्संयोगार्थञ्च कर्मोपसर्पणमिति" सद्यः उत्पन्न उस स्वर्गीय या नारकीय शरीर के साथ सम्बन्ध के लिए ही मन में 'उपसर्पण' नाम की क्रिया उत्पन्न होती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

मुपकारापकारसमर्थं च भवति तदप्यदृष्टकारितम्, यथा सर्गादावणुकर्म, अग्नि वाय्वोरूर्ध्वतिर्यग्गमने महाभूतानां प्रक्षोभणम् । अभिषिक्तानां मणीनां तस्करं प्रति गमनम्, अयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं चेति ।

॥ इति प्रशस्तपादभाष्ये कर्मपदार्थः समाप्तः ॥

●

भी अदृष्ट ही है । इसी प्रकार जीवों के उपकार या अपकार करनेवाली महाभूतों की जिन क्रियाओं के कारणों का बोध प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं होता है, वे सभी क्रियायें अदृष्ट से ही उत्पन्न होती हैं । जैसे कि सृष्टि के आदि में परमाणुवों की क्रियायें एवं अग्नि और वायु की ऊर्ध्वतिर्यग्गतिरूप क्रियायें, भूगोलकों की चलन क्रियायें एवं अभिमन्त्रित मणि जो चोर की ओर जाती है, या सामान्य लोह चुम्बक की ओर जो जाता है, ये सभी क्रियायें भी अदृष्ट से ही उत्पन्न होती हैं ।

।। प्रशस्तपादभाष्य में कर्मपदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ ।।

●

न्यायकन्दली

योगिनां च बहिरुद्रेचितस्य **बहिर्निःसारितस्य** **मनसो**ऽभिप्रेतदेशगमनं प्रत्यागमनं च । तथा सर्गकाले प्रत्यग्रेण शरीरेण **सम्बन्धार्थं** **मनः**कर्मादृष्टकारितम् । **न केवलमेतावत् सर्व**मन्यदपि महाभूतेषु यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनुपलभ्यमानकारणमुपकारापकारसमर्थं तदप्यदृष्टकारितम्, यथा सर्गादावणुकर्म, अग्निवाय्वो**र्यथासंख्यमू**र्ध्वतिर्यग्गमने, महाभूतानां **भूगोलकादीनां**

'योगिनां च बहिरुद्रेचितस्य' अर्थात् योगी लोग जब अपने मन को पुनः अपने शरीर में लौट आने के लिए अभिप्रेत देश में जाने के लिए भेजते हैं, (उस समय) उनके मन की क्रियायें अदृष्ट से उत्पन्न होती हैं । मन की केवल वे ही क्रियायें नहीं, "अन्यदपि महाभूतेषु यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनुपलभ्यमानकारणमुपकारापकारसमर्थं तदप्यदृष्टकारितम्" (अर्थात् पृथिव्यादि महाभूतों की ही) अन्य उन क्रियाओं की उत्पत्ति भी अदृष्ट से ही माननी पड़ेगी, जिनके कारणों की उपलब्धि प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं होती है एवं जिनसे जिस किसी का कुछ उपकार या अपकार होता है । "यथा सर्गादावणुकर्म, अग्निवाय्वोर्यथासंख्यमूर्ध्वतिर्य्यग्गमने" जैसे सृष्टि के प्रथम क्षण की परमाणु की क्रिया एवं अग्नि की ऊपर की ओर जलने की क्रिया अथवा वायु की टेढ़े-मेढ़े चलने की क्रिया (अदृष्ट से उत्पन्न होती हैं) । 'महाभूतानाम्' अर्थात् भूगोल प्रभृति का 'प्रक्षोभण' अर्थात् चलन, चोरों की परीक्षा के समय 'अभिषिक्तानां मणीनां तस्करं प्रति गमनम्' अर्थात् उपयुक्त मन्त्र से अभिषिक्त

अथ सामान्यपदार्थनिरूपणम्

प्रशस्तपादभाष्यम्

सामान्यं द्विविधम्—परमपरं च । स्वविषयसर्वगत-

'पर' और 'अपर' भेद से सामान्य दो प्रकार का है । वह अपने विषयों (आश्रयों) में रहता है । वह अभिन्न स्वभाव का है । एक, दो या बहुत सी वस्तुओं में एक आकार की बुद्धि का कारण है अपने एक

न्यायकन्दली

च प्रक्षोभणं **चलनम्, परीक्षाकाले**ऽभिषिक्तानां मणीनां तस्करं प्रति गमनम्, अयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं च **सर्वमेतददृष्टकारितमिति ।**

हिताहितफलोपायप्राप्तित्यागनिबन्धनम् ।
कर्मेति परमं तत्त्वं यत्नतः क्रियतां हृदि ॥

॥ इति भट्टश्रीश्रीधरकृतायां पदार्थप्रवेशन्यायकन्दलीटीकायां कर्मपदार्थः समाप्तः ॥

●

मणियों का चोर की ओर जाना एवं "अयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणम्" अर्थात् साधारण लौह का चुम्बक की ओर जाना, ये भी सभी क्रियायें अदृष्ट से होती हैं ।

सुख और उसके उपाय की प्राप्ति एवं दुःख और उसके उपाय का परिहार, ये दोनों ही क्रिया से होते हैं, अतः इस क्रियातत्त्व को यत्न से हृदय में धारण करना चाहिए ।

॥ भट्ट श्री श्रीधर की रची हुई पदार्थों को समझानेवाली न्यायकन्दली टीका का कर्मनिरूपण समाप्त हुआ ॥

●

न्यायकन्दली

जयन्ति जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहृति-हेतवः ।
विश्वस्य परमात्मानो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥

सामान्यं व्याचष्टे—द्विविधं सामान्यं परमपरं चेति । **कृतव्याख्यान-मेतदुद्देशावसरे । सर्वसर्वगतं सामान्यमिति केचित् । तन्निषेधार्थमाह—** स्वविषयसर्वगतमिति । **यत् सामान्यं यत्र पिण्डे प्रतीयते स तस्य स्वो विषयः ,**

जगत् की उत्पत्ति के हेतु ब्रह्मा एवं स्थिति के हेतु विष्णु और संहार के हेतु महेश्वर, विश्व के परमात्मस्वरूप इन तीनों की जय हो ।

'द्विविधं सामान्यं परमपरञ्च' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा सामान्य का निरूपण- करते हैं । इस पङ्क्ति की व्याख्या पदार्थोद्देश प्रकरण में (पृ. २९ पं. ११) कर चुके हैं । किसी सम्प्रदाय का मत है कि 'सभी सामान्य सभी वस्तुओं में रहते हैं' इस मत के खण्डन के लिए ही 'स्वविषयसर्वगतम्' यह वाक्य लिखा गया है । जिस सामान्य की

प्रशस्तपादभाष्यम्

मभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि स्वरूपाभेदे-नाधारेषु प्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम् । कथम् ? प्रतिपिण्डं सामान्यापेक्षं प्रबन्धेन ज्ञानोत्पत्तावभ्यासप्रत्यय-

ही स्वरूप से अपने सभी आश्रयों में बराबर (बिना विराम के) रहता हुआ 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का, अर्थात् अपने आश्रयरूप विभिन्न व्यक्तियों में एक

न्यायकन्दली

तत्र सर्वस्मिन् गतं **समवेतम्, सर्वत्र तत्प्रत्ययात् । सर्वसर्वगतत्वाभावे त्वनुपलब्धिरेव प्रमाणम् ।** अभिन्नात्मकम्, **अभिन्नस्वभावम् । येन स्वभावेनैकत्र पिण्डे वर्तते सामान्यं तेनैव स्वभावेन पिण्डान्तरेऽपि वर्तते, तत्प्रत्ययाविशेषादित्यर्थः । अनेकेषु पिण्डेषु वृत्तिर्यस्य तदनेकवृत्ति । अभिन्नस्वभावमनेकत्र वर्तत इति च प्रतीतिसामर्थ्यात् समर्थनीयम् । न हि प्रमाणावगतेऽर्थे काचिदनुपपत्तिर्नाम । द्वित्वादिकमप्यभिन्नस्वभावमनेकत्र वर्तते, तस्मात् सामान्यस्य विशेषो न लभ्यते तत्राह**—एकद्विबहुष्विति । **सामान्यमेकस्मिन् पिण्डे द्वयोः पिण्डयोर्बहुषु वा पिण्डेष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययं करोति । एकस्य पिण्डस्य द्वयोर्बहूनां वोपलम्भे सति गौरिति प्रत्ययस्य भावात्, द्वित्वादिकं त्वेवं न**

प्रतीति जिस आश्रय में हो, वही उसका 'स्वविषय' है । वह सभी विषयों में 'गत' अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता है; क्योंकि उन सभी विषयों में उस (सामान्य) की प्रतीति होती है । 'सामान्यं सर्वसर्वगतं' (अर्थात् सभी सामान्य सभी सामान्य के विषयों में) क्यों नहीं हैं ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि सर्वत्र सभी सामान्यों की प्रतीति नहीं होती है । 'अभिन्नात्मकम्' शब्द का अर्थ है 'अभिन्नस्वभाव', अर्थात् जिस स्वरूप से वह अपने एक आश्रय में रहता है, उसी स्वरूप से वह अपने और आश्रयों में भी रहता है; क्योंकि एक आश्रय में सामान्य की प्रतीति में एवं दूसरे आश्रयों में उसी सामान्य की प्रतीति में कोई अन्तर उपलब्ध नहीं होता । 'अनेकवृत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'अनेकेषु वृत्तिर्यस्य' अर्थात् अनेक आश्रयों में जो रहे, वही 'अनेकवृत्ति' है । सामान्य 'अभिन्नस्वभाव' का है और 'अनेक आश्रयों में रहता है' इन दोनों बातों का समर्थन तदनुकूल प्रामाणिक प्रतीतियों से करना चाहिए; क्योंकि प्रमाण के द्वारा निर्णीत अर्थ में किसी प्रकार की अनुपपत्ति की शङ्का नहीं की जा सकती । द्वित्वादि (व्यासज्यवृत्ति गुण) भी अनेकवृत्ति हैं और अभिन्न स्वभाव के भी हैं, अतः द्वित्वादि में सामान्य लक्षण की अतिव्याप्ति का निवारण उन दोनों विशेषणों से नहीं हो सकता, अतः 'एकद्विबहुषु' इत्यादि वाक्य लिखा गया है । अर्थात् (द्वित्वादि से सामान्य में यही अन्तर है कि) 'सामान्य' अपने एक आश्रय में, दो आश्रयों में अथवा बहुत से आश्रयों में प्रतीत होता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही गोपिण्ड में 'अयं गौः' इस प्रकार से 'सामान्य' की प्रतीति होती है,

प्रशस्तपादभाष्यम्

जनिताच्च संस्कारादतीतज्ञानप्रबन्धप्रत्यवेक्षणाद् यदनुगतमस्ति तत् सामान्यमिति । तत्र सत्तासामान्यं परमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव । यथा परस्परविशिष्टेषु चर्मवस्त्रकम्बलादिष्वेकस्मान्नीलद्रव्याभिसम्बन्धान्नीलं

आकार की बुद्धि का कारण है । (प्र.) यह किस प्रकार समझते हैं (कि अनेक वस्तुओं में एक ही सामान्य रहता है) । (उ.) प्रथमतः अनेक पिण्डों में से प्रत्येक में सामान्य का ज्ञान होता है । यही ज्ञान जब बार-बार होता है (जिसे अभ्यासप्रत्यय कहते हैं), तब उससे (दृढ़तर) संस्कार उत्पन्न होता है । इस संस्कार से उन ज्ञान-समूहों का स्मरण होता है । इस स्मरण से ही समझते हैं कि इस स्मरण के विषयीभूत सभी पिण्डों में अनुगत जो धर्म है, वही 'सामान्य' है ।

इन (पर और अपर सामान्यों) में सत्ता नाम का सामान्य केवल

न्यायकन्दली

भवतीति विशेषः । अनेकवृत्तित्वे सति यदेकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारणं तत् सामान्यमिति लक्षणार्थः । एतदेव विवृणोति–स्वरूपाभेदेनेति । **एकस्मिन् पिण्डे यत् स्वरूपं तत् पिण्डान्तरेऽपि । तस्मादभेदेनाधारेषु** प्रबन्धेनानुपरमेण **पूर्वपूर्वपिण्डापरित्यागेन वर्तमानं** सदनुवृत्तिप्रत्ययकारणं **स्वरूपानुगमप्रतीतिकारणं सामान्यम्** । कथमिति **परस्य प्रश्नः । कथमनेकेषु पिण्डेषु सामान्यस्य वृत्तिरवगम्यत इत्यर्थः । उत्तरमाह–प्रतिपिण्डमिति । पिण्डं पिण्डं**

उसी प्रकार दो गोपिण्डों में भी 'इमौ गावौ' या बहुत से गोपिण्डों में भी 'इमे गावः' इत्यादि आकार से 'सामान्य' की प्रतीतियाँ होती हैं । द्वित्वादि (व्यासज्यवृत्ति गुणों) में ऐसी बात नहीं है (उनकी प्रतीति उनके सभी आश्रयों में ही हो सकती है, तद्घटक किसी एक आश्रय में नहीं) । द्वित्वादि से सामान्य में यही अन्तर है । (सामान्य के लक्षणवाक्य का सार या मर्म यह है कि) जो स्वयं एक होकर भी अनेक वस्तुओं में विद्यमान रहे एवं (अपने आश्रयीभूत) एक व्यक्ति में, दो व्यक्तियों में अथवा बहुत से व्यक्तियों में अपने स्वरूप के द्वारा समान एवं अनुगत एक आकार के प्रत्यय का कारण हो, वही 'सामान्य' है । यही बात 'एतदेव' इत्यादि से कही गयी है । एक वस्तु का जो स्वरूप है, उस जाति की दूसरी वस्तु का भी वही स्वरूप है, सभी आश्रयों में अनुगत वह एक ही स्वरूप से अपने सभी आश्रयों में 'प्रबन्ध से' अर्थात् बिना विराम के फलतः पहले-पहले के अपने आश्रयरूप पिण्डों को बिना छोड़े हुए ही जो 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का अर्थात् अनेक वस्तुओं में एक आकार की प्रतीति का कारण हो, वही 'सामान्य' है । 'कथम्' इत्यादि से प्रतिवादी का प्रश्न सूचित किया गया है । जिसका अभिप्राय है कि यह कैसे समझते हैं कि समान रूप के सभी पिण्डों में एक ही जाति है ? 'प्रतिपिण्डम्' इत्यादि से

प्रशस्तपादभाष्यम्

नीलमिति प्रत्ययानुवृत्तिः, तथा परस्परविशिष्टेषु द्रव्यगुणकर्मस्वविशिष्टा सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः । सा

'अनुवृत्तिप्रत्यय' रूप कारण है । सत्ता नाम के परसामान्य की सिद्धि इस रीति से होती है कि जिस प्रकार नील चर्म, नील वस्त्र और नील कम्बलों में परस्पर विभिन्नता रहते हुए भी नील रङ्ग के सम्बन्ध से उनमें से प्रत्येक में 'यह नील है' इस एक आकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार परस्पर विभिन्न द्रव्यों, गुणों और कर्मों में से प्रत्येक में 'यह सत् है' इस एक

न्यायकन्दली

प्रति सामान्यापेक्षं यथा भवति, तथा ज्ञानोत्पत्तौ सत्यां योऽभ्यासप्रत्ययस्तेन यः संस्कारो जनितः, तस्मादतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य **ज्ञानप्रवाहस्य** प्रत्यवेक्षणात् **स्मरणाद् यदनुगतमस्ति तत् सामान्यम् । किमुक्तं स्यात् ? एकस्मिन् पिण्डे सामान्यमुपलभ्य पिण्डान्तरे तस्य प्रत्यभिज्ञानादेकस्यानेकवृत्तित्वमवगम्यते । अत एव तत्र बाधकहेतवः प्रत्यक्षविरोधादपास्यन्ते ।**

यत् पूर्वमुक्तं परमपरं च द्विविधं सामान्यमिति तदिदानीं विविच्य कथयति—तत्र परं सत्तासामान्यमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव । **यद्यपि प्रत्यक्षेण प्रतीयते सत्ता, तथापि विप्रतिपन्नं प्रत्यनुमानमाह**—यथा परस्परविशिष्टे-

इसी प्रश्न का समाधान किया गया है । 'पिण्डं पिण्डं यथा स्यात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत 'प्रतिपिण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् प्रत्येक पिण्ड में जिस रीति से सामान्य का ज्ञान होता है,उसी रीति से जब सामान्य की 'अभ्यासप्रतीति' अर्थात् बार-बार प्रतीति होती है, तब उससे सामान्यविषयक दृढ़ संस्कार की उत्पत्ति होती है । इस दृढ़ संस्कार से अतीत 'ज्ञानप्रबन्ध' का अर्थात् ज्ञानसमूह का 'प्रत्यवेक्षण' अर्थात् स्मृति होती है, इस स्मृति के द्वारा (विभिन्न व्यक्तियों में) जो अनुगत अर्थात् एक रूप से प्रतीत होता है, वही 'सामान्य' है । इससे निष्कर्ष क्या निकला ? (यही कि) एक वस्तु में सामान्य के प्रतीत होने पर दूसरी वस्तु में उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है । इस प्रत्यभिज्ञा से ही समझते हैं कि एक ही सामान्य अनेक वस्तुओं में रहता है । अतएव सामान्य के इस स्वरूप को बाधित करनेवाले सभी हेतु प्रत्यक्षविरोधी होने के कारण स्वयं निरस्त हो जाते हैं ।

पहले कह चुके हैं कि पर और अपर भेद से सामान्य दो प्रकार का है । 'तत्र परं सत्ता' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अब उसी को विचारपूर्वक और विस्तारपूर्वक समझाते हैं कि उनमें 'सत्ता' पर सामान्य (ही) है । अर्थात् केवल 'अनुवृत्तिप्रत्यय' अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों में एकाकार प्रतीति का ही प्रयोजक है । सत्ता यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है,

प्रशस्तपादभाष्यम्

जनिताच्च संस्कारादतीतज्ञानप्रबन्धप्रत्यवेक्षणाद् यदनुगतमस्ति तत् सामान्यमिति। तत्र सत्तासामान्यं परमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव । यथा परस्परविशिष्टेषु चर्मवस्त्रकम्बलादिष्वेकस्मान्नीलद्रव्याभिसम्बन्धान्नीलं

आकार की बुद्धि का कारण है । (प्र.) यह किस प्रकार समझते हैं (कि अनेक वस्तुओं में एक ही सामान्य रहता है) । (उ.) प्रथमतः अनेक पिण्डों में से प्रत्येक में सामान्य का ज्ञान होता है । यही ज्ञान जब बार-बार होता है (जिसे अभ्यासप्रत्यय कहते हैं), तब उससे (दृढ़तर) संस्कार उत्पन्न होता है । इस संस्कार से उन ज्ञान-समूहों का स्मरण होता है । इस स्मरण से ही समझते हैं कि इस स्मरण के विषयीभूत सभी पिण्डों में अनुगत जो धर्म है, वही 'सामान्य' है ।

इन (पर और अपर सामान्यों) में सत्ता नाम का सामान्य केवल

न्यायकन्दली

भवतीति विशेषः। अनेकवृत्तित्वे सति यदेकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारणं तत् सामान्यमिति लक्षणार्थः। एतदेव विवृणोति—स्वरूपाभेदेनेति। **एकस्मिन् पिण्डे यत् स्वरूपं तत् पिण्डान्तरेऽपि। तस्मादभेदेनाधारेषु** प्रबन्धेनानुपरमेण **पूर्वपूर्वपिण्डापरित्यागेन वर्तमानं** सदनुवृत्तिप्रत्ययकारणं **स्वरूपानुगमप्रतीतिकारणं सामान्यम्** । कथमिति **परस्य प्रश्नः । कथमनेकेषु पिण्डेषु सामान्यस्य वृत्तिरवगम्यत इत्यर्थः । उत्तरमाह—प्रतिपिण्डमिति । पिण्डं पिण्डं**

उसी प्रकार दो गोपिण्डों में भी 'इमौ गावौ' या बहुत से गोपिण्डों में भी 'इमे गावः' इत्यादि आकार से 'सामान्य' की प्रतीतियाँ होती हैं । द्वित्वादि (व्यासज्यवृत्ति गुणों) में ऐसी बात नहीं है (उनकी प्रतीति उनके सभी आश्रयों में ही हो सकती है, तद्घटक किसी एक आश्रय में नहीं) । द्वित्वादि से सामान्य में यही अन्तर है । (सामान्य के लक्षणवाक्य का सार या मर्म यह है कि) जो स्वयं एक होकर भी अनेक वस्तुओं में विद्यमान रहे एवं (अपने आश्रयीभूत) एक व्यक्ति में, दो व्यक्तियों में अथवा बहुत से व्यक्तियों में अपने स्वरूप के द्वारा समान एवं अनुगत एक आकार के प्रत्यय का कारण हो, वही 'सामान्य' है । यही बात 'एतदेव' इत्यादि से कही गयी है । एक वस्तु का जो स्वरूप है, उस जाति की दूसरी वस्तु का भी वही स्वरूप है, सभी आश्रयों में अनुगत वह एक ही स्वरूप से अपने सभी आश्रयों में 'प्रबन्ध से' अर्थात् बिना विराम के फलतः पहले-पहले के अपने आश्रयरूप पिण्डों को बिना छोड़े हुए ही जो 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का अर्थात् अनेक वस्तुओं में एक आकार की प्रतीति का कारण हो, वही 'सामान्य' है । 'कथम्' इत्यादि से प्रतिवादी का प्रश्न सूचित किया गया है । जिसका अभिप्राय है कि यह कैसे समझते हैं कि समान रूप के सभी पिण्डों में एक ही जाति है ? 'प्रतिपिण्डम्' इत्यादि से

प्रशस्तपादभाष्यम्

नीलमिति प्रत्ययानुवृत्तिः, तथा परस्परविशिष्टेषु द्रव्यगुणकर्मस्वविशिष्टा सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः । सा

'अनुवृत्तिप्रत्यय' रूप कारण है । सत्ता नाम के परसामान्य की सिद्धि इस रीति से होती है कि जिस प्रकार नील चर्म, नील वस्त्र और नील कम्बलों में परस्पर विभिन्नता रहते हुए भी नील रङ्ग के सम्बन्ध से उनमें से प्रत्येक में 'यह नील है' इस एक आकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार परस्पर विभिन्न द्रव्यों, गुणों और कर्मों में से प्रत्येक में 'यह सत् है' इस एक

न्यायकन्दली

प्रति सामान्यापेक्षं यथा भवति, तथा ज्ञानोत्पत्तौ सत्यां योऽभ्यासप्रत्ययस्तेन यः संस्कारो जनितः, तस्मादतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य **ज्ञानप्रवाहस्य** प्रत्यवेक्षणात् **स्मरणाद् यदनुगतमस्ति तत् सामान्यम् । किमुक्तं स्यात् ? एकस्मिन् पिण्डे सामान्यमुपलभ्य पिण्डान्तरे तस्य प्रत्यभिज्ञानादेकस्यानेकवृत्तित्वमवगम्यते । अत एव तत्र बाधकहेतवः प्रत्यक्ष-विरोधादपास्यन्ते ।**

यत् पूर्वमुक्तं परमपरं च द्विविधं सामान्यमिति तदिदानीं विविच्य कथयति—तत्र परं सत्तासामान्यमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव । **यद्यपि प्रत्यक्षेण प्रतीयते सत्ता, तथापि विप्रतिपन्नं प्रत्यनुमानमाह**—यथा परस्परविशिष्टे-

इसी प्रश्न का समाधान किया गया है । 'पिण्डं पिण्डं यथा स्यात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत 'प्रतिपिण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् प्रत्येक पिण्ड में जिस रीति से सामान्य का ज्ञान होता है,उसी रीति से जब सामान्य की 'अभ्यासप्रतीति' अर्थात् बार-बार प्रतीति होती है, तब उससे सामान्यविषयक दृढ़ संस्कार की उत्पत्ति होती है । इस दृढ़ संस्कार से अतीत 'ज्ञानप्रबन्ध' का अर्थात् ज्ञानसमूह का 'प्रत्यवेक्षण' अर्थात् स्मृति होती है, इस स्मृति के द्वारा (विभिन्न व्यक्तियों में) जो अनुगत अर्थात् एक रूप से प्रतीत होता है, वही 'सामान्य' है । इससे निष्कर्ष क्या निकला ? (यही कि) एक वस्तु में सामान्य के प्रतीत होने पर दूसरी वस्तु में उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है । इस प्रत्यभिज्ञा से ही समझते हैं कि एक ही सामान्य अनेक वस्तुओं में रहता है । अतएव सामान्य के इस स्वरूप को बाधित करनेवाले सभी हेतु प्रत्यक्षविरोधी होने के कारण स्वयं निरस्त हो जाते हैं ।

पहले कह चुके हैं कि पर और अपर भेद से सामान्य दो प्रकार का है । 'तत्र परं सत्ता' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अब उसी को विचार-पूर्वक और विस्तारपूर्वक समझाते हैं कि उनमें 'सत्ता' पर सामान्य (ही) है । अर्थात् केवल 'अनुवृत्तिप्रत्यय' अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों में एकाकार प्रतीति का ही प्रयोजक है । सत्ता यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है,

प्रशस्तपादभाष्यम्

चार्थान्तराद् भवितुमर्हतीति यत् तदर्थान्तरं सा सत्तेति सिद्धा । सत्तानुसम्बन्धात् सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः, तस्मात् सा सामान्यमेव ।

आकार की प्रतीति होती है । यह प्रतीति द्रव्य, गुण और कर्म इनसे भिन्न किसी वस्तु से ही होनी चाहिए । वही वस्तु है 'सत्ता' । इस सत्ता जाति के सम्बन्ध से 'यह सत् है यह सत् है' इत्यादि आकारों के अनुवृत्तिप्रत्यय ही हो सकते हैं (कोई भी व्यावृत्तिप्रत्यय नहीं), अतः सत्ता सामान्य ही है, विशेष नहीं ।

न्यायकन्दली

ष्विति । **तद् व्यक्तम् । द्रव्यादिषु सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः व्यतिरिक्तप्रत्ययनिबन्धना, भिन्नेषु प्रत्ययानुवृत्तित्वात्, चर्मवस्त्रादिषु नीलप्रत्ययानुवृत्तिवत् । यस्मात् सत्ता त्रिषु द्रव्यादिषु** प्रत्ययानुवृत्तिं करोति न व्यावृत्तिम्, तस्मात् **सामान्यमेव, न विशेष इत्युपसंहारार्थः ।** अपरं द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि **अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यं विशेषश्च भवति । द्रव्यत्वं द्रव्येष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः । गुणत्वं गुणेष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यम्, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वाद् विशेषः । तथा**

फिर भी जो कोई उसे प्रत्यक्षवेद्य नहीं मानते, उनके सन्तोष के लिए 'परस्पर- विशिष्टेषु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा अनुमान भी उपस्थित करते हैं । इस अनुमान प्रयोग का अर्थ स्पष्ट है । जिस प्रकार नीलवस्त्र के नीलधर्म प्रभृति में एक नीलवर्ण के ही कारण 'यह नील' है, इस एक आकार की प्रतीतियाँ 'अनुवृत्तिप्रत्यय' रूप होती हैं, उसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में 'यह सत् है' इस एक आकार की प्रतीति भी होती है, इन तीनों से भिन्न किसी वस्तु का ज्ञान उक्त प्रतीतियों का कारण है; क्योंकि उक्त सदाकारक प्रतीतियाँ भी अनुवृत्तिप्रत्यय हैं । (जिसका ज्ञान उक्त अनुवृत्तिप्रत्ययों का कारण है वही 'सत्ता' है) प्रकृत उपसंहार ग्रन्थ का यह अभिप्राय है कि यतः सत्ता द्रव्यादि तीनों पदार्थों में 'यह सत् है' इस आकार के अनुवृत्तिप्रत्यय का ही कारण है, किसी भी व्यावृत्ति (प्रत्यय) का नहीं, अतः 'सत्ता' सामान्य ही है, विशेष नहीं । द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि जातियाँ अनुवृत्तिप्रत्यय और व्यावृत्तिप्रत्यय दोनों की ही कारण हैं, अतः वे 'सामान्य' और 'विशेष' दोनों ही हैं । जैसे कि द्रव्यत्व जाति सभी द्रव्यों में 'यह द्रव्य है' इस अनुवृत्तिप्रत्यय का कारण है, अतः 'सामान्य' है । उसी प्रकार द्रव्य में ही 'यह गुण और कर्म से भिन्न है' (क्योंकि इसमें द्रव्यत्व है) इस व्यावृत्तिप्रत्यय का भी कारण है, अतः 'विशेष' भी है । एवं गुणत्व जाति सभी गुणों में 'यह गुण है' इस प्रकार की

प्रशस्तपादभाष्यम्

अपरं द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यं विशेषश्च भवति । तत्र द्रव्यत्वं परस्परविशिष्टेषु पृथिव्यादिष्वनुवृत्तिहेतुत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः । तथा गुणत्वं परस्परविशिष्टेषु रूपादिष्वनुवृत्तिहेतुत्वात् सामान्यम्, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः । तथा कर्मत्वं परस्परविशिष्टेषूत्क्षेपणादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यम्, द्रव्यगुणेभ्यो

द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि जातियाँ अपर हैं । ये अनुवृत्तिप्रत्यय के कारण होने से 'सामान्य' और व्यावृत्तिप्रत्यय के कारण होने से 'विशेष' दोनों ही हैं । इनमें द्रव्यत्व परस्पर विभिन्न पृथिवी प्रभृति नौ द्रव्यों में से प्रत्येक में 'यह द्रव्य है' इस एक आकार की प्रतीति के हेतु होने से 'सामान्य' है एवं उन्हीं नौ द्रव्यों में से प्रत्येक में 'यह गुण और कर्म से भिन्न है' इस व्यावृत्तिबुद्धि के हेतु होने से 'विशेष' भी है । इसी प्रकार गुणत्व भी रूपादि चौबीस गुणों में से प्रत्येक में 'यह गुण है' इस एक आकार के प्रत्ययों का हेतु होने से 'सामान्य' है एवं 'ये रूपादि द्रव्य और कर्म से भिन्न हैं' इस व्यावृत्तिबुद्धि का कारण होने से 'विशेष' भी है । इसी प्रकार कर्मत्व जाति भी उत्क्षेपणादि विभिन्न क्रियाओं में से प्रत्येक में 'यह क्रिया है' इस अनुवृत्तिप्रत्यय का कारण होने से सामान्य है एवं उत्क्षेपणादि क्रियाओं में से प्रत्येक में 'यह द्रव्य और गुण से भिन्न है' इस व्यावृत्तिबुद्धि का कारण

न्यायकन्दली

कर्मत्वं परस्परविशिष्टेषूत्क्षेपणादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यं द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः । द्रव्यत्वादिवत् पृथिवीत्वादीनामप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यविशेषभावोऽस्तीत्याह—एवमिति । **प्राणिगतानि सामान्यानि गोत्वाश्वत्वादीनि, अप्राणिगतानि घटत्वपटत्वादीनि । किं द्रव्यत्वादीनां सामान्य-**

अनुवृत्तिप्रतीति का कारण है, अतः सामान्य है । एवं द्रव्य और कर्म इन दोनों से 'गुण भिन्न है' (क्योंकि वह गुण है) इस व्यावृत्तिबुद्धि का भी कारण है, अतः 'विशेष' भी है । इसी प्रकार परस्पर विभिन्न उत्क्षेपणादि क्रियाओं में 'ये कर्म हैं' इस समान आकार की प्रतीति (अनुवृत्तिप्रत्यय) कर्मत्व से होती है, अतः वह सामान्य है और उन्हीं कर्मों में 'ये द्रव्य और गुण से भिन्न हैं' इस व्यावृत्ति बुद्धि की हेतु होने से 'विशेष' भी है । 'एवम्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा द्रव्यत्वादि जातियों की तरह पृथिवीत्वादि जातियों में भी कथित सामान्य-विशेषभाव का अतिदेश करते हैं । गोत्व, अश्वत्व प्रभृति

प्रशस्तपादभाष्यम्

व्यावृत्तिहेतुत्वाद् विशेषः । एवं पृथिवीत्वरूपत्वोत्क्षेपणत्वगोत्वघटत्वपटत्वादीनामपि प्राण्यप्राणिगतानामनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात्' सामान्यविशेषभावः सिद्धः । एतानि तु द्रव्यत्वादीनि प्रभूतविषयत्वात् प्राधान्येन सामान्यानि, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् भक्त्या विशेषाख्यानीति ।

होने से 'विशेष भी है । इसी प्रकार प्राणियों में रहनेवाले और अप्राणियों में रहनेवाले पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व,गोत्व, घटत्व, पटत्व प्रभृति जातियों में भी अनुवृत्तिप्रत्ययजनकत्व हेतु से सामान्यत्व और व्यावृत्तिप्रत्ययजनकत्व हेतु से विशेषत्व की सिद्धि समझनी चाहिए । द्रव्यत्वादि जातियाँ सामान्य के पूर्णलक्षण से युक्त होने के कारण वस्तुतः सामान्य ही हैं; किन्तु अपने आश्रयों को अपने से भिन्न वस्तुओं से पृथक् रूप में समझाने की योग्यता भी उनमें किसी अंश में संघटित होती है, अतः उनमें 'विशेष' शब्द का भी गौणप्रयोग होता है ।

न्यायकन्दली

स्वरूपं वास्तवम् ? किं वा विशेषस्वरूपता ? आहोस्विदुभयस्वरूपता? अत्राह– एतानीति । **समानानां भावः सामान्यमिति सामान्यलक्षणं द्रव्यत्वादिषु विद्यते, स्वाश्रयं सर्वतो विशिनष्टीति विशेष इति तु लक्षणं नास्ति । अत एतानि मुख्यया वृत्त्या सामान्यान्येव न विशेषाः, विशेषसंज्ञां तूपचारेण लभन्ते । विशेषो हि स्वाश्रयं सर्वतो विशिनष्टि, द्रव्यत्वादिकमपि विजातीयेभ्यः स्वाश्रयस्य विशेषणमित्येतावता साधर्म्येणोपचारप्रवृत्तिः ।**

प्राणियों में रहनेवाली जातियाँ हैं एवं घटत्व, पटत्व प्रभृति अप्राणियों में रहनेवाली जातियाँ हैं । (प्र.) (द्रव्यत्वादि सामान्य और विशेष दोनों कहे गये हैं) इस प्रसङ्ग में प्रश्न उठता है कि वे वास्तव में 'सामान्य' रूप हैं ? या वास्तव में वे 'विशेष' रूप ही हैं ? अथवा उनके दोनों ही स्वरूप वास्तव हैं ? इन्हीं विकल्पों का समाधान 'एतानि' इत्यादि ग्रन्थ से दिया गया है । अर्थात् 'समानानां भावः सामान्यम्' सामान्य का यह लक्षण द्रव्यत्वादि में पूर्ण रूप से है; किन्तु 'स्वाश्रयं सर्वतो विशिनष्टीति विशेषः' (जो अपने आश्रय को इतर सभी पदार्थों से अलग करे, वहीं 'विशेष' है) विशेष का यह लक्षण द्रव्यत्वादि में नहीं है (क्योंकि द्रव्यत्वादि अपने आश्रयीभूत एक द्रव्य व्यक्ति से अपने आश्रयीभूत दूसरे द्रव्य व्यक्ति को अलग नहीं समझा सकता), अतः द्रव्यत्वादि जातियाँ 'सामान्य' शब्द के ही मुख्यार्थ हैं । उनमें 'विशेष' शब्द का लक्षणावृत्ति से ही प्रयोग होता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'विशेष' पदार्थ अपने आश्रय को इतर सभी पदार्थों से अलग रूप में रखता है, उसी प्रकार द्रव्यत्वादि सामान्य भी अन्ततः अपने आश्रय

प्रशस्तपादभाष्यम्

लक्षणभेदादेषां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम् । अत एव च नित्यत्वम् ।

द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों से इसका स्वरूप (लक्षण) भिन्न है, अतः सिद्ध होता है कि यह सामान्य (द्रव्यादि की तरह) दूसरा ही (स्वतन्त्र) पदार्थ है । यतः लक्षणभेद के कारण द्रव्यादि से यह भिन्न है, अतः यह सिद्ध होता है कि सामान्य नित्य है ।

न्यायकन्दली

द्रव्यत्वादीनि द्रव्यादिव्यतिरिक्तानि न भवन्ति, अतस्तेषां पृथक् कार्यनिरूपणमन्याय्यमित्यत्राह—लक्षणभेदादिति । **अनुगताकारबुद्धिवेद्यानि द्रव्यत्वादीनि, व्यावृत्तिबुद्धिवेद्याश्च द्रव्यादिव्यक्तयः, तस्मादेषां द्रव्यत्वादीनां** लक्षणभेदात् **प्रतीतिभेदाद् द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वम्** । अत एव च नित्यत्वम् । **यत एव सामान्यस्य द्रव्यादिभ्यो भेदः, अत एव नित्यत्वम् । द्रव्याद्यभेदे सामान्यस्य द्रव्यादिविनाशे विनाशस्तदुत्पादे चोत्पादः स्यात्, भेदे तु नायं विधिरवतिष्ठत इति ।**

अत्रैके वदन्ति । भिन्नेष्वनुगता बुद्धिः सामान्यं व्यवस्थापयति । सा च प्रतिपिण्डं दण्डपुरुषाविव न स्वातन्त्र्येण सामान्यविशेषलक्षणे

को दूसरी जाति के आश्रयीभूत पदार्थों से तो अलग करते ही हैं, केवल इतने ही सादृश्य के कारण द्रव्यत्वादि सामान्यों में भी 'विशेष' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है ।

किसी सम्प्रदाय का मत है कि द्रव्यत्वादि जातियाँ आश्रयीभूत द्रव्यादि व्यक्तियों से भिन्न नहीं हैं, अतः उनका अलग से निरूपण करना उचित नहीं है । इसी आक्षेप का समाधान 'लक्षणभेदात्' इत्यादि से किया गया है । अनुगत आकार की प्रतीति के द्वारा ही द्रव्यत्वादि सामान्य समझे जाते हैं । द्रव्यादि व्यक्तियों का बोध व्यावृत्तिबुद्धि से होता है । तस्मात् 'एषाम्' अर्थात् द्रव्यत्वादि सामान्यों के लक्षण (द्रव्यादि व्यक्तियों के लक्षण से) भिन्न हैं, अतएव द्रव्यत्वादि सामान्य द्रव्यादि व्यक्तियों से अलग स्वतन्त्र पदार्थ हैं । "अत एव च नित्यत्वम्" अर्थात् द्रव्यत्वादि सामान्य यदि द्रव्यादि व्यक्तियों से अभिन्न होते, तो फिर द्रव्यादि के विनाश से उनका भी विनाश होता एवं उनकी उत्पत्ति से उनकी भी उत्पत्ति होती । यदि द्रव्यत्वादि सामान्य और द्रव्यादि व्यक्ति इन दोनों को भिन्न पदार्थ मान लेते हैं, तो यह स्थिति नहीं उत्पन्न होती (अतः उनको नित्य मानते हैं) ।

इसी प्रसङ्ग में किसी सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि (प्र.) विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की बुद्धि (अनुवृत्तिप्रत्यय) से ही सामान्य की सिद्धि की जाती है; किन्तु

न्यायकन्दली

द्वे वस्तुनी प्रतिभासयति ।नापि तयोर्विशेषण-विशेष्यभावः,गोत्वा[1]गोत्ववानित्येवमनुदयात्; किन्तु तादात्म्यग्राहिणी प्रतीतिरियम्, गौरयमित्येकात्मतापरामर्शात्, उभयोरन्योन्यप्रहाणेन स्वरूपान्तराभावाच्च । अनुवृत्तता हि गोत्वस्येव सामान्यान्तरस्यापि स्वरूपम्, व्यावृत्ततापि गोव्यक्तेर्व्यक्त्यन्तराणामपि स्वभावः । सामान्यान्तरव्यावृत्तं तु गोत्वस्य स्वरूपम्, व्यक्त्यन्तरव्यावृत्तिश्च गोव्यक्तेः स्वभावः परस्परात्मतामन्तरेणान्यो न शक्यते निर्देष्टुम् ।

जिस प्रकार 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि विशिष्टबुद्धियों में दण्ड और पुरुष दोनों में से एक सामान्यविधया और दूसरा व्यक्तिविधया स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है, उस प्रकार से 'अयं गौः, अयं गौः' इत्यादि आकार के अनुवृत्तिप्रत्ययों में गोत्वादि सामान्य रूप से और गोप्रभृति विशेष (व्यक्ति) रूप से प्रतिभासित नहीं होते । एवं उक्त प्रतीतियों में गो विशेष्य रूप से और गोत्व विशेषण रूप से भी प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि ऐसी बात होती तो प्रतीति का अभिलाप 'गौः[1] गोत्वन्' इस आकार का होता ('अयं गौः' इस आकार का नहीं) । तस्मात् 'अयं गौः' यह प्रतीति तादात्म्यविषयक है; क्योंकि 'अयम्' पदार्थ और 'गौः' पदार्थ दोनों के एकरूपत्व का ही उससे परामर्श होता है । दूसरी युक्ति यह भी है कि गो को छोड़कर गोत्व का कोई अपना स्वरूप नहीं है एवं गोत्व को छोड़कर गो का भी कोई स्वरूप नहीं है; क्योंकि केवल अनुवृत्तत्व जैसे गोत्व जाति में है, वैस ही अश्वत्वादि जातियों में भी है । एवं केवल व्यावृत्तत्व (अर्थात् स्वभिन्न-भिन्नत्व) जैसे गो व्यक्ति में है, वैसे ही अश्वादि व्यक्तियों में भी है, अतः गोत्व का ऐसा ही स्वरूप मानना पड़ेगा जो दूसरे सामान्यों में न रहे एवं गोव्यक्ति

---

1. मुद्रित न्यायकन्दली में 'गोत्वा गोत्ववान्' ऐसा पाठ है । यह तो स्पष्ट है कि इसमें एक 'ए' का चिह्न छूट गया है । अतः 'गोत्वो गोत्ववान्' ऐसा पाठ संशोधक को अभिप्रेत मालूम होता है । किन्तु सो भी ठीक नहीं जँचता; क्योंकि प्रथम विकल्प में कहा गया है कि 'अयं गौः' इस आकार की प्रतीति में गो का व्यक्तिविधया और गोत्व का जातिविधया भान नहीं होता है । इसके बाद 'नापि तयोः' इत्यादि से जो विकल्प किया गया है, उसमें द्विवचनान्त 'तयोः' पद से गो और गोत्व इन्हीं दोनों का ग्रहण समुचित जान पड़ता है । 'किन्तु तादात्म्यग्राहिणी' इत्यादि से इस विकल्प का खण्डन किया गया है कि 'अयं गौः' यह प्रतीति 'इदम्' पदार्थ में गो के तादात्म्यविषयक ही है । इससे भी इसी प्रतिषेध का आक्षेप होता है कि 'अयं गौः' यह प्रतीति गोविशेष्यक एवं गोत्वविशेषणक नहीं है । यदि ऐसी बात है तो फिर 'गौः गोत्ववान्' ऐसा ही पाठ उचित है । अतः तदनुसार ही अनुवाद किया गया है ।

न्यायकन्दली

न च तस्य स एव स्वभावः स एव च सम्बन्धीत्युपपद्यते, निःस्वभावस्य सम्बन्धाभावात् । तस्माज्जातिव्यक्त्योः परस्परात्मतैव तत्त्वम् । एवं सति भेदाभेदवादोऽपि सिद्ध्यति । यथा हि शाबलेयो गौरित्येवं प्रतीयते तथा बाहुलेयोऽपि । न चास्ति कस्यचिद् बाधः शाबलेय एव गौर्न बाहुलेय इति; किन्तु सर्वेषामेकमतित्वमेव 'स गौरयमपि गौरिति' । तत्र प्रतीतिबलेन शाबलेयात्मकस्य गोत्वस्य बाहुलेयात्मकत्वे सिद्धे शाबलेयाद् भेदोऽपि सिद्ध्यति । अयमेव हि सामान्यस्य पूर्वपिण्डाद् भेदो यत् पिण्डान्तरात्मकत्वम् । इदमेव च सामान्यरूपत्वं यदुभयात्मकत्वम् । भेदाभेदावेकस्य विरुद्धाविति चेत् ? न, युक्तिज्ञस्य भवतः साम्प्रतमेतदभिधातुम् । तद्विरुद्धं यत्र बुद्धिर्विपर्येति । यत्तु सर्वदा प्रमाणेन तथैव प्रतीयते, तत्र विरोधाभिधानमेव विरुद्धम् ।

अन्यत्रैवं न दृष्टमिति चेत् ? किं वै प्रत्यक्षमपि अनुमानमिव दृष्टमनु-

का स्वरूप भी ऐसा ही मानना पड़ेगा जो अश्वादि व्यक्तियों में न रहे । अतः इन दोनों स्वरूपों का उपयुक्त निर्णय तभी हो पायेगा, जब कि गोव्यक्ति और गोत्व जाति दोनों में तादात्म्य मान लें । अर्थात् ऐसा मान लें कि गोत्वाभिन्नत्व ही गोव्यक्ति का स्वभाव है एवं गोव्यक्तियों से अभिन्न रहना ही गोत्व जाति का स्वभाव है । ऐसा तो हो नहीं सकता कि वही उसका स्वभाव भी हो और वही उसका सम्बन्धी भी हो; क्योंकि किसी स्वभाव से युक्त वस्तु में ही किसी का सम्बन्ध होता है । बिना स्वभाव के वस्तु में किसी का सम्बन्ध सम्भव नहीं है । तस्मात् 'जाति व्यक्तिस्वरूप है और व्यक्ति भी जातिस्वरूप ही है' यही सिद्धान्त ठीक है । ऐसा मान लेने पर जाति और व्यक्ति में परस्पर भेद और अभेद दोनों की ही सिद्धि (प्रतीतियों के भेद से) हो सकती है । जिस प्रकार शाबलेय गो में 'यह गो है' इस आकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार बाहुलेय नाम के गो में भी 'यह गो है' इस प्रकार की प्रतीति होती है । ऐसी कोई बाधबुद्धि भी नहीं है कि शाबलेय ही गो है बाहुलेय नहीं; किन्तु यही सबों का अनुभव है कि 'शाबलेय' भी गो है एवं 'बाहुलेय' भी गो है । इस स्थिति में शाबलेय गो के स्वरूप गोत्व में बाहुलेय गो की स्वरूपता जिस प्रकार सिद्ध होती है, उसी प्रकार गोत्व में शाबलेय गो के भेद की भी सिद्धि होती है । (गोत्व रूप) सामान्य में पूर्वपिण्ड (शाबलेय गोरूप पिण्ड) का भेद इसीलिए है कि सामान्य (गोत्व) पिण्डान्तर (बाहुलेय गोरूप दूसरा पिण्ड) स्वरूप है । सामान्यरूपता इसलिए है कि वह उभयात्मक है । (उ.) एक ही वस्तु में एक ही वस्तु का भेद और अभेद दोनों का रहना परस्पर 'विरुद्ध' है ? (प्र) युक्तियों से अभिज्ञ आप जैसे व्यक्ति का ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि 'विरुद्ध' वही कहलाता है जिसमें कि बुद्धि का विपर्यास हो । जो बराबर प्रमाण के द्वारा उसी प्रकार का प्रतीत होता है, उसको विरुद्ध कहना ही 'विरुद्ध' है । यदि यह

न्यायकन्दली

सरति ? हतं तर्हीदमनवस्थया । अथेदं स्वसामर्थ्यात् प्रवर्तते ? तदा यथा यद् वस्तु यद् दर्शयति तथैव तत्, न त्वेतदन्यत्रादर्शनेन प्रत्याख्यानमर्हति सर्वभावप्रत्याख्यानप्रसङ्गात् । तस्मात् सामान्यं व्यक्त्युत्पादविनाशयोरुत्पादविनाशवत्त्वाद् व्यक्त्यन्तरावस्थाने चावस्थाना-न्नित्यमनित्यं च, न पुनर्नित्यमेव ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते किं जातिव्यक्त्योरविलक्षणमाकारं गृह्णाति तत्प्रतीतिः ? उत तयोरभेदं गृह्णाति ? आहोस्वित् परस्परविलक्षणावाकारौ ? आद्ये कल्पे तावदेकमेव वस्तु स्यात्, नोभयोरेकात्मकत्वम्, अविलक्षणाकारबुद्धिवेद्यत्वस्याभेदलक्षणत्वात् । द्वितीये तु कल्पे व्याहतिरेव, विलक्षणाकारसंवित्तिरेव हि भेदसंवित्तिः । तस्याः सम्भवे सति तयोरभेदप्रतिपत्तिरेव नास्ति, कथं भिन्नयोरभेदो व्यवस्थाप्यते ? कथं तर्हि तादात्म्य-प्रतीतिः ? न कथञ्चिदिति वदामः ।

यदि तावदेक आकारोऽनुभूयते, एकस्यैव वस्तुनः प्रतीतिरियं नोभयोः । अथ द्वावाकारावनुभूयेते तदास्याः प्रतीतेरसम्भव एव । यत् पुनर्गौरित्यय-

कहें कि (उ.) एक ही वस्तु के भेद और अभेद इन दोनों की अवस्थिति एक ही वस्तु में कहीं नहीं देखी जाती है । अतः उक्त भेदाभेद पक्ष अयुक्त है । (प्र.) तो इसके उत्तर के लिए यह पूछना है कि क्या अनुमान की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण को भी अपने विषय की सिद्धि के लिए उसका अन्यत्र देखा जाना आवश्यक है ? यदि ऐसी बात मानें तो अनवस्थादोष के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण का ही लोप हो जायगा । यदि प्रत्यक्ष (अन्यत्र दर्शन की अपेक्षा न करके) केवल अपने बल से ही अपने विषय को दिखाने के लिए प्रवृत्त होता है, तो फिर यही मानना पड़ेगा कि अपने जिस वस्तु को वह जिस रूप में दिखलाता है, वह वस्तु उसी रूप का है । इस वस्तुस्थिति का केवल इस हेतु से निरादर नहीं किया जा सकता कि 'अन्यत्र इस प्रकार से देखा नहीं जाता' । प्रत्यक्ष का यदि यह स्वभाव न मानें तो संसार से सभी वस्तुओं की सत्ता ही उठ जाएगी । तस्मात् यही कहना पड़ेगा कि सामान्य यतः अपने आश्रयरूप व्यक्तियों के उत्पन्न होने पर ही उत्पन्न होता है और उनके विनष्ट होने पर विनष्ट भी होता है, अतः 'अनित्य' है । एवं उस व्यक्ति के नाश के बाद भी उसी जाति की दूसरी व्यक्ति में रहता है, अतः वह 'नित्य' भी है । तस्मात् सामान्य नित्य एवं अनित्य दोनों ही है, केवल नित्य ही नहीं है।

(उ.) ऐसी स्थिति में हम (तार्किक) लोग पूछते हैं कि (१) 'अयं गौः' यह प्रतीति जाति और व्यक्ति दोनों को एक ही आकार में ग्रहण करती है । (२) अथवा दोनों के अभेद का ग्रहण करती है ? (३) अथवा जाति और व्यक्ति दोनों को परस्पर विभिन्न आकारों में ग्रहण करती है ? इनमें यदि पहला पक्ष मानें तो

न्यायकन्दली

मविभागेन संवेदनं तत् समवायसामर्थ्यात् । संयोगे हि द्वयोः संसर्गावभासः, समवायस्य पुनरेष महिमा यदत्र सम्बन्धिनावयःपिण्डवह्निवत् पिण्डीभूतावेव प्रतीयेते जातिरेव न च व्यक्तेः स्वरूपम् । तेन सत्यपि भेदे बदरादिवत् कुण्डस्य जातितो व्यक्तेः स्वरूपं पृथग् न निष्कृष्यते । परस्परपरिहारेण तूपलम्भोऽस्त्येव, दूरे गोत्वाग्रहणेऽपि पिण्डस्य ग्रहणात् । पूर्वपिण्डाग्रहणेऽपि पिण्डान्तरे गोत्वग्रहणात् । तस्माद् व्यक्तेरत्यन्तं भिन्नमेव सामान्यमिति तार्किकाणां प्रक्रिया ।

द्रव्यादिषु वृत्तिनियमात् प्रत्ययभेदाच्च परस्परतश्चान्यत्वम्, **द्रव्यत्वादयः**

फिर जाती या व्यक्ति इन दोनों में से किसी एक का मानना ही सम्भव होगा, दूसरे का नहीं, जाति और व्यक्ति एतदुभयात्मक किसी वस्तु की कल्पना सम्भव नहीं होगी; क्योंकि अभिन्नता का यही लक्षण है कि जो अविलक्षण आकार की बुद्धि के द्वारा ज्ञात हो । यदि दूसरा पक्ष मानें तो परस्पर विरोध ही उपस्थित होगा; क्योंकि किन्हीं दो वस्तुओं का परस्पर विभिन्न आकारों से गृहीत होना ही उन दोनों के भेद का ज्ञान है । भेद का यह ज्ञान यदि सम्भव है, तो फिर उन दोनों में तादात्म्य की प्रतीति कैसी ? अतः हम लोग कहते हैं कि जाति और व्यक्ति इन दोनों के तादात्म्य की प्रतीति किसी भी प्रकार से नहीं होती; क्योंकि यदि एक ही आकार का अनुभव होता है तो फिर वह अनुभव एक ही वस्तु की प्रतीति होगी, दो वस्तुओं की नहीं । यदि दो आकारों का अनुभव होता है, तो फिर उस एक आकार की प्रतीति की सम्भावना ही मिट जाती है । 'गौरयम्' इत्यादि प्रतीतियों में जो गोत्वजाति और गोव्यक्ति विना अलग हुए से प्रतीत होते हैं, वह तो दोनों के समवाय का समार्थ्य है । संयोग की प्रतीति में उसके प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों के सम्बन्धियों का भान होता है । समवाय की ही यह विशेष महत्ता है कि इसमें उसके दोनों सम्बन्धी (प्रतियोगी और अनुयोगी) परस्पर एक होकर ही प्रतीत होते हैं । जैसे कि वह्नि और अयःपिण्ड वस्तुतः पृथक् होते हुए भी एक होकर ही ज्ञान में भासित होते हैं । सुतराम् (व्यक्ति-सम्बद्ध) जाति की ही प्रतीति होती है, केवल व्यक्ति के स्वरूप की नहीं । अतः जाति और व्यक्ति में वस्तुतः भेद रहते हुए भी जैसे कि (संयोगयुक्त) कुण्ड और बेर को अलग कर दिखलाया जा सकता है, उस प्रकार जाति से व्यक्ति के स्वरूप को अलग नहीं किया जा सकता । कुछ स्थानों में जाति और व्यक्ति की प्रतीति एक-दूसरे को छोड़कर भी होती है । जैसे दूर में गोपिण्ड (व्यक्ति) की प्रतीति तो होती है, (किन्तु 'यह गो है' इस प्रकार से) गोत्व की प्रतीति वहाँ नहीं होती। एवं पूर्वपिण्ड का ग्रहण न रहने पर भी दूसरे पिण्ड में गोत्व का ग्रहण होता है । तस्मात् तार्किकों की रीति के अनुसार जाति और व्यक्ति अत्यन्त भिन्न हैं । (किसी भी प्रकार वास्तव में अभिन्न नहीं हैं) ।

द्रव्यत्वादि सामान्य यतः नियमित रूप से द्रव्यादि तत्तत् आश्रयों में ही रहते हैं, एवं प्रत्येक सामान्य की प्रतीति भिन्न-भिन्न आकार की होती है, अतः समझते हैं कि द्रव्यत्व व गुणत्वादि सामान्य परस्पर भिन्न हैं । अभिप्राय यह है कि द्रव्यत्वादि सामान्यों

प्रशस्तपादभाष्यम्

द्रव्यादिषु वृत्तिनियमात् प्रत्ययभेदाच्च परस्परतश्चान्यत्वम् । प्रत्येकं स्वाश्रयेषु लक्षणाविशेषाद् विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम् । यद्यप्यपरिच्छिन्नदेशानि सामान्यानि भवन्ति, तथाप्युपलक्षणनियमात्

द्रव्यत्वादि कोई भी सामान्य द्रव्यादि कुछ आश्रयों में ही नियत रूप से रहते हैं एवं भिन्न रूप से प्रतीत भी होते हैं, अतः (द्रव्यत्व-गुणत्वादि) सामान्य परस्पर विभिन्न हैं । एवं प्रत्येक सामान्य अपने आश्रयों में समान रूप से प्रतीत होता है एवं उसको अनेक मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यादि नियत आश्रयों में रहनेवाले द्रव्यत्वादि सामान्यों में से प्रत्येक सामान्य एक-एक ही हैं । यद्यपि सामान्य अनन्त (प्रकार के) आश्रयों में रहता है, फिर भी उसकी अभिव्यक्ति के कारणों की एकरूपता और उसके आश्रयों का

न्यायकन्दली

प्रत्येकं द्रव्यादिष्वेव नियताः । प्रत्ययभेदश्चैतेषु दृश्यते, तस्माद् द्रव्यादिषु वृत्तिनियमात् प्रत्ययभेदाच्च द्रव्यत्वादीनां परस्परतो भेदः ।

अभेदात्मकं सामान्यमिति पूर्वं प्रतिज्ञामात्रेणोक्तं तदिदानीं प्रमाणसिद्धं तस्य करोति–प्रत्येकं स्वाश्रयेष्विति । **लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणमनुगताकारज्ञानम् ।** प्रत्येकं **प्रतिपिण्डमविशेषाद् वैलक्षण्याभावाद्** विशेषे **भेदे लक्षणस्य प्रमाणस्याभावाच्च सामान्यस्य** स्वाश्रयेष्वे**कत्वमभिन्नस्वभावमित्यर्थः । स्वविषये सर्वत्र सामान्यं समवैति नान्यत्रेति यत् पूर्वमुक्तं तस्य कारणमाह**–यद्यपीति । **यद्यपि सामान्यानि यत्र तत्रोपजायमानेन पिण्डेन सम्बन्धाद**परिच्छिन्नदेशान्य**नियतदेशानि,**

में से प्रत्येक सामान्य यतः द्रव्यादि व्यक्तियों में ही नियमित रूप से रहता है एवं इनमें इनकी प्रतीतियाँ भी विभिन्न आकार की होती हैं । तस्मात् द्रव्यादि में ही नियमित रूप से रहने के कारण और उक्त प्रतीति भेद के कारण समझते हैं कि द्रव्यत्वादि जातियाँ परस्पर भिन्न हैं ।

'प्रत्येकं स्वाश्रयेषु' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा पहले केवल प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा सिद्धवत् कही हुई सामान्य की अभिन्नता को प्रमाण के द्वारा 'प्रत्येकं स्वाश्रयेषु' इत्यादि वाक्य से सिद्ध करते हैं । 'लक्ष्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत में 'लक्षण' शब्द का अर्थ है, अनुगत एक आकार का ज्ञान । उसका 'प्रत्येक में' अर्थात् गोप्रभृति प्रत्येक व्यक्ति में 'अविशेष से' अर्थात् विभिन्नता के न रहने से, एवं 'विशेष में' अर्थात् द्रव्यत्वादि प्रत्येक जाति के भेद में अर्थात् अनेकत्व में 'लक्षण' अर्थात् किसी प्रमाण के न रहने से समझते हैं कि एक सामान्य अपने सभी आश्रयों में एक ही है, अर्थात् अभिन्न स्वभाव का है । पहले जो यह कहा गया है कि "सामान्य अपने विषयों अर्थात् आश्रयों में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है, अन्यत्र नहीं" उसी के हेतु का प्रतिपादन 'यद्यपि' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा किया गया है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

कारणसामग्रीनियमाच्च स्वविषयसर्वगतानि । अन्तराले च संयोगसमवायवृत्त्यभावादव्यपदेश्यानीति ।

॥ इति प्रशस्तपादभाष्ये सामान्यपदार्थः समाप्तः ॥

●

नियमित रूप से समान कारणों से उत्पन्न होना, इन दोनों से समझते हैं कि सामान्य अपने सभी आश्रयों में समानरूप से रहता है । (कार्योत्पत्ति के) बीच के द्रव्यों में उस कार्य में रहनेवाले सामान्य का न संयोग सम्बन्ध है, न समवाय सम्बन्ध, अतः उनमें सामान्य का व्यवहार नहीं होता । (अतः सन्निहित होने पर भी उनमें वह नहीं रहता है ।)

॥ प्रशस्तपादभाष्य का सामान्यनिरूपण समाप्त हुआ ॥

●

न्यायकन्दली

तथाप्युपलक्षणस्या**भिव्यञ्जकस्यावयवसंस्थानविशेषस्य** नियमा**न्नियतत्वात् पिण्डोत्पादक**कारणसामग्रीनियमाच्च **स्वविषये सर्वत्र समवयन्ति नान्यत्रेति** ।

एतदुक्तं भवति—सास्नादिसंस्थानविशेषो गोत्वस्य व्यञ्जकः, केसरादिसंस्थानविशेषोऽश्वत्वस्य, विशिष्टग्रीवादिसंस्थानविशेषो घटत्वस्य, प्रतीतिनियमात् । एते च संस्थानविशेषा न सर्वेषु पिण्डेषु साधारणाः; अपि तु प्रतिनियतेषु भवन्ति । तत्र यद्यपि सर्वं सामान्यं सर्वत्रोपजायमानेन स्वविषयेणैव[1] पिण्डान्तरेणापि सम्बद्धुं क्षमते, तथापि यस्याभिव्यञ्जकं यत्र

यद्यपि सामान्य जहाँ तहाँ उत्पन्न पिण्डों के साथ सम्बद्ध होने के कारण 'अपरिच्छिन्न देश' में अर्थात् अनियत देशों में रहनेवाले हैं । फिर भी उसके 'उपलक्षण' अर्थात् अभिव्यञ्जक जो अवयवों के विशेष प्रकार के संयोग हैं , वे नियमित हैं । इस नियम के कारण और आश्रयीभूत पिण्डों के कारणों के नियमित होने से वे अपने ही विषयों में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होते हैं ।

इससे यह अभिप्राय निकला कि सास्ना प्रभृति अवयवों का विशेष प्रकार का संयोग (संस्थान) ही गोत्व जाति की अभिव्यक्ति का कारण है । एवं केसर प्रभृति संस्थान अश्वत्व जाति की अभिव्यक्ति का हेतु है । इसी प्रकार विशेष प्रकार के ग्रीवादि संस्थान घटत्व के ज्ञापक हैं; क्योंकि नियमित रूप से तत्तत् संस्थान से युक्त पिण्डों में ही तत्तत् सामान्य का प्रतिभास होता है । ये कथित संस्थान सभी पिण्डों में समान रूप से नहीं रहते; किन्तु अपने नियमित पिण्डों में ही रहते हैं । इस प्रकार सभी सामान्य जिस प्रकार सभी जगह उत्पन्न होनेवाले अपने व्यक्तियों के साथ सम्बद्ध होंगे, उसी प्रकार दूसरे पिण्डों के साथ

---

1. यहाँ 'स्वविषयेणैव' के स्थान में 'स्वविषयेणेव' ऐसा 'इवकार' घटित पाठ ही उचित जान पड़ता है । अतः तदनुसार ही अनुवाद किया गया है ।

न्यायकन्दली

पिण्डे सम्भवति तस्य तत्रैव समवायो नान्यत्र । एवं सामग्र्या नियमादपि सामान्यसम्बन्धनियमः । एष हि तन्त्वादीनां कारणानां स्वभावो यदेतैरुत्पद्यमाने द्रव्ये पटत्वमेव समवैति, नान्यत् । एष हि मृत्पिण्डादीनां महिमा यत् तैः क्रियमाणे द्रव्ये घटत्वमेव समवैति, नान्यत् ।

न तावत् सामान्यमन्यतो गत्वान्यत्र सम्बध्यते, निष्क्रियत्वात् । तत्रापि यदि पूर्वं नासीत् ? तत्रोपजायमानेन पिण्डेनास्य सम्बन्धो न स्यात् । दृश्यते च सर्वत्रोपजायमानेन पिण्डेन सम्बन्धः, तस्मात् सर्वं सर्वत्रास्तीति कस्यचिन्मतं तन्निराकुर्वन्नाह– अन्तराले संयोगसमवायवृत्त्यभावादव्यपदेश्यानीति । अन्तरालमिति **आकाशं वा दिग्द्रव्यं वा स्तिमितवेगमूर्त्तद्रव्याभावो वा, तेषु गोत्वादिसामान्यानां न संयोगो नापि समवायः । न चासम्बद्धानामेव तेषामवस्थाने प्रमाणस्ति ।** अतोऽन्तराले न सामान्यानि व्यपदिश्यन्ते **न सन्तीत्यर्थः । कथं तर्हि तत्रोपजायमानेन पिण्डेन सम्बध्यन्ते ?**

भी जिस किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध हो सकते हैं । फिर भी जिस सामान्य का ज्ञापक जो संस्थान है, उस संस्थान से युक्त पिण्ड में ही उस सामान्य का समवाय है, अन्य पिण्डों में नहीं । इसी प्रकार आश्रयीभूत किसी व्यक्ति के उत्पादक कारणसमूह के नियमन से ही सामान्य के समवायरूप सम्बन्ध का भी नियमन हो सकता है, जैसे कि (पट के उत्पादक) तन्तु प्रभृति कारणों का ही यह स्वभाव है कि इनसे उत्पन्न द्रव्य में पटत्व समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है, अन्य सामान्य नहीं । एवं मिट्टी प्रभृति कारणों की ही यह महिमा है कि इनसे उत्पन्न द्रव्य में घटत्व का ही समवाय हो, किसी दूसरे सामान्य का नहीं ।

'सामान्य' यतः क्रियारहित है, अतः एक जगह से दूसरी जगह जाकर अपने विषय के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता । (व्यक्ति की उत्पत्ति के देश में उसके रहने पर भी उस व्यक्ति के साथ सम्बन्ध के प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठता है कि) सामान्य यदि उस देश में पहले से नहीं था, तो फिर इस समय उत्पन्न हुए अश्वादि के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता; किन्तु सभी देशों में उत्पन्न व्यक्तियों के साथ उसका सम्बन्ध होता है । तस्मात् यह मानना पड़ेगा कि सामान्य सभी स्थानों में है । किसी सम्प्रदाय के इसी सिद्धान्त का निराकरण करने के लिए 'अन्तराले' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । प्रकृत में 'अन्तराल' शब्द आकाशादि का, स्तिमित वायु का अथवा अमूर्त्त द्रव्य प्रभृति का बोधक है । इनमें से किसी में भी गोत्वादि सामान्यों का न समवाय सम्बन्ध है और न संयोग सम्बन्ध है । 'गोत्वादि जातियाँ बिना किसी सम्बन्ध के ही रहती हैं' इस प्रसङ्ग में भी कोई प्रमाण नहीं है । अतः कथित 'अन्तराल' में गोत्वादि सामान्य का व्यवहार नहीं होता है । फलतः वह अन्तराल में नहीं है । (प्र.) तो फिर उन देशों में अपने गवादि विषयों (व्यक्तियों) के साथ वे किस प्रकार सम्बद्ध होते

न्यायकन्दली

कारणसामर्थ्यात् । संयोगो ह्यन्यतः समागतस्य भवति, तत्रैवावस्थितस्य वा भवति । तस्माद् विलक्षणस्तु समवायो यत्र यत्रैव पिण्डोत्पत्तौ कारणानि व्याप्रियन्ते, तत्र तत्रैव कारणानां सामर्थ्यात् पिण्डेऽन्यतोऽनागतस्य तत्र स्थितस्यापि सामान्यस्य भवति, वस्तुशक्तेरपर्यनुयोज्यत्वात् ।

अत्राहुः सौगताः—प्रतीयमानेषु भेदेषु मणिसूत्रवदेकस्याकारस्यानुपलम्भात् सामान्यं नास्त्येवेति । तदयुक्तम्, अनेकासु गोव्यक्तिष्वनुभूयमानास्वश्वादिव्यक्तिविलक्षणतया सामान्याकारप्रतीतिसम्भवात् । यदि शाबलेयादिषु परस्परभिन्नेष्वेकमनुवृत्तं न किञ्चिदस्ति, यथा गवाश्वव्यक्तयः परस्परविलक्षणाः संवेद्यन्ते तथा गोव्यक्तयोऽपि संवेद्याः स्युः । यथा वा गोव्यक्तयः सरूपाः प्रतीयन्ते तथा गवाश्वव्यक्तयोऽपि प्रतीयेरन्, विशेषाभावात् । नियमेन तु गोव्यक्तयः प्रतीयमानाः सरूपाः स्ववर्गसाधारण-

हैं ? इसका यह उत्तर है कि व्यक्ति के उत्पादक कारणों के विशेष सामर्थ्य के द्वारा ही गोत्वादि सामान्य अपने व्यक्तियों के साथ सम्बद्ध होते हैं । संयोग दूसरे देश से आये हुए व्यक्ति का, अथवा उसी स्थान में पहले से विद्यमान वस्तु का होता है; किन्तु समवाय में संयोग से यह अन्तर है कि जिन-जिन देशों में उसके विषयों के उत्पादक कारण अपने कार्य को करने के लिए क्रियाशील होते हैं, उन्हीं-उन्हीं देशों में उन्हीं कारणों के विशेष सामर्थ्य के द्वारा उस सामान्य का सम्बन्ध हो जाता है, जो किसी दूसरी जगह से नहीं आता, उसी देश में विद्यमान रहता है; क्योंकि वस्तुओं की स्वाभाविक शक्तियाँ सभी अभियोगों के बाहर हैं ।

इस प्रसङ्ग में बौद्ध लोगों का कहना है कि (प्र.) सामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार मणियों के विभिन्न होते हुए भी उन सबों में एक माला का व्यवहार इसलिए होता है कि सबों को एक व्यवहार में लानेवाला सूत्र नाम का एक पदार्थ है, उस प्रकार विभिन्न गोव्यक्तियों में एक प्रकार के व्यवहार के कारण गौओं से भिन्न किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती । (उ.) किन्तु उन लोगों का यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सभी गोव्यक्ति में 'ये गो हैं' इस एक प्रकार की प्रतीति होती है, जो अश्वादि व्यक्तियों में नहीं होती है । यदि परस्पर विभिन्न शाबलेय (बाहुलेय) प्रभृति सभी गोव्यक्ति में समान रूप से रहनेवाली कोई वस्तु नहीं हैं, तो फिर जिस प्रकार गो और अश्व दोनों परस्पर विभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार सभी गोव्यक्ति भी परस्पर विभिन्न रूप में ही प्रतीत होंगी । अथवा जिस प्रकार सभी गोव्यक्ति की प्रतीति एक रूप से होती है, उसी प्रकार गोव्यक्तियों और अश्वव्यक्तियों की प्रतीतियाँ भी एक रूप से होंगी; क्योंकि स्थितियों में अन्तर का कोई कारण नहीं है; किन्तु नियमतः सभी गोव्यक्ति एक ही आकार से प्रतीत होती हैं, अतः अश्वादि सभी व्यक्तियों में न रहनेवाले एवं सभी गोव्यक्तियों

न्यायकन्दली

मश्वादिव्यावृत्तं किञ्चिदेकं रूपमाक्षिपति,[1] एकार्थक्रियाकारित्वादेकहेतुत्वाच्च । गोव्यक्तीनामेकत्वमिति चेत् ? नासति सामान्ये व्यक्तीनामिव व्यक्तिहेतूनां व्यक्तिकार्याणामपि परस्परव्यावृत्तानामेकत्वात्[2] । किञ्च, यद्येकहेतुत्वादेकत्वम्, भिन्नकारणप्रभवाणां व्यक्तीनामेकत्वं न स्यात् । दृश्यते चाभिन्नस्वभावानामपि कारणभेदो यथा वह्नेर्दारुनिर्मथनाद् विद्युत आदित्यगभस्तिक्षोभितात् सूर्यकान्तादपि मणेरुत्पत्तिः । एककार्यत्वादेकत्वे च विजातीयाना-

में रहनेवाले किसी एक धर्म की कल्पना आवश्यक हो जाती है । (प्र.) सभी व्यक्ति यतः एक ही प्रकार के कार्यों के सम्पादक हैं एवं एक ही प्रकार की सामग्रियों से उत्पन्न होती हैं, अतः सभी गोव्यक्ति एक ही हैं (इसी एकत्व के कारण एकाकार की प्रतीतियाँ होती हैं) । (उ.) जिस प्रकार सामान्य के न रहने पर व्यक्तियों की एकता सम्भव नहीं है, उसी प्रकार व्यक्तिरूप कार्यों और व्यक्ति के कारणों की एकता भी सम्भव नहीं है; क्योंकि व्यक्तियों की तरह उनके कार्य और उनके कारण भी तो परस्पर विभिन्न हैं, उनमें रहनेवाले सामान्यों के बिना उनमें भी एकत्व का सम्पादक कौन होगा ? दूसरी बात यह है कि यदि एक प्रकार की सामग्री से उत्पन्न होना ही व्यक्तियों में एकरूपता का कारण हो तो फिर भिन्न प्रकार की सामग्री से एक प्रकार के कार्य की उत्पत्ति न हो सकेगी; किन्तु सभी अग्नियों का एक प्रकार का स्वभाव होते हुए भी उनके कारण भिन्न-भिन्न हैं, यतः कभी काष्ठों के मन्थन से, कभी विद्युत् से और कभी सूर्य की किरणों से क्षुभित सूर्यकान्त मणि से वह्नि की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार यदि एक प्रकार के कार्यों के उत्पादक होने से ही व्यक्तियों में एकता मानी जाय तो कुछ विजातीय वस्तुओं में भी एकता माननी पड़ेगी; क्योंकि दोहन, वाहनादि क्रियायें समान रूप से गोप्रभृति व्यक्तियों से और महिषादि व्यक्तियों से भी उत्पन्न होती हैं । (एवं एककार्यकारित्व को यदि एकता का प्रयोजक मानें तो फिर) जिन गोव्यक्तियों से दोहन, भारवाहनादि क्रियायें सम्पादित ही नहीं होतीं, उनमें

1. मुद्रित पुस्तक में 'रूपमाक्षिपति' इस वाक्य के आगे पूर्ण विराम नहीं है । 'एकार्थक्रियाकारित्वादेकहेतुत्वाच्च' इस वाक्य के आगे पूर्ण विराम है, जिससे सङ्गति ठीक नहीं बैठती है । अतः 'रूपमाक्षिपति' इसी वाक्य के आगे पूर्णविराम देकर और आगे के वाक्य को पूर्वपक्षियों के साधक हेतुओं का बोधक मानकर अनुवाद किया गया है ।

2. इस सन्दर्भ में 'परस्परव्यावृत्तानामेकत्वात्' यह मुद्रित पाठ उचित नहीं जान पड़ता, इसे प्रथमान्त होना चाहिए । आगे के 'भिन्नकारणप्रभवाणामेकत्वम्' इस प्रथमान्त पाठ से यह और स्पष्ट हो जाता है । अतः उक्त पाठ को प्रथमान्त मानकर ही अनुवाद किया गया है ।

न्यायकन्दली

मप्येकत्वापत्तिः, दृष्टा हि वाहदोहनादिक्रिया गवादिव्यक्तीनामिव महिष्यादिव्यक्तीनामपि । या च गौर्न दुह्यते न च वाह्यते, सा गौर्न स्यात् ।

अपि च सामान्याभावे कोऽर्थः शब्दसंसर्गविषयः ? न तावत् स्वलक्षणम्, तस्य क्षणिकस्य सर्वतो व्यावृत्तस्य सङ्केतविषयत्वाभावात् । नापि विकल्पः शब्दार्थः, तस्य क्षणिकत्वादसाधारणत्वाच्च । विकल्पाकारः शब्दार्थ इति चेत् ? किं विकल्पाकारो विकल्पव्यतिरिक्तः ? अव्यतिरिक्तो वा ? यदि भिन्नः, स किं सर्वविकल्पसाधारणः, किं वा प्रतिविकल्पं भिद्यते ? साधारणत्वे तावदेतस्य सामान्यादभेदः, यदि परम् ? तव ज्ञानधर्मोऽयमस्माकं चार्थधर्मः (इति) बहिर्मुखतया प्रतीयमानत्वादिति (न) कश्चिद् विशेषः । यदि व्यतिरिक्तोऽयमाकारः प्रतिज्ञानं भिद्यते, अथवा ज्ञानादव्यतिरिक्त एव, उभयथापि न शब्दसंसर्गयोग्यता, ज्ञानवदशक्यसङ्केतत्वात् । विकल्पः पारम्पर्येण तदुत्पत्तिप्रतिबन्धाद् बाह्यात्मतया स्वाकारमारोप्य विकल्पयति, तत्रायं शब्दसंसर्ग

एक आकार की कथित प्रतीति नहीं होगी । एवं जिस गाय से न दूध मिलता है और न माल ढोया जाता है वह गाय ही नहीं रह जायगी ।

दूसरी बात यह है कि यदि सामान्य नाम की कोई वस्तु ही न हो तो शब्दों का (सङ्केत रूप) सम्बन्ध कहाँ मानेंगे ? घटादि विषयों के 'स्वलक्षण' में घटादि शब्दों का सम्बन्ध मान नहीं सकते; क्योंकि उक्त 'स्वलक्षण' तो क्षणिक है एवं और किसी भी वस्तु में वह नहीं रहता है, अतः उसमें किसी भी शब्द का (सङ्केत या) सम्बन्ध नहीं हो सकता । उसका विकल्प भी शब्दसङ्केत का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि 'विकल्प' भी क्षणिक है और साथ-साथ असाधारण (एकमात्र पुरुषवृत्ति) भी है । (प्र.) एक विकल्पव्यक्ति क्षणिक और असाधारण है; किन्तु विकल्पों के आकार तो असाधारण हैं (क्योंकि एक आकार के अनेक विकल्प अनेक पुरुषों में देखे जाते हैं), अतः विकल्प का आकार शब्दसङ्केत का विषय हो सकता है । (उ.) इस प्रसङ्ग में पूछना है कि विकल्प का यह आकार विकल्प से भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु है ? या यह विकल्प से अभिन्न (वस्तुतः विकल्प ही) है ? यदि पहला पक्ष मानें (कि विकल्प का आकार विकल्प से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु है) तो फिर इस प्रथम पक्ष के प्रसङ्ग में भी यह पूछना है कि यह 'आकार' सभी विकल्पों में साधारण रूप से रहनेवाली एक ही वस्तु है ? या प्रत्येक विकल्प में रहनेवाला आकार अलग-अलग है ? यदि सभी विकल्पों में साधारण रूप से रहनेवाले एक 'आकार' को स्वीकार कर लिया जाय, तो वह सामान्य से अभिन्न ही होगा । फलतः सामान्य स्वीकृत ही हो गया । थोड़ा अन्तर इतना रह जाता है कि उसे (आकार को) आप ज्ञानों का धर्म मानते हैं और हम लोग उसे (सामान्य को) बहिर्मुखतया प्रतीत होने से विषयों का धर्म मानते हैं । यदि आकार को विकल्प से भिन्न मानें तो फिर वह ज्ञान से भिन्न ही होगा या ज्ञान स्वरूप ही होगा । दोनों ही स्थितियों में उनमें शब्दों के सम्बन्ध की सम्भावना नहीं रहेगी; क्योंकि ज्ञान की तरह (उससे भिन्न या अभिन्न आकार भी क्षणिक होने के कारण) शब्दसङ्केत

न्यायकन्दली

इति चेत् ? बाह्यत्वेनारोपितो विकल्पाकार एकाधीनस्वभावत्वाद् विकल्पे जायमाने जायमान इव, विनश्यति विनश्यन्निव प्रतीयमानः प्रतिविकल्पं भिन्न एवावतिष्ठते । न च भेदानुपातिनि सङ्केतप्रवृत्तिरित्युक्तम् ।

अथोच्यते—यादृशमेको गोविकल्पे बाह्यात्मतया स्वप्रतिभासमारोपयति गोविकल्पान्तरमपि तादृशमेवारोपयति, विकल्पाश्च प्रत्येकं स्वाकारमात्रग्राहिणो न परस्परारोपितानामाकाराणां भेदग्रहणाय पर्याप्नुवन्ति, तस्योभयग्रहणाधीनत्वात् । तदग्रहणाच्च विकल्पारोपितानामाकाराणामेकत्वमारोप्य विकल्पानामेको विषय इत्युच्यते । तदेव च सामान्यं बहिरारोपितेभ्यो विकल्पाकारेभ्योऽत्यन्तभेदाभावेनाभावरूपं स्वलक्षणज्ञानतदाकारारोपितैश्चतुर्भिः सहोभिः समस्यार्द्धपञ्चमाकार इत्युच्यमानमारोपितबाह्यत्वं शब्दाभिधेयं शब्द-

का विषय नहीं हो सकता । (प्र.) यह परम्परया बाह्यविषयों के साथ भी है, अतः विकल्प स्वयं अपने में ही बाह्यत्व का आरोप कर अपने में बाह्यत्वाकार के विकल्प को भी उत्पन्न करता है । इसी बाह्यविषयक विकल्प में शब्दों का सङ्केत है । (उ.) बाह्यत्वविषयक यह आरोप प्रत्येक बाह्य विषय में अलग-अलग ही मानना पड़ेगा; क्योंकि इस बाह्यविषयक विकल्प की उत्पत्ति केवल कथित आन्तर विकल्पमात्र से होती है, अतः इसके उत्पन्न होने पर वह वस्तुविषयक विकल्प उत्पन्न-सा और विनष्ट होने पर विनष्ट-सा दीखता है । इस प्रकार वस्तुविषयक वह विकल्प असाधारण और क्षणिक भी होगा । पहले ही कह चुके हैं कि सजातीय भिन्न व्यक्तियों में ही शब्द का सङ्केत हो सकता है, असाधारण किसी एकमात्र व्यक्ति में नहीं । (प्र.) एक गोविषयक विकल्प बाह्यत्वविषयक अपने जिस आकार को उत्पन्न करता है, गोविषयक दूसरा विकल्प भी उसी तरह के बाह्यत्वविषयक अपने आकार के विकल्प को उत्पन्न करता है । विकल्पों का यह स्वभाव है कि वे केवल अपने आकारों का ही आरोप करें । समान आकारों में जो आरोपित परस्पर भेद हैं, उन भेदों को ग्रहण कराने का सामर्थ्य उनमें नहीं है; क्योंकि भेद को समझने के लिए उसके प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों को समझना आवश्यक है । भेद के इस अज्ञान के कारण ही एक आकार के विकल्प से कल्पित आकारों में एकत्व का आरोप होता है । एकत्व के इसी आरोप के कारण 'इयं गौः' 'इस आकार के सभी विकल्पों का विषय एक ही है' इस प्रकार का व्यवहार होता है । इसी को (वैशेषिकादि) 'सामान्य' कहते हैं; किन्तु यह 'सामान्य' अभावरूप है (भावरूप नहीं); क्योंकि बाह्य वस्तुओं में एवं आरोपित विकल्पों में जो परस्पर भेद है, उनका अत्यन्ताभाव ही वह सामान्य है । (१) स्वलक्षण (कम्बुग्रीवादिमत्त्व प्रभृति), (२) उसका ज्ञान, (३) ज्ञान के आकार एवं (४) आकार का बाह्यत्वारोप इन चार सहायकों के साथ मिलकर (इन चारों से कुछ ही भिन्न होने के कारण) उसे 'अर्द्धपञ्चमाकार' कहा जाता है । उसी अर्द्धपञ्चमाकार वस्तु में शब्द

न्यायकन्दली

संसर्गविषयः । तदध्यवसाय एव स्वलक्षणाध्यवसायः, तदात्मतया तस्य समारोपात् । अन्यव्यावृत्तिस्वभावं भावाभावसाधारणं चेदम्, गौरस्ति नास्तीति प्रयोगात् । भावात्मकत्वे ह्यस्य गौरस्तीति प्रयोगासम्भवः, पुनरुक्तत्वात् । नास्तीति च न प्रयुज्यते, विरोधात् । एवं तस्याभावात्मकत्वे नास्तीति पुनरुक्तम्, अस्तीति विरुध्यते । यथोक्तम्–

घटो नास्तीति वक्तव्यं सन्नेव हि यतो घटः ।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात् सदसत्त्वयोः ॥ इति ।

एतस्मादेव च भिन्नानामपि व्यक्तीनामेकतावभासः । इदं हि सर्वेषामेव विकल्पानां विषयोऽस्यैकत्वाद् विकल्पानामप्येकत्वम् । तेषामेकत्वाच्च तत्कारणानां

का (सङ्केतरूप) संसर्ग होता है । शब्द से उसी का व्यवहार होता है एवं उसी का बाह्य अर्थरूप में भी व्यवहार होता है, उसे ही 'स्वलक्षण' भी कहते हैं । इसी 'स्वलक्षणाध्यवसाय' रूप से उसका आरोप होता है । इस (अर्द्धपञ्चमाकार) का अध्यवसाय ही 'स्वलक्षणाध्यवसाय' कहा जाता है; क्योंकि विकल्प का इसी रूप से आरोप होता है । यह (अपोह) अन्यव्यावृत्ति स्वभाव का है, अर्थात् इसका स्वभाव है कि अपने विषय को अन्यों से भिन्न रूप में समझावे । एवं भाव और अभाव दोनों प्रकार की वस्तुओं में समान रूप से रहना भी इसका स्वभाव है; क्योंकि 'गौरस्ति' और 'गौर्नास्ति' ये दोनों ही प्रकार के प्रयोग होते हैं । यदि यह केवल भावरूप ही होता, तो फिर पुनरुक्ति के कारण 'गौरस्ति' यह प्रयोग सम्भव न होता। 'गौर्नास्ति' यह प्रयोग भी नहीं हो सकता; क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । इसी प्रकार इसको केवल अभावरूप ही मानें तो 'गौर्नास्ति' यह प्रयोग पुनरुक्ति के कारण नहीं हो सकेगा और 'गौरस्ति' यह प्रयोग विरोध के कारण असम्भव होगा । जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि–

[1]"यतः घट सत् है, अतः 'घटोऽस्ति' यह प्रयोग ठीक नहीं है (क्योंकि इससे पुनरुक्ति होती है) । 'घटो नास्ति' यह प्रयोग भी ठीक नहीं है; क्योंकि (घटशब्द से बोध्य) सत्त्व और (नास्तिशब्द से बोध्य) असत्त्व दोनों परस्पर विरोधी हैं ।"

इसी (अर्द्धपञ्चमाकार) से विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति होती है । यही सभी विकल्पों का विषय है और इसी की एकता से सभी विकल्पों में भी एकता की प्रतीति होती है । विकल्पों के एकत्व से ही उसके कारणीभूत एवं प्रत्येक पिण्ड

1. यह श्लोक मुद्रित पुस्तक में 'घटो नास्तीति वक्तव्यम्' इस प्रकार से मुद्रित है; किन्तु विषय विवेचन की दृष्टि से 'घटोऽस्तीति न वक्तव्यम्' ऐसा पाठ उचित जान पड़ता है । यह पाठ पाठान्तरों की सूची में भी है । अतः तदनुसार ही अनुवाद किया गया है ।

न्यायकन्दली

प्रतिपिण्डभाविनां निर्विकल्पकानामप्येकत्वम् । तेषामेकत्वाच्च तत्कारणानां व्यक्तीनामेकत्वावगमः । यथोक्तम्—

एकप्रत्यवमर्षस्य हेतुत्वाद् धीरभेदिनी ।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता ॥ इति ।

एतदप्ययुक्तम्, विकल्पानुपपत्तेः । विकल्पाकाराणां भेदाग्रहणादारोपितमैक्यं सामान्यमाचक्षते भिक्षवः । अत्र ब्रूमः । किमाकाराणां भेदाग्रहणमेवाभेदसमारोपः ? आहोस्विदभेदग्रहणमभेदारोपः ? न तावदाद्यः कल्पः, भेदसमारोपितस्यापि प्रसङ्गात् । यथा विकल्पाकाराणां भेदो न गृह्यते, तद्वदभेदोऽपि न गृह्यते । तत्र भेदाग्रहणादभेदारोपवदभेदाग्रहणाद् भेदारोपस्यापि प्रसक्तावभेदोचितव्यवहारप्रवृत्त्ययोगात् । अभेदग्रहणमभेदारोप इत्यपि न युक्तम्, आत्मवादे एको ह्यनेकदर्शी तेषां भेदाभेदौ प्रत्येति । नैरात्म्यवादे त्वेकोऽनेकार्थद्रष्टा न कश्चिदस्ति, विकल्पानां प्रत्येकं स्वाकारमात्रनियतत्वात् । अस्तु

में उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पक ज्ञानों में भी एकता की प्रतीति होती है । निर्विकल्पक ज्ञानों की इस एकता से ही उनके कारणीभूत विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति होती है । जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि——

"एकत्व ज्ञान के कारण ही परस्पर विभिन्न व्यक्तियों में अभेद बुद्धि उत्पन्न होती है एवं उस एकत्वविषयक बुद्धि को हेतु होने से ही व्यक्तियों में अभिन्नता होती है" ।

(उ.) यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस पक्ष के सम्भावित सभी विकल्प अनुपपन्न ठहरते हैं । विकल्प के आकारों में जो परस्पर भेद है, उस भेद के अज्ञान से उनमें जिस एकत्व का आरोप होता है, उसे ही भिक्षुगण 'सामान्य' कहते हैं । इस प्रसङ्ग में सिद्धान्तियों का पूछना है कि–(१) आकारों के भेद का जो अग्रह क्या वही अभेद (एकत्व) का आरोप है ? या (२) अभेद के ग्रहण को ही अभेद का आरोप कहते हैं ? (१) इनमें यदि प्रथम पक्ष मानें तो जिन व्यक्तियों में परस्पर भेद निश्चित है, उन दोनों में भी अभेद व्यवहार की आपत्ति होगी । दूसरी बात यह है कि, जिस प्रकार विकल्प के आकारों में भेद का ज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार उन आकारों में जो अभेद है, उसका भी भान नहीं होता है । इस स्थिति में भेद के अज्ञान से अभेद के आरोप की तरह अभेद के अज्ञान से भेद का आरोप भी होगा । फिर विकल्प के आकारों में अभेद व्यवहार की कथित रीति अयुक्त हो जायेगी । (२) 'अभेद का ग्रहण ही अभेद का आरोप है' यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'आत्मवाद' में अनेक विषयों का एक द्रष्टा स्वीकृत है, अतः उस पक्ष में एक ही पुरुष विकल्पों के भेद और अभेद दोनों

न्यायकन्दली

वाऽनेकार्थदर्शी कश्चिदेकस्तथाप्येकं निमित्तमन्तरेण भिन्नेष्वाकारेषु नाभेदग्रहणमस्ति । भवद्वा गवाश्वमहिषाद्याकारेष्वपि भवेदविशेषात् । गवाकारेष्वप्यगोव्यावृत्तिरेकं निमित्तमस्तीति चेत् ? के पुनरगावो यद्व्यावृत्त्या गवाकारेष्वेकत्वमारोप्यते ? ये गावो न भवन्ति तेऽगाव इति चेत् ? गावः के ? ते येऽगावो न भवन्तीति चेत् ? गवाश्वस्वरूपे निरूपिते तद्व्यावृत्तत्वेनागवां स्वरूपं निरूप्यते, अगवां स्वरूपे निरूपिते तद्व्यावृत्त्या गवां स्वरूपनिरूपणमित्येकाप्रतिपत्तावितराप्रतिपत्तेरुभयाप्रतिपत्तिः । यथाह तत्रभवान्–

[1]सिद्धश्च गौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च सः ।

को क्रमशः समझ सकता है । किन्तु 'नैरात्म्यवाद' में अनेक वस्तुओं को देखनेवाला कोई एक पुरुष स्वीकृत नहीं है; क्योंकि विकल्प केवल अपने-अपने आकार मात्र में पर्यवसित हैं । अनेक वस्तुओं के एक द्रष्टा को यदि स्वीकार भी कर लें, फिर भी अनेक वस्तुओं में अभेद की प्रतीति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उन अनेक वस्तुओं में रहनेवाले किसी एक निमित्त को न मान लिया जाय । बिना एक किसी पदार्थ को माने भी यदि उक्त अभेद की प्रतीति मानें तो गो, महिष प्रभृति आकारों में भी उक्त एकत्व की प्रतीति होगी; क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है । (प्र.) गो के सभी आकारों में 'अगोव्यावृत्ति' (गोभिन्नभिन्नत्व) रूप एक धर्म के रहने से सभी गोव्यक्तियों में एकत्व का आरोप होता है ? (उ.) 'अगो' शब्द से कौन सब वस्तुएँ अभिप्रेत हैं, जिनकी व्यावृत्ति के कारण सभी गो व्यक्तियों में एकत्व का आरोप करते हैं ? (प्र.) गायों से भिन्न जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे ही प्रकृति में 'अगो' शब्द से अभिप्रेत हैं ? (उ.) गो कौन-सी वस्तु है ? यदि यह कहें कि (प्र.) वे ही गो हैं, जो गोभिन्न वस्तुओं से भिन्न हैं (उ.) तो फिर गो, अश्व प्रभृति वस्तुओं का स्वरूप जब ज्ञात होगा, तब तद्भिन्नत्वरूप से 'गो' के स्वरूप का निर्णय होगा । एवं 'अगो' के स्वरूप का जब निर्णय होगा, तब उनकी व्यावृत्ति से गो के स्वरूप का निर्णय होगा । इस प्रकार इस (अपोहवाद के) पक्ष में एक के बिना दूसरे की प्रतिपत्ति न होने के कारण फलतः 'गो' और 'अगो' दोनों का ज्ञान ही असम्भव होगा ।

जैसा कि इस प्रसङ्ग में 'तत्रभवान्' कुमारिलभट्ट ने कहा है कि–(किसी प्रमाण के द्वारा) सिद्ध 'अगो' से ही सभी गोव्यक्ति में व्यावृत्ति बुद्धि उत्पन्न हो सकती है; किन्तु 'अगो' वस्तुतः गो का निषेध रूप है; किन्तु यह निर्वचन करना पड़ेगा कि 'अगो' शब्द में प्रयुक्त 'नञ्' के द्वारा जिसका निषेध किया जाता है, वह 'गो' पदार्थ क्या है ?

---

1. यह पद्य श्लोकवार्त्तिक का है । मुद्रित न्यायकन्दली में इसका पाठ

न्यायकन्दली

तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते ।
गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावे तु गौः कुतः ॥ इति ।

अथान्यापोहः शब्दार्थोऽनारोपितबाह्यत्वम् ? तत्राप्युच्यते, कोऽयमपोहो नाम ? किमगोरपोहो भावोऽभावो वा ? यदि भावः, स किं गोपिण्डस्वभावोऽथागोपिण्डात्मकः ? गोपिण्डात्मकत्वे तावदस्यासाधारणता, न चासाधारणात्मकेऽर्थे शब्दप्रवृत्तिरित्युक्तम् । अगोपिण्डात्मकेऽप्ययमेव दोषो दूषणान्तरं चैतदधिकम् । यद् गोशब्दस्य गौरित्ययमर्थो न प्राप्नोति । यदि तु पिण्डव्यतिरिक्तमनेकसाधारणं वस्तुभूतमपोहतत्त्वमिष्यते ? शब्दमात्रविषया विप्रतिपत्तिः । अथापोहोऽन्यव्यावृत्तिरूपत्वादभावस्वभाव इष्यते ? तदास्य प्रत्ययत्वेन ग्रहणं न स्यात्, ज्ञानजनकस्यैव ग्राह्यलक्षणत्वात् । अभावस्य च समस्तार्थक्रियाविरहलक्षण-

(फलतः) गो की सिद्धि के बिना 'अगो' की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती । एवं 'अगो' की सिद्धि के बिना (तद्व्यावृत्ति-बुद्धि के विषय) गो की सत्ता ही किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है ?

(प्र.) अपोह शब्द के द्वारा आरोपित बाह्यत्व से भिन्न किसी ऐसे अर्थ का बोध होता है, जिसका बाह्यत्व रूप से आरोप न हो । (उ.) इस प्रसङ्ग में पूछना है कि 'अगो' का यह 'अपोह' कौन-सी वस्तु है ? भाव रूप है? अथवा अभाव रूप है? यदि 'भाव रूप है' तो फिर इस प्रसङ्ग में पूछना है कि (यह भावरूप अपोह) गोव्यक्ति स्वभाव का है? अथवा 'अगो' व्यक्तियों के स्वभाव का है? यदि उसे 'गोव्यक्ति' स्वरूप मानें, तो यह अपोह 'असाधारण' (एकमात्र पुरुषग्राह्य) होगा । पहले कह चुके हैं कि असाधारण अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है । यदि 'अगो' पिण्ड स्वरूप मानें तो फिर उक्त असाधारण्य रूप दोष तो है ही, यह दोष और अधिक है कि 'गो' शब्द से 'गो'रूप अर्थ का ग्रहण नहीं होगा । यदि सभी गोपिण्डो में रहनेवाला अथ च गोपिण्डों से भिन्न कोई 'भाव' पदार्थ ही 'अपोह' हो तो फिर हम दोनों का विवाद 'सामान्य' शब्द और 'अपोह' शब्द के प्रसङ्ग में ही रह जायेगा । यदि अपोह को अन्यव्यावृत्तिरूप होने के कारण अभावरूप मानें तो फिर विज्ञानत्वरूप से उसका ग्रहण न हो सकेगा; क्योंकि विज्ञान वही है जो किसी ज्ञान का जनक हो। किसी भी अर्थक्रिया के सामर्थ्य से शून्य को ही 'अभाव' कहते हैं । इस प्रकार अभावरूप अपोह में किसी शब्द की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । (अपोह में शब्दों की प्रवृत्ति मान लेने पर भी) श्रोता को उस शब्द

'सिद्धश्च गौरपोह्येत' इस प्रकार है । किन्तु विषयविवेचन की दृष्टि से 'सिद्धश्चागौरपोह्येत' ऐसा पाठ उचित है । चौखम्भा से मुद्रित श्लोकवार्तिक में ऐसा ही पाठ है भी । तदनुसार ही अनुवाद किया गया है ।

न्यायकन्दली

त्वात् । न च प्रत्यक्षागृहीतेऽर्थे सङ्केतग्रहणमस्तीत्यभावे शब्दस्याप्रवृत्तिरेव । न च तस्मिन् प्रतीयमाने श्रोतुरर्थविषया प्रवृत्तिः स्यात्, भावाभावयोरन्यत्वादसम्बन्धाच्च ।

स्वलक्षणात्मकत्वेनाभावप्रतीतावविवेकेन स्वलक्षणे प्रवृत्तिरिति चेत् ? [1]दृश्य-विकल्प्यावर्थावेकीकृत्यातत्सन्निवेशिभ्यो भ्रान्त्या प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तृणामिति । तदयुक्तम् । अप्रतीते तदात्मकतया अभावसमारोपानुपपत्तेः । न च श्रोतुस्तदानीमर्थप्रतिपत्तिरस्ति शब्द-स्यातद्विषयत्वात् प्रमाणान्तरस्याभावात् । अस्ति च शब्दादर्थे प्रवृत्तिस्तस्मान्नाभावोऽपि शब्दार्थः । न चान्यदेकं निमित्तं किञ्चिदस्ति । सर्वमिदमर्थजातं परस्परव्यावृत्तं प्रतिक्षणम-पूर्वमपूर्वमनुभूयमानं न शब्दात् प्रतीयते । नापि प्रत्यक्षाप्रतीतमपि हानोपादानविषयो भवेत्, अपरिज्ञातसामर्थ्यत्वात् । अस्ति च शाब्दो व्यवहारः, अस्ति च प्राण-

से किसी भी भावार्थ में प्रवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि (घटादि) भाव और उनमें रहनेवाला (अपोहरूप) अभाव दोनों भिन्न हैं । एवं परस्पर विरोधी होने से अपोह एवं घटादि पदार्थ दोनों का सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है । (प्र.) घटादि की स्वलक्षणा प्रतीति और अपोह की प्रतीति दोनों में भेद-बुद्धि न रहने के कारण (अपोह के वाचक घटादि शब्दों से घटादिविषयक) प्रवृत्तियाँ होती हैं । जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि–

'दृश्य अर्थ और समारोपित अर्थ जो वस्तुतः परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं, उन दोनों को एक समझकर ही सुननेवाले की तद्विषयक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । (उ.) किन्तु यह कहना भी अयुक्त है । अज्ञात वस्तु (भाव) में अभिन्न रूप से अभाव (अपोह) का आरोप भी नहीं किया जा सकता । उस समय (शब्द को सुनने के बाद) श्रोता को अर्थ का ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द प्रामाणिक (गवादि) अर्थों का बोधक प्रमाण नहीं है । एवं उस समय शब्द को छोड़ दूसरा प्रमाण उपस्थित भी नहीं है; किन्तु शब्द से (घटादि) अर्थों में प्रवृत्ति होती है । अतः (घटादि शब्दों के घटत्वादि रूप से घटादि भाव ही अर्थ हैं, अपोह रूप से) अभाव नहीं । (घटत्वादि) सामग्रियों को छोड़कर शब्दों का कोई एक (प्रवृत्ति) निमित्त नहीं है । यह कहना भी सम्भव नहीं है कि जितने भी अर्थ उत्पन्न होते हैं वे सभी परस्पर भिन्न हैं और प्रतिक्षण नये-नये ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं अर्थों का शब्द से अनुभव होता है । एवं (सामान्य के न मानने पर) प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात व्यक्तियों में प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होगी, (किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात व्यक्ति के सजातीय) उन

1. यहाँ मुद्रित पाठ को यथावत् मानना उचित नहीं जान पड़ता । अतः "दृश्यविकल्प्यौ" इसके पहले 'यथोक्तम्' इतना अधिक जोड़कर एवं 'प्रतिपत्तिः' इसके स्थान में 'प्रवृत्तिः' ऐसा पाठ मानकर अनुवाद किया गया है । ये दोनों ही पाठभेद नीचे के पाठभेदों में भी मुद्रित हैं ।

॥ अथ विशेषपदार्थनिरूपणम् ॥

प्रशस्तपादभाष्यम्

अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः ।

'अन्त' में अर्थात् नित्य द्रव्यों में रहने के कारण इसको 'अन्त्य' कहते हैं । एवं अपने आश्रय को अपने से भिन्न पदार्थों से अलग रूप में

न्यायकन्दली

भून्मात्रानुवर्तिनी प्रत्यक्षपूर्विका हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था लोकयात्रा । सैव च भिन्नासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं व्यवस्थापयति । यद्विषयाः शब्दात् प्रत्ययाः प्रवृत्तयश्चोपलभ्यन्ते, तज्जातीयत्वेन तदर्थक्रियोपयोग्यतां विनिश्चित्यापूर्वावगतेऽप्यर्थे लोकः प्रवर्तत इति ।

भिन्नेष्वनुगताकारा बुद्धिर्जातिर्निबन्धना ।
अस्या अभावे नैवेयं लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ इति ।

॥ इति भट्टश्रीश्रीधरविरचितायां पदार्थप्रवेशन्यायकन्दलीटीकायां सामान्यपदार्थः समाप्तः ॥

●

अप्रत्यक्ष व्यक्तियों में भी प्रवृत्ति और निवृत्त होती है; किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात अर्थ का शब्द से व्यवहार होता है एवं सभी प्राणियों में प्रत्यक्ष से होनेवाली हित की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति से ही 'लोकयात्रा' का निर्वाह देखा जाता है । यह 'लोकयात्रा' ही भिन्न व्यक्तियों में एक जाति को सिद्ध करती है । (लोकयात्रा के निर्वाह में सामान्य की उपयोगिता इस प्रकार है कि) जिस शब्द से जिस विषय को समझकर प्रवृत्ति होती है, उस जाति के और व्यक्तियों में भी केवल उस जाति के होने के नाते ही उस कार्य की क्षमता का बोध हो जाता है । इससे प्रथमतः ज्ञात उस जाति के दूसरे विषयों में भी लोक प्रवृत्त होता है । तस्मात्–

भिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति जाति से ही होती है । अतः इसके न मानने पर 'लोकयात्रा' का निर्वाह न हो सकेगा ।

॥ भट्ट श्री श्रीधर के द्वारा रचित पदार्थों के बोध को उत्पन्न करने वाली न्यायकन्दली टीका का सामान्य-निरूपण समाप्त हुआ ॥

●

न्यायकन्दली

चतुर्युग-चतुर्विद्या-चतुर्वर्ण-विधायिने ।
नमः पञ्चत्वशून्याय चतुर्मुखभृते सदा ॥

सत्यादि चारों युगों, आन्वीक्षिकी प्रभृति चारों विद्याओं, ब्राह्मणादि चारों वर्णों की रचना करनेवाले और स्वयं चार मुखवाले ब्रह्मा जी को प्रणाम करता हूँ, जो इस प्रकार चतुष्ट्व संख्याओं से युक्त होने के कारण 'पञ्चत्व' शून्य हैं (अर्थात् मृत्यु से रहित हैं) ।

'अन्तेषु भवा अन्त्याः' यह वाक्य विशेष पदार्थ की व्याख्या के लिए लिखा गया है।

प्रशस्तपादभाष्यम्

विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । यथास्मदादीनां

समझने के कारण इसे 'विशेष' कहते हैं । सभी प्रकार के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये सभी द्रव्य यतः उत्पत्ति और विनाश से रहित हैं, अतः इन सबों में 'विशेष' की सत्ता माननी पड़ती है; क्योंकि इनमें से प्रत्येक को अपने सजातीयों और विजातीयों से भिन्न रूप में

विशेषव्याख्यानार्थमाह—अन्तेषु भवा अन्त्या इति । **उत्पादविनाशयोरन्तेऽवस्थितत्वादन्तशब्दवाच्यानि नित्यद्रव्याणि, तेषु भवाः स्थिता इत्यर्थः । स्वाश्रयस्य सर्वतो विशेषकत्वाद् भेदकत्वाद् विशेषाः** । एतद् विवृणोति—विनाशारम्भरहितेष्वित्यादिना । विनाशारम्भरहितेष्वि**त्यन्त्यपदस्य विवरणम्** । अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतव इति च स्वाश्रयस्य विशेषकत्वादि**त्यस्य विवरणम्** । प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना इति । **द्रव्यं द्रव्यं प्रत्येकैको विशेषो वर्तत इत्यर्थः । एकेनैव विशेषेण स्वाश्रयस्य व्यावृत्तिसिद्धेरनेकविशेषकल्पनावैयर्थ्यात् । यथा चेदं विशेषाणां लक्षणं भवति तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।**

'सिद्धे विशेषसद्भावे तेषां लक्षणाविधानं युक्तं नासिद्धे' इत्याशङ्क्य विशेषाणां सद्भावं प्रतिपादयितुं ग्रन्थमवतारयति— यथेत्यादिना । **यथा**

('अन्तेषु भवा अन्त्याः' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न 'अन्त्य' शब्द में जो) 'अन्त' शब्द है, उससे नित्यद्रव्य अभिप्रेत हैं; क्योंकि वे उत्पत्ति और विनाश के अन्त में रहते हैं । 'तेषु भवा अन्त्याः' अर्थात् विशेष नित्य द्रव्यों में ही रहते हैं । इसका 'विशेष' नाम इस अभिप्राय से रक्खा गया है कि यह अपने आश्रय को और सभी वस्तुओं से अलग करता है । 'विशेष' पद का यही विवरण 'विनाशारम्भरहितेषु' इत्यादि से दिया गया है । उक्त वाक्य का 'विनाशारम्भरहितेषु' यह अंश 'अन्त्य' पद का विवरण है और 'अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवः' यह अंश 'स्वाश्रयस्य विशेषकत्वात्' इस वाक्य का विवरण है । 'प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्त्तमानाः' अर्थात् प्रत्येक (नित्य) द्रव्य में एक-एक विशेष है । एक नित्य द्रव्य में एक ही विशेष पदार्थ की कल्पना करते हैं; क्योंकि एक ही विशेष को स्वीकार कर लेने से ही उसके आश्रय द्रव्य में और सभी पदार्थों की व्यावृत्ति बुद्धि उत्पन्न हो जाएगी । अतः एक द्रव्य में अनेक विशेषों की कल्पना व्यर्थ है । 'अन्त्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्त्तका विशेषाः' विशेष का यह लक्षण जिस प्रकार उपपन्न होता है, इसका विवरण पहले ही दे चुका हूँ ।

पहले विशेष पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता में प्रमाण दिखला कर बाद में उसका लक्षण कहना उचित है, उससे पहले नहीं । अतः विशेष पदार्थ सत्ता में प्रमाण दिखलाने के लिए ही 'यथा' इत्यादि सन्दर्भ का अवतार हुआ है । अभिप्राय यह है कि

प्रशस्तपादभाष्यम्

गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा, गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनककुद्मान् महाघण्ट इति । तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु

समझानेवाला (अत्यन्त व्यावृत्ति-बुद्धि का) कोई दूसरा कारण नहीं है । जिस प्रकार हम साधारण जनों को गो में अश्व से कुछ सादृश्य के रहते हुए भी विशेष आकृति, विशेष गुण, विशेष प्रकार की क्रिया एवं अवयवों के विशेष प्रकार के संयोगों के कारण (गो में अश्व से) ये व्यावृत्तिप्रत्यय होते हैं कि 'यह गो है' (अश्व नहीं, क्योंकि यह) विशेष प्रकार का शुक्ल है, यह विशेष प्रकार से दौड़ता है या इसका ककुद् बहुत

न्यायकन्दली

गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिनिमित्ता गौरिति, **गुणनिमित्ता** शुक्ल इति, **क्रियानिमित्ता** शीघ्रगतिरिति, **अवयवनिमित्ता** पीनककुद्मानिति, **संयोगनिमित्ता** महाघण्ट **इति, अस्मदादीनां प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा ।** तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां तुल्याकृतिगुणक्रियेषु **तुल्याकृतिषु तुल्यगुणेषु तुल्यक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु** चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारमयमस्माद् विलक्षण इति प्रत्ययव्यावृत्तिर्भवति तेऽन्त्या विशेषाः ।

(योगियों से भिन्न) साधारण पुरुषों को सभी गो व्यक्तियों में समान आकृति के कारण उनसे भिन्न अश्वादि सभी पदार्थों से भिन्नत्व (व्यावृत्ति) की प्रतीति होती है । एवं उसी गो में 'शुक्लः' इस आकार की व्यावृत्तिबुद्धि शुक्लवर्ण रूप गुण के कारण होती है । उसी गो में 'यह शीघ्र चलने वाला है' इस आकार की व्यावृत्तिबुद्धि 'शीघ्रचलन' रूप क्रिया के कारण होती है । 'इसका ककुद् बहुत स्थूल है' इस आकार की व्यावृत्तिबुद्धि कुकद् रूप अवयव के कारण होती है एवं 'यह बड़ा घण्टावाला है' इस प्रकार की व्यावृत्तिबुद्धि घण्टा के संयोग के कारण होती है । इसी प्रकार अस्मदादि से विशेष सामर्थ्यवाले योगियों को मादृश साधारण जनों से अत्यन्त दिव्यदृष्टि रूप वैशिष्ट्य के कारण समान आकृतिवाले, समान गुणवाले एवं समान क्रियावाले परमाणुवो में, मुक्त आत्माओं में और उनके मनो में जो परस्पर व्यावृत्ति की बुद्धियाँ होती हैं, आकृति-भेद (गुणभेदादि) उनके कारण नहीं हो सकते । अतः (यह कल्पना करनी पड़ती है कि कथित परमाणु प्रभृति) प्रत्येक आधार में 'यह इससे विभिन्न प्रकार का है' इस आकार की व्यावृत्तिबुद्धि जिन कारणों से होती है, वे ही 'विशेष' हैं ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः

बड़ा है या इसके गले में बहुत बड़ा घण्टा है । इसी प्रकार हम लोगों से सर्वथा उत्कृष्ट योगियों को सभी परमाणुवों में नित्य एवं समान आकृति के रहते हुए भी 'यह परमाणु उस परमाणु से भिन्न है' इस प्रकार की व्यावृत्ति की प्रतीति जिस कारण से होती है, वही 'विशेष' है । मुक्त आत्माओं में सर्वथा

न्यायकन्दली

यथास्मदादीनां गवादिव्यक्तिषु प्रत्ययभेदो भवति, तथा परमाण्वादिष्वपि तद्दर्शिनां परस्परापेक्षया प्रत्ययभेदेन भवितव्यम्, व्यक्तिभेदसम्भवात् । न चास्य व्यक्तिभेद एव निमित्तम् । तदुपलम्भेऽपि स्थाण्वादिषु संशयदर्शनात् । निमित्तान्तरं च नास्ति, आकृतेर्गुणस्य क्रियायाश्च तुल्यत्वात् । न च निर्निमित्तः प्रत्ययभेदो दृष्टः, तस्माद् यदस्य निमित्तं स विशेष इति । देशविप्रकर्षेण कालविप्रकर्षेण च दृष्टाः परमाणवः कस्यचित् प्रत्यभिज्ञाविषयाः सामान्यविशेषवत्त्वाद् घटादिवत् । न च पूर्वदृष्टेऽर्थे प्रत्यभिज्ञानं विशेषावगतिमन्तरेण भवति, अतोऽस्ति तस्य निमित्तं विशेषः ।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हम जैसे साधारण जनों को गो प्रभृति व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं; क्योंकि वे व्यक्तियाँ परस्पर विभिन्न होती हैं । इसी प्रकार परमाणु प्रभृति व्यक्तियों में भी परस्पर भेद रहने के कारण उन्हें प्रत्यक्ष देखनेवाले योगियों की उनमें से प्रत्येक में परस्पर व्यावृत्तिबुद्धि होनी ही चाहिए । परमाणु प्रभृति में योगियों की इस व्यावृत्तिबुद्धि का कारण उनका परस्पर भेद नहीं हो सकता; क्योंकि स्थाणु प्रभृति में पुरुषादि का भेद उपलब्ध होने पर 'अयं स्थाणुः पुरुषो वा' इत्यादि संशय ही होते हैं । योगियों की उन व्यावृत्तिबुद्धियों का कोई दूसरा कारण उपलब्ध नहीं होता है; क्योंकि परमाणु प्रभृति की आकृति और क्रिया प्रभृति समान हैं (अतः उनसे यहाँ व्यावृत्तिबुद्धि उपपन्न नहीं हो सकती) । बिना विशेष कारण के प्रतीतियों की विभिन्नता कहीं उपलब्ध नहीं होती । तस्मात् योगियों की उन व्यावृत्तिबुद्धियों के जो कारण हैं, वे ही 'विशेष' हैं । (इस प्रसङ्ग में यह अनुमान भी है कि) जिस प्रकार परसामान्य और विशेष (अपरसामान्य) से युक्त होने के कारण किसी व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा घटादि ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार एवं उन्हीं हेतुओं से विभिन्न स्थानों और विभिन्न समयों में देखे गये परमाणु भी किसी की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही ज्ञात होते हैं । किसी 'विशेष' ज्ञान के बिना पहले देखी हुई वस्तु का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता, अतः परमाण्वादिविषयक प्रत्यभिज्ञानों का जो असाधारण कारण है, वही 'विशेष' है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकर्षे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः । यदि पुनरन्त्यविशेषमन्तरेण योगिनां योगजाद् धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं च

साम्य के रहते हुए भी 'यह आत्मा उस आत्मा से भिन्न है' इस आकार की व्यावृत्ति-प्रतीति जिस हेतु से होती है, वही 'विशेष' है । इसी प्रकार सभी मनों में परस्पर सादृश्य के रहते हुए भी योगियों को जिस कारण से 'यह मन उस मन से भिन्न है' इस आकार की व्यावृत्ति-बुद्धि उत्पन्न होती है, वही 'विशेष' है । इसी प्रकार विभिन्न समयों में या विभिन्न देशों में रहनेवाले परमाणुवों में भी 'यह वही है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा योगियों को जिन हेतुओं से होती है, वे अन्त्यों में रहने वाले 'विशेष' ही हैं । योग से उत्पन्न केवल विशेष प्रकार के धर्म से ही योगियों की व्यावृत्ति की उक्त प्रतीति

न्यायकन्दली

अत्र चोदयति– यदि पुनरिति । यथा योगजधर्मसामर्थ्याद् योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शनं भवति, तथा विशेषमन्तरेणैव प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं च भविष्यतीति चोदनार्थः । समाधत्ते–नैवमिति । यथा योगिनामशुक्ले शुक्लप्रत्ययो न भवति, अत्यन्तादृष्टे च प्रत्यभिज्ञानं न स्यात् । यदि स्यात्? मिथ्याप्रत्ययो भवेत् ।

'यदि पुनः' इत्यादि से इसी प्रसङ्ग में पुनः आक्षेप करते हैं । आक्षेप करनेवालों का अभिप्राय है कि जिस प्रकार योग से उत्पन्न विशेष धर्मरूप विशेष सामर्थ्य के कारण योगियों को परमाण्वादि अतीन्द्रिय विषयों का भी प्रत्यक्ष होता है, उसी विशेष सामर्थ्य के द्वारा योगियों को उक्त व्यावृत्तिबुद्धि और उक्त प्रत्यभिज्ञान दोनों ही हो सकते हैं, इसके लिए विशेष पदार्थ की कल्पना अनावश्यक है । 'नैवम्' इत्यादि से इसी का समाधान करते हैं । अर्थात् जिस प्रकार योगियों को भी अशुक्ल द्रव्य में शुक्ल की प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार पहले बिना देखी हुई वस्तु की प्रत्यभिज्ञा योगियों को भी नहीं हो सकती । यदि होगी (योगियों को शुक्ल में अशुक्ल की प्रतीति और अज्ञात वस्तु की प्रत्यभिज्ञा यदि होगी) तो वह मिथ्या ही होगी । अतः योगियों को कथित परमाण्वादि में उक्त परस्पर व्यावृत्ति की प्रतीति 'विशेष' पदार्थ को माने बिना केवल योगजनित विशेष धर्म से नहीं हो सकती । योगज धर्म से योगियों के अतीन्द्रिय अर्थों के ज्ञानों में भी योगज धर्म के अतिरिक्त विषयादि निमित्तों की अपेक्षा होती है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

स्यात्? ततः किं स्यात्? नैवं भवति । यथा न योगजाद् धर्मादशुक्ले शुक्लप्रत्ययः सञ्जायते, अत्यन्तादृष्टे च प्रत्यभिज्ञानम् । यदि स्यान्मिथ्या भवेत् । तथेहाप्यन्त्यविशेषमन्तरेण योगिनां न योगजाद् धर्मात् प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं वा भवितुमर्हति ।

अथान्त्यविशेषेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिः कल्प्यत इति चेत्? न, तादात्म्यात् । इहातदात्मकेष्वन्यनिमित्तः प्रत्ययो

और प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार शुक्ल रूप से शून्य द्रव्य में शुक्ल की प्रतीति एवं पहले से न देखी हुई वस्तुओं में प्रत्यभिज्ञा ये दोनों ही योगियों को भी नहीं होती हैं, यदि हों तो वे मिथ्या ही होंगी । इसी प्रकार कथित स्थलों में भी व्यावृत्ति-प्रतीतियाँ और प्रत्यभिज्ञा ये दोनों बिना अन्त्य-विशेष के केवल योगजनित उत्कृष्ट धर्म से योगियों को भी नहीं हो सकतीं ।

(प्र.) यह कल्पना क्यों नहीं करते कि अन्त्य-विशेषों की तरह उक्त परमाणुवों में भी व्यावृत्ति-प्रतीतियाँ स्वतः (बिना और किसी

न्यायकन्दली

तथा अन्त्यविशेषमन्तरेण प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं च न भवितुमर्हति । योगजाद् धर्मादतीन्द्रियार्थदर्शनं न पुनरस्मान्निर्निमित्त एव प्रत्ययो भविष्यतीत्यभिप्रायः ।

पुनश्चोदयति– अथान्त्यविशेषेष्विति । **न तावदन्त्यविशेषेष्वपि विशेषान्तरसम्भवोऽनवस्थानात् । यथा च तेषु विशेषान्तरमन्तरेण स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिर्भवति योगिनां तथा परमाणुष्वपि भविष्यति? किं विशेषकल्पनयेत्यत्रोत्तरमाह–** नेति ।

यत्त्वयोक्तं तत्र, कुतस्तादात्म्यात् । **एतदेव विवृणोति–**इहेति ।

'अथान्त्यविशेषेषु' इत्यादि ग्रन्थ से इसी प्रसङ्ग में पुनः आक्षेप करते हैं । अर्थात् कथित 'अन्त्यविशेषों' में दूसरे 'विशेष' की सम्भावना नहीं है; क्योंकि (ऐसी कल्पना करने पर) अनवस्थादोष होगा । यह जो आक्षेप किया गया है कि विशेषों में दूसरे विशेषों के न रहने पर भी जैसे कि स्वतः उनमें परस्पर व्यावृत्तिबुद्धि योगियों को होती है वैसे ही परमाणु प्रभृति में स्वतः ही व्यावृत्तिबुद्धि होगी । इसके लिए 'विशेष' नाम के स्वतन्त्र पदार्थ को मानने की क्या आवश्यकता है? उसी (आक्षेप) के समाधान के लिए 'न' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । अर्थात् तुमने जो आक्षेप किया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि परमाणु प्रभृति में 'परस्पर तादात्म्य' है । इसी 'तादात्म्य' हेतु का

प्रशस्तपादभाष्यम्

भवति यथा घटादिषु प्रदीपात्, न तु प्रदीपे प्रदीपान्तरात् । यथा गवाश्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वं तद्योगादन्येषाम्, तथेहापि तादात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिः, तद्योगात् परमाण्वादिष्विति ।

॥ इति प्रशस्तपादभाष्ये विशेषपदार्थः समाप्तः ॥

●

कारण के ही) होंगी । (उ.) यह नहीं हो सकतीं; क्योंकि परमाणु में परमाणु का तादात्म्य है । जो वस्तु जिस स्वरूप का नहीं है, उस वस्तु में उक्त अन्य वस्तु की बुद्धि उस वस्तु से भिन्न वस्तु रूप कारण से ही उत्पन्न होती है, जैसे कि घटादि की प्रतीति प्रदीप से होती है; किन्तु प्रदीप की प्रतीति के लिए दूसरे प्रदीप की अपेक्षा नहीं होती । जिस प्रकार गो और अश्व के मांसों में अशुचित्व स्वतः (बिना किसी और सम्बन्ध के ही) है; किन्तु उनसे सम्बद्ध वस्तुओं में उसी के सम्बन्ध से अशुचित्व होता है, उसी प्रकार यहाँ भी अन्त्य-विशेषों में तादात्म्य से अर्थात् और किसी के सम्बन्ध के बिना ही व्यावृत्ति-प्रतीति होती है; किन्तु परमाणुवों में अन्त्यविशेष के सम्बन्ध से ही व्यावृत्ति-प्रतीति होती है ।

॥ प्रशस्तपादभाष्य में विशेष का निरूपण समाप्त हुआ ॥

●

न्यायकन्दली

अतदात्मकेष्वन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवति, न तदात्मकेषु । यथा घटादिष्वप्रकाशस्वभावेषु प्रदीपादेः प्रकाशस्वभावात् प्रकाशो भवति, न तु प्रदीपे प्रदीपान्तरात् प्रकाशः किन्तु स्वत एव । यथा गवाश्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वम्, स्प्रष्टुः

विवरण 'इह' इत्यादि ग्रन्थ से दिया गया है । अभिप्राय यह है कि जिन दो वस्तुओं में तादात्म्य नहीं है, उनमें से एक में अन्य दूसरे के सम्बन्ध के लिए अन्य कारण की अपेक्षा होती है । जो अभिन्न हैं, उनमें से किसी में सम्बन्ध के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं होती है । जैसे कि घटादि प्रकाशस्वभाव के नहीं हैं (प्रकाश के साथ उनका तादात्म्य नहीं है), अतः घट में प्रकाश के लिए प्रकाशस्वभाव के प्रदीप रूप अन्य पदार्थ की अपेक्षा होती है; किन्तु प्रदीप के प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रदीप की अपेक्षा

न्यायकन्दली

प्रत्यवायकरत्वं तद्योगात् । तत्सम्बन्धादन्येषामशुचित्वम् । तथेहापि तादात्म्याद-**त्यन्तव्यावृत्तिस्वभावत्वादन्त्यविशेषेषु** स्वत एव **स्वरूपादेव प्रत्ययव्यावृत्तिर्न विशेषान्तर-सम्भवात्**[1] । **अतदात्मकेषु तु परमाणुषु सामान्यधर्मकेषु विशेषयोगादेव प्रत्ययव्यावृत्तिर्युक्ता न स्वरूपमात्रादिति ।**

नित्यद्रव्येषु सर्वेषु परस्परसधर्मसु ।
प्रत्येकमनुवर्तन्ते विशेषा भेदहेतवः ॥

॥ इति भट्टश्रीश्रीधरकृतायां पदार्थप्रवेशन्यायकन्दलीटीकायां विशेषपदार्थः समाप्तः ॥

नहीं होती है; क्योंकि प्रदीप में स्वतः प्रकाश होता है । इसी प्रकार गौ, अश्व प्रभृति के मांस अपने तो वे स्वतः 'अशुचि' हैं; किन्तु निषिद्ध मांसों को छूनेवाले पुरुष में प्रत्यवाय की कारणता उन (मांसों) के स्पर्श से आती है । एवं उस पुरुष से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओं में जो अशुचिता होगी, उसके कारण उन वस्तुओं के साथ उस पुरुष का सम्बन्ध है । इसी प्रकार प्रकृत में भी अत्यन्तव्यावृत्ति-स्वभाव के अन्त्य-विशेषों में व्यावृत्ति प्रत्यय 'स्वतः' अर्थात् उनके अत्यन्तव्यावृत्ति-स्वभाव के कारण ही होता है । इसके लिए दूसरे 'विशेष' के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है । 'अतदात्मक' अर्थात् एक सामान्य धर्मवाले परमाणुवों में जो व्यावृत्ति-बुद्धि होगी, उसके लिए उनमें 'विशेष' पदार्थ का सम्बन्ध ही कारण है । उसकी उत्पत्ति स्वतः नहीं हो सकती ।

एक साधारण धर्म से युक्त सभी नित्य द्रव्यों में से प्रत्येक में परस्पर भेद (व्यावृत्ति) के लिए, उनमें से प्रत्येक में अलग विशेष का मानना आवश्यक है; क्योंकि वे ही उनमें व्यावृत्ति-बुद्धि के कारण हैं ।

॥ भट्ट श्री श्रीधर के द्वारा रचित एवं पदार्थों के सम्यक् ज्ञान में समर्थ न्यायकन्दली नाम की टीका का विशेषनिरूपण समाप्त हुआ ॥

1. यहाँ 'न विशेषान्तरसम्भवात्' इसके स्थान में 'न विशेषान्तरसम्बन्धात्' ऐसा पाठ उचित जान पड़ता है, अतः तदनुसार ही अनुवाद किया गया है ।

॥ अथ समवायपदार्थनिरूपणम् ॥

प्रशस्तपादभाष्यम्

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह-प्रत्ययहेतुः स समवायः । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानां वाऽयुतसिद्धानामाधार्याधार-

एक आश्रय एवं दूसरा आश्रित इस प्रकार के दो अयुतसिद्धों का जो सम्बन्ध 'यह (आश्रित) यहाँ (आश्रय में) है' इस प्रकार के प्रत्यय का कारण हो, वही सम्बन्ध 'समवाय' है । (विशदार्थ यह है कि) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन सभी पदार्थों में से जो (दो वस्तु यथासम्भव) कार्यकारणभावापन्न हों अथवा स्वतन्त्र ही हों; किन्तु अयुतसिद्ध

न्यायकन्दली

अन्तर्ध्वान्तभिदे विश्वसंहारोत्पत्तिहेतवे ।
निर्मलज्ञानदेहाय नमः सोमाय शम्भवे ॥

समवायनिरूपणार्थमाह–अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः । **तदेतत्कृतव्याख्यानमुद्देशावसरे । के ते अयुतसिद्धा येषां सम्बन्धः समवायो भवेत् ? अत आह–**द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामिति । कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानामिति **नियमकथनम् । अवयवावयविनामनित्यद्रव्यतद्गुणानां नित्यद्रव्यतत्समवेतानामनित्यगुणानां कर्मतद्वतां कार्यकारणभूतानां समवायः, नित्यद्रव्यतद्गुणानां सामान्य-**

अन्तःकरण के मालिन्य को समूल नाश करनेवाले एवं विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के हेतु एवं विशुद्ध विज्ञानरूप शरीरवाले (क्षित्यादि आठ मूर्त्तिक शिवों में से) सोममूर्त्ति स्वरूप भगवान् शम्भु को मैं प्रणाम करता हूँ ।

"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः" यह सन्दर्भ समवाय के निरूपण के लिए लिखा गया है । इस पङ्क्ति की व्याख्या इसी ग्रन्थ के उद्देश प्रकारण में कर दी गयी है । "अयुतसिद्ध' कौन-कौन से पदार्थ हैं ? जिनका सम्बन्ध समवाय होगा ? इसी प्रश्न का उत्तर "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणाम्" इत्यादि से दिया गया है । इस वाक्य में 'किन वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध होता है' इस प्रसङ्ग में 'नियम' को दिखलाने के लिए "कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानाम्" यह वाक्य लिखा गया है । उक्त वाक्य के 'कार्यकारणभूतानाम्' इस पद के द्वारा यह नियम दिखलाया गया है कि कारणों में कार्य का समवाय होता है, अर्थात् कार्यकारणभावापन्न वस्तुओं में से अवयवरूप कारणों में से अवयवीरूप कार्य का एवं अनित्य द्रव्यरूप कारण और उनमें होनेवाले गुणों का एवं नित्य द्रव्य और उनमें उत्पन्न होनेवाले गुणों का एवं क्रियाश्रय और क्रिया का ही समवाय सम्बन्ध होता है । एक-

प्रशस्तपादभाष्यम्

भावेनावस्थितानामिहेदमिति बुद्धिर्यतो भवति, यतश्चा-सर्वगतानामधिगतान्यत्वानामविष्वग्भावः स समवायाख्यः सम्बन्धः । कथम् ? यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययः सम्बन्धे सति दृष्टः, तथेह तन्तुषु

हों एवं आधार-आधेय रूप हों, उन दोनों में से एक (आधेय) का दूसरे (आधार में) 'यह यहाँ है' इस आकार का प्रत्यय जिससे हो वही (सम्बन्ध) 'समवाय' है । (एवं) नियमित देश में ही रहनेवाले एवं परस्पर भिन्न रूप में ज्ञात होनेवाले दो वस्तुओं की स्वतन्त्रता जिस सम्बन्ध से जाती रहे वही (सम्बन्ध) 'समवाय' है ।(प्र.) इस सम्बन्ध की सत्ता में प्रमाण क्या है ? (उ.) (यह अनुमान ही प्रमाण है कि) जिस

न्यायकन्दली

तद्वतामन्त्यविशेषतद्वतां चाकार्यकारणभूतानां समवायोऽयुतसिद्धानामिति नियमः । एवमाधार्याधारभावेनावस्थितानामि**त्यपि नियम एव ।** इहेदमिति बुद्धि**र्यतः कारणाद् भवति यतश्चासर्वगतानां नियतदेशावस्थितानां**मधिगतान्यत्वानाम**धिगतस्वरूपभेदा-ना**मविष्वग्भावो**ऽपृथग्भावोऽस्वातन्त्र्यं स समवायः, भिन्नयोः परस्परोपश्लेषस्य सम्बन्धकृतत्वोपलम्भात् । एतदेव** कथमित्यादिना **प्रश्नपूर्वकमुपपादयति—** यथा इह कुण्डे दधीति प्रत्ययः कुण्डदध्नोः सम्बन्धे सति दृष्टः,

दूसरे का कार्य या कारण न होते हुए भी जिन वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध होता है, वे हैं सामान्य (जाति) और उनके आश्रय, एवं अन्त्यविशेष और उनके आश्रय (इनमें भी समवाय सम्बन्ध होता है) । समवाय के ये कार्यकारणभूत और अकार्यकारणभूत प्रतियोगी और अनुयोगी यतः 'अयुतसिद्ध' हैं, अतः यह 'नियम' उपपन्न होता है–समवाय अयुतसिद्धों का ही सम्बन्ध है । इसी प्रकार "आधार्याधारभावेनावस्थितानाम्" यह वाक्य भी नियमार्थक ही है । अर्थात् यतः विभिन्न दो वस्तुओं में विशेष्यविशेषणभाव की प्रतीति किसी सम्बन्ध से ही होती है, अतः 'इहेदम्' यह प्रतीति जिस कारण के द्वारा होती है (वही समवाय है) एवं जिसके द्वारा अव्यापक अथवा नियत आश्रय में रहनेवाले उन वस्तुओं में–जिनमें कि परस्पर भेद पहले से ज्ञात है, अर्थात् जिनके अलग-अलग स्वरूप ज्ञात हैं, उन्हें 'अविष्वग्भाव' अर्थात् अपृथग्भाव फलतः अस्वातन्त्र्य जिसके द्वारा हो, वही 'समवाय' है; क्योंकि वस्तुओं का उक्त 'अविष्वग्भाव' किसी सम्बन्ध से ही देखा जाता है । यही बात 'कथम्' इस वाक्य के द्वारा प्रश्न कर 'यथेह कुण्डे' इत्यादि वाक्य से उत्तर रूप में कहते हैं । अर्थात् जिस प्रकार 'इस मटके में दही है' इस आकार की प्रतीति मटका और दही के सम्बन्ध रहने पर ही देखी जाती है, उसी प्रकार 'इन तन्तुओं में पट है' इस आकार की प्रतीति भी होती है । इससे समझते हैं कि तन्तु और पट (प्रभृति अयुतसिद्धों) में भी कोई सम्बन्ध

प्रशस्तपादभाष्यम्

पटः, इह वीरणेषु कटः, इह द्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम्, इह कर्मणि कर्मत्वम्, इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषा इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषां सम्बन्ध इति ज्ञायते ।

न चासौ संयोगः, सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वाद् अन्यतर

प्रकार 'इस मटके में दही है' यह प्रतीति (दधि और मटके में संयोग) सम्बन्ध के रहते ही होती है, उसी प्रकार 'इन तन्तुओं में पट है, इन वीरणों (तृणविशेषों) में चटाई है, इस द्रव्य में गुण और कर्म हैं, द्रव्य, गुण और कर्मों में सत्ता है, द्रव्य में द्रव्यत्व है, गुण में गुणत्व है, कर्म में कर्मत्व है, इन नित्यद्रव्यों में विशेष है' इत्यादि प्रतीतियाँ भी होती हैं, अतः समझते हैं कि (प्रतीति के विषय इन आधार और आधेय में भी) कोई सम्बन्ध अवश्य है ।

कथित प्रतीतियों की उपपत्ति संयोग से नहीं हो सकती; क्योंकि उन प्रतीतियों में विशेष्य और विशेषण रूप से भासित होनेवाले प्रतियोगी और अनुयोगी अयुतसिद्ध हैं एवं अन्यतर कर्म या उभयकर्म या विभाग उस सम्बन्ध के

न्यायकन्दली

तथेह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययानां दर्शनादस्त्येषां तन्तुपटादीनां सम्बन्ध इति ज्ञायते । इह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययाः सम्बन्धनिमित्तका अवधारितप्रत्ययत्वात्, इह कुण्डे दधीतिप्रत्ययवत् ।

नन्वयं संयोगो भविष्यतीत्यत आह—न चासौ संयोग **इति । असौ तन्तुपटादीनां सम्बन्धो न संयोगो भवति, कुतः? इत्यत्राह**—सम्बन्धिनाम-

अवश्य है । इससे यह अनुमान निष्पन्न होता है कि जिस प्रकार 'इस मटके में दही है' यह निश्चयात्मक प्रतीति दही और कुण्ड में संयोग सम्बन्ध के रहने पर ही होती है, उसी प्रकार 'इन तन्तुओं में पट है' इस प्रकार की निश्चयात्मक प्रतीति भी उन दोनों में किसी सम्बन्ध के कारण ही उत्पन्न होती है (वही सम्बन्ध समवाय है) ।

(मटके और दही के संयोग की तरह) 'तन्तुओं में पट है' इत्यादि प्रतीतियों का नियामक सम्बन्ध भी संयोग ही होगा? इसी प्रश्न का उत्तर "न चासौ संयोगः" इत्यादि से दिया गया है । 'असौ' अर्थात् तन्तु और पट का सम्बन्ध, संयोग क्यों नहीं है? इसी प्रश्न का उत्तर "सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वात्" इस वाक्य के द्वारा दिया गया है । अर्थात् संयोगसम्बन्ध युतसिद्ध वस्तुओं में ही होता है और यह (समवाय) सम्बन्ध अयुतसिद्धों में होता है; क्योंकि संयोग अपने प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में से एक के कर्म से होगा, या उक्त प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्मादिनिमित्तासम्भवात्, विभागान्तत्वादर्शनात्, अधिकरणाधिकर्तव्ययोरेव भावादिति ।

स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरं भाववल्लक्षणभेदात् । यथा भावस्य द्रव्यत्वादीनां स्वाधारेषु आत्मानुरूपप्रत्यय-

कारण नहीं हो सकते । एवं विभाग से इस सम्बन्ध का नाश भी नहीं देखा जाता एवं यह (समवाय) अधिकरण एवं आधेय रूप दो वस्तुओं में ही देखा जाता है (अतः उन प्रतीतियों की उपपत्ति संयोग से नहीं हो सकती) ।

यह (समवाय) द्रव्यादि पाँचों पदार्थों से (सर्वथा भिन्न) स्वतन्त्र पदार्थ ही है; क्योंकि जिस प्रकार सत्तारूप सामान्य या द्रव्यत्वादिरूप सामान्य स्वसदृश (यह सद् है, यह द्रव्य है, यह गुण है इत्यादि) प्रतीतियों के उत्पादक होने के कारण द्रव्यादि अपने आश्रयों से भिन्न हैं, उसी प्रकार

न्यायकन्दली

युतसिद्धत्वादिति । **संयोगो हि युतसिद्धानामेव भवति । अयं त्वयुतसिद्धानामिति । तथा संयोगोऽन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजो वा स्यादिति । इह तु अन्यतरकर्मादीनां निमित्तानामभावो भावोत्पादककारणसामर्थ्यभावित्वात् ।** संयोगस्य विभागान्तत्वं **विभागविनाश्यत्वं दृश्यते न समवायस्य । संयोगः स्वतन्त्रयोरपि भवति, यथोर्ध्वावस्थितयोरङ्गुल्योः । अयं त्वधिकरणाधिकर्तव्ययोरेव भवति, तस्मान्नायं संयोगः, किन्तु तस्मात् पृथगेव ।**

एवं स्थिते समवाये तस्य द्रव्यादिभ्यो भेदं प्रतिपादयति— स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरमिति । **कुत इत्यत आह—** भाववल्लक्षणभेदादिति ।

के कर्म से होगा, अथवा संयोग से ही होगा । तन्तु एवं पट के इस सम्बन्ध के लिए कथित अन्यतर कर्म प्रभृति कारणों में से किसी की भी अपेक्षा नहीं होती है । यह तो अपने आश्रयीभूत पदार्थों के उत्पादक कारणों की सत्ता से स्थिति का लाभ करता है । संयोग का अन्त अर्थात् विनाश विभाग से देखा जाता है; किन्तु समवाय का विनाश ही नहीं होता (अतः संयोग से समवाय गतार्थ नहीं हो सकता) एवं संयोग स्वतन्त्र (आधाराधेयभावानापन्न) वस्तुओं में भी होता है, जैसे कि ऊपर उठी हुई दो अङ्गुलियों में संयोग होता है । समवाय सम्बन्ध आधार और आधेयभूत दो वस्तुओं में ही होता है । तस्मात् समवाय संयोग नहीं है, उससे अलग ही वस्तु है ।

इस प्रकार संयोग से समवाय की स्वतन्त्र सत्ता के सिद्ध हो जाने पर "स द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरम्" इस वाक्य के द्वारा समवाय में द्रव्यादि पदार्थों के भेद का उपपादन करते हैं । समवाय द्रव्यादि पदार्थों से भिन्न क्यों है ? इस

प्रशस्तपादभाष्यम्

कर्तृत्वात् स्वाश्रयादिभ्यः परस्परतश्चार्थान्तरभावः, तथा समवायस्यापि पञ्चसु पदार्थेष्विहेतिप्रत्ययदर्शनात् तेभ्यः पदार्थान्तरत्वमिति । न च संयोग-वन्नानात्वम्, भाववल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च । तस्माद् भाववत् सर्वत्रैकः समवाय इति ।

समवाय के अनुयोगी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँचों पदार्थों में यथासम्भव 'यह यहाँ है' इस आकार की प्रतीतियाँ होती हैं, अतः समवाय भी द्रव्यादि पाँचों पदार्थों से भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ ही है ।संयोग की तरह यह (समवाय) अनेक भी नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म सभी में 'यह सत् है यह सत् है' इस साधारण आकार की प्रतीति होती है और इसी कारण द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में रहनेवाला 'सत्ता' नाम का सामान्य एक ही है, उसी प्रकार द्रव्यादि अपने अनुयोगियों में अपने प्रतियोगियों का 'यह यहाँ है' इस एक प्रकार की

न्यायकन्दली

एतद् विवृणोति—यथेति । भाव **इति सत्तासामान्यमुच्यते** । द्रव्यत्वादी**त्यादि-पदेन गुणत्वादिपरिग्रहः । यथा भावस्य** स्वाधारेषु **द्रव्यगुणकर्मसु** आत्मानुरूपः प्रत्ययः **सत्सदिति प्रत्ययः, द्रव्यत्वस्य स्वाश्रयेषु द्रव्येष्वात्मानुरूपः प्रत्ययः, द्रव्यं द्रव्यमिति प्रत्ययः, गुणत्वस्य स्वाश्रयेषु गुणेष्वात्मानुरूपः प्रत्ययो गुण इति प्रत्ययः, कर्मत्वस्य स्वाश्रयेषु कर्मसु आत्मानुरूपः प्रत्ययः कर्मेति**

प्रश्न का उत्तर "भाववल्लक्षणभेदात्" इस सन्दर्भ के द्वारा दिया गया है । इस सन्दर्भ के 'भावस्य' इस पद का 'भाव' शब्द सत्तारूप जाति का बोधक है । एवं 'द्रव्यत्वादि' पद में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से गुणत्वादि जातियों का संग्रह समझना चाहिए । (तदनुसार उक्त सन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि) सत्तारूप जाति का स्वाधार में अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में आत्मानुरूप प्रत्यय अर्थात् द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है इत्यादि आकार के ज्ञान होते हैं, एवं द्रव्यत्व का अपने आश्रय में अर्थात् सभी द्रव्यों में 'इदं द्रव्यम्' इस आकार की प्रतीति होती है, एवं गुणत्व जाति की 'आत्मानुरूप' प्रतीति अर्थात् सभी गुणों में 'यह गुण है' इस आकार की प्रतीति होती है। एवं कर्मत्व जाति का अपने आश्रय सभी कर्मों में 'आत्मानुरूप-प्रत्यय' अर्थात् 'यह कर्म है' इस आकार की प्रतीति होती है । इन आत्मानुरूप

प्रशस्तपादभाष्यम्

ननु यद्येकः समवायः ? द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादिविशेषणैः सह सम्बन्धैकत्वात् पदार्थसङ्करप्रसङ्ग

प्रतीति का कारण होने से समवाय भी एक ही है । एवं समवाय में अवान्तर भेद का ज्ञापक कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता है । अतः अपने सभी अनुयोगियों में रहनेवाला समवाय एक ही है ।

(प्र.) (यदि अपने सभी अनुयोगियों में रहनेवाला) समवाय एक ही है, तो फिर द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में से प्रत्येक का द्रव्यत्वादि सभी विशेषों के साथ समवाय सम्बन्ध एक ही है, अतः द्रव्यादि में भी 'यह गुण है या कर्म है' इस प्रकार के अनियमित व्यवहार होने लगेंगे ।

न्यायकन्दली

प्रत्ययः, तस्य कर्तृत्वाद् भावद्रव्यत्वादीनां स्वाश्रयादिभ्यः परस्परतश्चार्थान्तरभावः, तथा समवायस्यापि पञ्चसु पदार्थेष्विहेति प्रत्ययदर्शनात्, तेभ्यः पञ्चभ्यः पदार्थान्तरत्वम् । किमयमेक आहोस्विदनेक इत्यत्राह—न च संयोगवन्नानात्वमिति । **यथा संयोगो नाना नैवं समवायः । कुत इत्यत्राह**—भाववल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च । **यथा सत्सदिति ज्ञानस्य लक्षणस्य** सर्वत्राविशेषा**दवैलक्षण्याद्** विशेषे **भेदे** लक्षणस्य **प्रमाणस्याभावाच्च सर्वत्रैको भावः, तद्वदिहेति-**

प्रत्ययों का कर्त्तारूप कारण होने से जिस प्रकार सत्ता और द्रव्यत्वादि जातियों में से प्रत्येक में परस्पर एक-दूसरे से भेद की सिद्धि होती है एवं उनके द्रव्यादि आश्रय से भी उन जातियों में भेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार समवाय भी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में 'इह प्रत्यय' का कर्त्तारूप कारण है, अतः समवाय इन पाँचों पदार्थों से भिन्न पदार्थ है ।

इस प्रकार से सिद्ध समवायरूप स्वतन्त्र पदार्थ एक है ? या अनेक ? इसी प्रश्न का उत्तर "न च संयोगवन्नानात्वम्" इस वाक्य से दिया गया है । अर्थात् संयोग की तरह समवाय अनेक नहीं है । क्यों अनेक नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर "भाववल्लिङ्गाविशेषाल्लिङ्गाभावाच्च" इन दोनों वाक्यों से दिया गया है । अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में 'सत्' इस आकार का ज्ञानरूप लिङ्ग अर्थात् लक्षण समान रहने से जिस प्रकार तीनों में रहनेवाली एक ही सत्ता जाति की सिद्धि होती है । एवं उन तीनों में रहनेवाली सत्ता जाति में परस्पर भेद के साधक किसी प्रमाण के उपलब्ध न होने से समझते हैं कि सत्ता जाति सर्वत्र एक ही है । उसी प्रकार द्रव्यादि पाँचों पदार्थों में कथित 'इह प्रत्यय' रूप लक्षण समान रूप से है एवं प्रत्येक में रहनेवाले समवाय में परस्पर भेद का साधक कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है । अतः समझते हैं कि अपने

प्रशस्तपादभाष्यम्

इति । न, आधाराधेयनियमात् । यद्यप्येकः समवायः सर्वत्र स्वतन्त्रः, तथाप्याधाराधेयनियमोऽस्ति । कथं द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वम्, गुणेष्वेव

(उ.) समवाय को एक मान लेने पर भी पदार्थों का उक्त साङ्कर्य नहीं होगा (क्योंकि एक ही समवाय सम्बन्ध से) कौन किसका आधार है और कौन किसका आधेय है ? ये दोनों नियमित हैं । विशदार्थ यह है कि द्रव्यादि सभी अनुयोगियों में यद्यपि एक ही समवाय स्वतन्त्र रूप से है, फिर भी इस सम्बन्ध से आधेय और आधार नियमित हैं ।(प्र.) सभी में

न्यायकन्दली

प्रत्ययस्य लक्षणस्य सर्वत्राविलक्षण्याद् भेदे प्रमाणाभावाच्च सर्वत्रैकः समवाय इति । उपसंहरति–तस्मादिति ।

चोदयति–यद्येक इति । **समवायस्यैकत्वे य एव द्रव्यत्वस्य पृथिव्यादिषु योगः, स एव गुणत्वस्य गुणेषु, कर्मत्वस्य च कर्मसु । तत्र यथा द्रव्यत्वस्य योगः पृथिव्यादिष्वस्तीति तेषां द्रव्यत्वम्, तथा तद्योगस्य गुणादिष्वपि सम्भवात् तेषामपि द्रव्यत्वम् । यथा च गुणत्वस्य योगो रूपादिष्वस्तीति रूपादीनां तथा, तद्योगस्य द्रव्यकर्मणोरपि भावात् तयोरपि गुणत्वं स्यात् । एवं च कर्मस्वपि पदार्थानां सङ्कीर्णता दर्शयितव्या । समाधत्ते**–नेति । **न च पदार्थानां सङ्कीर्णता, कुतः ? आधाराधेयनियमात् । न समवायसद्भावमात्रेण द्रव्यत्वम्,**

सभी अनुयोगियों में रहनेवाला समवाय एक ही है । 'तस्मात्' इत्यादि वाक्य के द्वारा इसी प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं ।

'यद्येकः' इत्यादि वाक्यों के द्वारा एक ही समवाय के मानने पर यह आक्षेप किया गया है कि यदि समवाय एक ही है तो यह मानना पड़ेगा कि पृथिवी प्रभृति द्रव्यों में द्रव्यत्व का जो समवाय है, वही समवाय गुणों में गुणत्व का भी है । एवं कर्मों में कर्मत्व का भी है । ऐसी स्थिति में जिस प्रकार पृथिव्यादि में द्रव्यत्व के समवायरूप सम्बन्ध (योग) के कारण (पृथिव्यादि में) द्रव्यत्व की सत्ता रहती है, उसी प्रकार गुणादि में भी द्रव्यत्व का समवायरूप योग के कारण गुणादि में भी द्रव्यत्व की सत्ता माननी पड़ेगी । एवं जैसे कि रूपादि में गुणत्व के समवायरूप योग के कारण गुणत्व की सत्ता रहती है, उसी प्रकार द्रव्य में और कर्म में भी गुणत्व की सत्ता माननी पड़ेगी; क्योंकि उनमें भी गुणत्व का समवाय है । इसी प्रकार कर्मादि पदार्थों में भी द्रव्यत्व, कर्मत्वादि का साङ्कर्य दिखलाया जा सकता है । 'न' इत्यादि से इसी आक्षेप का समाधान करते हैं । अर्थात् समवाय को एक मानने पर भी पदार्थों का उक्त साङ्कर्य दोष नहीं है, क्योंकि (समवाय एक होने पर भी) उसका आधाराधेयभाव नियमित है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

गुणत्वम्, कर्मस्वेव कर्मत्वमिति। एवमादि कस्मात् ? अन्वयव्यतिरेकदर्शनात् । इहेति समवायनिमित्तस्य ज्ञानस्यान्वयदर्शनात् सर्वत्रैकः समवाय इति गम्यते। द्रव्यत्वादिनिमित्तानां व्यतिरेकदर्शनात्

समवाय के एक होने पर नियम (क्यों कर है?) यतः द्रव्यों में ही द्रव्यत्व है (गुणादि में नहीं), गुणों में ही गुणत्व है एवं कर्मों में ही कर्मत्व है। (प्र.) इस प्रकार का अवधारण किस हेतु से सिद्ध होता है? (उ.) प्रतीतियों के अन्वय और व्यतिरेक से ही उसकी सिद्धि होती है । (विशदार्थ यह है कि) 'द्रव्यादि सभी अनुयोगियों में एक ही समवाय है' इसका हेतु है सभी अनुयोगियों में 'यह यहाँ है' इस एक प्रकार की आकार की प्रतीतियों की सत्ता या अन्वय, इस अन्वय से ही समझते हैं कि समवाय अपने सभी आश्रयों में एक ही है। एवं 'गुणादि में द्रव्यत्व है' इस प्रकार की प्रतीतियों के अभावरूप व्यतिरेक से भी समझते हैं कि द्रव्यत्वादि

न्यायकन्दली

किन्तु द्रव्यसमवायाद् द्रव्यत्वम्, समवायश्च द्रव्य एव न गुणकर्मसु, अतो न तेषां द्रव्यत्वम्। एवं गुणकर्मस्वपि व्याख्येयम्। एतत्सङ्ग्रहवाक्य विवृणोति—यद्यप्येकः समवाय **इत्यादिना।** स्वतन्त्रः **संयोगवत् सम्बन्धान्तरेण न वर्तत इत्यर्थः। व्यक्तमपरम्।**

पुनश्चोदयति—एवमादि कस्मादिति । **द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वं वर्तते, गुणेष्वेव गुणत्वम्, कर्मस्वेव कर्मत्व**मित्येवमादि कस्मात् **त्वया ज्ञातमित्यर्थः।**

गुणादि में द्रव्यत्व के समवाय के रहने से ही द्रव्यत्व की सत्ता नहीं मानी जा सकती; क्योंकि (द्रव्यत्व की सत्ता का नियामक) द्रव्यानुयोगिक समवाय है, केवल समवाय नहीं। (अतः गुणादि में केवल समवाय के रहने पर भी द्रव्यानुयोगिकत्व-विशिष्ट समवाय के न रहने के कारण गुणादि में द्रव्यत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती) इसी प्रकार द्रव्य में गुणकर्मादि के और कर्म में गुणद्रव्यादि के दिये गये साङ्कर्य दोष का भी परिहार करना चाहिए । "यद्यप्येकः समवायः" इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उक्त अर्थ के बोधक (यद्येकः समवाय इत्यादि) संक्षिप्त वाक्य का ही विवरण दिया गया है । समवाय 'स्वतन्त्र' है अर्थात् संयोग की तरह किसी दूसरे सम्बन्ध के द्वारा अपने आश्रय में नहीं रहता है (वह अपने स्वरूप से ही द्रव्यादि आश्रयों में रहता है) । (उक्त स्वपद वर्णनरूप भाष्य के) और अंश स्पष्ट हैं । 'एवमादि कस्मात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इसी प्रसङ्ग में पुनः आक्षेप करते हैं । अर्थात् किस हेतु से तुमने ये सब बातें समझीं कि द्रव्यत्व द्रव्यों में ही रहता है, गुणत्व गुणों में ही रहता है एवं

प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रतिनियमो ज्ञायते । यथा कुण्डदध्नोः संयोगैकत्वे भवत्याश्रयाश्रयिभाव-नियमः । तथा द्रव्यत्वादीनामपि समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधा-राधेयनियम इति ।

समवाय सम्बन्ध से अपने द्रव्यादि आश्रयों में ही हैं, गुणादि में नहीं । जिस प्रकार कुण्ड और दधि दोनों में एक ही संयोग के रहते हुए भी आधार कुण्ड ही होता है दधि नहीं एवं आधेय दधि ही होता है कुण्ड नहीं, उसी प्रकार द्रव्यत्वादि सभी (समवेत) वस्तुओं का समवाय एक होने पर भी कथित संयोग की तरह अभिव्यक्त करनेवाले एवं अभिव्यक्त होनेवाले की विभिन्न शक्ति के कारण प्रत्येक समवेत वस्तुओं का आधार-आधेय भाव नियमित होता है ।

न्यायकन्दली

उत्तरमाह—अन्वयव्यतिरेकदर्शनादिति । **द्रव्यत्वनिमित्तस्य प्रत्ययस्य द्रव्येष्वन्वयो गुणकर्मभ्य-श्च व्यतिरेकः, गुणत्वनिमित्तस्य प्रत्ययस्य गुणेष्वन्वयो द्रव्यकर्मभ्यश्च व्यतिरेकः, तथा कर्मत्वनिमित्तस्य प्रत्ययस्य कर्मस्वन्वयो द्रव्यगुणेभ्यश्च व्यतिरेको दृश्यते, तस्मादन्वयव्यतिरेक-दर्शनाद् द्रव्यत्वादीनां नियमो ज्ञायते । अस्य विवरणं सुगमम् । समवायाविशेषे कुत एवायं नियमो द्रव्यत्वस्य पृथिव्यादिष्वेव समवायो गुणत्वस्य रूपादिष्वेव कर्मत्वस्योत्क्षेपणा-दिष्वेव, नान्यत्र ? इत्यत आह**—यथेति । **संयोगस्यैकत्वेऽपि कुण्डदध्नोराश्रयाश्रयि-**

कर्मत्व क्रियाओं में ही रहता है । 'अन्वयव्यतिरेकदर्शनात्' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है । अभिप्राय यह है कि द्रव्यत्व के द्वारा उत्पन्न (द्रव्यत्वविषयक) प्रत्यय का 'अन्वय' (विशेष्यता सम्बन्ध से) द्रव्यों में ही देखा जाता है एवं द्रव्यत्व के उक्त प्रत्यय का 'व्यतिरेक' भी गुणकर्मादि में देखा जाता है । इसी प्रकार गुणत्वजनित (गुणत्वविषयक) प्रतीति का अन्वय गुणों में ही देखा जाता है और द्रव्यकर्मादि में गुणत्वविषयक उक्त प्रतीति का व्यतिरेक भी देखा जाता है एवं कर्मत्व से होनेवाली (कर्मत्वविषयक) प्रतीति का अन्वय कर्मों में ही देखा जाता है और उक्त प्रतीति का व्यतिरेक भी द्रव्यगुणादि में देखा जाता है । इन अन्वयों और व्यतिरेकों के दर्शन से समझते हैं कि द्रव्यादि तत्तत् आश्रयों में ही समवाय सम्बन्ध से द्रव्यत्वादि नियमित हैं । इसका ('इहेति समवायनिमित्तस्य' इत्यादि स्वपदवर्णन रूप भाष्य का) अभिप्राय समझना सुगम है । द्रव्यत्वादि सभी जातियों में यदि समवाय एक ही है तो फिर यह नियम किस प्रकार उपपन्न होगा कि द्रव्यत्व का समवाय पृथिव्यादि द्रव्यों में ही रहे एवं गुणत्व का समवाय रूपादि गुणों में ही रहे एवं कर्मत्व का समवाय उत्क्षेपणादि कर्मों में ही रहे, पृथिव्यादि से अन्यत्र द्रव्यत्व का समवाय न रहे एवं गुणत्व

प्रशस्तपादभाष्यम्

सम्बन्ध्यनित्यत्वेऽपि न संयोगवदनित्यत्वं भाववदकारणत्वात् । यथा प्रमाणतः कारणानुपलब्धेर्नित्यो भाव इत्युक्तं तथा समवायोऽपीति । न ह्यस्य किञ्चित् कारणं प्रमाणत उप-

प्रतियोगियों और अनुयोगियों के अनित्य होने पर भी संयोग की तरह समवाय अनित्य नहीं है; क्योंकि सत्ता जाति की तरह उसके भी कारण नहीं दीखते हैं । (विशदार्थ यह है कि) जिस प्रकार किसी भी प्रमाण से कारणों की उपलब्धि न होने से सत्ता जाति में नित्यत्व का व्यवहार

न्यायकन्दली

भावस्य नियमो दृष्टः, शक्तिनियमात् । कुण्डमेवाश्रयो दध्येवाश्रयि । एवं समवायैकत्वेऽपि द्रव्यत्वादीनामाधाराधेयनियमो व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदात्। किमुक्तं स्यात् ? द्रव्यत्वाभिव्यञ्जिका शक्तिर्द्रव्याणामेव, तेन द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वं समवैति, नान्यत्रेति। एवं गुणकर्मस्वपि व्याख्येयम् ।

किं पुनरयमनित्य आहोस्विन्नित्यः ? इति संशये सत्याह– सम्बन्ध्यनित्यत्वेऽपीति । **यथा सम्बन्धिनोरनित्यत्वे संयोगस्यानित्यत्वम्, न तथा समवायिनोरनित्यत्वे समवायस्यानित्यत्वं भाववदकारणत्वादिति । एतद् विवृणोति–** यथेत्यादिना ।

का समवाय रूपादि से अन्यत्र न रहे और कर्मत्व का समवाय उत्क्षेपणादि से भिन्न वस्तुओं में न रहे । इन्हीं प्रश्नों का समाधान 'यथा' इत्यादि से किया गया है । अर्थात् मटका और दही दोनों में संयोग बराबर है, फिर भी मटका ही दही का आश्रय कहलाता है एवं दही आधेय ही कहलाता है । इस सार्वजनिक प्रतीति से जिस प्रकार उक्त एक ही संयोग से मटके में आश्रयत्व व्यवहार को उत्पन्न करने की एक शक्ति और दही में आधेयत्व व्यवहार की उससे भिन्न शक्ति की कल्पना की जाती है । उसी प्रकार द्रव्यत्वादि सभी जातियों में यद्यपि एक ही समवाय है, फिर भी पृथिव्यादि में ही द्रव्यत्व की अभिव्यक्ति होती है, अन्यत्र नहीं । अतः पृथिव्यादि में ही द्रव्यत्व को अभिव्यक्त करने की शक्ति माननी पड़ती है एवं पृथिव्यादि में द्रव्यत्व ही अभिव्यक्त होता है, अतः पृथिव्यादि में ही अभिव्यक्त होने की शक्ति की कल्पना द्रव्यत्व में ही करनी पड़ती है । एवं गुणत्व की अभिव्यक्ति रूपादि में ही होती है, अतः गुणत्व को अभिव्यक्त करने की शक्ति रूपादि में ही माननी पड़ती है, अन्यत्र नहीं । एवं रूपादि में ही गुणत्व अभिव्यक्त होता है, अतः रूपादि में अभिव्यक्ति होने की शक्ति की कल्पना गुणत्व में करनी पड़ती है, अन्य जातियों में नहीं । उपर्युक्त भाष्य की इस प्रकार से व्याख्या करनी चाहिए ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

लभ्यत इति । कया पुनर्वृत्त्या द्रव्यादिषु समवायो वर्तते ? न संयोगः सम्भवति, तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । नापि समवायः, तस्यैकत्वात् । न चान्या वृत्तिरस्तीति ? न, तादात्म्यात् ।
होता है, उसी प्रकार समवाय में भी समझना चाहिए । (प्र.) समवाय कौन से सम्बन्ध से अपने अनुयोगी में रहता है ? अपने आश्रय के साथ संयोग सम्बन्ध तो उसका हो नहीं सकता; क्योंकि संयोग गुण है, अतः संयोग केवल द्रव्यों में ही रह सकता है । समवाय सम्बन्ध से भी समवाय नहीं रह सकता; क्योंकि समवाय एक है, संयोग और समवाय को छोड़कर कोई तीसरा सम्बन्ध नहीं है (अतः समवाय है ही नहीं) । (उ.)ऐसी बात नहीं है; क्योंकि समवाय स्वरूप (तादात्म्य) सम्बन्ध से ही

न्यायकन्दली

युक्तो हि सम्बन्धिविनाशे संयोगस्य विनाशः, तदुत्पादे सम्बन्धिनोः समवायिकारणत्वात् । समवायस्य तु सम्बन्धिनौ न कारणम्, सम्बन्धिमात्रत्वात् । यथा न कारणं तथोपपादितम । तस्मादेतस्य सम्बन्धिविनाशेऽप्यविनाशः, सत्तावदाश्रयान्तरेऽपि प्रत्यभिज्ञेयमानत्वात् ।

किमसम्बद्ध एव समवायः सम्बन्धिनौ सम्बन्धयति ? सम्बद्धो वा ?

यह समवाय नित्य है ? अथवा अनित्य ? इस संशय के उपस्थित होने पर (उसकी निवृत्ति के लिए) 'सम्बन्धनित्यत्वेऽपि' इत्यादि सन्दर्भ लिखा गया है । अर्थात् जिस प्रकार संयोग के सम्बन्धियों (अनुयोगी और प्रतियोगी) के अनित्य होने पर संयोग भी अनित्य होता है, उसी प्रकार सम्बन्धियों के अनित्य होने पर समवाय अनित्य नहीं होता; क्योंकि भाव (सत्ता जाति) की तरह समवाय का भी कोई उत्पादक कारण नहीं है । 'यथा' इत्यादि सन्दर्भ से उक्त भाष्य सन्दर्भ की (स्वपदवर्णन रूप) व्याख्या की गयी है । यह ठीक है कि सम्बन्धियों के विनाश से संयोग का विनाश हो; क्योंकि वे ही संयोग के समवायिकारण हैं । समवाय के अनुयोगी और प्रतियोगी तो उसके केवल सम्बन्धी हैं, उसके कारण नहीं (अतः उनके विनाश से समवाय का विनाश संभव नहीं है) । ये समवाय के कारण क्यों नहीं हैं ? इस प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं । अतः समवाय के सम्बन्धियों के विनष्ट होने पर भी समवाय का विनाश नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार सत्ता जाति के आश्रय के विनष्ट होने पर भी दूसरे आश्रयों में प्रतीति के कारण सत्ता जाति को अविनाशी मानना पड़ता है, उसी प्रकार समवाय के एक या दोनों आश्रयों के विनष्ट होने पर भी दूसरे सम्बन्धियों में समवाय की प्रतीति होती है, अतः उसे भी अविनाशी मानना आवश्यक है ।

प्रशस्तपादभाष्यम्

यथा द्रव्यगुणकर्मणां सदात्मकस्य भावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति । एवमविभागिनो वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति, तस्मात् स्वात्मवृत्तिः । अत एवातीन्द्रियः सत्ता-

अपने सम्बन्धियों में रहता है । जैसे कि द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता जाति के लिए दूसरे सत्तासम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती है, इसी प्रकार एक ही स्वरूप के एवं सम्बन्धाभिन्न समवाय की सत्ता के लिए दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती है । अतः यह स्वरूप सम्बन्ध से ही रहता है । यतः प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थों में सत्तादि सामान्यों की तरह कोई अलग सम्बन्ध नहीं है, अतः समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता है ।

न्यायकन्दली

न तावदसम्बद्धस्य सम्बन्धकत्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । सम्बन्धश्चास्य न संयोगरूपः सम्भवति, तस्य द्रव्याश्रितत्वात् । नापि समवायः, एकत्वात् । न च संयोगसमवायाभ्यां वृत्त्यन्तरमस्ति । तत् कथमस्य वृत्तिरित्यत आह– कया पुनर्वृत्त्या द्रव्यादिषु समवायो वर्तत **इति । वृत्त्यभावान्न वर्तत इत्यभिप्रायः । समाधत्ते-**नेति **। वृत्त्यभावान्न वर्तत इत्येतन्न,** तादात्म्याद् **वृत्त्यात्मकत्वात्**

'कया पुनर्वृत्त्या' इत्यादि ग्रन्थ से आक्षेप करते हैं कि क्या समवाय अपने सम्बन्धियों में किसी दूसरे सम्बन्ध से न रहकर ही अपने दोनों सम्बन्धियों को परस्पर सम्बद्ध करता है ? अथवा अपने सम्बन्धियों में किसी अन्य सम्बन्ध से रहकर ही (संयोग की तरह) अपने सम्बन्धियों को सम्बद्ध करता है ? इन दोनों में 'सम्बन्धियों में न रहकर ही उन्हें परस्पर सम्बद्ध करता है' यह पहला पक्ष अति प्रसङ्ग के कारण (अर्थात् पट और तन्तु की तरह कपास और पट एवं तन्तु और पट भी परस्पर सम्बद्ध हों, इस आपत्ति के कारण असङ्गत है) क्योंकि सर्वत्र समवाय की असत्ता समान है । समवाय का अपने सम्बन्धियों में रहने के लिए संयोग सम्बन्ध उपयोगी नहीं हो सकता; क्योंकि संयोग द्रव्यों में ही हो सकता है । समवाय भी उसके लिए पर्याप्त नहीं है; क्योंकि समवाय एक ही है । सम्बन्ध को (सम्बन्धियों से भिन्न होना चाहिए, अतः एक ही समवाय सम्बन्ध और उसका प्रतियोगी दोनों नहीं हो सकता) संयोग और समवाय को छोड़कर दूसरी कोई 'वृत्ति' (सम्बन्ध) नहीं है, तो फिर कौन-सी 'वृत्ति' से समवाय की सत्ता द्रव्यादि में रहती है ? अर्थात् समवाय को रहने के लिए जब किसी सम्बन्ध की सम्भावना नहीं है, तो समवाय है ही नहीं ।

(पूर्वपक्षी से) 'पर' अर्थात् सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का समाधान 'न' इत्यादि सन्दर्भ से करते हैं । अर्थात् द्रव्यादि में समवाय के रहने के लिए किसी सम्बन्ध की सम्भावना

प्रशस्तपादभाष्यम्

दीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात्, स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्च । तस्मादिह बुद्ध्यनुमेयः समवाय इति ।

॥ इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायपदार्थः समाप्तः ॥

●

इसके प्रत्यक्ष न होने का यह हेतु भी है कि (संयोगादि की तरह अनुयोगी और प्रतियोगी से भिन्न रूप में इसका) भान नहीं होता है । तस्मात् 'यह यहीं है' इस कथित प्रतीति से समवाय का अनुमान ही होता है ।

॥ प्रशस्तपादभाष्य में समवाय पदार्थ का
निरूपण समाप्त हुआ ॥

●

न्यायकन्दली

स्वत एवायं वृत्तिरिति। कृतको हि संयोगस्तस्य वृत्त्यात्मकस्यापि वृत्त्यन्तरमस्ति, कारणसमवायस्य कार्यलक्षणत्वात्।समवायस्य वृत्त्यन्तरं नास्ति । तस्मादस्य स्वात्मना **स्वरूपेणैव वृत्तिर्न वृत्त्यन्तरेणेत्यर्थः।** अत एवातीन्द्रियः **सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात् । यथा सत्तादीनां प्रत्यक्षेष्वर्थेषु वृत्तिरस्ति तेन ते संयुक्तसमवायादिन्द्रियेषु गृह्यन्ते, नैवं समवायस्य वृत्तिसम्भवः । अतोऽतीन्द्रियोऽयम्, संयोगसमवायापेक्षस्यैवेन्द्रियस्य भावग्रहणसामर्थ्योपलम्भात् ।**

नहीं है, इससे समवाय द्रव्यादि में नहीं है सो बात नहीं; क्योंकि समवाय में 'सम्बन्ध' का 'तादात्म्य' है, अर्थात् वह स्वयं 'वृत्त्यात्मक' है , फलतः समवाय स्वयं ही सम्बन्ध स्वरूप है । संयोग यतः उत्पत्तिशील वस्तु है, अतः सम्बन्धात्मक होने पर भी उसके रहने के लिए दूसरा सम्बन्ध आवश्यक है; क्योंकि उपादान में समवाय ही कार्य का स्वरूप है, अतः समवायिकारणरूप सम्बन्धियों में संयोग का समवायरूप दूसरा सम्बन्ध न मानें तो संयोग समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही नहीं रह जाएगा । समवाय तो नित्य है, उसके लिए दूसरे सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है । अतः समवाय स्वात्मक सम्बन्ध से ही फलतः स्वरूपसम्बन्ध से ही अपने सम्बन्धियों में रहता है, किसी दूसरे सम्बन्ध से नहीं. । "अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात्" अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाले घटादि विषयों के साथ सत्तादि पदार्थों की (स्वभिन्न समवाय नाम की) वृत्ति (सम्बन्ध) है, अतः संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से उनका प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार समवाय का कोई भी स्वभिन्न एवं प्रत्यक्षप्रयोजक सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों के साथ नहीं है, अतः समवाय अतीन्द्रिय है; क्योंकि संयोग और समवाय इन दोनों में से किसी एक की सहायता से ही इन्द्रियों में किसी भावपदार्थ को ग्रहण करने का सामर्थ्य है ।(प्र.) यदि समवाय का इन्द्रियों से

प्रशस्तपादभाष्यम्

योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥
॥ इति प्रशस्तपादविरचितं द्रव्यादिषट्पदार्थभाष्यं समाप्तम् ॥

●

योग के अभ्यास से उत्पन्न अपनी विभूति के द्वारा उन्होंने महेश्वर को प्रसन्न कर वैशेषिकशास्त्र का निर्माण किया, उन कणाद ऋषि को मैं प्रणाम करता हूँ ।

॥ प्रशस्तपाद के द्वारा रचित छः पदार्थों के प्रतिपादक वैशेषिक सूत्रों का यह भाष्य समाप्त हुआ ॥

●

न्यायकन्दली

यदि समवायविषयमैन्द्रियकं संवेदनमस्ति ? सम्बन्धाभावाभिधानं प्रलापः । अथ नास्ति, तदेव वाच्यमित्यत्राह– स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्चेति । **यथेन्द्रियेण संयोगप्रतिभासो नैवं समवायप्रतिभासः, सम्बन्धिनोः पिण्डीभावोपलम्भात्, अतोऽयमप्रत्यक्षः ।उपसंहरति–** तस्मादिति ।

परस्परोपसंश्लेषो भिन्नानां यत्कृतो भवेत् ।
समवायः स विज्ञेयः स्वातन्त्र्यप्रतिरोधकः ॥

॥ इति भट्टश्रीश्रीधरकृतायां पदार्थप्रवेशन्यायकन्दलीटीकायां समवायपदार्थः समाप्तः ॥

●

ज्ञान होता है ? तो फिर यह कहना प्रलाप–सा ही है कि अपने सम्बन्धियों के साथ उसका (प्रत्यक्ष के उपयुक्त) सम्बन्ध नहीं है । (ङ) यदि इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं होता है, तो फिर यही कहिए कि समवाय अतीन्द्रिय है । (ङ) इसी प्रश्न के उत्तर में "स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्च" यह वाक्य लिखा गया है । अर्थात् जिस प्रकार इन्द्रियों से संयोग का ग्रहण होता है, उस प्रकार इन्द्रियों से समवाय का ग्रहण नहीं होता है; क्योंकि उसके दोनों सम्बन्धियों की उपलब्धि ऐक्यबद्ध होकर ही होती है (अर्थात् सम्बन्धियों में समवाय की सत्त्व दशा में सम्बन्धियों की पृथक् से उपलब्धि नहीं होती है; किन्तु सम्बन्ध के प्रत्यक्ष के लिए उसके दोनों सम्बन्धियों का स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, सो प्रकृत में नहीं होता है), अतः समवाय अतीन्द्रिय है । 'तस्मात्' इत्यादि से इसी प्रसङ्ग का उपसंहार किया गया है ।

अपने सम्बन्धियों के स्वातन्त्र्य को अपहरण करनेवाला वही सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है, जिससे परस्पर भिन्न दो वस्तुओं का परस्पर अतिनैकट्य का सम्पादन हो ।

॥ भट्ट श्री श्रीधर के द्वारा रचित और पदार्थ को समझानेवाली न्यायकन्दली टीका का समवायनिरूपण समाप्त हुआ ॥

●

न्यायकन्दली

सुवर्णमयसंस्थानरम्या सर्वोत्तरस्थितिः ।
सुमेरोः शृङ्गवीथीव टीकेयं न्यायकन्दली ॥ १ ॥
अक्षीणनिजपक्षेषु ख्यापयन्ती गुणानसौ ।
परप्रसिद्धसिद्धान्तान् दलति न्यायकन्दली ॥ २ ॥
आसीद् दक्षिणराढायां द्विजानां भूरिकर्मणाम् ।
भूरिसृष्टिरिति ग्रामो भूरिश्रेष्ठिजनाश्रयः ॥ ३ ॥
अम्भोराशेरिवैतस्माद् बभूव क्षितिचन्द्रमाः ।
जगदानन्दनाद् वन्द्यो बृहस्पतिरिव द्विजः ॥ ४ ॥
तस्माद् विशुद्धगुणरत्नमहासमुद्रो विद्यालतासमवलम्बनभूरुहोऽभूत् ।
स्वच्छाशयो विविधकीर्त्तिनदीप्रवाहप्रस्पन्दनोत्तमबलो बलदेवनामा ॥ ५ ॥
तस्याभूद् भूरियशसो विशुद्धकुलसम्भवा ।
अब्बोकेत्यर्चितगुणा गुणिनो गृहमेधिनी ॥ ६ ॥

(१) यह 'न्यायकन्दली' टीका सुमेरु के शृङ्गों की पङ्क्तियों की तरह मनोरम है; क्योंकि सुमेरु के शृङ्ग भी सुवर्ण (हिरण्य) के संस्थानों से रचित होने के कारण रमणीय हैं और यह टीका भी सुवर्णों अर्थात् सुन्दर अक्षरों के विन्यास से रचित होने के कारण अतिरमणीय है। सुमेरु का शृङ्ग भी सभी वस्तुओं की अपेक्षा उत्तर दिशा में रहने के कारण 'सर्वोत्तरस्थित' है । यह टीका भी (प्रशस्तपाद-भाष्य की) अन्य टीकाओं से उत्कृष्ट होने के कारण 'सर्वोत्तरस्थित' अर्थात् सर्वातिशायिनी है ।

(२) इस टीका का नाम 'न्यायकन्दली' इसलिए है कि इसमें कथित न्याय अपने सिद्धान्तों की पूर्ण रक्षा और विरोधी सिद्धान्तों का सम्यक् रूप से 'दलन' करते हैं ।

(३) राढ़ देश के दक्षिण भाग में 'भूरिसृष्टि' नाम का एक गाँव था, जिसमें अनेक सत्कर्मों के अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मणों का एवं अनेक सेठों का निवास था ।

(४) इसी गाँव में पृथ्वीतल के चन्द्रमा स्वरूप एवं बृहस्पति के समान (बुद्धिमान्) एक द्विज उत्पन्न हुए, जो समुद्र से उत्पन्न आकाश के चन्द्रमा की तरह विश्व के सभी प्राणियों को सुख देने के कारण सभी के वन्दनीय थे ।

(५) उन्हीं से अनेक प्रकार के यशों की नदी के सतत गतिशील प्रवाह से प्राप्त उत्कृष्ट बल से युक्त (होने के कारण) अन्वर्थ नाम के निर्मल अन्तःकरणवाले 'बलदेव' उत्पन्न हुए, जो विद्यारूपी लता के आश्रयीभूत वृक्ष के समान एवं विशुद्ध अनेक सद्गुणरूपी रत्नों के (आकर) महासमुद्र के समान थे ।

(६) अत्यन्त यशस्वी और गुणी उन्हीं (बलदेव) की अत्यन्त कुलीना, गुणानुरागिणी एवं गृहकार्यदक्षा 'अब्बोका' नाम की पत्नी थीं ।

न्यायकन्दली

सच्छायः स्थूलफलदो बहुशाखो द्विजाश्रयः ।
तस्यां श्रीधर इत्युच्चैरर्थिकल्पद्रुमोऽभवत् ॥ ७ ॥
असौ विद्याविदग्धानामसूत श्रवणोचिताम् ।
षट्पदार्थहितामेतां रुचिरां न्यायकन्दलीम् ॥ ८ ॥
त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता ।
श्रीपाण्डुदासयाचितभट्टश्रीश्रीधरेणेयम् ॥ ९ ॥

॥ समाप्तेयं पदार्थप्रवेशन्यायकन्दली टीका ॥
॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

***

(७) उन्हीं से 'श्रीधर' उत्पन्न हुए, जो (इन सादृश्यों के कारण) अर्थियों के लिए कल्पवृक्ष के समान थे; क्योंकि कल्पवृक्ष भी अपनी घनी छाया से अर्थियों के ताप को दूर करता है । इनसे भी अर्थियों के अनेक विघ्न-ताप दूर होते थे । कल्पवृक्ष भी बहुत बड़े फल का दाता है, इनसे भी मोक्षरूप महान् (उपदेशादि के द्वारा) फल प्राप्त होता था । कल्पवृक्ष की भी अनेक शाखायें हैं । उनके भी शिष्यप्रशिष्य की अनेक शाखायें थीं । कल्पवृक्ष भी अनेक द्विजों (पक्षियों) का आश्रय है, ये भी अनेक द्विजातियों के आश्रय थे ।

(८) उन्हीं के द्वारा तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करनेवाली और विद्याप्रेमियों के सुनने योग्य यह अतिरमणीय 'न्यायकन्दली' टीका रची गयी ।

(९) श्रीपाण्डुदास कायस्थ की प्रार्थना (से प्रेरित होकर) भट्ट श्री श्रीधर ने ९१३ शकाब्द में 'न्यायकन्दली' की रचना की ।

॥ षट् पदार्थों के तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करनेवाली न्यायकन्दली टीका समाप्त हुई ॥

***

न्यायकन्दलीसमुद्धृतप्रमाणवचनानाम्

अक्षरानुक्रमणी

Departmental Library
Deptt. of Phil. & Religion
Acc. No. 25633 Date 07.08.10
Banaras Hindu University

न्यायकन्दल्यामुद्धृतानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च

अक्षरानुक्रमणी